8006

उत्तराध्ययन सूत्र

(तृतीय खण्ड)

[अध्ययन २३ से ३६ तक]

(मूल-संस्कृतछाया-पद्यानुवाद-अन्वयार्थ
भावार्थ-विवेचन-टिप्पणयुक्त)

सत्त्वावधान एवं मार्गदर्शन

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

हिन्दी पद्यानुवाद

स्व० पं० श्री शशिकान्त झा

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

□ उत्तराध्ययन सूत्र
[तृतीय खण्ड]

□ प्रथमावृत्ति
वीर निर्वाण सम्वत् २५१५
वि० स० २०४५ फाल्गुन
ई० सन् १९८९ फरवरी

□ प्रकाशक
सम्यग् ज्ञान प्रचारक मडल
बापू बाजार, जयपुर
पिन ३०२००३

□ सर्व पृष्ठ सख्या ५८८

□ मुद्रण
सजय सुराना के लिए
कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
A-७ अवागढ हाउस, एम जी रोड

प्रकाशक के बोल

हम सबका यह परम सौभाग्य है कि इस भौतिक चकाचौंध के युग मे अध्यात्म चेतना का सूर्य जगमगाने वाले परम शान्तचेता, चारित्र-चूडामणि, स्वाध्याय-सामायिक-साधना के प्रेरणा स्रोत, जैन इतिहास के महान् मर्मज्ञ, अनुसधाता परमश्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज हमे त्याग-सयम-स्वाध्याय का प्रशस्त पथ-प्रदर्शन कर आध्यात्मिक अभ्युदय की ओर निरन्तर प्रेरणा प्रदान कर रहे है।

आचार्य श्री का पवित्र अन्त करण परम निर्वेदसुधा रस से आप्लावित है। वे जीव मात्र के हित-कल्याण-नि श्रेयस के लिए निरन्तर साधना शील है। आगम के क्षीरसागर मे स्वाध्याय रूप अवगाहन कर सवेग-निर्वेद की मूल्यवान मणिया प्राप्त कर मुक्त हाथ से सर्वत्र वितरित कर रहे हैं। आचार्य श्री की धीर-गम्भीर उदात्त वाणी मे समता-स्वाध्याय-सामायिक का त्रिमुखी निर्घोष सतत निनादित होता हुआ प्रतीत होता है। वे प्रत्येक मानव को शान्ति एव समरस का रसास्वाद कराके, साम्ययोग का अमृत फल प्रदान करना चाहते हैं।

आचार्यदेव की अमृतोपम सद्प्रेरणा का ही एक अमर फल है—उत्तराध्ययन सूत्र का प्रस्तुत स्वाध्यायोपयोगी सस्करण। नि.सन्देह इस आगम-वाणी का रसास्वाद कर स्वाध्यायीबधु कृतार्थता अनुभव करेंगे।

आचार्यदेव के पुनीत मार्गदर्शन मे इस सूत्र का सम्पादन किया है जैन साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने। हमें प्रसन्नता है कि यह आगम सस्करण जिज्ञासु स्वाध्यायी बन्धुओ के हाथो मे पहुँच रहा है।

इस आगम के मुद्रण कार्य मे अर्थसौजन्य के रूप मे ओसवाल वश भूषण दानवीर समाजरत्न सुश्रावक श्रीमान् नवरतनमल जी सा. भाडावत की पुण्य स्मृति मे आपके परिवार द्वारा श्री सम्पतसिंह जी भाडावत के मार्फत उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है एतदर्थ मडल की तरफ से हम आपके राष्ट्र एव समाज सेवा परिवार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

विनीत

मत्री—सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

ओसवाल वंशभूषण, समाजरत्न शाहजी श्री नवरतनमल जी सा–भांडावत

संक्षिप्त–परिचय

शाहजी श्री नवरतनमल जी सा भाडावत मारवाड मे समूचे ओसवाल समाज के अग्रगण्य प्रतिभाशाली व्यक्तियो मे एक देदीप्यमान समाज रत्न थे जिन्होने अपनी जन्मजात प्रतिभा, प्रखर बुद्धिमत्ता, कार्यदक्षता, आगे बढने की अमिट लगन एव कार्य तत्परता के बल पर न केवल ओसवाल समाज मे ही वरन् समूचे मारवाड़ मे अपना उल्लेखनीय स्थान प्राप्त किया। साथ ही अपनी सरलता, सद्चरित्रता, प्रखरता, समाज हित चिन्तन, दूरदर्शिता एव वात्सल्य भावना से-समाज को ऊँचा उठाने मे अपना अधिक योगदान दिया जो मरुधरा के ओसवाल समाज के इतिहास मे सदैव स्वर्ण अक्षरो मे अकित रहेगा।

आपके पितामह श्री गुनेचन्द जी भाडावत अजमेर मे व्यवसाय करते थे। उनके दो पुत्र हुए श्री केवरचन्द जी एव श्री फूलचन्द जी। आपका जन्म अजमेर मे विक्रम सवत् १९३० आश्विन शुक्ला ६ को हुआ। आप श्रीमान् फूलचदजी साहब के पुत्र थे। बाल्यकाल मे ही आप अत्यन्त मेधावी व प्रखर प्रतिभा सम्पन्न थे। आपका शिक्षण गवर्नमेण्ट कालेज अजमेर मे हुआ। परिस्थितिया अनुकूल नही होते हुए भी आपने अपनी योग्यता व तीव्र बुद्धिमत्ता से उस समय की ऊँची से ऊँची परीक्षाएँ एफ० ए० (इण्टर,) बी० ए० एव एल० एल० बी० उत्तीर्ण कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा विश्वविद्यालय द्वारा आप स्वर्ण पदक से सम्मानित किये गये।

ओसवालवंशभूषण, समाजरत्न, दानवीर

शाह श्रीमान नवरतनमल जी सा० भांडावत

[जोधपुर]

संवत् १९५२ मे शाहजी प्रोफेसर बनकर जोधपुर पधारे। तब से जीवनपर्यन्त आपका कार्यक्षेत्र जोधपुर ही रहा। जोधपुर कालिज मे सीनियर प्रोफेसर के रूप मे सेवा देने के पश्चात् आपने शासकीय एवं न्यायिक सेवाओ का कार्यभार सम्भाला व अपनी कार्यदक्षता से निरन्तर उन्नति करते हुए असिसटेन्ट सुपरिन्टेडेण्ट, कोर्ट आफ सरदार्स, जुडिशियल सुपरिन्टेण्डेण्ट नार्थ वेस्टर्न डिस्ट्रीक्ट,फौजदार, एसिस्टेण्ट सैसन जज, सेक्रेट्री मुसाहिब आला के उच्च पदो का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य तत्परता से सम्पन्न किया। बाद मे आप सेसन जज एव चोफ कोर्ट जज के पद पर पदासीन हुए। आपके उच्चकोटि के निर्णय सुदूर दक्षिण तक मान्य किये जाने लगे। गणित व महाजनी हिसाब मे उस समय आपका स्थान सर्वोपरि माना जाता था। इस तरह ख्यातिप्राप्त सेवाओ से प्रभावित होकर सेवानिवृत्ति के समय समस्त मारवाड एसोसियेशनो ने बालसमन्द गार्डन मे उनकी उल्लेखनीय सेवाओ की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए मान पत्र के द्वारा आपको सम्मानित किया। जोधपुरनरेश महाराजाधिराज श्री उम्मेदसिंह जी साहिब ने आपकी कार्यदक्षता का सम्मान करते हुए आपको सोने की ताजीम से सम्मानित किया जो उस समय का बहुत बडा सम्मान माना जाता था। पुराने जमाने मे राजाओ द्वारा सम्मान रणक्षेत्र मे जौहर दिखाने पर ही दिया जाता रहा, मगर शाहजी को सम्मान उनकी विलक्षण बुद्धिमत्ता व अनुकरणीय कार्यदक्षता के प्रमाणस्वरूप दिया गया।

आपने शासकीय क्षेत्र मे ही केवल अपना कीर्तिमान स्थापित नही किया वरन् अपनी कार्यदक्षता एव कार्य तत्परता व अपने अथक प्रयास से अपने कुल का गौरव भी बढाया। साथ ही समाज-सेवा के क्षेत्र मे सम्पूर्ण जोधपुर की जनता के हित मे ऐसे अनेको अनुकरणीय कार्य किये, जिससे कि उनका नाम सदा अमर रहेगा। शासकीय सेवाओ मे अपना अद्भुत योगदान के साथ समाज उत्थान के एव जनहित के लिए भी आपने जो कार्य किये वे सदा चिरस्मरणीय रहेगे। आप सरदार हाईस्कूल जोधपुर के निरन्तर पैंतीस साल तक मानद सुपरिन्टेण्डेण्ट रहे व आपने इस शिक्षण सस्थान के उत्थान मे जो अद्वितीय योगदान दिया वह कभी भुलाया नही जा सकता। आप उस सस्था के स्तम्भ थे। यदि आपको इस सस्थान के प्राण की भी सज्ञा दी जावे तो भी कोई अतिशयोक्ति नही है। आपका योगदान बालको के शिक्षण तक ही सीमित नही रहा बल्कि उस वक्त भी जब बालिकाओ मे शिक्षा का प्रचार नगण्य था, उस समय आपने अपने पिताश्री की यादगार मे 'फूलचद जैन कन्या पाठशाला' नाम की सस्था

स्थापित कर बालिकाओ मे शिक्षा का एक नया कीर्तिमान एव क्रातिकारी कदम का श्री गणेश किया और यह पाठशाला आज भी सुचारु रूप से चल रही है। जनहित को लक्ष्य मे लेकर आपने अपने जीवन-काल मे ही सन् १९३३ मे नवरत्न आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित किया जो आज भी विद्यमान ही नही वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है। सामाजिक योगदान के साथ-साथ धार्मिक लगन, निष्ठा एव आस्था आप मे सदा-सर्वदा कायम रही। उस क्षेत्र मे भी आपका सामूहिक कदम व दानवीरता के अनेको कार्य इसके ज्वलन्त प्रमाण है। उच्च शिक्षा होने पर भी आपमे मान लेश मात्र भी न था। आप सदा धार्मिक चर्चा मे लीन रहते थे। सामायिक आपका नित्यक्रम था। कुशाग्र बुद्धि के फलस्वरूप आपने प्रौढावस्था में भी अन्य दूसरे कार्य क्षेत्र मे व्यस्त रहते हुए भी सिर्फ सात दिन मे प्रतिक्रमण की सम्पूर्ण पाटिया कठस्थ कर ली थी। आप स्वर्गीय आचार्य श्रीशोभा-चद्रजी महाराज एव वर्तमानाचार्य प्रात स्मरणीय आचार्य प्रवर १००८ श्री हस्तीमल जी महाराज साहब के अनन्य श्रद्धालु भक्त थे व उनके मार्ग-दर्शन मे सदैव तत्पर रहकर धर्म भावना उजागर करते रहे। आपने बाईस सम्प्रदाय की भी अभूतपूर्व सेवाये की, जिसकी याद मे समस्त बाईस सम्प्रदाय ने मान-पत्र द्वारा आपको सम्मानित किया। आपके सुपुत्र श्रीमान् धनपतसिंह जी साहब मात्र २१ वर्ष की अल्प आयु मे सन् १९४४ मे दिवगत हुए। आपके सुपौत्र डा० सम्पतसिंह जी भाडावत, श्री सुरेशचद जी भाडावत, आपकी उज्ज्वल पैत्रिक परम्परा मे विमल कीर्ति को निर-न्तर आगे बढा रहे है,तथा आपके प्रपौत्र श्री सदीप भाडावत मेधावी छात्र है तथा एम० बी० ए० मे अध्ययनरत है, आप धर्मानुरागी है तथा प्रतिदिन धार्मिक क्रियाएँ करते हैं।

धार्मिक विचार व प्रवृत्ति आपकी पैत्रिक परम्परा के उज्ज्वल प्रमाण हैं। यही नही, मगर यह दोनो योग्य सतति लाखो रुपयो का व्यय निरन्तर शुभ एव धार्मिक कार्य मे करते रहे हैं। इन दोनो के सुपुत्र भी मेधावी एव सुलक्षण है और उनमे धर्म भावना जन्मजात है। डा० सम्पत सिंह सा भाडावत राजस्थान उच्च न्यायालय मे अतिरिक्त राजकीय अधि-वक्ता है तथा अ० भा० श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक सघ के अध्यक्ष है। आप ३०५ डिस्ट्रीक्ट रोटरी (जिसमे राजस्थान, गुजरात व मध्यप्रदेश के कुछ हिस्से हैं) उसके वर्तमान मे प्रान्तपाल हैं। श्री सम्पतसिंह जी सा० भाडावत सिंहसभा जोधपुर के ट्रस्टी भी रह चुके हैं व अन्य कई जैन

सस्थाओ मे भी किसी न किसी रूप मे आपका निरतर सम्बध है। आचार्य भगवान के सवत् २०४१ के जोधपुर चातुर्मास का विशेष श्रेय भी आप ही को है। आपके सम्पूर्ण परिवार की हार्दिक इच्छा को मान देकर आचार्य भगवान से चातुर्मास आपके बगले मे ही सम्पन्न किया। उक्त चातुर्मास में श्री सपतसिहजी व उनके सम्पूर्ण परिवार ने आचार्य भगवान के चरणो मे मानो अपना हृदय खोलकर ही रख दिया हो। राम भक्त हनुमान का रूप आप मे दृष्टिगोचर होता है।

माननीय श्री सुरेशचन्द जी भाडावत अमेरिका मे प्रतिभासम्पन्न उद्योगपति हैं और उनका लक्ष्य मात्र जनसेवा ही है। दान के मामले मे वे निरन्तर अग्रगण्य हैं। उनमे भी धर्म भावनाये व भक्ति कूट-कूट कर भरी हैं और जीवन सात्विक है। यह सब पैत्रिक सस्कारो की देन है। वे सदा सर्वदा समाजसेवा, सघसेवा, जनसेवा करते हुए कल्याणमार्ग की तरफ अग्रसर रहते हैं। उन्होने अपना समस्त जीवन अपने अथक परिश्रम द्वारा जन कल्याण मे लगाया है जो अनुकरणीय है।

○

प्रस्तावना

उत्तराध्ययन सूत्र : एक लोकोत्तर आगम

जैन परम्परा मे उपलब्ध आगमो को चार वर्गों मे विभक्त किया गया हैं—अग, उपाग, मूल एव छेद।

अग ११, उपाग १२, मूल ४, एव छेद ४ तथा एक आवश्यक सूत्र-यो ३२ सूत्र स्थानकवासी जैन परम्परा मे प्रमाण रूप माने जाते है।

चार मूल सूत्र है—१ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नदी सूत्र, ४ अनुयोगद्वार।

इन सूत्रो को 'मूल सूत्र' मानने के अनेक हेतु बताये गये हैं। इनमे एक मुख्य हेतु यह है कि—प्राचीन आचार्यो ने श्रुतपुरुष की रेखाकृति का अकन कर उसके भिन्न-भिन्न स्थानो—अगो पर आगमो की परिकल्पना की। उसमे दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन सूत्र का अकन मूल स्थान (चरण युगल) पर किया गया है। जिस प्रकार समूचे शरीर का भार चरणों पर रहता है, वृक्ष का समग्र अस्तित्व मूल—जड पर टिका रहता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान का समस्त आधार सम्यक्चारित्र पर टिका हुआ है। अत जिन आगमो मे सम्यक् आचार का वर्णन मुख्य रूप मे है, उन आगमो को 'मूल' स्थान पर अकित किया गया है। अगो मे आचाराग और सूत्रकृताग को मूल स्थान पर रखा है तथा उनके सहायक स्थान पर दशवैकालिक, उत्तराध्ययन का भी मूल स्थानीय रेखाकन किया गया है।

दूसरी बात यह है कि आचार सम्बन्धी मूलगुणो का इन आगमो में मुख्य वर्णन होने से भी इन्हे 'मूल' सूत्र की सज्ञा दी गई है।

उत्तराध्ययन आदि को मूल सूत्रो मे कहने का एक भाव यह भी हो सकता है कि आत्मा के चार मूलगुण हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप। चार मूल सूत्रो मे—

१ नन्दी मे—ज्ञान का, २ अनुयोगद्वार मे—दर्शन (श्रद्धा) का, ३ दशवैकालिक मे—चारित्र का, ४ उत्तराध्ययन मे 'तप' का मुख्य रूप मे वर्णन मिलता है।

'मूल सूत्र' की गणना में आने से यह स्पष्ट ही ध्वनित होता है कि 'उत्तराध्ययन सूत्र' का जैन आगमो मे अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

दूसरी बात—'उत्तराध्ययन' शब्द ही अपने आप मे इसकी गरिमा को व्यक्त करता है। उत्तर—शब्द का अर्थ है—उत्तम। प्रधान या श्रेष्ठ। तथा अध्ययन का अर्थ है—शास्त्र, ग्रंथ। इस प्रकार 'उत्तराध्ययन' शब्द का अर्थबोध होता है—श्रेष्ठ शास्त्र। पवित्र ग्रंथ या प्रधान आगम।

इस सूत्र के सम्बन्ध मे यह भी एक धारणा है कि भगवान महावीर ने निर्वाण से कुछ ही समय पूर्व पावापुरी के अन्तिम समवसरण मे इस आगम की देशना दी थी। अत यह सूत्र भगवान महावीर की अन्तिम पवित्र वाणी के रूप मे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सुना/पढा जाता है।[1]

कुछ भी हो, ऐतिहासिक कारणो की छानबीन मे न उलझें तो भी हमारी सांस्कृतिक परम्परा इस सूत्र को एक महत्वपूर्ण और अत्यधिक जीवनोपयोगी सूत्र मानती है, इसलिए इस सूत्र का वाचन, पठन, पाठन, पारायण तथा प्रकाशन भी सबसे अधिक हुआ है। सम्पूर्ण श्वेताम्बर परम्परा मे 'उत्तराध्ययन' सूत्र उसी रूप मे मान्य है, जैसे बौद्ध परम्परा मे 'धम्मपद' और वैदिक परम्परा मे 'गीता'।

उत्तराध्ययन एक जीवन शास्त्र है। अध्यात्म शास्त्र है। इसके सूक्त, वचन एव गाथाएँ इतने सारपूर्ण व अध्यात्म तथा जीवनाचार से परिपूर्ण हैं कि इनका स्वाध्याय करते समय साधक को नित्य नई उपलब्धि तथा

---

१ (क) उत्तराध्ययन, ३६।२६८

इइ पाउ करे बुद्धे छत्तीस उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसमए।

२ (ख) छत्तीस अपुट्ठवागरणाइ वागरित्ता।

—कल्पसूत्र, सूत्र १४६, पृष्ठ २१० (देवेन्द्रमुनि सम्पादित)।

अनुभूति होती है। गागर मे सागर की तरह इसकी गाथाएँ अध्यात्म रस से परिपूर्ण है। जैसे महाभारत के सम्बन्ध मे कहा जाता है—'प्रति पर्व रसोदयम्' प्रत्येक पर्व पर अधिकाधिक रस का अनुभव होता है, वैसे ही उत्तराध्ययन के विषय मे यह कहा जा सकता है—'प्रति अध्ययन—अध्यात्मोदय'—हर अध्ययन आगे से आगे अध्यात्म रस की वृद्धि करता है।

इस सूत्र मे ३६ अध्ययन है। विषय वर्गीकरण की दृष्टि से उन्हे चार भागो मे बाँट सकते है—

१ धर्मकथात्मक अध्ययन—७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७वा अध्ययन।

२ उपदेशात्मक अध्ययन—१, ३, ४, ५, ६, तथा १०।

३ आचारात्मक अध्ययन—२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२, ३५।

४ सिद्धान्तात्मक अध्ययन—२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६।

विक्रम की प्रथम शताब्दी मे आर्यरक्षितसूरि ने आगमो का अनुयोगो मे वर्गीकरण किया तब उत्तराध्ययन सूत्र को धर्मकथानुयोग मे स्थान दिया था। किन्तु यह वर्गीकरण सिर्फ धर्म-कथाओ की प्रधानता या विपुलता के कारण ही किया गया था, वैसे इसमे चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग भी सन्निहित है। अत इसे हम 'बहु अनुयोगी' आगम भी कह सकते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र मे अनेक शैलियाँ हैं, इसके कुछ अध्ययन—जैसे कापिलीय, नमि प्रव्रज्या, इषुकारीय एव केशि-गौतमीय सवाद-प्रधान शैली मे हैं, तो कुछ अध्ययन प्रश्नोत्तर शैली मे, जैसे सम्यक्त्व पराक्रम। कुछ अध्ययन कथा एव चरित्रप्रधान शैली मे है। शैली की विविधता और विषयो की बहुरूपता के कारण यह आगम भिन्न-भिन्न रुचि वाले पाठको के लिए रुचिकर व बहुआयामी हो जाता है। शायद इसकी अत्यधिक लोकप्रियता का यह भी एक कारण रहा हो।

उत्तराध्ययन मे ३६ अध्ययन है। मूल एव अनुवाद के साथ इसका एक ही जिल्द मे कई सस्थाओ से प्रकाशन हो चुका है, किन्तु विवेचन आदि के साथ इसका कलेवर विशाल हो जाने के कारण सस्था ने इसको तीन जिल्दो मे प्रकाशित करने की योजना बनाई है। प्रथम खण्ड मे १० अध्ययन हैं। द्वितीय खण्ड मे ११ से २२ अध्ययन तक आये हैं। शेष १४ अध्ययन तृतीय खण्ड मे प्रकाशित किये गए हैं।

प्रथम खण्ड मे दस अध्ययनो तथा इसी प्रकार द्वितीय खण्ड मे ११ से २२ अध्ययनो का भी परिचय दिया जा चुका है, अत यहाँ पुनरुक्ति न करके पाठको को प्रथम एव द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना देखने का अनुरोध करता हूँ।

इस तृतीय खण्ड मे २३वे अध्ययन से प्रारम्भ कर ३६वे अध्ययन तक उत्तराध्ययन सूत्र सम्पूर्ण लिया गया है।

सक्षिप्त-परिचय

२३ केशि-गौतमीय अध्ययन आचार-समन्वय—इस अध्ययन मे भगवान पार्श्वनाथ सन्तानीय श्रमण केशीकुमार एव भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी के मध्य हुई आचार-सम्बन्धी चर्चा का सुन्दर वर्णन है। चातुर्याम-धर्म और पच-महाव्रतात्मक धर्म की चर्चा करते हुए श्रमण केशी के अध्यात्म सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का गौतम स्वामी द्वारा प्रदत्त लाक्षणिक उत्तर बहुत ही रोचक तथा ज्ञानवर्धक है।

२४ प्रवचन माता (समितीय) अध्ययन चर्या-विवेक—इस अध्ययन मे पच महाव्रतो की रक्षा, व अनुपालना करने वाली पाँच समिति व तीन गुप्ति रूप—प्रवचनमाता का वर्णन है जिसमे सयमी-जीवन विवेक व यतना के साथ मनो-वाक्-काय के सगोपन का भी उपदेश है।

२५ यज्ञीय अध्ययन धर्मयज्ञ—इस अध्ययन मे उस युग के श्रमण-ब्राह्मण परम्परा के मूलभूत सिद्धान्तो की चर्चा है। यज्ञमण्डप मे जयघोष मुनि का याज्ञिक विद्वानो के साथ सवाद होता है जिसमे सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप, सच्चे श्रमण की परिभाषा, वास्तविक यज्ञ (धर्मयज्ञ) का विवेचन करते हुए धर्म मे जातिवाद के महत्त्व का निरसन किया गया है और तप एव आचार प्रधान धर्म की महिमा बताई गई है। इसमे सच्चे धर्मयज्ञ का स्वरूप दिखाये जाने के कारण अध्ययन का नाम 'यज्ञीय' रखा जाना उपयुक्त ही है।

२६ सामाचारी अध्ययन श्रमण की दिनचर्या—इस अध्ययन मे श्रमण के दिन एव रात्रि के आठ प्रहर की सम्यक्चर्या का वर्णन है। ध्यान, स्वाध्याय, भिक्षाचरी, भोजन, प्रतिलेखन आदि कब किस विधि से करना इसका सागोपाग निरूपण इस अध्ययन मे है। आचार मे सम्यग्-विवेक का महत्व बताने के कारण अध्ययन का नाम सामाचारी रखा गया है।

२७ खलु कीय अध्ययन अविनीत शिष्य का स्वरूप—इस अध्ययन मे

सिर्फ १७ गाथाएँ हैं। दुष्ट (अविनीत) बैल के दृष्टान्त द्वारा अविनीत व विवेकहीन शिष्यो को दुष्ट मानसिकवृत्तियाँ व आचार का बहुत ही मनोवैज्ञानिक दिग्दर्शन कराकर विनोत शिष्य के कर्तव्य का बोध दिया गया है।

२८ मोक्ष मार्ग गति अध्ययन रत्नत्रय वर्णन—मोक्ष के तीन साधन हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌दर्शन एव सम्यक्‌चारित्र। यह रत्नत्रय है। इस अध्ययन मे रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की ओर गति प्रवृत्ति का निरूपण होने से इसका नाम 'मोक्ष मार्ग गति' सार्थक है।

२९ सम्यक्त्व पराक्रम अध्ययन आध्यात्मिक विकास क्रम—इस अध्ययन मे उपवन के बहुरगी फूलो को तरह ७३ प्रकार के विविध विषयक प्रश्नोत्तरो द्वारा आध्यात्मिक विकास का सुन्दर क्रम निर्देशित है। पूरा अध्ययन गद्यमय है। इसके प्रश्न एव उत्तर सम्पूर्ण अध्यात्म जगत को परिवेष्टित किये हुए है। इसका अप्रमाद नाम भी है किन्तु सम्यक्त्व-पराक्रम नाम अधिक सार्थक है। जीवन के आध्यात्मिक ऊर्ध्वारोहण से सम्बन्धित कुछ प्रश्न व उत्तर, तो बहुत ही सुन्दर व नवीन दृष्टि प्रदान करने वाले है।

३० तपोमार्ग-अध्ययन तप स्वरूप—इस अध्ययन मे तप के बारह भेदो का स्वतन्त्र रूप मे विस्तृत वर्णन है।

३१ चरणविधि-अध्ययन सख्याप्रधान चारित्र वर्णन—इस अध्ययन मे १-३३ तक की सख्या को माध्यम बनाकर श्रमण के चारित्र के विविध गुणो का वर्णन है। ज्ञान से सम्बन्धित कुछ विशेष बातो का भी उल्लेख है। चारित्र की विविध विधियो का वर्णन होने से इसका नाम चरण विधि रखा गया है।

३२ प्रमादस्थान अध्ययन समत्व-साधना—प्रमाद कर्म का मूल है। राग-द्वेष कर्म के बीज हैं—रागो य दासो विय कम्मबीयं—

इस मूल सिद्धान्त के आधार पर राग-द्वेषमयी प्रवृत्तियो का अनेक दृष्टियो से वर्णन किया गया है। इस अध्ययन की गाथा और गाथाओ के चरण प्राय सुभाषित जैसे हैं।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ प्रवृत्तियो मे राग-द्वेष की मन्दता रखते हुए सम-

भाव की साधना का विशेष महत्त्व बताया गया है। समभाव की उत्कृष्टता बताते हुए कहा है—

समो य जो तेसु स वीयरागो

राग-द्वेषमूलक प्रवृत्तियो मे जो समभाव रखता है वह वीतरागता का आराधक है। इस अध्ययन मे १११ गाथाएँ हैं।

३२ कर्मप्रकृति अध्ययन कर्म विवेचन—३२वें अध्ययन मे कर्म का मूल बताया है तथा इस अध्ययन मे कर्म का स्वरूप। आठ कर्म मूल हैं तथा उनकी उत्तरप्रकृतियाँ अनेक हैं। कर्मबन्ध के कारण, कर्मों की स्थिति तथा स्वरूप का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत अध्ययन की २८ गाथाओ मे निहित है।

३४ लेश्या अध्ययन· भावनाओ का स्वरूप वर्णन—'लेश्या' ऐसा विशेष शब्द है जिससे जीव की मनोगत एव विचार-वर्णगत तरतमता का पता चलता है। यह एक प्रकार का थर्मामीटर है। प्रस्तुत अध्ययन मे षट्लेश्याओ का ११ द्वारो के माध्यम से वर्णन किया गया है। लेश्याओ का यह वर्णन आधुनिक मनोविश्लेषको के लिए बहुत ही उपयोगी है।

३५ अनगार मार्ग-गति अध्ययन अनगार धर्मस्वरूप—इस अध्ययन की २१ गाथाओ मे गृहत्यागी श्रमण—अनगार के आचार का विशद वर्णन करके निरतिचार शुद्ध आचार पालन का फल बताते हुए कहा है—

सपत्तो केवलं नाण सासयं परिणिव्वुए

साधक केवलज्ञान प्राप्त कर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

३६ जीवाजीव विभक्ति अध्ययन जीव-अजीव-विज्ञान—उत्तराध्ययन सूत्र का यह अन्तिम अध्ययन षड्द्रव्य की रूपरेखा तथा परिभाषा का परिज्ञान कराता हुआ समग्र तत्वज्ञान का विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। अध्ययन के अन्त मे आराधक जीवन की दृष्टि से सलेखना-सथारा आदि का विवेचन तथा समाधिमरण की सुन्दर व्याख्या की गई है।

अध्ययन की अन्तिम गाथा मे कहा है—

इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए

भगवान ज्ञातपुत्र महावीर ने इस प्रकार तत्त्व को प्रकट कर अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया। इससे यह प्रकट होता है कि यह सूत्र भगवान महावीर की अन्तिम देशना है।

इन १४ अध्ययनो की सक्षिप्त परिक्रमा करने पर यह स्पष्ट प्रति-भासित होता है कि प्रत्येक अध्ययन मे कुछ नवीन प्रेरणा, जागृति, उद्बोधन और मनुष्य के अन्त करण को स्पर्श करने वाले ऐसे मार्मिक प्रसग हैं कि यदि स्वाध्यायी मन लगाकर इनका स्वाध्याय करे, इनकी भावना मे एकरस हो जाये तो निश्चित ही वह उस अपूर्व आनन्द एव विलक्षण सवेग निर्वेद की अनुभूति कर सकेगा जिसकी भूख उसे जन्म-जन्मान्तरो से रही है। इस सूत्र की हर गाथा एक नये चिन्तन को अकुरित करेगी और भावविशुद्धि का वृक्ष धीरे-धीरे पल्लविन होने लगेगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रस्तुत सकलन

परम श्रद्धेय समत्व की प्रतिमूर्ति, तितिक्षा और अन्तर्वीक्षा के जीवत रूप, युगपुरुष आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के मार्गदर्शन मे यह सकलन-सपादन किया गया है। आचार्य श्री की भावना थी कि मूल गाथा के साथ उसकी सस्कृत छाया होने से गाथा का अर्थबोध बहुत सहज हो जाता है। अन्वयार्थ होने से स्वाध्यायी प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ सकेगा, अर्थ समझने से उसे आगम के वास्तविक आनन्द ,की अनुभूति होगी और तभी उसका आगम-पाठ सार्थक होगा। जो स्वय अर्थ का ज्ञाता होगा वह दूसरो को भी समझा सकेगा, इस प्रकार आगम स्वाध्याय के प्रति सहज ही अभिरुचि बढेगी और पाठको को उसमे आनन्द भी आयेगा।

अन्वयार्थ के साथ पद्यानुवाद भी लिया गया है। इसके पीछे एक मुख्य दृष्टि है—जनता मे आगम का वाचन करने वाले श्रमण, श्रमणी, स्वाध्यायी, सद्गृहस्थ पद्य को गाकर भी सुना सकते है। सगीत की मधुरिमा का योग होने से आगम-श्रोताओ मे अधिक तन्मयता बढेगी। वक्ता और श्रोता दोनो ही आगम-सगीत मे सम्मिलित होकर एकरसता का अनुभव करेंगे। यह अनुभूत प्रयोग अनेक जगह सफल रहा है, इसलिए आचार्य श्री की प्रेरणा से इस सम्पूर्ण सूत्र का पद्यानुवाद स्व० प० शशिकान्त जी झा ने किया था। वे आचार्यश्री के प्रति अत्यन्त समर्पित विद्वान थे। उनकी कविता मे सरसता है, लयबद्धता है।

मूल गाथाओ का भावार्थ देने के पश्चात् भी जहा-जहा विशिष्ट-क्लिष्ट शब्दो के विवेचन की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहा श्री शान्त्याचार्य कृत बृहद् वृत्ति, आचार्य नेमिचन्द्र कृत चूर्णि के आधार पर शब्द-विवेचन,

भाव-विश्लेषण एव विशिष्टार्थ करने का प्रयास किया गया है। आचार्यों ने एक ही शब्द के अनेक अर्थों को ध्यान मे रखकर कही-कही पर एक-एक शब्द के दो-तीन-चार अर्थ किये हैं। ऐसे अर्थों मे उसमे निहित अनेक भाव-सभावनाए प्रकट होती है, जिससे पाठक को हार्द समझने मे सुविधा रहती है।

इस विवेचन मे प्राचीन टीका ग्रन्थो के साथ ही आचार्य श्री आत्मागम जी महाराज कृत उत्तराध्ययन सूत्र की हिन्दी टीका तथा जैन विश्व भारती लाडनू से प्रकाशित उत्तरज्झयणाणि का भी आधार लिया गया है जिसमे परम्परागत अनेक अर्थों का विशदीकरण हुआ है। मैं सभी पूर्वाचार्यों व वर्तमान विद्वानो के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

आचार्य श्री की प्रेरणा एव मार्गदर्शन से मैने यह सम्पादन किया है, जिसे स्वय आचार्य श्री ने बहुत ही सूक्ष्मता के साथ पढा है, परिष्कृत किया है, परिवर्तित एव परिवर्धित भी किया है। उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण-कुशलता देखकर आश्चर्य होता है। अपनी सुदृढ प्रचण्ड धारणाशक्ति के बल पर आचार्यश्री प्रत्येक शब्द के अर्थ और भाव को आगमानुकूल स्वरूप मे रखने का प्रयास करते हैं, जो हम सबके लिए बहुत ही लाभप्रद है।

यद्यपि इस सम्पादन मे आशातीत विलम्ब हो गया जिसके लिए क्षमा-याचना करने के सिवाय अन्य कोई चारा नही है, किन्तु फिर भी मैं आशा करता हूँ, परम श्रद्धेय आचार्य श्री के मार्गदर्शन मे तैयार हुआ यह सस्करण स्वाध्यायी जनो के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

●●

इन १४ अध्ययनो की सक्षिप्त परिक्रमा करने पर यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि प्रत्येक अध्ययन मे कुछ नवीन प्रेरणा, जागृति, उद्बोधन और मनुष्य के अन्त करण को स्पर्श करने वाले ऐसे मार्मिक प्रसग हैं कि यदि स्वाध्यायी मन लगाकर इनका स्वाध्याय करे, इनकी भावना मे एकरस हो जाये तो निश्चित ही वह उस अपूर्व आनन्द एव विलक्षण सवेग निर्वेद की अनुभूति कर सकेगा जिसकी भूख उसे जन्म-जन्मान्तरो से रही है। इस सूत्र की हर गाथा एक नये चिन्तन को अकुरित करेगी और भावविशुद्धि का वृक्ष धीरे-धीरे पल्लवित होने लगेगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रस्तुत सकलन

परम श्रद्धेय समत्व की प्रतिमूर्ति, तितिक्षा और अन्तर्वीक्षा के जीवत रूप, युगपुरुष आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के मार्गदर्शन मे यह सकलन-सपादन किया गया है। आचार्य श्री की भावना थी कि मूल गाथा के साथ उसकी सस्कृत छाया होने से गाथा का अर्थबोध बहुत सहज हो जाता है। अन्वयार्थ होने से स्वाध्यायी प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ सकेगा, अर्थ समझने से उसे आगम के वास्तविक आनन्द की अनुभूति होगी और तभी उसका आगम-पाठ सार्थक होगा। जो स्वय अर्थ का ज्ञाता होगा वह दूसरो को भी समझा सकेगा, इस प्रकार आगम स्वाध्याय के प्रति सहज ही अभिरुचि बढेगी और पाठको को उसमे आनन्द भी आयेगा।

अन्वयार्थ के साथ पद्यानुवाद भी लिया गया है। इसके पीछे एक मुख्य दृष्टि है—जनता मे आगम का वाचन करने वाले श्रमण, श्रमणी, स्वाध्यायी, सद्गृहस्थ पद्य को गाकर भी सुना सकते हैं। सगीत की मधुरिमा का योग होने से आगम-श्रोताओ मे अधिक तन्मयता बढेगी। वक्ता और श्रोता दोनो ही आगम-सगीत मे सम्मिलित होकर एकरसता का अनुभव करेंगे। यह अनुभूत प्रयोग अनेक जगह सफल रहा है, इसलिए आचार्य श्री की प्रेरणा से इस सम्पूर्ण सूत्र का पद्यानुवाद स्व० प० शशिकान्त जी झा ने किया था। वे आचार्यश्री के प्रति अत्यन्त समर्पित विद्वान थे। उनकी कविता मे सरसता है, लयबद्धता है।

मूल गाथाओ का भावार्थ देने के पश्चात् भी जहा-जहा विशिष्ट-क्लिष्ट शब्दो के विवेचन की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहा श्री शान्त्याचार्य कृत बृहद् वृत्ति, आचार्य नेमिचन्द्र कृत चूर्णि के आधार पर शब्द-विवेचन,

भाव-विश्लेषण एवं विशिष्टार्थ करने का प्रयास किया गया है। आचार्यों ने एक ही शब्द के अनेक अर्थों को ध्यान मे रखकर कही-कही पर एक-एक शब्द के दो-तीन-चार अर्थ किये हैं। ऐसे अर्थों मे उसमे निहित अनेक भाव-सभावनाए प्रकट होती है, जिससे पाठक को हार्द समझने मे सुविधा रहती है।

इस विवेचन मे प्राचीन टीका ग्रन्थो के साथ ही आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज कृत उत्तराध्ययन सूत्र की हिन्दी टीका तथा जैन विश्व भारती लाडनू से प्रकाशित उत्तरज्झयणाणि का भी आधार लिया गया है जिसमे परम्परागत अनेक अर्थो का विशदीकरण हुआ है। मैं सभी पूर्वाचार्यों व वर्तमान विद्वानो के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

आचार्य श्री की प्रेरणा एव मार्गदर्शन से मैंने यह सम्पादन किया है, जिसे स्वय आचार्य श्री ने बहुत ही सूक्ष्मता के साथ पढा है, परिष्कृत किया है, परिवर्तित एवं परिवर्धित भी किया है। उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण-कुशलता देखकर आश्चर्य होता है। अपनी सुदृढ प्रचण्ड धारणाशक्ति के बल पर आचार्यश्री प्रत्येक शब्द के अर्थ और भाव को आगमानुकूल स्वरूप मे रखने का प्रयास करते है, जो हम सबके लिए बहुत ही लाभप्रद है।

यद्यपि इस सम्पादन मे आशातीत विलम्ब हो गया जिसके लिए क्षमा-याचना करने के सिवाय अन्य कोई चारा नही है, किन्तु फिर भी मै आशा करता हूँ, परम श्रद्धेय आचार्य श्री के मार्गदर्शन मे तैयार हुआ यह सस्करण स्वाध्यायी जनो के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

—*श्रीचन्द सुराना 'सरस'*

●●

अनुक्रमणिका

**

केशि-गौतमीय : तेईसवाँ अध्ययन

(अध्ययन सार)

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—केशि-गौतमीय। इसमे केशीकुमार श्रमण और गणधर गौतम का मोक्ष मार्ग की साधना-सम्बन्धी विभिन्न पहलुओ को लेकर संवाद प्रस्तुत किया गया है। इस पर से इस अध्ययन का नाम केशि-गौतमीय रखा गया है।

इस अध्ययन मे मूलगुणो को दृष्टिगत रखकर प्राचीन और नवीन परम्परा का सम्बन्ध अथवा यो कहिये कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का, भगवान् महावीर की परम्परा मे अवतरण का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

आज से लगभग २५ शताब्दी-पूर्व भगवान् महावीर के समय की यह बात है। भगवान महावीर ने तत्कालीन मानव स्वभाव को पहचान कर साधुओ के वेष और व्रतो की सख्या मे मौलिकता को सुरक्षित रखकर परिवर्तन किया था, प्राचीन नियमो और व्रतो मे भी सशोधन-परिवर्द्धन किया था। महाव्रतो को पुष्ट करने वाली परम्पराएँ स्थापित की थी। भगवान महावीर ने पार्श्वनाथ भगवान की पुरानी परम्परा मे जहाँ मृदुता थी वहा कठोर अनुशासन की, ब्रह्मचर्य महाव्रत की, रात्रिभोजन-त्याग की, अल्प मूल्य के प्रमाणोपेत एक मात्र श्वेत वस्त्र की अथवा अचेलकत्व की परम्परा स्थापित की थी, जो कि महाव्रतो को पूर्णत परिपुष्ट करने वाली थी।

एक बार भगवान् पार्श्वनाथ सतानीय परम्परा के चतुर्थ पट्ट-धर श्री केशीकुमार श्रमण अपनी शिष्य मण्डली-सहित श्रावस्ती नगरी मे पधारे और तिन्दुक उद्यान मे विराजे। उधर भगवान महावीर के पट्ट-शिष्य गणधर गौतम भी अपने शिष्य समुदाय को लेकर श्रावस्ती मे पधारे और कोष्ठक नामक उद्यान मे ठहरे। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की परम्पराओ मे कुछ बातो को लेकर आचारभेद एव विचार-

भेद था। जब दोनो के शिष्य एक दूसरे के परिचय मे आए तो उनके मन मे वेष, एव व्रत नियम के अन्तर को देखकर तर्क वितर्क खडा हुआ, और उन्होने अपने-अपने गुरुजन के समक्ष अपनी शकाएँ प्रस्तुत की कि एक ही मोक्षरूप साध्य मे प्रवृत्त होने वाले हम लोगो के आचार और वेप मे इतना अन्तर क्यो ? जबकि दोनो ही तीर्थंकर सर्वज्ञ है। शिष्यो की शकाएँ सुन कर यद्यपि दोनो महर्षि ज्ञानी होने के कारण समाधान कर सकते थे, किंतु शिष्यो की उपस्थिति मे परस्पर एक-दूसरे से मिलकर, धर्मचर्चा कर समाधान करना विशेष आवश्यक समझा।

केशीकुमारश्रमण भगवान पार्श्वनाथ की प्राचीन परम्परा के प्रतिनिधि होने के नाते मुझसे ज्येष्ठ है, यह सोचकर गौतम स्वामी अपने शिष्यो के साथ तिन्दुक उद्यान मे पधारे, केशीकुमार ने उनका हार्दिक स्वागत किया, उन्हे बैठने के लिए पराल दी। महाप्राज्ञ गौतम से केशीकुमार ने सर्वप्रथम दो प्रश्न पूछे—

"जबकि हम दोनो का लक्ष्य एक ही है, तब हमारे व्रतो की सख्या तथा वेष मे इतना अन्तर क्यो है ? दोनो परम्पराओ के प्रवर्तक तीर्थंकर सर्वज्ञ है। इसके उपरान्त भी एक चातुर्याम धर्म को मानते हैं, तो दूसरे पच महाव्रतो को। इसी तरह कोई सचेलक (बहुमूल्य वस्त्र धारक) है, तो कोई अचेलक (निर्वस्त्र अथवा जीर्ण अल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्र धारक) है। हमारी मान्यताओ और धारणाओ मे इतनी विभिन्नता का क्या रहस्य है ?"

गौतम ने सविनय कहा—भते ! हमारा मूल लक्ष्य एक ही है, उसमे कोई अन्तर नही है किन्तु मानव मन की बदलती हुई गति एव साधको की योग्यता को देखकर विभिन्नता की गई है। फिर उन्होने पच महाव्रत स्थापित करने का, तथा श्वेत प्रमाणोपेत वस्त्र या निर्वस्त्र की परपरा प्रचलित करने का कारण बताया। बाह्याचार वेष का प्रयोजन केवल लोकप्रतीति है। मोक्षरूप लक्ष्य एक है, उसके वास्तविक साधन ज्ञान-दर्शन-चारित्र सब के समान हैं। भगवान अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक की परम्परा के साधक ऋजु एव प्राज्ञ थे, इसी कारण उनके लिए चातुर्याम का तथा सब प्रकार के वस्त्र का विधान बाधक नही लगा। क्यो कि वे आसानी से बात समझ लेते और मान लेते थे अत चातुर्याम और सचेलक का विधान उनके लिए पर्याप्त समझा गया। किन्तु भगवान ऋषभदेव के समय के मानव स्वभावत नितान्त सरल एव दुर्बोध्य तथा

भगवान महावीर के समय के मानव स्वभावत काल-प्रभाववशात् वक्र-जड अर्थात् प्राय असरल या टेढ़े-मेढे तर्क प्रस्तुत करने वाले और अति दुर्बोध्य मन स्थिति के होने के कारण प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थकाल के श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिए दोनो तीर्थंकरो को पच महाव्रत और श्वेत प्रमाणोपेत वस्त्र का कठोर विधान करना पड़ा।

इसके पश्चात् केशी श्रमण ने क्रमश २० प्रश्न किये, जिन का यथोचित समाधान गौतमस्वामी ने किया। वे प्रश्न क्रमश इस प्रकार है—

(१) प्र०—हजारो शत्रुओ के बीच मे आप कैसे विजयी बनकर रहते हो ?

उ०—एक, पाँच और दस को जीत लेने से मैंने सभी शत्रुओ को जीत लिया है।

(२) प्र०—शत्रु कौन हैं ?

उ०—अविजित आत्मा शत्रु है, कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रु हैं, मैंने उन्हे उचित उपायो से जीत लिया है।

(३) प्र०—ससार मे अधिकाश जीव पाशबद्ध हैं, आप बन्धनमुक्त होकर कैसे रहते हो ?

उ०—मैं यथोचित उपायो से उन बन्धनो को काटकर निर्मूल करके रहता हूँ।

(४) प्र०—वे पाश-बन्धन कौन-से हैं ?

उ०—तीव्र राग-द्वेष एव तीव्र स्नेहपाश भयकर बन्धन हैं। मैंने उन्हे काट दिया है।

(५) प्र०—हृदय के भीतर एक विषवल्ली उत्पन्न होती है, उसे आपने कैसे उखाड फैका है ?

उ०—मैंने उसे जड से काट कर उखाड फेंका है, अत मैं उसके विषैले फल भक्षण से दूर हूँ।

(६) प्र०—वह लता कौन-सी है ?

उ०—भव तृष्णा भयंकर लता है, उसके महाघातक फल लगते हैं। मैंने उसे उसकी जड के साथ उखाड डाला है।

(७) प्र०—घोर प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित है, वे आपको कैसे नही जला पाती ?

उ०—महामेघ प्रसूत पवित्र जल छीटता हूँ, इसलिए वे अग्नि-ज्वालाएँ मुझे नही जला पाती।

(८) प्र०—वे अग्नियाँ कौन सी हैं ?

उ०—क्रोध-मान-माया और लोभ कषाय अग्नियाँ हैं, श्रुत-शील और तप जल है, जिससे बुझाई हुई कषाय अग्नि मुझे नही जला पाती।

(९) प्र०—भयकर साहसी दुष्ट घोडा, जिस पर आप सवार हो, क्या आपको उन्मार्ग मे नही ले जाता ?

उ०—कदापि नही, क्योकि मैं भागते हुए घोडे को श्रुतज्ञानरूपी लगाम से वश मे कर लेता हूँ, जिससे वह मुझे उन्मार्ग पर नही ले जा सकता।

(१०) प्र०—अश्व कौन-सा है ?

उ०—यह मन ही दुष्ट और साहसी घोडा है, जो इधर-उधर भागता है। मैं उसे धर्मशिक्षा से भली-भाँति वश मे रखता हूँ।

(११) प्र०—जगत मे बहुत-से कुमार्ग है, जिनसे लोग भटक जाते हैं, परन्तु आप क्यो नही भटकते ?

उ०—मैंने सुमार्ग-कुमार्ग दोनो मार्ग पर चलने वालो को जान लिया है, इसलिए मैं नही भटकता।

(१२) प्र०—सुमार्ग और कुमार्ग किसे कहते हैं ?

उ०—मिथ्या कुप्रवचन को मानने वाले सभी व्रतियो का मार्ग कुमार्ग है, तथा जिनोपदिष्ट मार्ग ही उत्तम सन्मार्ग है।

(१३) प्र०—अगाध जल प्रवाह मे बहते हुए प्राणियो के लिए आप शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हो ?

उ०—जल के बीच मे एक महाद्वीप है, जहाँ जल प्रवाह के वेग की गति नही होती।

(१४) प्र०—वह महाद्वीप कौन-सा है ?

उ०—जन्म-जरा-मरण के वेग से बहते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

(१५) प्र०—महाप्रवाह वाले समुद्र मे नौका डगमगा रही है, आप उस पर चढकर कैसे पार जा सकोगे ?

उ०—छिद्रयुक्त नौका पार नही जा सकती, किन्तु जो नौका छिद्र रहित है, वह पार जा सकती है।

(१६) प्र०— वह नौका, नाविक और समुद्र कौन-सा है ?

उ०—शरीर नौका है, जीव नाविक है, और ससार समुद्र है। महर्षिगण छिद्ररहित नौका से ससाररूपी सागर को पार कर जाते हैं।

(१७) प्र०—निबिडतम प्रगाढ अन्धकार मे अधिकाश प्राणी भटक रहे हैं, कौन उनके लिए प्रकाश करेगा ?

उ०—समग्रलोक का प्रकाशक निर्मल सूर्य उदित हो चुका है, वही प्रकाश करेगा।

(१८) प्र०—वह सूर्य कौन-सा है ?

उ०—क्षीण ससार वाला सर्वज्ञ जिन ही त्रिभुवन-भास्कर है, वही प्रकाश करेगा।

(१९) प्र०—शारीरिक-मानसिक दु खो से पीडित प्राणियो के लिए आप क्षेम, शिव, निराबाध स्थान किसे मानते हो ?

उ०—लोक के अग्रभाग मे शाश्वत सुखमय स्थान है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि नही है।

(२०) प्र०—वह स्थान कौन-सा है ?

उ०—जिस स्थान को महर्षि प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण, मोक्ष, अबाध, सिद्धि और लोकाग्र आदि नामो से प्रसिद्ध है, वह बाधा-पीडा, उपद्रव, व्याधि और शोक आदि से रहित है, परन्तु वहाँ पहुँच पाना कठिन है।

इस प्रकार केशीश्रमण ने गौतम से कुल २० पृच्छाएँ की, और गौतमस्वामी ने उनका यथोचित समाधान किया, जिनसे वे अत्यन्त प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए। सशय मिट जाने से उन्होने गौतमस्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हुए उन्हे वन्दन किया और भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म के स्थान पर उन्होने शिष्यो सहित पचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार किया। वे इस प्रकार भगवान महावीर के सघ मे प्रविष्ट हुए। इससे श्रुतज्ञान और चारित्र का उत्कर्ष हुआ। महत्त्वपूर्ण तत्त्वो के अर्थ का निश्चय हुआ।

अन्तिम गाथाओ मे इस धर्मचर्चा की फलश्रुति और महत्ता अभिव्यक्त की गई है। सारी परिषद ने दोनो महामुनियो की चर्चा से सन्तुष्ट होकर उनकी स्तुति की।

८

तेईसवाँ अध्ययन : केशि-गौतमीय

[तेवीसइम अज्झयण केसि-गोयमिज्ज]

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और उनके शिष्य केशीकुमार श्रमण—

मूल—जिणे पासित्ति नामेण, अरहा लोग-पूइओ।
सबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्म-तित्थयरे जिणे ॥१॥
तस्स लोग-प्पदीवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसीकुमार-समणे, विज्जा-चरण-पारगे ॥२॥

छाया—जिन पार्श्व इति नाम्ना, अर्हन् लोक-पूजित ।
सम्बुद्धात्मा च सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थंकरो जिन ॥१॥
तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशा ।
केसी-कुमार-श्रमण, विद्या—चरण—पारग ॥२॥

पद्यानुवाद—थे लोक-सुपूजित अर्हन् जिन, शुभ पार्श्व नाम जग-जन जाने।
स्वयबुद्ध सर्वज्ञ, धर्म के, तीर्थंकर थे, सबके माने ॥१॥
उन लोक-प्रदीपक जिनवर के, थे शिष्य महायश के धारी।
शुभनाम श्रमण केसीकुमार, जो ज्ञान-चरण के भण्डारी ॥२॥

अन्वयार्थ—पासित्ति नामेण—पार्श्व नाम के, जिणे—जिन (रागद्वेषविजेता), अरहा—अर्हत्, लोगपूइओ—लोकपूजित, सबुद्धप्पा—सम्बुद्धात्मा, सव्वन्नू—सर्वज्ञ, धम्मतित्थयरे—धर्म-तीर्थ के प्रवर्त्तक, य जिणे—और जिन=वीतराग थे ॥१॥

तस्स लोगप्पदीवस्स—उन लोकप्रदीप (भगवान पार्श्वनाथ) के, विज्जा-चरण-पारगे—विद्या और चरण (चारित्र) के पारगामी, महायसे—महायशस्वी, सीसे—शिष्य, केसीकुमार-समणे—केशीकुमार श्रमण थे ॥२॥

भावार्थ—रागद्वेष आदि आतरिक दोषो के विजेता, पार्श्वनाथ नाम के, लोकपूजित अर्हन् जिन थे, जो सम्बुद्धात्मा (स्वत सम्बुद्ध), सर्वज्ञ, वीतराग एव धर्म-तीर्थ के सस्थापक थे ॥१॥

लोक मे प्रदीप के समान ज्ञान का प्रकाश करने वाले उन प्रभु पार्श्व-नाथ तीर्थंकर के केशी नामक एक महान् यशस्वी शिष्य थे, जो कुमारवय से श्रमण (तपस्वी) तथा ज्ञान एव चारित्र मे पारगत थे ॥२॥

विवेचन—संक्षिप्त पार्श्वनाथ कथा—जम्बूद्वीपान्तर्गत भरतक्षेत्र मे पोतनपुर नगर का अरविन्द नामक राजा था। उसका पुरोहित विश्वभूति था, जो श्रावक था। उसके दो पुत्र थे—कमठ और मरुभूति। दोनो की पत्नियो का नाम क्रमश वरुणा और वसुन्धरा था। विश्वभूति अपनी वृद्धावस्था एव अशक्तता जानकर अपने दोनो पुत्रो को गृहकार्य का भार सौपकर धर्माचरण मे सलग्न हो गया और क्रमश आयुष्य पूर्ण कर वह देवलोक मे देव हुआ। उसकी अनुद्धरी नाम की पत्नी का भी उत्कृष्ट तपश्चर्या के कारण शरीर क्षीण होने से देहावसान हो गया। माता-पिता की उत्तरक्रिया सम्पन्न करके कमठ राजपुरोहित बन गया। मरुभूति भी ब्रह्मचर्यपूर्वक साधना मे तत्पर रहने लगा। उसकी रूपवती और नवयौवना पत्नी को देखकर कमठ का चित्त चलायमान हो गया। कमठ उसे विकारदृष्टि से देखने लगा। मरुभूतिपत्नी भी यौवनोन्मादवश उसके प्रति कामासक्त हो गई। दोनो की दुराचार प्रवृत्ति सामान्य रूप से मरुभूति को ज्ञात हुई तो विशेष रूप से जानने हेतु उसने कमठ से अन्य ग्राम को जाने का कहकर ग्राम से बाहर जा कार्पटिक साधु का वेष बनाया तथा उसने अपनी आवाज बदल ली और घर लौटकर कमठ से कहा—"मुझे आज रात भर के लिए ठड से बचने के लिए रहने का कोई स्थान दीजिए।" कमठ ने उसे नही पहचाना और साधु जानकर कहा—"आप यहाँ कमरे मे खुशी से रहिए।" इस प्रकार रात्रि-निवास कर मरुभूति ने कमठ और अपनी पत्नी के समस्त दुराचार का हाल जान लिया। परन्तु लोकापवाद के भय से उसने उस समय उसका कोई प्रतीकार नही किया। प्रात राजा अरविन्द के पास जाकर उसने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने प्रक्रुद्ध हो तत्काल कमठ की दुर्दशा कर उसे देशनिकाला दे दिया। कमठ के मन मे इसकी भयकर प्रतिक्रिया हुई। किन्तु पीछे से उसके मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ और साधुवेष ग्रहण कर वह दुष्कर तप करने लगा। इस वृत्तान्त को जानकर मरुभूति के मन मे पश्चात्ताप हुआ और वह अपने अपराध की क्षमा मागने के लिए कमठ के पास गया। ज्यो ही वह कमठ के चरणो मे गिरकर क्षमा मागने लगा, त्यो ही कमठ के मन मे पूर्व वैरभाव अग्नि मे घृताहुति के समान भयकर रूप से भडक उठी। उसने मरुभूति के मस्तक पर एक बडी शिला उठाकर

दे मारी। मरुभूति इस शिला प्रहार से छटपटा कर तत्काल निष्प्राण हो गया।

मरुभूति मरकर विन्ध्याचल पर्वत मे एक बडे यूथ का अधिपति हाथी बना। इधर एक दिन राजा अरविन्द ने राजमहल के अपने अन्त पुर दालान मे राजमहिषियो के साथ मनोविनोद करते हुए सहसा आकाश को शरदऋतु के मनोरम बादलो से ढका हुआ देखा, दूसरे ही क्षण उसने देखा कि वायु के प्रचण्ड झोको से वे बादल नष्ट हो गए है। इस प्रकार गहराई से विचार करते-करते वह अवनिपति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ससार के समस्त पदार्थ क्षणभगुर है। उन्हे आत्म-चिन्तन करते-करते अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। फलत अपने पुत्र को राज्यभार सौपकर वे श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गये। एक बार राजर्षि अरविन्द ने सागरदत्त सार्थवाह के साथ तीर्थयात्रा के लिए विहार किया। सागरदत्त सार्थवाह ने मुनि से पूछा—आपका धर्म कैसा है ? मुनि ने दया, दान तथा विनय को धर्म का मूल बताते हुए विस्तृतरूप से धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर सागरदत्त श्रावक बन गया। सागरदत्त का सार्थ चलता-चलता उसी जगल मे पहुँचा, जहाँ मरुभूति का जीव हाथी बनकर घूम रहा था। जब सार्थ ने वहाँ के एक विशाल सरोवर के तट पर पडाव डाला तो वह हाथी भी अनेक हथिनियो से घिरा हुआ उक्त सरोवर की पाल पर जल पीने के लिए आ पहुँचा। वहाँ हाथी ने चारो ओर दृष्टिपात किया और सार्थ को देखकर उस पर धावा बोलने के लिए दौडा। उसे अपने सम्मुख आते देख सार्थ के लोग घबराकर तितर-बितर हो गये। मुनि अवधिज्ञान से हाथी का भूत-भविष्य जानकर अपने स्थान पर कायोत्सर्ग मे स्थित रहे। हाथी ने मुनि को देखा तो उनकी ओर दौडा। मुनि के निकट आकर ज्यो ही उनकी ओर ध्यानपूर्वक देखा, त्यो ही उसका क्रोध शान्त हो गया। उसे शान्त और निश्चल देख मुनि ने कायोत्सर्ग पार कर उससे कहा—अरे मरुभूति ! क्या तुझे अपने पूर्वभव का, तथा अरविन्द नाम के राजा का स्मरण नही है ? मुनि के ये वचन सुनकर हाथी को ऊहापोह करते-करते जाति-स्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने मुनि के चरणो पर अपना मस्तक झुका उन्हे सविनय नमन किया। मुनि ने उसे विशेष उपदेश दिया, जिससे वह श्रावक बना और मुनि को प्रणाम करके अपने स्थान पर चला गया। यह चमत्कार देख कर समग्र सार्थ ने मुनि के चरणो मे नमस्कार किया और दयामूलक श्रावक धर्म अगीकार किया। सभी ने वहाँ से आगे प्रस्थान किया।

इधर कमठ का जीव वैर परम्परा मे अहर्निश डूबा रहा और आर्त-रौद्रध्यान मे मरकर कुर्कुटसर्प बना। विन्ध्याचल भूमि मे घूमते हुए उस हाथी को कीचड मे फँसे देख कुर्कुटसर्प ने पूर्व वैरवश उसके कुम्भस्थल मे डस लिया। श्रावक होने से उस विषवेदना को समभावपूर्वक सहन करता हुआ हाथी मरकर सहस्रारकल्प मे देव बना। कुर्कुटसर्प भी मरकर पाचवी नरक मे नारक बना।

इधर हस्तिदेव देवलोक से च्यवकर जम्बूद्वीपस्थ पूर्वविदेह के कच्छ-विजय मे वैताढ्यपर्वत पर तिलकानगरी के विद्युद्गति नामक विद्याधर की पत्नी कनकतिलका की कुक्षि से किरणवेग नामक पुत्र के रूप मे जन्मा। क्रमश राज्य प्राप्ति के अनन्तर न्याय-नीतिपूर्वक उसका परिपालन करता हुआ वह कालान्तर मे सुगुरु के पास प्रव्रजित हुआ और एकलविहारी चारणश्रमण बना। एक बार वह आकाशमार्ग से विहार करके पुष्करद्वीप गया। वहा कनकगिरि सन्निवेश मे कायोत्सर्ग मे स्थित हो तपश्चर्या करने लगा। उधर कुर्कुटसर्प का जीव भी नरक से निकलकर उसी कनकगिरि के पास महासर्प बना। उसने एक दिन मुनि को देखा तो पूर्व-वैरवशात् क्रुद्ध हो चारण मुनि को डस लिया। मुनि समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त कर अच्युतकल्प के जम्बुद्रुमावर्त विमान मे देव बने। महोरग भी वहा से मरकर पचम नरक मे उत्पन्न हुआ।

किरणवेगदेव वहाँ से च्यवनकर जम्बूद्वीपस्थ अपरविदेह मे सुगन्धविजयान्तर्गत शुभकरा नगरी के वज्रवीर्य नामक राजा की लक्ष्मिवती नाम की रानी से 'वज्रनाभ' नामक पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। उसने क्रमप्राप्त राज्य का कुछ वर्षों तक पालन करने के अनन्तर चक्रायुध नामक अपने पुत्र को राज्य सौपकर क्षेमकर जिन से दीक्षा ग्रहण की। विधिपूर्वक तपश्चरण करने से उसे अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। सुकच्छ विजय मे अप्रतिबद्ध विहार करते हुए वे मुनि ज्वलनगिरि के निकट पहुँचे। सूर्यास्त होने पर वही कायोत्सर्ग मे स्थित हो गये। प्रात काल वहाँ से चलकर अटवी मे प्रविष्ट हुए। उधर पाचवी नरक से निकल महोरगनारक कुछ वर्षों तक ससार परिभ्रमण कर उसी ज्वलनगिरि के निकट भयकर अटवी मे वनचारी चाण्डाल बना। एक दिन शिकार के लिए जाते हुए उसने उक्त साधु को देखा। पूर्वजन्म के वैरवश चाण्डाल ने मुनि दर्शन को अपशकुनमय मान उन्हे बाणो से बीध डाला। मृत्यु प्राप्त मुनि को देखकर उसने मन ही मन गर्व किया—"मैं बडा धनुर्धर हूँ।" इस प्रकार घोरातिघोर क्रूर कर्म बाँध कर अन्त मे वह

चाण्डाल मृत्यु को प्राप्त हो सातवी नरक का नैरयिक बना। वज्रनाभ मुनि समभावपूर्वक वेदना सहते हुए मरकर मध्यमग्रैवेयक मे ललिताग नामक देव हुए।

वहाँ से च्यवनकर ललिताग देव जम्बूद्वीप के पूर्वमहाविदेह के पुराणपुर मे कुशलबाहु राजा की सुदर्शनादेवी से कनकप्रभ नामक पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। वह क्रमश चक्रवर्ती हुआ। एक दिन अपने महल की छत पर बैठे-बैठे उसने आकाशमार्ग से जाता हुआ देवो का समूह देखा। इससे अनुमान लगाया कि कोई जगद्वन्द्य तीर्थंकर पधारे है। अत स्वय उनको वन्दना करने पहुँचा। भगवान् ने चक्रवर्ती को धर्मोपदेश दिया। प्रभु की देशना सुन अत्यन्त हर्षित हो चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् को प्रणाम करके अपनी नगरी मे आया। एक दिन चक्रवर्ती को तीर्थंकर प्रभु के उपदेश पर मनन करते-करते जातिस्मरणज्ञान हो गया। ज्ञान के प्रभाव से पूर्वजन्मो को प्रत्यक्षवत् देखकर उसका मन ससार से विरक्त हो गया। अत उसने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। क्रमश विहार करते हुए वे क्षीरवन के क्षीरपर्वत पर सूर्याभिमुख कायोत्सर्गपूर्वक सूर्य की आतापना लेते हुए ध्यानमग्न हो गये। कनकप्रभ मुनि ने तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के २० बोलो की आराधना कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

इधर वनचारी चाण्डाल का जीव नरक से निकलकर उसी जगल मे क्षीरपर्वत की गुफा मे सिंह हुआ। एक दिन वह सिंह मृगयार्थ घूमता हुआ मुनि के पास पहुँचा। पूर्वभव वैरवशात् मुनि को उसने मार डाला। समाधिपूर्वक काल कर वहाँ से वे प्राणत कल्प के महाप्रभ विमान मे महर्द्धिक देव के रूप मे उत्पन्न हुए। सिंह भी चिरकाल तक भव-परिभ्रमण करता हुआ किसी शुभकर्मवश ब्राह्मण के यहाँ जन्मा। पाप के उदय से जन्म होते ही उसके माता-पिता एव भाई आदि स्वजनो का वियोग हो गया। लोगो की दया पर वह जीवित रहने लगा। युवा हो जाने पर भी वह कुरूप और अभागा ब्राह्मण दु ख से आजीविका चलाता था। अत विरक्त होकर तापस बन गया और अज्ञानतप करने लगा।

इधर कनकप्रभ चक्रवर्ती देव प्राणत देवलोक से च्यवकर चैत्रकृष्णा चतुर्थी को जम्बूद्वीपस्थ भरतक्षेत्र के काशी देश की वाराणसी नगरी मे अश्वसेन राजा की वामादेवी रानी की कुक्षि से विशाखा नक्षत्र मे मध्यरात्रि के समय तेईसवें तीर्थंकर के रूप मे उत्पन्न हुए। माता वामा देवी ने उसी रात को चौदह स्वप्न देखे। उसने राजा से निवेदन किया।

राजा ने अत्यन्त हर्षपूर्वक स्वप्नफल बताया। प्रातःकाल स्वप्नपाठको ने चौदह स्वप्नो का फल विशदरूप से बताया, जिससे राजा-रानी दोनो को प्रसन्नता हुई। वामादेवी सुखपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी। क्रमश गर्भकाल पूर्ण होने पर शुभ समय मे कुमार का जन्म हुआ। अत्यन्त धूमधाम से जन्म महोत्सव मनाया गया। प्रभु जब गर्भ मे थे, तब माता ने रात्रि मे अपने पास (बगल) से जाता हुआ एक सर्प देखा। अत कुमार का नाम पार्श्व रखा। 'पार्श्वकुमार जब आठ वर्ष के हुए तब समस्त कलाओ मे कुशल हो गए। यौवन मे पदार्पण होते ही पिता ने प्रभावती नाम की कन्या के साथ उनका विवाह किया। एक दिन पार्श्वकुमार ने अपने महल के गवाक्ष मे बैठे हुए राजमार्ग पर श्रेष्ठ फूल हाथ मे लेकर नगर के बाहर जाते हुए नागरिको को देखा। कुमार ने अपने सेवक से पूछा—"आज लोग फूल हाथो मे लेकर नगर से बाहर क्यो जा रहे हैं? क्या कोई पर्वोत्सव है?" उसने कहा—आज नगर के बाहर कमठ नामक एक महातपस्वी आए हुए हैं। उन्हे वन्दन करने के लिए ये लोग जा रहे हैं।

यह सुनकर कुतूहलवश पार्श्वकुमार भी कमठ के पास पहुँचे। वहा उसे पचाग्नितप करते हुए देखा। परम अवधिज्ञानी पार्श्वकुमार ने जान लिया कि अग्निकुण्ड मे डाले हुए बडे लक्कड के बीच मे सर्प (का जोडा) जल रहा है। परमकरुणावतार कुमार ने कहा—खेद है, इतना घोर तप करने के साथ दया नही है। यह सुन कमठ ने कहा—तुम धर्म की बातो मे क्या समझते हो? राजकुमार तो हाथी-घोडो खेल देखना जानते हैं। तब कुमार ने एक विश्वस्त सेवक को आदेश दिया कि सावधानीपूर्वक कुल्हाडी से उस लक्कड को दो हिस्सो मे चीर दे। लक्कड चीरने पर उसमे जलते हुए सर्प (जोडा) को सब ने देखा। पार्श्वकुमार ने सर्प को नमस्कारमन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह[1] (जोडा) मर कर नागलोक मे धरणेन्द्र—(पद्मावती) के रूप मे उत्पन्न हुआ। लोगो ने पार्श्वकुमार की ज्ञान शक्ति की प्रशसा की। कमठ लज्जित हो गया। गाढ अज्ञानतप के कारण वह मेघकुमारो के समूह मे मेघमाली नामक भवनपतिदेव हुआ।

एक बार श्री पार्श्वनाथकुमार मित्रो की प्रेरणा से बसन्त क्रीडा देखने नन्दन वन पहुँचे। वहाँ स्वर्णमय सिंहासन पर बैठे हुए उन्होने नन्दन

---

१ दिगम्बर परम्परा मे जलते काष्ठ मे नागयुगल का जलना माना गया है।

द्वारा पूजनीय अर्हन् अथवा कर्म शत्रुओ का हनन-विनाश करने वाले अरिहन्त (३) लोग पूइओ=तीन लोक द्वारा अर्चित। (४) सम्बुद्धप्पा=स्वय बुद्ध तत्वज्ञान से युक्त आत्मा, (५) सव्वन्नू=त्रिकाल त्रिलोक की वातो को सम्पूर्ण जानने वाले, (६) धम्मतित्थयरे—धर्म तीर्थंकर—धर्म ही ससार समुद्र को पार करने का कारण होने से तीर्थ रूप है, उस धर्म तीर्थ के सस्थापक या प्रवर्त्तक—धर्म तीर्थंकर। (७) जिणे—समस्त कर्मो को जीतने वाले। दूसरी वार 'जिन' विशेषण समस्त कर्मो का सर्वथा क्षय (जीत) कर मुक्ति गति को प्राप्त होने का ससूचक है। इसका आशय यह है कि भगवान महावीर तीर्थंकर रूप मे उस समय प्रत्यक्ष विचरण कर रहे थे, और भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर मुक्ति प्राप्त कर चुके थे।

केशीकुमार श्रमण सक्षिप्त परिचय और तात्पर्य—केशीकुमार को भगवान पार्श्वनाथ का शिष्य वताया गया है, यह सामान्य निर्देश है। इसका तात्पर्य है—वे भगवान पार्श्वनाथ के परम्परागत शिष्य थे, साक्षात् शिष्य नही, क्योकि वे श्रमण भगवान महावीर के समय मे विद्यमान थे, जवकि भगवान पार्श्वनाथ को निर्वाण प्राप्त किये लगभग २५० वर्ष हो चुके थे। यह इतिहासविदो द्वारा सिद्ध हो चुका है कि भगवान महावीर से २५० वर्ष पहले भगवान पार्श्वनाथ हुए थे और उस समय इतनी दीर्घ आयु नही होती थी। इसलिए यही प्रतिफलित होता है कि केशीकुमार श्रमण भगवान पार्श्वनाथ के हाथो से दीक्षित साक्षात् शिष्य नही अपितु सन्तानीय शिष्य थे। यह सम्भव है कि उस समय के पार्श्वनाथ-सतानीय शिष्यो मे वे प्रमुख तथा सबसे अधिक प्रसिद्ध हो। इसीलिए उनके लिए 'महायसे' विशेषण का प्रयोग किया गया है। उनके प्रसिद्ध एव महायशस्वी होने का कारण था—विद्या (श्रुत ज्ञान) और चारित्र का पारगामी होना। अर्थात् उनके ज्ञान और चारित्र दोनो निर्मल थे।

केशी कुमार श्रमण नाम क्यो? कुमार इसलिए कहा गया है कि वे बाल्यावस्था मे विरक्त होकर अविवाहित ही प्रव्रजित हो गए थे। उनके केश अतीव कोमल और मनोहर थे, इसलिए श्रमण होने पर भी वे केशी कुमार के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए थे।

केशी श्रमण का सशिष्य श्रावस्ती मे पदार्पण—

मूल—ओहिनाण-सुए बुद्धे, सीस-संघ समाउले।
गामाणुगामं रीयते, सावत्थिं नगरिमागए ॥३॥

तिंदुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमण्डले।
फासुए सिज्ज-संथारे, तत्थ वासमुवागए ॥४॥

छाया—अवधिज्ञान-श्रुताभ्यां बुद्धः, शिष्य-संघ-समाकुलः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, श्रावस्तीं नगरीमागतः ॥३॥
तिन्दुकं नामोद्यानं, तस्मिन् नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्या-संस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥४॥

पद्यानुवाद—श्रुत और अवधि दो ज्ञान धरे, मुनि-संघ-सहित शोभा पाए।
ग्रामानुग्राम विचरण करते, श्रावस्ती नगरी मे आए ॥३॥
था उस नगरी के पास एक, उद्यान नाम तिन्दुक जिसमे।
वे ठहरे उसमे जा प्रासुक, शय्यासंस्तारक थे जिसमे ॥४॥

अन्वयार्थ—(वे) ओहिनाण सुए-बुद्धे—अवधिज्ञान और श्रुतज्ञान से प्रबुद्ध, सीस-संघ-समाउले—शिष्य-समूह से परिवृत होकर, गामाणुगामं रीयंते—ग्रामानुग्राम विहार करते हुए, सावत्थिं नगरिं—श्रावस्ती नगर मे, आगए—आए ॥३॥

तम्मी नगरमण्डले—उस नगरी के बहिस्थ (पार्श्व) भाग मे, तिंदुयं नाम उज्जाणं—तिन्दुक नामक उद्यान था, तत्थ—वहां, (वे) वासमुवागए—निवास के लिए आये, (जहां) फासुए—प्रासुक (जीव-जन्तु रहित अचित्त निर्दोष), सिज्ज-संथारे—शय्या (मकान उपाश्रय) और संस्तारक (पीठ-फलकादि) (सुलभ) थे।

भावार्थ—अवधिज्ञान और (मति) श्रुतज्ञान से पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता, वे केशी श्रमण, अपने शिष्य समूह सहित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे पधारे ॥३॥

उस नगरी के समीप भाग मे तिन्दुक नाम का एक उद्यान था। वहाँ उन्होंने निर्दोष शय्या-संस्तारक ग्रहण करके निवास किया ॥४॥

विवेचन—ओहिनाण-सुए बुद्धे : तात्पर्य—यहाँ मूलपाठ मे अवधिज्ञान और श्रुतज्ञान का ही उल्लेख है, किन्तु नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि के अनुसार सैद्धांतिक तथ्य यही है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।[1] श्रुतज्ञान मतिज्ञान का अविनाभावी है। दोनो एक साथ अवश्यम्भावी रूप से रहते हैं। इसीलिए केशीकुमार मति, श्रुत और अवधि तीनो ज्ञान द्वारा पदार्थों के स्वरूप के यथावत् ज्ञाता (बुद्ध) थे।

---

१ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक द्वादशभेदम्—तत्त्वार्थ सूत्र अ० १ सू० २०

वर्द्धमान तीर्थंकर के शिष्य गौतम गणधर का भी सशिष्य श्रावस्ती मे पदार्पण—

मूल—अह तेणेव कालेण, धम्म-तित्थयरे जिणे।
भगव वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥५॥
तस्स लोगपदीवस्स, आसी सीसे महायसे।
भगवं गोयमे नाम, विज्जा-चरण-पारगे ॥६॥
बारसग-विऊ बुद्धे, सीस-सघ-समाउले।
गामाणुगाम रीयते, से वि सावत्थिमागए ॥७॥
कोट्ठगं नाम उज्जाण, तम्मी नगरमडले।
फासुए सिज्ज-सथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

छाया—अथ तस्मिन्नेव काले, धर्म-तीर्थंकरो जिन।
भगवान् वर्धमान इति, सर्वलोके विश्रुत ॥५॥
तस्य लोक-प्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशा।
भगवान गौतमो नाम, विद्या-चरण-पारग ॥६॥
द्वादशागविद् बुद्ध, शिष्य-सघ-समाकुल।
ग्रामानुग्राम रीयमाण, सोऽपि श्रावस्तीमागत ॥७॥
कोष्ठक नाम उद्यान, तस्मिन् नगरमण्डले।
प्रासुके शय्या-सस्तारे, तत्र वासमुपागत ॥८॥

पद्यानुवाद—उसी समय मे वर्द्धमान प्रभु, धर्म-तीर्थंकर जिनवर जो।
पूर्ण ज्ञान के धारक एव, सर्व-लोक मे विश्रुत जो ॥५॥
उस लोक प्रकाशक जिनवर के, प्रिय शिष्य महायश के धारी।
अतिशय-ज्ञानी गौतम नामा, थे ज्ञान-क्रिया के भण्डारी ॥६॥
थे द्वादशाग-विद् श्रुतज्ञानी, मुनि-सघ-सहित शोभा पाए।
ग्रामानुग्राम विचरण करते, श्रावस्ती नगरी मे आए ॥७॥
नगरी के परिसर मे ही था, उद्यान नाम कोष्ठक जिसका।
वे ठहर गये उसमे जाकर, वहाँ जीवरहित शयनासन था ॥८॥

अन्वयार्थ—अह—उधर, तेणेव कालेण—उसी समय, धम्मतित्थयरे—धर्म-तीर्थ के सस्थापक, जिणे—रागद्वेषादि-विजेता (जिनेश्वर), भगव—भगवान, वद्धमाणित्ति—वर्धमान विहरणशील थे, (जो) सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, विस्सुए—विख्यात थे ॥५॥

तस्स लोगपदीवस्स—उन लोकप्रदीप (भगवान वर्द्धमान) के, विज्जा चरण-

पारगे—विद्या और चारित्र मे पारगत, महायसे—महान यशस्वी, भगवं गोयमे नाम—भगवान गौतम नामक, सीसे—पट्टशिष्य, आसी—थे ॥६॥

बारसंगविऊ—द्वादश अगशास्त्रो के वेत्ता, बुद्धे—प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ), से वि—वे (गौतम स्वामी) भी, सीससंघसमाउले—शिष्य सघ से परिवृत होकर, गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम, रीयते—विहार करते हुए, सावत्थिमागए—श्रावस्ती नगरी मे पधार गये ॥७॥

तम्मी नगरमण्डले—उस नगरी के पार्श्वस्थ परिसर मे, कोट्ठगं नाम उज्जाणं—कोष्ठक नाम का उद्यान था, तत्थ—वहा (उन्होने), वासमुवागए—निवास किया, (जहा), फासुए—प्रासुक=निर्दोष, सिज्जसंथारे—शय्या-सस्तारक (सुलभ) थे ॥८॥

विवेचन—"तेणेव कालेणं" : तात्पर्य—जिस समय तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के परम्परागत शिष्य केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती नगरी मे पधारे उसी समय चौबीसवे तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी जो धर्म-तीर्थंकर एव जिन के रूप मे समस्त लोक मे विख्यात हो चुके थे, विद्यमान थे। तात्पर्य यह है कि वह समय चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर (वर्द्धमान) स्वामी के धर्मशासन का था। भगवान महावीर स्वामी धर्मतीर्थ की स्थापना करके धर्मोपदेश करने मे प्रवृत्त हो चुके थे। उनके पट्ट शिष्य गौतम स्वामी भी अपने शिष्यो के साथ विभिन्न ग्राम नगरो मे विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी मे पधारे और कोष्ठक उद्यान मे विराजे।

भगवं गोयमे नाम० सक्षिप्त परिचय—यद्यपि गौतम स्वामी का वास्तविक नाम इन्द्रभूति था और गौतम उनका गोत्र था। किन्तु इनकी प्रसिद्धि गोत्र के नाम से ही हुई। अतएव न्यायदर्शन के रचयिता गौतमऋषि और बौद्धमत के प्रवर्तक गौतम बुद्ध से पृथक ये तीसरे गौतम (इन्द्रभूति गौतम) है। ये भगवान महावीर के ११ गणधरो मे प्रथम और पट्टशिष्य थे। ये वर्ण जाति से ब्राह्मण और वेदादि शास्त्रो के पूर्ण ज्ञाता थे। भगवान महावीर के पास आकर इन्होने अपने समस्त प्रश्नो का यथार्थ समाधान प्राप्त किया, और भगवान के चरणो मे स्वय को समर्पित कर दिया। उनके पास प्रव्रजित होकर उनके शिष्य बन गए। भाग्यशाली इन्द्रभूति, गौतम नाम से ही विख्यात महायशस्वी भगवच्छिष्य थे।

दोनो तीर्थंकरो के शिष्यमण्डल मे दोनो तीर्थों के अन्तर पर चिन्तन

मूल—केसीकुमार—समणे, गोयमे य महायसे।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

वर्द्धमान तीर्थंकर के शिष्य गौतम गणधर का भी सशिष्य श्रावस्ती मे पदार्पण—

मूल—अह तेणेव कालेण, धम्म-तित्थयरे जिणे ।
भगव वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥५॥
तस्स लोगपदीवस्स, आसी सीसे महायसे ।
भगव गोयमे नाम, विज्जा-चरण-पारगे ॥६॥
बारसग-विऊ बुद्धे, सीस-सघ-समाउले ।
गामाणुगाम रीयते, से वि सावत्थिमागए ॥७॥
कोट्ठगं नाम उज्जाण, तम्मी नगरमडले ।
फासुए सिज्ज-सथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

छाया—अथ तस्मिन्नेव काले, धर्म-तीर्थंकरो जिन ।
भगवान् वर्धमान इति, सर्वलोके विश्रुत ॥५॥
तस्य लोक-प्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशा ।
भगवान गौतमो नाम, विद्या-चरण-पारग ॥६॥
द्वादशागविद् बुद्ध, शिष्य-सघ-समाकुल ।
ग्रामानुग्राम रीयमाण, सोऽपि श्रावस्तीमागत ॥७॥
कोष्ठक नाम उद्यान, तस्मिन् नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्या-सस्तारे, तत्र वासमुपागत ॥८॥

पद्यानुवाद—उसी समय मे वर्द्धमान प्रभु, धर्म-तीर्थंकर जिनवर जो ।
पूर्ण ज्ञान के धारक एव, सर्व-लोक मे विश्रुत जो ॥५॥
उस लोक प्रकाशक जिनवर के, प्रिय शिष्य महायश के धारी ।
अतिशय-ज्ञानी गौतम नामा, थे ज्ञान-क्रिया के भण्डारी ॥६॥
थे द्वादशाग-विद् श्रुतज्ञानी, मुनि-सघ-सहित शोभा पाए ।
ग्रामानुग्राम विचरण करते, श्रावस्ती नगरी मे आए ॥७॥
नगरी के परिसर मे ही था, उद्यान नाम कोष्ठक जिसका ।
वे ठहर गये उसमे जाकर, वहाँ जीवरहित शयनासन था ॥८॥

अन्वयार्थ—अह—उधर, तेणेव कालेण—उसी समय, धम्मतित्थयरे—धर्म-तीर्थ के सस्थापक, जिणे—रागद्वेषादि-विजेता (जिनेश्वर), भगव—भगवान, वद्धमाणित्ति—वर्धमान विहरणशील थे, (जो) सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, विस्सुए—विख्यात थे ॥५॥

तस्स लोगपदीवस्स—उन लोकप्रदीप (भगवान वर्द्धमान) के, विज्जा चरण-

पारगे—विद्या और चारित्र मे पारगत, महायसे—महान यशस्वी, भगव गोयमे नाम—भगवान गौतम नामक, सीसे—पट्टशिष्य, आसी—थे ॥६॥

बारसगविऊ—द्वादश अगशास्त्रो के वेत्ता, बुद्धे—प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ), से वि—वे (गौतम स्वामी) भी, सीससघसमाउले—शिष्य सघ से परिवृत होकर, गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम, रीयते—विहार करते हुए, सावत्थिमागए—श्रावस्ती नगरी मे पधार गये ॥७॥

तम्मी नयरमण्डले—उस नगरी के पार्श्वस्थ परिसर मे, कोट्ठग नाम उज्जाण—कोष्ठक नाम का उद्यान ११, तत्थ—वहा (उन्होंने), वासमुवागए—निवास किया, (जहा), फासुए—प्रासुक=निर्दोष, सिज्जसथारे—शय्या-सस्तारक (सुलभ) थे ॥८॥

विवेचन—'तेणेव कालेण' : तात्पर्य—जिस समय तेईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के परम्परागत शिष्य केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती नगरी मे पधारे उसी समय चौबीसवे तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी जो धर्म-तीर्थंकर एव जिन के रूप मे समस्त लोक मे विख्यात हो चुके थे, विद्यमान थे। तात्पर्य यह है कि वह समय चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर (वर्द्धमान) स्वामी के धर्मशासन का था। भगवान महावीर स्वामी धर्मतीर्थ की स्थापना करके धर्मोपदेश करने मे प्रवृत्त हो चुके थे। उनके पट्ट शिष्य गौतम स्वामी भी अपने शिष्यो के साथ विभिन्न ग्राम नगरो मे विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी मे पधारे और कोष्ठक उद्यान मे विराजे।

भगव गोयमे नाम० सक्षिप्त परिचय—यद्यपि गौतम स्वामी का वास्तविक नाम इन्द्रभूति था और गौतम उनका गोत्र था। किन्तु इनकी प्रसिद्धि गोत्र के नाम से ही हुई। अतएव न्यायदर्शन के रचयिता गौतमऋषि और बौद्धमत के प्रवर्तक गौतम बुद्ध से पृथक ये तीसरे गौतम (इन्द्रभूति गौतम) है। ये भगवान महावीर के ११ गणधरो मे प्रथम और पट्टशिष्य थे। ये वर्ण जाति से ब्राह्मण और वेदादि शास्त्रो के पूर्ण ज्ञाता थे। भगवान महावीर के पास आकर इन्होने अपने समस्त प्रश्नो का यथार्थ समाधान प्राप्त किया, और भगवान के चरणो मे स्वय को समर्पित कर दिया। उनके पास प्रव्रजित होकर उनके शिष्य बन गए। भाग्यशाली इन्द्रभूति, गौतम नाम से ही विख्यात महायशस्वी भगवच्छिष्य थे।

दोनों तीर्थंकरो के शिष्यमण्डल मे दोनो तीर्थों के अन्तर पर चिन्तन

मूल—केसीकुमार—समणे, गोयमे य महायसे।
उभओवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

उभओ सीससघाण, सजयाण तवस्सिण ।
तत्थ चिंता समुप्पन्ना, गुणवताण ताइण ॥१०॥

'केरिसो वा इमो धम्मो ?' इमो धम्मो वा केरिसो ?
आयारधम्मप्पणिही, इमा वा सा व केरिसी ? ॥११॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥१२॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सतरुत्तरो ।
एगकज्ज-पवन्नाण, विसेसे किं नु कारण ? ॥१३॥

छाया—केशीकुमार-श्रमण, गौतमश्च महायशा ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ॥९॥

उभयो शिष्य-सघाना, सयताना तपस्विनाम् ।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवता त्रायिणाम् ॥१०॥

कीदृशो वाऽय धर्म, अय धर्मो वा कीदृश ?
आचार-धर्म-प्रणिधि, इय वा सा वा कीदृशी ॥११॥

चातुर्यामश्च यो धर्म, योऽय पच-शिक्षित ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥१२॥

अचेलकश्च यो धर्म, योऽय सान्तरोत्तर ।
एक-कार्य-प्रपन्नयो, विशेषे किन्नु कारणम् ? ॥१३॥

पद्यानुवाद—केशी और गौतम विचर रहे, सयम से उज्ज्वल यशधारी ।
थे दोनो मुनिवर आत्मलीन, तप-सयम-समता के धारी ॥९॥

सयमी तपस्वी मुनिगण थे, दोनो के शिष्य-समूहो मे ।
तात्त्विक चिन्ता उत्पन्न हुई, त्रायी गुणधारी मुनियो मे ॥१०॥

यह कैसा धर्म हमारा है, अथवा यह धर्म अहो ! कैसा ?
आचारधर्म यह उत्तम है, अथवा है उत्तम वह कैसा ? ॥११॥

है किया पार्श्व ने प्रतिपादित, यह पथ चातुर्यामिक जग मे ।
है पच-महाव्रतमय शिवपथ, प्रभुवर्द्धमान का इस जग मे ॥१२॥

है धर्म अचेलक वर्धमान का, पार्श्वधर्म पटवर्णसहित ।
एक लक्ष्य मे लगे हुए, दोनो मे क्यो यह भेद विहित ? ॥१३॥

अन्वयार्थ—केसीकुमार समणे—केशीकुमार श्रमण, य—और, गोयमे महायसे—महायशस्वी गौतम स्वामी, उभओ वि—दोनो ही, तत्थ—वहाँ,

विहरिंसु—विचरते थे (दोनो ही महान् आत्मा) अल्लीणा—साधना (आत्मा) मे लीन थे, (और) सुसमाहिया—तप, सयम, ज्ञानादि के आराधन मे सम्यक् समाधि से युक्त थे ॥९॥

तत्थ—वहाँ, सजयाण—सयमियो, तवस्सिण—तपस्वियो, गुणवताण—गुणवानो (और), ताइण—षटकायिक जीवो के सरक्षक, उभओ सीससंघाण—उन दोनो के शिष्य सघो मे, चिंता—इस प्रकार का चिन्तन, समुप्पन्ना—उत्पन्न हुआ ॥१०॥

इमो धम्मो वा केरिसो ?— प्रभु पार्श्व का यह धर्म कैसा है ? और, इमो धम्मो व केरिसो ?—भगवान महावीर का यह धर्म कैसा है ? आयार-धम्म-पणिही—आचार धर्म की प्रणिधि—व्यवस्था, इमा वासा व केरिसी ?—यह कैसी है और वह कैसी है ?॥११॥

जो इमो चाउज्जामो धम्मो—जो यह चातुर्याम धर्म है, (वह), पासेण महामुणी—पार्श्वनाथ महामुनि ने, देसिओ—बताया है, य—और, जो इमो पच-सिक्खिओ—जो यह पचशिक्षा (पच महाव्रत) रूप धर्म है, जिसका उपदेश, वद्धमाणेण—वर्धमान महावीर ने, देसिओ—दिया है। (दोनो की क्या सगति है ?)॥१२॥

जो—जो, अचेलगो धम्मो—स्वल्पातिस्वल्प मूल्य के प्रमाणोपेत वस्त्र रखने का अचेलक धर्म (वर्द्धमान ने बताया है), य—और, जो—जो, इमो—यह, सत-रुत्तरो (वर्णादि से विशिष्ट, तथा उत्तर=मूल्यवान वस्त्र वाला सान्तरोत्तर (धर्म) (पार्श्वनाथ ने प्ररूपित किया है तो), एगकज्जपवन्नाण—एक ही कार्य-लक्ष्य मे प्रवृत्त दोनो मे, विसेसे—इस विशेषता अथवा भिन्नता का, किं नु कारण ?—वस्तुत क्या कारण है ? ॥१३॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण और महायशस्वी गौतमस्वामी दोनो ही वहाँ (श्रावस्ती मे) विचर रहे थे, जो साधना मे लीन और ज्ञानादि-सुसमाधि से युक्त थे ॥९॥

वहाँ उन दोनो (केशीकुमार और गौतमस्वामी) के सयमनिष्ठ, तपस्वी, गुणवान और षड्जीवनिकाय के त्राता (रक्षक) शिष्यसघो के मन मे वास्तविक तथ्य को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई ॥१०॥

(हम जानना चाहते हैं कि) "यह (पार्श्वनाथ का) धर्म कैसा है ? और यह (भगवान महावीर के साधुओ का) धर्म कैसा है ? वेष आदि आचार धर्म की यह अथवा वह व्यवस्था कैसी है ?" ॥११॥

महामुनि भगवान पार्श्वनाथ ने, जो चातुर्यामरूप धर्म कहा और

उभओ सीससघाण, सजयाण तवस्सिण ।
तत्थ चिंता समुप्पन्ना, गुणवताण ताइण ॥१०॥

'केरिसो वा इमो धम्मो ?' इमो धम्मो वा केरिसो ?
आयारधम्मप्पणिही, इमा वा सा व केरिसी ? ॥११॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥१२॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सतरुत्तरो ।
एगकज्ज-पवन्नाण, विसेसे किं नु कारण ? ॥१३॥

छाया—केशीकुमार-श्रमण , गौतमश्च महायशा ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ॥९॥

उभयो शिष्य-सघाना, सयताना तपस्विनाम् ।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवता त्रायिणाम् ॥१०॥

कीदृशो वाऽय धर्म , अय धर्मो वा कीदृश ?
आचार-धर्म-प्रणिधि , इय वा सा वा कीदृशी ॥११॥

चातुर्यामश्च यो धर्म , योऽय पच-शिक्षित ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥१२॥

अचेलकश्च यो धर्म , योऽय सान्तरोत्तर ।
एक-कार्य-प्रपन्नयो , विशेषे किन्नु कारणम् ? ॥१३॥

पद्यानुवाद—केशी और गौतम विचर रहे, सयम से उज्ज्वल यशधारी ।
ये दोनो मुनिवर आत्मलीन, तप-सयम-समता के धारी ॥९॥

सयमी तपस्वी मुनिगण थे, दोनो के शिष्य-समूहो मे ।
तात्त्विक चिन्ता उत्पन्न हुई, त्रायी गुणधारी मुनियो मे ॥१०॥

यह कैसा धर्म हमारा है, अथवा यह धर्म अहो ! कैसा ?
आचारधर्म यह उत्तम है, अथवा है उत्तम वह कैसा ? ॥११॥

है किया पार्श्व ने प्रतिपादित, यह पथ चातुर्यामिक जग मे ।
है पंच-महाव्रतमय शिवपथ, प्रभुवर्द्धमान का इस जग मे ॥१२॥

है धर्म अचेलक वर्धमान का, पार्श्वधर्म पटवर्णसहित ।
एक लक्ष्य मे लगे हुए, दोनो मे क्यो यह भेद विहित ? ॥१३॥

अन्वयार्थ—केसीकुमार समणे—केशीकुमार श्रमण, य—और, गोयमे महायसे—महायशस्वी गौतम स्वामी, उभओ वि—दोनो ही, तत्थ—वहाँ,

विहरिंसु—विचरते थे (दोनो ही महान् आत्मा) अल्लीणा—साधना (आत्मा) मे लीन थे, (और) सुसमाहिया —तप, सयम, ज्ञानादि के आराधन मे सम्यक् समाधि से युक्त थे ॥६॥

तत्थ—वहाँ, सजयाण—सयमियो, तवस्सिण—तपस्वियो, गुणवताण—गुणवानो (और), ताइण—षट्कायिक जीवो के सरक्षक, उभओ सीससघाण—उन दोनो के शिष्य सघो मे, चिंता—इस प्रकार का चिन्तन, समुप्पन्ना—उत्पन्न हुआ ॥१०॥

इमो धम्मो वा केरिसो ?– प्रभु पार्श्व का यह धर्म कैसा है ? और, इमो धम्मो व केरिसो ?—भगवान महावीर का यह धर्म कैसा है ? आयार-धम्म-पणिही—आचार धर्म की प्रणिधि—व्यवस्था, इमा वासा व केरिसी ?—यह कैसी है और वह कैसी है ?॥११॥

जो इमो चाउज्जामो धम्मो—जो यह चातुर्याम धर्म है, (वह), पासेण महामुणी—पार्श्वनाथ महामुनि ने, देसिओ—बताया है, य—और, जो इमो पच-सिक्खिओ—जो यह पचशिक्षा (पच महाव्रत) रूप धर्म है, जिसका उपदेश, वद्धमाणेण—वर्धमान महावीर ने, देसिओ—दिया है। (दोनो की क्या सगति है ?)॥१२॥

जो—जो, अचेलगो धम्मो—स्वल्पातिस्वल्प मूल्य के प्रमाणोपेत वस्त्र रखने का अचेलक धर्म (वर्द्धमान ने बताया है), य—और, जो—जो, इमो—यह, सत-रुत्तरो (वर्णादि से विशिष्ट, तथा उत्तर=मूल्यवान वस्त्र वाला सान्तरोत्तर (धर्म) (पार्श्वनाथ ने प्ररूपित किया है तो), एगकज्जपवन्नाण—एक ही कार्य-लक्ष्य मे प्रवृत्त दोनो मे, विसेसे— इस विशेषता अथवा भिन्नता का, किं नु कारण ?—वस्तुत क्या कारण है ? ॥१३॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण और महायशस्वी गौतमस्वामी दोनो ही वहाँ (श्रावस्ती मे) विचर रहे थे, जो साधना मे लीन और ज्ञानादि-सुसमाधि से युक्त थे ॥६॥

वहाँ उन दोनो (केशीकुमार और गौतमस्वामी) के सयमनिष्ठ, तपस्वी, गुणवान और षड्जीवनिकाय के त्राता (रक्षक) शिष्यसघो के मन मे वास्तविक तथ्य को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई ॥१०॥

(हम जानना चाहते हैं कि) "यह (पार्श्वनाथ का) धर्म कैसा है ? और यह (भगवान महावीर के साधुओ का) धर्म कैसा है ? वेष आदि आचार धर्म की यह अथवा वह व्यवस्था कैसी है ?" ॥११॥

महामुनि भगवान पार्श्वनाथ ने, जो चातुर्यामरूप धर्म कहा और

वर्द्धमान स्वामी ने जो पचशिक्षा (महाव्रत) रूप धर्म का उपदेश दिया है, इन दोनो की क्या सगति है ? ॥१२॥

(भगवान महावीर का) जो अचेलक धर्म है, और (भगवान पार्श्वनाथ का) विशिष्ट वर्णादिवेष वाला, जो सचेलक धर्म है, तो एक ही कार्य (समान उद्देश्य) मे प्रवृत्त होने वाले इन दोनो के धर्म मे इस प्रकार के अन्तर का क्या कारण है ? अर्थात् इन दोनो मे व्यवहार का भेद क्यो है ? ॥१३॥

विवेचन—दोनो महामुनियो के शिष्यो मे उत्पन्न जिज्ञासामूलक चिन्तन के कारण—दोनो महामुनियो के शिष्यवृन्द मे एक दूसरे को देखने से जिज्ञासामूलक चिन्तन उत्पन्न हुआ, जिसके चार कारण थे—

(१) हमारा धर्म कैसा है और गौतम के शिष्यो का धर्म कैसा है ?

(२) सर्वज्ञकथित दोनो धर्मो की वेष आदि आचार व्यवस्था मे अन्तर क्यो ? इनके और हमारे वेष आदि आचार मे भेद क्यो ?

(३) भगवान पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म है और भगवान महावीर का पचशिक्षा रूप धर्म है, इन दोनो की व्रतसख्या मे अन्तर क्यो ?

(४) भगवान महावीर के अचेलक धर्म और भगवान पार्श्वनाथ के विशिष्ट वस्त्र वाले सचेलक धर्म मे अन्तर क्या है, एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त इन दोनो मे अन्तर क्यो है ?

दोनो के शिष्यो के विशेषण—(१) सयत=सयमी, १७ प्रकार के सयम से युक्त, (२) तपस्वी=बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चर्या करने वाले, (३) गुणवान =ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणो से सम्पन्न, और (४) त्रायी=पृथ्वीकायादि षट्कायजीवो के रक्षक।

आयार-धम्मपणिही विशेषार्थ—आचार अर्थात् वेषधारण आदि बाह्यक्रियाकलाप, जैसी आचाररूप धर्म की प्रणिधि अर्थात व्यवस्था=मर्यादाविधि।

चाउज्जामो धम्मो · विशेषार्थ—चातुर्यामरूप धर्म, अर्थात् अहिंसा, सत्य, चौर्यत्याग और परिग्रहत्यागरूप धर्म=चातुर्व्रतिक धर्म।

पचसिक्खिओ विशेषार्थ—(१) पचशिक्षित—पाच महाव्रतो के द्वारा शिक्षित अर्थात्—प्रकाशित अथवा पचशैक्षिक—पाँच शिक्षाओ से निष्पन्न। पाच महाव्रत ये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) चौर्यत्याग, (४) ब्रह्मचर्य (मैथुन त्याग) एव (५) परिग्रह-त्याग। इन पाच शिक्षाओ से प्रकाशित।

सचेलक-अचेलक व्याख्या—सचेलक के लिए यहाँ सन्तरुत्तरो (सान्त-रोत्तर) शब्द प्रयुक्त किया गया है, इसमे सान्तर और उत्तर दो शब्द हैं। बृहद्वृत्तिकार इन दोनो का क्रमश अर्थ करते है—वर्ण आदि से विशिष्ट सुन्दर और बहुमूल्य। इन दोनो का शब्दानुसारी प्रतिध्वनित अर्थ यह भी हो सकता है—अन्तरीय=अधोवस्त्र और उत्तरीय=ऊपर का वस्त्र। यह सचेलक का भावार्थ है।

अचेलक के दो अर्थ होते है—सर्वथा वस्त्र रहित अथवा अल्प मूल्य वाले साधारण जीर्णप्राय प्रमाणोपेत स्वल्प श्वेत वस्त्रयुक्त। पहला अर्थ जिनकल्प की अपेक्षा से है और दूसरा अर्थ स्थविरकल्प को अपेक्षा मे।

विष्णुपुराण मे जैनमुनियो के सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनो ही रूपो का उल्लेख है—'दिग्वाससामय धर्मो, धर्मोऽय बहुवाससाम्।' (अश ३ अ० १८ श्लो १०)

एगकज्जपवन्नाण आशय—जब दोनो का मोक्षरूप लक्ष्य अथवा उद्देश्य या सिद्धान्त एक (समान) है, दोनो की एक ही साध्य को सिद्धि के लिए प्रवृत्ति है, तो फिर वस्त्रादि के विषय मे, तथा व्रत, वेष आदि आचार के विषय मे इतना अन्तर या मतभेद क्यो ?

पूर्वकाल के दोनो मुनिसघो मे आचार धर्म का भेद था पर आग्रह और एक-दूसरे को हीन समझने की मनोवृत्ति नही थी। अत उन्होने भेद के कारणो पर सरल भाव से विचार-चर्चा कर अपनी जिज्ञासाओ का समाधान प्राप्त किया। उनमे जिज्ञासा और उचित को अपनाने की वृत्ति थी, अपनी मान्यता के प्रति आग्रह नही था। इसके विपरीत आज अपने मन्तव्य का प्राय प्रत्येक को आग्रह है—जिज्ञासा और औचित्य को अगीकार करने की वृत्ति नही। अपने आग्रह को छोडकर जिज्ञासा भाव से विचार किया जाय, तभी पारस्परिक मान्यता भेद का समाधान हो सकता है। एतदर्थ हमे प्राचीन आदर्श पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

शिष्यो के तर्कानुसार केशी-गौतम-मिलन, उसकी शोभा और वर्णकरण—

मूल—अह ते[1] तत्थ सीसाण, विन्नाय पवितक्किय।
समागमे कयमई, उभओ केसि-गोयमा ॥ १४ ॥

---

१ पाठान्तर—'सि'।

वर्द्धमान स्वामी ने जो पचशिक्षा (महाव्रत) रूप धर्म का उपदेश दिया है, इन दोनो की क्या सगति है ? ॥१२॥

(भगवान महावीर का) जो अचेलक धर्म है, और (भगवान पार्श्वनाथ का) विशिष्ट वर्णादिवेष वाला, जो सचेलक धर्म है, तो एक ही कार्य (समान उद्देश्य) मे प्रवृत्त होने वाले इन दोनो के धर्म मे इस प्रकार के अन्तर का क्या कारण है ? अर्थात् इन दोनो मे व्यवहार का भेद क्यो है ? ॥१३॥

विवेचन—दोनो महामुनियो के शिष्यो मे उत्पन्न जिज्ञासामूलक चिन्तन के कारण—दोनो महामुनियो के शिष्यवृन्द मे एक दूसरे को देखने से जिज्ञासा-मूलक चिन्तन उत्पन्न हुआ, जिसके चार कारण थे—

(१) हमारा धर्म कैसा है और गौतम के शिष्यो का धर्म कैसा है ?

(२) सर्वज्ञकथित दोनो धर्मों की वेष आदि आचार व्यवस्था मे अन्तर क्यो ? इनके और हमारे वेष आदि आचार मे भेद क्यो ?

(३) भगवान पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म है और भगवान महावीर का पचशिक्षा रूप धर्म है, इन दोनो की व्रतसख्या मे अन्तर क्यो ?

(४) भगवान महावीर के अचेलक धर्म और भगवान पार्श्वनाथ के विशिष्ट वस्त्र वाले सचेलक धर्म मे अन्तर क्या है, एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त इन दोनो मे अन्तर क्यो है ?

दोनो के शिष्यो के विशेषण—(१) संयत=सयमी, १७ प्रकार के सयम से युक्त, (२) तपस्वी=बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चर्या करने वाले, (३) गुणवान =ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणो से सम्पन्न, और (४) तायी=पृथ्वीकायादि षट्कायजीवो के रक्षक।

आयार-धम्मपणिही विशेषार्थ—आचार अर्थात् वेषधारण आदि बाह्यक्रियाकलाप, जैसी आचाररूप धर्म की प्रणिधि अर्थात व्यवस्था=मर्यादाविधि।

चाउज्जामो धम्मो : विशेषार्थ—चातुर्यामरूप धर्म, अर्थात् अहिंसा, सत्य, चौर्यत्याग और परिग्रहत्यागरूप धर्म=चातुर्व्रतिक धर्म।

पचसिक्खिओ विशेषार्थ—(१) पचशिक्षित—पाच महाव्रतो के द्वारा शिक्षित अर्थात्—प्रकाशित अथवा पचशैक्षिक—पाँच शिक्षाओ से निष्पन्न। पाच महाव्रत ये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) चौर्यत्याग, (४) ब्रह्मचर्य (मैथुन त्याग) एव (५) परिग्रह-त्याग। इन पाच शिक्षाओ से प्रकाशित।

सचेलक-अचेलक व्याख्या—सचेलक के लिए यहाँ सन्तरुत्तरो (सान्त-रोत्तर) शब्द प्रयुक्त किया गया है, इसमे सान्तर और उत्तर दो शब्द है। बृहद्वृत्तिकार इन दोनो का क्रमश अर्थ करते है—वर्ण आदि से विशिष्ट सुन्दर और बहुमूल्य। इन दोनो का शब्दानुसारी प्रतिध्वनित अर्थ यह भी हो सकता है—अन्तरीय=अधोवस्त्र और उत्तरीय=ऊपर का वस्त्र। यह सचेलक का भावार्थ है।

अचेलक के दो अर्थ होते हैं—सर्वथा वस्त्र रहित अथवा अल्प मूल्य वाले साधारण जीर्णप्राय प्रमाणोपेत स्वल्प श्वेत वस्त्रयुक्त। पहला अर्थ जिनकल्प की अपेक्षा से है और दूसरा अर्थ स्थविरकल्प की अपेक्षा से।

विष्णुपुराण मे जैनमुनियो के सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनो ही रूपो का उल्लेख है—'दिग्वासासामय धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम्।' (अश ३ अ० १८ श्लो १०)

एगकज्जपवन्नाण आशय—जब दोनो का मोक्षरूप लक्ष्य अथवा उद्देश्य या सिद्धान्त एक (समान) है, दोनो की एक ही साध्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति है, तो फिर वस्त्रादि के विषय मे, तथा व्रत, वेष आदि आचार के विषय मे इतना अन्तर या मतभेद क्यो ?

पूर्वकाल के दोनो मुनिसघो मे आचार धर्म का भेद था पर आग्रह और एक-दूसरे को हीन समझने की मनोवृत्ति नही थी। अत उन्होने भेद के कारणो पर सरल भाव से विचार-चर्चा कर अपनी जिज्ञासाओ का समाधान प्राप्त किया। उनमे जिज्ञासा और उचित को अपनाने की वृत्ति थी, अपनी मान्यता के प्रति आग्रह नही था। इसके विपरीत आज अपने मन्तव्य का प्राय प्रत्येक को आग्रह है—जिज्ञासा और औचित्य को अगीकार करने की वृत्ति नही। अपने आग्रह को छोडकर जिज्ञासा भाव से विचार किया जाय, तभी पारस्परिक मान्यता भेद का समाधान हो सकता है। एतदर्थ हमे प्राचीन आदर्श पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

शिष्यो के तर्कानुसार केशी-गौतम-मिलन, उसकी शोभा और वर्णन—

मूल—अह ते[1] तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं।
समागमे कयमई, उभओ केसि-गोयमा ॥ १४ ॥

---

१ पाठान्तर—'से'।

गोयमे पडिरूवन्नू, सीस-संघ-समाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खंतो, तिंदुयं वणमागओ ॥ १५ ॥

केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ॥ १६ ॥

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥ १७ ॥

केसीकुमार-समणे, गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहंति, चंदसूर-समप्पभा ॥ १८ ॥

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया[1] ।
गिहत्थाण अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥ १९ ॥

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा ।
अदिस्साण च भूयाण, आसीतत्थ समागमो ॥ २० ॥

छाया—अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम् ।
समागमे कृतमती, उभौ केशि-गौतमौ ॥ १४ ॥

गौतमः प्रतिरूपज्ञः, शिष्यसंघ-समाकुलः ।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाणः, तिन्दुकं वनमागतः ॥ १५ ॥

केशीकुमार-श्रमणः, गौतमं दृष्ट्वा ऽऽगतम् ।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिं, सम्यक् संप्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

पलालं प्रासुकं तत्र, पंचमं कुश-तृणानि च ।
गौतमस्य निषद्यायै, क्षिप्रं सम्प्रणामयति ॥ १७ ॥

केशीकुमार-श्रमणः, गौतमश्च महायशाः ।
उभौ निषण्णौ शोभते, चन्द्र-सूर्य-समप्रभौ ॥ १८ ॥

समागता बहवस्तत्र, पाषण्डाः कौतुकान्विताः ।
गृहस्थानामनेकानां, सहस्राणि समागतानि ॥ १९ ॥

देव-दानव-गन्धर्वाः, यक्ष-राक्षस-किन्नराः ।
अदृश्यानां च भूतानां, आसीत्तत्र समागमः ॥ २० ॥

पद्यानुवाद—केशी-गौतम ने शिष्यों के, इस तर्कवाद को चित्त-धर-कर ।
मन में दोनों ने ठान लिया, निर्णय करने का मिल-जुलकर ।१४।

---

१ पाठान्तर—'कोउगा मिगा' ।

विनय धर्म ज्ञाता गौतम, निज शिष्य-सघ से घिरे हुए।
आदर देने हित ज्येष्ठ-वश को, तिन्दुकवन मे पहुँच गए ।१५।
केशी ने अपनी सन्निधि मे, गौतम को आते देख लिया।
यथायोग्य अनुकूल भक्ति, आदर विधिपूर्वक करवाया ।१६।

जीवरहित निर्दोष शालि, भूसी और कुश-तृण लाए।
गौतम के आसन-हित उनने, शीघ्र वहा पर लगवाए ।१७।

केशीकुमार-श्रमण और गौतम, दोनो ही शुभ यश के धारी।
शशि सूर्य-समान बैठे शोभे, सौम्य कान्ति-युत व्रतधारी ।१८।

पर-मत के बहुत व्रती आए, कौतुककामी कई दर्शन को।
दर्शक गृहस्थगण भी सहस्र, जुट गए ज्ञान-रस-स्वादन को ।१९।

गन्धर्व, देव, दानव, राक्षस, पुनि यक्ष वृन्द अरु किन्नरगण।
अदृश्य जीवगण का विशाल, हो गया वहाँ पर शुभ-मेलन ।२०।

अन्वयार्थ—अह—इसके पश्चात्, तत्थ—वहाँ, ते उभओ केसिगोयमा—उन केशी और गौतम दोनो ने, सीसाण—शिष्यो के, पवितक्किय—प्रवितर्कित—शका-युक्त विचार-विमर्श को, विन्नाय—जान कर, समागमे कयमई—परस्पर समागम (मिलने) की इच्छा की। ॥१४॥

जेट्ठकुल—(केशी श्रमण के कुल को) ज्येष्ठकुल, अवेक्खतो—जानकर, पडिरूवन्नू—प्रतिरूपज्ञ—यथोचित विनय-व्यवहार के ज्ञाता, गोयमे—गौतम, सीस-सघ-समाउले—शिष्य-सघ के साथ, तिंदुय वण—तिन्दुक वन मे, आगओ—आए ॥१५॥

गोयम—गौतमस्वामी को, आगय—आये हुए, दिस्स—देखकर, केसीकुमार-समणे—केशीकुमार श्रमण ने, (उनकी), सम्म—सम्यक् प्रकार से, पडिरूव—प्रतिरूप-उनके अनुरूप-योग्य, पडिवत्ति—प्रतिपत्ति-आदर-सत्कार, सपडिवज्जइ—किया ॥१६॥

तत्थ—उस तिन्दुकवन मे, (केशीकुमार श्रमण ने) गोयमस्स—गौतम के, निसिज्जाए—बैठने (निषद्या) के लिए, खिप्प—शीघ्र ही, फासुय पलाल—प्रासुक (जीव रहित), व्रीहि आदि चार प्रकार के धानो के पराल (घास), य—और, पचम—पाँचवाँ, कुसतणाणि—कुश-तृण, उवणामए—समर्पित किया-दिया ॥१७॥

केसीकुमार-समणे—श्रमण केशीकुमार, य—और, महायसे गोयमे—महान् यशस्वी गौतम, उभओ—दोनो, निसण्णा—बैठे हुए, चन्द-सूरसमप्पभा—कान्ति, मे चन्द्रमा और सूर्य के समान, सोहति—सुशोभित हो रहे थे ॥१८॥

गोयमे पडिरूवन्नू, सीस-संघ-समाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खंतो, तिंदुयं वणमागओ ॥ १५ ॥

केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ॥ १६ ॥

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥ १७ ॥

केसीकुमार-समणे, गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहंति, चंदसूर-समप्पभा ॥ १८ ॥

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया[1] ।
गिहत्थाण अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥ १९ ॥

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा ।
अदिस्साण च भूयाण, आसीतत्थ समागमो ॥ २० ॥

छाया—अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम् ।
समागमे कृतमती, उभौ केशि-गौतमौ ॥ १४ ॥

गौतमं प्रतिरूपज्ञ, शिष्यसंघ-समाकुलं ।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाण, तिन्दुकं वनमागत ॥ १५ ॥

केशीकुमार-श्रमण, गौतमं दृष्ट्वा ऽऽगतम् ।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिं, सम्यक् संप्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

पलालं प्रासुकं तत्र, पंचमं कुश-तृणानि च ।
गौतमस्य निषद्यायै, क्षिप्रं सम्प्रणामयति ॥ १७ ॥

केशीकुमार-श्रमण, गौतमश्च महायशा ।
उभौ निषण्णौ शोभते, चन्द्र-सूर्य-समप्रभौ ॥ १८ ॥

समागता बहवस्तत्र, पाषण्डा कौतुकाश्रिता ।
गृहस्थानामनेकाना, सहस्राणि समागतानि ॥ १९ ॥

देव-दानव-गन्धर्वा, यक्ष-राक्षस-किन्नरा ।
अदृश्याना च भूताना, आसीत्तत्र समागम ॥ २० ॥

पद्यानुवाद—केशी गौतम ने शिष्यों के, इस तर्कवाद को चित्त-धर-कर ।
मन मे दोनो ने ठान लिया, निर्णय करने का मिल-जुलकर ।१४।

---

१ पाठान्तर—'कोउगा मिगा' ।

विनय धर्म ज्ञाता गौतम, निज शिष्य-सघ से घिरे हुए।
आदर देने हित ज्येष्ठ-वश को, तिन्दुकवन मे पहुँच गए ।१५।
केशी ने अपनी सन्निधि मे, गौतम को आते देख लिया।
यथायोग्य अनुकूल भक्ति, आदर विधिपूर्वक करवाया ।१६।
जीवरहित निर्दोष शालि, भूसी और कुश-तृण लाए।
गौतम के आसन-हित उनने, शीघ्र वहा पर लगवाए ।१७।
केशीकुमार-श्रमण और गौतम, दोनो ही शुभ यश के धारी।
शशि सूर्य-समान बैठे शोभें, सौम्य कान्ति-युत व्रतधारी ।१८।
पर-मत के बहुत व्रती आए, कौतुककामी कई दर्शन को।
दर्शक गृहस्थगण भी सहस्र, जुट गए ज्ञान-रस-स्वादन को ।१९।
गन्धर्व, देव, दानव, राक्षस, पुनि यक्ष वृन्द अरु किन्नरगण।
अदृश्य जीवगण का विशाल, हो गया वहाँ पर शुभ-मेलन ।२०।

अन्वयार्थ—अह—इसके पश्चात्, तत्थ—वहाँ, ते उभओ केसिगोयमा—उन केशी और गौतम दोनो ने, सीसाण—शिष्यो के, पवितक्कियं—प्रवितर्कित—शका-युक्त विचार-विमर्श को, विन्नाय—जान कर, समागमे कयमई—परस्पर समागम (मिलने) की इच्छा की। ॥१४॥

जेट्ठकुल—(केशी श्रमण के कुल को) ज्येष्ठकुल, अवेक्खतो—जानकर, पडिरूवन्नू—प्रतिरूपज्ञ—यथोचित विनय-व्यवहार के ज्ञाता, गोयमे—गौतम, सीस-सघ-समाउले—शिष्य-सघ के साथ, तिंदुय वणं—तिन्दुक वन मे, आगओ—आए ॥१५॥

गोयम—गौतमस्वामी को, आगय—आये हुए, दिस्स—देखकर, केसीकुमार-समणे—केशीकुमार श्रमण ने, (उनकी), सम्म—सम्यक् प्रकार से, पडिरूव—प्रतिरूप-उनके अनुरूप-योग्य, पडिवत्ति—प्रतिपत्ति-आदर-सत्कार, सपडिवज्जइ—किया ॥१६॥

तत्थ—उस तिन्दुकवन मे, (केशीकुमार श्रमण ने) गोयमस्स—गौतम के, निसिज्जाए—बैठने (निषद्या) के लिए, खिप्प—शीघ्र ही, फासुय पलाल—प्रासुक (जीव रहित), व्रीहि आदि चार प्रकार के धानो के पराल (घास), य—और, पचम—पाँचवाँ, कुसतणाणि—कुश-तृण, उपणामए—समर्पित किया-दिया ॥१७॥

केसीकुमार-समणे—श्रमण केशीकुमार, य—और, महायसे गोयमे—महान् यशस्वी गौतम, उभओ—दोनो, निसण्णा—बैठे हुए, चन्द-सूरसमप्पभा—कान्ति, चन्द्रमा और सूर्य के समान, सोहति—सुशोभित हो रहे थे ॥१८॥

तत्थ—वहाँ, कोउगासिया—कौतूहल की अबोध दृष्टि वाले, बहु पासडा—अन्य सम्प्रदायो के बहुत से पाषण्ड=परिव्राजक, समागया—आए। (तथा) गिहत्थाण अणेगाओ साहस्सीओ—अनेक सहस्र सख्या मे गृहस्थ भी, समागया—आए ॥१९॥

देव दाणव गधव्वा—देव, दानव, गन्धर्व, जक्ख रक्खस्स किन्नरा—यक्ष, राक्षस, किन्नर, य—और, अदिस्साण भूयाण—अदृश्य भूतो का, तत्थ— वहाँ, समागमो—एक तरह से, समागम—मेला-सा, आसी—हो गया था ॥२०॥

भावार्थ—शिष्यो के विचार सुनने के पश्चात केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी, दोनो ने अपने-अपने शिष्यो के इस वितर्कपूर्ण भाव को जानकर परस्पर मिलने का निश्चय किया ॥१४॥

यथायोग्य विनय-व्यवहार को जानने वाले गौतम स्वामी भगवान पार्श्वनाथ के वृद्धकुल की अपेक्षा से अपने शिष्यमण्डल सहित तिन्दुकवन मे केशीकुमार श्रमण के पास आ गए ॥१५॥

गौतम स्वामी को अपने पास आए देखकर केशीकुमार श्रमण ने श्रमणोचित ढग से उनके अनुरूप बहुत अच्छी तरह से उनकी प्रेमपूर्वक विनय भक्ति की ॥१६॥

वहा गौतम स्वामी को बैठने के लिए श्री केशीकुमार श्रमण ने यथाशीघ्र निर्जीव (प्रासुक) पलाल (चावल आदि चार प्रकार के धानो का भूसा) और पाचवाँ कुश के तृण लाकर उन्हे दिये ॥१७॥

केशीकुमार श्रमण और महायशस्वी गौतम स्वामी दोनो बैठे हुए वहा चन्द्र सूर्य के समान प्रभा से सुशोभित हो रहे थे ॥१८॥

उस वन मे उस समय अन्य सम्प्रदायो के बहुत-से पाषण्ड-परिव्राजक, बहुत-से मृग-सम अबोध कुतूहली एव हजारो की सख्या मे गृहस्थ भी एकत्रित हो गए ॥१९॥

देव (ज्योतिष्क एव वैमानिक जाति के देव), दानव (भवनपतिदेव), गन्धर्व (गायकदेव), यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि व्यन्तरदेव एव अदृश्य भूतसमूह का भी वहाँ पर समागम (मेला-सा) हो गया था ॥२०॥

विवेचन—केशी और गौतम का मिलन • क्यो और किसलिए—केशी श्रमण और गौतम स्वामी दोनो सत्यार्थी थे, दोनो महापुरुषो के शिष्य मण्डल जब अपने-अपने स्थान पर पहुँचे और एक दूसरे के साधुओ को देख कर उनके मन मे जो विचार एव प्रश्न उठे, उन्हे उन्होने अपने गुरुवर्यो के

समक्ष प्रस्तुत किया। दोनो महर्षियो ने अपने-अपने शिष्यो के मन मे उठे हुए सन्देह को दूर करने के लिए तथा भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के सिद्धान्तो मे जो भेद प्रतीत हो रहा था, उसके वास्तविक रहस्य एव सत्य-तथ्य को जानने के लिए परस्पर मिलकर वार्तालाप करना ही उचित समझा। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार कहते है— "समागमे कयमई।" इस गाथा से एक बात स्पष्टत प्रतिफलित होती है कि सशय की निवृत्ति के लिए, सघ मे शान्ति एव सुव्यवस्था की स्थापना के लिए एव सत्य की खोज के लिए, सत्यार्थी सज्जन पुरुष परस्पर मिलने और एक दूसरे के स्थान पर जाकर प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने मे कदापि सकोच नही करते, न ही हृदय मे साम्प्रदायिकता या सकीर्णता का भाव रखते है।

मिलन की पहल गौतम स्वामी ने क्यो की ?—गौतम स्वामी यद्यपि केशी श्रमण से वय और ज्ञान मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, चार ज्ञान के धनी एव सर्वाक्षर-सन्निपाती थे, तथापि गौतम स्वामी प्रतिरूपज्ञ थे, अर्थात्—यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता थे। वे विनीत और विचारशील थे, अत उन्होने सोचा "केशीकुमार श्रमण तेईसवे तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के है। अत भगवान् पार्श्वनाथ का कुल ज्येष्ठ वृद्ध है, और केशीकुमार उनकी शिष्य परम्परा मे होने से हमारे ज्येष्ठ—है, अत मुझे ही उनके पास जाना चाहिए। यह विचार करके गौतम स्वामी, एकाकी नही, किन्तु अपने शिष्य समुदाय को साथ लेकर श्रमण केशीकुमार से मिलने की इच्छा से तिन्दुक उद्यान मे पहुँचे। यह १५वी गाथा का आशय है।

पडिरूव पडिवत्ति विशेषार्थ—अपने यहा आए हुए की यथोचित आव-भगत—सेवाभक्ति करना।

गाथा-द्वय का फलितार्थ—१६वी १७वी गाथाओ का फलितार्थ यह है कि केशीकुमार श्रमण ने जब देखा कि भगवान महावीर के पट्ट शिष्य गण-धर गौतम स्वामी अपने शिष्य-परिवार सहित इधर ही आ रहे हैं, तब उन्होने अभ्युत्थानादि पूर्वक बड़े प्रेम से बहुमान-पुरसर उनका स्वागत किया, अर्थात् योग्य पुरुषो का योग्य पुरुष जिस प्रकार सम्मान करते हैं, उसी प्रकार से उन्होने गौतम स्वामी का सम्मान किया। साथ ही उनके बैठने के लिए श्रमणोचित आसन हेतु पाच प्रकार का पराल (घास) प्रदान किया।

तत्थ—वहाँ, कोउगासिया—कौतूहल की अबोध दृष्टि वाले, बहु पासडा—अन्य सम्प्रदायो के बहुत से पापण्ड=परिव्राजक, समागया—आए। (तथा) गिहत्थाण अणेगाओ साहस्सीओ—अनेक सहस्र सख्या मे गृहस्थ भी, समागया—आए ॥१६॥

देव दाणव गन्धव्वा—देव, दानव, गन्धर्व, जक्ख रक्खस्स किन्नरा—यक्ष, राक्षस, किन्नर, य—और, अदिस्साण भूयाण—अदृश्य भूतो का, तत्थ—वहाँ, समागमो—एक तरह से, समागम—मेला-सा, आसी—हो गया था ॥२०॥

भावार्थ—शिष्यो के विचार सुनने के पश्चात केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी, दोनो ने अपने-अपने शिष्यो के इस वितर्कपूर्ण भाव को जानकर परस्पर मिलने का निश्चय किया ॥१४॥

यथायोग्य विनय-व्यवहार को जानने वाले गौतम स्वामी भगवान पार्श्वनाथ के वृद्धकुल की अपेक्षा से अपने शिष्यमण्डल सहित तिन्दुकवन मे केशीकुमार श्रमण के पास आ गए ॥१५॥

गौतम स्वामी को अपने पास आए देखकर केशीकुमार श्रमण ने श्रमणोचित ढग से उनके अनुरूप बहुत अच्छी तरह से उनकी प्रेमपूर्वक विनय भक्ति की ॥१६॥

वहा गौतम स्वामी को बैठने के लिए श्री केशीकुमार श्रमण ने यथाशीघ्र निर्जीव (प्रासुक) पलाल (चावल आदि चार प्रकार के धानो का भूसा) और पाचवाँ कुश के तृण लाकर उन्हे दिये ॥१७॥

केशीकुमार श्रमण और महायशस्वी गौतम स्वामी दोनो बैठे हुए वहा चन्द्र सूर्य के समान प्रभा से सुशोभित हो रहे थे ॥१८॥

उस वन मे उस समय अन्य सम्प्रदायो के बहुत-से पाषण्ड-परिव्राजक, बहुत-से मृग-सम अबोध कुतूहली एव हजारो की सख्या मे गृहस्थ भी एकत्रित हो गए ॥१६॥

देव (ज्योतिष्क एव वैमानिक जाति के देव), दानव (भवनपतिदेव), गन्धर्व (गायकदेव), यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि व्यन्तरदेव एव अदृश्य भूत-समूह का भी वहाँ पर समागम (मेला-सा) हो गया था ॥२०॥

विवेचन—केशी और गौतम का मिलन · क्यों और किसलिए—केशी श्रमण और गौतम स्वामी दोनो सत्यार्थी थे, दोनो महापुरुषो के शिष्य मण्डल जब अपने-अपने स्थान पर पहुँचे और एक दूसरे के साधुओ को देख कर उनके मन मे जो विचार एव प्रश्न उठे, उन्हे उन्होने अपने गुरुवर्यों के

समक्ष प्रस्तुत किया। दोनो महर्षियो ने अपने-अपने शिष्यो के मन मे उठे हुए सन्देह को दूर करने के लिए तथा भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के सिद्धान्तो मे जो भेद प्रतीत हो रहा था, उसके वास्तविक रहस्य एव सत्य-तथ्य को जानने के लिए परस्पर मिलकर वार्तालाप करना ही उचित समझा। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार कहते है— "समागमे कयमई।" इस गाथा से एक बात स्पष्टत प्रतिफलित होती है कि सशय की निवृत्ति के लिए, सघ मे शान्ति एव सुव्यवस्था की स्थापना के लिए एव सत्य की खोज के लिए, सत्यार्थी सज्जन पुरुष परस्पर मिलने और एक दूसरे के स्थान पर जाकर प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने मे कदापि सकोच नही करते, न ही हृदय मे साम्प्रदायिकता या सकीर्णता का भाव रखते हैं।

मिलन की पहल गौतम स्वामी ने क्यो की?—गौतम स्वामी यद्यपि केशी श्रमण से वय और ज्ञान मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ, चार ज्ञान के धनी एव सर्वाक्षर-सन्निपाती थे, तथापि गौतम स्वामी प्रतिरूपज्ञ थे, अर्थात्—यथोचित विनय व्यवहार के ज्ञाता थे। वे विनीत और विचारशील थे, अत उन्होने सोचा "केशीकुमार श्रमण तेईसवें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के हैं। अत भगवान् पार्श्वनाथ का कुल ज्येष्ठ वृद्ध है, और केशीकुमार उनकी शिष्य परम्परा मे होने से हमारे ज्येष्ठ—हैं, अत मुझे ही उनके पास जाना चाहिए। यह विचार करके गौतम स्वामी, एकाकी नही, किन्तु अपने शिष्य समुदाय को साथ लेकर श्रमण केशीकुमार से मिलने की इच्छा से तिन्दुक उद्यान मे पहुँचे। यह १५वी गाथा का आशय है।

पडिरूव पडिवत्ति विशेषार्थ—अपने यहा आए हुए की यथोचित आव-भगत—सेवाभक्ति करना।

गाथा-द्वय का फलितार्थ—१६वी १७वी गाथाओ का फलितार्थ यह है कि केशीकुमार श्रमण ने जब देखा कि भगवान महावीर के पट्ट शिष्य गण-धर गौतम स्वामी अपने शिष्य-परिवार सहित इधर ही आ रहे हैं, तब उन्होने अभ्युत्थानादि पूर्वक बडे प्रेम से बहुमान-पुरस्सर उनका स्वागत किया, अर्थात् योग्य पुरुषो का योग्य पुरुष जिस प्रकार सम्मान करते हैं, उसी प्रकार से उन्होने गौतम स्वामी का सम्मान किया। साथ ही उनके बैठने के लिए श्रमणोचित आसन हेतु पाच प्रकार का पराल (घास) प्रदान किया।

पलाल फासुय पचम कुसतणाणि आशय—प्रवचनसारोद्धार एव उत्तराध्ययन वृत्ति के अनुसार पाच प्रकार के तृण हैं। यथा—

तस-पणग पवत्त, जिणेहिं कम्मट्ठगाठिमहणेहिं ।
साली १ वीही २ कोद्दव ३ रालग ४ रन्ने तणा ५ पच ॥

अष्टविध कर्मों की ग्रन्थि का भेदन करने वाले जिनेश्वरो ने पाच प्रकार के निर्बीज तृण साधुओ के आसन के योग्य बताएँ हैं—(१) शाली—कमलशालो आदि विशिष्ट चावलो का पराल, (२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल, (३) कोद्रव—कोदो धान्य का पलाल, (४) रालक—कगु (कागणी) का पलाल (ये चार प्रकार के पलाल) और पाचवा अरण्यतृण—अर्थात् श्यामाक–सामा चावल आदि का पलाल। उत्तराध्ययन मे पाचवाँ दर्भ आदि निर्जीव तृण बताया गया है।

चद-सूरसमप्पभा तात्पर्य—जैसे चन्द्र और सूर्य अपनी कान्ति से ससार को शीतलता और तेजस्विता प्रदान करते हैं उसी प्रकार ये दोनो मुनीश्वर अपने शान्ति और तेजस्विता आदि सद्गुणो से भव्यजीवो को आल्हादित एव उपकृत कर रहे थे।

पासडा कोउगासिया तात्पर्य—अन्य दर्शनी पाषण्ड यानी परिव्राजक आदि तथा कुतूहली लोग अर्थात्—कौतुक देखने के रसिक अथवा कौतुक वश मृग की तरह अज्ञानी। मृग पशु की तरह अज्ञानी—अपने हिताहित से अनभिज्ञ। धर्म से पराड्मुख केवल उपहासप्रिय लोग।

अदिस्साण च भूयाण फलितार्थ—कुछ देवगण तो वहाँ पर दृश्यरूप मे उपस्थित थे और कुछ भूतगण अदृश्यरूप मे विद्यमान थे।

केशी की जिज्ञासा और गौतम से प्रथम पृच्छा—

मूल—पुच्छामि ते महाभाग ! केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥

पुच्छ भते ! जहिच्छ ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पच-सिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२३॥

एग-कज्ज-पवन्नाण विसेसे किं नु कारण ?
धम्मे दुविहे मेहावि ! कह विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥

छाया—पृच्छामि त्वा महाभाग ! केशी गौतममब्रवीत् ।
तत केशिन ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥२१॥
पृच्छतु भदन्त ! यथेच्छ ते, केशिन गौतमोऽब्रवीत् ।
तत केशी अनुज्ञात, गौतममिदमब्रवीत् ॥२२॥
चातुर्यामश्च यो धर्म योऽयं पचशिक्षित ।
देशितो वर्द्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥२३॥
एककार्य-प्रपन्नयो, विशेषे किन्नु कारणम् ?
धर्मे द्विविधे, मेधाविन्, कथ विप्रत्ययो न ते ॥२४॥

पद्यानुवाद—बोले केशी यो गौतम से, हे महाभाग! पूछूँ तुमसे ।
केशी के कहने पर बोले, गौतम हर्षित उन मुनिवर से ॥२१॥
केशी से गौतम यो बोले, भगवन् ! जो इच्छा प्रश्न करें ।
अनुमति पा केशी गौतम से, बोले—शका को दूर करे ॥२२॥
प्रभु पार्श्वनाथ ने चातुर्याम-सुधर्म कहा सब मुनियो का ।
पंच-महाव्रत धर्म कहा, श्री वर्द्धमान ने मुनिजन का ॥२३॥
एक कार्य मे रत दोनो, इन मे अन्तर का कारण क्या ?
इस धर्म-द्वैध को देख प्राज्ञ!, सशय मन मे ना होता क्या?॥२४॥

अन्वयार्थ—केसी—केशीकुमार श्रमण ने, गोयम—गौतमस्वामी से, अब्बवी—कहा—"महाभाग !—हे भाग्यशाली, ! ते—तुम से, पुच्छामि—'कुछ पूछना चाहता हूँ' ।" तओ—इस पर, केसिं बुवत तु—केशी के यह कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इण अब्बवी—इस प्रकार कहा—॥२१॥

भन्ते—हे भदन्त ! ते—तुम्हारी, जहिच्छं—जैसी इच्छा हो, पुच्छ—पूछिए, तओ - तदनन्तर, अणुन्नाए—अनुज्ञा पाकर, केसी—केशी ने, गोयम—गौतम को, इणमब्बवी—इस प्रकार पूछा ॥२२॥

जो य चाउज्जामो धम्मो—जो यह चातुर्याम रूप धर्म है, महामुणी पासेण—(जिसको) महामुनि पार्श्वनाथ ने, देसिओ—बताया है, य—और, जो इमो—जो यह, पचसिक्खिओ—पचशिक्षात्मक (पचमहाव्रतरूप) धर्म, वद्धमाणेण महामुणिणा—महामुनि वर्द्धमान ने प्रतिपादित किया है, मेहावि—हे मेधाविन् ! एगकज्ज-पवन्नाण—एक कार्य (मोक्ष साधन रूप एक ही कार्य) मे प्रवृत्त दोनो तीर्थंकरो के धर्म मे, विसेसे—अन्तर का, किं नु कारण—क्या कारण है ? दुविहे धम्मे—इन दो प्रकार के धर्मों मे, ते—तुम्हे, विप्पच्चओ—विप्रत्यय-सन्देह, कह न—क्यो नही होता ?॥२३-२४॥

पलाल फासुय पचम कुसतणाणि आशय—प्रवचनसारोद्धार एव उत्तराध्ययन वृत्ति के अनुसार पाच प्रकार के तृण हैं। यथा—

तस-पणग पत्तत्त, जिर्णेहि कम्मट्ठगठिमहणेहि ।
साली १ वीही २ कोद्दव ३ रालग ४ रन्ने तणा ५ पच ॥

अष्टविध कर्मों की ग्रन्थि का भेदन करने वाले जिनेश्वरो ने पाच प्रकार के निर्बीज तृण साधुओ के आसन के योग्य बताएँ हैं—(१) शाली—कमलशालो आदि विशिष्ट चावलो का पराल, (२) व्रीहिक—साठी चावल आदि का पलाल, (३) कोद्दव—कोदो धान्य का पलाल, (४) रालक—कगु (कागणी) का पलाल (ये चार प्रकार के पलाल) और पाचवा अरण्यतृण—अर्थात् श्यामाक–सामा चावल आदि का पलाल। उत्तराध्ययन मे पाचवाँ दर्भ आदि निर्जीव तृण बताया गया है।

चद-सूरसमप्पभा तात्पर्य—जैसे चन्द्र और सूर्य अपनी कान्ति से ससार को शीतलता और तेजस्विता प्रदान करते हैं उसी प्रकार ये दोनो मुनीश्वर अपने शान्ति और तेजस्विता आदि सद्गुणो से भव्यजीवो को आल्हादित एव उपकृत कर रहे थे।

पासडा कोउगासिया तात्पर्य—अन्य दर्शनी पाषण्ड थानी परिव्राजक आदि तथा कुतूहली लोग अर्थात्—कौतुक देखने के रसिक अथवा कौतुक वश मृग की तरह अज्ञानी। मृग पशु की तरह अज्ञानी—अपने हिताहित से अनभिज्ञ। धर्म से पराङ्मुख केवल उपहासप्रिय लोग।

अदिस्साण च भूयाण फलितार्थ—कुछ देवगण तो वहाँ पर दृश्यरूप मे उपस्थित थे और कुछ भूतगण अदृश्यरूप मे विद्यमान थे।

केशी की जिज्ञासा और गौतम से प्रथम पृच्छा—

मूल—पुच्छामि ते महाभाग ! केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥
पुच्छ भते ! जहिच्छ ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥
चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पच-सिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२३॥
एग-कज्ज-पवन्नाण विसेसे किं नु कारण ?
धम्मे दुविहे मेहावि ! कह विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥

छाया—पृच्छामि त्वा महाभाग ! केशी गौतममब्रवीत् ।
तत केशिन ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥२१॥
पृच्छतु भदन्त ! यथेच्छ ते, केशिन गौतमोऽब्रवीत् ।
तत केशी अनुज्ञात, गौतममिदमब्रवीत् ॥२२॥
चातुर्यामश्च यो धर्म योऽय पचशिक्षित ।
देशितो वर्द्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥२३॥
एककार्य-प्रपन्नयो, विशेषे किन्नु कारणम् ?
धर्मे द्विविधे, मेधाविन् , कथ विप्रत्ययो न ते ॥२४॥

पद्यानुवाद—बोले केशी यो गौतम से, हे महाभाग! पूछूं तुमसे ।
केशी के कहने पर बोले, गौतम हर्षित उन मुनिवर से ॥२१॥
केशी से गौतम यो बोले, भगवन् ! जो इच्छा प्रश्न करे ।
अनुमति पा केशी गौतम से, बोले—शका को दूर करे ॥२२॥
प्रभु पार्श्वनाथ ने चातुर्याम-सुधर्म कहा सब मुनियो का ।
पच-महाव्रत धर्म कहा, श्री वर्द्धमान ने मुनिजन का ॥२३॥
एक कार्य मे रत दोनो, हम मे अन्तर का कारण क्या ?
इस धर्म-द्वैध को देख प्राज्ञ!, सशय मन मे ना होता क्या?॥२४॥

अन्वयार्थ—केसी—केशीकुमार श्रमण ने, गोयम—गौतमस्वामी से, अब्बवी—कहा—"महाभाग !—हे भाग्यशाली, ! ते—तुम से, पुच्छामि—'कुछ पूछना चाहता हूँ' ।" तओ—इस पर, केसिं बुवत तु—केशी के यह कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इण अब्बवी—इस प्रकार कहा—॥२१॥

भन्ते—हे भदन्त ! ते—तुम्हारी, जहिच्छ—जैसी इच्छा हो, पुच्छ—पूछिए, तओ - तदनन्तर, अणुन्नाए—अनुज्ञा पाकर, केसी—केशी ने, गोयम—गौतम को, इणमब्बवी—इस प्रकार पूछा ॥२२॥

जो य चाउज्जामो धम्मो—जो यह चातुर्याम रूप धर्म है, महामुणी पासेण—(जिसको) महामुनि पार्श्वनाथ ने, देसिओ—बताया है, य—और, जो इमो—जो यह, पचसिक्खिओ—पचशिक्षात्मक (पचमहाव्रतरूप) धर्म, वद्धमाणेण महामुणिणा—महामुनि वर्द्धमान ने प्रतिपादित किया है, मेहावि—हे मेधाविन् ! एगकज्ज-पवन्नाण—एक कार्य (मोक्ष साधन रूप एक ही कार्य) मे प्रवृत्त दोनो तीर्थंकरो के धर्म मे, विसेसे—अन्तर का, किं नु कारण—क्या कारण है ? दुविहे धम्मे—इन दो प्रकार के धर्मों मे, ते—तुम्हे, विप्पच्चओ—विप्रत्यय-सन्देह, कह न—क्यो नही होता ?॥२३-२४॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण ने गौतमस्वामी से कहा—"हे महाभाग ! मै आपसे कुछ पूछूं ?" केशीश्रमण के ऐसा कहने पर गौतमस्वामी ने इस प्रकार कहा—॥२१॥

गौतम केशीश्रमण से यो बोले—'भगवन्' आपकी जो इच्छा हो, पूछिए । तत्पश्चात अनुमति पाकर केशीकुमार श्रमण ने गौतम को इस प्रकार कहा—॥२२।

जो यह चातुर्याम धर्म है, जिसका प्ररूपण भगवान पार्श्वनाथ ने किया है, और यह जो पचशिक्षित (पचशिक्षात्मक) धर्म है, जिसका प्रतिपादन भगवान महावीर (वर्द्धमान) ने किया है, हे बुद्धिशालिन ! आप यह बताएँ कि एक ही मोक्षरूप कार्य (साध्य) मे प्रवृत्त इन दोनो महर्षियो के धर्मो मे अन्तर—भेद का क्या कारण है ? इन दो प्रकार के धर्मो को देखकर क्या तुम्हे सन्देह नही होता ? ॥२३-२४॥

विवेचन—प्रश्नकर्ता की विनयमर्यादा—प्रश्नकर्ता की यथार्थ मर्यादा यह है कि प्रश्न करने से पूर्व, प्रश्नकर्ता उत्तरदाता अर्थात्—जिनसे उत्तर पाने की जिज्ञासा है उससे प्रश्न पूछने की अनुमति प्राप्त कर ले, तत्पश्चात प्रश्न पूछे । यही बात २१वी गाथा मे कही गई है ।

महाभाग सम्बोधन का तात्पर्यार्थ—अतिशय से युक्त, अथवा अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न पुरुष ।

गौतम द्वारा पूछने की अनुमति—२२वी गाथा मे बताया गया है कि केशीकुमार की प्रबल जिज्ञासा, देख श्री गौतमस्वामी ने विनय, माधुर्य एव सरसता के साथ कहा—"आप बडी खुशी से अपनी इच्छानुसार प्रश्न पूछिए ।"

शका का कारण—प्रथम पृच्छा मे चातुर्याम धर्म और पचमहाव्रतरूपी धर्म इन दोनो का सख्यागत भेद ही शका का स्पष्ट कारण है ।

गौतम द्वारा केशी की प्रथम पृच्छा का समाधान—

मूल—तओ केसिं बुवत तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पन्ना समिक्खए धम्म-तत्त तत्त-विणिच्छय ॥२५॥
पुरिमा उज्जु-जडा उ, वक्क-जडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥
पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

छाया—तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
प्रज्ञा समीक्षते धर्म-तत्त्व तत्त्व-विनिश्चयम् ॥२५॥

पूर्वे ऋजु-जडास्तु, वक्रजडाश्च पश्चिमा ।
मध्यमा ऋजुप्राज्ञास्तु, तेन धर्मो द्विधाकृत ॥२६॥

पूर्वेषा दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणा दुरणुपालक ।
कल्पो मध्यमगाना तु, सुविशोध्य सुपालक ॥२७॥

पद्यानुवाद—यो केशीकुमार के कहने पर, श्री गौतम वचन कहे ऐसा ।
धर्मार्थ तत्त्व के निश्चय मे, प्रज्ञा से समीक्षण करे वैसा ॥२५॥

पहले के मुनि थे मुग्ध सरल, पिछले के होते वक्र-मूढ ।
मध्यम के प्राज्ञ-ऋजु होते, अतएव किए दो भेद गूढ ॥२६॥

प्रथम तीर्थ मे ग्रहण कठिन, अन्तिम मे दुष्कर है पालन ।
है मध्यतीर्थ के साधु योग्य, विधिवत व्रत ले करते पालन ॥२७॥

अन्वयार्थ—तओ—तदनन्तर, केसिं—केसी के, बुवत—यह कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इणमब्बवी—इस प्रकार कहा, तत्तविणिच्छय—तत्त्व के विनिश्चय वाले, धम्मतत्त—धर्म तत्त्व की, पन्नासमिक्खए—समीक्षा प्रज्ञा करती है ॥२५॥

पुरिमा—पूर्व-प्रथम तीर्थंकर के साधु, उज्जुजडा—ऋजु (सरल) और जड (दुर्बोध्य) होते हैं, य—और, पच्छिमा—पश्चिम—अन्तिम तीर्थंकर के साधु, वक्कजडा—वक्र (असरल) और जड होते हैं, य—तथा, मज्झिमा—बीच के बाईस तीर्थंकरो के साधु, उज्जुपन्ना ऋजु—(सरल) और प्राज्ञ होते हैं। तेण—इस कारण, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर ने, धम्मे—धर्म को दुहा कए—दो प्रकार का किया है ॥२६॥

पुरिमाण—प्रथम तीर्थंकर के मुनियो द्वारा, कप्पो—कल्प-आचार मर्यादा का, दुव्विसोज्झो—दुर्विशोध्य—अर्थात्—शुद्ध रूप मे ग्रहण करना दुष्कर है। चरिमाण—अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ द्वारा, दुरणुपालओ—कल्प का निर्मलरूप से पालन दुष्कर है, (तथा) मज्झिमगाण—मध्यवर्ती तीर्थंकरो के साधु साध्वियो द्वारा, कप्पो—जो साध्वाचार अर्थात् महाव्रत ग्रहण किये जाते हैं, वे महाव्रत उनके द्वारा, सुविसोज्झो—विशुद्ध रूप से अगीकार किये जाते और निष्ठापूर्वक सहज ही विशुद्ध रूप से पालन भी किये जाते हैं ॥२७॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण ने गौतमस्वामी से कहा—"हे महाभाग ! मैं आपसे कुछ पूछूं ?" केशीश्रमण के ऐसा कहने पर गौतमस्वामी ने इस प्रकार कहा—॥२१॥

गौतम केशीश्रमण से यो बोले—'भगवन्' आपकी जो इच्छा हो, पूछिए। तत्पश्चात अनुमति पाकर केशीकुमार श्रमण ने गौतम को इस प्रकार कहा—॥२२।

जो यह चातुर्याम धर्म है, जिसका प्ररूपण भगवान पार्श्वनाथ ने किया है, और यह जो पचशिक्षित (पचशिक्षात्मक) धर्म है, जिसका प्रतिपादन भगवान महावीर (वर्द्धमान) ने किया है, हे बुद्धिशालिन ! आप यह बताएँ कि एक ही मोक्षरूप कार्य (साध्य) मे प्रवृत्त इन दोनो महर्षियो के धर्मों मे अन्तर—भेद का क्या कारण है ? इन दो प्रकार के धर्मों को देखकर क्या तुम्हे सन्देह नही होता ? ॥२३-२४॥

विवेचन—प्रश्नकर्ता की विनयमर्यादा—प्रश्नकर्ता की यथार्थ मर्यादा यह है कि प्रश्न करने से पूर्व, प्रश्नकर्ता उत्तरदाता अर्थात्—जिससे उत्तर पाने की जिज्ञासा है उससे प्रश्न पूछने की अनुमति प्राप्त कर ले, तत्पश्चात प्रश्न पूछे। यही बात २१वी गाथा मे कही गई है।

महाभाग सम्बोधन का तात्पर्यार्थ—अतिशय से युक्त, अथवा अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न पुरुष।

गौतम द्वारा पूछने की अनुमति—२२वी गाथा मे बताया गया है कि केशीकुमार की प्रबल जिज्ञासा, देख श्री गौतमस्वामी ने विनय, माधुर्य एव सरसता के साथ कहा—"आप बडी खुशी से अपनी इच्छानुसार प्रश्न पूछिए।"

शका का कारण—प्रथम पृच्छा मे चातुर्याम धर्म और पचमहाव्रतरूपी धर्म इन दोनो का सख्यागत भेद ही शका का स्पष्ट कारण है।

गौतम द्वारा केशी की प्रथम पृच्छा का समाधान—

मूल—तओ केसिं बुवतं तु, गोयमो इणमब्बवी।
पन्ना समिक्खए धम्म-तत्त तत्त-विणिच्छय ॥२५॥

पुरिमा उज्जु-जडा उ, वक्क-जडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥

पुरिमाणं दुब्विसोज्झो उ, चरिमाण दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

छाया—तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
प्रज्ञा समीक्षते धर्म-तत्त्व तत्त्व-विनिश्चयम् ॥२५॥

पूर्वे ऋजु-जडास्तु, वक्रजडाश्च पश्चिमा ।
मध्यमा ऋजुप्राज्ञास्तु, तेन धर्मो द्विधाकृत ॥२६॥

पूर्वेषा दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणा दुरणुपालक ।
कल्पो मध्यमगाना तु, सुविशोध्य सुपालक ॥२७॥

पद्यानुवाद—यो केशीकुमार के कहने पर, श्री गौतम वचन कहे ऐसा ।
धर्मार्थ तत्त्व के निश्चय मे, प्रज्ञा से समीक्षण करे वैसा ॥२५॥

पहले के मुनि थे मुग्ध सरल, पिछले के होते वक्र-मूढ ।
मध्यम के प्राज्ञ-ऋजु होते, अतएव किए दो भेद गूढ ॥२६॥

प्रथम तीर्थ मे ग्रहण कठिन, अन्तिम मे दुष्कर है पालन ।
है मध्यतीर्थ के साधु योग्य, विधिवत व्रत ले करते पालन ॥२७॥

अन्वयार्थ—तओ—तदनन्तर, केसिं—केसी के, बुवत—यह कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इणमब्बवी—इस प्रकार कहा, तत्तविणिच्छय—तत्त्व के विनिश्चय वाले, धम्मतत्त—धर्म तत्त्व की, पन्नासमिक्खए—समीक्षा प्रज्ञा करती है ॥२५॥

पुरिमा—पूर्व-प्रथम तीर्थंकर के साधु, उज्जुजडा—ऋजु (सरल) और जड (दुर्बोध्य) होते है, य—और, पच्छिमा—पश्चिम—अन्तिम तीर्थंकर के साधु, वक्कजडा—वक्र (असरल) और जड होते हैं, य—तथा, मज्झिमा—बीच के बाईस तीर्थंकरो के साधु, उज्जुपन्ना ऋजु—(सरल) और प्राज्ञ होते है । तेण—इस कारण, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर ने, धम्मे—धर्म को दुहा कए—दो प्रकार का किया है ॥२६॥

पुरिमाण—प्रथम तीर्थंकर के मुनियो द्वारा, कप्पो—कल्प-आचार मर्यादा का, दुव्विसोज्झो—दुर्विशोध्य—अर्थात्—शुद्ध रूप मे ग्रहण करना दुष्कर है। चरिमाण—अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ द्वारा, दुरणुपालओ—कल्प का निर्मलरूप से पालन दुष्कर है, (तथा) मज्झिमगाण—मध्यवर्ती तीर्थंकरो के साधु साध्वियो द्वारा, कप्पो—जो साध्वाचार अर्थात् महाव्रत ग्रहण किये जाते हैं, वे महाव्रत उनके द्वारा, सुविसोज्झो—विशुद्ध रूप से अंगीकार किये जाते और निष्ठापूर्वक सहज ही विशुद्ध रूप से पालन भी किये जाते है ॥२७॥

भावार्थ—फिर केशीकुमार श्रमण के यह कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—जीवादि तत्त्वो के निश्चय वाले धर्म का परमार्थ प्रज्ञाबल से ही सम्यक्रूपेण देखा जा सकता है ॥२५॥

प्रथम तीर्थंकर के मुनि सरल एव जड तथा अन्तिम तीर्थंकर के मुनि वक्र तथा जड होते हैं, किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरो के साधु ऋजु एव प्राज्ञ होते है, इस कारण धर्म के दो भेद किए गए हैं ॥२६॥

प्रथम तीर्थंकर के मुनियो के लिए कल्प-साध्वाचार का पूर्णतया शुद्ध (निर्दोष) रूपेण जानना दुष्कर (दुर्विशोध्य) होता है, तथा अन्तिम तीर्थंकर के मुनियो के लिए व्रत का पालन करना कठिन होता है, किन्तु मध्यमवर्ती तीर्थंकरो के मुनियो का कल्प सुविशोध्य और सुपाल्य है, अर्थात्—उनके लिए व्रतो का शुद्ध रूपेण जानना और पालन करना, दोनो सरल होता है ॥२७॥

विवेचन—पन्ना समिक्खए० तात्पर्य—इस पक्ति का तात्पर्य यह है कि सद्-असद्-विवेकशालिनी प्रज्ञा—(बुद्धि) ही धर्म के तत्त्व—परमार्थ को देख-समझ सकती है। धर्म तत्त्व बुद्धि से ही भलीभाति देखा-जाना जा सकता है, चर्मचक्षुओ से नही। जिसमे जीवादि तत्त्वो का विशेष रूप से निश्चय होता है, उस सूक्ष्म धर्म तत्त्व का अर्थनिश्चय भी केवल श्रवण मात्र से नही होता, किन्तु प्रज्ञा बल से ही होता है। अर्थात्—केवल वाक्य के श्रवण मात्र से अर्थ का विशेष निश्चय नही होता, किन्तु वाक्य श्रवण के अनन्तर उसके अर्थ का विनिश्चय—यथार्थ निर्णय बुद्धि द्वारा ही होता है।

यही कारण है कि अधिकारियो की बुद्धि के तारतम्य के कारण धर्म के वर्तमान मे दो भेद किये गए हैं। अर्थात्—धर्म के दो भेद प्रतीत होने मे अधिकारियो की बुद्धि ही कारण है।

अधिकारी भेद के कारण धर्म के दो भेद—प्रस्तुत दो गाथाओ (२६-२७ वी) मे इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के साधु ऋजु होने पर भी उनमे जडता थी, अर्थात् वे पदार्थ (धर्मतत्त्व) को बडी कठिनता से समझते थे। सरल होने पर भी शीघ्रता से पदार्थो या साध्वाचार कल्पनीय-अकल्पनीय को शुद्ध रूप से ग्रहण करने मे उनकी बुद्धि समर्थ नही थी। चरम तीर्थंकर के मुनियो मे बौद्धिक वक्रता और जडता है, वे शिक्षित किये जाने पर भी अनेक प्रकार के कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने मे उद्यत रहते हैं, तथा वक्रता के कारण छल-

पूर्वक व्यवहार करके अपनी दूषित साधना को निर्दोष सिद्ध करने मे लगे रहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि अन्तिम तीर्थंकर के मुनियो को शिक्षित करना तो विशेष कठिन नही है, किन्तु इनके लिए कल्प=साध्वाचार का निर्दोष पालन करना अत्यन्त दुष्कर है, क्योकि इस काल के साधक अपनी वक्र बुद्धि से कुतर्क करने मे कुशल होते है, सद्धेतु को हेत्वाभास बना देते हैं। किन्तु बीच के बाईस तीर्थंकरो के साधु सरल और बुद्धिमान होते हैं। उनको समझाना, शिक्षित करना तथा किसी भी तत्त्व के मर्म तक पहुँचना कठिन नही है, अपनी बुद्धि द्वारा वे प्रस्तुत किये गये तत्त्व के साधक-बाधक विषयो को शीघ्र अवगत कर लेते हैं। यही कारण है कि इन साधको को साध्वाचार के लिए शिक्षित करना या बोध देना, तथा उनके द्वारा उसका पालन करना दोनो ही सुकर है। साधुकल्प की शिक्षा भी और उसका पालन भी उनके लिए सुकर है।

तात्पर्य यह है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरो के साधुओ की बौद्धिक स्थिति का विचार करके अहिंसादि पाँच महाव्रतो—शिक्षाओ का विधान किया गया, जबकि मध्यवर्ती मुनियो की ऋजुता एव प्राज्ञता का विचार करके चातुर्याम (चार महाव्रतो) का उपदेश किया गया।

वस्तुत यह सब कुछ परिवर्तन काल के प्रभाव से अधिकारीभेद को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है, न कि सर्वज्ञप्रोक्त नियमो मे किसी प्रकार की न्यूनता को देखकर उसमे सुधार करने की दृष्टि से किया गया है। इसलिए दोनो तीर्थंकरो की सर्वज्ञता को इस नियमभेद से कोई आच नही आती। न ही इसमे किसी प्रकार का परस्पर विरोध है। तीर्थंकरो को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पात्र को दृष्टिगत रखकर जिस युग मे जिस प्रकार के बौद्धिक अधिकारी साधक होते हैं, उनको शिक्षित और रत्नत्रय साधना मे प्रवृत्त करने के लिए उसी प्रकार के व्रतो, नियमो और मर्यादाओ (साध्वाचार) की योजना करनी पडती है।

दुव्विसोज्झो तात्पर्य—कल्प=साध्वाचार दु ख से विशुद्ध ग्रहण करने योग्य। अर्थात्—कल्पनीय अकल्पनीय के ज्ञान से विकल बुद्धि वाला।

दुरणुपालओ . तात्पर्य—आचार पालन दुष्कर। साध्वाचार का दु ख से अनुपालन। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र होने के कारण कुतर्क प्रधान होन से साध्वाचार को जानते हुए भी उसका पालन करने मे प्राय. अन्तर्मन से अप्रयत्नशील होते हैं।

भावार्थ—फिर केशीकुमार श्रमण के यह कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—जीवादि तत्त्वो के निश्चय वाले धर्म का परमार्थ प्रज्ञाबल से ही सम्यक्‌रूपेण देखा जा सकता है ॥२५॥

प्रथम तीर्थंकर के मुनि सरल एव जड तथा अन्तिम तीर्थंकर के मुनि वक्र तथा जड होते हैं, किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरो के साधु ऋजु एव प्राज्ञ होते है, इस कारण धर्म के दो भेद किए गए हैं ॥२६॥

प्रथम तीर्थंकर के मुनियो के लिए कल्प-साध्वाचार का पूर्णतया शुद्ध (निर्दोष) रूपेण जानना दुष्कर (दुर्विशोध्य) होता है, तथा अन्तिम तीर्थंकर के मुनियो के लिए व्रत का पालन करना कठिन होता है, किन्तु मध्यमवर्ती तीर्थंकरो के मुनियो का कल्प सुविशोध्य और सुपाल्य है, अर्थात्—उनके लिए व्रतो का शुद्ध रूपेण जानना और पालन करना, दोनो सरल होता है ॥२७॥

विवेचन—पन्ना समिक्खए० · तात्पर्य—इस पक्ति का तात्पर्य यह है कि सद्-असद्-विवेकशालिनी प्रज्ञा—(बुद्धि) ही धर्म के तत्त्व=परमार्थ को देख-समझ सकती है। धर्म तत्त्व बुद्धि से ही भलीभाति देखा-जाना जा सकता है, चर्मचक्षुओ से नही। जिसमे जीवादि तत्त्वो का विशेष रूप से निश्चय होता है, उस सूक्ष्म धर्म तत्त्व का अर्थनिश्चय भी केवल श्रवण मात्र से नही होता, किन्तु प्रज्ञा बल से ही होता है। अर्थात्—केवल वाक्य के श्रवण मात्र से अर्थ का विशेष निश्चय नही होता, किन्तु वाक्य श्रवण के अनन्तर उसके अर्थ का विनिश्चय—यथार्थ निर्णय बुद्धि द्वारा ही होता है।

यही कारण है कि अधिकारियो की बुद्धि के तारतम्य के कारण धर्म के वर्तमान मे दो भेद किये गए हैं। अर्थात्—धर्म के दो भेद प्रतीत होने मे अधिकारियो की बुद्धि ही कारण है।

अधिकारी भेद के कारण धर्म के दो भेद—प्रस्तुत दो गाथाओ (२६-२७ वी) मे इसी तथ्य को व्यक्त किया गया है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के साधु ऋजु होने पर भी उनमे जडता थी, अर्थात् वे पदार्थ (धर्मतत्त्व) को बडी कठिनता से समझते थे। सरल होने पर भी शीघ्रता से पदार्थो या साध्वाचार कल्पनीय-अकल्पनीय को शुद्ध रूप से ग्रहण करने मे उनकी बुद्धि समर्थ नही थी। चरम तीर्थंकर के मुनियो मे बौद्धिक वक्रता और जडता है, वे शिक्षित किये जाने पर भी अनेक प्रकार के कुतर्को द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने मे उद्यत रहते हैं, तथा वक्रता के कारण छल-

पूर्वक व्यवहार करके अपनी दूषित साधना को निर्दोष सिद्ध करने मे लगे रहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि अन्तिम तीर्थंकर के मुनियो को शिक्षित करना तो विशेष कठिन नही है, किन्तु इनके लिए कल्प=साध्वाचार का निर्दोष पालन करना अत्यन्त दुष्कर है, क्योकि इस काल के साधक अपनी वक्र बुद्धि से कुतर्क करने मे कुशल होते है, सद्धेतु को हेत्वाभास बना देते है। किन्तु बीच के बाईस तीर्थंकरो के साधु सरल और बुद्धिमान होते हैं। उनको समझाना, शिक्षित करना तथा किसी भी तत्त्व के मर्म तक पहुँचना कठिन नही है, अपनी बुद्धि द्वारा वे प्रस्तुत किये गये तत्व के साधक-बाधक विषयो को शीघ्र अवगत कर लेते हैं। यही कारण है कि इन साधको को साध्वाचार के लिए शिक्षित करना या बोध देना, तथा उनके द्वारा उसका पालन करना दोनो ही सुकर है। साधुकल्प की शिक्षा भी और उसका पालन भी उनके लिए सुकर है।

तात्पर्य यह है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरो के साधुओ की बौद्धिक स्थिति का विचार करके अहिंसादि पाँच महाव्रतो—शिक्षाओ का विधान किया गया, जबकि मध्यवर्ती मुनियो की ऋजुता एव प्राज्ञता का विचार करके चातुर्याम (चार महाव्रतो) का उपदेश किया गया।

वस्तुत यह सब कुछ परिवर्तन काल के प्रभाव से अधिकारीभेद को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है, न कि सर्वज्ञप्रोक्त नियमो मे किसी प्रकार की न्यूनता को देखकर उसमे सुधार करने की दृष्टि से किया गया है। इसलिए दोनो तीर्थंकरो की सर्वज्ञता को इस नियमभेद से कोई आच नही आती। न ही इसमे किसी प्रकार का परस्पर विरोध है। तीर्थंकरो को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पात्र को दृष्टिगत रखकर जिस युग मे जिस प्रकार के बौद्धिक अधिकारी साधक होते हैं, उनको शिक्षित और रत्नत्रय साधना मे प्रवृत्त करने के लिए उसी प्रकार के व्रतो, नियमो और मर्यादाओ (साध्वाचार) की योजना करनी पड़ती है।

दुव्विसोज्झो तात्पर्य—कल्प=साध्वाचार दु ख से विशुद्ध ग्रहण करने योग्य। अर्थात्—कल्पनीय अकल्पनीय के ज्ञान से विकल बुद्धि वाला।

दुरणुपालओ . तात्पर्य—आचार पालन दुष्कर। साध्वाचार का दु ख से अनुपालन। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र होने के कारण कुतर्क प्रधान होन से साध्वाचार को जानते हुए भी उसका पालन करने मे प्राय. अन्तर्मन से अप्रयत्नशील होते हैं।

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥२८॥
अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा[1] ॥२९॥
एग-कज्ज-पवन्नाण, विसेसे किं नु कारण ।
लिंगे दुविहे मेहावी, कह विप्पच्चओ न ते ॥३०॥

छाया—साधु (साध्वी) गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि सशयो मे, त मा कथय गौतम ! ॥२८॥
अचेलकश्च यो धर्म, योऽय सान्तरोत्तर ।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महायशसा ॥२९॥
एक-कार्य-प्रपन्नयो, विशेषे किन्नु कारणम् ?
लिंगे द्विविधे मेधाविन् !, कथ विप्रत्ययो न ते ? ॥३०॥

पद्यानुवाद— गौतम ! है बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय ।
है एक दूसरा भी सशय, कह दो मुझको गौतम ! निर्भय॥२८॥
है धर्म अचेलक मुनियो का, यह वर्धमान ने कथन किया ।
पर मार्ग सचलेक वर्णयुक्त, शुभ धर्म पार्श्व ने बतलाया ॥२९॥
जब लक्ष्य हमारा एक यहाँ, फिर इस विभेद का क्या कारण ?
मेधाविन् ! इन दो वेषो से, सशय न बढे क्यो ? हो वारण॥३०॥

अन्वयार्थ—(केशी कुमार श्रमण) गोयम—हे गौतम !, ते पन्ना—तुम्हारी प्रज्ञा, साहु—श्रेष्ठ है, मे—मेरा, इमो ससओ—यह सशय, छिन्नो—छिन्न (दूर) हो गया है । अन्नो वि—और भी एक, मज्झ—मेरा, ससओ—सशय है, गोयमा—हे गौतम ! त—उसके विषय मे भी, मे—मुझे, कहसु—कहे ॥२८॥

जो य—यह जो, अचेलगो धम्मो—अचेलक धर्म, वद्धमाणेण—वर्द्धमान महावीर ने, देसिओ—बताया है, य—और, जो—जो, इमो—यह, सतरुत्तरो—सान्तरोत्तर (वर्णादि से विशिष्ट एव मूल्यवान वस्त्रवाला) धर्म, महाजसा पासेण—महायशस्वी पार्श्वनाथ ने प्रतिपादित किया है ॥२९॥

एगकज्जपवन्नाण—एक ही कार्य (मोक्षरूप उद्देश्य) से प्रवृत्त दोनो मे, विसेसे—भेद का, किं नु कारण—क्या कारण है ? मेहावि—हे मेधाविन् ! दुविहे लिंगे—दो प्रकार के लिंगो मे, ते—तुम्हें, कह—कैसे, विप्पच्चओ न—विप्रत्यय—सशय नही होता है ? ॥३०॥

---

1 पाठान्तर—महामुणी

भावार्थ—(केशीकुमार श्रमण—) हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मेरा एक और भी सन्देह है। गौतम ! उसके विषय मे मुझे कहो, अर्थात्—मेरा समाधान करो ॥२८॥

"यह अचेलक धर्म, भगवान् वर्द्धमान ने बताया है, और यह सान्तरोत्तर (वर्णादि से विशिष्ट एव मूल्यवान वस्त्र से युक्त) धर्म महायशस्वी पार्श्वनाथ भगवान् ने बताया है" ॥२९॥

एक ही मोक्षरूप कार्य मे प्रवृत्त इन दोनो महर्षियो के धर्म मे भेद का क्या कारण है ? हे मेधावी ! क्या आपको ये दो प्रकार के लिंग (वेष) देखकर सशय नही होता ? ॥३०॥

विवेचन—कृतज्ञता-प्रकाशन—केशीकुमार श्रमण ने जब अपने प्रथम प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान प्राप्त कर लिया, तब उन्होने गौतमस्वामी के प्रति अपने कृतज्ञतासूचक उद्‌गार प्रगट किये। तथा द्वितीय प्रश्न के समाधान के लिए उन्होने गौतम स्वामी से विनती की। केशी श्रमण के इन उद्‌गारो मे उनकी साधुता एव सरलता प्रतीत हो रही है।

दोनों महापुरुषो के कथन मे अन्तर क्यो ?—भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर दोनो ही महापुरुषो की सर्वज्ञता मे कोई अन्तर नही है, परन्तु दोनो के साधुओ के लिंग—वेष के विषय मे इनकी प्ररूपणा मे अन्तर प्रतीत होता है—भगवान पार्श्वनाथ ने सचेलक (रग बिरंगे बहुमूल्य वस्त्र वाले) धर्म का उपदेश दिया है, जबकि भगवान महावीर अचेलक (निर्वस्त्र अथवा जीर्ण सामान्य श्वेत वस्त्र वाले) धर्म का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनो के कथन मे साधुओ के वेष की विभिन्नता को लेकर स्पष्टत विरोध प्रतीत होता है, इसका क्या कारण है ?

अपने प्रश्न की उपपत्ति करते हुए केशीकुमार श्रमण कहते है—जब दोनो एक ही कार्य की सिद्धि के लिए उद्यत हुए हैं तो फिर इनके अनुयायी मुनियो के लिए साधनभूत लिंग—वेष मे अन्तर क्यो पडा ? लिंग का अर्थ वेष-भूषा है, उसी से साधु की पहचान होती है और वेष तो परिचायक (साधु की पहचान कराने वाले) होता है, फिर वर्द्धमान स्वामी ने अचेलक (निर्वस्त्र रहने या जीर्ण प्रमाणोपेत श्वेत वस्त्र धारण करने) की तथा पार्श्वनाथ स्वामी न सचेलक (रग बिरगे बहुमूल्य वस्त्र धारण करने) की आज्ञा प्रदान की है। क्या यह दोनो की सर्वज्ञता मे परस्पर अन्तर प्रतीत होने का, तथा मन मे अविश्वास या सशय उत्पन्न होने का कारण नही है।

गौतम द्वारा केशी श्रमण की द्वितीय पृच्छा का समाधान—

मूल—केसिं एव बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म, धम्म-साहणमिच्छियं ॥३१॥
पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविह-विगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंग-पओयणं ॥३२॥
अह भवे पइन्ना उ, मोक्ख-सब्भूय-साहणा।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥३३॥

छाया—केशिनमेव ब्रुवाणं तु, गौतम इदमब्रवीत्।
विज्ञानेन समागम्य धर्म-साधनमीप्सितम् ॥३१॥
प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविध विकल्पनम्।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिंग-प्रयोजनम् ॥३२॥
अथ भवेत् प्रतिज्ञा तु, मोक्ष-सद्भूत-साधनानि।
ज्ञानं च दर्शनं चेव, चारित्रं चैव निश्चये ॥३३॥

पद्यानुवाद—केशी के ऐसा कहने पर, हर्षित हो गौतम यह बोले।
विमल ज्ञान से मर्म समझ, धर्मोपकरण प्रभु ने खोले ॥३१॥
जग की प्रतीति के हेतु यहाँ, है भिन्न वेष प्रभु बतलाए।
संयमयात्रा और भेदग्रहण, शुभ लिंग-प्रयोजन जग गाए ॥३२॥
सद्भूत मोक्ष के साधन मे, निश्चयमत की जिज्ञासा हो।
सद्दर्शन-ज्ञान-चरण साधन, निश्चय-स्वरूप की लिप्सा हो ॥३३॥

अन्वयार्थ—केसिमेव बुवाणं तु—केशीकुमार श्रमण के ऐसा कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इणमब्बवी—यह कहा, विन्नाणेण—विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) से, धम्मसाहणं—धर्म के साधनो-उपकरणो को, समागम्म—सम्यक् प्रकार से जानकर ही, इच्छियं—उनकी (वेष-उपकरणादि की) अनुमति दी गई है ॥३१॥

नाणाविह-विगप्पणं—नाना प्रकार के वेष उपकरण आदि की परिकल्पना, लोगस्स—लोक की पच्चयत्थं—प्रतीति के लिए है (वस्तुतः), जत्तत्थं—(संयम) यात्रा के निर्वाह के लिए च—और, गहणत्थं—"मैं साधु हूँ" यथाप्रसंग इस प्रकार का बोध रहने के लिए ही, लोगे—लोक मे, लिंग-पओयणं—लिंग का प्रयोजन है ॥३२॥

अह—वास्तव मे, पइन्ना—(दोनो तीर्थंकरो की) प्रतिज्ञा, उ—तो (यही है कि) निच्छए—निश्चय मे, मोक्खसब्भूयसाहणे—मोक्ष के सद्भूत (वास्तविक) साधन नाणं च—ज्ञान, दंसणं चेव—दर्शन, चरित्तं चेव—और चारित्र ही हैं ॥३३॥

भावार्थ—केशीकुमार के ऐसा कहने पर श्री गौतमस्वामी ने यह कहा कि विज्ञान से सम्यक् (उचित) जानकर ही वेष को धर्म का साधन (उपकरण) मान्य किया है ॥३१॥

(गौतम—) लोक मे साधु रूप की प्रतीति के लिए विभिन्न वेष की परिकल्पना की गई है। सयमयात्रा के निर्वाह के लिए और (गृहस्थ से साधु का अन्तर समझने अथवा मैं साधु हूँ, इस प्रकार के) बोध के लिए लोक मे वेष का प्रयोजन है ॥३२॥

दोनो तीर्थंकरो की प्रतिज्ञा तो यही है कि निश्चय से मोक्ष के वास्तविक साधन तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ही हैं ॥३३॥

विवेचन—वेष धर्म का साधन, और व्यवहारोपयोगी है, मोक्ष का मुख्य साधन नहीं—प्रस्तुत तीन गाथाओ (३१ से ३३ तक) मे केशीकुमार की पूर्वोक्त द्वितीय पृच्छा का समाधान किया है। इस समाधान के मुख्य दृष्टि-बिन्दु ये हैं—(१) दोनो महापुरुषो ने अपने केवलज्ञान द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—पात्रानुसार देख-जानकर ही धर्म के साधन के रूप मे अपने-अपने शासन के साधुओ का वेष निर्धारित किया है। (२) लोक मे साधु की प्रतीति एव पहचान के लिए, तथा सयम यात्रा के निर्वाह एव स्वय के साधुत्व के भान के लिए ही वेष का प्रयोजन है। (३) निश्चय मे तो दोनो महापुरुषो की यही प्रतिज्ञा है कि रत्नत्रय ही निश्चय से मोक्ष के साधन हैं।

निष्कर्ष यह है कि बाह्यवेष मोक्षसाधना मे सर्वथा मुख्य साधन नही हैं, निश्चय मे तो दोनो महापुरुषो की समान प्रतिज्ञा (सम्मति) है कि रत्नत्रय ही मोक्ष का मुख्य साधन है। वेष व्यवहारोपयोगी है, असयममार्ग का निवर्तक होने से यह कथचित् परम्परा से गौण साधन हो सकता है। इसलिए दोनो महर्षियो की वेष-विषयक सम्मति व्यावहारिक दृष्टि से समयानुसार है। अत इसमे उनकी सर्वज्ञता मे अविश्वास या सशय को कोई अवकाश नही है।

विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छिय : फलितार्थ—तीर्थंकरो ने विज्ञान (विशिष्टज्ञान—केवलज्ञान) से सम्यक्—जो जिस समय के साधक के लिए उचित था, उसे तथैव जानकर यह धर्मसाधन—धर्मोपकरण, ऋजुप्राज्ञ के योग्य है, यह ऋजुजड या वक्रजड के योग्य है इस प्रकार अनुमति दी है, अभीष्ट बताया है, क्योकि महावीर के शिष्यो के लिए रक्तवर्णादि वस्त्रो

का विधान करते तो वे वक्रजड होने से वस्त्रो को रगने आदि की प्रवृत्ति दुर्निवार्य बन जाती, जबकि पार्श्वनाथ भगवान द्वारा अपने शिष्यो को पच-रगी एव बहुमूल्य वस्त्र परिधान का विधान किया गया तो उनके साधु ऋजुप्राज्ञ होने से केवल शरीर को ढकने, सयमभाग्रा निर्वाहार्थ, तथा लोक-प्रतीति के लिए वस्त्र का प्रयोजन जानते थे ।

गहणत्थ विशेषार्थ—मैं [साधु वेषधारी हूँ, इस प्रकार के ग्रहण—ज्ञान के लिए ।

केशी द्वारा गौतम से तृतीय पृच्छा, गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ॥३४॥

अणेगाण सहस्साण, मज्झे चिट्ठसि गोयमा !
ते य ते अहिगच्छन्ति, कह ते निज्जिया तुमे ॥३५॥

एगे जिए जिया पच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामहं ॥३६॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥३४॥
अनेकाना सहस्राणा, मध्ये तिष्ठसि गौतम !
ते च त्वामभिगच्छन्ति, कथ ते निर्जितास्त्वया ॥३५॥
एकस्मिन् जिते, जिता पच, पचसु,जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥३६॥

पद्यानुवाद—गौतम ! है बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय ।
है एक दूसरा भी सशय, उसका तुम उत्तर दो निर्भय ॥३४॥
गौतम ! इन शत्रु-सहस्रो के, तुम मध्यभाग मे रहते हो ।
वे तुम्हे जीतने आते हैं, कैसे तुम उनको जीते हो ॥३५॥
एक विजय से पाच विजित, पच-विजय से दश जीते ।
उन दश पर जय पा लेने से, सारे अरिदल हमने जीते ॥३६॥

अन्वयार्थ—गोयम—हे गौतम !, ते पन्ना—तुम्हारी प्रज्ञा, साहु—श्रेष्ठ है (तुमने), मे—मेरा, इमो ससओ—यह सशय भी, छिन्नो—दूर कर दिया है, (अब) मज्झ—मेरा, अन्नोवि—एक अन्य भी, ससओ—सशय=प्रश्न है, गोयमा—गौतम! मे—मुझे, त—उसके विषय मे, कहसु—कुछ कहे ॥३४॥

गोयमा—हे गौतम ! अणेगाण सहस्साण—अनेक सहस्र शत्रुओ के, मज्झे—मध्य मे, चिट्ठसि—तुम खडे हो, य—और, ते—वे शत्रु, ते—तुम्हे (जीतने के लिए), अहिगच्छन्ति—तुम्हारे सम्मुख आ रहे है, तुमे —तुमने, ते—उन शत्रुओ को, कह—किस प्रकार, निज्जिया—जीत लिया है ? ॥३५॥

एगे जिए—एक के जीतने पर, पच—पाच, जिया—जीत लिये गए (और) पच जिए—पाच को जीत लेने से, दस जिया—दस जीत लिए गए, दसहा उ जिणित्ताण—उन दशविध शत्रुओ को जीतकर तो, सव्वसत्तू जिणामह—मैंने सब शत्रुओ को जीत लिया ॥३६॥

विवेचन—शत्रु सहस्रसख्यक कैसे—यद्यपि एक आत्मा, पाच इन्द्रियाँ, चार कषाय और नौ नोकषाय मिलकर दस, इस प्रकार शत्रुओ की कुल सख्या १६ होती है। यदि कषाय के चार मुख्यभेद और प्रत्येक के फिर चार-चार उपभेद मिलाकर गिना जाय तो भी १६ भेद होते है। पाच इन्द्रियो के २३ विषय होते हैं, उन्हे मिलाने से शत्रुओ की कुल सख्या १६+१६+२३=५५ ही होती है, हजार नही होती, फिर यहाँ शत्रुओ की सख्या अनेक सहस्र कैसे कही गई है ? वृत्तिकार इसका समाधान करते है कि इनकी दुर्जेयता के कारण हजारो की सख्या कही गई है।

तात्पर्य—३५वी गाथा मे उक्त तृतीय पृच्छा का तात्पर्य यह है कि आप अकेले है, और शत्रु अनेक है, जिनसे आपको प्रतिक्षण लोहा लेना पडता है। अत अनेको पर एक के द्वारा विजय पाना सचमुच आश्चर्यजनक है। अत हम जानना चाहते हैं कि आपने उन्हे अकेले कैसे परास्त किया ?

अहिगच्छति दो रूप : दो अर्थ—(१) अभिगच्छन्ति—आपके सम्मुख आक्रमण करने आते हैं, अथवा (२) अधिगच्छन्ति—आप पर सहसा धावा बोल देते हैं।

केशी द्वारा चतुर्थ पृच्छा : गौतम द्वारा समाधान

मूल—सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥३७॥
एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥३८॥

छाया—शत्रवश्चेति के उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥३७॥

एक आत्माऽजित शत्रु, कषाया इन्द्रियाणि च ।
तान् जित्वा यथान्याय, विहराम्यह मुने !॥३८॥

पद्यानुवाद—हैं शत्रुगण कौन कहे जाते ?, केशी ने पूछा गौतम से ।
केशी की सुन कर बात, कहे-गौतम हर्षित होकर मन से॥३७॥

अविजित आत्मा है एक शत्रु, इन्द्रिय-पचक क्रोधादि चार ।
उचितरीति से उन पर जयकर, करता हूँ मुनि ! मैं सचार ॥३८॥

अन्वयार्थ—(गौतम!) सत्तू य इइ—वे शत्रु यहा, के—कौन, वुत्ते—कहे गए है ? (इस प्रकार), केसी—केशीकुमार श्रमण ने, गोयम—गौतम स्वामी से अब्बवी—कहा=पूछा, तओ—तब, केसिं बुवत तु—केशी कुमार श्रमण के इस प्रकार पूछने पर, गोयमो—गौतम ने इण—यह, अब्बवी—कहा ॥३७॥

मुणी—हे मुने !, अजिए—नही जीता हुआ, एगप्पा—एक अपना आत्मा ही, सत्तू—शत्रु है, कसाया—क्रोध आदि चार कषाय, य—और, इन्दियाणि—पाच इन्द्रिया शत्रु हैं, ते—उन्हे, जिणित्तु—जीतकर, जहानाय—न्याय (नीति) के अनुसार, अह—मैं, विहरामि—विचरण करता हूँ ॥३८॥

भावार्थ—केशीश्रमण ने गौतम से पूछा—'शत्रु कौन-से कहे गए हैं ?'

(गौतम) केशी के यह पूछने पर गौतम इस प्रकार बोले ॥३७॥

(गौतम—) हे महामुने ! शत्रुओ मे सर्वप्रथम शत्रु नही जीता हुआ अपना आत्मा है फिर चार कषाय और पाच इन्द्रियाँ शत्रु है। उन्हे न्यायोचित उपाय से वश मे (जीत) कर मैं विचरण करता हूँ ॥३८॥

विवेचन—शत्रु कौन ? कैसे जीते गए ? स्पष्टीकरण—पूर्वगाथा (३६वी) मे गुप्तोपमालकार से वर्णन किया था कि मैं एक, पाच और दश को जीतकर सभी शत्रुओ को जीत चुका हूँ। इस वर्णन से वहाँ बैठी हुई जनता इस रहस्य का कुछ भी आशय न समझ सकी कि शत्रु कौन हैं ? वे किस प्रकार जीते गए ? अत केशीकुमार के द्वारा चतुर्थ पृच्छा मे इस बात के स्पष्टीकरण के लिए पुन प्रश्न किया गया, जिसका उत्तर श्री गौतमस्वामी ने इस प्रकार दिया—आत्मा और मन का अभेदोपचार से एकीभाव होने पर मन की प्रवृत्ति होती है। इसलिए यहा अर्थ इस प्रकार है—वशीभूत नही किया (न जीता हुआ) एक आत्मा अर्थात्—मन दुर्जय शत्रु है, क्योकि यही समस्त अनर्थों की खान है, अनेक दु खो का कारण है। अतएव जब आत्मा या मन वशीभूत नही हुआ, तब क्रोध

मान, माया और लोभ ये चार और कषाय शत्रु उपस्थित हो जाते हैं। जब ये पूर्वोक्त पाच शत्रु बन गए, तब पाचो इन्द्रियाँ भी शत्रुरूप बन-जाती हैं। जब १+४=५+५=१० शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं, तब नो-कषाय आदि उत्तरोत्तर सहस्रो शत्रुरूप मे उपस्थित हो जाते है। अतएव गौतम स्वामी कहते हैं—इस प्रकार इन दुर्जय शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने हेतु सर्वप्रथम न्यायपूर्वक—वीतरागोक्त वचनानुसार हमने अपने आत्मा—मन को अपने वश मे किया। इस एक मात्र आत्मा—मन को जीतने पर उक्त चारो कषाय भी वश मे हो गए। जब चारो कषायो को जीत लिया, तब पाचो इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो गई। इनके वश मे होने से अन्य सब नोकषाय आदि शत्रुओ को मैने परास्त कर दिया। इस प्रकार समस्त शत्रुओ पर न्यायपूर्वक विजय प्राप्त करके मै उनके बीच मे अप्रतिबद्ध एव निर्भय होकर विचरण करता हूँ। 'मनोविजेता, जगतो विजेता', यह उक्ति भी इसी तथ्य का उद्घाटन कर रही है।

केशी की पचम पृच्छा : गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ मज्झं, त मे कहसु गोयमा ! ॥३९॥
दीसति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कह तं विहरसी? मुणी ! ॥४०॥
ते पासे सव्वसो छित्ता, निहतूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अह मुणी ॥४१॥

छाया—साधु (साध्वी) गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय, गौतम ! ॥३९॥
दृश्यन्ते बहवो लोके, पाशबद्धा शरीरिण।
मुक्तपाशो लघुभूत, कथ त्व विहरसि ? मुने ! ॥४०॥
तान् पाशान् सर्वशश्छित्वा, निहत्योपायत।
मुक्तपाशो लघुभूत, विहराम्यह मुने ! ॥४१॥

पद्यानुवाद—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी सशय, उसको तुम दूर करो निर्भय ॥३९॥
तन धारी जग मे बहुतेरे, अतिपाशबद्ध जन दिखते हैं।
यहा पाश-मुक्त हल्के होकर, मुनि ! कैसे आप विचरते हैं ?।४०।
सर्वथा काट उन पाशो को, और नष्ट साधनो से करके।
मैं पाशमुक्त विचरू जग मे, हे श्रमण ! पाप हल्का करके।४१।

समूलघात करके मुक्तपाश—बन्धनमुक्त और वायु की भांति लघुभूत हो सर्वत्र अप्रतिबद्ध होकर विचरता हूँ।

केशी की छठी पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—पासा य इइ के वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४२॥
रागद्दोसाओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिंदित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥४३॥

छाया—पाशाश्चेति के उक्ता केशी गौतममब्रवीत्।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥४२॥
राग-द्वेषादयस्तीव्राः स्नेहपाशा भयङ्कराः।
तांश्छित्त्वा यथान्यायं, विहरामि यथाक्रमम् ॥४३॥

पद्यानुवाद—है पाश कौन-से जग मे कहलाते, पूछा केशी ने गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम उत्तर देते उनको ॥४२॥
राग-द्वेषादिक तीव्रपाश, स्नेहपाश अतीव भयकर हैं।
मैं काट उन्हे सत्साधन से, विचरू यह नीति सुखकर है ॥४३॥

अन्वयार्थ—(हे गौतम !) पासा—वे पाश-बन्धन, इइ—यहाँ, के—कौन-से, वुत्ता—कहे गए हैं ?, केसी—केशीकुमार श्रमण ने, गोयमं—गौतम से, (इस प्रकार) अब्बवी—पूछा। केसिं—केशी के, एवं—इस प्रकार, बुवंतं तु—पूछने पर गोयमो—गौतम ने, इणं—यह, अब्बवी—कहा ॥४२॥

तिव्वा—तीव्र, रागद्दोसादओ—राग-द्वेष आदि, नेहपासा भयंकरा—स्नेह-बन्धन, भयकर है। ते—उन्हें, जहानायं—न्यायनीति के अनुसार, छिंदित्तु—काट कर, (मैं) जहक्कमं—यथाक्रम से, विहरामि—विचरण करता हूँ ॥४३॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण ने गौतम से पूछा—गौतम मुने ! वे पाश कौन-से कहे गए हैं ? केशीकुमार के ऐसा कहने पर गौतमस्वामी ने इस प्रकार कहा—॥४२॥

तीव्र राग-द्वेष आदि तथा स्नेहरूप पाश बडे भयकर हैं। इन्हे यथा-न्याय (साधुमर्यादा एव साधुजनोचित तप-त्याग द्वारा)—युक्तिपूर्वक छिन्न-भिन्न करके मैं यथाक्रम (=ज्ञान-क्रिया के क्रम) से विचरण करता हूँ ॥४३॥

विवेचन—भयकर पाश कौन-से और क्यों ? ४३वी गाथा मे गौतमस्वामी द्वारा भयकर भावपाशो का स्पष्टीकरण किया गया है—प्रगाढ राग-द्वेष, मोह आदि, और तीव्र स्नेह, ये भयकर पाश हैं। जैसे पाश मे बँधे हुए पशु

आदि जीव परवश होते है, दु ख पाते है, उसी प्रकार रागद्वेषादि भयकर भावपाशो के बन्धन मे पडे हुए प्राणी भी पराधीन होकर अत्यन्त दु ख पाते है। तात्पर्य यह है कि मोहरूप अथवा स्नेहरूप पाश से बंधे हुए ससारी जीव अति भयकर कष्टो को भोगते है।

(पाशमुक्त गौतम)—मैंने उन भयकर स्नेहपाशो (मोहपाशो) को यथान्याय अर्थात्—वीतरागोक्त उपदेश से साधुमर्यादा एव साधुजनोचित त्याग-तप रूपी उपायो द्वारा—काट दिया है। अतएव मैं क्रमानुसार=साधुओ की आचार-पद्धति के अनुसार विचरण करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष-मोहादि तीव्र स्नेहपाशो से बधे हुए ये ससारी जीव भयकर कष्टो का सामना करते हैं। जो आत्मा इन पाशो को तोडकर इनसे मुक्त और लघुभूत हो गए हैं, वे सुखपूर्वक ससार मे विचरण करते है।

केशी की सातवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नोवि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥४४॥
अंतोहियय-सभूया, लया चिट्ठइ गोयमा !
फलेइ विस-भक्खीणि, सा उ उद्धरिया कह ! ॥४५॥
तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलिय।
विहरामि जहा-नाय, मुक्को मि विसभक्खणा[1] ॥४६॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥४४॥
अन्तर्हृदय-सम्भूता, लता तिष्ठति गौतम !
फलति विष-भक्ष्याणि, सा तु-उद्धृता कथम् ? ॥४५॥
ता लता सर्वशश्छित्त्वा, उद्धृत्य समूलिकाम्।
विहरामि यथान्याय, मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात् ॥४६॥

पद्य—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है एक दूसरा भी सशय, उसको तुम कह दो हो निर्भय ॥४४॥
अन्तर्मन मे उत्पन्न हुई, गौतम ! यह लता विष वाली है।
इसमे विषफल प्रतिपल बढते हैं, कैसे उन्मूलित कर डाली है ? ॥४५॥

---

१ पाठान्तर—विसभक्खण।

वह लता सर्वथा काट उसे, उन्मूलित विधिवत् कर भू पर ।
हूँ मुक्त हुआ विष-भक्षण से, विचरूँ सुनीति से वसुधा पर ॥४६॥

अन्वयार्थ—गोयम—गौतम ! ते पन्ना साहु—तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। मे इमो संसओ छिन्नो—तुमने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मज्झ अन्नो वि संसओ—मेरे मन मे एक अन्य संशय भी है। गोयमा—हे गौतम ! तं—उस विषय मे, कहसु—मुझे कुछ कहो ॥४४॥

गोयमा—हे गौतम !, अंतोहियय संभूया—हृदय के भीतर उत्पन्न, लया—एक लता, चिट्ठइ—रहती है। विसभक्खीणि फलेई—(वह) विष के तुल्य भक्ष्य, फल देती है। सा उ—उस विषलता को, (तुमने), कह—कैसे, उद्धरिया—उखाड़ी है ?॥४५॥

तं लयं—उस लता को, सव्वसो—सब तरह से, छित्ता—काट कर (एवं) समूलियं उद्धरित्ता—जड सहित उखाड कर, जहानायं—न्यायनीति के अनुसार, विहरामि—विचरण करता हूँ। (अत मैं) विसभक्खणा—विषफल खाने से, मुक्को मि—मुक्त हूँ ॥४६॥

भावार्थ—गौतम ! तुम्हारी बुद्धि श्रेष्ठ है। तुमने मेरा यह संशय छिन्न कर दिया है। परन्तु मेरा एक और भी प्रश्न है, जिसके विषय मे मुझे कहो ॥४४॥

(केशीकुमार) हे गौतम ! हृदय के भीतर एक लता उत्पन्न होती है, जो खाने मे घातक विषतुल्य फल देती है। आपने उस लता का उन्मूलन कैसे किया ? ॥४५॥

मैंने उस लता को सर्वथा काटकर एवं मूल सहित उखाड फेंकी है। अत मैं विषफलो के भक्षण से बचा रहकर यथान्याय विचरण करता हूँ ॥४६॥

विवेचन—सातवीं पृच्छा का तात्पर्य—प्रत्येक संसारी जीव के अन्तर्हृदय मे विषैले फलो को उत्पन्न करने वाली एक लता रहती है, जिसे हृदय से पृथक करना बहुत कठिन है। परन्तु आपने (गौतमस्वामी ने) उसे जड से उखाड कर कैसे और किस उपाय से फेंक दिया ? यह केशीश्रमण की सातवी पृच्छा का तात्पर्य है।

विसभक्खणा मुक्कोमि : आशय—विषरूप फलो के भक्षण से मुक्त—बचा हुआ हूँ। अर्थात्—मैंने उसे हृदय से निकाल दिया है, इसलिए मैं सुखपूर्वक विचरण कर रहा हूँ। यही इस विषाक्त लता के विषफल से मुक्त होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

भावार्थ—गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह सशय दूर कर दिया। किन्तु मेरा एक सशय और भी है, जिसके विषय मे आप मुझे बतायें ॥४९॥

(केशीकुमार) गौतम ! ये प्रज्वलित प्रचण्ड अग्निया है, जो शरीर मे रहकर जलाती रहती हैं। गौतम ! आपने इन्हे कैसे बुझा दिया ? ॥५०॥

(गौतम) महामेघ से उत्पन्न (जल स्रोत) से उत्तम जल ग्रहण करके मैं उन अग्नियो को सतत सीचता रहता हूँ। जिनसे सीची हुई वे अग्निया मुझे नही जलाती ॥५१॥

विवेचन—घोर अग्निया प्रज्वलन से रक्षा—प्राणि मात्र के शरीर मे जो भयानक अग्निया प्रज्वलित हो रही है, वे आत्म-गुणो को भस्मसात् कर देती हैं। गौतम स्वामी ने बताया कि महामेघ के स्रोत से उत्तम पवित्र जल लेकर मैं निरन्तर उन अग्नियो पर सिंचन करता रहता हूँ। अत सिंचित की हुई वे अग्निया मुझे अर्थात्—मेरे आत्मगुणो को भस्म नही कर सकती। अर्थात् आत्मा मे विद्यमान अग्नि ज्वालाओ को जलाभिषेक से शान्त कर देता हूँ जिससे वे मुझे जला नही पाती।

सरीरत्था तात्पर्य—शरीरस्थ शब्द का उपचार से अर्थ करना चाहिए—आत्मा मे स्थित, क्योकि अग्नियो की स्थिति आत्मा मे है। आत्मा का शरीर के साथ क्षीर-नीरवत् अभेद सम्बन्ध बना हुआ है तथा तैजस-कार्मण शरीर तो आत्मा के साथ मोक्ष न होने तक रहते हैं, इससे पूर्व वे आत्मा से कभी पृथक नही होते।

वारि जलुत्तम . विशेषार्थ—वारि अर्थात् पवित्र जल, और जलुत्तम अर्थात्—उत्तम जल को।

केशी की दसवीं पृच्छा : गौतम द्वारा समाधान—

मूल—अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५२॥
कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय-सील-तवो जलं।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहंति मे ॥५३॥

छाया—अग्नयश्चेति के उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥५२॥
कषाया अग्नय उक्ता, श्रुत-शील-तपो जलम्।
श्रुतधाराभिहता सन्त, भिन्ना खलु न दहन्ति माम् ॥५३॥

पद्यानुवाद—है अनल कौन-सा बतलाया ? केशी ने पूछा गौतम से ।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम ये वचन कहे उनसे ।।५२।।

है अनल कषायें बतलाईं, श्रु त-शील-तपस्या वारि कही ।
श्रु त-शील-धार से अभिहत हो,
शीतल बन वह ना जला रही ।।५३।।

अन्वयार्थ—अग्गी य—अग्नियाँ, के—कौन-सी, वुत्ते—कही गई हैं, इइ—इस प्रकार, केसी—केशीकुमार ने, गोयम—गौतम से, अब्बवी—कहा, तओ—तब, केसिं—केशीकुमार के ऐसा, बुवंत—कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इणं—यह, अब्बवी—कहा—।।५२।।

कसाया—कषायो को, अग्गिणो—अग्नियाँ, वुत्ता—कहा गया है, सुयसीलतवो—श्रु त, शील और तप, जलं—जल हैं। सुयधाराभिहया—श्रु तशील-तप रूप जलधारा से ताडित (अभिहत), सता—शान्त (और) भिन्ना—भिन्न-नष्ट की हुई वे अग्नियाँ, मे—मुझे, न डहंति—नही जलाती ।।५३।।

केशी श्रमण ने गौतम से इस प्रकार पूछा—गौतम ! अग्निया कौन सी कही गई हैं ? केशीकुमार के ऐसा कहने पर गौतम स्वामी ने यह कहा—।।५२।।

मुनिवर ! कषायो (क्रोध, मान, माया और लोभ) को अग्नि कहा गया है और श्रुत, शील एव तप को जल । श्रु त की शीतल जलधारा के वेगपूर्ण प्रवाह के प्रपात से शान्त (बुझी हुई) एव नष्ट हुई अथवा गीली हुई, अग्निया मुझे किञ्चित्मात्र भी नही जला पाती ।।५३।।

विवेचन—कषायाग्नि से हानि, और सुरक्षा कैसे ?—गौतम स्वामी का अभिप्राय यह है कि कषायचतुष्टयरूप अग्नियाँ आत्मा के शान्ति, सन्तोष, नम्रता, विनय, प्रीति, मित्रता, आदि गुणो को निरन्तर जलाती हैं, शोषण करती है ।

तीर्थंकरदेव महामेघ के समान हैं। जैसे मेघ से शुद्ध जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के पावन मुखारविन्द से श्रुतरूप उत्तम जल प्रकट होता है, जो आगम के नाम से प्रसिद्ध है। उसमे वर्णित श्रुतज्ञान, शील—पचमहाव्रत रूप, एव द्वादशविधतप रूप जल है। जब श्रु तरूप जलधारा से उन अग्नियो को बुझाया जाता है, तब वे गीली एव शान्त हो बुझ जाती हैं। शान्त एव नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे जला नही पाती ।

जाकर नही पटक पाता। निष्कर्ष यह है कि मैं प्रतिक्षण सावधान रहकर उस पर नियन्त्रण रखता हूँ,इसलिए मैं सुखपूर्वक आरूढ होकर अपने गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर होता जा रहा हूँ।

न हीरसी भावार्थ—उन्मार्ग पर नही भगा ले जाता।

साहसिओ भावार्थ—सहसा विचार किए बिना ही जो प्रवृत्ति करता है। अथवा बिना जो सोचे-विचारे ही ऊजड मार्ग पर ले जाता है।

समाहिओ . विशेषार्थ—समाहित अर्थात् बद्ध—बधा हुआ=वश मे किया हुआ।

केशी की बारहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५७॥
मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्म-सिक्खाइ कथग ॥५८॥

छाया—अश्वश्चेति क उक्त ? केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥५७॥
मन साहसिको भीमो, दुष्टाश्व परिधावति।
त सम्यक् तु निगृण्हामि, धर्मशिक्षया कन्थकम् ॥५८॥

पद्यानुवाद—'है अश्व कौन तुमने माना ?' केशी ने पूछा गौतम से।
केशी के ऐसा कहने पर गौतम यह वचन कहे उनसे ॥५७॥
यह दुष्ट अश्व जो दौड रहा, है भीम, साहसी मन मेरा।
सम्यक् शिक्षा से निग्रह पा, वशवर्ती अश्व बना मेरा ॥५८॥

अन्वयार्थ—आसे य—अश्व, के वुत्ते—किसे कहा गया है ?, केसी—केशी कुमार श्रमण ने, गोयममब्बवी—गौतम से पूछा, तओ—इस पर, केसिं बुवत तु—केशी के इस प्रकार कहने पर, गोयमो—गौतम ने, इण—यह, अब्बवी—कहा ।५७।

(हे मुने !) मणो—मन ही (वह), साहसिओ—साहसिक (और), भीमो—भयकर, दुट्ठस्सो—दुष्ट घोडा है, (जो), परिधावई—चारो ओर भाग-दौड करता है, (मैं) त—उस घोडे को, धम्मसिक्खाए—धर्मशिक्षा से, सम्म—अच्छी तरह से, निगिण्हामि—वश मे करता हूँ, (अत) कन्थग —वह घोडा उत्तम जाति का अश्व बन गया है।

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण ने गौतम से पूछा—आप अश्व किसे कहते हैं ?, केशी के इस प्रकार कहने पर, गौतम ने कहा—॥५७॥

हे मुने ! मन ही साहसी और भयंकर दुष्ट अश्व है। वह चारों ओर दौड़ता है। मैं कन्थक—जातिमान अश्व की तरह धर्मशिक्षा के द्वारा उसका भलीभांति निग्रह करता हूं, अर्थात्—उसे कुमार्ग में जाने से रोक रखता हूं ॥५८॥

विवेचन—मनोनिग्रह का सर्वोत्तम उपाय—मन अत्यन्त साहसी और रौद्र दुष्ट अश्व है, अगर इस पर नियन्त्रण और सावधानी न रखी जाए तो यह सवार को झटपट उन्मार्ग में ले जाता है। अतः जिस प्रकार विशिष्ट जाति के अश्व को अश्ववाहक सवार सुधार लेता है, उसी प्रकार मैंने भी मनरूपी अश्व को धर्मशिक्षा के द्वारा निगृहीत कर लिया है। इस कारण मुझे यह उत्पथ में—दुर्गति में नहीं ले जा सकता। यह सर्वोत्तम उपाय श्री गौतमस्वामी द्वारा सुझाया गया है।

केशी की तेरहवीं पृच्छा : गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥५९॥
कुप्पहा बहवे लोए, जेहिं नासंति जंतवो[1]।
अद्धाणे कहं वट्टन्तो, तं न नाससि गोयमा ! ॥६०॥
जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्ग-पट्ठिया।
ते सव्वे वेइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी ! ॥६१॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय, गौतम ! ॥५९॥
कुपथा बहवो लोके, यैर्नश्यन्ति जन्तवः।
अध्वनि कथं वर्तमानः, त्वं न नश्यसि गौतम ! ॥६०॥
ये च मार्गेण गच्छन्ति, ये चोन्मार्ग-प्रस्थिताः।
ते सर्वे विदिता मया, तस्मान्न नश्याम्यहं मुने ॥६१॥

पद्य—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय।
है एक दूसरा भी संशय, उसको तुम कहो मुझे निर्भय ॥५९॥
है कुपथ बहुत इस जगती में, जिनसे कई जीव उलझ पड़ते।
हे गौतम ! कैसे निज पथ पर,तुम अविचल मन धर कर चलते ॥६०॥
जो मार्ग पकड़ कर चलता है, अथवा जो उत्पथ-गमन करे।
हे श्रमण ! ज्ञात हैं सब मुझको, अतएव न चंचल चित्त धरे ॥६१॥

---

1. जन्तुणो—पाठान्तर।

अन्वयार्थ—गोयम—हे गौतम, ते पन्ना साहु—तुम्हारी प्रज्ञा अच्छी है, मे—मेरा, इमो ससओ छिन्नो—यह सशय मिट गया है (किन्तु), मज्झ—मेरा, अन्नो वि ससओ—और भी सशय है, गोयमा !—हे गौतम!, त—उसके विषय मे भी, मे—मुझे, कहसु—कुछ कहो ॥५९॥

लोए—इस लोक मे, बहवे कुप्पहा—बहुत से कुमार्ग है, जेहिं—जिनके सम्पर्क से, जतवो—जीव, नासति—(सन्मार्ग से) भ्रष्ट हो जाते है=भटक जाते हैं, किन्तु गोयमा—हे गौतम, (तुम) त अद्धाण वट्टन्तो—उस मार्ग पर चलते हुए, कह न नाससि—आप क्यो नही भटकते हो ? ॥६०॥

जे य—जो, मग्गेण—सन्मार्ग पर, गच्छन्ति—चलते हैं, य—और, जे—जो, उम्मग्गपट्ठिया—उन्मार्ग पर प्रस्थित (चले) है, ते सव्वे—वे सब, मज्झ—मुझे, वेइया—भली भाति ज्ञात है, तो—इस कारण, मुणी—हे मुने !, न नस्सामहं—मैं सन्मार्ग से भटकता नही हूं ॥६१॥

भावार्थ—गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह सशय भी मिटा दिया है । किन्तु मेरा एक और भी सशय है, उसके निवारणार्थ भी हे गौतम ! आप कुछ कहे ॥५९॥

(केशीकुमार श्रमण—) लोक मे बहुत-से ऐसे कुमार्ग हैं, जिन पर चलते हुए जीव दिग्भ्रान्त होकर सत्पथ से च्युत हो जाते हैं, किन्तु हे गौतम ! मार्ग मे चलते हुए आप सत्पथ से भ्रष्ट क्यो नही होते ? ॥६०॥

(गौतमस्वामी—) हे मुने ! जो सन्मार्ग पर चलते है, तथा जो उन्मार्ग पर चल पडे है, वे सब मुझे ज्ञात है । हे मुनि ! इसीलिए तो मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट नही होता ॥६१॥

विवेचन—केशीकुमार श्रमण की तेरहवीं पृच्छा का तात्पर्य—ससार मे बहुत-से ऐसे कुपथ हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्गच्युत हो जाते हैं, परन्तु एक आप है कि सन्मार्ग पर प्रवृत्त हो रहे हैं, उससे कभी भ्रष्ट नही होते, इसका क्या कारण है ? यह हम जानना चाहते हैं । अर्थात्—जिस प्रकार अन्य जीव सन्मार्गभ्रष्ट होकर नाना दु खो का अनुभव करते है, वैसे आप भी सन्मार्गच्युत होकर दु ख क्यो नही पाते ? यही ६०वी गाथा का तात्पर्य है ।

मग्गेण गच्छति आशय—जो भव्यजीव मार्ग से—अर्थात् वीतरागोपदेश के अनुसार चलते हैं ।

जे उम्मग्गपट्ठिया आशय—और जिन अभव्य जीवो ने उन्मार्ग की

ओर प्रयाण कर दिया है, अर्थात्—भगवान के उपदेशो से विपरीत चलते हैं।

ते सव्वे वेइया मज्झं · आशय—वे सब मुझे विदित हो चुके हैं, अर्थात् भव्य-अभव्य के सन्मार्ग और असन्मार्ग की जानकारी मुझे हो चुकी है।

तो न नस्सामहं—आशय—इस कारण से मैं सन्मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता, अर्थात्—सुपथ-कुपथ के परिज्ञान के कारण मैं सुपथ से नष्ट-भ्रष्ट नही होता।

केशी की चौदहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६२॥
कुप्पवयण - पासंडी, सव्वे उम्मग्ग-पट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥६३॥

छाया—मार्गश्चेति क उक्त, केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६२॥
कुप्रवचन-पाषण्डिन, सर्वे उन्मार्गं प्रस्थिता।
सन्मार्गस्तु जिनाख्यात, एष मार्गो हि उत्तम ॥६३॥

पद्या०—है किसको कहते मार्ग यहाँ, केशी ने पूछा गौतम को।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम उत्तर देते उनको ॥६२॥
जो व्रती बने हैं कुवचन के, वे सभी कुपथगामी जग मे।
जिन-कथित मार्ग सन्मार्ग कहा, है सर्वोत्तम यह शिवपथ मे ॥६३॥

अन्वयार्थ—केसी—केशी कुमार श्रमण ने, गोयमं—गौतम से, अब्बवी—पूछा, मग्गे—सन्मार्ग, य—और कुमार्ग, के—किसे, वुत्ते—कहते है ?, केसिमेवं बुवंतं—केशीकुमार श्रमण के इस प्रकार पूछने पर, गोयमो—गौतम ने, इणमब्बवी—यह कहा ॥६२॥

सव्वे कुप्पवयण पासंडी—कुप्रवचन को मानने वाले सभी पाखण्डी व्रत-धारी लोग, उम्मग्गपट्ठिया—उन्मार्ग की ओर प्रयाण करने वाले है, सम्मग्गं तु—सन्मार्ग तो, जिणक्खायं—जिनेन्द्र कथित है, और एस हि मग्गे—यही मार्ग, उत्तमे—उत्तम है ॥६३॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से पूछा—गौतम ! सुमार्ग और कुमार्ग कैसे है ? इस प्रकार केशी के कहने पर गौतम ने यह उत्तर दिया—॥६२॥

जो एकान्तवादी कुप्रवचनो के मानने वाली व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग-गामी कहे गए हैं। वीतराग जिनेन्द्र कथित अनेकान्त मार्ग ही उत्तम मार्ग है ॥६३॥

विवेचन—मग्गे य विशेषार्थ—सन्मार्ग और कुमार्ग। और इन दोनो मे जीव किस प्रकार प्रस्थान करते है ?

गौतम प्रदत्त उत्तर का तात्पर्य—जितने भी कुप्रवचन मतवादी अर्थात्-जिनेन्द्र प्रवचन पर श्रद्धा न रखने वाले एकान्तवादी व्रती लोग है, वे सब उन्मार्गगामी हैं, अर्थात्—उनका एकान्तवादी कथन उन्मार्ग है, सन्मार्ग तो राग-द्वेषादि दोषो से रहित यथार्थ वक्ता आप्तपुरुष—जिनेन्द्र देव द्वारा कथित है।

केशी की पन्द्रहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥६४॥

महाउदग-वेगेण बुज्झमाणाण[1] पाणिण।
सरण गइं पइट्ठ य, दीव क मन्नसी ? मुणी ! ॥६५॥

अत्थि एगो महादीवो, वारि-मज्झे महालओ।
महा-उदग-वेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥६६॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥६४॥
महा-उदक-वेगेन, उह्यमानाना प्राणिनाम्।
शरण गतिं प्रतिष्ठा च, द्वीप क मन्यसे ? मुने ! ॥६५॥
अस्त्येको महाद्वीप, वारिमध्ये महालय।
महोदक वेगस्य, गतिस्तत्र न विद्यते ॥६६॥

पद्यानुवाद—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है एक दूसरा भी सशय, उसको तुम दूर करो तज भय ॥६४॥
पानी के प्रबल प्रवाहो मे, बहते डूबे जग - जीवो का।
गति, शरण, प्रतिष्ठा और द्वीप, है कौन सहारा जीवन का॥६५॥
है एक द्वीप जल मध्य बडा, अति लम्बा-चौडा स्थान जहाँ।
अति वेगवती जलधारा की, होती न पहुँच है, कभी वहाँ ॥६६॥

---

१ पाठान्तर—वुब्भमाणाण (डूबते हुए)।

अन्वयार्थ—गोयम ! ते पन्ना साहु—गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, मे इमो संसओ छिन्नो—तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया, मज्झ अन्नोवि संसओ—अभी मेरे मन मे एक और संशय है, गोयमा ! त मे कहसु—गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कुछ कहो ॥६४॥

मुणी—हे मुने !, महाउदगवेगेण—महान जल प्रवाह के वेग से, वुज्झमाणाण—बहते-डूबते, पाणिण—प्राणियो के लिए, सरण गइ पइट्ठा य दीव—शरणरूप, गतिरूप, प्रतिष्ठारूप द्वीप, क मन्नसी—तुम किसे मानते हो ?॥६५॥

वारिमज्झे —जल के बीच, एगो—एक, महालओ—विशाल, महादीवो—महाद्वीप है, तत्थ—वहा, महाउदग वेगस्स गई—महान उदक (जल प्रवाह) के वेग की गति, न विज्जई—नही होती है ॥६६॥

भावार्थ—हे गौतम ! आपकी प्रतिभा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय भी मिटा दिया है। अभी मेरे मन मे एक और संशय भी है। कृपया उसके विषय मे भी कुछ कहिए ॥६४॥

(केशीकुमार श्रमण—) मुनिवर ! जल के प्रबल प्रवाह के वेग मे बहते या डूबते जीवो के लिए शरण, गति और प्रतिष्ठारूप द्वीप, तुम किसको मानते हो ? ॥६५॥

(गौतम स्वामी—) जल के सागर के मध्य मे एक अति विस्तीर्ण क्षेत्र वाला महाद्वीप है, वहाँ पर जल के बडे वेग की भी पहुँच (गति) नही होती। (वह बहुत सुरक्षित निरापद स्थान है।) ॥६६॥

विवेचन—सरण गइ पइट्ठा य दीव अर्थ—(१) द्वीप के विशेषण। द्वीप अर्थात् जल मध्यवर्ती स्थान कैसा है ? इसके लिए तीन विशेषण प्रयुक्त है—शरण=रक्षण मे समर्थ, गति =आधारभूमि, प्रतिष्ठा=स्थिर रहने का कारण।

केशी की सोलहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान

मूल—दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६७॥
जरा-मरण-वेगेण वुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तम ॥६८॥

छाया—द्वीपश्चेति क उक्त, केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६७॥
जरा-मरण-वेगेन, उह्यमानाना प्राणिनाम्।
धर्मो द्वीप प्रतिष्ठा च, गति शरणमुत्तमम् ॥६८॥

जो एकान्तवादी कुप्रवचनो के मानने वाली व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग-गामी कहे गए हैं। वीतराग जिनेन्द्र कथित अनेकान्त मार्ग ही उत्तम मार्ग है ॥६३॥

विवेचन—मग्गे य विशेषार्थ—सन्मार्ग और कुमार्ग। और इन दोनो मे जीव किस प्रकार प्रस्थान करते है?

गौतम प्रदत्त उत्तर का तात्पर्य—जितने भी कुप्रवचन मतवादी अर्थात्-जिनेन्द्र प्रवचन पर श्रद्धा न रखने वाले एकान्तवादी व्रती लोग हैं, वे सब उन्मार्गगामी हैं, अर्थात्—उनका एकान्तवादी कथन उन्मार्ग है, सन्मार्ग तो राग-द्वेषादि दोषो से रहित यथार्थ वक्ता आप्तपुरुष—जिनेन्द्र देव द्वारा कथित है।

केशी की पन्द्रहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा! ॥६४॥

महाउदग-वेगेण बुज्झमाणाण[1] पाणिण।
सरण गइं पइट्ठ य, दीव क मन्नसी? मुणी! ॥६५॥

अत्थि एगो महादीवो, वारि-मज्झे महालओ।
महा-उदग-वेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥६६॥

छाया—साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम! ॥६४॥
महा-उदक-वेगेन, उह्यमानाना प्राणिनाम्।
शरण गति प्रतिष्ठा च, द्वीप क मन्यसे? मुने! ॥६५॥
अस्त्येको महाद्वीप, वारिमध्ये महालय।
महोदक वेगस्य, गतिस्तत्र न विद्यते ॥६६॥

पद्यानुवाद—हे गौतम! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है एक दूसरा भी सशय, उसको तुम दूर करो तज भय ॥६४॥
पानी के प्रबल प्रवाहो मे, बहते डूबे जग-जीवो का।
गति, शरण, प्रतिष्ठा और द्वीप, है कौन सहारा जीवन का ॥६५॥
है एक द्वीप जल मध्य बडा, अति लम्बा-चौडा स्थान जहाँ।
अति वेगवती जलधारा की, होती न पहुँच है, कभी वहाँ ॥६६॥

---

१ पाठान्तर—बुडुमाणाण (डूबते हुए)।

अन्वयार्थ—गोयम ! हे पन्ना साहु—गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, मे इमो संसओ छिन्नो—तुमने मेरा यह संशय भी दूर कर दिया, मज्झ अन्नोवि संसओ—अभी मेरे मन मे एक और संशय है, गोयमा ! त मे कहसु—गौतम ! उसके विषय मे भी मुझे कुछ कहो ॥६४॥

मुणी—हे मुने !, महाउदगवेगेण—महान जल प्रवाह के वेग से, वुज्झमाणाण—बहते-डूबते, पाणिण—प्राणियो के लिए, सरण गइ पइट्ठा य दीव—शरणरूप, गतिरूप, प्रतिष्ठारूप द्वीप, क मन्नसी—तुम किसे मानते हो ?॥६५॥

वारिमज्झे—जल के बीच, एगो—एक, महालओ—विशाल, महादीवो—महाद्वीप है, तत्थ—वहा, महाउदग वेगस्स गई—महान उदक (जल प्रवाह) के वेग की गति, न विज्जई—नही होती है ॥६६॥

भावार्थ—हे गौतम ! आपकी प्रतिभा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय भी मिटा दिया है। अभी मेरे मन मे एक और संशय भी है। कृपया उसके विषय मे भी कुछ कहिए ॥६४॥

(केशीकुमार श्रमण—) मुनिवर ! जल के प्रबल प्रवाह के वेग मे बहते या डूबते जीवो के लिए शरण, गति और प्रतिष्ठारूप द्वीप, तुम किसको मानते हो ? ॥६५॥

(गौतम स्वामी—) जल के सागर के मध्य मे एक अति विस्तीर्ण क्षेत्र वाला महाद्वीप है, वहाँ पर जल के बडे वेग की भी पहुँच (गति) नही होती। (वह बहुत सुरक्षित निरापद स्थान है।) ॥६६॥

विवेचन—सरण गइ पइट्ठा य दीव : अर्थ—(१) द्वीप के विशेषण। द्वीप अर्थात् जल मध्यवर्ती स्थान कैसा है ? इसके लिए तीन विशेषण प्रयुक्त है—शरण=रक्षण मे समर्थ, गति =आधारभूमि, प्रतिष्ठा=स्थिर रहने का कारण।

केशी की सोलहवीं पृच्छा . गौतम द्वारा समाधान

मूल—दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६७॥
जरा-मरण-वेगेण वुज्झमाणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तम ॥६८॥

छाया—द्वीपश्चेति क उक्त, केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६७॥
जरा-मरण-वेगेन, उह्यमानाना प्राणिनाम्।
धर्मो द्वीप प्रतिष्ठा च, गति शरणमुत्तमम् ॥६८॥

पद्यानुवाद—है कौन द्वीप यहाँ कहलाता ? केशी ने पूछा गौतम से।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम ने वचन कहा उनसे ॥६७॥
जरा मरण के वेगो मे, पड मरने वाले जीवो का।
है धर्म प्रतिष्ठा, द्वीप, शरण, गति उत्तम जग के प्राणी का ॥६८॥

अन्वयार्थ—केसी—केशी कुमार श्रमण ने, गोयम—गौतम स्वामी से, इइ—इस प्रकार, अब्बवी—पूछा (वह), दीवे—द्वीप (महाद्वीप), के वुत्ते—कौन-सा कहा गया है ? केसिमेव बुवत तु—केशी के ऐसा पूछने पर, गोयमो इणमब्बवी—गौतम ने यह कहा ॥६७॥

जरा-मरण-वेगेण—जरा और मृत्यु के वेग (जल प्रवाह) से, बुज्झमाणाण—वहते-डूबते, पाणिण—प्राणियो के लिए, धम्मो—धर्म ही, दीवो—द्वीप है, क्योकि (वही), पइट्ठा—प्रतिष्ठा (निश्चल स्थान) है, गई—गति (विवेकीजनो के लिए आश्रयणीय) है, वही उत्तम ठाण—प्रधान शरणस्थान है ॥६८॥

भावार्थ—केशी श्रमण ने गौतम से पूछा—"गौतम ! वह महाद्वीप कौन-सा कहा गया है ?" केशी श्रमण के ऐसा कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—॥६७॥

(गौतम स्वामी—) केशीकुमार श्रमण ! ससार समुद्र मे जन्म-जरा-मरण के प्रवल वेग से वहते हुए जल प्रवाह मे डूबते प्राणियो के लिए श्रुत-चारित्रधर्मरूपी द्वीप है। वह धर्म ही प्रतिष्ठा, गति एव उत्तम शरण है ॥६८॥

विवेचन—धर्मरूपी महाद्वीप का माहात्म्य—ससार समुद्र मे जन्म-मृत्यु-जरा, व्याधि के प्रवल वेग से वहते—जलप्रवाह मे डूबते हुए प्राणियो के लिए धर्म ही एकमात्र महाद्वीप है, जो शाश्वत स्थान है, विवेकीजनो के लिए आश्रयणीय है, और उत्तम शरणरूप है।

केशी की सत्रहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नोवि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥६९॥
अण्णवसि महोहसि, नावा विपरिधावई।
जसि गोयममारूढो, कह पार गमिस्ससि ॥७०॥
जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥६९॥
अर्णवे महौघे, नौर्विपरिधावति ।
यस्यां गौतम ! आरूढ, कथं पारं गमिष्यसि ? ॥७०॥
या त्वास्राविणी नौ, न सा पारस्य गामिनी ।
या निरास्राविणी नौ, सा तु पारस्य गामिनी ॥७१॥

पद्यानुवाद—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा संशय ।
है एक दूसरा भी संशय, उसको तुम दूर करो तज भय ॥६९॥
है सागर महावेग वाला, जिसमे नौका इत उत जाती ।
उस पर तुम गौतम चढे हुए, वह कैसे तट पर पहुँचाती ॥७०॥
जो छिद्रयुक्त नौका होती, वह पार नही जा सकती है ।
पर जिसमें छिद्र नही होते, बस पार वही पा सकती है ॥७१॥

अन्वयार्थ—गोयम—गौतम ! ते पन्ना साहु—तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, इमो मे संसओ छिन्नो—मेरा यह संशय मिट गया है, (किन्तु), मज्झ अन्नोवि संसओ—मेरी एक और भी शंका है, गोयमा—हे गौतम !, तं मे कहसु—उसके उत्तर के रूप मे भी मुझे कुछ कहो ॥६९॥

महोहंसि—महाप्रवाह वाले, अण्णवंसि—समुद्र मे, नावा—नौका, विपरिधावई—विपरीत रूप मे चारो ओर भाग रही है, गोयम—हे गौतम ! जंसि—जिस पर, आरूढो—तुम चढे हुए हो, (फिर) कहं—कैसे, पारं—पार, गमिस्ससि—जा सकोगे ॥७०॥

जा उ—जो, अस्साविणी नावा—छिद्रयुक्त नौका है, सा—वह, पारस्स गामिणी न—पार जाने वाली नही है, जा—जो, नावा—नौका, निरस्साविणी—छिद्ररहित है, सा उ—वही, पारस्सगामिणी—पार ले जाने वाली है ॥७१॥

भावार्थ—हे गौतम ! आपकी प्रतिभा उत्तम है, उसने मेरे संशय को मिटा दिया है । हे गौतम ! मेरा एक और संशय है, उसका भी उत्तर प्रदान करें ॥६९॥

महाप्रवाह वाले इस समुद्र मे नौका इधर-उधर विपरीत दिशा मे भाग रही है । हे गौतम ! उस पर सवार होकर आप किस प्रकार पार जा सकेंगे ॥७०॥

जो नौका छिद्र वाली होती है, वह समुद्र के पार नही ले जा सकती, किन्तु जो नौका छिद्ररहित होती है, वही पार ले जा सकती है ॥७१॥

विवेचन—केशीश्रमण की शका और गौतम द्वारा समाधान का तात्पर्य—

केशी—"अगाध जलराशि और प्रवलतम वेग वाले समुद्र मे विपरीत दिशा मे इधर-उधर डगमगाती नौका पर आरूढ होकर आप कैसे पार हो सकेंगे ?" अर्थात्—"इस डोलती-डगमगाती हुई नाव से ससार समुद्र को कैसे पार कर सकेंगे ?"

गौतम—"समुद्र को पार करने के लिए मैंने जिस नौका का आश्रय लिया है, वह छिद्र वाली नही है, और विपरीतगामिनी भी नही है, इस-लिए उस प्रकार की सुदृढ नौका पर आरूढ होकर मैं अवश्य ही ससार समुद्र को पार कर मकूगा।"

केशी की अठारहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसि बुवत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७२॥
सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो ॥७३॥

छाया—नौश्चेति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७२॥
शरीरमाहुर्नौरिति, जीव उच्यते नाविक।
ससारोऽर्णव उक्त, य तरन्ति महर्षय. ॥७३॥

पद्या०—किसको कहते हैं नाव यहाँ ? केशी ने पूछा गौतम से।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यो वचन कहे उनसे ॥७२॥
हैं शरीर को नौका कहते, चालक कहलाता जीव कुशल।
ससार समुद्र है कहा सभी ने, तरते ऋषि जिनका आत्म सबल ॥७३॥

अन्वयार्थ—केसी—केशी श्रमण ने, गोयम—गौतम से, इइ अब्बवी—इस प्रकार पूछा, नावा—वह नौका, का वुत्ता—कौन-सी कही गई है ? केसिमेव बुवत—केशी के इस प्रकार पूछने पर, गोयमो इणमब्बवी—गौतम ने यह कहा ॥७२॥

सरीर—शरीर को, नावत्ति—नौका, आहु—कहा गया है, जीवो—जीव को नाविओ वुच्चइ—नाविक कहा जाता है (और), ससारो—ससार को, अण्णवो—समुद्र, वुत्तो—कहा गया है, ज—जिसे, महेसिणो—महर्षिगण, तरति—तैर जाते (पार कर जाते) हैं ॥७३॥

भावार्थ—केशीश्रमण ने गौतम से पूछा—यहाँ नौका कौन-सी कही गई है। केसी के ऐसा कहने पर गौतम इस प्रकार बोले ॥७२॥

तीर्थंकरो ने शरीर को नौका, जीव को नाविक (नौका चालक) तथा ससार को समुद्र कहा है । इस ससार समुद्र को महर्षि लोग पार कर जाते हैं ॥७३॥

विवेचन—फलितार्थ—७३वी गाथा का फलितार्थ यह है कि यह शरीर ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अथवा जीव (आत्मा) का आधारभूत है। शरीर जब नौका है तो शरीर के अधिष्ठाता जीव को नाविक ही कहा जाएगा। क्योकि शरीररूपी नौका का सचालन जीव के द्वारा ही हो सकता है। नौका समुद्र मे रहती है । यहाँ ससार ही बडा भारी समुद्र है, जिसमे जन्म-जरा-मरणादि अगाध जल है । नौका जैसे ससारीजीवो को समुद्र-पार ले जाती है ठीक उसी प्रकार जिनकी शरीररूपी नौका आस्रव छिद्ररहित होती है, ऐसे महर्षियो को यह ससार-समुद्र के पार ले जाती है ।

जैसे नौका द्वारा पार होने वाले जीव पार हो जाने पर नौका को छोडकर अभीष्ट स्थान पर चले जाते है, इसी प्रकार ससार-समुद्र से पार हो जाने वाले जीव इस शरीर को यही छोडकर मोक्ष मे चले जाते हैं, फिर इसकी आवश्यकता नही रहती । अर्थात्—शरीर ससार समुद्र पार करने के लिए एक साधन मात्र है, पार होने के पश्चात—मोक्ष मे चले जाने के पश्चात् इसकी कोई आवश्यकता नही रहती ।

केशी की उन्नीसवीं पृच्छा • गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥७४॥

अधयारे तमे घोरे, चिट्ठति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगम्मि पाणिण ॥७५॥

उग्गओ विमलो भाणू, सव्व-लोय-पभकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगमि पाणिण ॥७६॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥७४॥

अधकारे तमसि घोरे, तिष्ठन्ति प्राणिनो बहव. ।
क करिष्यत्युद्योत, सर्व-लोके प्राणिनाम् ॥७५॥

उद्गतो विमलो भानु, सर्व-लोक-प्रभाकर. ।
स करिष्यत्युद्योत, सर्व-लोके प्राणिनाम् ॥७६॥

विवेचन—केशीश्रमण की शका और गौतम द्वारा समाधान का तात्पर्य—

केशी—"अगाध जलराशि और प्रबलतम वेग वाले समुद्र मे विपरीत दिशा मे इधर-उधर डगमगाती नौका पर आरूढ होकर आप कैसे पार हो सकेंगे ?" अर्थात्—"इस डोलती-डगमगाती हुई नाव से ससार समुद्र को कैसे पार कर सकेंगे ?"

गौतम—"समुद्र को पार करने के लिए मैंने जिस नौका का आश्रय लिया है, वह छिद्र वाली नही है, और विपरीतगामिनी भी नही है, इस-लिए उस प्रकार की सुदृढ नौका पर आरूढ होकर मैं अवश्य ही ससार समुद्र को पार कर सकूगा।"

केशी की अठारहवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसि बुवत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७२॥
सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो ॥७३॥

छाया—नौश्चेति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७२॥
शरीरमाहुर्नौरिति, जीव उच्यते नाविक।
ससारोऽर्णव उक्त, य तरन्ति महर्षय. ॥७३॥

पद्या०—किसको कहते हैं नाव यहाँ ? केशी ने पूछा गौतम से।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यो वचन कहे उनसे ॥७२॥
हैं शरीर को नौका कहते, चालक कहलाता जीव कुशल।
ससार समुद्र है कहा सभी ने, तरते ऋषि जिनका आत्म सबल॥७३॥

अन्वयार्थ—केसी—केशी श्रमण ने, गोयम—गौतम से, इइ अब्बवी—इस प्रकार पूछा, नावा—वह नौका, का वुत्ता—कौन-सी कही गई है ? केसिमेव बुवत—केशी के इस प्रकार पूछने पर, गोयमो इणमब्बवी—गौतम ने यह कहा ॥७२॥

सरीर—शरीर को, नावत्ति—नौका, आहु—कहा गया है, जीवो—जीव को नाविओ वुच्चइ—नाविक कहा जाता है (और), ससारो—ससार को, अण्णवो—समुद्र, वुत्तो—कहा गया है, ज—जिसे, महेसिणो—महर्षिगण, तरति—तैर जाते (पार कर जाते) हैं ॥७३॥

भावार्थ—केशीश्रमण ने गौतम से पूछा—यहाँ नौका कौन-सी कही गई है। केसी के ऐसा कहने पर गौतम इस प्रकार बोले ॥७२॥

तीर्थंकरो ने शरीर को नौका, जीव को नाविक (नौका चालक) तथा ससार को समुद्र कहा है । इस ससार समुद्र को महर्षि लोग पार कर जाते हैं ।।७३।।

विवेचन—फलितार्थ—७३वी गाथा का फलितार्थ यह है कि यह शरीर ज्ञान-दर्शन-चारित्र का अथवा जीव (आत्मा) का आधारभूत है। शरीर जब नौका है तो शरीर के अधिष्ठाता जीव को नाविक ही कहा जाएगा। क्योकि शरीररूपी नौका का संचालन जीव के द्वारा ही हो सकता है। नौका समुद्र मे रहती है । यहाँ ससार ही बडा भारी समुद्र है, जिसमे जन्म-जरा-मरणादि अगाध जल है । नौका जैसे ससारीजीवो को समुद्र-पार ले जाती है ठीक उसी प्रकार जिनकी शरीररूपी नौका आस्रव छिद्ररहित होती है, ऐसे महर्षियो को यह ससार-समुद्र के पार ले जाती है ।

जैसे नौका द्वारा पार होने वाले जीव पार हो जाने पर नौका को छोडकर अभीष्ट स्थान पर चले जाते हैं, इसी प्रकार ससार-समुद्र से पार हो जाने वाले जीव इस शरीर को यही छोडकर मोक्ष मे चले जाते है, फिर इसकी आवश्यकता नही रहती । अर्थात्—शरीर ससार समुद्र पार करने के लिए एक साधन मात्र है, पार होने के पश्चात—मोक्ष मे चले जाने के पश्चात् इसकी कोई आवश्यकता नही रहती ।

केशी की उन्नीसवीं पृच्छा • गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ।।७४।।

अधयारे तमे घोरे, चिट्ठति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगम्मि पाणिण ।।७५।।

उग्गओ विमलो भाणू, सव्व-लोय-पभकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगम्मि पाणिण ।।७६।।

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ।।७४।।

अन्धकारे तमसि घोरे, तिष्ठन्ति प्राणिनो बहव ।
क करिष्यत्युद्योत, सर्व-लोके प्राणिनाम् ।।७५।।

उद्गतो विमलो भानु, सर्व-लोक-प्रभाकर ।
स करिष्यत्युद्योत, सर्व-लोके प्राणिनाम् ।।७६।।

पद्यानुवाद—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय ।
है एक अन्य सशय मेरा, उसको तुम दूर करो तज भय ॥७४॥
हैं अन्ध दृष्टि करने वाले, अतिनिविड तिमिर मे जीव पडे ।
उन सारे जीवो को जग में, उद्योत बताएँ, कौन करे ? ॥७५॥
जो सकल-लोक-उद्योत करे, निर्मल दिनकर है हुआ उदित ।
वही करेगा सब जग के, प्राणी-गण का मन आलोकित ॥७६॥

अन्वयार्थ—गोयम ! ते पन्ना साहु—हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, मे इमो ससओ छिन्नो—मेरा यह सशय तो मिट गया है, (किन्तु) मज्झ अन्नो वि ससओ—मेरा एक और सशय है, गोयमा—हे गौतम !, त मे कहसु—जिसका समाधान भी मुझे बतलाओ ॥७४॥

घोरे तमे अन्धयारे—भयकर गाढ अन्धकार मे, बहूपाणिणो—बहुत से प्राणी, चिट्ठति— रह रहे है, सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, पाणिण—प्राणियो के लिए, को—कौन, उज्जोय—प्रकाश (उद्योत), करिस्सइ—करेगा ? ॥७५॥

सव्वलोगपभकरो—समग्रलोक मे प्रकाश करने वाला, विमलो भाणू—निर्मल सूर्य, उग्गओ—उदित हो चुका है, सो—वह, सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, पाणिण—प्राणियो के लिए, उज्जोय—प्रकाश, करिस्सइ—करेगा ॥७६॥

भावार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय मिटा दिया । अब मेरा एक और सशय है । उसके विषय मे भी समाधान करें ॥७४॥

ससार के अधिकाश प्राणी भयकर गाढ अन्धकार मे रह रहे हैं । हे गौतम ! अज्ञान तिमिर से अन्धे बने हुए सम्पूर्ण लोकवर्ती प्राणियो के लिए कौन प्रकाश करेगा ? ॥७५॥

समस्त लोक को प्रकाशित करने वाले एक निर्मल (आवरण रहित) सूर्य का उदय हो गया है । वही समग्र लोक मे प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा ॥७६॥

विवेचन—उन्नीसवीं पृच्छा का तात्पर्य—जब अन्धकार होता है तो कोई भी व्यक्ति यथेष्ट क्रियाओ को कर नही सकता । जैसे अन्धा मनुष्य वस्तु को ग्रहण करने—रखने आदि का कार्य यथाविधि सम्पन्न नही कर सकता, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारग्रस्त व्यक्ति भी किसी कार्य को व्यवस्थित ढग से कर नही सकता । यह सारा ससार घोर अज्ञानान्धकार से आच्छन्न है । उस प्रगाढ अन्धकार मे बहुत से जीव भटक रहे हैं । ऐसी स्थिति मे कौन ऐसा पुरुष है, जो ससार के प्राणियो के लिए ज्ञान का प्रकाश कर सकेगा ?

समाधान का तात्पर्य—जैसे अन्धकार को दूर करके जगत् मे प्रकाश करने वाला सूर्य ही होता है, वैसे ही जगत् मे फैले हुए घोर अज्ञान-अन्धकार से व्याप्त प्राणियो को उदित हुआ निर्मल ज्ञान सूर्य ही ज्ञान का प्रकाश दे सकता है।

सूर्य का निर्मल विशेषण इसलिए दिया गया है कि बादलो से घिरे हुए सूर्य मे उतना प्रकाश देने की क्षमता नही होती, जितनी कि निर्मल सूर्य मे होती है। तीर्थंकर ऐसे ही निर्मल सूर्य हैं, जिनका ज्ञान किसी भी वस्तु से कदापि आवृत नही होता।

केशी की बीसवीं पृच्छा . गौतम द्वारा समाधान—

मूल—भाणू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसि बुवत तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७७॥
उग्गओ खीण ससारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोय, सव्वलोगम्मि पाणिण ॥७८॥

छाया—भानुश्चेति क उक्त ? केशी गौतममब्रवीत्।
तत केशिन ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७७॥
उद्गत क्षीणससार, सर्वज्ञो जिन-भास्कर।
स करिष्यत्युद्योत, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७८॥

पद्यानुवाद—भानु यहाँ किसको कहते है ? केशी ने पूछा गौतम से।
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम यो बोले केशी से ॥७७॥
हो गया क्षीण भव-रुज जिनका, सर्वज्ञ वही है जिनभास्कर।
वह सभी लोक के प्राणी वर्ग का, अन्तर्मन कर देंगे भास्वर ॥७८॥

अन्वयार्थ—केसी—केशी श्रमण ने, गोयम—गौतम स्वामी से, इइ—इस प्रकार, अब्बवी—पूछा, भाणू—वह सूर्य, के वुत्ते—किसे कहा गया है, केसिमेव बुवत तु—केशी कुमार के ऐसा पूछने पर, गोयमो इणमब्बवी—गौतम ने यह कहा ॥७७॥

(गौतम स्वामी—) खीण ससारो—जिसका ससार क्षीण हो चुका है, सव्वण्णू—जो सर्वज्ञ हैं, (ऐसे) जिणभक्खरो—जिन भास्कर, भगवान, उग्गओ—उदित हो चुके हैं। सो—वह, सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, पाणिण—प्राणियो के लिए, उज्जोय—प्रकाश, करिस्सइ—करेंगे ॥७८॥

भावार्थ—केशीकुमार श्रमण ने गौतमस्वामी से पूछा—यहाँ भानु (सूर्य) किसे कहा गया है ? केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने यह कहा—॥७७॥

पद्यानुवाद—हे गौतम ! बुद्धि भली तेरी, हो गया दूर मेरा सशय ।
है एक अन्य सशय मेरा, उसको तुम दूर करो तज भय ।।७४।।
हैं अन्ध दृष्टि करने वाले, अतिनिविड तिमिर मे जीव पटे ।
उन सारे जीवो को जग में, उद्योत बताएँ, कौन करे ? ।।७५।।
जो सकल-लोक-उद्योत करे, निर्मल दिनकर है हुआ उदित ।
वही करेगा सब जग के, प्राणी-गण का मन आलोकित ।।७६।।

अन्वयार्थ—गोयम ! ते पन्ना साहु—हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है, मे इमो ससओ छिन्नो—मेरा यह सशय तो मिट गया है, (किन्तु) मज्झ अन्नो वि ससओ—मेरा एक और सशय है, गोयमा—हे गौतम !, त मे कहसु—जिसका समाधान भी मुझे बतलाओ ।।।७४।।

घोरे तमे अन्धयारे—भयकर गाढ अन्धकार मे, बहूपाणिणो—बहुत से प्राणी, चिट्ठति—रह रहे हैं, सव्वलोगमि—समग्र लोक मे, पाणिण—प्राणियो के लिए, को—कौन, उज्जोय—प्रकाश (उद्योत), करिस्सइ—करेगा ? ।।।७५।।

सव्वलोगपभकरो—समग्रलोक मे प्रकाश करने वाला, विमलो भाणू—निर्मल सूर्य, उग्गओ—उदित हो चुका है, सो—वह, सव्वलोगमि—समग्र लोक मे, पाणिण—प्राणियो के लिए, उज्जोय—प्रकाश, करिस्सइ—करेगा ।।७६।।

भावार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह सशय मिटा दिया । अब मेरा एक और सशय है । उसके विषय मे भी समाधान करें ।।७४।।

ससार के अधिकाश प्राणी भयकर गाढ अन्धकार मे रह रहे है । हे गौतम ! अज्ञान तिमिर से अन्धे बने हुए सम्पूर्ण लोकवर्ती प्राणियो के लिए कौन प्रकाश करेगा ? ।।७५।।

समस्त लोक को प्रकाशित करने वाले एक निर्मल (आवरण रहित) सूर्य का उदय हो गया है । वही समग्र लोक मे प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा ।।७६।।

विवेचन—उन्नीसवीं पृच्छा का तात्पर्य—जब अन्धकार होता है तो कोई भी व्यक्ति यथेष्ट क्रियाओ को कर नही सकता । जैसे अन्धा मनुष्य वस्तु को ग्रहण करने—रखने आदि का कार्य यथाविधि सम्पन्न नही कर सकता, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारग्रस्त व्यक्ति भी किसी कार्य को व्यवस्थित ढग से कर नही सकता । यह सारा ससार घोर अज्ञानान्धकार से आच्छन्न है । उस प्रगाढ अन्धकार मे बहुत से जीव भटक रहे है । ऐसी स्थिति मे कौन ऐसा पुरुष है, जो ससार के प्राणियो के लिए ज्ञान का प्रकाश कर सकेगा ?

(गौतमस्वामी—) जिनका रागद्वेषादिरूप भाव-संसार नष्ट हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ जिनदेवरूप भास्कर (सूर्य) उदित हो चुके हैं। वह समग्र लोक के प्राणियो के लिए प्रकाश करेंगे ॥७८॥

विवेचन—गौतम द्वारा समाधान का तात्पर्य—बीसवी पृच्छा के समाधान का तात्पर्य यह है कि—जिनका राग-द्वेषादिरूप भाव-ससार क्षीण हो चुका है, जिन्होने चारो प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। अतएव जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो चुके हैं। वे ही जिनेन्द्र भगवान (श्री महावीर स्वामो) वास्तव मे सूर्य है, जिनका इस समय उदय हुआ है। अर्थात् वे ही जिनन्द्र भगवान महावीर जगत् के अन्धकाराच्छन्न सर्वप्राणियो के आत्मगत अज्ञानतिमिर और मिथ्यात्वान्धकार को दूर करने मे दूसरे निर्मल भाव सूर्य है।

केशी की इक्कीसवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥७९॥
सारीर माणसे दुक्खे, बज्झमाणाण[1] पाणिण।
खेम सिवमणाबाह, ठाण कि मन्नसी ? मुणी ॥८०॥
अ त्थि एग धुव ठाण, लोगग्गम्मि दुरारुह।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू-वाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥७९॥
शारीर-मानसैदु खै बाध्यमानाना प्राणिनाम्।
क्षेम शिवमनाबाध, स्थान कि मन्यसे ? मुने ! ॥८०॥
अस्त्येक ध्रुव स्थान, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरा-मृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा ॥८१॥

पद्यानु०—हे गौतम ! बुद्धि श्लाघ्य तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है और एक जो मम सशय, उसको बतलादो हे निर्भय ॥७९॥
तन-मन के दु खो से पीडित, इन जगजीवो के लिए यहाँ।
क्षेमकर, शिव और निराबाध, तुम मान रहे हो स्थान कहाँ ॥८०॥
ध्रु व स्थान एक लोकाग्र भाग पर, जिसको पाना है बडा कठिन।
जहाँ नही वेदना और व्याधि, नही जन्म जरा भवभीति मरण ॥८१॥

---

१ पाठान्तर—पच्चमाणाण (दु खो से आकुलीभूत अथवा दु खो मे रचे पचे)

अन्वयार्थ—गोयम ते पन्ना साहु—हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। मे इमो ससओ छिन्नो—तुमने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मज्झ अन्नोवि संसओ—मेरी एक और भी शंका है, गोयमा—हे गौतम, त मे कहसु—उसके विषय मे भी मुझे कहो ॥७९॥

(केशीकुमार) मुणी—मुनिवर ! सारीर माणसे दुक्खे—शारीरिक और मानसिक दु खो से, बज्झमाणाणं पाणिणं—पीड़ित (बाधित) प्राणिगण के लिए, खेमं—क्षेमकर, सिवं—शिवकर, (और) अणाबाहं—निराबाध (बाधारहित), ठाणं—स्थान, (तुम), कं—किसे, मन्नसी—मानते हो ? ॥८०॥

(गौतम) लोगग्गंमि—लोक के अग्रभाग मे, एगं—एक, धुवं ठाणं—ध्रुव (शाश्वत) स्थान है, जत्थ—जहाँ, जरा—बुढापा, मच्चू—मृत्यु, वाहिणो—व्याधियाँ तहा—तथा, वेयणा—वेदना कष्ट, नत्थि—नही हैं (किन्तु वह स्थान) दुरारुहं—दुरारुह (पहुँचने मे बहुत कठिन) है॥८१॥

विवेचन—शाश्वत सुखयुक्त स्थान तीन विशेषण—प्रस्तुत ८०वी गाथा मे शारीरिक-मानसिक दु खो से पीड़ित प्राणियो के लिए जिस शाश्वत सुखमय स्थान की पृच्छा की गई है, उसके तीन विशेषण मूल पाठ मे है—खेम, सिव, अणाबाह। क्षेम का अर्थ है—व्याधिरहित, शिव का अर्थ है—सभी प्रकार के उपद्रवो से रहित, और अनाबाध का अर्थ है—बाधा-पीडारहित अथवा अन्तविहीन। इस पृच्छा के पीछे तात्पर्य यह है कि इस लोक मे अनेक सयमी पुरुष तप, त्याग, परीषहविजय, उपसर्ग-सहन, विषयासक्ति-त्याग आदि विविध साधनाओ मे, धर्म-पालन मे जितने भी कष्ट उठाते हैं, उन सब का एकमात्र प्रयोजन है—ससार के जन्म-मरणादि दु खो का आत्यन्तिक क्षय और अनन्त शाश्वत सुख की प्राप्ति। अतएव यदि इस प्रकार के अनन्त शाश्वत सुख का कोई स्थान न हो तो सभी क्रियाएँ, अनुष्ठान या साधनाएं व्यर्थ हो जाती हैं। अत ऐसा कोई स्थान होना चाहिए, जहाँ पहुँचने पर जीव जन्म-मरणादि दु खो से सर्वथा मुक्त होकर शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त कर सके। उसी शाश्वत सुखस्थान विषयक पृच्छा इस गाथा मे है।

पृच्छा के अनुरूप समाधान—८१वी गाथा मे इसका समाधान दिया गया है कि हाँ, ऐसा एक निश्चल स्थान है, जो दुरारुह जरूर है, किन्तु वहाँ जाने पर जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, पीडा आदि सभी दु खो का सदा के लिए अन्त हो जाता है, और अनन्त अव्याबाध शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। •

(गौतमस्वामी—) जिनका रागद्वेषादिरूप भाव-संसार नष्ट हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ जिनदेवरूप भास्कर (सूर्य) उदित हो चुके हैं। वह समग्र लोक के प्राणियो के लिए प्रकाश करेंगे ॥७८॥

विवेचन—गौतम द्वारा समाधान का तात्पर्य—बीसवी पृच्छा के समाधान का तात्पर्य यह है कि—जिनका राग-द्वेषादिरूप भाव-ससार क्षीण हो चुका है, जिन्होने चारो प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। अतएव जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो चुके हैं। वे ही जिनेन्द्र भगवान (श्री महावीर स्वामी) वास्तव मे सूर्य है, जिनका इस समय उदय हुआ है। अर्थात् वे ही जिनन्द्र भगवान महावीर जगत् के अन्धकाराच्छन्न सर्वप्राणियो के आत्मगत अज्ञानतिमिर और मिथ्यात्वान्धकार को दूर करने मे दूसरे निर्मल भाव सूर्य है।

केशी की इक्कीसवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥७९॥
सारीर माणसे दुक्खे, बज्झमाणाण[1] पाणिण।
खेम सिवमणाबाह, ठाण कि मन्नसी ? मुणी ॥८०॥
अत्थि एग धुव ठाण, लोगग्गम्मि दुरारुह।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू-वाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥७९॥
शारीर-मानसेषु खै बाध्यमानाना प्राणिनाम्।
क्षेम शिवमनाबाध, स्थान कि मन्यसे ? मुने ! ॥८०॥
अस्त्येक ध्रुव स्थान, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरा-मृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा ॥८१॥

पद्यानु०—हे गौतम ! बुद्धि श्लाघ्य तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है और एक जो मम सशय, उसको बतलादो हे निर्भय ॥७९॥
तन-मन के दु खो से पीडित, इन जगजीवो के लिए यहाँ।
क्षेमकर, शिव और निराबाध, तुम मान रहे हो स्थान कहाँ ॥८०॥
ध्रुव स्थान एक लोकाग्र भाग पर, जिसको पाना है बडा कठिन।
जहाँ नही वेदना और व्याधि, नही जन्म जरा भवभीति मरण ॥८१॥

---

1 पाठान्तर—पच्चमाणाण (दु खो से आकुलीभूत अथवा दु खो मे रचे पचे)

अन्वयार्थ—गोयम ते पन्ना साहु—हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। मे इमो ससओ छिन्नो—तुमने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मज्झ अन्नोवि संसओ—मेरी एक और भी शंका है, गोयमा—हे गौतम, त मे कहसु—उसके विषय मे भी मुझे कहो ॥७९॥

(केशीकुमार) मुणी—मुनिवर ! सारीर माणसे दुक्खे—शारीरिक और मानसिक दु खो से, बज्झमाणाण पाणिण—पीडित (बाधित) प्राणिगण के लिए, खेम—क्षेमकर, सिव—शिवकर, (और) अणाबाह—निराबाध (बाधारहित), ठाण—स्थान, (तुम), क—किसे, मन्नसी—मानते हो ? ॥८०॥

(गौतम) लोगग्गमि—लोक के अग्रभाग मे, एग—एक, धुव ठाण—ध्रुव (शाश्वत) स्थान है, जत्थ—जहाँ, जरा—बुढापा, मच्चू—मृत्यु, वाहिणो—व्याधियाँ तहा—तथा, वेयणा—वेदना कष्ट, नत्थि—नही हैं (किन्तु वह स्थान) दुरारुह—दुरारुह (पहुँचने मे बहुत कठिन) है॥८१॥

विवेचन—शाश्वत सुखयुक्त स्थान : तीन विशेषण—प्रस्तुत ८०वी गाथा मे शारीरिक-मानसिक दु खो से पीडित प्राणियो के लिए जिस शाश्वत सुखमय स्थान की पृच्छा की गई है, उसके तीन विशेषण मूल पाठ मे हैं—खेम, सिव, अणाबाह। क्षेम का अर्थ है—व्याधिरहित, शिव का अर्थ है—सभी प्रकार के उपद्रवो से रहित, और अनाबाध का अर्थ है—बाधा-पीडारहित अथवा अन्तविहीन। इस पृच्छा के पीछे तात्पर्य यह है कि इस लोक मे अनेक सयमी पुरुष तप, त्याग, परीषहविजय, उपसर्ग-सहन, विषयासक्ति-त्याग आदि विविध साधनाओ मे, धर्म-पालन मे जितने भी कष्ट उठाते हैं, उन सब का एकमात्र प्रयोजन है—ससार के जन्म-मरणादि दु खो का आत्यन्तिक क्षय और अनन्त शाश्वत सुख की प्राप्ति। अतएव यदि इस प्रकार के अनन्त शाश्वत सुख का कोई स्थान न हो तो सभी क्रियाएँ, अनुष्ठान या साधनाए व्यर्थ हो जाती हैं। अत ऐसा कोई स्थान होना चाहिए, जहाँ पहुँचने पर जीव जन्म-मरणादि दु खो से सर्वथा मुक्त होकर शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त कर सके। उसी शाश्वत सुखस्थान विषयक पृच्छा इस गाथा मे है।

पृच्छा के अनुरूप समाधान—८१वी गाथा मे इसका समाधान दिया गया है कि हाँ, ऐसा एक निश्चल स्थान है, जो दुरारुह जरूर है, किन्तु वहाँ जाने पर जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, पीडा आदि सभी दु खो का सदा के लिए अन्त हो जाता है, और अनन्त अव्याबाध शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। •

(गौतमस्वामी—) जिनका रागद्वेषादिरूप भाव-संसार नष्ट हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ जिनदेवरूप भास्कर (सूर्य) उदित हो चुके हैं। वह समग्र लोक के प्राणियो के लिए प्रकाश करेंगे ॥७८॥

विवेचन—गौतम द्वारा समाधान का तात्पर्य—बीसवी पृच्छा के समाधान का तात्पर्य यह है कि—जिनका राग-द्वेषादिरूप भाव-ससार क्षीण हो चुका है, जिन्होने चारो प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है। अतएव जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो चुके हैं। वे ही जिनेन्द्र भगवान (श्री महावीर स्वामी) वास्तव मे सूर्य हैं, जिनका इस समय उदय हुआ है। अर्थात् वे ही जिनन्द्र भगवान महावीर जगत् के अन्धकाराच्छन्न सर्वप्राणियो के आत्मगत अज्ञानतिमिर और मिथ्यात्वान्धकार को दूर करने मे दूसरे निर्मल भाव सूर्य हैं।

केशी की इक्कीसवीं पृच्छा गौतम द्वारा समाधान—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे ससओ इमो।
अन्नो वि ससओ मज्झ, त मे कहसु गोयमा ! ॥७९॥
सारीर माणसे दुक्खे, बज्झमाणाण[1] पाणिण।
खेम सिवमणाबाह, ठाण किं मन्नसी ? मुणी ॥८०॥
अत्थि एग धुव ठाण, लोगग्गम्मि दुरारुह।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू-वाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम्।
अन्योऽपि सशयो मम, त मा कथय गौतम ! ॥७९॥
शारीर-मानसैर्दु खै बाध्यमानाना प्राणिनाम्।
क्षेम शिवमनाबाध, स्थान किं मन्यसे ? मुने ! ॥८०॥
अस्त्येक ध्रुव स्थान, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरा-मृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा ॥८१॥

पद्यानु०—हे गौतम ! बुद्धि श्लाघ्य तेरी, हो गया दूर मेरा सशय।
है और एक जो मम सशय, उसको बतलादो हे निर्भय ॥७९॥
तन-मन के दु खो से पीडित, इन जगजीवो के लिए यहाँ।
क्षेमकर, शिव और निराबाध, तुम मान रहे हो स्थान कहाँ ॥८०॥
ध्रुव स्थान एक लोकाग्र भाग पर, जिसको पाना है बडा कठिन।
जहाँ नही वेदना और व्याधि, नही जन्म जरा भयभीति मरण ॥८१॥

---

१ पाठान्तर—पच्चमाणाण (दु खो से आकुलीभूत अथवा दु खो मे रचे पचे)

अन्वयार्थ—गोयम ते पन्ना साहु—हे गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। मे इमो ससओ छिन्नो—तुमने मेरा यह सशय दूर कर दिया है। मज्झ अन्नोवि ससओ—मेरी एक और भी शका है, गोयमा—हे गौतम, त मे कहसु—उसके विषय मे भी मुझे कहो ॥७६॥

(केशीकुमार) मुणी—मुनिवर ! सारीर माणसे दुक्खे—शारीरिक और मानसिक दुखो से, बज्झमाणाण पाणिण—पीडित (बाधित) प्राणिगण के लिए, खेम—क्षेमकर, सिव—शिवकर, (और) अणाबाह—निराबाध (बाधारहित), ठाण—स्थान, (तुम), क—किसे, मन्नसी—मानते हो ? ॥८०॥

(गौतम) लोगग्गमि—लोक के अग्रभाग में, एग—एक, धुव ठाण—ध्रुव (शाश्वत) स्थान है, जत्थ—जहाँ, जरा—बुढापा, मच्चू—मृत्यु,वाहिणो—व्याधियाँ तहा—तथा, वेयणा—वेदना कष्ट, नत्थि—नही है (किन्तु वह स्थान) दुरारुह—दुरारुह (पहुँचने मे बहुत कठिन) है॥८१॥

विवेचन—शाश्वत सुखयुक्त स्थान : तीन विशेषण—प्रस्तुत ८०वी गाथा मे शारीरिक-मानसिक दु खो से पीडित प्राणियो के लिए जिस शाश्वत सुखमय स्थान की पृच्छा की गई है, उसके तीन विशेषण मूल पाठ मे हैं—क्षेम, सिव, अणावाह। क्षेम का अर्थ है—व्याधिरहित, शिव का अर्थ है—सभी प्रकार के उपद्रवो से रहित, और अनाबाध का अर्थ है—बाधा-पीडारहित अथवा अन्तविहीन। इस पृच्छा के पीछे तात्पर्य यह है कि इस लोक मे अनेक सयमी पुरुष तप, त्याग, परीषहविजय, उपसर्ग-सहन, विषयासक्ति-त्याग आदि विविध साधनाओ मे, धर्म-पालन मे जितने भी कष्ट उठाते हैं, उन सब का एकमात्र प्रयोजन है—ससार के जन्म-मरणादि दु खो का आत्यन्तिक क्षय और अनन्त शाश्वत सुख की प्राप्ति। अतएव यदि इस प्रकार के अनन्त शाश्वत सुख का कोई स्थान न हो तो सभी क्रियाएँ, अनुष्ठान या साधनाए व्यर्थ हो जाती हैं। अत ऐसा कोई स्थान होना चाहिए, जहाँ पहुँचने पर जीव जन्म-मरणादि दु खो से सर्वथा मुक्त होकर शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त कर सके। उसी शाश्वत सुखस्थान विषयक पृच्छा इस गाथा मे है।

पृच्छा के अनुरूप समाधान—८१वी गाथा मे इसका समाधान दिया गया है कि हाँ, ऐसा एक निश्चल स्थान है, जो दुरारुह जरूर है, किन्तु वहाँ जाने पर जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, पीडा आदि सभी दु खो का सदा के लिए अन्त हो जाता है, और अनन्त अव्याबाध शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। •

केशी की बाईसवीं पृच्छा : गौतम द्वारा समाधान

मूल—ठाणे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
एवं केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥८२॥
निव्वाणंति अबाहं ति, सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति[1] महेसिणो ॥८३॥
तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जं संपत्ता न सोयंति, भवोहंतकरा मुणी ॥८४॥

छाया—स्थानं चेति किमुक्तं ? केशी गौतममब्रवीत् ।
एवं केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥८२॥
निर्वाणमित्यबाधमिति, सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यं चरन्ति महर्षयः ॥८३॥
तत्स्थानं शाश्वतं वासं, लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत् सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवौघान्तकरा मुनयः ॥८४॥

पद्यानुवाद—केशी ने गौतम से पूछा—'वह स्थान कौन-सा यहाँ कहा ?'
केशी के ऐसा कहने पर, गौतम ने उत्तर निम्न कहा ॥८२॥
निर्वाण, अबाधित और सिद्धि, लोकाग्र-स्थान भी इसे कहा ।
वह निराबाध, कल्याण, क्षेम-पद पाते महर्षिगण मात्र,महा ।८३।
वह लोकशिखर पर स्थान रहा, दुर्लभ निवास है वह शाश्वत ।
भव-भ्रमण-अन्त करने वाले, मुनि पाकर पद हो शोकविगत ॥८४।

अन्वयार्थ—केसी—केशीकुमार श्रमण ने, गोयमं—गौतम गणधर से, इइ—यों, अब्बवी—कहा, ठाणे—वह स्थान, के वुत्ते—कौन-सा कहा गया है ? केसिमेवं बुवंतं तु—केशी के ऐसा कहने पर, गोयमो इणमब्बवी—गौतम ने इस प्रकार कहा ॥८२॥

(गणधर गौतम)—जं—जिस (स्थान) को, महेसिणो—महर्षि गण, चरंति—प्राप्त करते है (वह स्थान), निव्वाणंति—निर्वाण है, अबाहंति—निराबाध बाधारहित, सिद्धी—सिद्धि है, य—और, लोगग्गमेव—लोकाग्र है, (तथा) खेमं सिवं अणाबाहं—वह क्षेम, शिव और अनाबाध है ॥८३॥

भवोहंतकरा मुणी—भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि, जं संपत्ता न सोयंति—जिसे संप्राप्त करके शोक मुक्त हो जाते है, तं ठाणं—वह स्थान,

---

१ पाठान्तर—'तरंति' भी है, पर वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता ।

लोगग्गमि—लोक के अग्रभाग मे, सासयवास—शाश्वत निवासरूप है, (और) दुरारुह—जहाँ पहुँच पाना दुष्कर है।

भावार्थ—केशी श्रमण ने गौतम गणधर से पूछा—वह (शाश्वत सुखमय) स्थान कौन-सा बतलाया गया है ? केशी श्रमण ने जब यह पूछा तो गौतम ने इस प्रकार समाधान किया—॥८२॥

जिस क्षेम, शिव (निरुपद्रव) और निराबाध स्थान को महर्षिगण प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण, अबाध, सिद्धि और लोकाग्र के नाम से प्रसिद्ध है ॥८३॥

शाश्वत काल तक निवास वाला वह स्थान लोक के अग्रभाग पर है, जहाँ पहुँचना बहुत कठिन है। जन्म-मरणादिरूप ससार के प्रवाह का उच्छेद करने वाले मुनिगण, जिसे पाकर शोकमुक्त हो जाते हैं ॥८४॥

विवेचन—जैन दृष्टि का अन्तिम लक्ष्य अनन्त शाश्वत सुख—प्रस्तुत बाईसवी पृच्छा मे उक्त शाश्वत स्थान के विषय मे पूछने का तात्पर्य यही है कि बहुत से दार्शनिक मोक्ष को नही मानते, स्वर्ग तक ही उनकी अन्तिम दौड है। कुछ नास्तिक स्वर्ग को भी नही मानते, वे इसी लोक मे (यही) सब कुछ मानते हैं। कुछ आस्तिक मोक्ष को तो मानते हैं, परन्तु उनके द्वारा मान्य मोक्ष का स्वरूप बिलकुल भिन्न और विचित्र है, तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए जिन साधनो या अनुष्ठानो का वे निर्देश करते हैं, वे भी यथार्थ नही हैं। इसीलिए जैन दर्शनसम्मत अन्तिम शाश्वत सुखमय स्थान—मोक्ष क्या है, कैसा है कैसे प्राप्त होता है ? यही इस पृच्छा का रहस्य है।

शाश्वत सुखमय स्थान कैसा, किस नाम का ? ८१वी गाथा मे बता दिया गया है कि उक्त शाश्वत सुखस्थान मे जन्म-जरा-मरण आधि-व्याधि-रोग-शोक आदि दु खो का सर्वथा अभाव है। जहाँ जाकर जीव अजर-अमर हो जाता है। समग्र रत्नत्रयरूप धर्म-पुरुषार्थ उसी स्थान के लिए है। उसके ७ नाम यहाँ सूचित किये हैं—(१) निर्वाण, (२) अबाध, (३) लोकाग्र, (४) (५) क्षेम, (६) शिव और (७) अनाबाध। इसके और भी नाम हो सकते है। सब प्रकार कषायो-नोकषायो से निवृत्त होकर परम शान्तिमय अवस्था को प्राप्त होने से उसे निर्वाण कहते हैं। वहाँ सब प्रकार की शारीरिक-मानसिक बाधाओ का अभाव होने से उसका अव्याबाध नाम है, सब कार्यो की उसमे सिद्धि हो जाने से उसका सिद्धि नाम है। लोक के अग्रभाग मे अवस्थित होने से लोकाग्र भी कहते हैं। वहाँ पहुँचने पर किसी प्रकार की

व्याधि, उपद्रव या पीडा नही होती, इसलिए इसे क्षेम, शिव एव अनाबाध भी कहते हैं। इस स्थान को शाश्वतरूप भी कहते है, क्योंकि यहाँ से वापिस जन्म-मरणादि रूप ससार मे लौटना नही होता। इसे दुरारोह इसलिए बताया है कि इस स्थान को प्राप्त करने के लिए जैनदर्शनसम्मत सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की निर्मल निरतिचार साधना अनिवार्य है, मात्र क्रियाकाण्डो से, बाह्य अज्ञान तप या कष्ट सहन से, अकाम निर्जरा से यह स्थान प्राप्त नही होता है। इसीलिए इसे प्राप्त करना अतिकठिन-दुष्कर बताया है। पूर्णरूप से सयम पालन करने वाले महर्षिगण ही इसे प्राप्त करते हैं। परन्तु प्राप्त होने के बाद उनके जन्म-मरणादिरूप ससार का तथा रोग शोक-जरा-जन्म-मरणादि का सर्वथा अन्त हो जाता है। गीता मे श्रीकृष्ण ने भी इसके लिए कहा है—

"न तद् भासयते सूर्यो, न शशाको न पावक ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परम मम ॥—गीता १५/६

केशी श्रमण का गौतमस्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन, अभिनन्दन एव वीरशासन प्रवेश—

मूल—साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे ससओ इमो ।
नमो ते संसयाईय ! सव्व-सुत्त-महोवही ! ॥८५॥
एव तु ससए छिन्ने, केसी घोर-परक्कमे ।
अभिवदित्ता सिरसा, गोयम तु महायसं ॥८६॥
पंचमहव्वय-धम्म, पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥

छाया—साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
नमस्तुभ्य सशयातीत ! सर्व-सूत्र-महोदधे ॥८५॥
एव तु सशये छिन्ने, केशी घोर-पराक्रम ।
अभिवन्द्य शिरसा, गौतम तु महायशम् ॥८६॥
पच-महाव्रत-धर्मं, प्रतिपद्यते भावत ।
पुरिमस्य पश्चिमे, मार्गे तत्र सुखावहे ॥८७॥

पद्यानुवाद—गौतम ! है तेरी बुद्धि भली, यह छिन्न हो गया मम सशय ।
सशयातीत हे श्रुतसागर ! हो नमस्कार हे मुनि निर्भय ॥८५॥
सशय-विहीन होकर केशी, अतिघोर पराक्रम के धारी ।
गौतम को वन्दन कर मन से, सिर झुका दिया महिमाधारी ।८६॥

पंच-महाव्रतरूप धर्म को, भावसहित स्वीकार किया।
पार्श्वतीर्थ से वीर-प्रभु के, सुखद तीर्थ में स्थान लिया ॥८७॥

अन्वयार्थ—गोयम ! हे गौतम, ते पन्ना साहु—तुम्हारी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। मे इमो संसओ छिन्नो—तुमने मेरा यह संशय भी मिटा दिया। संसयाईय—हे संशयातीत ! सव्वसुत्तमहोयही—सर्वश्रुत के महोदधि !, ते नमो—तुम्हे (मेरा) नमस्कार है ॥८५॥

एवं तु—इस प्रकार, संसए छिन्ने—संशय के दूर होने पर घोर-परक्कमे केसी—घोर पराक्रमी केशीकुमार श्रमण ने, गोयम तु महायसं—महायशस्वी गौतम गणधर को, सिरसा—सिर से, अभिवंदित्ता—अभिवन्दन कर, तत्थ—उस तिन्दुक वन मे, पुरिमस्स पच्छिमम्मि—प्रथम तीर्थंकर के एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर के द्वारा उपदिष्ट, सुहावहे—सुखावह, मग्गे—मार्ग मे, पंचमहव्वयधम्मं—पंचमहाव्रतरूप धर्म को, भावओ—भाव से, पडिवज्जइ—स्वीकार किया ॥८६-८७॥

विवेचन—विनय धर्म का आदर्श और सत्यप्रियता—प्रस्तुत दो गाथाओ (८६-८७) मे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधनार्थ कठोर कर्मठ पुरुषार्थी साधक ज्ञानवान् केशीकुमार श्रमण के विनय धर्म का आदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमे कृतज्ञता-प्रकाशन, ज्ञानी महापुरुष के गुणगान, वंदन, नमन आदि गुण गर्भित हैं। साथ ही उनमे सरलता, सत्यप्रियता, निष्पक्षता आदि मुनिजनोचित गुणो का परिचय भी विशेष रूप से मिल रहा है, जो कि प्रत्येक मुमुक्षु एवं स्व-पर-कल्याणकामी साधु-साध्वियो के लिए पुन पुन मननीय एवं अनुकरणीय है।

केशी-गौतम-चर्चा की फलश्रुति—

मूल—केसी गोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमे।
सुय-सील-समुक्करिसो, महत्थत्थ-विणिच्छओ ॥८८॥
तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयंतु, भयवं केसि-गोयमे ॥८९॥
—त्ति बेमि।

छाया—केशि-गौतमयोर्नित्य, तस्मिन्नासीत् समागमे।
श्रुत-शील-समुत्कर्षो महार्थार्थ-विनिश्चय ॥८८॥
तोषिता परिषद् सर्वा, सन्मार्गं समुपस्थिता।
संस्तुतौ तौ प्रसीदेताम्, भगवन्तौ केशि-गौतमौ ॥८९॥
—इति ब्रवीमि।

प्रवचन-माता : चौबीसवाँ अध्ययन

(अध्ययन-सार)

इस अध्ययन का नाम है—'प्रवचनमाता'। किसी-किसी प्रति मे इसका दूसरा नाम समितियाँ (समिईओ) भी मिलता है। परन्तु इस अध्ययन मे द्वादशागी प्रवचन को जन्म देने वाली पाँच समितियो के उपरान्त तीन गुप्तियो का वर्णन होने से अष्ट प्रवचनमाता के नाम से उल्लेख और सागोपाग वर्णन है, इसलिए प्रवचनमाता (पवयण-माया) नाम ही विशेष समीचीन एव सार्थक है।

जिस प्रकार माता अपने पुत्र की देखभाल, पालन-पोषण, सवर्द्धन, एव सरक्षण करती है, उसी प्रकार ये आठ प्रवचन माताए भी द्वादशागी प्रवचन की, अथवा ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ महावीर के प्रवचन (श्रमणसघ) का सवर्द्धन, रक्षण, पालन-पोषण एव देखभाल करती हैं। ये वात्सल्यमयी माताएँ ही वस्तुत कल्याणकारिणी है। साधु-साध्वियो के सयमी जीवन का पोषण करने वाली हैं। इन्ही मे द्वादशागी प्रवचनो का समावेश हो जाता है।

साधुवर्ग के लिए अहिंसादि पाँच महाव्रत, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग आदि का पालन एव रक्षण अनिवार्य है। और यह तभी हो सकता है जब वह अपने मन, वचन, काया, इन्द्रियाँ, अगोपाग एव बुद्धि आदि को बाह्य विषयो, कषायो, परभावो, या विकारो मे न लगाकर आत्मलक्ष्यी बनकर शुद्ध आत्मा की सेवा मे, उसी की आराधना-साधना मे लगाए, आत्मकल्याण ही उसका मुख्य लक्ष्य हो। वह साधु वर्ग आत्मचिन्तन, आत्मलक्ष्यी स्वाध्याय, आत्मलक्ष्यी ध्यान, तप, तथा रत्नत्रय की साधना मे तन्मय हो। साधुवर्ग के उक्त साध्य के लिए पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ही प्रबल सहायक, निमित्त एव उपयोगी हो सकती हैं। इनका पालन करने मे उद्यत सयमनिष्ठ साधुवर्ग गमन, भाषण,

आहारादि-ग्रहण-परिभोग या उपकरणो को रखने-उठाने, त्याज्य मल-मूत्रादि के विसर्जन आदि से सम्बन्धित कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नही कर सकता, जो विवेक से रहित, उपयोगशून्य या निरर्थक अथवा सावद्य हो। पाँच समितियो से उचित, शुभ एव शुद्ध प्रवृत्तियो मे प्रवृत्ति होती है, साथ ही अशुभ प्रवृत्तियो से निवृत्ति भी होती है, जबकि तीन गुप्तियो मे मुख्यतया मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियो पर रोक है, नियन्त्रण है, किन्तु गौणरूप से हित मित-तथ्य-पथ्यमय प्रवृत्ति का विधान भी है।

साधक विवेकपूर्वक गमनागमन करे, विवेक और सयम से भाषण करे सावधानी एव गवेषणापूर्वक आहारादि का ग्रहण एव उपभोग करे, उपकरणो का उपभोग भी सावधानी से ममता-मूर्च्छारहित होकर करे, और मल-मूत्रादि का विसर्जन भी उचित स्थान देखभाल कर यतनापूर्वक करे। यह पाँचो समितियो का सन्देश है। साथ ही मन से असत् एव विकृत चिन्तन न करे, वचन से असत्य एव कटु भाषा न बोले, काया से असत् व्यवहार एव आचरण न करे। साराश यह है कि किसी भी प्रवृत्ति को करते समय इधर-उधर मन-वचन-काया को न लगाकर उसी मे तन्मय एव एकनिष्ठ रहे, यही पाँच समितियो एव तीन गुप्तियो का सन्देश है। वास्तव मे समिति का अर्थ सम्यक् प्रवृत्ति है और गुप्ति का अर्थ अशुभ से निवृत्ति।

प्रस्तुत अध्ययन मे सर्वप्रथम ईर्यासमिति की परिशुद्धि के लिए आलम्बन काल, मार्ग और यतना, ये चार कारण बताये हैं। साथ ही यतनापूर्वक गमनागमनादि क्रिया की विधि एव निषेध का भी स्पष्ट निर्देश है। चतुर्विध यतना का भी सागोपाग कथन है।

इसके पश्चात् भाषा समिति के विशुद्ध रूप से पालन के लिए क्रोधादि आठ स्थानो से बचने, तथा बोलते समय विवेक के विशिष्ट उपयोग से इस समिति की सुरक्षा की कथन किया गया है। हित, मित, पथ्य, एव समयानुकूल भाषण का विधान करके इसकी इसमे विधि भी बता दी गई है।

तीसरी एषणासमिति के विशुद्धरूपेण पालन के लिए आहार, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण, तथा शय्या आदि के ग्रहण एव उपभोग के समय गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से सम्बन्धित दोषो से बचने का निर्देश किया गया है।

चौथी आदाननिक्षेप-समिति मे अपने समस्त उपकरणो को देखभाल कर एव प्रमार्जन करके रखने, विवेकपूर्वक उपयोग करने और उठाने लेने का उल्लेख किया गया है।

फिर पचम समिति के सन्दर्भ मे दस प्रकार के स्थण्डिल स्थानो का उल्लेख करके साधु-साध्वियो को मल-मूत्रादि का विसर्जन करते समय विवेक रखने का निर्देश दिया गया है।

तदनन्तर सत्य, असत्यामृपा के रूप मे मन से चिन्तन करने का विधान किया है। असत्य और सत्यामृपा मनोयोग से चिन्तन न करने का उल्लेख भी है। प्रत्येक प्रकार की मनोगुप्ति के सरभ, समारम्भ और आरम्भ का इसमे दिग्दर्शन कराया गया है।

वचनगुप्ति के सन्दर्भ मे भी सत्य वचनयोग आदि भेद तथा इनकी तीन-तीन डिग्रियाँ (श्रेणियाँ) बताकर इसकी विधि एव उपयोगिता भी स्पष्ट कर दी गई है।

कायागुप्ति के सन्दर्भ मे पूर्ववत् सत्यकाययोग आदि प्रकार बताकर दो को हेय और दो को उपादेय प्रतिपादित किया गया है। साथ ही सरभादि त्रय का भी उल्लेख करके काया की अशुभ, निरर्थक एव हिंसा-जनक क्रियाओ से बचने का स्फुट प्रतिपादन किया गया है।

तत्पश्चात् पाँच समितियो एव तीन गुप्तियो के विधान का उद्देश्य बताते हुए साधक के लिए इनका पालन अनिवार्य बताया है।

अन्त मे, इन आठ प्रवचनमाताओ के पालन की फलश्रुति बताते हुए इनके शुद्ध सम्यक् परिपालन से नरकादि चतुर्गतिक रूप ससार-परि-भ्रमण से सर्वथा मुक्त होने एव चरमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होने का पूर्ण विश्वास दिलाया गया है।

कुल मिलाकर इस अध्ययन मे सम्यक्चारित्र की साधना के सुन्दर राजमार्ग का प्रतिपादन किया गया है।

चौबीसवाँ अध्ययन : प्रवचन-माता

(चउवीसइम अज्झयण पवयण-माया)

अष्ट-प्रवचन माताओ के नाम—

मूल—अट्ठ पवयण-मायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१॥
इरिया-भासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मण-गुत्ती वय-गुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२॥
एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया ।
दुवालसग जिणक्खाय, माय जत्थ उ पवयण ॥३॥

छाया—अष्टौ प्रवचन-मातर, समितयो गुप्तयस्तथैव च ।
पञ्चैव च समितय, तिस्रो गुप्तय आख्याता ॥१॥
ईर्या-भाषैषणादानोच्चारा समितय इति ।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्ति, कायगुप्तिश्चाष्टमा ॥२॥
एता अष्टौ समितय, समासेन व्याख्याता ।
द्वादशाग जिनाख्यात, मात यत्र तु प्रवचनम् ॥३॥

पद्यानुवाद—समिति गुप्ति दो भेदो से, हैं आठ यहाँ प्रवचन-माता ।
हैं पाँच समिति और तीन गुप्ति, जिन प्रवचन की त्राता ॥१॥
ईर्याभाषेषणादान, उच्चार पाँच समिति कही ।
मन वचन काय की गुप्ति तीन, ये आठो माता सुखद सही ॥२॥
सक्षिप्त रूप से अष्ट समितियाँ, ये वीरप्रभु ने बतलाई ।
जिनभाषित द्वादशागवाणी, इन समिति-गुप्ति मे समा गई ॥३॥

अन्वयार्थ—समिई—समितियाँ, तहेव य—तथा, गुत्ती—गुप्तियाँ, (दोनो मिलकर) अट्ठ—आठ, पवयण-मायाओ—प्रवचन-माताएँ है । समिइओ—समितियाँ, पचेव—पाँच है, य—और, गुत्तीओ—गुप्तियाँ, तओ—तीन, आहिया—कही गई है ॥१॥

इरिया-भासेसणादाणे उच्चारे समिई—ईर्यासमिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-निक्षेपणा समिति और उच्चार-प्रस्रवण-समिति, इय—इसी प्रकार, मणगुत्ती—मनोगुप्ति, वय-गुत्ती—वचनगुप्ति, य—और, अट्ठमा—आठवी (प्रवचन-माता), कायगुत्ती—कायगुप्ति, (कही गई है) ॥२॥

समासेण—संक्षेप मे, एयाओ—ये, अट्ठसमिईओ—आठ समितियाँ, वियाहिया—कही गई हैं, जत्थ उ—जिनमे, जिणक्खाय—जिनेन्द्रकथित, दुवालसंग—द्वादशांगरूप, पवयण—(गणिपिटक) प्रवचन, माय—(समाया हुआ) अन्तर्भूत है ॥३॥

भावार्थ—समिति और गुप्ति रूप से (प्रवचन का रक्षण करने वाली होने से) ये आठ प्रवचनमाताएँ है, (जिनमे) पाँच समितियाँ, तथा तीन गुप्तियाँ कही गई है ॥१॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपणा समिति और उच्चार-प्रस्रवण (परिष्ठापना) समिति तथा मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति और आठवी काय-गुप्ति है ॥२॥

संक्षेप मे, ये आठ समितियाँ कही गई हैं, जिनमे जिन-भाषित द्वादशांगी रूप प्रवचन अन्तर्हित हो (समा) जाता है ॥३॥

विवेचन—प्रवचन माता क्यो कहा गया ?—पंच समितियो और तीन गुप्तियो को प्रवचन-माता इसलिए कहा गया है कि इन आठो मे समस्त निर्ग्रन्थ-प्रवचन समा जाता है, इसलिए अथवा इन आठो से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हे प्रवचन-माता कहा जाता है। जैसे द्रव्यमाता पुत्र को जन्म देती है, वैसे ही भावमाता समिति-गुप्ति रूप है, प्रवचन को जन्म देती हैं। माता की तरह ये प्रवचन की सब प्रकार से रक्षा भी करती हैं। जैसे माता पुत्र के प्रति वात्सल्य रखती है, वैसे ही ये आठ प्रवचन-माताएँ साधु जीवन को कल्याणकारिणियाँ है। इसीलिए जिनवरो ने इन्हे श्रमण की भी माताएँ बताई हैं।

पाँच समिति और तीन गुप्ति का स्वरूप—समिति—सम्यक् प्रवृत्ति को कहते हैं। अर्थात मन वचन काया को एकीभाव या एकाग्रता के साथ उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति या चेष्टा को समिति कहते हैं।

समितियाँ पाँच हैं—ईर्यासमिति आदि। ईर्यासमिति—गमन मे चक्षु-व्यापारपूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति, भाषा समिति—निरवद्य वचन प्रवृत्ति, एषणा समिति—उद्गमादि ४२ दोष वर्जित करके विधिपूर्वक निर्दोष

आहारादि ग्रहण करने की प्रवृत्ति । आदान समिति—वस्त्र पात्रादि उपकरणो के ग्रहण करने, रखने, उठाने मे यतना से प्रवृत्ति । उच्चार समिति—मल-मूत्रादि त्याज्य वस्तु का किसी को भी पीडा पहुचाए बिना निर्जीव स्थान मे प्रतिष्ठापन करना । गुप्ति का अर्थ है—मन-वचन-काया के योगो का सम्यक् निग्रह करना । ये तीन हैं - मनोगुप्ति—दुष्ट चिन्तन मे प्रवृत्त होते हुए मन को रोकना—वश में रखना । वचन गुप्ति—वचन का अशुभ व्यापार न कर, वचन पर नियन्त्रण रखना । काय गुप्ति—काया को सयम मे रखना, कुमार्ग पर जाते हुए शरीर को रोकना ।

आठो को समिति क्यो कहा गया ?—यहाँ (गाथा ३ मे) पाँच समिति और तीन गुप्ति—इन आठो को ही समिति क्यो कहा गया है इस सम्बन्ध मे वृत्तिकार कहते है कि गुप्तियाँ प्रवीचार और अप्रवीचार दोनो रूप मे होती है अर्थात् गुप्तियाँ एकान्त निवृत्ति रूप ही नही, प्रवृत्ति रूप भी है। जैसे कि गुप्ति का अर्थ किया गया है—प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्ग-निवारण गुप्ति अर्थात्—प्रवचन विधि से सन्मार्ग मे व्यवस्थापन और उन्मार्ग से निवारण करने का नाम गुप्ति है । अत प्रवृत्ति-अश की अपेक्षा गुप्तियो को भी समिति कह दिया गया है ।

ईर्या समिति की चतुष्कारण परिशुद्धि एव चतुर्विध यतना—

मूल—आलबणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य ।
चउकारण-परिसुद्ध, सजए इरियं रिए ॥४॥

तत्थ आलंबण नाणं, दंसणं चरणं तहा ।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए ॥५॥

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥६॥

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्त च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

इदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झाय चेव पचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरिय रिए ॥८॥

छाया—आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च ।
चतुष्कारण-परिशुद्धा, सयम ईर्या रीयेत ॥४॥
तत्रालम्बन ज्ञान, दर्शन चरण तथा ।
कालश्च दिवस उक्त, मार्ग उत्पथ-वर्जित ॥५॥

साधु के लिए रात्रि मे स्पष्ट प्रकाश का अभाव होने से गमनागमन वर्जित है। चक्षुओ से पदार्थों का साक्षात्कार दिन मे ही हो सकता है। इसलिए ईर्याशुद्धि के लिए दिवस का ही समय उचित है। ईर्याशुद्धि मे तीसरा कारण मार्ग है। मार्ग से यहाँ ईर्यासमिति मे उत्पथरहित अर्थात् वनस्पति, पानी, सचित्त पृथ्वी, या त्रस जीवादि से रहित मार्ग ही अभीप्सित एव उचित अभिप्रेत है। उत्पथ मे या वनस्पति आदि जीवो से युक्त मार्ग पर गमनादि से आत्मा और सयम दोनो की विराधना सभव है। ईर्याशुद्धि मे चौथा कारण यतना है। यतना का चार प्रकार से विचार किया जाता है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से। द्रव्य से उपयोगपूर्वक जीव-अजीव आदि द्रव्यो को देखकर गमनादि करना। इसका स्पष्टीकरण अगली गाथा (स० ८) मे किया गया है कि गमनादि करते समय उपयोग चूक न जाये, इस दृष्टि से इन्द्रियो के शब्दादि पाँचो विषयो को छोड देना चाहिए, वाचनादि पाँच प्रकार का स्वाध्याय भी नही करना चाहिए। यद्यपि स्वाध्याय उत्तम क्रिया है तथापि उसके करने मे मन का व्यापार स्वाध्यायादि क्रिया मे लग जाता है, तब चलने मे उपयोग रहना सम्भव नही होता। तात्पर्य यह है कि चलते समय तन्मूर्ति=तन्मय=ईर्यासमिति-रूप होकर और उसी को दृष्टिगत रखकर उपयोग (सावधानी) पूर्वक चले। रास्ता चलते समय बातें न करे और न ही तत्त्वचिन्तन करे। मन, वचन और काया की चचलता का परित्याग करके मार्ग मे गमनादि करना चाहिए। उपयोग भग होने से किसी जीव की विराधना होने की सभावना है।

क्षेत्र से यतना—युग परिमित अर्थात्—चार हाथ प्रमाण आगे की भूमि देखकर चलना क्षेत्र यतना है।

काल से यतना—दिवस हो, वहाँ तक ही चलना अथवा जब तक चले तब तक देखकर चलना काल-यतना है।

भाव से यतना—उपयोग=सावधानीपूर्वक गमन करना भावयतना है।

युगमात्र—शरीर या गाडी के जुए जितने लम्बे क्षेत्र को देखकर चलना है।

भाषा समिति का विवेक—

मूल—कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विगहासु तहेव य ॥९॥
एयाइ अट्ठठाणाइ, परिवज्जित्तु सजए।
असावज्ज मिय काले, भास भासिज्ज पन्नव ॥१०॥

छाया—क्रोधे माने च मायाया, लोभे चोपयुक्तता ।
हास्ये भये मौखर्ये, विकथासु तथैव च ॥९॥
एतान्यष्टौ स्थानानि, परिवर्ज्य संयत ।
असावद्या मिता काले, भाषा भाषेत प्रज्ञावान् ॥१०॥

पद्यानुवाद—भाषा समिति का भाव सुनो, है क्रोध मान माया मन में ।
फिर लोभ हास्य भय मुखरवचन, विकथा प्रमाद है जनजन में ॥९॥
संयमी आठ इन स्थानों का, परिवर्जन निज मन से करते ।
फिर यथासमय निर्दोष और, परिमित भाषा मुख से कहते ॥१०॥

अन्वयार्थ—कोहे—क्रोध में, माणे—मान में, मायाए य—माया में, और, लोभे य—लोभ में, हासे भए मोहरिए—हास्य, भय और मौखर्य (वाचालता) में, तहेव य—तथा, विगहासु—विकथाओं में, उवउत्तया—सतत उपयुक्तता (उपयोगयुक्तता) रखना रक्षण है ॥९॥

पन्नव—प्रज्ञावान, संजए—संयती (साधु), एयाइं—इन, अट्ठठाणाइं—आठ स्थानों को, परिवज्जित्तु—छोड़कर, काले—यथासमय, असावज्ज—निरवद्य निर्दोष (और) मियं भास—परिमित भाषा, भासेज्ज—बोले ॥१०॥

भावार्थ—साधक क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथाओं से बचे रहने के लिए सतत उपयोगयुक्त (सावधान) रहे ॥९॥

अर्थात् प्रज्ञावान संयमी साधक इन आठ स्थानों को छोड़कर, यथासमय निरवद्य और परिमित भाषा बोले ॥१०॥

विवेचन—भाषासमिति की सुरक्षा के उपाय और विधि—भाषासमिति के संरक्षण के लिए क्रोधादि आठ स्थान से सदा दूर रहने का उपयोग रखे। अर्थात् भाषण करते समय क्रोधादि आठ दोषों से सम्पर्क न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाये, क्योंकि क्रोधादि के वशीभूत होकर सत्यप्रिय मनुष्य भी असत्य बोल देता है। अतः सत्य की रक्षा के लिए इन क्रोधादि आठ का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कदाचित क्रोध आदि के कारण बोलने में असत्य की सम्भावना हो जाये तो विवेकशील आत्मा उस पर विचार करके उससे बचने का प्रयत्न करे क्योंकि असत्य का प्रयोग प्रायः उपयोगरहित दशा में ही होता है। अतः संयमी साधु क्रोधादि ८ स्थानों को छोड़कर यानि क्रोधादि के वशीभूत न होकर भाषासमिति के संरक्षण का ध्यान रखते हुए हित, मित, निर्दोष एवं समयानुकूल भाषा का ही प्रयोग करे। यही दोनों गाथाओं का अभिप्राय है।

एषणासमिति प्रकार और विशुद्धि—

मूल—गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ॥११॥
उग्गमुप्पायणं पढमे, बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जयं जई ॥१२॥

छाया—गवेषणायां ग्रहणे च परिभोगैषणा च या।
आहारोपधि-शय्यासु एतास्तिस्रो विशोधयेत् ॥११॥
उद्गमोत्पादनं प्रथमायां, द्वितीयायां शोधयेदेषणाम्।
परिभोगे चतुष्कं, विशोधयेद् यतं यतिः ॥१२॥

पद्यानुवाद—आहार उपधि और शय्या मे, मुनि दोष बचाना चित्त धरे।
परिभोग, ग्रहण और गवेषणा से, त्रिविध शुद्धि का ध्यान करे ॥११॥
उद्गम उत्पादन गवेषणा मे दूजी मे ग्रहणादोष हरे।
परिभोग चार दूषण टाले, सयमी सयत्न आहार करे ॥१२॥

अन्वयार्थ—गवेसणाए—गवेषणा मे, गहणे य—ग्रहणैषणा मे और परिभोगेसणा य जा—और जो परिभोगैषणा है उसमे, आहारोवहिसेज्जाए—आहार, उपधि और शय्या, एए तिन्नि—इन तीनो का, विसोहए—परिशोधन करे ॥११॥

जयं जई—यतना-शील यति, पढमे—प्रथम एषणा (आहारादि की गवेषणा) मे, उग्गमुप्पायणं—उद्गम और उत्पादन दोषो का, सोहेज्ज—शोधन करे, बीए—दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) मे एसणं—(आहारादि ग्रहण करने से सम्बन्धित दोषो की) एषणा का, सोहेज्ज—शोधन करे, परिभोगम्मि—परिभोगैषणा मे, (वस्त्र-पात्रादि के परिभोग काल मे), चउक्कं—(सयोजनादि) दोष चतुष्क का, विसोहेज्ज—विशोधन करे ॥१२॥

भावार्थ—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से अशनादि आहार वस्त्र, पात्र आदि उपधि और मकान, पाट (आदि), शय्या, इन तीनो का परिशोधन करे ॥११॥

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला यति प्रथम एषणा (गवेषणा) मे उद्गम और उत्पादन के दोषो का, तथा दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) मे शकितादि एषणादोषो का शोधन करे। तीसरी परिभोगैषणा मे वस्त्र-पात्र-शय्यादि परिभोग से सम्बन्धित सयोजनादि चार दोषो का शोधन करे ॥१२॥

विवेचन—फलितार्थ—एषणा शब्द यहाँ पारिभाषिक है। उसका अर्थ है केवल ग्रहण करने की इच्छा के वशीभूत न होकर उपयोगपूर्वक

अन्वेषण करना। एषणासमिति के पालन के लिए आहार, उपकरण, शय्या (उपाश्रय आदि) के विषय मे गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन तीनो कसौटियो पर कसकर शुद्धि और सुरक्षा का ध्यान रखना चाहिए क्योकि पदार्थों को देखने, ग्रहण करने एव उपभोग करने मे शास्त्रीयविधि के अनुसार निर्दोषता का विचार करके सम्यग् प्रवृत्ति करना ही एषणा-समिति है।

गवेषणा का अर्थ है—आहारादि के निमित्त गोचरी (गोवत् चर्या) मे विचारपूर्वक प्रवृत्त होना। भिक्षा ग्रहण करने से पूर्व उद्गम और उत्पादन सम्बन्धी दोषो का परिशोधन करना गवषणा के ही अन्तर्गत है।

ग्रहणैषणा का अर्थ है—विचारपूर्वक निर्दोष आहार का ग्रहण करना ग्रहणैषणा है। ग्रहणैषणा मे जो शकितादि दस दोष हैं, उनकी शुद्धि करना अत्यावश्यक है।

परिभोगैषणा का अर्थ है—वस्त्र, पात्र, पिण्ड और शय्या तथा आहार करते समय, इनसे सम्बन्धित निन्दा-स्तुति आदि के द्वारा जो पाँच दोष उत्पन्न होते है, उनसे दूर रहकर आहारादि का उपभोग करना।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भिक्षा के अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग मे एषणासमिति का पालन आवश्यक है, इसी प्रकार उपधि (उपकरण) और शय्या (उपाश्रय, धर्मस्थान या तृणसंस्तारकादि) के विषय मे भी एषणासमिति का पालन करना अनिवार्य है। साराश यह है कि आहार के अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग मे हेयोपादेय आदि सब बातो के विवेक की तरह, उपधि और शय्या आदि के विषय मे विवेक करना भी एषणा-समिति का तकाजा है।

निष्कर्ष यह है कि भिक्षाजीवी यतनाशील साधु भिक्षासम्बन्धी उक्त ४२ और निन्दा स्तुति जन्य ५, इस प्रकार ४७ दोषो की शुद्धि करके आहारादि का अन्वेषण, गहण और परिभोग क', यही एषणासमिति का स्वरूप है। इस समिति के अनुसार आहारादि क्रियाएँ करने से हिंसादि दोषो का सम्पर्क नही होता।

परिभोगैषणा के पाँच दोष—(१) सयोजना, (२) अप्रमाण, (३) अगार, (४) धूम और (५) कारण। यहा मूलपाठ मे अगार और धूम को एक दोष मानकर चार दोषो की परिशुद्धि का उल्लेख किया है।

आदान-निक्षेप-समिति की विधि—

मूल—ओहोवहोवग्गहियं, भडग दुविह मुणी।
गिण्हतो निक्खिवतो वा, पउजेज्ज इम विहिं ॥१३॥

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जय जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया ॥१४॥

छाया—ओघोपधिमौपग्रहिकोपधि, भाण्डक द्विविध मुनि।
गृण्हन् निक्षिपश्च, प्रयुञ्जीतेमा विधिम ॥१३॥
चक्षुषा प्रतिलेख्य, प्रमार्जयेत् यतो यति।
आददीत निक्षिपेद्-वा, उभयतोऽपि समित सदा ॥१४॥

पद्यानुवाद—सामान्य और कारण से ले, यो द्विविध भाण्ड मुनिजन धरते।
उनके लेने या रखने मे, उपयोग सहित यह विधि करते ॥१३॥
नेत्रो से देखे और करे, परिमार्जन यतना से मुनिवर।
उपकरण सदा लेने रखने मे, रहे समितिसयुत वनकर ॥१४॥

अन्वयार्थ—मुणी - मुनि, ओहोवहोवग्गहिय—ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण), (और) ओपग्रहिक उपधि (विशेष स्थिति का उपकरण), दुविह भडग — दोनो प्रकार के भण्डोपकरणो को, गिण्हतो—ग्रहण करने (लेने), य और, निक्खिवतो—रखने मे, इम विहिं इस विधि का, पउजेज्ज—प्रयोग करे ॥१३॥

जय जई—यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला यति दुहओ वि—दोनो प्रकार के उपकरणो को (पहले) चक्खुसा—आँखो से, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखन (भलीभाँति देखभाल कर) (फिर), पमज्जेज्ज—प्रमार्जन करके, सया—सदा, समिए—समिति-युक्त, (सावधान=सम्यक्यतनावान्) होकर, आइए—ग्रहण करे, वा—अथवा, निक्खिवेज्जा—रखे ॥१४॥

भावार्थ भण्डोपकरण दो प्रकार के है—ओघ-उपधि (सामान्य रूप से रखे जाने वाले रजोहरणादि) और औपग्रहिक उपधि (विशेष स्थिति मे रखे गये दण्ड आदि), दोनो प्रकार के उपकरणो को ग्रहण करने और रखने मे सयमी मुनि इस विधि का प्रयोग करे ॥१३॥

यतनाशील सयमी साधु दोनो प्रकार के उपकरणो को आँखो से देख-भाल कर और प्रमार्जन करके ग्रहण करने और रखने मे सदा सावधान (सम्यक्यतनावान्) रहे ॥१४॥

विवेचन—आदान-निक्षेप-समिति का स्वरूप और विधि—साधु-साध्वी-वर्ग के द्वारा अपने दोनो प्रकार के उपकरणो का शास्त्रोक्तविधिपूर्वक यतना से ग्रहण करना (आदान) और रखना (निक्षेप) आदान-निक्षेप-

समिति है। साधु को उपधि दो प्रकार की होती है—ओघ अर्थात् औधिक उपधि और औपग्रहिक उपधि। इन दोनो प्रकार की उपधि के ग्रहण और निक्षेप की विधि यह है कि उसे उठाते और रखने समय सर्वप्रथम नेत्रो से अच्छी तरह देखभाल ले, तदनन्तर रजोहरण से उनका प्रमार्जन करके फिर ग्रहण करे या रखे। शास्त्रीय भाषा मे इस विधि को क्रमश प्रतिलेखन और प्रमार्जन कहते हैं। विधिपूर्वक की गई क्रिया या प्रवृत्ति कर्म निर्जरा या पुण्योपार्जन का कारण बनती है। अन्यथा वह निष्फल और अशुभ कर्म-बन्ध का कारण बन सकती है। अगर साधुवर्ग अपने किसी भी उपकरण को देखे भाले या प्रमार्जन किये बिना प्रमादवश इस्तेमाल करता है, या उठाता-रखता है, या उपयोगशून्य होकर ग्रहण निक्षेपण करता है तो उससे अनेक त्रस एव स्थावर जीवो को विराधना की सम्भावना है। अत आदान-निक्षेपणसमिति का पालन करने वाला साधक ही इस समिति का आराधक है। जो प्रमाद करता है, प्रतिलेखन प्रमार्जन भलीभाँति नही करता, वह इस समिति का विराधक माना गया है।

ओघ-उपधि का लक्षण—स्थायी रूप से रखे जाने वाले सामान्य उपकरण।

औपग्रहिक उपधि का लक्षण——विशेष कारणवश रखे जाने वाले उपकरण।

उच्चार-प्रस्रवण-खेल जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका-समिति—

मूल—उच्चार पासवण, खेल सिंघाण-जल्लियं।
आहार उवहिं देह, अन्न वावि तहाविह ॥१५॥
अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए ॥१६॥
अणावायमसंलोए परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयंमि य ॥१७॥
वित्थिण्णे[1] दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए।
तस-पाण-बीय-रहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥१८॥

छाया—उच्चार प्रस्रवण, क्ष्वेल, सिंघाण जल्लकम्।
आहारमुपधिं देह, अन्यद् वाऽपि तथाविधम् ॥१५॥

१ विच्छिण्णे = पाठान्तर।

अनापातमसलोक, अनापात चैव भवति सलोकम् ।
आपातमसलोक, आपात चैव सलोकम् ॥१६॥

अनापातेऽसलोके, परस्यानुपघातके ।
समेऽशुषिरे चापि, अचिरकालकृत च ॥१७॥
विस्तीर्णे दूरमवगाढे, नासन्ने बिलवर्जिते ।
त्रस प्राण-बीज-रहिते, उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ॥१८॥

पद्यानुवाद—उच्चार प्रस्रवण श्लेष्म और सिंघाण स्वेद जल-सम्बन्धित ।
आहार, उपधि, तन और त्याज्य का करे विसर्जन यत्नसहित ॥१५॥

अनापात-आलोकरहित, आपात-रहित सलोक जहाँ ।
असलोक-आपात और होता सलोकापात वहाँ ॥१६॥
अनापात सलोक-रहित, स्थण्डिल परपीडाकारी न हो ।
सम, पोल-रहित कुछ पहले से, निर्जीव भाव मे परिणत हो ॥१७॥

विस्तीर्ण चार अगुल गहरी, निर्जीव भूमि, घर निकट नहीं ।
बिल प्राण और बीजादि-रहित, मलत्याग-योग्य वह भूमि कही ॥१८॥

अन्वयार्थ—उच्चार—उच्चार—मल, पासवण—प्रस्रवण—मूत्र, खेल—श्लेष्म=कफ, सिंघाण—सिघानक=नाक का मैल (लीट), जल्ल—जल्ल=शरीर का मैल, आहार—आहार, उवहि उपधि=उपकरण, देह शरीर, तहाविह—तथा उस प्रकार की, अन्न वावि—अन्य किसी विसर्जन योग्य वस्तु का (विवेकपूर्वक स्थण्डिल भूमि पर) व्युत्सर्ग (परिष्ठापन) करे ॥१५॥

(जो भूमि यानी स्थण्डिल स्थान) अणावाय असलोए—अनापात एव असलोक अणावाए-सलोए—अनापात एव सलोक, चेव—और, आवाय असलोए—आपात और असलोक, (तथा) आवाए चेव सलोए—आपात और सलोक (इस प्रकार स्थण्डिल-स्थान चार प्रकार का होता है ॥१६॥

(जो भूमि) अणावाय असलोए—अनापात और असलोक हो, परस्सऽणुव-घायए—परोपघात से रहित हो, समे—सम हो, अझुसिरे यावि—तथा पोली भी न हो, य—और, अचिरकालकयमि—कुछ समय पहले निर्जीव हुई हो,

वित्थिण्णे—विस्तीर्ण (विस्तृत) हो, दूरमोगाढे—नीचे दूर तक अचित्त हो, नासन्ने—ग्रामादि के अत्यन्त समीप न हो, बिलवज्जिए—चूहे आदि के बिलो से रहित हो, (तथा), तस-पाण-बीय-रहिए—त्रस प्राणी और बीजो से रहित हो, (ऐसी भूमि पर), उच्चाराईणि—उच्चार (मल) आदि (त्याज्य वस्तुओ) का, वोसिरे—विसर्जन (त्याग) करना चाहिए ॥१७-१८॥

भावार्थ—मल (विष्ठा), मूत्र (प्रस्रवण), मुख का मल (खेल या कफ), नाक का मैल (लीट या सेडा), शरीर का मैल (पसीना या अन्य मल), भुक्तशेष या अकल्पनीय आहार, उपधि (टूटे फूटे या फेंकने योग्य उपकरण, नितान्त जीर्ण-शीर्ण वस्त्रादि), शरीर (शव = मृत कलेवर) तथा और भी इसी प्रकार के फेंकने (परठने) योग्य पदार्थ, इन सबको संयमी साधु विधिपूर्वक यतना से डाले (परिष्ठापन करे) ॥१५॥

(चार प्रकार की स्थण्डिल भूमि होती है यथा—) १—जहाँ कोई आता भी न हो, देखता भी न हो, २ जहाँ आता नहीं, किन्तु देखता हो, ३—जहाँ आता है, किन्तु देखता नहीं, और ४—जहाँ आता भी हो, और देखता भी हो ॥१६॥

निम्नोक्त दस प्रकार की विसर्जनयोग्य स्थण्डिल भूमि पर मल-मूत्रादि का विसर्जन करे—परिष्ठापन करे यथा—(१) अनापात-असलोक—जहाँ लोग न आते हों और न ही देखते हों, (२) दूसरे प्राणियों का घात करने वाली भूमि न हो, (३) सम हो अर्थात् विषम न हो, (४) पोली न हो अथवा तृणादि से आच्छादित न हो, (५) थोड़े समय से अचित्त हुई हो। (६) स्थण्डिलभूमि लम्बाई-चौड़ाई में विस्तृत हो, (७) बहुत नीचे तक अचित्त हो, (८) ग्रामादि के अति निकट न हो, (९) वहाँ चूहे आदि के बिल न हो, और (१०) त्रसप्राणी एवं बीज आदि से रहित हो ॥१७-१८॥

विवेचन—पंचम समिति का स्वरूप संयमशील साधु-साध्वी मल-मूत्रादि त्याज्य पदार्थों का विधिपूर्वक व्युत्सर्जन करे, अर्थात्—उन्हें देख-भाल कर, योग्य स्थण्डिल भूमि पर उपयोगपूर्वक डाले, जिससे किसी को भी घृणा पैदा न हो और किसी भी जीव—क्षुद्र जीव की भी विराधना, पीड़ा न हो।

उच्चारादि का विशेषार्थ—उच्चार = मल या विष्ठा, प्रस्रवण = मूत्र, खेल = कफ, थूक आदि मुख का मल, सिंघाण = नाक का मैल—लीट, सेडा आदि। जल्लक = शरीर में पसीना आ जाने से उत्पन्न होने वाला मैल। आहार—भोजन के बाद बचा हुआ आहार। उपधि—त्यागने योग्य जीर्ण वस्त्र, टूटे पात्र आदि उपकरण। देह = मृत शरीर, मृत्यु प्राप्त साधु या साध्वी का शरीर = शव। अन्य गोबर-कचरा आदि फेंकने योग्य पदार्थ।

चार प्रकार की स्थण्डिल भूमि—स्थण्डिल भूमि के चार भंग, यथा—(१) अनापात-असलोक—जहाँ स्वपक्ष (साधु वर्ग) या परपक्ष (गृहस्थ) का आपात = आवागमन न हो, और स्वपक्ष-परपक्ष दूर से भी न देखता हो या दीखता न हो। (२) अनापात-सलोक—जहाँ आवागमन तो नो हृ,

किन्तु देखता या दीखता हो, (३) आपात-असलोक—जहाँ लोगो का आवागमन तो हो, किन्तु परठते समय कोई देखता (या दीखता) न हो, और (४) आपात-सलोक—जहाँ आवागमन भी हो और देखता (या दीखता) भी हो।

इस प्रकार की विसर्जन योग्य स्थण्डिल भूमि क्यो और कैसे ?

(१) अनापात-असलोक—स्थान इसलिए बताया गया है कि जहाँ कोई आता-जाता हो और देख रहा हो ऐसे स्थान मे उच्चारादि का विसर्जन करने से लोगो को घृणा पैदा होगी साधु वर्ग के प्रति अश्रद्धा पैदा होगा लोकनिन्दा, शासनहीलना भी सम्भव है। इसलिए पूर्वोक्त गाथा मे बताए गए ४ प्रकार के स्थण्डिलो मे से तीन प्रकार के स्थण्डिलो पर त्याज्य वस्तुओ का विसर्जन नही करना चाहिए। (२) परानुपघात—इसलिए बताया है कि साधु अहिंसा महाव्रती है उसके निमित्त से तत्काल या बाद मे किसी भी जीव को हानि या पीडा पहुँचती हो हिंसा या विराधना होती हो, वह दोष है। (३) सम भूमि पर डालना इसलिए बताया है कि विषम या ऊबड-खाबड भूमि पर डालने से जीवो की विराधना सम्भव है। यही बात (४) शुषिर—या पोली भूमि पर परठने से होती है इसलिए अशुषिर भूमि बताई है। (५) अचिरकालकृत—(दाहादि से थोडे समय पहले ही अचित्त हुई भूमि) इसलिए बताई गई है कि चिरकाल से अचित्त हुई भूमि पर पृथ्वी आदि काय के जीवो की पुनरुत्पत्ति सम्भव है। (६) विस्तीर्ण—का अर्थ है—जघन्य एक हाथ प्रमाण क्षेत्र हो, अन्यथा सकीर्ण भूमि पर परठने के मलमूत्रादि जल्दी सूखेगा नही, जीव पैदा हो जाने की सम्भावना है। (७) दूर तक अवगाढ—का अर्थ है—पृथ्वी मे नीचे अन्दर कम से कम चार अगुल भूमि अचित्त हो, अन्यथा सचित्त पृथ्वीकाय की विराधना सम्भव है। (८) ग्राम, बगीचा या महल आदि के निकट न परठने का इसलिए बताया है कि वहाँ परठने से घृणा, अश्रद्धा होनी सम्भव है। (९) चूहे आदि के बिल उस भूमि पर होगे तो उनकी विराधना सम्भव है अत बिलवर्जित भूमि बताई है। और (१०) त्रसजीव या बीज आदि हो, वहाँ पर परठने से जीवो की विराधना सम्भव है। इन परिष्ठापन योग्य दस स्थण्डिल भूमियो के दो तीन आदि सायोगिक भग करें तो कुल १०२४ भग होते है। इन दसो मे से अन्तिम भग पूर्ण शुद्ध है, ऐसी स्थण्डिल भूमि पर परिष्ठापन करना उचित है।

निष्कर्ष—यह है कि इस पचम समिति का पालन करना साधु वर्ग

के लिए परम आवश्यक है, अन्यथा सयम की विराधना और प्रवचन की अवहेलना सभव है।

पाँच समितियो के बाद तीन गुप्तियो का वर्णन—

मूल—एयाओ पञ्च समिईओ, समासेण वियाहिया।
एत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥१९॥

छाया—एता पञ्च समितय, समासेन व्याख्याता।
इतश्च तिस्रो गुप्ती, वक्ष्याम्यानुपूर्वश ॥१९॥

पद्यानुवाद—ये पाँच समितिया अभी यहाँ, सक्षेप रूप मे कही गयी।
अब तीन गुप्तियाँ बतलाऊँ, क्रमश सुन लेना उन्हे सही ॥१९॥

अन्वयार्थ—एयाओ—ये, पच समिईओ—पाँच समितियाँ, समासेण—सक्षेप से वियाहिया—कही गई है, एत्तो य—अब यहाँ से, अणुपुव्वसो—अनुक्रम मे, तओ गुत्तीओ—तीन गुप्तियाँ, वोच्छामि—कहूँगा ॥१९॥

भावार्थ—इन ईर्यासमिति आदि पाँच समितियो का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर तीन गुप्तियो का स्वरूप क्रमश कहूगा ॥ १९ ॥

मनोगुप्ति प्रकार और स्वरूप—

मूल—सच्चा तहेव मोसा य, सच्च-मोसा तहेव य।
चउत्थी असच्च-मोसा य, मणगुत्तिओ चउव्विहा ॥२०॥

संरम्भ-समारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
मण पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥२१॥

छाया—सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा च, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२०॥

सरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
मन प्रवर्त्तमान तु, निवर्तयेद्यत यति ॥२१॥

पद्यानुवाद—सत्य तथा दूजी असत्य, सत्यामृष वैसे ही जानो।
चौथी असत्यामृष कहते, ये मनोगुप्तियाँ पहचानो ॥२०॥
सरम्भ और है समारम्भ, आरम्भ तीसरा भेद यहाँ।
मन की प्रवृत्ति का रोध करे, यतना करने से यति कहा ॥२१॥

अन्वयार्थ—मणगुत्तीओ—मनोगुप्तियाँ, चउव्विहा—चार प्रकार की है, (यथा), सच्चा—सत्या (सच), तहेव—तथा, मोसा य—मृषा (झूठ), तहेव—तथैव,

सच्चमोसा—सत्यामृषा (सच और झूठ में मिश्र), य—और, चउत्थी—चौथी, असच्च-मोसा—असत्यामृषा (जो न सच है और न झूठ, केवल व्यवहार भाषा) है ॥२०॥

जई—यतनाशील संयमी साधु, सरम-समारंभे य—संरम्भ, समारम्भ, तहेव य—तथा, आरंभे—आरम्भ में, पवत्तमाण—प्रवृत्त होने हुए, मण तु—मन को, जय—यतनापूर्वक (प्रयत्नपूर्वक), नियत्तेज्ज—निवृत्त करे ॥२१॥

भावार्थ—सत्या मनोगुप्ति असत्या-मनोगुप्ति, सत्या-मृषा मनोगुप्ति और चौथी असत्यामृषा-मनोगुप्ति इस तरह मनोगुप्ति चार प्रकार की कही गई है ॥२०॥

संयमशील मुनि संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए मन को प्रयत्नपूर्वक रोके, यही मनोगुप्ति है ॥२१॥

विवेचन—मनोगुप्ति के चार भेदों का स्वरूप—सत्या—जगत् में सतरूप से विद्यमान पदार्थों का चिन्तन करना, सत्यमनोयोग है, अथवा सत्यतत्त्व की ओर मन के वेग का रहना भी सत्यमनोयोग है। तत्सम्बन्धी मनोगुप्ति भी उपचार से 'सत्या' कहलाती है। सत्य पदार्थों का विपरीतभाव से चिन्तन करना मृषा (असत्य) मनोयोग है, तत्सम्बन्धी गुप्ति मृषामनोगुप्ति है। अथवा असत्य वस्तु की ओर मन के वेग का ढल जाना असत्यमनोगुप्ति है। सत्य और असत्य उभयात्मक विचार करना मिश्रमनोयोग है, यानि सत्य में थोड़ा सा असत्य हो, फिर भी सबको सत्य मानकर चिन्तन करना मिश्रमनोगुप्ति है। जो सत्य भी न हो और असत्य भी न हो इस प्रकार के आदेश निर्देश आदि वचन का मन में चिन्तन करना, असत्यामृषा मनोयोग है, तत्सम्बन्धी गुप्ति असत्यामृषा मनोगुप्ति है। यथा—अच्छा हो, देवदत्त इस समय घड़ा ले आये।

मनोगुप्ति के सन्दर्भ में संरम्भादि—असत्यामनोगुप्ति सम्बन्धी संरम्भ—यथा मैं इसे मार दूं, ऐसा मन में विचार करना। समारम्भ—किसी को पीड़ा देने का मन में संकल्प करना अथवा किसी के उच्चाटनादि का मन में (रौद्र) ध्यान करना। आरम्भ—परजीवों के अत्यन्त क्लेश से प्राणहरण करने आदि के अत्यन्त रौद्र अशुभ ध्यान का अवलम्बन करना या मन्त्रादि जाप करना। सत्यामनोगुप्ति के संरंभ, समारम्भ तथा आरम्भ का इसी तरह ऊहापोह कर लेना चाहिए। असत्यामृषा मनोगुप्ति संरम्भादि त्रय तभी होते हैं, जब शुभ संकल्प की ओर मन प्रवृत्त हो, जिससे अन्य जीवों का उपकार हो तथा स्वात्मा का भी उद्धार हो।

नियत्तेज्ज विशेषार्थ—निवृत्त=निरोध करे, रोके।

वचोगुप्ति प्रकार, स्वरूप और विवेक—

मूल—सच्चा तहेव मोसा य, सच्चा-मोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥२२॥

संरंभ-समारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
वय पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२३॥

छाया—सत्या तथैव मृषा च, सत्या मृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, वचोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२२॥

संरम्भ समारम्भ, आरम्भे च तथैव च।
वच प्रवर्त्तमान तु, निवर्तयेद् यत मति ॥२३॥

पद्यानुवाद—सत्या और मिथ्याभाषा, तीजी मिश्रित है बतलाई।
व्यवहार चतुर्थी भाषा है, यो वचनगुप्ति है समझाई ॥२२॥
समारम्भ संरम्भ तथा, आरम्भ भेद तीजा जानो।
इनमे वाणी के वर्तन को, रोके वह सयत पहचानो ॥२३॥

अन्वयार्थ—वयगुत्ती—वचनगुप्ति, चउव्विहा—चार प्रकार की है, (यथा) सच्चा—सत्या, तहेव—तथा, मोसा—मृषा, तहेव य—तथैव सच्चा-मोसा—सत्या मृषा, य—और, चउत्थी—चौथी, असच्चमोसा—असत्या-मृषा ॥२२॥

जई—यतना सम्पन्न यति, संरम्भ-समारंभे य—संरम्भ और समारम्भ, तहेव य—तथा, आरंभे—आरम्भ मे, पवत्तमाण तु वय—प्रवर्तमान वचन को, जय—यतनापूर्वक, नियत्तेज्ज—निवृत्त करे ॥२३॥

भावार्थ—सत्य-वचनगुप्ति, मृषा-वचनगुप्ति, वैसे ही सत्यामृषा वाग्गुप्ति और चौथी असत्यामृषा वाग्गुप्ति, इस भाँति वचनगुप्ति चार प्रकार की कही गई है ॥२२॥

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त होते हुए वचन को सयमशील साधु यतनापूर्वक निवृत्त करे (रोके) ॥२३॥

विवेचन—वचनगुप्ति के चार प्रकार और स्वरूप—जीव को जीव कहना, सत्यवचनयोग है, जीव को अजीव कहना, असत्यवचनयोग है, बिना निर्णय किये, ऐसा कह देना कि आज इस नगर मे सौ बालकों का जन्म हुआ है, मिश्र वचोयोग है, और स्वाध्याय के समान कोई तप नही है, इत्यादि प्रकार का शुभादेश निर्देशादिरूप वचन कहना असत्यमृषा वचोयोग है।

इन चारो से सम्बन्धित वचन का निरोध करने वाली वचोगुप्ति का नाम क्रमश सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा वचनगुप्ति है।

वचनगुप्ति सम्बन्धी सरम्भादि त्रय का स्वरूप - मृषावचोगुप्ति के सन्दर्भ मे—सरम्भ—परजीवो के विनाशार्थ मन्त्रादि जप करना, समारम्भ—पर-परितापकारक या हानिकारक अथवा आक्रोशयुक्त वचनो का प्रयोग करना। दूसरे प्राणियो को नानाविध सक्लेशो द्वारा प्राणहरण करके मारने के हेतु मन्त्रादि जाप करना। यह मृषावचोयोग है, इन्हे रोकना मृषावचोगुप्ति है। इसी प्रकार सत्यावचोगुप्ति, सत्यामृषावचोगुप्ति तथा असत्यामृषावचोगुप्ति के सन्दर्भ मे सरम्भादि को स्वय समझ लेना चाहिए।

कायगुप्ति प्रकार, स्वरूप और विवेक—

मूल—ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लघण पल्लघणे, इदियाण य जुजणे ॥२४॥

सरम समारभे, आरम्भम्मि तहेव य।
काय पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥२५॥

छाया—स्थाने निषीदने चैव, तथैव च त्वग्वर्तने।
उ लघने प्रलघने, इन्द्रियाणा च योजने ॥२४॥

सरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
काय प्रवर्त्तमान तु, निवर्तयेद्यत यति ॥२५॥

पद्यानुवाद - खडा रहे बैठे, लेटे, सकोच-प्रसारण-कर्म करे।
उल्लघन परिलघन इन्द्रिय-गण की अन्य क्रियाओ मे ॥२४॥
समारम्भ सरम्भ तथा, आरम्भ तीसरा बतलाया।
इनमे लगती निज काया का, गोपन ही गुप्ति कहलाया ॥२५॥

अन्वयार्थ—ठाणे—खडे रहने मे, निसीयणे—बैठने मे, तहेव य—तथा, तुयट्टणे—करवट बदलने या लेटने मे, उल्लघण-पल्लघणे—उल्लघन गड्ढे आदि को लाँघने मे तथा प्रलघन—सामान्यत चलने मे, च इन्दियाण जुजणे—और इन्द्रियो के प्रयोग मे (शब्दादि विषयो मे प्रवृत्ति करने मे) ॥२४॥

सरम-समारभे—सरम्भ मे, समारम्भ मे, तहेव य—तथा, आरम्भम्मि—आरम्भ मे, पवत्तमाण तु काय—प्रवृत्त होती हुई काया को, जई—यति=सयमी साधु, जय—यतनापूर्वक, नियत्तेज्ज—निवृत्त करे ॥२५॥

भावार्थ—खडे होने, बैठने, तथा करवट बदलने या लेटने मे, किसी

गड्ढे आदि को लाँघने तथा सामान्यतया चलने-फिरने मे, एव इन्द्रियो को अपने अपने विषयो मे प्रवृत्त करने मे सयमशील साधु उस समय सरम्भ, आरम्भ और समारम्भ मे प्रवृत्त होते हुए अपने शरीर का यतना-पूर्वक निवृत्त करे=रोके (यही कायगुप्ति है) ॥२४-२५॥

विवेचन – कायगुप्ति की साधना मे विवेक—कही ठहरने या खडे होने, बैठने तथा करवट बदलने या लेटने मे अथवा गत आदि के उल्लघन मे, तथा सामान्यरूप से प्रत्येक गमन प्रवृत्ति मे, इन्द्रियो को शब्द आदि विषयो के साथ जोडने आदि मे काया के व्यापार का सयम मे रखना—काययोग का निरोध करना कायगुप्ति है। कायगुप्ति मे शरीर का व्यापार बहुत कम होता है, जो होता है वह भी यतन.पूर्वक। यदि सर्वथा काय-निरोध रूप कायगुप्ति न हो सके तो कायगुप्ति समवधारण तो अवश्य ही करना चाहिए। काय समवधारण मे काया को अशुभ-व्यापारो से निवृत्त करना और शुभ योगो मे प्रवृत्त करना होता है।

सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ . परिभाषा—ये तीनो शास्त्रीय पारि-भाषिक शब्द हैं। ये तीनो हिंसाजनक क्रियाए है। प्रमादी जीवात्मा को हिंसादि कार्य के प्रयत्न का आवेश उत्पन्न होना, अथवा यष्टि-मुष्टि आदि से मारने का सकल्प उत्पन्न करके जिसमे स्वाभाविक रूप से काय का सचालन किया जाये वहाँ सरम्भ होता है, फिर उन हिंसादि कार्यो के लिए साधन जुटाना अथवा दूसरो को पीडा पहुँचाने के लिए मुष्टि आदि का प्रहार करना समारम्भ होना है। अन्त मे, उस कार्य को क्रियान्वित करना अथवा सकल्प के अनुसार जीव का घात ही कर देना 'आरम्भ' है। कार्य के सकल्प से लेकर पूर्ण होने तक क्रमश ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। साधक द्वारा मन-वचन-काया के योगो को सभी प्रकार के सरभादि से रोकना ही त्रियोग गुप्ति कहलाती है।

समिति और गुप्ति का उद्देश्यमूलक लक्षण —

मूल—एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२६॥

छाया—एत पचसमितय, चरणस्य च प्रवर्तने।
गुप्तयो निवर्तने उक्ता, अशुभार्थेभ्य सर्वश ॥२६॥

पद्यानुवाद—समिति प्रवृत्तिरूप कही, चारित्रधर्म मे जिनवर ने।
अशुभ-कर्म से वृत्ति रोकना, गुप्ति लगाई मुनिवर ने ॥२६॥

इन चारो से सम्बन्धित वचन का निरोध करने वाली वचोगुप्ति का नाम क्रमश सत्या, मृषा, सत्यामृषा और असत्यामृषा वचनगुप्ति है।

वचनगुप्ति सम्बन्धी सरभादि त्रय का स्वरूप - मृषावचोगुप्ति के सन्दर्भ मे—सरम—परजीवो के विनाशार्थ मन्त्रादि जप करना, समारम्भ—पर-परितापकारक या हानिकारक अथवा आक्रोशयुक्त वचनो का प्रयोग करना। दूसरे प्राणियो को नानाविध सक्लेशो द्वारा प्राणहरण करके मारने के हेतु मन्त्रादि जाप करना। यह मृषावचोयोग है, इन्हे रोकना मृषावचोगुप्ति है। इसी प्रकार सत्यावचोगुप्ति, सत्यामृषावचोगुप्ति तथा असत्यामृषा-वचोगुप्ति के सन्दर्भ मे सरम्भादि को स्वय समझ लेना चाहिए।

कायगुप्ति प्रकार, स्वरूप और विवेक—

मूल—ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लघण पल्लघणे, इदियाण य जुजणे ॥२४॥
सरभ समारभे, आरभम्मि तहेव य।
काय पवत्तमाण तु, नियत्तेज्ज जय जई ॥२५॥

छाया—स्थाने निषीदने चैव, तथैव च त्वग्वर्त्तने।
उ लघने प्रलघने, इन्द्रियाणा च योजने ॥२४॥
सरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
काय प्रवर्त्तमान तु, निवर्तयेद्यत यति ॥२५॥

पद्यानुवाद - खडा रहे बैठे, लेटे, सकोच-प्रसारण-कर्म करे।
उल्लघन परिलघन इन्द्रिय-गण की अन्य क्रियाओ मे ॥२४॥
समारम्भ सरम्भ तथा, आरम्भ तीसरा बतलाया।
इनमे लगती निज काया का, गोपन ही गुप्ति कहलाया ॥२५॥

अन्वयार्थ—ठाणे—खडे रहने मे, निसीयणे—बैठने मे, तहेव य—तथा, तुयट्टणे—करवट बदलने या लेटने मे, उल्लघण-पलघणे—उल्लघन गड्ढे आदि को लांघने मे तथा प्रलघन—सामान्यत चलने मे, च इन्दियाण जुजणे—और इन्द्रियो के प्रयोग मे (शब्दादि विषयो मे प्रवृत्ति करने मे) ॥२४॥

सरभ-समारभे—सरम्भ मे, समारम्भ मे, तहेव य—तथा, आरम्भम्मि—आरम्भ मे, पवत्तमाण तु काय—प्रवृत्त होती हुई काया को, जई—यति—सयमी साधु, जय—यतनापूर्वक, नियत्तेज्ज—निवृत्त करे ॥२५॥

भावार्थ—खडे होने, बैठने, तथा करवट बदलने या लेटने में, किसी

गड्ढे आदि को लाँघने तथा सामान्यतया चलने-फिरने मे, एव इन्द्रियो को अपने अपने विषयो मे प्रवृत्त करने मे सयमशील साधु उस समय सरम्भ, आरम्भ और समारम्भ मे प्रवृत्त होते हुए अपने शरीर का यतना-पूर्वक निवृत्त करे = रोके (यही कायगुप्ति है) ॥२४-२५॥

विवेचन – कायगुप्ति की साधना मे विवेक—कही ठहरने या खडे होने, बैठने तथा करवट बदलने या लेटने मे अथवा गर्त आदि के उल्लघन मे, तथा सामान्यरूप से प्रत्येक गमन प्रवृत्ति मे, इन्द्रियो को शब्द आदि विषयो के साथ जोडने आदि मे काया के व्यापार का सयम मे रखना—काययोग का निरोध करना कायगुप्ति है। कायगुप्ति मे शरीर का व्यापार बहुत कम होता है, जो होता है वह भी यतना.पूर्वक। यदि सर्वथा काय-निरोध रूप कायगुप्ति न हो सके तो कायगुप्ति समवधारण तो अवश्य ही करना चाहिए। काय समवधारण मे काया को अशुभ-व्यापारो से निवृत्त करना और शुभ योगो मे प्रवृत्त करना होता है।

सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ परिभाषा—ये तीनो शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द हैं। ये तीनो हिंसाजनक क्रियाएं है। प्रमादी जीवात्मा को हिंसादि कार्य के प्रयत्न का आवेश उत्पन्न होना, अथवा यष्टि-मुष्टि आदि से मारने का सकल्प उत्पन्न करके जिसमे स्वाभाविक रूप से काय का सचालन किया जाये वहाँ सरम्भ होता है, फिर उन हिंसादि कार्यों के लिए साधन जुटाना अथवा दूसरो को पीडा पहुँचाने के लिए मुष्टि आदि का प्रहार करना समारम्भ होना है। अन्त मे, उस कार्य को क्रियान्वित करना अथवा सकल्प के अनुसार जीव का घात ही कर देना 'आरम्भ' है। कार्य के सकल्प से लेकर पूर्ण होने तक क्रमश ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। साधक द्वारा मन-वचन-काया के योगो को सभी प्रकार के सरभादि से रोकना ही त्रियोग गुप्ति कहलाती है।

समिति और गुप्ति का उद्देश्यमूलक लक्षण –

मूल—एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२६॥

छाया—एत पचसमितय, चरणस्य च प्रवर्त्तने।
गुप्तयो निवर्त्तने उक्ता, अशुभार्थेभ्य सर्वश ॥२६॥

पद्यानुवाद—समिति प्रवृत्तिरूप कही, चारित्रधर्म मे जिनवर ने।
अशुभ-कर्म से वृत्ति रोकना, गुप्ति लगाई मुनिवर ने ॥२६॥

अन्वयार्थ—एयाओ—ये (पूर्वोक्त), पच समिईओ—पाँच समितियाँ, चरणस्स—चारित्र मे, पवत्तणे—प्रवृत्ति के लिए है, य—और, गुत्ती—तीन गुप्तियाँ, असुभत्थेसु—(सभी) अशुभ विपयो से, सव्वसो—सर्वथा, नियत्तणे—निवृत्ति के लिए, वुत्ता—बताई गई है ॥२६॥

भावार्थ—ये पाँचो समितियाँ चारित्र की प्रवृत्तिरूप अग है और तीन गुप्तियाँ अशुभ विषयो से सर्वथा निवृत्तिरूप कही गई हैं ॥२६॥

विवेचन—समितियो और गुप्तियो का विधान किसलिए ? - प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि पाच समितियो का विधान साधक के चारित्र की शुद्धि के लिए किया गया है, क्योकि जब गमनागमनादि क्रियाओ मे सम्यक् प्रवृत्ति (समितिपूर्वक प्रवृत्ति) होगी, तभी चारित्र की शुद्धि होगी। अत समितियाँ प्रवृत्ति रूप है—चारित्रशुद्धि विधायक हैं, जबकि तीन गुप्तियो का कथन सभी अशुभ अर्थों—विषयो से सर्वथा निरोध (निवृत्ति) के लिए है, क्योकि जब गुप्ति होती है, तभी मन-वचन-काया के योगो का निरोध होता है। आगमानुसार राग द्वेप आदि परिणामो के मन के साथ सहचार से निवृत्त होना मनोगुप्ति है। इसी प्रकार अशुभ वाग्व्यापार और कायव्यापार से निवृत्त होना वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। अर्थात् मन-वचन-काय योगो की अशुभ वृत्ति से निवृत्त होना ही गुप्ति है। इससे सिद्ध हुआ कि समिति का प्रयोजन चारित्र मे प्रवृत्ति कराना और गुप्ति का प्रयोजन—योगो का निरोध करना है।

अष्ट-प्रवचनमाताओ के सम्यक् आचरण का फल—

मूल—एया पवयण-माया, जे सम्म आयरे मुणी।
से खिप्प सव्वससारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥२७॥

—त्ति बेमि।

छाया—एता प्रवचन मातृ, य सम्यगाचरेन्मुनि।
स क्षिप्र सर्व-ससारात, विप्रमुच्यते पण्डित ॥२७॥

—इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद—करता जो प्रवचन-माता का, सम्यक् विधियुत् आचरण श्रमण।
होता विमुक्त साधक ज्ञानी, तज सकल जगत का सब बन्धन ॥

अन्वयार्थ—जे—जो, पण्डिए मुणी—पण्डित मुनि, एया पवयण माया—इन प्रवचन माताओ का, सम्म—सम्यक्, आयरे—आचरण करता है, से—वह,

खिप्प—शीघ्र ही, सव्व-ससार—समस्त ससार से, विप्पमुच्चइ विमुक्त हो जाता है ॥२७॥ —त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—जो तत्त्ववेत्ता मुनि इन प्रवचनमाताओ का सम्यक् भाव से पालन करता है, वह बहुत शीघ्र नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवरूप चतुर्गतिक ससारचक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥२७॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पण्डित और मुनि ही प्रवचनमाताओ के सम्यक् आचरण मे समर्थ—यहाँ साधक के दो विशेषणो द्वारा सूचित किया है कि पण्डित और मुनि ही पच समितियो और तीन गुप्तियो के पालन करने मे समर्थ हो सकता है। पण्डित का व्युत्पत्त्यर्थ है—जिसमे पण्डा—सद्-असद् का विवेक करने की बुद्धि प्राप्त हो। तथा मुनि के दो अर्थ है—जो शास्त्र मे प्रतिपादित अर्थ के तत्त्वो पर मनन करता हो या सम्यक् ज्ञाता हो, अथवा जो तीनो काल के भावो का सम्यक् अवबोध (मनन) करता हो, वह मुनि है।

फलश्रुति का आशय—अष्ट-प्रवचन-माताओ का विशुद्ध भावो से सम्यक् आचरण करने पर ही मुक्ति-गमन रूप फल प्राप्त होता है।

॥ प्रवचन-माता : चौबीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

पच्चीसवाँ अध्ययन : यज्ञीय

(अध्ययन-सार)

इस अध्ययन का नाम यज्ञीय (जन्नइज्ज) है। इसमे मुख्यतया यज्ञ, यज्ञकर्ता और यज्ञ से सम्बन्धित विषयो का प्रतिपादन है, इसलिए इसका नाम 'यज्ञीय' रखा गया है।

भगवान महावीर के युग मे और उससे काफी पहले तक भारतवर्ष मे यज्ञो तथा अग्नि, वरुण, यम, मरुत आदि प्राकृतिक देवो की पूजाओ का प्रचलन था। प्रागैतिहासिक काल में सम्भव है, अग्नि आदि प्रकृतिदेवो की पूजा का प्रचलन मनुष्य ने अपनी सुख-शान्ति, समृद्धि और सुरक्षा के प्रयोजन से किया हो, परन्तु धीरे धीरे इसे यज्ञ का रूप दे दिया गया और यज्ञो मे बकरो, घोडो आदि का वध भी निर्दयतापूर्वक किया जाने लगा था। विद्वान् ब्राह्मण इसे वेदविहित बताकर बडे-बडे यज्ञ-समारोह धडल्ले के साथ किया करते थे। सभी यज्ञ लौकिक कामनामूलक होते थे। 'स्वर्गकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत' इत्यादि विधान इसके साक्षी हैं।

भगवान महावीर और उनके अनुगामी श्रमणो का ध्यान इस ओर गया, उन्होने यज्ञो का ही खण्डन नही किया, किन्तु यज्ञो के पीछे जो हिंसात्मक अनुष्ठान थे, उन्हे बदलने और द्रव्यात्मक यज्ञ के बदले भावात्मक यज्ञो का विधान किया। उन्होने यज्ञशालाओ मे भिक्षा के निमित्त जाकर उन याज्ञिक ब्राह्मणो को बताया कि सच्चा यज्ञ क्या है ? वास्तविक ब्राह्मण का क्या लक्षण है ? इस अध्ययन मे ऐसे ही दो याज्ञिक ब्राह्मण भ्राताओ का उल्लेख है।

वाराणसी नगरी मे जयघोष और विजयघोष नाम के दो भाई रहते थे। दोनो ही वेदो के विद्वान् थे, यज्ञो के ज्ञाता थे। किन्तु गगानदी मे स्नान करते समय जयघोष के चित्त पर एक घटना का तत्काल एक बडा ही अमिट प्रभाव पडा। जयघोष ने गगा मे स्नान करते समय देखा कि एक

सर्प मेढक को और कुरर सर्प को पकडकर निगल रहा है। काल की इस अद्भुत अबाध लीला को देखकर जयघोष को ससार से विरक्ति हो गई और वह उसी समय जैन श्रमण बन गया।

एक बार शरीर से कृश जयघोष श्रमण अपने मासिक उपवास के पारणे के लिए घूमते-घूमते विजयघोष की यज्ञशाला मे पहुँच गये। विजय-घोष ने उसे बिलकुल नही पहचाना। जयघोष मुनि ने भिक्षा की याचना की तो विजयघ ष ने देने से इन्कार कर दिया। मुनि ने शान्तभाव से उसे समझाया कि वास्तव मे यज्ञ क्या है? वेदो, यज्ञो, नक्षत्रो और धर्मो का मुख क्या है? सच्चा ब्राह्मण कौन है? इत्यादि सब प्रश्नो का युक्तिसगत उत्तर दिया, जिसे सुनकर विजयघोष आदि ब्राह्मण अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

विजयघोष ने अपनी ओर से हुई अवज्ञा के लिए जयघोष मुनि से क्षमा माँगी, उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट की, उनके सद्गुणो की प्रशसा की, और भिक्षा लेने के लिए प्रार्थना की।

इस पर जयघोष मुनि ने विजयघोष ब्राह्मण को ससार की भयकरता जन्म-मरणादि दु ख और ससार-परिभ्रमण के हेतुभूत कर्मबन्ध से दूर रहने तथा काम-भोगो मे अनासक्त-अलिप्त रहने का उपदेश दिया। इससे विजयघोष भी ससार से विरक्त हो गया। उसने जयघोष से श्रमणधर्म की निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की।

दोनो ही सयमी और तपस्वी महान आत्माओ ने तप-सयम से अपने कर्मो का क्षय किया और दोनो ने मोक्ष गति प्राप्त की।

कुल मिलाकर यज्ञ, माहण, श्रमण, तापस, मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय प्रभृति वर्ण, आदि आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनो पक्षो को इसमे समुज्ज्वल रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

✻

पच्चीसवाँ अध्ययन · यज्ञीय

[पच्चवीसइम अज्झयण . जन्नइज्ज]

जयघोष मुनि और उनका वाराणसी मे पदार्पण एव उद्यान वास—

मूल—माहणकुल-सभूओ, आसि विप्पो महायसो ।
जायाई जमजन्नमि, जयघोसे त्ति नामओ ॥१॥
इदियग्गाम-निग्गाही, मग्गगामी महामुणी ।
गामाणुगाम रीयते, पत्तो वाराणसि पुरिं ॥२॥
वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मनोरमे ।
फासुए सेज्ज-सथारे, तत्थ वासमुवागए ॥३॥

छाया—ब्राह्मण-कुलसम्भूत, आसीद् विप्रो महायशा ।
यायाजी यमयज्ञे, जयघोष इति नामत ॥१॥
इन्द्रिय-ग्राम-निग्राही, मार्ग-गामी महामुनि ।
ग्रामानुग्राम रीयमाण, प्राप्तो वाराणसी पुरीम् ॥२॥
वाराणस्या बहि, उद्याने मनोरमे ।
प्रासुके शय्या-सस्तारे, तत्र वासामुपागत ॥३॥

पद्या०—जयघोष नाम का एक विप्र था, ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुआ ।
महायशस्वी व्रत-यज्ञो मे, सदा चित्त अनुरक्त रहा ॥१॥
इन्द्रिय-गण के निग्रहकर्ता और महाश्रमण सत्पथगामी ।
ग्रामानुग्राम विचरण करते, वाराणसी आए शुभकामी ॥२॥
वाराणसि-पुरि के बाहर था, उद्यान मनोरम प्रियकारी ।
प्रासुक शय्या-सस्तारक था, मुनिवास किया वहाँ सुखकारी, ॥३॥

अन्वयार्थ—माहण-कुल-सभूओ—ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न, जयघोसेत्ति नामओ—जयघोष नामक, विप्पो—ब्राह्मण, आसि—था, (जो हिंसक), जमजन्नमि—यमरूप यज्ञ मे (अनुरक्त), जायाई—यायाजी था ॥१॥

(वह), इंदिय-गाम-निग्गाही—इन्द्रिय-समूह का निग्रहकर्त्ता, मग्गगामी—(मोक्ष)-मार्ग का अनुगामी, महामुणी—महामुनि, (एक बार) गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम, रीयते—विचरण करता हुआ, वाणारसिं पुरिं—वाराणसी नगरी में, पत्तो—पहुँचा ॥२॥

वाणारसीए—वाराणसी के, बहिया—बाहर, मणोरमे—मनोरम, उज्जाणम्मि—उद्यान में, फासुए—प्रासुक (निर्दोष=निर्जीव), सेज्ज-संथारे—शय्या (वसति), और संस्तारक (पीठ फलक आदि लेकर), वासमुवागए—(वहाँ उन्होंने) निवास किया ॥३॥

भावार्थ—ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न, जयघोष नामक एक प्रसिद्ध महायशस्वी ब्राह्मण था, जो (हिंसाजनक द्रव्य-यज्ञों को छोड़कर) यम (अहिंसा, सत्यादि)-रूप (भाव-) यज्ञ में (अनुरक्त) यायाजी (यज्ञ करने वाला) था ॥१॥

वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला, मोक्षपथ का अनुगामी महामुनि हो गया था। एक बार वह ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ वाराणसी नगरी में पहुँचा ॥२॥

वह वाराणसी नगरी के बाहर मनोरम नामक उद्यान में ठहर गया, जहाँ निर्जीव-निर्दोष शय्या-संस्तारक सुलभ था ॥३॥

विवेचन—जयघोष का संक्षिप्त परिचय—जयघोष ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ महायशस्वी याज्ञिक था। पहले वह अनेक द्रव्य-यज्ञ बार-बार करता था, जिसमें पशुवध, एवं अन्न कण, जल, अग्नि आदि एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ होता था। किन्तु बाद में हिंसाजनक द्रव्य-यज्ञ को छोड़कर वह अहिंसा-सत्यादि (यम-नियम) रूप भावयज्ञ के अनुष्ठान में रत हो गया था। भावयायाजी जयघोष मोक्षमार्गगामी महामुनि बन गया। साथ ही वह इन्द्रियविषयों का निग्रह करने वाला था।

यज्ञ के दो मुख्य प्रकार—यज्ञ के दो प्रकार हैं—द्रव्ययज्ञ और भावयज्ञ। द्रव्ययज्ञ भी श्रौत और स्मार्त के भेद से दो प्रकार का है। श्रौत यज्ञ के वाजपेय, अग्निष्टोम आदि अनेक भेद हैं। स्मार्त यज्ञ भी अनेक प्रकार के हैं। इनमें से श्रौतयज्ञ में तो पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा अवश्य होती है, स्मार्त यज्ञ में पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा तो नहीं होती, किन्तु अग्नि, वनस्पति, जल आदि एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा पर्याप्त रूप से होती है। दूसरा भावयज्ञ है, जिसमें किसी प्रकार की हिंसा की तो सम्भावना

ही नही होती, वल्कि असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह आदि का सर्वथा त्याग किया जाता है, इसलिए वह यमयज्ञ कहलाता है। भावयज्ञ मे कषायो और विषयासक्तिरूप पशुओ को होमना पडता है। इसकी कुछ झांकी वारहवे अध्ययन मे दी गई है।

जयघोष यायाजी (याज्ञिक) ब्राह्मण से श्रमण कैसे बना ?—प्रथम गाथा मे 'माहणकुल सभूओ' एव 'जायाई' इन दो शब्दो से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जयघोष ब्राह्मणकुलोत्पन्न होने के कारण कुल परम्परागत हिंसात्मक द्रव्ययज्ञो मे प्रवृत्त रहता होगा, क्योकि अपने पूर्वाश्रम मे याज्ञिक रहे हैं, और अपने युग मे वाराणसी के प्रसिद्ध और महायशस्वी यायाजी भी। प्रश्न होता है, वे ब्राह्मणपरम्परागत द्रव्ययज्ञो को छोडकर अहिंसामूलक भावयज्ञरूप श्रमण परम्परा मे कैसे आए ?

वृत्तिकार इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणाप्रद घटना अकित करते हैं—

जयघोप और विजयघोष ये दोनो वाराणसीनिवासी ब्राह्मण-कुलोत्पन्न सहोदर भाई थे। दोनो मे परस्पर गाढ प्रेम था। एक दिन जय-घोष स्नान करने के लिए गगा नदी के तट पर गया। स्नानादि से निवृत्त होकर जब वह अपने नित्य कृत्य मे प्रवृत्त हुआ तो उसने देखा कि एक भयकर सांप ने एक मेढक को दबोच लिया है और वह चीं चीं कर रहा है। उसी समय एक बडा बिलाव आ पहुँचा। उसने उस सर्प पर आक्रमण करके उसे मार डाला।

इस घटना ने जयघोष के मन मे महामथन पैदा कर दिया कि 'अहो, ससार की कैसी विचित्र दशा है! निर्बल को सबल मारने के लिए तत्पर रहता है! जीवन की क्षणभंगुरता कितनी आश्चर्यजनक है! सबसे बलवान तो काल है, जो सब जीवो को एक क्षण मे परलोक पहुँचा देता है। इस विश्व मे धर्म ही एकमात्र महासाधन है, जो सब जीवो का रक्षक है, जन्म-मरण से छुटकारा दिलाता है, विविध गतियो और योनियो मे होने वाले कष्टो, सकटो एव अकालमृत्यु से बचाता है। इन द्रव्ययज्ञो मे हिंसा आदि का आश्रय लेना पडता है, जो कि अधर्म है, पाप है। अत मुझे सर्व-पापविरतिरूप धर्म की शरण मे जाकर समस्त दु खो से मुक्त होना चाहिए। मन ही मन इस प्रकार का सकल्प कर जयघोष वहा से उठा और एक पचमहाव्रतधारी त्यागी श्रमण के पास जाकर मुनिधर्म मे

दीक्षित हो गया। मुनि बनते ही जयघोष पचमहाव्रतरूप भावयज्ञ मे प्रवृत्त हो गए। वे जितेन्द्रिय एव मोक्षमार्ग के सच्चे पथिक—मुनि बन गए।

वाराणसी मे निवास—मुनि बनने के पश्चात् सदा तप, सयम और स्वाध्याय मे रत जितेन्द्रिय महामुनि जयघोष अप्रतिबद्ध विहार करते हुए तथा ग्राम-ग्राम मे अपने सदुपदेश से भव्यजनो को सत्पथ पर आरूढ करते हुए एकदा वाराणसी पहुँचे। वहाँ मनोरम उद्यान मे प्रासुक मकान एव पट्ट चौकी आदि के लिए आदि स्वामी की आज्ञा लेकर ठहर गए।

इन्द्रिय निग्रह का अर्थ—अपने-अपने विषयो मे राग-द्वेषवश प्रवृत्त होती हुई चक्षु आदि इन्द्रियो को रोकना अर्थात् विषयासक्ति से दूर रहना इन्द्रिय निग्रह है।

वेदवेत्ता विजयघोष यज्ञसमारम्भ मे प्रवृत्त—

मूल—अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे।
विजयघोसि त्ति नामेण, जन्न जयइ वेयवी ॥४॥

छाया—अथ तस्मिन्नेव काले, पुर्यां तत्र ब्राह्मण।
विजयघोष इति नाम्ना, यज्ञ यजति वेदवित् ॥४॥

पद्यानुवाद—उसी समय उस नगरी मे, था ब्राह्मण वेदो का ज्ञाता।
वह विजयघोष संज्ञा वाला, वेदोक्त यज्ञ विधि करवाता ॥४॥

अन्वयार्थ—अह—इधर, तेणेव कालेण—उसी समय, तत्थ पुरीए—उसी नगरी, (वाराणसी) मे, वेयवी—वेदो का ज्ञाता, विजयघोसित्ति नामेण—विजयघोष नाम का, माहणे—ब्राह्मण, जन्न—यज्ञ, जयइ—कर रहा था ॥४॥

विवेचन—फलितार्थ—जिस समय जयघोष मुनि नगरी के समीपवर्ती मनोरम उद्यान मे विराजमान थे, उस समय उस नगरी मे उनके गृहस्थ-पक्षीय छोटे भ्राता, वेदपाठी, विजयघोष नाम के प्रसिद्ध ब्राह्मण ने एक द्रव्ययज्ञ-समारोह कर रखा था।

वृद्ध-परम्परा से इस यज्ञानुष्ठान का उद्देश्य—प्राचीन व्याख्याताओ के अनुसार विजयघोष ने जो यज्ञानुष्ठान किया था, वह अपने भाई जयघोष के चातुर्वार्षिक श्राद्ध के उद्देश्य से किया था। जयघोष गगातट से नित्य कर्म करता हुआ सर्प मेढक वाली घटना को देख विरक्त होकर वहाँ से सीधा ही किसी विरागी श्रमण के पास दीक्षित हो गया था, वह तब से घर नही लौटा था। विजयघोष को जयघोष के विरक्त होकर श्रमण बन जाने की घटना का बिल्कुल पता न था। अत अपने भ्राता को इधर-उधर

ही नही होती, वल्कि असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह आदि का सर्वथा त्याग किया जाता है, इसलिए वह यमयज्ञ कहलाता है। भावयज्ञ मे कषायो और विषयासक्तिरूप पशुओ को होमना पडता है। इसकी कुछ झाँकी वारहवे अध्ययन मे दी गई है।

जयघोष यायाजी (याज्ञिक) ब्राह्मण से श्रमण कैसे बना?—प्रथम गाथा मे 'माहणकुल सभूओ' एव 'जायाई' इन दो शब्दो से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जयघोष ब्राह्मणकुलोत्पन्न होने के कारण कुल परम्परागत हिंसात्मक द्रव्ययज्ञो मे प्रवृत्त रहता होगा, क्योकि अपने पूर्वाश्रम मे याज्ञिक रहे हैं, और अपने युग मे वाराणसी के प्रसिद्ध और महायशस्वी यायाजी भी। प्रश्न होता है, वे ब्राह्मणपरम्परागत द्रव्ययज्ञो को छोडकर अहिंसामूलक भावयज्ञरूप श्रमण परम्परा मे कैसे आए?

वृत्तिकार इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणाप्रद घटना अकित करते हैं—

जयघोष और विजयघोष ये दोनो वाराणसीनिवासी ब्राह्मण-कुलोत्पन्न सहोदर भाई थे। दोनो मे परस्पर गाढ प्रेम था। एक दिन जय-घोष स्नान करने के लिए गगा नदी के तट पर गया। स्नानादि से निवृत्त होकर जब वह अपने नित्य कृत्य मे प्रवृत्त हुआ तो उसने देखा कि एक भयकर साँप ने एक मेढक को दबोच लिया है और वह चीं चीं कर रहा है। उसी समय एक बडा बिलाव आ पहुँचा। उसने उस सर्प पर आक्रमण करके उसे मार डाला।

इस घटना ने जयघोष के मन मे महामथन पैदा कर दिया कि 'अहो, ससार की कैसी विचित्र दशा है! निर्बल को सबल मारने के लिए तत्पर रहता है! जीवन की क्षणभंगुरता कितनी आश्चर्यजनक है! सबसे बलवान तो काल है, जो सब जीवो को एक क्षण मे परलोक पहुँचा देता है। इस विश्व मे धर्म ही एकमात्र महासाधन है, जो सब जीवो का रक्षक है, जन्म-मरण से छुटकारा दिलाता है, विविध गतियो और योनियो मे होने वाले कष्टो, सकटो एव अकालमृत्यु से बचाता है। इन द्रव्ययज्ञो मे हिंसा आदि का आश्रय लेना पडता है, जो कि अधर्म है, पाप है। अत मुझे सर्व-पापविरतिरूप धर्म की शरण मे जाकर समस्त दु खो से मुक्त होना चाहिए। मन ही मन इस प्रकार का सकल्प कर जयघोष वहा से उठा और एक पचमहाव्रतधारी त्यागी श्रमण के पास जाकर मुनिधर्म मे

दीक्षित हो गया। मुनि बनते ही जयघोष पचमहाव्रतरूप भावयज्ञ मे प्रवृत्त हो गए। वे जितेन्द्रिय एव मोक्षमार्ग के सच्चे पथिक—मुनि बन गए।

वाराणसी मे निवास—मुनि बनने के पश्चात् सदा तप, सयम और स्वाध्याय मे रत जितेन्द्रिय महामुनि जयघोष अप्रतिबद्ध विहार करते हुए तथा ग्राम-ग्राम मे अपने सदुपदेश से भव्यजनो को सत्पथ पर आरूढ करते हुए एकदा वाराणसी पहुँचे। वहाँ मनोरम उद्यान मे प्रासुक मकान एव पट्टे चौकी आदि के लिए आदि स्वामी की आज्ञा लेकर ठहर गए।

इन्द्रिय निग्रह का अर्थ—अपने-अपने विषयो मे राग-द्वेषवश प्रवृत्त होती हुई चक्षु आदि इन्द्रियो को रोकना अर्थात् विषयासक्ति से दूर रहना इन्द्रिय निग्रह है।

वेदवेत्ता विजयघोष : यज्ञसमारम्भ मे प्रवृत्त—

मूल—अह तेणेव कालेग, पुरीए तत्थ माहणे।
विजयघोसि त्ति नामेण, जन्न जयइ वेयवी ॥४॥

छाया—अथ तस्मिन्नेव काले, पुर्यां तत्र ब्राह्मण।
विजयघोष इति नाम्ना, यज्ञ यजति वेदवित् ॥४॥

पद्यानुवाद—उसी समय उस नगरी मे, था ब्राह्मण वेदो का ज्ञाता।
वह विजयघोष संज्ञा वाला, वेदोक्त यज्ञविधि करवाता ॥४॥

अन्वयार्थ—अह—इधर, तेणेव कालेण—उसी समय, तत्थ पुरीए—उसी नगरी, (वाराणसी) मे, वेयवी—वेदो का ज्ञाता, विजयघोसित्ति नामेण—विजयघोष नाम का, माहणे—ब्राह्मण, जन्न—यज्ञ, जयइ—कर रहा था ॥४॥

विवेचन—फलितार्थ—जिस समय जयघोष मुनि नगरी के समीपवर्ती मनोरम उद्यान मे विराजमान थे, उस समय उस नगरी मे उनके गृहस्थ-पक्षीय छोटे भ्राता, वेदपाठी, विजयघोष नाम के प्रसिद्ध ब्राह्मण ने एक द्रव्ययज्ञ-समारोह कर रखा था।

वृद्ध-परम्परा से इस यज्ञानुष्ठान का उद्देश्य—प्राचीन व्याख्याताओ के अनुसार विजयघोष ने जो यज्ञानुष्ठान किया था, वह अपने भाई जयघोष के चातुर्वार्षिक श्राद्ध के उद्देश्य से किया था। जयघोष गगातट से नित्य कर्म करता हुआ सर्प मेढक वाली घटना को देख विरक्त होकर वहाँ से सीधा ही किसी विरागी श्रमण के पास दीक्षित हो गया था, वह तब से घर नही लौटा था। विजयघोष को जयघोष के विरक्त होकर श्रमण बन जाने की घटना का बिल्कुल पता न था। अत अपने भ्राता को इधर-उधर

ही नही होती, बल्कि असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह आदि का सर्वथा त्याग किया जाता है, इसलिए वह यमयज्ञ कहलाता है। भावयज्ञ मे कषायो और विषयासक्तिरूप पशुओ को होमना पडता है। इसकी कुछ झांकी बारहवे अध्ययन मे दी गई है।

जयघोष यायाजी (याज्ञिक) ब्राह्मण से श्रमण कैसे बना ?—प्रथम गाथा मे 'माहणकुल समूओ' एव 'जायाई' इन दो शब्दो से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जयघोष ब्राह्मणकुलोत्पन्न होने के कारण कुल परम्परागत हिंसात्मक द्रव्ययज्ञो मे प्रवृत्त रहता होगा, क्योकि अपने पूर्वाश्रम मे याज्ञिक रहे हैं, और अपने युग मे वाराणसी के प्रसिद्ध और महायशस्वी यायाजी भी। प्रश्न होता है वे ब्राह्मणपरम्परागत द्रव्ययज्ञो को छोडकर अहिंसामूलक भावयज्ञरूप श्रमण परम्परा मे कैसे आए ?

वृत्तिकार इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणाप्रद घटना अकित करते है—

जयघोष और विजयघोष ये दोनो वाराणसीनिवासी ब्राह्मण-कुलोत्पन्न सहोदर भाई थे। दोनो मे परस्पर गाढ प्रेम था। एक दिन जय-घोष स्नान करने के लिए गगा नदी के तट पर गया। स्नानादि से निवृत्त होकर जब वह अपने नित्य कृत्य मे प्रवृत्त हुआ तो उसने देखा कि एक भयकर सॉप ने एक मेढक को दबोच लिया है और वह ची ची कर रहा है। उसी समय एक बडा विलाव आ पहुँचा। उसने उस सर्प पर आक्रमण करके उसे मार डाला।

इस घटना ने जयघोष के मन मे महामथन पैदा कर दिया कि 'अहो, ससार की कैसी विचित्र दशा है! निर्बल को सबल मारने के लिए तत्पर रहता है! जीवन की क्षणभंगुरता कितनी आश्चर्यजनक है! सबसे बलवान तो काल है, जो सब जीवो को एक क्षण मे परलोक पहुँचा देता है। इस विश्व मे धर्म ही एकमात्र महासाधन है, जो सब जीवो का रक्षक है, जन्म-मरण से छुटकारा दिलाता है, विविध गतियो और योनियो मे होने वाले कष्टो, सकटो एव अकालमृत्यु से बचाता है। इन द्रव्ययज्ञो मे हिंसा आदि का आश्रय लेना पडता है, जो कि अधर्म है, पाप है। अत मुझे सर्व-पापविरतिरूप धर्म की शरण मे जाकर समस्त दु खो से मुक्त होना चाहिए। मन ही मन इस प्रकार का सकल्प कर जयघोष वहा से उठा और एक पचमहाव्रतधारी त्यागी श्रमण के पास जाकर मुनिधर्म मे

घोष विप्र के, जन्नम्मि—यज्ञ (-मण्डप) मे, भिक्खमट्ठा—भिक्षा के लिए, उवट्ठिए—उपस्थित हुए (पहुँचे) ॥५॥

सन्त—आये हुए जयघोष मुनि (सन्त) को, तहिं—वहा (यज्ञ-शाला मे), समुवट्ठियं—उपस्थित (देखकर), जायगो—याजक (विजयघोष विप्र) ने उसे, पडिसेहए—निषेध कर दिया कि, भिक्खू—हे भिक्षो, ते—तुम्हे, (मैं), भिक्खं—भिक्षा, न हु दाहामि—नही दूंगा, अन्नओ—दूसरे स्थान से, जायाहि—याचना करो ॥६॥

जे य—जो, वेयविऊ विप्पा—वेद के ज्ञाता विप्र है, य—और, जे—जो, दिया—द्विज-ब्राह्मण, जन्नट्ठा—यज्ञार्थी हैं, य—तथा, जे—जो, जोइसंग-विऊ—ज्योतिषांग के ज्ञाता हैं, य—और, जे—जो, धम्माण—धर्म शास्त्रो मे, पारगा—पारगत हैं, य—और, जे—जो, परमप्पाणमेव—अपने और पर (दूसरे) के आत्मा का, समुद्धत्तुं—उद्धार करने मे, समत्था—समर्थ हैं, भो भिक्खू—हे भिक्षु!, इणं—यह, सव्वकामियं—सर्वकामित=सर्वरसयुक्त, अन्नं—अन्न, तेसिं—उन्ही को, देयं—देना है ॥७-८॥

भावार्थ—एक दिन वह जयघोष मुनि मासिक उपवास के पारणे के अवसर पर भिक्षा के लिए विजयघोष के उस यज्ञ (यज्ञ-स्थल) मे उपस्थित हुआ ॥५॥

उस यज्ञस्थल मे जयघोष मुनि को भिक्षा के लिए उपस्थित देखकर याजक (यज्ञकर्ता) विजयघोष ब्राह्मण ने निषेध करते हुए कहा—हे भिक्षो! मैं तुम्हे भिक्षा नही दूंगा। अत तुम अन्यत्र कहीं जाकर याचना करो ॥६॥

यह सर्वकामित=सभी को अभीष्ट अथवा सर्वरसयुक्त अन्न (आहार) उन्ही को दिया जायगा, जो वेदो के ज्ञाता ब्राह्मण हैं, जो विप्र यज्ञार्थी हैं, जो ज्योतिष के अंगो के ज्ञाता हैं, जो धर्मशास्त्रो के पारगामी हैं तथा जो अपनी और दूसरो की आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ हैं ॥७-८॥

विवेचन—जिस समय विजयघोष विप्र यज्ञ कर रहा था, उस समय जयघोष मुनि मासिक उपवास के तपश्चरण मे निरत थे। जब पारणे का दिन आया तब भिक्षोपजीवी साधु की निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने की वृत्ति के अनुसार वह यथासमय भिक्षार्थ भ्रमण करता हुआ विजयघोष ब्राह्मण की यज्ञशाला मे भिक्षा के लिए पहुँच गया।

भिक्षा के लिए अपनी यज्ञशाला मे उपस्थित जयघोष मुनि को देखकर विजयघोष विप्र उन्हे पहचान नही सका कि ये मेरे गृहस्थाश्रम-पक्षीय भाई हैं। याज्ञिक ब्राह्मण होने के नाते, उसके मन मे श्रमणो के प्रति

ढूढने पर जब कही भी उसका अता-पता न लगा तथा लगभग चार वर्ष तक वह घर नही आया तो उसने समझ लिया कि जयघोष (बडा भाई) मर गया है। इस विश्वास के अनुसार विजयघोष ने अपने भाई के चातुर्वार्षिक श्राद्ध के रूप मे यह यज्ञसमारम्भ किया हो, ऐसा पुष्टानुमान होता है।

विजयघोष द्वारा जयघोष को भिक्षा देने का निषेध—

मूल—अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमण-पारणे ।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥५॥
समुवट्ठिय तहिं सत, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्ख, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥६॥
जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥७॥
जे समत्था समुद्धत्तु, परमप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिण देय, भो भिक्खू ! सव्वकामिय ॥८॥

छाया—अथ स तत्रानगार, मासक्षपण-पारणे ।
विजयघोषस्य यज्ञे, भिक्षार्थमुपस्थित ॥५॥
समुपस्थित तत्र सन्त, याजक प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि ते भिक्षा, भिक्षो ! याचस्वाऽन्यत ॥६॥
ये च वेदविदो विप्रा, यज्ञार्थाश्च ये द्विजा ।
ज्योतिषागविदो ये च, ये च धर्माणा पारगा ॥७॥
ये समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिद देय, भो भिक्षो ! सर्वकामितम् ॥८॥

पद्यानुवाद—उस पुर मे जयघोष-श्रमण उपवास-मास के पारण मे ।
भिक्षा लेने को आ पहुँचे, वे विजयघोष-यज्ञागन मे ॥५॥
भिक्षा-हित आए मुनिवर को, याजक ने यो प्रतिषेध किया ।
मुनि ! करो याचना और कही, मैं तुम्हे नही दूगा भिक्षा ॥६॥
जो विप्र वेद के ज्ञाता हैं, यज्ञार्थी सस्कृति से द्विज हैं ।
जो ज्योतिषाग के विज्ञ और, जो धर्मशास्त्र के पारग हैं ॥७॥
निज-पर के उद्धारकरण मे, जिनका समर्थ यह जीवन है ।
भिक्षो ! उनके ही हित देना, षड्रसयुत् उत्तम भोजन है ॥८॥

अन्वयार्थ—अह—इसके पश्चात्, से अणगारे—वह जयघोष अनगार, मासक्खमण-पारणे—मासिक तपस्या के पारणे के प्रसग पर, विजयघोसस्स—विजय-

घोष विप्र के, जन्नम्मि—यज्ञ (-मण्डप) में, भिक्खमट्ठा—भिक्षा के लिए, उवट्ठिए—उपस्थित हुए (पहुँचे) ॥५॥

समणं—आये हुए जयघोष मुनि (सन्त) को, तहिं—वहाँ (यज्ञ-शाला में), समुवट्ठियं—उपस्थित (देखकर), जायगो—याजक (विजयघोष विप्र) ने उसे, पडिसेहए—निषेध कर दिया कि, भिक्खू—हे भिक्षो, ते—तुम्हें, (मैं), भिक्खं—भिक्षा, न हु दाहामि—नहीं दूँगा, अन्नओ—दूसरे स्थान से, जायाहि—याचना करो ॥६॥

जे य—जो, वेयविऊ विप्पा—वेद के ज्ञाता विप्र है, य—और, जे—जो, दिया—द्विज-ब्राह्मण, जन्नट्ठा—यज्ञार्थी हैं, य—तथा, जे—जो, जोइसंग-विऊ—ज्योतिषांग के ज्ञाता हैं, य—और, जे—जो, धम्माण—धर्म शास्त्रों में, पारगा—पारगत हैं, य—और, जे—जो, परमप्पाणमेव—अपने और पर (दूसरे) के आत्मा का, समुद्धत्तुं—उद्धार करने में, समत्था—समर्थ हैं, भो भिक्खू—हे भिक्षु!, इणं—यह, सव्वकामियं—सर्वकामित=सर्वरसयुक्त, अन्नं—अन्न, तेसिं—उन्हीं को, देयं—देना है ॥७-८॥

भावार्थ—एक दिन वह जयघोष मुनि मासिक उपवास के पारणे के अवसर पर भिक्षा के लिए विजयघोष के उस यज्ञ (यज्ञ-स्थल) में उपस्थित हुआ ॥५॥

उस यज्ञस्थल में जयघोष मुनि को भिक्षा के लिए उपस्थित देखकर याजक (यज्ञकर्ता) विजयघोष ब्राह्मण ने निषेध करते हुए कहा—हे भिक्षो! मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूँगा। अतः तुम अन्यत्र कहीं जाकर याचना करो ॥६॥

यह सर्वकामित—सभी को अभीष्ट अथवा सर्वरसयुक्त अन्न (आहार) उन्हीं को दिया जायगा, जो वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण हैं, जो विप्र यज्ञार्थी हैं, जो ज्योतिष के अंगों के ज्ञाता हैं, जो धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं तथा जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं ॥७-८॥

विवेचन—जिस समय विजयघोष विप्र यज्ञ कर रहा था, उस समय जयघोष मुनि मासिक उपवास के तपश्चरण में निरत थे। जब पारणे का दिन आया तब भिक्षोपजीवी साधु को निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने की वृत्ति के अनुसार वह यथासमय भिक्षार्थ भ्रमण करता हुआ विजयघोष ब्राह्मण की यज्ञशाला में भिक्षा के लिए पहुँच गया।

भिक्षा के लिए अपनी यज्ञशाला में उपस्थित जयघोष मुनि को देखकर विजयघोष विप्र उन्हें पहचान नहीं सका कि ये मेरे गृहस्थाश्रम-पक्षीय भाई हैं। याज्ञिक ब्राह्मण होने के नाते, उसके मन में श्रमणों के प्रति

ढूढने पर जब कही भी उसका अता-पता न लगा तथा लगभग चार वर्ष तक वह घर नही आया तो उसने समझ लिया कि जयघोप (बडा भाई) मर गया है। इस विश्वास के अनुसार विजयघोप ने अपने भाई के चातुर्वार्षिक श्राद्ध के रूप मे यह यज्ञसमारम्भ किया हो, ऐसा पुष्टानुमान होता है।

विजयघोष द्वारा जयघोष को भिक्षा देने का निषेध—

मूल—अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमण-पारणे ।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥५॥
समुवट्ठियं तहिं सत, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्ख, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥६॥
जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥७॥
जे समत्था समुद्धत्तु, परमप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिण देय, भो भिक्खू ! सव्वकामियं ॥८॥

छाया—अथ स तत्रानगार, मासक्षपण-पारणे ।
विजयघोपस्य यज्ञे, भिक्षार्थमुपस्थित ॥५॥
समुपस्थित तत्र सन्त, याजक प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि ते भिक्षा, भिक्षो ! याचस्वाऽन्यत ॥६॥
ये च वेदविदो विप्रा, यज्ञार्थाश्च ये द्विजा ।
ज्योतिषागविदो ये च, ये च धर्माणा पारगा ॥७॥
ये समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिद देयं, भो भिक्षो ! सर्वकामितम् ॥८॥

पद्यानुवाद—उस पुर मे जयघोष-श्रमण उपवास-मास के पारण मे ।
भिक्षा लेने को आ पहुँचे, वे विजयघोष-यज्ञागन मे ॥५॥
भिक्षा-हित आए मुनिवर को, याजक ने यो प्रतिषेध किया ।
मुनि ! करो याचना और कही, मैं तुम्हे नही दूगा भिक्षा ॥६॥
जो विप्र वेद के ज्ञाता है, यज्ञार्थी सस्कृति से द्विज हैं ।
जो ज्योतिषाग के विज्ञ और, जो धर्मशास्त्र के पारग हैं ॥७॥
निज-पर के उद्धारकरण मे, जिनका समर्थ यह जीवन है ।
भिक्षो ! उनके ही हित देना, षड्रसयुत उत्तम भोजन है ॥८॥

अन्वयार्थ—अह—इसके पश्चात्, से अणगारे—वह जयघोष अनगार, मासक्खमण-पारणे—मासिक तपस्या के पारणे के प्रसग पर, विजयघोसस्स—विजय-

नन्नट्ठ पाणहेउं वा, न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥१०॥

न वि जाणासि वेय-मुहं, न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण ॥१२॥

छाया—स तत्रैव प्रतिषिद्धः, याजकेन महामुनिः।
नाऽपि रुष्टो, नाऽपि तुष्टः, उत्तमार्थ-गवेषकः ॥९॥
नान्नार्थं पानहेतुं वा, नाऽपि निर्वाहणाय वा।
तेषां विमोक्षणार्थम्, इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥
नाऽपि जानासि वेदमुखं, नाऽपि यज्ञानां यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम् ॥११॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
न तान् त्वं विजानासि, अथ जानासि तदा भण ॥१२॥

पद्यानुवाद—याजक से ऐसा पा निषेध, वह महाश्रमण उस काल वहाँ।
ना रुष्ट और ना तुष्ट हुआ, आत्मार्थ-गवेषण ध्यान रहा ॥९॥
ना अन्न और पानी के हित, निर्वाह-हेतु ना चित्त रहा।
उनके भव-बन्धन-मोक्ष-हेतु, यो धर्म-हेतु शुभ वचन कहा ॥१०॥
वेदों का मुख नहिं जानत हो, और नहीं यज्ञ का जो मुख है।
नक्षत्रों में प्रमुख कौन, और धर्मों का कहो कौन मुख है? ॥११॥
निज पर के जो उद्धारक हैं, उनका भी तुमको ज्ञान नहीं।
यदि ज्ञात तुम्हें हो इनका उत्तर, तो बतलाओ हमको सही यही ॥१२॥

अन्वयार्थ—तत्थ—वहाँ (यज्ञशाला में), एव—इस प्रकार, जायगेण—याजक (विजयघोष) के द्वारा (भिक्षा देने से), पडिसिद्धो—इन्कार किये जाने पर, उत्तमट्ठ-गवेसओ—उत्तमार्थ—मोक्ष का गवेषक, सो महामुणी—वह (जयघोष) महामुनि, न वि रुट्ठो—न तो रुष्ट (क्रुद्ध) हुआ, (और) न वि तुट्ठो—न ही तुष्ट (प्रसन्न) हुआ ॥९॥

नान्नट्ठ—न तो अन्न (आहार) के लिए, पाणहेउं वा—न ही पानी के लिए, न विनिव्वाहणाय वा—और न ही जीवन-निर्वाह करने के लिए, (किन्तु), तेसिं—उन (याज्ञिकों) के, विमोक्खणट्ठाए—विमोक्षण (मुक्ति) के लिए, (मुनि ने) इमं वयणं—यह वचन, अब्बवी—कहा— ॥१०॥

असद्भाव उत्पन्न हुआ था। यह उस समय की बढी हुई साम्प्रदायिकता एव पूर्वाग्रह का द्योतक है। साम्प्रदायिक विद्वेषवश विजयघोष ने मुनि को स्पष्ट शब्दो मे इन्कार कर दिया—"मैं तुम्हे हर्गिज भिक्षा नही दूगा। तुम और कही जाकर भिक्षा मागो। यह सर्वाभीष्ट सरस आहार तो वेद-वेत्ता आदि गुणो से विभूषित ब्राह्मणो के लिए है, तुम जैसे नास्तिक क्षुद्र-जातीय श्रमणो के लिए नही।

अन्न के अधिकारी विजयघोष विप्र की दृष्टि मे—याजक विजयघोष द्वारा मुनि जयघोष को प्रस्तुत यज्ञान्न के अधिकारी पाच विशेषताओ वाले पुरुष बताए गये—(१) वेदो के जानने वाले ब्राह्मण, (२) यज्ञार्थी—वेदोक्त विधि के अनुसार यज्ञानुष्ठान करने वाले, (३) ज्योतिषाग विद्या के ज्ञाता, (४) धर्मशास्त्रो मे पारगत, और (५) स्वपर का उद्धार करने मे समर्थ।

जन्नट्ठा यज्ञार्थी तात्पर्य—यज्ञ के ही प्रयोजन वाले।

जोइसग विऊ—यद्यपि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदो के अग[1] बताए गए हैं, अत अग या वेदाग के कथन से ही ज्योतिष का ग्रहण हो जाता, तथापि ज्योतिष का पृथक ग्रहण उसकी प्रधानता को सूचित करने हेतु किया गया है। अर्थात्—यज्ञ सम्पादनार्थ उपस्थित ब्राह्मण को ज्योतिष विद्या मे विशेष निपुण होना चाहिए। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वे ज्योतिष् और शिक्षादि अन्य अगो को जानने वाले हो।

धम्माण पारगा—सामान्यतया इसका अर्थ होता है—धर्मों के पार-गामी, परन्तु प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त इन दो शब्दो का अर्थ है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का प्रतिपादन करने वाले धर्मशास्त्रो के मर्मज्ञ। धर्म का धर्मशास्त्र अर्थ यहाँ लक्षणावृत्ति से किया गया है।

सव्वकामिय तीन अर्थ—(१) सर्वकाम्य=सबके लिए अभीष्ट, (२) सर्वकामनाओ को पूर्ण करने वाला, अथवा (३) मधुर-अम्लादि सर्व रसो से युक्त।

समभावी जयघोष मुनि द्वारा विजयघोष से प्रतिप्रश्न—

मूल—सो तत्थ एव पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो, न वि तुट्ठो, उत्तमट्ठ-गवेसओ ॥९॥

१—शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्द एव च।
ज्योतिष चेति विज्ञेय, षडगानि पृथक-पृथक् ॥

नन्नट्ठं पाणहेउं वा, न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥१०॥

न वि जाणासि वेय-मुहं, न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥

जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण ॥१२॥

छाया—स तत्रैव प्रतिषिद्धः, याजकेन महामुनिः।
नाऽपि रुष्टो, नाऽपि तुष्टः, उत्तमार्थ-गवेषकः ॥९॥
नान्नार्थं पानहेतुं वा, नाऽपि निर्वाहणाय वा।
तेषां विमोक्षणार्थम्, इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥
नाऽपि जानासि वेदमुखं, नाऽपि यज्ञानां यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम् ॥११॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
न तान् त्वं विजानासि, अथ जानासि तदा भण ॥१२॥

पद्यानुवाद—याजक से ऐसा पा निषेध, वह महाश्रमण उस काल वहाँ।
ना रुष्ट और ना तुष्ट हुआ, आत्मार्थ-गवेषण ध्यान रहा ॥९॥
ना अन्न और पानी के हित, निर्वाह-हेतु ना चित्त रहा।
उनके भव-बन्धन-मोक्ष-हेतु, यों धर्म-हेतु शुभ वचन कहा ॥१०॥
वेदों का मुख नहिं जानत हो, और नहीं यज्ञ का जो मुख है।
नक्षत्रों मे प्रमुख कौन, और धर्मों का कहो कौन मुख है? ॥११॥
निज पर के जो उद्धारक हैं, उनका भी तुमको ज्ञान नहीं।
यदि ज्ञात तुम्हें हो इनका उत्तर, तो बतलाओ हमको सही यहीं ॥१२॥

अन्वयार्थ—तत्थ—वहाँ (यज्ञशाला में), एव—इस प्रकार, जायगेण—याजक (विजयघोष) के द्वारा (भिक्षा देने से), पडिसिद्धो—इन्कार किये जाने पर, उत्तमट्ठ-गवेसओ—उत्तमार्थ—मोक्ष का गवेषक, सो महामुणी—वह (जयघोष) महामुनि, न वि रुट्ठो—न तो रुष्ट (क्रुद्ध) हुआ, (और) न वि तुट्ठो—न ही तुष्ट (प्रसन्न) हुआ ॥९॥

नन्नट्ठं—न तो अन्न (आहार) के लिए, पाणहेउं वा—न ही पानी के लिए, न वि निव्वाहणाय वा—और न ही जीवन-निर्वाह करने के लिए, (किन्तु), तेसिं—उन (याज्ञिकों) के, विमोक्खणट्ठाए—विमोक्षण (मुक्ति) के लिए, (मुनि ने) इमं वयणं—यह वचन, अब्बवी—कहा— ॥१०॥

लगता है, किन्तु उनका आशय यज्ञशाला मे उपस्थित ब्राह्मण विद्वानो को सद्बोध देकर उन्हे कर्मबन्ध से मुक्त कराने का था।

उत्तमट्ठगवेसओ के तीन अर्थ —(१) उत्तमार्थ—मोक्षार्थ-गवेषक, (२) आत्मार्थ—अन्वेषक, (३) याज्ञिक-कथन मे से उत्तम उद्देश्य या उज्ज्वल पक्ष को ग्रहण करने वाला।

वारो के मुख से तात्पर्य—वेदो के मुख का तात्पर्य है—वेदो मे प्रधानतया प्रतिपादित विषय, यज्ञो के मुख का तात्पर्य है—यज्ञो मे प्रमुख-सर्वोत्कृष्ट यज्ञ। नक्षत्रो के मुख से तात्पर्य है—नक्षत्रो मे सर्वोत्तम प्रधान। और धर्मो के मुख से तात्पर्य है—धर्मो मे जो प्रमुख है, उससे।

निरुत्तर विजयघोष द्वारा जयघोष मुनि से पूर्वोक्त प्रश्नों के समाधान की जिज्ञासा—

मूल—तस्सक्खेव-पमोक्खं च, अचयंतो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउं, पुच्छइ तं महामुणिं ॥१३॥
वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं ॥१४॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू ! कहसु पुच्छिओ ॥१५॥

छाया—तस्याक्षेप-प्रमोक्षं च (दातुं), अशक्नुवन् तत्र द्विजः।
सपरिषत् प्राञ्जलिर्भूत्वा, पृच्छति तं महामुनिम् ॥१३॥
वेदानां च मुखं ब्रूहि, ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि, ब्रूहि धर्माणां वा मुखम् ॥१४॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
एतं मे संशयं सर्वं, साधो ! कथय पृच्छतः ॥१५॥

पद्यानुवाद—प्रश्नो के उत्तर देने मे, असमर्थ विप्र बोला मुनि से।
अंजलि जोड़े पृच्छा करता, हो संग सभा के जनगण से ॥१३॥
तुम कहो-वेद का मुख क्या है ?, 'यज्ञो का जो मुख ? तुम बोलो।
नक्षत्रो का प्रमुख कौन ?, 'धर्मों का मुख भी ?' तुम बोलो ॥१४॥
उद्धार-समर्थ कहो जो जन हैं, अपने और पराये के ?
हे साधु ! करो तुम समाधान, मेरे इन सारे संशय के ॥१५॥

अन्वयार्थ—तत्थ—उस (यज्ञशाला) मे, तस्स—उस (महामुनि) के, अक्खेव पमोक्खं—आक्षेपो (प्रश्नो) के प्रमोक्ष (उत्तर) (देने) मे, अचयंतो—असमर्थ, दिओ—द्विज (विजयघोष), सपरिसो—अपनी समग्र परिषद् (मण्डली) के सहित,

पजली होउ—करबद्ध होकर (हाथ जोडकर), त महामुणि—उस महामुनि से, पुच्छइ—पूछने लगा ॥१३॥

साहू—हे साधुवर !, बूहि—(तुम ही) कहो, वेयाणमुह—वेदो का मुख क्या है, च—और, जन्नाण—यज्ञो का, ज मुह—जो मुख है, बूहि—उसे बताओ, नक्खत्ताण—नक्षत्रो का, मुह—मुख, बूहि—वह भी कहो, (तथा) जे—जो, परमप्पाणमेव—अपना और दूसरे का, समुद्धत्तु—उद्धार करने मे, समत्था—समर्थ है, उन्हे भी बताओ, मे—मुझे, एय—यह, सव्व—सब, ससय—सशय है, (इसलिए) पुच्छिओ—मैं पूछता हूं, कहसु—आप कहिए ॥१४-१५॥

भावार्थ—यज्ञशाला मे उस महामुनि के प्रश्नो का उत्तर देने मे असमर्थ विजयघोष द्विज ने अपनी याज्ञिक मण्डली सहित हाथ जोडकर इस प्रकार पूछा ॥१३॥

"साधुवर ! वेदो का मुख (मुख्य उपादेय विषय) क्या है ?, उसे कहिए, यज्ञो का जो मुख (उपाय) है, इसे भी आप बताइए। और नक्षत्रो का जो प्रमुख है, उसे कहिए, तथा धर्मों के जो प्रमुख (आदिकारण) है, उसे भी बताइए। जो अपने और दूसरो के आत्मा का उद्धार करने मे सक्षम हैं, उन्हे बताइए। मेरी ये सब शकाए हैं, जिनके विषय मे मै आपसे सविनय पूछ रहा हूँ। आप मुझे बताने की कृपा करे ॥१४-१५॥

विवेचन—विजयघोष द्वारा उसी क्रम से जिज्ञासा—पाँचो प्रश्नो का का उत्तर देने मे असमर्थ विजयघोष ने सोचा कि 'यज्ञमण्डप मे उपस्थित विद्वानो के समक्ष निर्भीकतापूर्वक इस मुनि ने आक्षेपप्रधान प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि यह वेदो के तत्त्वज्ञानी धारणाशील महामुनि है और अनायास ही यह यहा आ गए हैं तो इन्ही से जिज्ञासापूर्वक सविनय इन प्रश्नो के उत्तर पूछने चाहिए। जिससे हमे वास्तविक नया ज्ञान मिले, किसी प्रकार के सशय से मन दोलायमान न हो।' अत विजयघोष विप्र ने अपनी विद्वन्मण्डली सहित करबद्ध होकर उसी क्रम से पाँचो प्रश्नो के उत्तर जानने की प्रबल इच्छा व्यक्त की। साथ ही यह भी कहा कि हमारे मन मे भी इन सबके विषय मे सशय है। इस प्रकार के उद्गारो से विजयघोष आदि याज्ञिको की जिज्ञासावृत्ति तथा प्रतिपक्षी होने पर भी सत्यप्राप्ति की उत्कण्ठा एव सत्य को सविनय स्वीकार करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

अक्खेव-पमोक्ख भावार्थ—आक्षेपो का प्रमोक्ष—उत्तर देने मे।

जयघोष मुनि द्वारा पाँचों प्रश्नों के उत्तर—

मूल—अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसां मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो, धम्माण कासवो मुहं ॥१६॥
जहा चन्दं गहाईया, चिट्ठंति पंजलीउडा।
वंदमाणा नमंसंता, उत्तम मणहारिणो ॥१७॥
अजाणगा जन्नवाई, विज्जा, माहण-संपया।
गूढा सज्झाय-तवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो ॥१८॥

छाया—अग्निहोत्रमुखा वेदा, यज्ञार्थी वेदसां मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः, धर्माणां काश्यपो मुखम् ॥१६॥
यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः, तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटाः।
वन्दमाना नमस्यन्तः, उत्तमं मनोहारिणः ॥१७॥
अजानाना (अज्ञायकाः) यज्ञवादिनः, विद्या ब्राह्मण-सम्पदा।
गूढा स्वाध्याय-तपसा, भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥१८॥

पद्यानुवाद—अग्निहोत्र मुख वेदों का है, यज्ञार्थी मुख यज्ञों का।
नक्षत्रगणों का चन्द्र प्रमुख है, है काश्यप मुख सब धर्मों का ॥१६॥
जैसे करबद्ध ग्रहादि सभी, शशि के आगे में हैं रहते।
मनहारी वन्दन नमन करें, वैसे सब जिनवर को करते ॥१७॥
अनजान यज्ञवादी ये हैं, ब्राह्मण विद्या के वैभव से।
स्वाध्याय तपस्या से संवृत, भस्मावृत पावक के जैसे ॥१८॥

अन्वयार्थ—वेया अग्गिहुत्तमुहा—वेदों का मुख अग्निहोत्र है, वेयसा मुहं—यज्ञों का मुख, जन्नट्ठी—यज्ञार्थी है, नक्खत्ताण मुहं—नक्षत्रों का मुख, चन्दो—चन्द्रमा है, धम्माण मुहं—धर्मों का मुख, कासवो—काश्यप=ऋषभदेव हैं ॥१६॥

जहा—जिस प्रकार, चन्दं—चन्द्रमा के सम्मुख, मणहारिणो—मनोहर, गहाईया—ग्रह आदि, पंजलीउडा—हाथ जोड़े हुए, वन्दमाणा नमंसंता—वन्दना-नमस्कार करते हुए, चिट्ठंति—रहते हैं, (उसी प्रकार इन्द्र आदि देवगण) उत्तमं—उत्तम पुरुष (काश्यप भगवान् श्री ऋषभदेव) के सम्मुख रहते हैं ॥१७॥

(जो) जण्णवाई—यज्ञवादी हैं, (वे) विज्जा माहण-संपया—विद्या और ब्राह्मण की सम्पदा से, अजाणगा—अनभिज्ञ हैं। (वे बाहर में) सज्झाय-तवसा—स्वाध्याय और तप से (उसी प्रकार) गूढा—ढके हुए हैं, भासच्छन्ना इव अग्गिणो—जिस प्रकार राख से ढकी हुई अग्नि होती है ॥१८॥

विवेचन—अग्गिहुत्त-मुहा वेया तात्पर्य—वेदों का मुख अर्थात् प्रधान

पजली होउ—करबद्ध होकर (हाथ जोडकर), त महामुणि—उस महामुनि से, पुच्छइ—पूछने लगा ॥१३॥

साहू—हे साधुवर !, बूहि—(तुम ही) कहो, वेयाणमुह—वेदो का मुख क्या है, च—और, जन्नाण—यज्ञो का, ज मुह—जो मुख है, बूहि—उसे बताओ, नक्खत्ताण—नक्षत्रो का, मुह—मुख, बूहि—वह भी कहो, (तथा) जे—जो, परमप्पाणमेव—अपना और दूसरे का, समुद्धत्तु—उद्धार करने मे, समत्था—समर्थ हैं, उन्हे भी बताओ, मे—मुझे, एय—यह, सव्व—सब, ससय—सशय है, (इसलिए) पुच्छिओ—मैं पूछता हूँ, कहसु—आप कहिए ॥१४-१५॥

भावार्थ—यज्ञशाला मे उस महामुनि के प्रश्नो का उत्तर देने मे असमर्थ विजयघोष द्विज ने अपनी याज्ञिक मण्डली सहित हाथ जोडकर इस प्रकार पूछा ॥१३॥

"साधुवर ! वेदो का मुख (मुख्य उपादेय विषय) क्या है ?, उसे कहिए, यज्ञो का जो मुख (उपाय) है, इसे भी आप बताइए। और नक्षत्रो का जो प्रमुख है, उसे कहिए, तथा धर्मो के जो प्रमुख (आदिकारण) है, उसे भी बताइए। जो अपने और दूसरो के आत्मा का उद्धार करने मे सक्षम हैं, उन्हे बताइए। मेरो ये सब शकाए हैं, जिनके विषय मे मैं आपसे सविनय पूछ रहा हूँ। आप मुझे बताने की कृपा करे ॥१४-१५॥

विवेचन—विजयघोष द्वारा उसी क्रम से जिज्ञासा—पाँचो प्रश्नो का का उत्तर देने मे असमर्थ विजयघोष ने सोचा कि 'यज्ञमण्डप मे उपस्थित विद्वानो के समक्ष निर्भीकतापूर्वक इस मुनि ने आक्षेपप्रधान प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि यह वेदो के तत्त्वज्ञानी धारणाशील महामुनि है और अनायास ही यह यहा आ गए हैं तो इन्ही से जिज्ञासा-पूर्वक सविनय इन प्रश्नो के उत्तर पूछने चाहिए। जिससे हमे वास्तविक नया ज्ञान मिले, किसी प्रकार के सशय से मन दोलायमान न हो।' अत विजयघोष विप्र ने अपनी विद्वन्मण्डली सहित करबद्ध होकर उसी क्रम से पाँचो प्रश्नो के उत्तर जानने की प्रबल इच्छा व्यक्त की। साथ ही यह भी कहा कि हमारे मन मे भी इन सबके विषय मे सशय है। इस प्रकार के उद्गारो से विजयघोष आदि याज्ञिको की जिज्ञासावृत्ति तथा प्रतिपक्षी होने पर भी सत्यप्राप्ति की उत्कण्ठा एव सत्य को सविनय स्वीकार करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

अक्खेव-पमोक्ख भावार्थ—आक्षेपो का प्रमोक्ष=उत्तर देने मे।

जयघोष मुनि द्वारा पाँचों प्रश्नों के उत्तर—

मूल—अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसां मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो, धम्माण कासवो मुहं ॥१६॥
जहा चंदं गहाईया, चिट्ठंति पंजलीउडा ।
वंदमाणा नमंसंता, उत्तमं मणहारिणो ॥१७॥
अजाणगा जन्नवाई, विज्जा, माहण-संपया ।
गूढा सज्झाय-तवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो ॥१८॥

छाया—अग्निहोत्रमुखा वेदा, यज्ञार्थी वेदसां मुखम् ।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्रः, धर्माणां काश्यपो मुखम् ॥१६॥
यथा चन्द्रं ग्रहादिका, तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटाः ।
वन्दमाना नमस्यन्तः, उत्तमं मनोहारिणः ॥१७॥
अजानाना (अज्ञायका) यज्ञवादिनः, विद्या ब्राह्मण-सम्पदा ।
गूढा स्वाध्याय-तपसा, भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥१८॥

पद्यानुवाद—अग्निहोत्र मुख वेदों का है, यज्ञार्थी मुख यज्ञों का ।
नक्षत्रगणों का चन्द्र प्रमुख है, है काश्यप मुख सब धर्मों का ॥१६॥
जैसे करबद्ध ग्रहादि सभी, शशि के आगे मे है रहते ।
मनहारी वन्दन नमन करे, वैसे सब जिनवर को करते ॥१७॥
अनजान यज्ञवादी ये हैं, ब्राह्मण विद्या के वैभव से ।
स्वाध्याय तपस्या से संवृत, भस्मावृत पावक के जैसे ॥१८॥

अन्वयार्थ—वेया अग्गिहुत्तमुहा—वेदों का मुख अग्निहोत्र है, वेयसा मुहं—यज्ञों का मुख, जन्नट्ठी—यज्ञार्थी है, नक्खत्ताण मुहं—नक्षत्रों का मुख, चन्दो—चन्द्रमा है, धम्माण मुहं—धर्मों का मुख, कासवो—काश्यप=ऋषभदेव है ॥१६॥

जहा—जिस प्रकार, चंदं—चन्द्रमा के सम्मुख, मणहारिणो—मनोहर, गहाईया—ग्रह आदि, पंजलीउडा—हाथ जोड़े हुए, वन्दमाणा नमंसंता—वन्दना-नमस्कार करते हुए, चिट्ठंति—रहते हैं, (उसी प्रकार इन्द्र आदि देवगण) उत्तमं—उत्तम पुरुष (काश्यप भगवान् श्री ऋषभदेव) के सम्मुख रहते हैं ॥१७॥

(जो) जन्नवाई—यज्ञवादी हैं, (वे) विज्जा माहण-संपया—विद्या और ब्राह्मण की सम्पदा से, अजाणगा—अनभिज्ञ हैं। (वे बाहर मे) सज्झाय-तवसा—स्वाध्याय और तप से (उसी प्रकार) गूढा—ढके हुए हैं, भासच्छन्ना इव अग्गिणो—जिस प्रकार राख से ढकी हुई अग्नि होती है ॥१८॥

विवेचन—अग्गिहुत्त-मुहा वेया तात्पर्य—वेदों का मुख अर्थात् प्रधान

प्रतिपाद्य अग्निहोत्र है। इसलिए वेदो मे प्रतिदिन अग्निहोत्र करने का विधान है। अत 'अग्निमुखा वै वेदा' इस कथन के अनुसार अग्निहोत्र वेदो का प्रधान प्रतिपाद्य विषय होने से वेदो का मुख माना गया है। किन्तु अग्नि मे आहुति देना या हवन करना, अग्निहोत्र है, यह अर्थ तो विजय-घोष को ज्ञात ही था। फिर भी विजयघोष जयघोष मुनि से मालुम करना चाहता था कि उनके अभिमत मे अग्निहोत्र का अर्थ क्या है? अतएव जयघोष मुनि द्वारा अभिमत अग्निहोत्र और वेद इन दोनो की व्याख्या कुछ और ही है, जो युक्तियुक्त और हृदयग्राही है। मुनि के मत से—वेद का अर्थ ज्ञान है, जो 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न होता है। जब ज्ञान के द्वारा सर्व द्रव्यो का स्वरूप भलीभाँति जान लिया जाता है, तब कर्मजन्य ससारचक्र से अपनी आत्मा को मुक्त करने के लिए तप, सयम आदि रूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईन्धन को जलाकर सद्भावनारूप आहुति की आवश्यकता होती है। ऐसे अग्निहोत्र मे मन के सभी विकार स्वाहा हो जाते हैं और तप, सयम, स्वाध्याय, श्रद्धा, क्षमा, धृति, सन्तोष, सत्य, अहिंसा आदि रूप अध्यात्मभाव ही अग्निहोत्र है। जैसे कि अन्यत्र कहा है—

'कर्मेन्धन समाश्रित्य, दृढ-सद्भावना हुति।
धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका॥

'दीक्षित को कर्मरूपी ईन्धन को धर्मध्यानरूपी अग्नि मे दृढता से डालकर सद्भावनारूपी घृत की आहुति से देकर अग्निकारिका करनी चाहिए।'

जण्णट्ठी वेयसा मुह—यज्ञो का मुख अर्थात्—उपाय, यहाँ यज्ञार्थी बताया है, यह अपनी परम्परानुसार प्रचलित अर्थ मे विजयघोष जानता था, जयघोषमुनि ने आत्मयज्ञ, सयमरूप भावयज्ञ आदि के सन्दर्भ मे अपने बहिर्मुख इन्द्रिय और मन को असयम से हटाकर सयम मे केन्द्रित करने वाले आत्मसाधक को ही भावयज्ञ का अनुष्ठान करने वाला सच्चा यज्ञार्थी बताया है। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे अहिंसा को 'यज्ञ' बताया है। अत अहिंसा का पूर्णतया पालन करने वाला सयमी पुरुष ही यज्ञार्थी है।

नक्खत्ताण मुह चदो —नक्षत्रो का मुख—प्रमुख चन्द्रमा है, क्योकि नक्षत्रो के प्रकाशमान होते हुए भी चन्द्रमा के बिना रात्रि अमावस्या कह-लाती है। अत नक्षत्रो मे चन्द्रमा की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त काल-ज्ञान केवल नक्षत्रो से नही होता था, उसके लिए चन्द्र आवश्यक था।

नक्षत्रो से केवल घन्टा, घटी आदि समय का बोध होता था, परन्तु तिथियो के बोध के लिए चन्द्र की हानि-वृद्धि देखी जाती थी। श्रमण और ब्राह्मण दोनो परम्पराओ के लिए स्वाध्याय आदि समयोचित कर्तव्य के लिए सभी प्रकार के काल का ज्ञान आवश्यक था। अत मुनि ने यथार्थ उत्तर दिया है कि नक्षत्रो मे प्रमुख चन्द्र है। गीता (१०/२१) मे भी कहा गया है—'नक्षत्राणामहं शशी।'

धम्माण कासवो मुह धर्मो का मुख अर्थात् आदि कारण क्या है? धर्म का प्रथम प्रवर्त्तन किससे हुआ? इस प्रश्न के उत्तर मे मुनि ने कहा है—धर्मो का मुख (आदि कारण) काश्यप है। यह यथार्थ है, क्योकि जैन जैनेतर शास्त्रो के अनुसार वर्तमान कालचक्र मे अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पश्चिम भाग मे आदि काश्यप—ऋषभदेव ही धर्म के आदि प्ररूपक, आदि उपदेष्टा, आदि समाजस्रष्टा थे इसीलिए इन्हे आदिनाथ भी कहते हैं। ऋषभदेव ने वर्षीतप का पारणा काश्यप अर्थात्—इक्षुरस से किया था, अतएव वे काश्यप नाम से विख्यात हुए। भागवत (पचमस्कन्ध)[1] मे भी ऋषभदेव की आदि-महत्ता प्रतिपादित है। इसके अतिरिक्त वैदिक धर्ममान्य आरण्यक[2] एव ब्रह्माण्ड-पुराण[3] मे भी धर्म के सर्वप्रथम आचरणकर्ता एव उपदेष्टा ब्रह्मा, भगवान् ऋषभदेव को ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि धर्मो मे प्रधान—काश्यप—श्री ऋषभदेव ही हैं।

ऋषभदेव क्यो पूजनीय वन्दनीय हैं?—१७वी गाथा मे चन्द्रमा की उपमा से भगवान् ऋषभदेव की महनीयता एव वन्दनीयता सिद्ध की गई है। उसका तात्पर्य यह है कि जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागणो का प्रमुख एव स्वामी होने से चन्द्रमा उनके द्वारा पूजनीय एव वन्दनीय हो रहा है,

---

१ भागवत-पुराण, पचम स्कन्ध

२ 'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा, तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि प्रणीतानि ब्राह्मणानि। यदा च तपसा प्राप्त-पद यद् ब्रह्म केवल, तदा च ब्रह्मर्षिणा प्रणीतानि तानि पुस्तकानि ब्राह्मणानि।"
—आरण्यक

३ इह हि इक्ष्वाकुकुलवशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दश प्रकारो धर्म स्वयमेव चीर्ण। केवलज्ञान लम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागा स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषा प्रवर्तित आख्यात प्रणीतश्च त्रेतायामादौ, इत्यादि।'
—ब्रह्माण्ड पुराण

वैसे ही भ० ऋषभदेव भी धर्मो मे प्रमुख (आदि कारण) होने से देवेन्द्र और मनुजेन्द्र आदि के पूजनीय एव वन्दनीय हैं। अर्थात्—वे जगत् मे चन्द्रमा के समान सर्वप्रधान सर्वोत्तम विश्ववन्द्य पुरुष माने गए हैं। पूर्वोक्त दो गाथाओ मे चारो प्रश्नो का उत्तर आ गया है।

पाँचवें प्रश्न का उत्तर मुनि की दृष्टि से—पाँचवाँ प्रश्न था—स्व-पर-आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ कौन है ? इसके उत्तर मे मुनि के कथन का तात्पर्य यह है कि जिन यज्ञप्रिय ब्राह्मणो को आप स्व-पर-समुद्धारक उत्तम पात्र समझ रहे है, वे तो ब्राह्मणो की विद्या और सम्पदा (गुण-विभूति) से कोसो दूर है, अनभिज्ञ हैं। ब्राह्मणो की विद्या आध्यात्मिक विद्या है और सम्पदा अकिंचनता आदि उत्कृष्ट गुण हैं (जिनका अगली गाथाओ मे प्रतिपादन है) इन दोनो का ही इनमे अभाव है। स्वाध्याय और तप के विषय मे भी ये मूढ है, इन्हे इनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नही है। भस्म से ढकी हुई अग्नि जैसे बाहर से तो शान्त दिखाई देती है, किन्तु अन्दर से उष्ण होती है, वैसे ही ये ब्राह्मण भी बाहर से तो वेदो का अध्ययन (स्वाध्याय) तथा तप करते हुए शान्त-दान्त दिखाई देते हैं, किन्तु इनके अन्तस्तल मे कषायो की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है। निष्कर्ष यह है कि इन याज्ञिको मे ब्राह्मणोचित गुणो का स्पष्टत अभाव है।

जयघोष मुनि द्वारा कथित—ब्राह्मण (माहन) का लक्षण—

मूल—जो लोए बभणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा।
सया कुसल सदिट्ठ, त वय बूम माहणं ॥१९॥
जो न सज्जइ आगन्तु, पव्वयन्तो न सोयई।
रमइ अज्ज-वयणमि, त वय बूम माहण ॥२०॥
जायरूव जहामट्ठ, निद्धन्त-मल-पावगं।
रागद्दोस-भयाईय, त वय बूम माहणं ॥२१॥
तवस्सिय किस दत, अवचिय-मस-सोणियं।
सुव्वय पत्तनिव्वाण, त वयं बूम माहण ॥२२॥
तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वय बूम माहणं ॥~
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया
मुस न वयई जो उ, त वय बूम माहणं
चित्तमंतमचित्तं वा, अप्प वा जइ वा बहुं
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वय बूम माहण ॥

दिव्व - माणुस - तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥२६॥
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२७॥
अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥
जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ एएहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२९॥

छाया—यो लोके ब्राह्मण उक्तः, अग्निरिव महितो यथा ।
सदा कुशलसन्दिष्टं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१९॥
यो न स्वजत्यागन्तुं, प्रव्रजन् न शोचति ।
रमते आर्यवचने, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२०॥
जातरूपं यथामृष्टं, निर्ध्मात-मल-पावकम् ।
राग-दोष-भयातीतं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२१॥
तपस्विनं कृशं दान्तं, अपचित-मांस-शोणितम् ।
सुव्रतं प्राप्त निर्वाणं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२२॥
त्रसप्राणिनो विज्ञाय, संग्रहेण च स्थावरान् ।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२३॥
क्रोधाद्वा यदि वा हास्यात्, लोभाद् वा यदि वा भयात् ।
मृषा न वदति यस्तु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२४॥
चित्तवदचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुम् ।
न गृह्णात्यदत्तं यः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५॥
दिव्य-मानुष्य-तैरश्चं, यो न सेवते मैथुनम् ।
मनसा काय-वाक्येन तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६॥
यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा ।
एवमलिप्तं कामैः तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२७॥
अलोलुपं मुधाजीविनम्, अनगारमकिञ्चनम् ।
असंसक्तं गृहस्थेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२८॥
हित्वा पूर्व-संयोगं, ज्ञाति-संगांश्च बान्धवान् ।
यो न सजति एतेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२९॥

पद्या०—ज्ञानी जिसको ब्राह्मण कहते, जो अग्नितुल्य पूजित सब में ।
कुशल-पुरुष से सदा मान्य, माहण कहलाते वे जग में ॥१९॥

है प्रीति नही मन आने की, करता न शोक मन मे जाते।
जो आर्यवचन मे रमण करे, हम उसको ब्राह्मण कह गाते ॥२०॥
जैसे शुद्ध तपा सोना, निर्मल औपधि (पालिश) से चमकाते।
वैसे भय-राग द्वेष-वर्जित, जन को हम ब्राह्मण बतलाते ॥२१॥
जिसका है रक्त-मास अपचित, जो तपी दान्त और कृश तन हैं।
सुव्रत और निर्वाण-प्राप्त को, हम सब कहते ब्राह्मण हैं ॥२२॥
चेष्टा से त्रस को जो जाने, स्थावर को श्रुत से पहचाने।
करता न त्रिविध हिंसा जग मे, उसको हम ब्राह्मण कह माने॥२३॥
जो क्रोध, हास्य, भय और लोभ से, मिथ्या वचन नही कहते।
उस सत्य वचन के वक्ता को, हम सब जग मे ब्राह्मण कहते॥२४॥
हो द्रव्य सचित्त अथवा अचित्त, थोडा अथवा हो अधिक कही।
जो दिये बिना ना ग्रहण करे, कहते उसको हम विप्र सही ॥२५॥
जो दिव्य मनुज और पशु जग का, मैथुन-सेवन ना करते है।
उस त्रिविध योग त्यागी जन को, हम जग मे ब्राह्मण कहते हैं॥२६॥
जैसे जल मे सभूत कमल, जल-मल से लिप्त नही रहते।
वैसे कामो से जो अलिप्त, हम सब उसको ब्राह्मण कहते॥२७॥
रस-विजयी और मुधाजीवी, छोडा जिसने घर कांचन है।
गृहीजनो मे आसक्त नही, उसको हम कहते ब्राह्मण हैं॥२८॥
ज्ञाति और बान्धव जन के, सयोग पूर्व का जो तजते।
आसक्त न जो होता इनमे, उसको ब्राह्मण है हम कहते॥२९॥

अन्वयार्थ—जो—जिसे, लोए—लोक मे, (ज्ञानी पुरुषो ने) बमणो वुत्तो—ब्राह्मण कहा है। अग्गी व जहा—अग्नि के समान, जो महिओ—सदा पूजनीय है। त—उसे, वय—हम, कुसलसदिट्ठ—कुशलपुरुषो द्वारा कहा हुआ, माहण—ब्राह्मण, बूम—कहते हैं ॥१९॥

जो—जो, (प्रिय स्वजनादि के) आगतु—आने पर, सज्जइ—आसक्त नही होता, पव्वयतो—(वहाँ से उनके) चले जाने पर, न सोयई—शोक नही करता, (तथा जो) अज्जवयणम्मि—आर्य के=तीर्थंकर के, वचनो मे (भगवद्वाणी मे), रमए—रमण करता है। त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२०॥

आमट्ठ—तेजस्वी करने के लिए कसौटी, मेनसिल आदि पर घिसे (कसे) हुए (तथा) निद्धन्त-मल-पावग—अग्नि द्वारा दग्धमल वाले शुद्ध किये हुए, जायरूव—जातरूप=सोने की, जहा—तरह है, राग-दोस-भयाईय—जो राग-द्वेषादि दोष, और भय से मुक्त है, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२१॥

(जो) तवस्सिय—तपस्वी है, किस—कृश है, दत—दान्त है, अवचियमस-सोणिय—जिसका रक्त और मास अपचित हो गया (घट गया) है, सुव्वय—जो सुव्रत है, पत्तनिव्वाण—निर्वाण (शान्ति) को प्राप्त है, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२२॥

तसे य थावरे पाणे—जो त्रस और स्थावर प्राणियो को, वियाणित्ता—सम्यक् प्रकार से जान कर (उनकी) तिविहेण—मन, वचन और काया से, न हिंसइ—हिंसा नही करता, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२३॥

कोहा वा—क्रोध से, अइ वा हासा—अथवा हास्यवश, लोहा वा—या लोभ से, अइ वा—अथवा, भया—भय से, जो उ—जो, मुस न वयइ—झूठ नही बोलता, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२४॥

जे—जो, चित्तमन्त—सचित्त, वा—अथवा, अचित्त—अचित्त, अप्प वा—थोडा, अइ वा—अथवा, बहु—बहुत, अदत्त—अदत्त बिना दिया हुआ, न गेण्हइ—ग्रहण नही करता, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२५॥

जो—जो, दिव्वमाणुस-तेरिच्छ—देव-मनुष्य-तिर्यञ्च-सम्बन्धी, मेहुण—मैथुन का, मणसा—मन से, काय वक्केण—काया और वचन से, न सेवइ—सेवन नही करता, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२६॥

जहा—जिस प्रकार, जले जाय—जल मे उत्पन्न हुआ, पोम—कमल, वारिणा—जल से, नोवलिप्पइ—लिप्त नही होता, एव—इसी प्रकार, (जो) कामेहि—काम-भोगो से, अलित्तो—अलिप्त रहता है, त वय बूम माहण —उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२७॥

(जो) अलोलुय—रस-लोलुप नही है, मुहाजीवी—मुधाजीवी—निर्दोष भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाला है, अणगार—गृह-त्यागी अनगार है, अकिंचण—अकिंचन (द्रव्य-भाव-परिग्रह से रहित) है, गिहत्थेसु—पूर्व-परिचित या बाद मे परिचित गृहस्थो से, असंसत्त—ससग (आसक्ति) रहित है, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२८॥

जो—जो, पुव्वसजोग—पूर्व-सयोगो, नाइसगे—ज्ञातिजनो के आसक्तिमय सम्बन्धो को, य—और, बधवे—बान्धवो को, जहित्ता—छोडकर, (फिर) एएसु—इनमे, न सज्जइ—आसक्त नही होता, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२६॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञो द्वारा जिसे ससार मे ब्राह्मण कहा गया है, जो अग्नि के समान सदा पूजित और कुशलजनो द्वारा सदिष्ट है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥१६॥

जो स्वजनादि के आने पर आसक्त नही होता और उनके चले जाने पर शोक नही करता, किन्तु वीतराग के आर्यवचन मे रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२०॥

अग्नि मे तपाकर शुद्ध किये हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो निर्मल एव तेजस्वी है, तथा राग, द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥२१॥

जो तपस्वी होने से दुर्बल और जितेन्द्रिय (दान्त) है, तपस्या से जिसके शरीर का रक्त और मास कम हो गया है, जो सुव्रती है, तथा परम शान्ति को प्राप्त कर चुका है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२२॥

जो त्रस (स्वय प्रेरित गतिशील) और स्थावर (स्थितिशील) दोनो प्रकार के जीवो को भली भाँति जान कर त्रिविधयोग मन-वचन-काय से, उनकी हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२३॥

क्रोध से अथवा हास्य से, लोभ से अथवा भय से, जो किसी प्रकार का असत्य नही बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२४॥

जो साधक, किसी भी पदार्थ को, चाहे वह सचित्त (सजीव) हो या अचित्त (निर्जीव), थोडा हो या अधिक बिना दिये ग्रहण नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२५॥

जो देव-मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से कभी सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२६॥

जैसे जल मे उत्पन्न हुआ कमल जल से कभी उपलिप्त नही होता, ठीक उसी प्रकार जो काम-भोगो से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२७॥

जो स्वाद-विजयी और मुधाजीवी है, जिसने घर-बार छोड दिया है, जो अकिंचन (निष्परिग्रही) है, जो (पूर्व अथवा-पश्चात परिचित) गृहस्थो मे आसक्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२८॥

जो पूर्व-सयोगो (दीक्षा से पूर्वकालिक जन सम्बन्धो) को, ज्ञातिजनो को और बन्धुजनो को छोडकर, फिर उनमे आसक्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२९॥

विवेचन—ब्राह्मण का वास्तविक स्वरूप जयघोष मुनि की दृष्टि मे—यहाँ गाथा सख्या १९ से २९ तक (११ गाथाओ मे) जैन दृष्टि से माहन=ब्राह्मण के यथार्थ लक्षण इस प्रकार दिये हैं—

(१) जो लोक मे तत्त्वज्ञो द्वारा ब्राह्मण कहा गया है, अग्नि की तरह सदा पूज्य और कुशलसन्दिष्ट है।

(२) जो किसी स्वजनादि के आने जाने पर हर्ष-शोक नही करता, आर्यवचनो मे रमण करता है।

(३) जो तपाए हुए और कसे हुए शुद्ध सोने की तरह तेजस्वी और निर्मल है। राग, द्वेष और भय से मुक्त है।

(४) जो तपस्वी है, कृश और दान्त है, जिसके रक्त-मास कम हो गए हैं, जो सुव्रती है, शान्त है।

(५) जो त्रस और स्थावर, सभी जीवो को जानकर उनकी मन-वचन-काया से हिंसा नही करता है।

(६) जो क्रोध, लोभ, भय या हास्य के वश कदापि असत्य नही बोलता।

(७) जो सचित्त-अचित्त, अल्प या अधिक किसी भी वस्तु को बिना दिये नही लेता।

(८) जो दिव्य, मानुष या तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन-वचन-काया से सेवन नही करता है।

(९) जो जलकमलवत् काम-भोगो से सदा निर्लिप्त रहता है।

(१०) जो अलोलुप, मुधाजीवी, अनगार और अकिंचन है, तथा गृहस्थजनो के साथ अनासक्त है।

(११) जो पूर्वसयोगो के सग और बान्धवो को त्यागकर पुन उनमे आसक्त नही होता, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—कुसलसंदिट्ठ=कुशलो=तीर्थंकरो द्वारा जिसको ब्राह्मणत्व के गुणो द्वारा निर्दिष्ट किया है। जायरूव—जातरूप=स्वर्ण। घसट्ठ—मैनसिल आदि से घिसा हुआ, निद्धन्तमलपावग—पावक-अग्नि मे तपाकर जिसका मल शुद्ध किया है। समासेण य—और सक्षेप से तथा विस्तार से। पुव्वसंजोग—दीक्षा लेने से पूर्व माता-पिता आदि स्वजनो का सयोग। नाइसगे—ज्ञातिजनो का सग।

अग्गीव महिओ जहा—जैसे अग्नि के उपासक लोग अग्नि की उपासना करते हैं, घृत आदि को आहुति से उसे प्रदीप्त करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण भी लोगो के द्वारा सदैव पूजनीय, वन्दनीय और तपरूप अग्नि द्वारा तेजस्विता सम्पन्न होता है।

न सज्जइ आगतु, पव्वयतो न सोयइ—जो साधक स्वजनादि के मिलने पर या उपाश्रयादि मे आने पर भी उनमे अनुरक्त-आसक्त नही होता, और स्वय प्रव्रजित-दीक्षित होकर स्थानान्तर मे गमन करता हुआ (अथवा स्वजनादि के चले जाने पर) शोक भी नही करता, जैसेकि—उनके बिना मैं क्या करू गा ? मेरा क्या हाल होगा ? कौन मेरी सार-सभाल या सेवा करेगा ? इत्यादि।

अज्झयणम्मि रमइ—आगमो के स्वाध्याय मे रत रहता है।

तवस्सिय किस दत—जो तपस्वी हो यानी उत्कट तपश्चरण करने वाला हो, तप के प्रभाव से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, जिसके शरीर का रक्त और मास सूख गया हो, जो जितेन्द्रिय हो।

जो न हिंसइ तिविहेण—त्रस और स्थावर किसी भी जीव को मन, वचन और तन से जो स्वय कष्ट नही पहुँचाता, न ही कष्ट देने के लिए दूसरो को प्रेरित करता है और न कष्ट देने वाले को अच्छा समझ कर उस का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीन योग और तीन करण से हिंसा का त्याग करता है। अहिंसा का पालन करता है, वह ब्राह्मण है।

ब्राह्मण—श्रमणादि कौन है, कौन नहीं ?

मूल—पसुबधा सव्ववेया, जट्ठ च पावकम्मुणा।
न त तायति दुस्सील, कम्माणि बलवतिहि ॥३०॥
न वि मुण्डिएण समणो, न ओकारेण बमणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥
समयाए समणो होई, बमचेरेण बमणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥३२॥
कम्मुणा बमणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥३३॥
एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ।
सव्व-कम्म-विणिम्मुक्कं, त वय बूम माहण ॥३४॥
एव गुण-समाउत्ता, जे भवति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥३५॥

छाया—पशुबन्धा सर्व-वेदा, इष्ट च पाप-कर्मणा।
न त त्रायन्ते दु शील, कर्माणि बलवन्ति हि ॥३०॥
नाऽपि मुण्डितेन श्रमण, न ओकारेण ब्राह्मण।
न मुनिररण्यवासेन, कुश-चीरेण न तापस ॥३१॥

समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण ।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापस ॥३२॥
कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रिय ।
वैश्यो कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥३३॥
एतान् प्रादुरकार्षीद बुद्ध, यैर्भवति स्नातक ।
सर्व-कर्म-विनिर्मुक्त, त वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥३४॥
एव गुण-समायुक्ता, ये भवन्ति द्विजोत्तमा ।
ते समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ॥३५॥

पद्यानुवाद—पशुवध-विधिकारक सभी वेद, और पापकर्म से यज्ञ किया।
ना त्राण करे दुष्कर्मी का, ये कर्म सबल जग जान लिया ॥३०॥
शिरमुण्डन से नही श्रमण, ओकार से विप्र नही होता।
वनवास-मात्र से हो न मुनी, वल्कल से तपी नही होता ॥३१॥
समता से होता श्रमण सही, और ब्रह्मचर्य से सद्ब्राह्मण।
ज्ञानाराधना से मुनि होता, तापस होता कर तप-साधन ॥३२॥
कर्मों से ब्राह्मण होता है, कर्मों से क्षत्रिय बन जाता।
बनता है वैश्य कर्म से ही, और शूद्र कर्म से ही होता ॥३३॥
ये धर्म प्रकट किये जिनवर ने, जिनसे स्नातक हो जाते है।
जो सबकर्मों से विनिर्मुक्त, हम उसको ब्राह्मण कहते हैं ॥३४॥
यो सद्गुण-सयुत जो होते, वे द्विज उत्तम कहलाते है।
निज-पर के उद्धार-करण मे, पूर्ण समर्थ वे होते हैं ॥३५॥

अन्वयार्थ—त दुस्सील—उसी दु शील को, पसुबधा—पशुबध के हेतु (अर्थात्—यज्ञ मे वध के लिए पशु को बाधने के निमित्त), सव्ववेया—सभी वेद, च—और, पावकम्मुणा जट्ठ—पापकर्मों से किये गए यज्ञ, न तायति—बचा नही सकते। हि—कम्माणि— कर्म, बलवति—बलवान् हैं ॥३०॥

मु डिएण—केवल सिर मु डा लेने, (कोई) समणो—श्रमण, न वि—नही हो जाता, ओकारेण—ओम् का जाप करने मात्र से, बम्भणो न—ब्राह्मण नही हो जाता। रण्णवासेण—अरण्य (जगल) मे निवास करने से, मुणी न—मुनि नही हो जाता। कुसचीरेण—कुश के बने हुए चीवर पहनने से, तावसो न—तापस नही हो जाता ॥३१॥

(किन्तु) समयाए—समता (समभाव) रखने से श्रमण होता है। बंभचेरेण—ब्रह्मचर्य पालन से, बम्भणो—ब्राह्मण होता है। नाणेण य—और सम्यग्ज्ञान से, मुणी होइ—मुनि होता है, तवेण—तप से, तावसो—तापस होता है ॥३२॥

न सज्जइ आगंतु, पव्वयंतो न सोयइ—जो साधक स्वजनादि के मिलने पर या उपाश्रयादि मे आने पर भी उनमे अनुरक्त-आसक्त नही होता, और स्वय प्रव्रजित-दीक्षित होकर स्थानान्तर मे गमन करता हुआ (अथवा स्व-जनादि के चले जाने पर) शोक भी नही करता, जैसेकि—उनके विना मैं क्या करूंगा ? मेरा क्या हाल होगा ? कौन मेरी सार-सभाल या सेवा करेगा ? इत्यादि ।

अज्झयणम्मि रमइ—आगमो के स्वाध्याय मे रत रहता है ।

तवस्सियं किसं दंतं—जो तपस्वी हो यानी उत्कट तपश्चरण करने वाला हो, तप के प्रभाव से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, जिसके शरीर का रक्त और मास सूख गया हो, जो जितेन्द्रिय हो ।

जो न हिंसइ तिविहेण—त्रस और स्थावर किसी भी जीव को मन, वचन और तन से जो स्वय कष्ट नही पहुँचाता, न ही कष्ट देने के लिए दूसरो को प्रेरित करता है और न कष्ट देने वाले को अच्छा समझ कर उस का अनुमोदन करता है । इस प्रकार तीन योग और तीन करण से हिंसा का त्याग करता है । अहिंसा का पालन करता है, वह ब्राह्मण है ।

ब्राह्मण—श्रमणादि कौन है, कौन नहीं ?

मूल—पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंतिह ॥३०॥
न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥
समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥
कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥३३॥
एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ ।
सव्व-कम्म-विणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥३४॥
एवं गुण-समाउत्ता, जे भवंति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥३५॥

छाया—पशुबन्धा सर्ववेदा, इष्टं च पाप-कर्मणा ।
न तं त्रायन्ते दुःशीलं, कर्माणि बलवन्ति हि ॥३०॥
नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिररण्यवासेन, कुश-चीरेण न तापसः ॥३१॥

वेदो मे हिंसा का विधान कब से ?—यहाँ एक बात विचारणीय है कि १२वे अध्ययन मे वेदो को हिंसा के विधायक न मानकर कहा गया है—तुम वेदो को पढते तो हो, लेकिन उसके अर्थो का ज्ञान तुम्हे नही है। उसके विरुद्ध यहाँ पर सर्ववेद पशुबन्धनार्थक हैं, यज्ञादि पापकर्म के हेतुभूत है ? ऐसा पूर्वापरविरोध क्यो ? इसका समाधान यह है कि हरिकेश मुनि के समय मे हिंसामूलक यज्ञो का प्रचलन नही हुआ होगा, जयघोष मुनि के समय मे हिंसात्मक यज्ञो की प्रथा चल पडी थी उसका प्रचार भी हो चुका था।[1]

केवल वेष या बाह्य क्रियाकाण्ड से लक्ष्य सिद्ध नही होता—मुण्डन, ओकारोच्चारण, अरण्यवास या कुशचीवर धारण मात्र से कोई व्यक्ति क्रमश श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस नही हो सकता। समभाव, ब्रह्मचर्य, ज्ञान और तप से ही क्रमश श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस हो सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण भी कर्मो से ही होते हैं, जन्म लेने मात्र से नही। गीता मे भी कहा है "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागश ।" निष्कर्ष यह है कि गुणो से ही व्यक्ति ब्राह्मण, श्रमण, मुनि या तपस्वी हो सकता है।

कठिन शब्दो के विशेषार्थ—पसुबन्धा—वध के लिए पशुओ को बाधने का विधान जिनमे है, ऐसे। रण्णवासेन—अरण्य (वन) मे वास करने से। पाउकरे—प्रकट किया। बुद्ध—सर्वज्ञ तीर्थंकर। सिणायओ—स्नातक=पारगत=केवलज्ञानी। गुणसमाउत्ता—पूर्वोक्त ब्राह्मणो के गुणो से सम्पन्न।

संशयरहित विजयघोष द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन एव सत्य का स्वीकार—

मूल—एव तु ससए छिन्ने, विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तय त तु, जयघोस महामुणि ॥३६॥
तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्त जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदसियं ॥३७॥

---

1 प्राचीन वेद जो तत्त्वातत्त्व के ज्ञान प्रदायक थे, उनमे हिंसा का विधान नही था। कालान्तर मे राजा उपरिचर वसु और नारद के सहपाठी अथवा गुरुपुत्र पर्वत ने यज्ञो मे पशुवध का प्रचलन किया। विस्तार के लिए देखिये—महाभारत का उपरिचर वसु का आख्यान।"

—सपादक

कम्मुणा—कर्म से, बभणो—ब्राह्मण, होइ—होता है। खत्तिओ—क्षत्रिय भी, कम्मुणा—कर्म से, होइ—होता है। कम्मुणा—कर्म से ही, वइस्सो—वैश्य, होइ—होता है। कम्मुणा—कर्म से ही, सुद्दो—शूद्र, हवइ—होता है ।।३३।।

बुद्धे—सर्वज्ञ अर्हत् ने, एए—इन तत्त्वों को, पाउकरे—प्रकट (प्ररूपित) किया है, जेहिं—जिनके द्वारा (साधक), सिणायओ—स्नातक-पूर्ण, होइ—होता है, सव्वकम्म-विनिम्मुक्क—सर्वकर्मों से मुक्त होता है, तं वयं माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।।३४।।

एवं—इस प्रकार, जे—जो, गुण समाउत्ता—(पूर्वोक्त) गुणों से सम्पन्न, दिउत्तमा—द्विजोत्तम—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, भवंति—होते हैं, ते—वे ही, परमप्पाणमेव उद्धत्तु—अपना और दूसरों का उद्धार करने में, समत्था—समर्थ हैं ।।३५।।

भावार्थ—सभी वेद पशुओं के वध के लिए बाधने के निमित्त हैं, और (देव-पूजामूलक) यज्ञ पापकर्म से किया जाता है। अतः ये दोनों (वेद और यज्ञ) उस दुःशील (हिंसादि पापकर्म करने वाले) का त्राण नहीं कर सकते, क्योंकि कर्म बलवान होते हैं ।।३०।।

केवल मुण्डित होने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का उच्चारण करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, जंगल में रहने भर से कोई मुनि नहीं बन सकता, एवं कुश के बने चीवर (वल्कल वस्त्र) के धारण कर लेने मात्र से कोई तापस नहीं हो सकता ।।३१।।

विवेचन—पसुबंधा सव्ववेया—वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद यजुर्वेद और अथर्ववेद। चारों ही वेदों में पशुवध-बन्धनात्मक विधान यत्र-तत्र पाए जाते हैं। वेदों में अश्वमेधादि यज्ञों का विधान है। उनमें जो यूप गाडे जाते हैं, उनके साथ वध्य पशु बांधे जाते हैं। जब ऐसा है तब तो वेदों के वाक्य हिंसा-प्रेरक होने से उनमें विहित यज्ञ भी पापकर्मों के जनक हैं। 'श्वेत छागमेलभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम', इत्यादि वैदिक वाक्यों तथा 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टा' इत्यादि स्मृतिवाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में विहित यज्ञों में पशुवध का स्पष्ट उल्लेख है। इसीलिए कहा है कि तथाकथित वेदों का अध्ययन पारलौकिक दुःख से बचाने में समर्थ नहीं हो सकता। यह तो निर्विवाद है कि हिंसाजनक क्रियाओं के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का तीव्रबन्ध, उसके फलस्वरूप दुर्गति प्राप्ति और जन्म-मरण रूप संसारचक्र की वृद्धि होती है। वेदोक्त हिंसामय यज्ञों से न तो पुण्यफल की और न ही सुगति की प्राप्ति हो सकती है।

वेदो मे हिंसा का विधान कब से ?—यहाँ एक बात विचारणीय है कि १२वें अध्ययन मे वेदो को हिंसा के विधायक न मानकर कहा गया है—तुम वेदो को पढते तो हो, लेकिन उसके अर्थों का ज्ञान तुम्हे नही है। उसके विरुद्ध यहाँ पर सर्ववेद पशुबन्धनार्थक हैं, यज्ञादि पापकर्म के हेतुभूत हैं ? ऐसा पूर्वापरविरोध क्यो ? इसका समाधान यह है कि हरिकेश मुनि के समय मे हिंसामूलक यज्ञो का प्रचलन नही हुआ होगा, जयघोष मुनि के समय मे हिंसात्मक यज्ञो की प्रथा चल पडी थी उसका प्रचार भी हो चुका था।[1]

केवल वेष या बाह्य क्रियाकाण्ड से लक्ष्य सिद्ध नही होता—मुण्डन, ओंकारोच्चारण, अरण्यवास या कुशचीवर धारण मात्र से कोई व्यक्ति क्रमश श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस नही हो सकता। समभाव, ब्रह्मचर्य, ज्ञान और तप से ही क्रमश श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस हो सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण भी कर्मों से ही होते है, जन्म लेने मात्र से नही। गीता मे भी कहा है "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागश।" निष्कर्ष यह है कि गुणो से ही व्यक्ति ब्राह्मण, श्रमण, मुनि या तपस्वी हो सकता है।

कठिन शब्दो के विशेषार्थ—पसुबन्धा—वध के लिए पशुओ को बाधने का विधान जिनमे है, ऐसे। रण्णवासेन—अरण्य (वन) मे वास करने से। पाउकरे—प्रकट किया। बुद्धे—सर्वज्ञ तीर्थंकर। सिणायओ—स्नातक=पारगत=केवलज्ञानी। गुणसमाउत्ता—पूर्वोक्त ब्राह्मणो के गुणो से सम्पन्न।

सशयरहित विजयघोष द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन एव सत्य का स्वीकार—

मूल—एव तु ससए छिन्ने, विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तय त तु, जयघोस महामुणि ॥३६॥
तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयजली।
माहणत्त जहाभूय, सुट्ठु मे उवदसिय ॥३७॥

---

[1] प्राचीन वेद जो तत्त्वातत्त्व के ज्ञान प्रदायक थे, उनमे हिंसा का विधान नही था। कालान्तर मे राजा उपरिचर वसु और नारद के सहपाठी अथवा गुरुपुत्र पर्वत ने यज्ञो मे पशुवध का प्रचलन किया। विस्तार के लिए देखिये—महाभारत का उपरिचर वसु का आख्यान।"

—सपादक

कम्मुणा—कर्म से, बम्भणो—ब्राह्मण, होइ—होता है। खत्तिओ—क्षत्रिय भी, कम्मुणा—कर्म से, होइ—होता है। कम्मुणा—कर्म से ही, वइस्सो—वैश्य, होइ—होता है। कम्मुणा—कर्म से ही, सुद्दो—शूद्र, हवइ—होता है ॥३३॥

बुद्धे—सर्वज्ञ अर्हत् ने, एए—इन तत्त्वों को, पाउकरे—प्रकट (प्ररूपित) किया है, जेहिं—जिनके द्वारा (साधक), सिणायओ—स्नातक-पूर्ण, होइ—होता है, सव्वकम्म-विनिम्मुक्क—सर्वकर्मों से मुक्त होता है, त वय माहण बूम—उसे हम ब्राह्मण कहते है ॥३४॥

एव—इस प्रकार, जे—जो, गुण समाउत्ता—(पूर्वोक्त) गुणो से सम्पन्न, दिउत्तमा—द्विजोत्तम—ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ, भवति—होते हैं, ते—वे ही, परमप्पाण-मे वय उद्धत्तु—अपना और दूसरो का उद्धार करने मे, समत्था—समर्थ है ॥३५॥

भावार्थ—सभी वेद पशुओ के वध के लिए बाधने के निमित्त है, और (देव-पूजामूलक) यज्ञ पापकर्म से किया जाता है। अत ये दोनो (वेद और यज्ञ) उस दु शील (हिंसादि पापकर्म करने वाले) का त्राण नही कर सकते, क्योकि कर्म बलवान होते है ॥३०॥

केवल मुण्डित होने से कोई श्रमण नही होता, ओकार का उच्चारण करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही हो जाता, जगल मे रहने भर से कोई मुनि नही बन सकता, एव कुश के बने चीवर (वल्कल वस्त्र) के धारण कर लेने मात्र से कोई तापस नही हो सकता ॥३१॥

विवेचन—पसुबधा सव्ववेया—वेद चार हैं—ऋग्वेद,सामवेद यजुर्वेद और अथर्ववेद। चारो ही वेदो मे पशुवध-बन्धनात्मक विधान यत्र-तत्र पाए जाते हैं। वेदो मे अश्वमेधादि यज्ञो का विधान है। उनमे जो यूप गाडे जाते हैं, उनके साथ वध्य पशु बाधे जाते हैं। जब ऐसा है तब तो वेदो के वाक्य हिंसा-प्रेरक होने से उनमे विहित यज्ञ भी पापकर्मो के जनक हैं। 'श्वेत छागमेलभेत वायव्या दिशिभूमिकाम', इत्यादि वैदिक वाक्यो तथा यज्ञार्थं पशवसृष्टा इत्यादि स्मृतिवाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदो मे विहित यज्ञो मे पशुवध का स्पष्ट उल्लेख है। इसीलिए कहा है कि तथाकथित वेदो का अध्ययन पारलौकिक दु ख से बचाने मे समर्थ नही हो सकता। यह तो निर्विवाद है कि हिंसाजनक क्रियाओ के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीयादि कर्मो का तीव्रबन्ध, उसके फलस्वरूप दुर्गति प्राप्ति और जन्म-मरण रूप ससारचक्र की वृद्धि होती है। वेदोक्त हिंसामय यज्ञो से न तो पुण्यफल की और न ही सुगति की प्राप्ति हो सकती है।

हो, तुब्भे—तुम ही, वेयविऊविऊ—वेदो के ज्ञाता विद्वान् हो, जोइसंग-विऊ—ज्योतिष के अंगो के ज्ञाता हो, तुब्भे—तुम ही, धम्माण—धर्मों के, पारगा—पारगामी हो ॥३८॥

तुब्भे—तुम ही, परमप्पाण—अपना और दूसरो का, उद्धत्तु—उद्धार करने मे, समत्था—समर्थ हो, त—अत, भिक्खु उत्तमा—भिक्षुओ मे उत्तम !, भिक्खेण—भिक्षा लेकर, (आप) अम्ह—हम पर, अणुग्गह—अनुग्रह, करेह—करे ॥३९॥

भावार्थ—इस प्रकार (मुनि के द्वारा दिये गए उत्तर से) संशय मिटने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष महामुनि को भलीभांति पहचान कर उनके वचन को स्वीकार किया ॥३६॥

और विजयघोष परम प्रसन्न हो हाथ जोडकर इस प्रकार बोला—भगवन् ! आपने ब्राह्मण के यथार्थ स्वरूप को मुझे बहुत अच्छी तरह समझा दिया है ॥३७॥

भगवन् ! आप ही वस्तुत यज्ञो के याजक है, आप ही वेदो के ज्ञाता हैं, आप ही ज्योतिषाग के वेत्ता एव आप ही धर्मों के पारगामी है ॥३८॥

आप ही स्वपर-आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ हैं। अत हे भिक्षु-श्रेष्ठ ! आप भिक्षा ग्रहण करके हम पर अनुग्रह कीजिये ॥३९॥

विवेचन—विजयघोष द्वारा भ्राता की पहचान—गा ३६ का तात्पर्य यह है कि जयघोष महामुनि के वक्तव्य से विजयघोष आदि विप्रो का संशय समाप्त हो गया, साथ ही उसने मुनि को वाणी और आकृति से पहचान लिया कि यह तो मेरे पूर्वाश्रम के बड़े भाई ही हैं। अत उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा।

कृतज्ञता प्रकाशन और प्रशसा एव प्रार्थना के उद्गार—विजयघोष ब्राह्मण की प्रसन्नता के मुख्यतया दो कारण उपस्थित हो गए—(१) संशयो का दूर होना और (२) वर्षो से बिछुड़े हुए ज्येष्ठ भ्राता का मिलन। अत उसने अति प्रसन्न हो हाथ जोडकर आभार प्रदर्शित करते हुए कहा—भगवन् ! आपने मुझे ब्राह्मणत्व का यथार्थ दर्शन करा दिया। वास्तव मे आप ही सच्चे याज्ञिक, वेदज्ञ, ज्योतिषाग वेत्ता और धर्मपारगामी हैं। और आप ही स्वपर का उद्धार करने मे समर्थ है अत यथेष्ट भिक्षा ग्रहणकर हमे अनुगृहीत कीजिये।

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ।
जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥३८॥

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
समणुग्गहं करेहम्हं, भिक्खेण भिक्खु उत्तमा ॥३९॥

छाया—एवं तु संशये छिन्ने, विजयघोषश्च ब्राह्मणः।
समादाय तकं तं तु, जयघोषं महामुनिम् ॥३६॥

तुष्टश्च विजयघोषः, इदमुदाह कृताञ्जलिः।
ब्राह्मणत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥३७॥

यूयं यष्टारो यज्ञाना, यूयं वेदविदो विदः।
ज्योतिषाग-विदो यूयं, यूयं धर्माणां पारगा ॥३८॥

यूयं समर्था समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
तदनुग्रहं कुरुताऽस्माकं, भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः ॥३९॥

पद्यानुवाद—ऐसे संशय के मिटने पर, वह विजयघोष नाम ब्राह्मण।
सब भाँति समझकर ग्रहण किया, जयघोष मुनि का सद्भाषण॥३६॥
अब विजयघोष सन्तुष्ट हुआ, और हाथ जोड बोला उनको।
"जैसा स्वरूप है 'माहन' का, समझाया अच्छा है हमको"॥३७॥
तुम ही सद्यज्ञो के कर्ता, वेदज्ञ विचक्षण भी हो तुम।
तुम ज्योतिषाग के ज्ञाता हो, धर्मों के पारग भी हो तुम ॥३८॥
निज-पर के उद्धार करन मे, तुम्ही समर्थ हो रहे खरे।
अब करो अनुग्रह यह हम पर, भिक्षूत्तम भोजन ग्रहण करें ॥३९॥

अन्वयार्थ—एवं तु—इस प्रकार, संसए छिन्ने—संशय मिट जाने पर, विजयघोसे य माहणे—विजयघोष ब्राह्मण ने, तं जयघोसं महामुणि—उस जयघोष नामक महामुनि को (उनके वचन को या चेहरे को) तवं तु—तब, समुदाय—सम्यक् प्रकार से ग्रहण कर लिया (पहचान लिया कि यह तो मेरा बडा भाई जयघोष ही है) ॥३६॥

तुट्ठे य विजयघोसे—और सन्तुष्ट हुए विजयघोष ने (जयघोष मुनि से), कयंजली—हाथ जोडकर, इणमुदाहु—प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार कहा—(तुमने) मे—मुझे, जहाभूयं माहणत्तं—यथार्थ ब्राह्मणत्व का, सुट्ठु—अच्छा, उवदंसियं—उपदेश दिया है।

(विजयघोष) तुब्भे—तुम ही, जन्नाण—यज्ञो के, जइया—यष्टा—यज्ञकर्त्ता,

अभोगी, नोवलिप्पई—(कर्मों से) लिप्त नही होता, भोगी—भोगी, ससारे—ससार मे, भमइ—भ्रमण करता है, अभोगी—अभोगी (उससे), विप्पमुच्चइ—विमुक्त हो जाता है ॥४१॥

उल्लो सुक्को य—एक गीला और एक सूखा, दो मट्टियामया गोलया—दो मिट्टी के गोले, छूढा—फैंके गए, दो वि—वे दोनो ही, कुड्डे—दीवार पर, आवडिया—आकर गिरे, जो उल्लो—जो गीला गोला था, सो—वह, तत्थ—वही, लग्गइ—चिपक गया ॥४२॥

एव—इसी प्रकार, जे नरा—जो मनुष्य, दुम्मेहा—दुर्बुद्धि है, (और) काम-लालसा—काम भोगो की लालसा मे सलग्न है, (वे) लग्गति—विषयो मे चिपक जाते हैं, विरत्ता उ—जो विरक्त है, (वे) जहा सुक्को उ गोलओ—सूखे गोले की भाति, न लग्गति—नही चिपकते ॥४३॥

भावार्थ—(जयघोष मुनि—) हे द्विज ! मुझे भिक्षा से प्रयोजन नही है (मेरा यहाँ आने का प्रयोजन यही है कि) तुम शीघ्र ही इस ससार को छोडकर श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करो। इस घोर ससाररूपी समुद्र मे भ्रमण न करो—गोते मत खाओ, क्योकि इसमे अनेक प्रकार के भय के आवर्त्त—चक्र हैं ॥४०॥

कर्मों का उपचय भोगो से होता है। अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नही होता। भोगी ससार मे परिभ्रमण करता है, (जबकि) अभोगी कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥४१॥

यदि गीला और सूखा, दो मिट्टी के गोले भीत पर फेंके जाएँ तो उनमे से जो गीला होता है, वह उस भीत पर चिपक जाता है ॥४२॥

इसी प्रकार जो दुर्बुद्धि मानव कामभोगलिप्सु है, उन्ही के कर्म चिपकते हैं, जो विषयो से विरक्त हैं, उनको ये कर्म नही चिपकते, जैसेकि सूखा गोला भीत पर नही चिपकता ॥४३॥

विवेचन—फलितार्थ—विजयघोष द्वारा भिक्षा के लिए की गई विनति को सुनकर जयघोष मुनि बोले—मुझे भिक्षा की आवश्यकता नही। मैं तो तुम्हे सावधान करने आया हूँ कि तुम ऐहिक और पारलौकिक भयो से युक्त एव नाना दु खो के घर इस ससार के भयावर्तों मे मत फँसो, शीघ्र ही इससे निकलो, और दीक्षा लो। जो ससार के विषय-भोगो मे फँसा रहता है, वह कर्मों का उपचय (सचय) करता है, किन्तु जो ससार से विरक्त हो जाता है, वह इन भोगो मे नही फँसता और कर्मों से लिप्त नही होता।

संसारमुक्त होने का विजयघोष को उपदेश—

मूल—न कज्जं मज्झ भिक्खेण, खिप्पं निक्खमसू दिया ।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसार-सागरे ॥४०॥
उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥४१॥
उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई ॥४२॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा काम-लालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्क-गोलए[1] ॥४३॥

छाया—न कार्यं मम भैक्ष्येण, क्षिप्रं निष्क्राम द्विज ! ।
मा भ्रमी भयावर्ते, घोरे संसार-सागरे ॥४०॥
उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते ।
भोगी भ्रमति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥४१॥
आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ, गोलकौ मृत्तिकामयौ ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये, य आर्द्रः स तत्र लगति ॥४२॥
एवं लगन्ति दुर्मेधस, ये नरा काम-लालसा ।
विरक्तास्तु न लगन्ति, यथा स शुष्क गोलकः ॥४३॥

पद्यानुवाद—मुझ को न कार्य है भिक्षा से, द्विज ! शीघ्र प्रव्रज्या धारण कर ।
इस भयावर्त भवसागर मे, मत और लगाना तुम चक्कर ॥४०॥
भोगो मे बन्धन होता है, होता न लिप्त जो भोगरहित ।
भोगी संसार-भ्रमण करता, होता विमुक्त जो रागरहित ॥४१॥
सूखे औ गीले मिट्टी के, दो गोले फेंके संग गये ।
दोनो ही गिरे भीत ऊपर, जो गीले उन पर चिपक गये ॥४२॥
यो कामलालची जो जन हैं, वे दुर्मति विषयो मे लगते ।
चिपके न शुष्क गोलक जैसे, जो रागरहित जगजन होते ॥४३॥

अन्वयार्थ—मज्झ—मुझे, भिक्खेण—भिक्षा से, न कज्जं—कोई प्रयोजन नही, दिया—द्विज ! खिप्पं—शीघ्र ही, निक्खमसू—अभिनिष्क्रमण कर अर्थात्—प्रव्रज्या ग्रहण कर ताकि, भयावट्टे—भय के आवर्तो वाले, घोरे संसारसागरे—घोर संसार सागर मे, मा भमिहिसि—तुम्हे भ्रमण न करना पड़े ॥४०॥

भोगेसु—भोगो मे, उवलेवो—(कर्म का) उपलेप, होइ—होता है, अभोगी—

---

1 पाठान्तर—जहा सुक्को उ गोलओ ।

अभोगी, नोवलिप्पई—(कर्मो से) लिप्त नही होता, भोगी—भोगी, ससारे—ससार मे, भमइ—भ्रमण करता है, अभोगी—अभोगी (उससे), विप्पमुच्चइ—विमुक्त हो जाता है ॥४१॥

उल्लो सुक्को य—एक गीला और एक सूखा, दो मट्टियामया गोलया—दो मिट्टी के गोले, छूढा—फेंके गए, दो वि—वे दोनो ही, कुड्डे—दीवार पर, आवडिया—आकर गिरे, जो उल्लो—जो गीला गोला था, सो—वह, तत्थ—वही, लग्गइ—चिपक गया ॥४२॥

एव—इसी प्रकार, जे नरा—जो मनुष्य, दुम्मेहा—दुर्बुद्धि है, (और) काम-लालसा—काम भोगो की लालसा मे सलग्न है, (वे) लग्गति—विषयो मे चिपक जाते हैं, विरत्ता उ—जो विरक्त है, (वे) जहा सुक्को उ गोलओ—सूखे गोले की भांति, न लग्गति—नही चिपकते ॥४३॥

भावार्थ—(जयघोष मुनि—) हे द्विज! मुझे भिक्षा से प्रयोजन नही है (मेरा यहाँ आने का प्रयोजन यही है कि) तुम शीघ्र ही इस ससार को छोडकर श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण करो। इस घोर ससाररूपी समुद्र मे भ्रमण न करो—गोते मत खाओ, क्योकि इसमे अनेक प्रकार के भय के आवर्त—चक्र हैं ॥४०॥

कर्मो का उपचय भोगो से होता है। अभोगी जीव कर्मो से लिप्त नही होता। भोगी ससार मे परिभ्रमण करता है, (जबकि) अभोगी कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥४१॥

यदि गीला और सूखा, दो मिट्टी के गोले भीत पर फेंके जाएँ तो उनमे से जो गीला होता है, वह उस भीत पर चिपक जाता है ॥४२॥

इसी प्रकार जो दुर्बुद्धि मानव कामभोगलिप्सु है, उन्ही के कर्म चिपकते हैं, जो विषयो से विरक्त हैं, उनको वे कर्म नही चिपकते, जैसे कि सूखा गोला भीत पर नही चिपकता ॥४३॥

विवेचन—फलितार्थ—विजयघोष द्वारा भिक्षा के लिए की गई विनति को सुनकर जयघोष मुनि बोले—मुझे भिक्षा की आवश्यकता नहीं। मैं तो तुम्हे सावधान करने आया हूँ कि तुम ऐहिक और पारलौकिक भयों से युक्त एव नाना दु खो के घर इस ससार के भयावर्तों मे मत फँसो, शीघ्र ही इससे निकलो, और दीक्षा लो। जो ससार के विषय-भोगों में फँसा रहता है, वह कर्मों का उपचय (सचय) करता है, किन्तु जो ससार से विरक्त हो जाता है, वह इन भोगो मे नही फँसता और कर्मों से लिप्त नहीं होता।

वह कर्मो का जाल तोड़कर मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। मान लो, दो गोले हैं, एक गीला है और दूसरा सूखा है। इन दोनो को दीवार के ऊपर फेकने पर इनमे से गीला गोला ही दीवार पर चिपकता है, सूखा नही। इसी प्रकार जो दुर्बुद्धि कामलिप्सु है, वे गीले गोले की तरह कर्मो के लेप से युक्त हो जाते हैं किन्तु जो विरक्त हैं, वे सूखे गोले की तरह कर्मो से लिप्त नही होते वे यथाशीघ्र कर्ममुक्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। निष्कर्ष यह है कि विषयवासना से युक्त—कर्मो से लिप्त और विषयवासना से मुक्त—कर्मो से मुक्त होता है।

जयघोष मुनि के पास विजयघोष प्रव्रजित और दोनो ने सिद्धि प्राप्त की—

मूल—एव से विजयघोसे, जयघोसस्स अतिए।
अणगारस्स निक्खतो, धम्म सोच्चा अणुत्तर ॥४४॥
खवित्ता पुव्वकम्माइ, सजमेण तवेण य।
जयघोस-विजयघोसा, सिद्धि पत्ता अणुत्तर ॥४५॥
—त्ति बेमि।

छाया—एव स विजयघोष, जयघोषस्यान्तिके।
अनगारस्य निष्क्रान्त, धर्म श्रुत्वाऽनुत्तरम् ॥४४॥
क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, सयमेन तपसा च।
जयघोष-विजयघोषौ- सिद्धि प्राप्तावनुत्तराम् ॥४५॥
—इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद—इस प्रकार वह विजयघोष, जयघोष श्रमण के पास वहाँ।
उस श्रेष्ठ धर्म को सुन करके, बन गया शीघ्र अनगार यहाँ ॥४४॥
सचित कर्मो को क्षय करके, वे सयम और तपस्या से।
विजयघोष-जयघोष भ्रात दो, सिद्धि पाए तर भवजल से ॥४५॥

अन्वयार्थ—एव—इस प्रकार, से विजयघोसे—वह विजयघोष ब्राह्मण, जयघोसस्स अणगारस्स अतिए—जयघोष अनगार के पास, अणुत्तर धम्म—अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धर्म को, सोच्चा—सुन कर, निक्खतो—दीक्षित हो गया ॥४४॥

जयघोस-विजयघोसा—जयघोष और विजयघोष ने, सजमेण तवेण य—सयम और तप के द्वारा, पुव्वकम्माइ—पूर्व-सचित कर्मों को, खवित्ता—नष्ट करके, अणुत्तर सिद्धि—अनुत्तर सिद्धि, पत्ता—प्राप्त की ॥४५॥

—त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—इस तरह वह विजयघोष ब्राह्मण, जयघोष मुनि के समीप अनुत्तर (=सर्वोत्तम) धर्म को सुनकर प्रव्रजित हो गया ॥४४॥

सयम और तपस्या से पूर्वसचित कर्मों का क्षय करके जयघोष और विजयघोष दोनो ने सर्वश्रेष्ठ सिद्धगति प्राप्त की ॥४५॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपदेश-श्रवण, मुनिवृत्ति धारण और आचरण का अन्तिम फल—प्रस्तुत गाथाद्वय मे जयघोष मुनि के तात्त्विक और सारगर्भित उपदेश तथा उनके द्वारा की गई, यज्ञ अग्निहोत्र और ब्राह्मणत्व आदि विषयो की तात्त्विक, सत्य एव युक्तिसगत व्याख्या सुनकर सत्यान्वेषी सरलमना विजयघोष ब्राह्मण ने उनसे श्रमण धर्म की दीक्षा अगीकार कर ली। सचित कर्मों को क्षय करने मे तप और सयम ही प्रधान कारण है, यह जानकर दोनो भ्राताओ ने तप और सयम की शुद्ध रूप से आराधना की, जिसके फलस्वरूप दोनो ने समस्त कर्मों का क्षय करके अपुनरावृत्तिरूप सर्वप्रधान मोक्षगति प्राप्त की।

॥ यज्ञीय : पच्चीसवां अध्ययन समाप्त ॥

□□

वह कर्मों का जाल तोड़कर मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। मान लो, दो गोले हैं, एक गीला है और दूसरा सूखा है। इन दोनो को दीवार के ऊपर फेंकने पर इनमे से गीला गोला ही दीवार पर चिपकता है, सूखा नही। इसी प्रकार जो दुर्बुद्धि कामलिप्सु है, वे गीले गोले की तरह कर्मो के लेप से युक्त हो जाते हैं किन्तु जो विरक्त है, वे सूखे गोले की तरह कर्मो से लिप्त नही होते वे यथाशीघ्र कर्ममुक्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। निष्कर्ष यह है कि विषयवासना से युक्त—कर्मों से लिप्त और विषयवासना से मुक्त—कर्मों से मुक्त होता है।

जयघोष मुनि के पास विजयघोष प्रव्रजित और दोनो ने सिद्धि प्राप्त की—

मूल—एव से विजयघोसे, जयघोसस्स अतिए।
अणगारस्स निक्खतो, धम्म सोच्चा अणुत्तर ॥४४॥
खवित्ता पुव्वकम्माइ, सजमेण तवेण य।
जयघोस-विजयघोसा, सिद्धि पत्ता अणुत्तर ॥४५॥
—त्ति बेमि।

छाया—एव स विजयघोष, जयघोषस्यान्तिके।
अनगारस्य निष्क्रान्त, धर्म श्रुत्वाऽनुत्तरम् ॥४४॥
क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, सयमेन तपसा च।
जयघोष-विजयघोषौ सिद्धि प्राप्तावनुत्तरान् ॥४५॥
—इति ब्रवीमि।

पद्यानुवाद—इस प्रकार वह विजयघोष, जयघोष श्रमण के पास वहाँ।
उस श्रेष्ठ धर्म को सुन करके, बन गया शीघ्र अनगार यहाँ ॥४४॥
सचित कर्मो को क्षय करके, वे सयम और तपस्या से।
विजयघोष-जयघोष भ्रात दो, सिद्धि पाए तर भवजल से ॥४५॥

अन्वयार्थ—एव—इस प्रकार, से विजयघोसे—वह विजयघोष ब्राह्मण, जयघोसस्स अणगारस्स अतिए—जयघोष अनगार के पास, अणुत्तर धम्म—अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धर्म को, सोच्चा—सुन कर, निक्खतो—दीक्षित हो गया ॥४४॥

जयघोस-विजयघोसा—जयघोष और विजयघोष ने, सजमेण तवेण य—सयम और तप के द्वारा, पुव्वकम्माइ—पूर्व-सचित कर्मों को, खवित्ता—नष्ट करके, अणुत्तर सिद्धि—अनुत्तर सिद्धि, पत्ता—प्राप्त की ॥४५॥

—त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—इस तरह वह विजयघोष ब्राह्मण, जयघोष मुनि के समीप अनुत्तर (=सर्वोत्तम) धर्म को सुनकर प्रव्रजित हो गया ॥४४॥

संयम और तपस्या से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके जयघोष और विजयघोष दोनो ने सर्वश्रेष्ठ सिद्धगति प्राप्त की ॥४५॥

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपदेश-श्रवण, मुनिवृत्ति धारण और आचरण का अन्तिम फल—प्रस्तुत गाथाद्वय मे जयघोष मुनि के तात्त्विक और सारगर्भित उपदेश तथा उनके द्वारा की गई, यज्ञ अग्निहोत्र और ब्राह्मणत्व आदि विषयो की तात्त्विक, सत्य एव युक्तिसंगत व्याख्या सुनकर सत्यान्वेषी सरलमना विजयघोष ब्राह्मण ने उनसे श्रमण धर्म की दीक्षा अंगीकार कर ली। संचित कर्मों को क्षय करने मे तप और संयम ही प्रधान कारण है, यह जानकर दोनो भ्राताओ ने तप और संयम की शुद्ध रूप से आराधना की, जिसके फलस्वरूप दोनो ने समस्त कर्मो का क्षय करके अपुनरावृत्तिरूप सर्वप्रधान मोक्षगति प्राप्त की।

॥ यज्ञीय पच्चीसवां अध्ययन समाप्त ॥

□□

सामाचारी : छब्बीसवाँ अध्ययन

(अध्ययन-सार)

प्रस्तुत अध्ययन का नाम सामाचारी है।

सामाचारी साधु जीवन मे छोटे-बडे नवदीक्षित, स्थविर, गुरु-शिष्य आदि के पारस्परिक व्यवहारो और कर्तव्यो की आचार-सहिता है। साथ ही साधु वर्ग को प्राप्त शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियाँ आदि साधनो को बाह्यलक्ष्यी न बनाकर अन्तरगलक्ष्यी—आत्मलक्ष्यी बनाने हेतु भी यह समधाचारी है, यानी दिन और रात मे किस समय कौन-सी सत्क्रिया की जाए ? जिससे रत्नत्रय की साधना परिपुष्ट हो, मोक्ष की ओर साधक की दौड तीव्र बने, इसके लिए साधु वर्ग की दिन और रात्रि की चर्या क्रम की निर्देशदर्शिनी भी है।

इस अध्ययन मे सर्वप्रथम शिष्टजनाचरित व्यवहारात्मक दश प्रकार की, अर्थात् जसे—(१) आवश्यकी, (२) नैषेधिकी, (३) आपृच्छना, (४) प्रतिपृच्छना, (५) छन्दना, (६) इच्छाकार, (७) मिथ्याकार, (८) तथाकार (९) अभ्युत्थान और (१०) उपसम्पदा—ओघ सामाचारी का वर्णन है।

साधक कार्यवश अपने आवास स्थान से कही बाहर जाए या वापस लौट कर आए तो अपने निर्गमन और आगमन की सूचना गुरुजनो को दे। किसी भी अपने एवं दूसरे साधक के कार्य के लिए पहले गुरुजनो से पूछे, कोई भी वस्तु भिक्षा द्वारा लाए तो छोटे-बडे सभी साधको को उसे लेने के लिए आमन्त्रित करे, दूसरो का कार्य करने या दूसरे साधक से काम लेने मे अपनी और दूसरे की इच्छा को महत्व दे। असद्व्यवहार के निवारणार्थ सजग रहे, गुरुजनो के आदेश-उपदेश को सहर्ष स्वीकार करे। गुरुजनो का आदर-सत्कार करे तथा किसी ज्ञानादि विशिष्ट प्रयोजनवश अन्य आचार्य के पास रहना हो तो उपसम्पदा धारण करे।

इस प्रकार की व्यवहारात्मक सामाचारी है।

इसके पश्चात् साधक-जीवन की दिन और रात्रि की चर्या का विभागश विधान है। साथ ही १३वो से १६वो गाथा तक पौरुषी के माप का विज्ञान बताया है।

आगे की गाथाओ मे प्रतिलेखना की विधि क्रम एव उसके दोषो से रक्षा का तथा दिन के तीसरे पहर मे भिक्षा चर्या और विशेषत आहार-ग्रहण मे विधि-निषेध का भी सागोपाग वर्णन है।

रात्रि और दिवस के कुल आठ पहरो मे से चार पहर स्वाध्याय के हैं, दो पहर ध्यान के हैं, तथा दिन के एक पहर मे भिक्षा एव आहार और रात के एक पहर मे निद्रा का भी विधान है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि आवश्यक कार्यों के लिए भी इसमे विधान है। प्रमुखता स्वाध्याय, ध्यान, एव कायोत्सर्ग को दी गई है। जागृत साधु-साध्वी की साधनामयी दिन-रात्रि चर्या का इसमे सागोपाग चित्रण है।

कुल मिलाकर यह साधु-सामाचारी प्राण की तरह सयमी जीवन की सहचारिणी, तन-मन-वचन को स्वस्थ, सतुलित, शान्त और सजीव जीवन को व्यवस्थित रखने वाली है। ससार-सागर को पार करने के लिए पचाचारमयी तरणी है।

□□

छब्बीसवां अध्ययन : सामाचारी

[छब्बीसइम अज्झयण सामायारी]

सामाचारी कहने का प्रयोजन—

मूल—सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
जं चरित्ता ण निग्गंथा, तिण्णा संसार-सागरं ॥१॥

छाया—सामाचारी प्रवक्ष्यामि, सर्व-दुःख-विमोक्षणीम् ।
या चरित्वा निर्ग्रन्था, तीर्णा संसार-सागरम् ॥१॥

पद्यानुवाद—सामाचारी बतलाऊंगा, जो सब दुःखों को देती टार ।
निर्ग्रन्थ सन्त जिसका पालनकर, भव-सागर को करते पार ॥१॥

अन्वयार्थ—सव्व-दुक्ख-विमोक्खणि—समस्त दुःखों से मुक्त=रहित करने वाली, सामायारिं—सामाचारी का, पवक्खामि—मैं कथन करूंगा, जं—जिस सामाचारी का, चरित्ता ण—आचरण करके, निग्गंथा—निर्ग्रन्थ मुनि, संसार-सागरं—संसार-समुद्र को, तिण्णा—पार कर गए ।

विशेषार्थ—समस्त शारीरिक-मानसिक, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली, जो साधु वर्ग की कर्तव्य मर्यादा रूप, अथवा आचार व्यवहार की सम्यक् व्यवस्थारूप 'सामाचारी' या साधुवर्ग के लिए अहोरात्र के समयानुरूप क्रियाकलाप सूचिका 'समयाचारी' है, उसका, मैं (हे जम्बू ! मैं सुधर्मास्वामी) प्रतिपादन करूंगा, जिसका पालन करके बहुत से निर्ग्रन्थ (द्रव्य और भाव रूप ग्रन्थ=परिग्रह से रहित) जन्म-मरणरूप या चतुर्गतिक रूप संसार-सागर को पार करते हैं और भविष्य में भी पार करेंगे ।

सामाचारी के दस प्रकार—

मूल—पढमा आवस्सिया नाम, बिइया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥२॥

पचमा छदणा नाम, इच्छाकारो अ छट्ठमो।
सत्तमो मिच्छाकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥३॥

अब्भुट्ठाण नवमा, दसमा उवसपया।
एसा दसंगा साहूण, सामायारी पवेइया ॥४॥

छाया—प्रथमा आवश्यकी नाम्नी, द्वितीया च निषीधिका।
आप्रच्छना च तृतीया, चतुर्थी प्रतिप्रच्छना ॥२॥

पचमी छन्दना नाम्नी, इच्छाकारश्च षष्ठ।
सप्तम मिथ्याकारश्च, तथाकारश्च अष्टम ॥३॥

अभ्युत्थान नवम, दशमी उपसम्पद्।
एषा दशांगा साधूना, सामाचारी प्रवेदिता ॥४॥

पद्यानुवाद- -है 'आवस्सिया' पहली गाई, दूजी 'निसीहिया' बतलाई।
'आपृच्छना' तीजी कहलाती है, 'प्रतिपृच्छा' चौथी सुखदाई।२॥
'छन्दना' नाम पचम का है, छठी मर्यादा 'इच्छा' है॥
सप्तम को 'मिथ्याकार' कहा, 'तहकार' आठवीं अच्छा है।३॥
'अभ्युत्थान' नाम की नवमी, दसवी 'उपससम्पद्' समझाई।
प्रभु ने दशांग की मर्यादा, मुनिजन के हित यह बतलाई। ४॥

अन्वयार्थ—पढमा नाम—(इनमे) पहली सामाचारी का नाम, आवस्सिया—आवश्यिका है, य—और, बिइया—दूसरी (सामाचारी), निसीहिया—निषीधिका है, य—और, तइया—तीसरी, आपुच्छणा—आपृच्छना है, (तथा) चउत्थी—चौथी, पडिपुच्छणा—प्रतिपृच्छना है, पचमी—पाचवी सामाचारी, छदणानाम—छन्दना नाम की है, अ—तथा, इच्छाकारो—इच्छाकार, छट्ठमो—छठी सामाचारी है, सत्तमी—सातवी (सामाचारी), मिच्छाकारो—मिथ्याकार है, य—और, तहक्कारो—तथाकार, अट्ठमो—आठवी सामाचारी है, अब्भुट्ठाण—अभ्युत्थान, नवमा—नौवी (तथा), दसमा 'उवसपया'—दसवी उवसम्पदा सामाचारी है। एसा—यह, दसगा—दस अगो वाली (दश प्रकार की), साहूण—साधुओ की, सामाचारी—सामाचारी, (प्रभु ने) पवेइया—कही है ॥२-३-४॥

विशेषार्थ—इनमे सर्वप्रथम (आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाने की, सूचना देने सम्बन्धी आवश्यकी या आवश्यिका सामाचारी है, दूसरी है नैषीधिकी या निषीधिका, (बाहर के कार्य से निवृत्त होकर धर्मस्थान में प्रवेश करने की सूचिका) तीसरी—आपृच्छना (किसी भी कार्य के लिए गुरुजनो से पूछना) और चौथी—प्रतिपृच्छना (किसी विशिष्ट कार्य के लिए

गुरुओ से बार-बार पूछना) सामाचारी है। पाँचवी छन्दना—(लाये हुए आहार वस्त्रादि के लिए अन्य साधुओ को निमन्त्रण करना) है, छठी इच्छाकार सामाचारी (दूसरे साधुओ की इच्छा जानना और तदनुरूप परि-चर्या करना) है, सातवी स्खलना होने पर साधुवर्ग द्वारा 'मिच्छामि दुक्कड' कहना 'मिथ्याकार' सामाचारी है। गुरु-आज्ञा का समर्थन और स्वीकार करना, आठवी 'तथाकार' सामाचारी है, तथा गुरुजनो को आते देख उठकर सामने जाना नौवी अभ्युत्थान सामाचारी है। एव गुरुजनो की आज्ञा से ज्ञानादि के सम्पादनार्थ अन्य गच्छ के आचार्य के पास जाना, दसवी उप-सम्पदा सामाचारी है।

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् ने समस्त साधुवर्ग के हितार्थ दस प्रकार की यह सामाचारी बताई है।

दशविध सामाचारी का पालन कब और किसलिए ?

मूल—गमणे आवस्सिय कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहिय।
आपुच्छणा सयकरणे, पर-करणे पडिपुच्छणा ॥५॥
छदणा दव्वजाएण, इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए, तहक्कारो पडिस्सुए ॥६॥
अब्भुट्ठाण गुरुपूया, अच्छणे उवसपदा।
एव दु-पच-सजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥७॥

छाया—गमने आवश्यकी कुर्यात्, स्थाने कुर्यान्निषीधिकाम्।
आप्रच्छना स्वय करणे, पर-करणे प्रतिप्रच्छना ॥५॥
छन्दना द्रव्यजातेन, इच्छाकारश्च सारणे।
मिथ्याकारश्च निन्दाया, तथाकारश्च प्रतिश्रुते ॥६॥
अभ्युत्थान गुरु-पूजाया, आसने उपसम्पद्।
एव द्वि-पच-सयुक्ता, सामाचारी प्रवेदिता ॥७॥

पद्या०—'आवस्सिया' जाते कहना, फिर आते 'निसीहिया' कहना।
'आपृच्छा' अपने कार्य-समय, परकार्ये पुन 'पृच्छा' करना ॥५॥
'छन्दना' प्राप्त द्रव्यो से हो, और स्मारण मे 'इच्छाकार' करे।
'निन्दा' मे 'मिथ्याकार' कहा, और नमस्कार से श्रवण करे ॥६॥
उत्थान विनय गुरुपूजा मे, उपसम्पद् ज्ञानार्थ रहे॥
इस तरह बोल मर्यादा के दश, मुनिजन के हित गये कहे ॥७॥

अन्वयार्थ—गमणे—(उपाश्रय से बाहर) गमन करते समय, आवस्सिय—

आवस्सियं, कुज्जा—करे, ठाणे—(उपाश्रमादि) स्थान मे प्रवेश करते समय, निसीहियं—नैषेधिकी, कुज्जा—करे, सयकरणे—अपना कार्य करने मे, आपुच्छणा—गुरु से पूछना—आपृच्छना (सामाचारी करना), पर-करणे—दूसरो के कार्य मे प्रवृत्ति करने मे, पडिपुच्छणा—गुरुजनो से पूछना-प्रतिपृच्छना (सामाचारी) है ॥५॥

दव्वजाएण—भिक्षा मे प्राप्त द्रव्यो की, छदणा—गुरु, साधर्मी साधु-साध्वी मे आमत्रण=छदना (सामाचारी) है, य—और, सारणे—दूसरो का कार्य करने या दूसरो से कार्य कराने मे, इच्छाकारो— स्वय की इच्छा व्यक्त करना या दूसरो की इच्छा जानना—इच्छाकार (सामाचारी) है, य—तथा, निंदाए—(प्रवृत्ति करते समय दोष लगने या स्खलना होने से) आत्म-निन्दा करने में, मिच्छाकार—मिथ्याकार (सामाचारी का प्रयोग करना चाहिए), पडिस्सुए य—गुरुजनो की बात को स्वीकार करने मे, तहक्कार—'तथाऽस्तु' करना, तथाकार सामाचारी है ॥६॥

गुरुपूया—गुरुजनो की पूजा=बहुमान करने मे, अब्भुट्ठाण—(अपने आसन से उठकर) सम्मुख जाना=अभ्युत्थान सामाचारी है। अच्छण—(अवस्थाने) किसी विशिष्ट ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए, उवसपया—अन्यगण के आचार्य आदि के पास रहना=उपसम्पदा सामाचारी है। एव—इस तरह, (यह) दु-पच-सजुत्ता—दश-विध अगो से युक्त, सामायारी—सामाचारी=आचार सहिता, पवेइया—कही गई है ॥७॥

विशेषार्थ—(१) जब उपाश्रय (स्व-निवास-स्थान) से बाहर शौच, गोचरी आदि किसी आवश्यक कार्य से जाना हो तो 'आवस्सिय' कहकर आवश्यकी सामाचारी का पालन करे, (फिर उस समय अनावश्यक कार्य न करे)। (२) वापस अपने आवास-स्थान मे प्रवेश करते समय 'निसीहिय' बोलकर नैषेधिकी सामाचारी करे। आशय यह है कि अब मैं गमनादि क्रियाओ से निवृत्त होकर अपने स्थान मे स्थित होता हूँ, इस विचार को प्रकट करने के लिए यह द्वितीय सामाचारी है। (३) प्रमार्जन, प्रतिलेखन, आहार, विहार, नीहार, स्वाध्याय, तप आदि किसी भी अपने कार्य को करने से पूर्व गुरुजनो से सविनय पूछना आपृच्छना सामाचारी है, (४) तथा दूसरे साधर्मी साधु-साध्वियो के वैयावृत्य, शास्त्र-पाठन, वस्त्र-प्रक्षालन, केशलोच आदि कार्य के लिए गुरुजनो से पूछना, अथवा गुरु-आज्ञा प्राप्त होने पर भी कार्य मे प्रवृत्त होते समय गुरुवरो से पूछना 'प्रतिपृच्छा' सामाचारी है ॥५॥

(५) आहार, वस्त्र, पात्रादि जो भी वस्तुएँ पहले लाई हुई हो, उन्हें गुरु या अन्य साधर्मी साधुवर्ग को दिखाकर कहना कि 'इनमे से आप अपनी

इच्छानुसार ग्रहण करके मुझे तारिये, यह छन्दना सामाचारी है। (६) 'मेरी इच्छा इस कार्य को करने की है' इस प्रकार प्रकट करना अथवा 'आपकी इच्छा हो तो यह कार्य करें' इस प्रकार दूसरो को नम्रतापूर्वक कहना, इच्छाकार सामाचारी है। (७) साधुजीवन मे प्रमादवश कोई भूल या दुष्प्रवृत्ति हुई हो तो उसके लिए 'ओह! मैंने यह गलत कार्य किया', इस प्रकार आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप) करना, मिथ्याकार सामाचारी है। (८) गुरु, स्थविर आदि कोई वाचना, उपदेश या किसी कार्य के लिये प्रेरणा देते हो, तो उसे नम्रता पूर्वक स्वीकार करना, तथाऽस्तु (तहत्ति) कहना, तथाकार सामाचारी है ॥६॥

(९) गुरु या ज्येष्ठ साधु आ रहे हो तो अपने आसन से उठकर, 'पधारिये' इस प्रकार कहते हुए उनको हाथ जोडकर उनके सम्मुख जाना, उनका सत्कार करना अथवा गुरु आचार्य या वृद्ध स्थविर बहुश्रुत आदि की परिचर्या—सेवा-शुश्रूषा के लिए सदा उद्यत रहना, अभ्युत्थान सामाचारी है।

(१०) "विशिष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्बन्धी अध्ययन या अभ्यास के लिए मैं आपकी सेवा मे अमुक अवधि तक रहूँगा, इस प्रकार दूसरे गण के आचार्य, उपाध्याय, बहुश्रुत या विशेषज्ञ साधु के पास गुरुदेव की आज्ञा से रहना, उपसम्पदा सामाचारी है। आशय यह है कि इस प्रकार कहने से गणो मे पारस्परिक वात्सल्य, विश्वास एव सहानुभूति भी बनी रहती है।

इस प्रकार सघीय साधुजीवन मे सुव्यवस्था, आत्मीयता और परस्पर सद्व्यवहार के लिए भगवान् ने यह दश प्रकार की सामाचारी बताई है ॥७॥

सामाचारी

साधु की दिनचर्या-विषयक ओघ सामाचारी—

मूल—पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए।
मडयं पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरु ॥८॥

पुच्छिज्ज पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह ?।
इच्छं निओइउं भंते! वेयावच्चे व सज्झाए ॥९॥
वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्ख-विमोक्खणे ॥१०॥

छाया—पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते ।
माण्डक प्रतिलिख्य, वन्दित्वा च ततो गुरुम् ॥८॥

पृच्छेत् प्राञ्जलिपुट, किं कर्त्तव्यं मया इह ? ।
इच्छामि नियोजयितु भदन्त !, वैयावृत्त्ये वा स्वाध्याये ॥९॥
वैयावृत्त्ये नियुक्तेन, कर्त्तव्यमग्लायकेन ।
स्वाध्याये वा नियुक्तेन, सर्व-दुःख-विमोक्षणे ॥१०॥

पद्या०—प्रथम प्रहर के पूर्वभाग मे, सूर्य गगन मे उठ आवे।
प्रतिलेखन कर भाण्डादिक का, फिर गुरुजन-वन्दन को जावे ॥८॥
फिर हाथ जोड पूछे गुरु से-'अब क्या करना, गुरुवर ! हमको ?
सेवा या स्वाध्याय किसी मे, चाहूं नियुक्त करे मुझको' ॥९॥
सेवा करने की आज्ञा हो, अग्लान भाव से वही करे।
अथवा सकलदुःखहर्त्ता जो, ग्लानिरहित स्वाध्याय करे ॥१०॥

अन्वयार्थ—पुव्विल्लम्मि—दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग मे, आइच्चम्मि समुट्ठिए—सूर्य के ऊपर उठने पर, भडय—भण्डोपकरण की, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके, य—और, तओ—उसके पश्चात्, गुरु—गुरु को, वंदित्ता—वन्दना करके, पजलिउडो—हाथ जोड कर, पुच्छिज्जा—पूछे, भते—भगवन्! मए—मुझे, इह—इस समय, किं कायव्व—क्या करना चाहिए ? इच्छं—मैं चाहता हूँ कि (आप) सज्झाए—स्वाध्याय, व—अथवा, वेयावच्चे—वैयावृत्य=सेवा मे, निओइउ—मुझे नियुक्त करें ॥८-९॥

वेयावच्चे—वैयावृत्य मे, निउत्तेण—नियुक्त कर देने पर, अगिलायओ—अग्लान होकर, कायव्व—(सेवा) करे। वा—अथवा, सव्वदुक्ख-विमोक्खणे—समस्त दुःखो मे विमुक्त करने वाले, सज्झाए—स्वाध्याय मे, निउत्तेण—नियुक्त होने पर (प्रसन्नमन से स्वाध्याय करे।)॥१०॥

विशेषार्थ—दिवस के चार प्रहरो मे से (आठ घडी के) प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग, अर्थात् दो घडी सूर्य चढ जाने पर, पात्र-वस्त्र आदि धर्मोपकरणो का प्रतिलेखन कर ले, तब फिर गुरु, आचार्य आदि को वन्दन करके करबद्ध होकर पूछे कि भगवन् ! मुझे अब क्या करना है ? आप चाहे तो मुझे स्वाध्याय मे जुटा दें, अथवा चाहे तो मुझे ग्लान, रोगी आदि की वैयावृत्य करने मे जुटा दें। तात्पर्य यह है कि आप मुझे वैयावृत्य, स्वाध्याय अथवा उपलक्षण से अन्य जिस किसी भी स्वाध्योचित कार्य मे नियुक्त करना चाहेगे, मैं उसी मे नियुक्त हो जाऊँगा ॥८-९॥

इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् यदि गुरु की आज्ञा स्वाध्याय करने की हो तो विना थके, विना मुर्झाए (अग्लान हो कर) उत्साहपूर्वक

स्वाध्याय करे, और अगर गुरु की आज्ञा ग्लान, वृद्ध, रोगी आदि की वैयावृत्य करने की हो तो अपने शारीरिक बल का कुछ भी विचार किये बिना सेवा-शुश्रूषा मे लग जाना चाहिए ॥१०॥

विशेष व्याख्याएं—पुव्विल्लम्मिचउभाए—बृहद्वृत्तिकार के अनुसार—पूर्वदिशागत आकाश के बुद्धि से चार विभाग करके आकाश के चतुर्थ भाग मे कुछ कम सूर्य के आकाश मे उठने पर अर्थात्—पादोन पौरुषी आ जाए तब। अगिलायओ—वैयावृत्य के साथ सलग्न होने पर अर्थ होता है—अपने तन-बल की परवाह न करके, तथा स्वाध्याय के साथ जुडने पर—बिना थके, बिना मुर्झाए। सव्व-दुक्ख-विमोक्खणे—स्वाध्याय सब दु खो से मुक्त कराने वाला इस प्रकार है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है, अज्ञान नष्ट होने पर मोहनीय आदि घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, फिर केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति और समस्त कर्मक्षय हो जाने पर मुक्ति प्राप्त होते ही दु खो का समूल नाश हो जाता है।

उत्सर्गकल्प से साधु वर्ग की दैवसिक चर्या—

मूल—दिवसस्स चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ॥११॥
पढम पोरिसिं सज्झाय, बीयं झाण झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झाय ॥१२॥

छाया—दिवसस्य चतुरो भागान्, कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षण।
तत उत्तर-गुणान् कुर्यात्, दिन-भागेषु चतुर्ष्वपि ॥११॥
प्रथमा पौरुषी स्वाध्याय, द्वितीया ध्यान ध्यायति।
तृतीयाया भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम् ॥१२॥

पद्यानुवाद—कुशल भिक्षु दिनचर्या मे यहाँ, चार भाग दिन के करके।
उत्तरगुण विधिवत् साध चले, चारो विभाग मे मन करके ।११।
प्रथम प्रहर स्वाध्याय करे, और ध्यान दूसरे मे धर ले।
प्रहर तीसरा भिक्षाहित, चौथे मे फिर स्वाध्याय करे ।१२।

अन्वयार्थ—वियक्खणो—विचक्षण, भिक्खू—साधु, दिवसस्स—दिन के, चउरो भागे—चार भाग, कुज्जा—करे। तओ—तत्पश्चात्, चउसुवि दिणभागेसु—दिन के उन चार भागो मे, उत्तरगुणे—उत्तरगुणो की, कुज्जा—(विधिवत् आराधना) करे ॥११॥

(साधु-साध्वी दिन के चार पहरो मे से) पढम पोरिसिं—प्रथम प्रहर मे,

सज्झाय—स्वाध्याय करे, बीय—दूसरे प्रहर मे, झाण झियायई—ध्यान (सूत्रार्थ-चिन्तन) करे, तइयाए भिक्खायरियं—तीसरे प्रहर मे भिक्षाचरी करे, पुणो—और फिर, चउत्थीइ—चतुर्थ प्रहर मे, सज्झाय—स्वाध्याय करे ॥१२॥

विशेषार्थ—बुद्धिमान साधु अपनी बुद्धि से दिन के चार भागो की कल्पना कर ले। फिर उन चारो ही (समय—) विभागो मे स्वाध्याय आदि उत्तरगुणो का आराधन करे। तात्पर्य यह है कि जिस जिस विभाग मे जिस-जिस उत्तरगुण का अनुष्ठान बताया है, उन सभी का आचरण करे ॥११॥

(साधु की दिनचर्या इस प्रकार है—) पहले प्रहर मे वाचनादि पाचो प्रकार से श्रेष्ठ शास्त्रो-ग्रन्थो आदि का स्वाध्याय करे। दूसरे प्रहर मे स्वाध्याय किये हुए पदार्थों या सूत्र के अर्थों पर चिन्तन-मनन करे, अथवा धर्मध्यान शुक्लध्यान रूप आत्मध्यान करे, तीसरे प्रहर मे निर्दोष भिक्षा करे और चौथे प्रहर मे फिर पाँच प्रकार का सूत्रपाठरूप स्वाध्याय करे ॥१२॥

प्रहर को जैन पारिभाषिक शब्दावली मे 'पौरुषी' कहा गया है।

प्रथम पौरुषी को सूत्र पौरुषी, द्वितीय पौरुषी को अर्थ पौरुषी कहते है। केवल मूल शास्त्र-वाचन से चिन्तन तीव्र नही होता, वह होता है, अर्थ चिन्तन से, इसलिए स्वाध्याय के बाद ध्यान कहा है। तीसरी पौरुषी को गोचर काल कहा है। इसलिए तीसरे पहर मे पहले भिक्षाटन, फिर आहार, इसके अतिरिक्त उपलक्षण से मलोत्सर्ग (शौच) आदि कार्य करे। इन सबका समावेश भिक्षाचर्या मे किया गया है। फिर चौथे पहर मे स्वाध्याय का विधान है, किन्तु उपलक्षण से प्रमार्जन प्रतिलेखन तथा ग्लानादि के लिए आहारादि लाना, आदि चर्या का भी इसमे समावेश कर लेना चाहिए। समय का यह विभाग स्थूल दृष्टि से या सामान्य रूप से किया गया है। किन्तु अपवाद मार्ग मे इसमे कुछ परिवर्तन भी सम्भव है।

पौरुषी का कालमान—

मूल—आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया।
चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरिसी ॥१३॥
अगुलं सत्तरत्तेण, पक्खेण य दुअगुलं।
वड्ढए हायए वावि, मासेण चउरगुलं ॥१४॥

छाया—आषाढे मासे द्विपदा, पौषे मासे चतुष्पदा।
चैत्राश्विनयोर्मासयो, त्रिपदा भवति पौरुषी ॥१३॥

अंगुलं सप्त-रात्रेण, पक्षेण च द्वयंगुलम् ।
वर्धते हीयते वापि, मासेन चतुरंगुलम् ॥१४॥

पद्यानुवाद— आषाढ मास मे दो पद की, और पौष चार पद मे होती।
चैत्र और आश्विन मे त्रिपदी, पौरुषी काल छाया होती ॥१३॥
अंगुल एक सात-दिवस मे (अहोरात्र मे)
और एकपक्ष मे दो अंगुल।
होती है छाया हानि-वृद्धि, प्रत्येक मास मे चतुरंगुल ॥१४॥

अन्वयार्थ—आसाढे मासे—आषाढ महीने मे, दुप्पया—दो पैर की, पोसे-मासे—पौष महीने मे, चउप्पया—चार पैर की (और) चित्तासोएसुमासेसु—चैत्र और आसोज महीने में, तिप्पया—तीन पैर की छाया से, पोरिसी—एक पौरुषी (प्रमाणकाल) होती है।

सत्तरत्तेण—सात अहो-रात्र में, अंगुलं—एक अंगुल, च—और, पक्खेण—एक पक्ष (पखवाड़े) में, दुरंगुलं—दो अंगुल (और) मासेण—एक मास में, चउरंगुलं—चार अंगुल, वड्ढए—(प्रमाण छाया दक्षिणायन मे) बढती (और) वावि हायए—(उत्तरायण में) घटती है।

विशेषार्थ—पुरुष शरीर से जिस काल को नापा जाता है, उसे पौरुषी कहते हैं। बारह अंगुल की छाया को एक पाद (पैर) जानना चाहिए। पुरुष अपना दाहिना कान सूर्यमण्डल के सम्मुख रखकर खड़ा हो और घुटने के बीच मे तर्जनी अंगुली रखकर उस अंगुली की छाया को देखे। यदि वह आषाढी पूर्णिमा को द्विपाद-परिमाण यानी चौबीस अंगुल हो जाय तो एक पहर-प्रमाण दिन हो जाता है। इसी विधि से पौष मास मे जब चार पाद-प्रमाण यानी ४८ अंगुल प्रमाण छाया हो जाय तो एक पहर होता है। तथा चैत्र और आश्विन मास मे तीन पाद प्रमाण=छत्तीस अंगुल छाया हो जाने से एक पहर होता है॥१३॥

शेष महीनो की पौरुषी जानने की विधि १४वीं गाथा मे इस प्रकार बताई है—प्रति वर्ष दो अयन होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन। जब सूर्य दक्षिणायन मे, अर्थात्—कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन, इन छह राशियो में होता है, तब दिन बढता है अतः छाया भी बढती है। और जब सूर्य उत्तरायण मे, अर्थात्—मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन, इन छह राशियो मे होता है, तब दिन घटता है, अर्थात् छाया भी घटती है। यह ज्ञातव्य है कि मिथुन—आषाढ मास के तेरह अंशो से

दक्षिणायन का और धन—पौष मास के तेरह अशो से उत्तरायण का प्रारम्भ होता है।

घटा-बढी कितनी होती है ? इसका वर्णन करते हैं—सात दिन-रात मे एक अगुल की, एक पक्ष मे दो अगुल की और एक मास मे चार अगुल की दिनमान मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार हानि (कमी) भी समझ लेनी चाहिए। अर्थात् एक सप्ताह मे एक अंगुल की, पन्द्रह दिन मे दो अगुल की और महीने मे चार अगुल की कमी होती है। यदि पक्ष पन्द्रह दिन का हो तो साढे सात अहोरात्र मे और चौदह दिन का हो तो सात अहोरात्र मे वृद्धि-हानि समझनी चाहिए।

चौदह दिनो का पक्ष किस-किस माह मे ?

मूल—आसाढ-बहुले पक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुण-वइसाहेसु य, बोधव्वा ओमरत्ताओ ॥१५॥

छाया—आषाढ-बहुलपक्षे, भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।
फाल्गुन-वैशाखयोश्च, ज्ञातव्या अवम-रात्रय ॥१५॥

पद्यानुवाद—आषाढ भाद्रपद कार्तिक और, हेमन्त होलिका मासो मे।
क्षय होती तिथियाँ एक-एक, वैशाख अधेरे पक्षो मे ॥१५॥

अन्वयार्थ—आसाढ-बहुले पक्खे—आसाढ मास के कृष्णपक्ष मे, भद्दवए—भाद्र-पद में, कत्तिए—कार्तिक मास में, य—और, पोसे य—पौष मास में तथा फग्गुण-वइसाहेसु—फाल्गुन और वैशाख मास के, कृष्ण-पक्ष में, ओमरत्ताओ=अवम—न्यून रात्रियाँ, बोधव्वा—समझनी चाहिए ॥१५॥

विशेषार्थ—आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के कृष्ण-पक्ष मे एक अहोरात्र की न्यूनता समझनी चाहिए। अर्थात्—चौदह दिन का एक पक्ष इन महीनो मे जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आषाढ आदि महीनो के कृष्णपक्ष मे एक अहोरात्र का क्षय कर देना चाहिए। एक अहोरात्र कम होने से चौदह दिनो का पक्ष स्वत सिद्ध हो जाता है।

पादोन पौरुषी काल जानने का उपाय—

मूल—जेट्ठामूले आसाढ-सावणे छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीय-तयम्मि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥१६॥

छाया—ज्येष्ठा-मूले आषाढ-श्रावणे, षड्भिरगुलै प्रतिलेखा।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके, तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥१६॥

अंगुल सप्त-रात्रेण, पक्षेण च द्व्यगुलम् ।
वर्धते हीयते वापि, मासेन चतुरगुलम् ॥१४॥

पद्यानुवाद—आषाढ मास मे दो पद की, और पौष चार पद मे होती।
चैत्र और आश्विन मे त्रिपदी, पौरुषी काल छाया होती ॥१३॥
अगुल एक सात-दिवस मे (अहोरात्र मे)
और एकपक्ष मे दो अगुल।
होती है छाया हानि-वृद्धि, प्रत्येक मास मे चतुरगुल ॥१४॥

अन्वयार्थ—आसाढे मासे—आषाढ महीने मे, दुप्पया—दो पैर की, पोसे-मासे—पौष महीने मे, चउप्पया—चार पैर की (और) चित्तासोएसुमासेसु—चैत्र और आसोज महीने में, तिप्पया—तीन पैर की छाया से, पोरिसी—एक पौरुषी (प्रमाणकाल) होती है।

सत्तरत्तेण—सात अहो-रात्र में, अगुल—एक अगुल, य—और, पक्खेण—एक पक्ष (पखवाड़े) में, दुरगुल—दो अगुल (और) मासेण—एक मास मे, चउरगुल—चार अगुल, वड्ढए—(प्रमाण छाया दक्षिणायन में) बढती (और) वावि हायए—(उत्तरायण में) घटती है।

विशेषार्थ—पुरुष शरीर से जिस काल को नापा जाता है, उसे पौरुषी कहते हैं। बारह अगुल की छाया को एक पाद (पैर) जानना चाहिए। पुरुष अपना दाहिना कान सूर्यमण्डल के सम्मुख रखकर खड़ा हो और घुटने के बीच मे तर्जनी अगली रखकर उस अगुली की छाया को देखे। यदि वह आषाढी पूर्णिमा को द्विपाद-परिमाण यानी चोबीस अगुल हो जाय तो एक पहर-प्रमाण दिन हो जाता है। इसी विधि से पौष मास मे जब चार पाद-प्रमाण यानी ४८ अगुल प्रमाण छाया हो जाय तो एक पहर होता है। तथा चैत्र और आश्विन मास मे तीन पाद प्रमाण=छत्तीस अगुल छाया हो जाने से एक पहर होता है॥१३॥

शेष महीनो की पौरुषी जानने की विधि १४वी गाथा मे इस प्रकार बताई है—प्रति वर्ष दो अयन होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन। जब सूर्य दक्षिणायन मे, अर्थात्—कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन, इन छह राशियो में होता है, तब दिन बढता है अत छाया भी बढती है। और जब सूर्य उत्तरायण मे, अर्थात्—मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन, इन छह राशियो मे होता है, तब दिन घटता है, अर्थात् छाया भी घटती है। यह ज्ञातव्य है कि मिथुन=आषाढ मास के तेरह अंशो से

दक्षिणायन का और धन=पौष मास के तेरह अंशो से उत्तरायण का प्रारम्भ होता है।

घटा-बढी कितनी होती है ? इसका वर्णन करते हैं—सात दिन-रात मे एक अगुल की, एक पक्ष मे दो अगुल की और एक मास मे चार अगुल की दिनमान मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार हानि (कमी) भी समझ लेनी चाहिए। अर्थात् एक सप्ताह मे एक अंगुल की, पन्द्रह दिन मे दो अगुल की और महीने मे चार अगुल की कमी होती है। यदि पक्ष पन्द्रह दिन का हो तो साढे सात अहोरात्र मे और चौदह दिन का हो तो सात अहोरात्र मे वृद्धि-हानि समझनी चाहिए।

चौदह दिनो का पक्ष किस-किस माह मे ?

मूल—आसाढ-बहुले पक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुण-वइसाहेसु य, बोधव्वा ओमरत्ताओ ॥१५॥

छाया—आषाढ-बहुलपक्षे, भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।
फाल्गुन-वैशाखयोश्च, ज्ञातव्या अवम-रात्रय ॥१५॥

पद्यानुवाद—आषाढ भाद्रपद कार्तिक और, हेमन्त होलिका मासो मे।
क्षय होती तिथियाँ एक-एक, वैशाख अधेरे पक्षो मे ॥१५॥

अन्वयार्थ—आसाढ-बहुले पक्खे—आसाढ मास के कृष्णपक्ष मे, भद्दवए—भाद्र-पद में, कत्तिए—कार्तिक मास में, य—और, पोसे य—पौष मास में तथा फग्गुण-वइसाहेसु—फाल्गुन और वैशाख मास के, कृष्ण-पक्ष में, ओमरत्ताओ=अवम—न्यून रात्रियाँ, बोधव्वा—समझनी चाहिए ॥१५॥

विशेषार्थ—आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के कृष्ण-पक्ष मे एक अहोरात्र की न्यूनता समझनी चाहिए। अर्थात्—चौदह दिन का एक पक्ष इन महीनो मे जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आषाढ आदि महीनो के कृष्णपक्ष मे एक अहोरात्र का क्षय कर देना चाहिए। एक अहोरात्र कम होने से चौदह दिनो का पक्ष स्वत सिद्ध हो जाता है।

पादोन पौरुषी काल जानने का उपाय—

मूल—जेट्ठामूले आसाढ-सावणे छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीय-तयम्मि, तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥१६॥

छाया—ज्येष्ठा-मूले आषाढ-श्रावणे, षड्भिरगुलै प्रतिलेखा।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके, तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥१६॥

पद्या०—ज्येष्ठ आषाढ और श्रावण छह, भादव आश्विन कार्तिक मे आठ।
मृगशिर पौष माघ मे दश, वैशाख चैत्र फाल्गुन मे आठ ॥१६

अन्वयार्थ—जेट्ठामूले—ज्येष्ठमासीय मूलनक्षत्र, आसाढ-सावणे—आषाढ और श्रावण में, छहिं अगुलेहिं—छह अगुलो से, पडिलेहा—प्रतिलेखना का काल होता है। बीय-तयम्मि—द्वितीय त्रिक में, अट्ठहिं—आठ अगुलो से, तइए—तृतीय त्रिक मे, दस—दश अगुलो से (और), चउत्थे—चौथे त्रिक मे, अट्ठहिं—आठ अगुलो से, (पादोन पौरुषी-काल जानना चाहिए।)॥१६॥

विशेषार्थ—ज्येष्ठ, आषाढ और श्रावण, इन तीन महीनो के प्रथम त्रिक मे छह अगुल की वृद्धि करने से, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक, इन तीन महीनो के द्वितीय त्रिक मे आठ अगुल की वृद्धि करने से, मार्गशीर्ष पौष और माघ, इस तृतीय त्रिक मे दश अगुल की और फाल्गुन, चैत्र एव वैशाख, इस चतुर्थ त्रिक मे आठ अगुल की वृद्धि करने से पादोन पौरुषी—अर्थात्—प्रतिलेखना पौरुषी का काल-मान जाना जाता है।

तात्पर्य यह है कि प्रथम पौरुषी के प्रमाण मे जितनी अगुलियो के प्रमाण का कथन किया गया है, उस प्रमाण से यदि छह अगुल छाया अधिक बढे तो पादोन-पौरुषी—पात्रादि प्रतिलेखन का—समय हो जाता है। इसी प्रकार आगे के त्रिको मे भी समझ लेना चाहिए ॥१६॥

रात्रिचर्या के लिए रात्रि के चार भाग करे—

मूल—रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे-कुज्जा, राइ-भाएसु चउसु वि ॥१७॥

छाया—रात्रिमपि चतुरो भागान्, भिक्षु कुर्याद् विचक्षण।
तत उत्तर-गुणान् कुर्यात्, रात्रि-भागेषु चतुर्ष्वपि ॥१७॥

पद्या०—रजनी के भी चार भाग कर, प्राज्ञ मुनि सत्कार्य करे।
चार भागो मे कार्य बाँटकर, उत्तरगुण का ध्यान धरे ॥१७॥

अन्वयार्थ—वियक्खणो—मेधावी, भिक्खू—साधु, रत्तिंपि—रात्रि के भी, चउरो भागे—चार भाग, कुज्जा—करे, तओ—उसके पश्चात्, चउसुवि राइ भाएसु—चारो ही रात्रि के भागो में, उत्तरगुणे—उत्तरगुणो की आराधना, कुज्जा—करे ॥१७॥

विशेषार्थ—इस गाथा मे साधु के दिन के समय-विभाग की तरह रात्रि के समय-विभाग का वर्णन किया गया है। बुद्धिमान् भिक्षु रात्रि-कालीन धार्मिक कृत्यो के अनुष्ठान के लिए रात्रि के चार विभागो की

कल्पना करे और उन चारो ही विभागो मे क्रमश स्वाध्यायादि उत्तर गुणो की आराधना करे ।।१७।।

साधुवर्ग की रात्रिचर्या कब और कौनसी ?

मूल—पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ।।१८।।

छाया—प्रथमा पौरुषी स्वाध्याय, द्वितीया ध्यान ध्यायति ।
तृतीयाया निद्रा-मोक्ष तु, चतुर्थ्यां भूयोपि स्वाध्यायम् ।।१८।।

पद्या०—हो प्रथम प्रहर स्वाध्याय हेतु और द्वितीय पहर मे ध्यान धरे ।
तृतीय प्रहर मे शयन छोड, फिर चौथे मे स्वाध्याय करे ।।१८।।

अन्वयार्थ—पढमं—प्रथम, पोरिसिं—पहर मे, सज्झायं—स्वाध्याय करे, बीयं—दूसरे पहर मे, झाणं झियायई—ध्यान करे, तु—फिर, तइयाए—तीसरे पहर मे, निद्दमोक्खं—निद्रा से मुक्त हो, (और) चउत्थी—चौथे पहर मे, भुज्जोवि—पुन सज्झायं—स्वाध्याय करे ।।१८।।

विशेषार्थ—साधुवर्ग की रात्रि-चर्या इस प्रकार है—उसे रात्रि की प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय करना चाहिए, द्वितीय पौरुषी मे ध्यान (आत्म-चिन्तन या सूत्रार्थ-चिन्तन) करना चाहिए, फिर तीसरी पौरुषी मे पिछले छह पहरो मे जो निद्रा का निरोध किया हुआ था, उसे मुक्त करना चाहिए, अर्थात्—विधिपूर्वक सागारी अनशनादि कृत्य करके शयन करना चाहिए। चौथी पौरुषी मे उठकर फिर स्वाध्याय मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए ।।१८।।

यह रात्रिकालीन चर्या औत्सर्गिक है। अपवादमार्ग मे तो गुरुजनो की आज्ञानुसार यथावसर रात्रिचर्या करनी चाहिए।

रात्रि के चार भाग करने की विधि—

मूल—जं नेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तम्मि नह-चउब्भाए ।
संपत्ते विरमेज्जा, सज्झाय पओस-कालम्मि ।।१९।।
तम्मेव य नक्खत्ते, गयण-चउब्भाग-सावसेसंमि ।
वेरत्तियं पि कालं, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ।।२०।।

छाया—यन्नयति यदा रात्रिं, नक्षत्र तस्मिन् नभश्चतुर्भागे ।
सम्प्राप्ते विरमेत, स्वाध्यायात् प्रदोष-काले ।।१९।।
तस्मिन्नेव च नक्षत्रे, गगन-चतुर्भाग-सावशेषे ।
वैरात्रिकमपि काल, प्रतिलिख्य मुनि कुर्यात् ।।२०।।

पद्या०—जो पूर्ति करे नक्षत्र निशा, वह चतुर्थभाग नभ मे आए ।
उस रजनी-मुख के आने पर, स्वाध्याय-विरत मुनि हो जाए ।।१९।।

नभ के अन्तिम चतुर्भाग मे, नक्षत्र वही जब आ जाए।
वैरात्रिक काल भी समझ मुनिजन, स्वाध्याय-कार्य मे लग जाए॥२०॥

अन्वयार्थ—ज— जो, नक्खत्त —नक्षत्र, जया—जिस समय, रत्ति—रात्रि को, नेइ—पूरी करता है, तम्मि—उस नक्षत्र के, नह-चउब्भाए सपत्ते—आकाश के (प्रथम) चतुर्थभाग मे आ जाने पर, पओसकालम्मि—प्रदोषकाल होता है, (उस काल मे साधु), सज्झाय—स्वाध्याय से, विरमेज्जा—विरत=निवृत्त हो जाए ॥१९॥

तम्मेव य नक्खत्ते—उसी नक्षत्र के, गयण चउब्भाग सावसेसमि—आकाश के अन्तिम चतुर्थ भाग में, (उसे) वेरत्तिय पि काल—वैरात्रिक काल देख=मान कर, मुणी—मुनि, कुज्जा—(तदनुसार) काल ग्रहण करे ॥२०॥

विशेषार्थ—सूर्यास्त हो जाने पर, जिस नक्षत्र को रात्रि पूरी करनी होती है, उसके आकाश मे उदय हो जाने पर उस नक्षत्र के कालमान के अनुसार चार विभाग कर लेने चाहिए। जब वह नक्षत्र चतुर्थ भाग मे आ जाए, तब प्रदोष काल मे अंगशास्त्रो के स्वाध्याय को छोडकर अन्य आवश्यक आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त हो। रात्रि का मुखकाल प्रदोषकाल कहलाता है।

इन गाथाओ का तात्पर्य यह है कि जिस पौरुषी मे जिन क्रियाओ का विधान है, उसके जिस भाग मे जो नक्षत्र आए, उसी के अनुसार आवश्यक क्रियाओ का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि रात्रि मे उदय हुआ नक्षत्र चतुर्थ भाग मे आ जाए, तब स्वाध्याय बन्द कर देना चाहिए क्योकि प्रदोषकाल (सायकाल और रात्रि का सन्धिकाल) मे प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाएँ करना अनिवार्य है ॥१९॥

वही नक्षत्र, जब आकाश के अन्तिम चतुर्थ भाग मे आ जाए (अर्थात् रात्रि का अन्तिम चतुर्थ प्रहर आ जाए), तब उसे वैरात्रिक काल समझ कर, मुनि उस काल मे करणीय स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओ मे प्रवृत्त हो जाए ॥२०॥

प्रतिलेखन आदि की विशिष्ट चर्या—

मूल—पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भडय।
गुरु वदित्तु सज्झाय, कुज्जा दुक्ख-विमोक्खण ॥२१॥
पोरिसीए चउब्भाए, वदित्ताण तओ गुरु।
अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायण पडिलेहए ॥२२॥
मुहपोत्ति पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छग।
गोच्छग-लइय गुलिओ, वत्थाइ पडिलेहए ॥२३॥

छाया—पूर्वस्मिन् चतुर्भागे, प्रतिलिख्य भाण्डकम् ।
गुरु वन्दित्वा स्वाध्याय, कुर्याद् दु ख-विमोक्षणम् ॥२१॥
पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
अप्रतिक्रम्य कालस्य, भाजन प्रतिलिखेत् ॥२२॥
मुख-पोतिका प्रतिलिख्य, प्रतिलिखेत् गोच्छकम् ।
अगुलिलात-गोच्छक, वस्त्राणि प्रतिलिखेत् ॥२३॥

पद्या०—दिन प्रथम पहर के प्रथम भाग मे, कर भाण्डो का प्रतिलेखन ।
दु खमोचक स्वाध्याय करे, कर प्रथम पूज्य गुरु को वन्दन ॥२१॥
पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणो मे वन्दन कर ।
प्रतिक्रमण काल का बिना किये, भाजन का प्रतिलेखन मन धर॥२२॥
मु हपत्ती प्रतिलेखन कर, फिर गोच्छग का हो प्रतिलेखन ।
अगुलि-गृहीत गोच्छग वाला, वस्त्रो का कर लें प्रतिलेखन ॥२३॥

अन्वयार्थ—पुव्विल्लम्मि—(दिन के) पूर्व=प्रथम (प्रहर) के, चउब्भाए—चतुर्थ भाग में, भडय—भण्डोपकरण की, पडिलेहित्ताण—प्रतिलेखना करके, तओ—तदनन्तर, गुरु—गुरु को, वदित्ताण—वन्दना करके, दुक्ख-विमोक्खण—दु खो से विमुक्त कराने वाला, सज्झाय—स्वाध्याय, कुज्जा—करे ॥२१॥

तओ—तत्पश्चात्, पोरिसीए—पहली पौरुषी का, चउब्भागे—चौथा भाग बाकी रहे तब, (अर्थात्—पादोन पौरुषी आजाए तब) गुरु—गुरु को, वदित्ताण—वन्दना करके, कालस्स—काल का, अपडिक्कमित्ता—प्रतिक्रमण किये बिना, भायण—भाजनो (पात्रादि) की, पडिलेहए—प्रतिलेखन करे ॥२२॥

मुहपोत्ति—मुखवस्त्रिका की, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके, गोच्छग—गोच्छक की, पडिलेहिज्ज—प्रतिलेखना करे । (फिर) गोच्छग-लइयगुलिओ—गोच्छक को अगुलियो से ग्रहण करके, वत्थाई—वस्त्रो की, पडिलेहए—प्रतिलेखना ॥२३॥

विशेषार्थ—पूर्ववत् दिन के चार भागो की कल्पना करके उनमे से प्रथम विभाग के प्रथम चतुर्थ भाग मे, अर्थात्—सूर्योदय से दो घडी प्रमाण समय-पर्यन्त मे अपने वर्षावास काल के योग्य धर्मोपकरणो की प्रतिलेखना करे । फिर गुरुवन्दन करके सर्वदु ख-विनाशक स्वाध्याय करे ॥२१॥

स्वाध्याय सर्वदु खविमोचक क्यो ?—जिस प्रकार प्रात और सायकाल मे सेवन की हुई औषधि रोग-निवृत्ति और आरोग्यवृद्धि करने मे समर्थ होती है, उसी प्रकार प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे किया हुआ स्वाध्याय कर्म-

रूपी दु खो को क्षय करने मे विशेष समर्थ होता है, क्योकि ये दोनो समय शान्तरस के उत्पादक है।

जब प्रथम पौरुषी का चतुर्थ भाग शेष रह जाए, अर्थात् पादोन पौरुषी व्यतीत हो जाए, द्वितीय पौरुषी आने मे दो घडी प्रमाण समय शेष हो, तब गुरुवन्दन करके उनकी आज्ञा लेकर कायोत्सर्गरूप प्रतिक्रमण किये बिना ही पात्रो की प्रतिलेखना करे ॥२२॥

शका—सामान्यतया प्रत्येक कार्य की परिसमाप्ति पर कायोत्सर्ग करने का विधान है, फिर यहाँ स्वाध्याय से निवृत्त होने पर कायोत्सर्ग (प्रतिक्रमण) किये बिना ही पात्र-प्रतिलेखन का विधान क्यो ?

समाधान—यहा काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किये बिना ही पात्र-प्रतिलेखन का विधान इसलिए किया गया है कि चौथी पौरुषी मे फिर स्वाध्याय करना है।[1] किन्तु वृत्तिकार जो पौरुषी के पिछले चतुर्भाग मे प्रतिलेखन की बात कहते हैं, वह प्रचलित परम्परा से मेल नही खाता।

प्रतिलेखना का क्रम यह है कि सर्वप्रथम मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करे, तदनन्तर गोच्छक (प्रमार्जनी=पूजनी) की और उसके बाद गोच्छक को अँगुलियो से पकडकर वस्त्रो की प्रतिलेखना करे ॥२३॥

प्रतिलेखन-विधि—

मूल—उड्ढ थिर अतुरिय, पुव्व ता वत्थमेव पडिलेहे।
तो बिइय पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥२४॥
अणच्चाविय अवलिय अणाणुबधि अमोसलि चेव।
छप्पुरिमा नवखोडा, पाणी-पाण-विसोहण ॥२५॥
आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वा य मोसली तइया।
पप्फोडणा चउत्थी, विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥२६॥
पसिढिल-पलब-लोला, एगामोसा अणेग-रूव-धुणा।
कुणइ पमाणे पमाय, सकिए गणणोवग कुज्जा ॥२७॥
अणूणाइरित्त-पडिलेहा, अविवच्चासा तहेव य।
पढम पय पसत्थ, सेसाणि उ अप्पसत्थाइ ॥२८॥

छाया—ऊर्ध्वं स्थिरमत्वरित, पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलिखेत्।
ततो द्वितीय प्रस्फोटयेत् तृतीय च पुन प्रमृज्यात् ॥२४॥

---

१ अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधायैव, चतुर्थ-पौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०

अनर्तितमवलित अननुबन्ध्यऽमौशली चैव ।
षट्-पूर्वा नव-खोडा पाणि-प्राणि-विशोधनम् ॥२५॥
आरभटा सम्मर्दा, वर्जयितव्या च मौशली तृतीया ।
प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ॥२६॥
प्रशिथिल-प्रलम्ब-लोला एकामर्शानेकरूपधूनना ।
करोति प्रमाणे प्रमाद, शकिते गणनोपग कुर्यात् ॥२७॥
अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखा, अविव्यत्यासा तथैव च ।
प्रथम पद प्रशस्त, शेषाणि त्वप्रशस्तानि ॥२८॥

पद्या०—ऊर्ध्व शिथिल और त्वरा-रहित, पहले ही पट पर नजर करे ।
फिर जीव हटा झटके पीछे, तीजे प्रमार्जन चित्त धरे ॥२४॥
तन या पट कम्पित करे नही, मोडे अनुबन्ध न स्पर्श करे ।
छह पूर्व और नौ खोटक कर, करतल प्राणी कर दूर धरे ॥२५॥
छोडे आरभटा सम्मर्दा, और तृतीय मौशली दोष कहा ।
प्रस्फोटन चौथी विक्षिप्त तथा, वेदिका दोष है षष्ठ रहा ॥२६॥
प्रशिथिल प्रलम्ब-लोल एका,—मर्शा अनेक सग धूनना ।
होता प्रमाण मे है प्रमाद, फिर करागुली गणना करना ॥२७॥
अनतिरिक्त अन्यून तथा, विपरीत न पट का प्रतिलेखन ।
इनमे प्रशस्त पहला विकल्प, और अप्रशस्त हैं सभी कथन ॥२८॥

अन्वयार्थ—उड्ढ—ऊर्ध्व, थिर—स्थिर, अतुरिय—शीघ्रता से रहित, पुव्वता—पहले तो, वत्थमेव—वस्त्र को ही, पडिलेहे—प्रतिलेखन (परिप्रेक्षण) करे, तो—तत्पश्चात्, बिइय—दूसरे में, (जन्तुओ को देखकर) पप्फोडे—यतना से प्रस्फोटना करे (झटकावे), च—और, तइय—तीसरे में (देखे हुए वस्त्र को), पुणो—पुन, पमज्जेज्जा—प्रमार्जना करे (पूंजे) ॥२४॥

अणच्चाविय—(प्रतिलेखना करते समय वस्त्र या शरीर को) नचावे नही, अवलिय—मरोडे नही, अणाणुबंधि—वस्त्र का दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, अमोसलि—वस्त्र को दीवार आदि से छुआवे नही (स्पर्श न करे), छप्पुरिमा—पहले कही हुई छह क्रियाएँ, चेव—और, नवखोडा—नौ खोटक (प्रस्फोट) करे, (फिर) पाणी-पाण-विसोहण—छोटे जीवो को हथेली पर लेकर उसका विशोधन (उसे दूर) करे ॥२५॥

आरभडा—विपरीत विधि से प्रतिलेखना करना या जल्दी-जल्दी एक-एक वस्त्र ग्रहण करते जाना, सम्मद्दा—वस्त्रो का सम्मर्दन करना (जोर से दबाकर मसल देना) या वस्त्रादि उपधि पर बैठना य—और, तइया—तीसरा, मोसली—

ऊपर और नीचे उपधि को झुलाना, चउत्थी—चौथी, पप्फोडणा—प्रस्फोटना=धूल आदि को जोर से झाडना, विक्खित्ता—(पाचवी) विक्षिप्ता=वस्त्रो को अस्त-व्यस्त—फैलाकर या देखे हुए वस्त्र को विना देखे हुए मे मिला कर रखना, (और) छट्ठी—छठी, वेइया—वेदिका-जानु पर हाथ करके प्रतिलेखन करना, (प्रति-लेखना के इन छह दोपो का) वज्जेयव्वा—वर्जन करना चाहिए ॥२६॥

पसिढिल—वस्त्र को शिथिलता से पकडना, पलब—वस्त्र को भूमि पर लटकाना, लोला—वस्त्र को चचलता (विषम रूप) से पकडना, एगामोसा—वस्त्र को बीच से पकडकर मसलना-परस्पर घर्षण करना या घसीटना, अणेगरूव-धुणा—अनेकरूप से वस्त्र को धुनना—हिलाना या झटकना, पमाणे—प्रस्फोटन आदि की सख्या में, पमाय—प्रमाद, कुणइ—करता है, (तथा) सकिय-गणणोवग—शका उत्पन्न होने पर करागुली से गणना मे उपयोग, कुज्जा—करता है, (प्रति-लेखना के ये दोष भी त्याज्य हैं)॥२७॥

अणूणाइरित्त-पडिलेहा—विधि में ऊन=कम या अधिक प्रतिलेखना नही करना, तहेव य—इसी प्रकार, अविवच्चासा—विधि में विपर्यास—रहित प्रति-लेखना करना, (आठ भगो से युक्त इन तीन पदो में) पढम पय—प्रथम पद पसत्थ—प्रशस्त है, सेसाणि उ—और शेष पद, अप्पसत्थाइ—अप्रशस्त है ॥२८॥

विशेषार्थ—(वस्त्र-प्रतिलेखना-विधि यह है कि) सर्वप्रथम वस्त्र को शरीर से ऊँचा रखना और उसे तिरछा फैलाना। फिर उत्कट आसन पर स्थित होकर (पैरो के बल बैठकर) वस्त्र को दृढता से पकडे, शीघ्रता न करे, अपनी दृष्टि मे वस्त्र का चारो ओर से निरीक्षण करे। यह प्रतिलेखना की प्रथम विधि है। फिर प्रतिलेखना करते समय वस्त्र आदि मे कोई जीव दिखाई दे तो यतनापूर्वक वस्त्र की प्रस्फोटना करे अर्थात्—वस्त्र को एक ओर झाड दे। यह दूसरी विधि है। प्रस्फोटना करने पर भी यदि कोई जीव वस्त्र से अलग न हो तो उसे पूजनी से प्रमार्जन करके हथेली मे लेकर किसी स्थान मे धीरे से रख दे। यह तृतीय विधि है।२४॥

प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को नचावे नही, वस्त्र को मोडे-मरोडे नही, वस्त्र का कोई भी भाग नेत्रो से अलक्षित न रहे, अर्थात्—वस्त्र-प्रतिलेखन के समय सतत उपयोग रहे, भित्ति आदि से ऊँचे नीचे या तिरछे मे वस्त्र का स्पर्श न करे।

फिर वस्त्र की प्रतिलेखना के समय उसके तीन विभाग कर लेने चाहिए। यथा—तीन भाग करके उन्हे एक तरफ से देख लिये गए, फिर

दूसरी ओर के तीन विभाग भी देख लिये जायें। इन छह भागो की पूर्वा संज्ञा है, जो प्रस्फोटन रूप क्रिया विशेष है) तत्पश्चात् पूर्वोक्त तीन भागो मे से प्रत्येक भाग की तीन-तीन बार प्रस्फोटना की जाती है। यो ३×३ =९ खोटक हो जाते है। इसकी नवखोटक संज्ञा है।

प्रस्फोटना करते समय उपयोग रखना चाहिए, ताकि किसी क्षुद्र जीव का वध न हो। कोई जीव कपडे से अलग न होता हो तो उसे यतना-पूर्वक हाथ पर रखकर या प्रमार्जनी से पूजकर पृथक कर दिया जाए। प्रतिलेखन के साथ उपलक्षण से प्रमार्जन भी समझ लेना चाहिए ॥२५॥

यहा (१) दृष्टि प्रतिलेखन,+(६) पूर्वा (झटकाना) और १८ बार खोटक (प्रमार्जन) करना, यो प्रतिलेखना के कुल १+६+१८=२५ प्रकार होते हैं।

प्रतिलेखना के इन छह दोषो को वर्जित करना चाहिए। यथा—(१) आरभटा—शास्त्रीयविधि से विपरीत, या शीघ्र-शीघ्र, वस्त्रो को इधर-उधर से देखकर रख देना। (२) सम्मर्दा—वस्त्र के कोने मुडे हुए ही रहे, उनमे सलवटे पडी रहे, प्रतिलेख्यमान वस्त्रादि पर बैठकर प्रतिलेखन करना। (३) मोसली—वस्त्र का ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार या अन्य पदार्थों से स्पर्श होते रहना-टकराना। (४) प्रस्फोटना—वस्त्र मे लगी धूल आदि को जोर से झडकाना, (५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखन किये हुए वस्त्र को बिना प्रति-लेखन किये हुए वस्त्रो मे मिलाना, या प्रतिलेखन करते हुए वस्त्र को इधर-उधर फेंकना, अस्त-व्यस्त रखना। (६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनो के ऊपर, नीचे या बीच मे वस्त्र को रखना। वेदिका प्रतिलेखना के ५ प्रकार हैं—(क) ऊर्ध्ववेदिका, (ख) अधोवेदिका, (ग) तिर्यग्वेदिका, (घ) उभयवेदिका और (ङ) एकवेदिका। ये प्रतिलेखना सम्बन्धी छह दोष हैं ॥२६॥

प्रतिलेखना के निम्नोक्त दोष भी हैं, यथा—(१) प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को मजबूती से न पकडना, (२) वस्त्र के पल्ले नीचे लटकते रहे इस तरह पकडना, (३) प्रतिलेख्यमान वस्त्र को भूमि से या हाथ से रगडना (४) वस्त्र को बीच मे से पकडकर घसीटना या एक ही दृष्टि मे समूचे वस्त्र को देख जाना, (५) वस्त्र को तीन बार से अधिक (अनेक बार) झट-कना, हिलाना, या अनेक वस्त्रो को एक साथ एक ही बार मे झटकना, (६) प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (९-९ बार) बताया है, उसमे प्रमाद करना और (७) प्रमाण मे शका उत्पन्न होने पर उसकी संख्या को

अगुलियो पर गिनना। इन दोषो से युक्त प्रतिलेखना सदोष-प्रतिलेखना है और इनका त्याग करके प्रतिलेखना करना निर्दोष-प्रतिलेखना है ॥२७॥

अट्ठाईसवी गाथा मे तीन पदो के सयोग से निष्पन्न ८ भगो के द्वारा प्रतिलेखना की प्रशस्तता और अप्रशस्तता का प्रतिपादन किया गया है।

निम्नोक्त कोष्ठक से प्रशस्तता और अप्रशस्तता समझ लेनी चाहिए—

भग	अन्यून	अनतिरिक्त	अविपर्यास	शुद्ध/अशुद्ध,	प्रशस्त/अप्रशस्त
१	न्यून नही	अतिरिक्त नही	विपर्यास नही	शुद्ध है,	प्रशस्त है
२	न्यून नही	अतिरिक्त नही	विपर्यास है	अशुद्ध है,	अप्रशस्त है
३	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास नही	,,	,,
४	न्यून है	अतिरिक्त नही	विपर्यास नही	,,	,,
५	न्यून नही	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,	,,
६	न्यून है	अतिरिक्त नही	विपर्यास है	,,	,,
७	न्यून नही	अतिरिक्त है	विपर्यास नही	,,	,,
८	न्यून है	अतिरिक्त है	विपर्यास है	,,	,,

इन आठ भगो मे प्रथम भग शुद्ध और प्रशस्त है, शेष सभी भग अशुद्ध और अप्रशस्त हैं ॥२८॥

प्रतिलेखना के निमित्त से विराधक और आराधक—

मूल—पडिलेहण कुणतो, मिहो कह कुणइ, जणवय-कह वा।
देइय पच्चक्खाण, वाएइ सय पडिच्छइ वा ॥२९॥
पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।
पडिलेहणा-पमत्तो, छण्ह पि विराहओ होइ ॥३०॥
पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाण।
पडिलेहणा आउत्तो, छण्ह पि सरक्खओ होइ ॥३१॥

छाया—प्रतिलेखना कुर्वन्, मिथ -कथा करोति जनपद-कथा वा।
ददाति वा प्रत्याख्यान, वाचयति स्वय प्रतीच्छति वा ॥२९॥
पृथिव्यप्काययो, तेजो-वायु-वनस्पति त्रसाणाम्।
प्रतिलेखना-प्रमत्त, षण्णामपि विराधको भवति ॥३०॥

पृथिव्यप्काययो तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसाणाम् ।
प्रतिलेखना-आयुक्त, षण्णामाराधको भवति ।।३१।।

पद्यानु०—प्रतिलेखन करते जो मिलकर, वार्ता या देश कथा करता ।
प्रत्याख्यान कराता पर को, पाठ पढाता या पढता ।।२९।।
पृथ्वी जल तेजस् और पवन, जो यहाँ वनस्पति-त्रसकायिक ।
प्रतिलेखन मे होकर प्रमत्त, जग जीव विराधक षट्कायिक ।।३०।।
पृथ्वी जल पावक और पवन, वन-काय तथा है त्रसकायिक ।
प्रतिलेखन मे उपयोग-सहित, होता सबका वह आराधक ।।३१।।

अन्वयार्थ—पडिलेहण—प्रतिलेखना, कुणतो—करता हुआ, मिहो—परस्पर कह—कथा (वार्तालाप), वा—अथवा, जणवय-कह—जनपद की कथा, कुणइ—करता है, वा—या, (किसी को), पच्चक्खाण—प्रत्याख्यान, देइ—देता (कराता) है, वाएइ—वाचना देता है, (अथवा) सय—स्वय (किसी से), पडिच्छइ—वाचना लेता है, (ये क्रियाएँ त्याज्य है) ।।२९।।

पडिलेहणा-पमत्तो—प्रतिलेखना मे प्रमाद करने वाला साधक, पुढवी—पृथ्वीकाय, आउक्काए—अप्काय, तेऊ—तेजस्काय, वाऊ—वायुकाय, वणस्सइ—वनस्पतिकाय (तथा), तसाण—त्रस जीव, छण्हंपि—इन छहो कायो का, विराहओ—विराधक, होइ—होता है ।।३०।।

पडिलेहणा-आउत्तो—प्रतिलेखना मे आयुक्त=उपयोगयुक्त साधक, पुढवी—पृथ्वीकाय, आउक्काए—अप्काय, तेऊ—तेजस्काय, वाऊ—वायुकाय, वणस्सइ—वनस्पतिकाय (एव) तसाण—त्रसकायिक जीव, छण्ह—इन छहो कायो का, सरक्खओ—सरक्षक (आराधक) होता है ।।३१।।

विशेषार्थ—प्रतिलेखना करते समय जो साधु परस्पर सम्भाषण करता है, देश सम्बन्धी और उपलक्षण से स्त्री आदि की कथा करता है, बीच-बीच मे किसी को प्रत्याख्यान (त्याग नियम) कराता है, अथवा किसी को पढाता है, अथवा स्वय किसी से पढता है या स्वय किसी पुस्तक या ग्रन्थ का पढता है, तो वह प्रतिलेखना मे प्रमादी साधु है ।।२९।।

प्रतिलेखना करते समय उपर्युक्त प्रकार से परस्पर वार्तालाप आदि मे प्रवृत्त साधु उपयोगशून्य होने से प्रतिलेखना मे प्रमत्त है। अत: वह पृथ्वीकाय आदि छहो कायो का विराधक हो जाता है ।।३०।।

इसके विपरीत प्रतिलेखना करते समय उपयोगयुक्त साधक प्रति-लेखना मे अप्रमत्त होने से छहो काय के जीवो का रक्षक है, अत: वह आराधक होता है ।।३१।।

दृष्टान्त—एक साधु कुम्भकार-शाला मे ठहरा। वहाँ लापरवाही से उपयोगशून्य होने से उसके पैर की ठोकर से जल भरा हुआ एक घडा गिर पडा। उसका पानी बह कर सचित्त पृथ्वी पर से होता हुआ वनस्पति और कुन्थुआ आदि सूक्ष्म जीवो को बहाता हुआ निकटवर्ती एक अग्निकुण्ड मे जा गिरा। इस प्रकार क्रमश पाच कायो की हिंसा करता हुआ जीव गिरते समय वायुकाय का भी हिंसक हुआ। इसी प्रकार प्रतिलेखना मे उपयोगशून्य प्रमत्त साधु षट्कायिक जीवो का विराधक होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रतिलेखना के समय जब साधक परस्पर सम्भाषण, तथा पठन-पाठनादि क्रियाएँ नही करता, तब स्वत ही उसका उपयोग प्रतिलेखना मे लग जाता है, इससे प्रमाद नही रहता और प्रमाद के न रहने से जीवो की विराधना नही होती। विराधना का न होना ही आराधकता है। इसी कारण अप्रमत्त होकर प्रतिलेखन करने वाले साधक को आराधक एव सरक्षक कहा गया है।

तृतीय पोरुषी की दिनचर्या—

मूल—तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाण गवेसए।
छण्ह अन्नतराए, कारणम्मि समुट्ठिए ॥३२॥
वेयण-वेयावच्चे, इरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥३३॥
निग्गथो धिइमतो, निग्गथी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं तु इमेहिं, अणइक्कमणाइ से होइ ॥३४॥
आयके उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउ, सरीर-वोच्छेयणट्ठाए ॥३५॥
अवसेस भडग गिज्झ, चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्ध जोयणाओ, विहारं विहरए मुणी ॥३६॥

छाया—तृतीयाया पौरुष्या, भक्त पान गवेषयेत्।
षण्णामन्यतरस्मिन्, कारणे समुत्थिते ॥३२॥
वेदना-वैयावृत्त्याय, ईर्यार्थाय च सयमार्थाय।
तथा प्राण-प्रत्ययाय, षष्ठ पुन धर्म-चिन्तायै ॥३३॥
निर्ग्रन्थोधृतिमान्, निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्याद् षड्भिश्चैव।
स्थानै रेभि, अनतिक्रमण च तस्य भवति ॥३४॥

आतक उपसर्गे, तितिक्षया ब्रह्मचर्य-गुप्तिषु ।
प्राणि-दया तपोहेतो, शरीर-व्यवच्छेदार्थाय ॥३५॥
अवशेष भाण्डक गृहीत्वा, चक्षुषा प्रतिलिखेत् ।
परमर्धयोजनात्, विहार विहरेन्मुनि ॥३६॥

पद्यानु०—तीसरे पहर मे मुनिजन, निज भक्त-पान की खोज करे ।
छह् कारण मे कोई कारण, पाकर भिक्षा का ध्यान धरे ॥३२॥
क्षुधा-शान्ति, दूजा सेवा, ईर्या तृतीय सयम रक्षण ।
जीवन-रक्षा और धर्म-आचरण, हेतु करे मुनि अशाशन ॥३३॥
धृतियुत् साधु और साध्वीजन, छह् कारण से ना अशन करे ।
अतिगमन करे ना वह् सयम, इन स्थानो से जो त्याग करे ॥३४॥
उपसर्ग और आतक रोग, फिर ब्रह्म-गुप्ति-हित सहन करे ।
जीवदया और तप-कारण, तन-त्याग-हेतु अनशन करे ॥३५॥
सब भाण्ड और उपकरणो को, लेकर नयनो से देख धरे ।
उत्कृष्ट अर्धयोजन-सीमा, मुनि ग्राम नगर मे भ्रमण करे ॥३६॥

अन्वयार्थ—तइयाए पोरिसीए—(दिन की) तीसरी पौरुषी के आ जाने पर, छण्ह—छह कारणो से, अन्नयराए कारणम्मि—किसी एक कारण के, समुट्ठिए—उपस्थित होने पर, (साधु), भत्त—आहार, पाण—पानी की, गवेसए—गवेषणा करे ॥३१॥

वेयण—क्षुधा-वेदना को उपशान्त करने के लिए, वेयावच्चे—(गुरु आदि की) सेवा के लिए, इरियट्ठाए—ईर्यासमिति के (शोधन के) लिए, य—अथवा सजमट्ठाए—सयम के) निर्दोष पालन के) लिए, तह—तथा, पाणवत्तियाए—प्राणो की रक्षा के लिए, पुण—और, छट्ठ—छठे, धम्मचिंताए—धर्म-चिंतन के लिए, (आहार—पानी का ग्रहण करना चाहिए ।) ॥३३॥

धिइमतो—धृतिमान, निग्गथो—निर्ग्रन्थ, निग्गथी वि—(और धृतिमती) निग्रन्थी भी, इमेहिं—इन (आगे कहे जाने वाले), छहिं ठाणेहिं—छह् कारणो से, न करेज्ज—(आहार—पानी की गवेषणा) न करे, जेण—तो ही, से—उनके, अणइक्कमणाइ— (सयम का) अतिक्रमण नही, होइ—होता ॥३४॥

आयके—आतक एव रोगादि के उत्पन्न होने पर, उवसग्गे—उपसर्ग मे, तितिक्खाए—तितिक्षा (सहिष्णुता)—वृद्धि के लिए, बमचेरगुत्तीसु—ब्रह्मचर्य की गुप्ति (रक्षा) के लिए, पाणिदया—प्राणियो की दया के लिए, तवहेउ—तप के निमित्त, शरीर वोच्छेयणट्ठाए—काया के व्युच्छेदनार्थ (यावज्जीव अनशन करके)

शरीर त्याग के लिए), (साधु वर्ग को आहारादि की गवेषणा नही—आहार आदि का त्याग करना चाहिए)।

मुणी—मुनि, अवसेस—अवशिष्ट, भडग—भाण्डोपकरण को, गिज्झ—ग्रहण करके, चक्खुसा—नेत्रो से, पडिलेहए—भलीभाति देख ले। (और फिर आहारादि की गवेषणा के लिए) परं—उत्कृष्टत, अद्ध-जोयणाओ—अर्द्ध योजन प्रमाण, (क्षेत्र तक) विहर विहरए—विहरण करे ॥३६॥

विशेषार्थ—द्वितीय प्रहर मे करने योग्य ध्यानादि क्रियाओ को समाप्त करके तीसरे प्रहर के आने पर साधु आहार-पानी करने के योग्य छह कारणो मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर आहार-पानी की गवेषणा करे ॥३२॥

तात्पर्य यह है कि साधुवर्ग बिना कारण के आहार-पानी की गवेषणा मे प्रवृत्त नही होते। वृत्तिकार के अनुसार यह कथन उत्सर्ग-मार्ग का अवलम्बन करके किया गया है, जो प्राय जिनकल्पी के लिए विहित है और अपवाद मार्ग मे स्थविरकल्पी तो समय पर आहारादि क्रिया मे प्रवृत्त होते ही हैं।

आहार-पानी की गवेषणा करने के छह कारण ये है—

(१) भूख और प्यास की वेदना को शान्त करने के लिए साधुवर्ग को आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए, न कि जिह्वा के स्वाद के लिए। क्योकि क्षुधा-वेदना बढ जाने से धर्मध्यान मे बाधा उपस्थित होती है।

(२) गुरु, ग्लान आदि की सेवा-सुश्रूषा के लिए आहार करना चाहिए, क्योकि आहार-पानी न करने से दुर्बलता आएगी, जिससे सेवा आदि होना कठिन हो जाता है।

(३) आहार किये बिना आँखो के आगे अधेरा और चक्कर आने लगता है फलत ईर्यासमिति का शोधन करना कठिन हो जाता है।

अत ईर्यासमिति के पालन के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।

(४) आहारादि ग्रहण किए बिना कच्छ और महाकच्छ आदि की तरह साधुवर्ग प्रेक्षा आदि सयमो का पालन नही कर सकता।

(५) प्राणवृत्ति अर्थात्—प्राण (जीवन) धारण के लिए आहार लेना आवश्यक है, क्योकि आयुष्य पूर्ण होने का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी अकाल मे-प्राण त्याग कर देने से आत्महत्या का दोष लगता है।

(६) धर्म-चिन्तन के लिए आहार ग्रहण करना आवश्यक है, क्योकि

आहार किये बिना साधक की शक्ति क्षीण हो जाने से वह गुणन (चिन्तन), अनुप्रेक्षण और धर्मध्यान नही कर सकता, प्रत्युत ऐसी स्थिति मे दुर्ध्यान होना सम्भव है ॥३३॥

आहार ग्रहण करने के जो छह कारण बताए, उनमे एक कारण सयम-रक्षा भी है, परन्तु धैर्यशील साधु-साध्वियो के समक्ष ३५वी गाथा मे बताए गए छह कारण उपस्थित हो और वे आहारादि की गवेषणा न करे तो भी उनके सयम का अतिक्रमण नही होता ॥३४॥

आहार-पानी की गवेषणा-निषेध के छह कारण ये है—

(१) आतक—ज्वरादि रोग या उपद्रव होने पर, (२) देव, मनुष्य या तिर्यञ्च द्वारा कोई उपसर्ग किया गया हो, अथवा व्रतभग करने के लिए स्वजनादि द्वारा उपसर्ग किये जाने पर, यथा—अर्जुनमाली के शरीर मे मुद्गरपाणी यक्ष प्रविष्ट हो चुका था, उसके आतक एव उपसर्ग के समय उसके मिलने पर सुदर्शन श्रमणोपासक ने आहार-त्याग कर दिया था। (३) ब्रह्मचर्य की गुप्तियो की रक्षा के लिए, अथवा ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए आहार त्याग करना आवश्यक है, बशर्ते कि आहार करने से मन मे काम-विकार उत्पन्न होता हो। (४) वर्षाकाल मे जल, वनस्पति एव अन्य जन्तु सचित्त भाव मे भूमि पर रहते हैं, कुन्थु आदि सूक्ष्म जीवो की अधिकता हो जाती है, उन जीवो की रक्षा के लिए, अथवा अपने एक के निमित्त से हजारो-लाखो जीवो की हत्या होती हो, उस समय जीवो की रक्षा के लिए अथवा अपने अनशन करने से हजारो मूक जीवो की बलि रुकती हो तो उक्त जीवदया के हेतु आहार-त्याग करना उचित है। धर्मरुचि अनगार ने चीटियो की रक्षा के लिए अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये। (५) उपवास आदि तपस्या के लिए आहारत्याग आवश्यक है। और (६) जब यह निश्चय हो जाए कि अब यह शरीर छूटने वाला है, अब मेरा अन्तिम समय सन्निकट है, तब अवशिष्ट आयु भर के लिए यावज्जीव भक्त

---

१ नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा, भुञ्जेज्ज तप्पसमणट्ठा।
छुहाओ वेयावच्च न तरइ काउ, अओ भुञ्जे ॥२९०॥
इरिय नवि सोहेइ पेहाइय च सजम काउ।
थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥२९१॥
—ओघनिर्युक्ति भाष्य गा २९०/२९१

शरीर त्याग के लिए), (साधु वर्ग को आहारादि की गवेषणा नही—आहार आदि का त्याग करना चाहिए)।

मुणी—मुनि, अवसेस—अवशिष्ट, भडग—भाण्डोपकरण को, गिज्झ—ग्रहण करके, चक्खुसा—नेत्रो से, पडिलेहए—भलीभाति देख ले। (और फिर आहारादि की गवेषणा के लिए) पर— उत्कृष्टत, अद्ध-जोयणाओ—अर्द्धयोजन प्रमाण, (क्षेत्र तक) विहर विहरए—विहरण करे ॥३६॥

विशेषार्थ—द्वितीय प्रहर मे करने योग्य ध्यानादि क्रियाओ को समाप्त करके तीसरे प्रहर के आने पर साधु आहार-पानी करने के योग्य छह कारणो मे से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर आहार-पानी की गवेषणा करे ॥३२॥

तात्पर्य यह है कि साधुवर्ग बिना कारण के आहार-पानी की गवेषणा मे प्रवृत्त नही होते। वृत्तिकार के अनुसार यह कथन उत्सर्ग-मार्ग का अवलम्बन करके किया गया है, जो प्राय जिनकल्पी के लिए विहित है और अपवाद मार्ग मे स्थविरकल्पी तो समय पर आहारादि क्रिया मे प्रवृत्त होते ही हैं।

आहार-पानी की गवेषणा करने के छह कारण ये है—

(१) भूख और प्यास की वेदना को शान्त करने के लिए साधुवर्ग को आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए, न कि जिह्वा के स्वाद के लिए। क्योकि क्षुधा-वेदना बढ जाने से धर्मध्यान मे बाधा उपस्थित होती है।

(२) गुरु, ग्लान आदि की सेवा-सुश्रूषा के लिए आहार करना चाहिए, क्योकि आहार-पानी न करने से दुर्बलता आएगी, जिससे सेवा आदि होना कठिन हो जाता है।

(३) आहार किये बिना आंखो के आगे अंधेरा और चक्कर आने लगता है फलत ईर्यासमिति का शोधन करना कठिन हो जाता है।

अत ईर्यासमिति के पालन के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।

(४) आहारादि ग्रहण किए बिना कच्छ और महाकच्छ आदि की तरह साधुवर्ग प्रेक्षा आदि सयमो का पालन नही कर सकता।

(५) प्राणवृत्ति अर्थात्—प्राण (जीवन) धारण के लिए आहार लेना आवश्यक है, क्योकि आयुष्य पूर्ण होने का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी अकाल मे प्राण त्याग कर देने से आत्महत्या का दोष लगता है।

(६) धर्म-चिन्तन के लिए आहार ग्रहण करना आवश्यक है, क्योकि

पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई।
काउसग्गं तओ कुज्जा, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणं ॥३९॥

छाया—चतुर्थ्यां पौरुष्यां, निक्षिप्य भाजनम्।
स्वाध्यायं ततः कुर्यात्, सर्व-भाव-विभावनम् ॥३७॥
पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य, शय्यां तु प्रतिलिखेत् ॥३८॥
प्रस्रवणोच्चार-भूमिं च, प्रतिलिखेद् यतं यतिः।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥३९॥

पद्यानुवाद—चौथा पहर प्राप्त कर मुनि-जन, भाण्ड देखकर अलग धरे।
सकल भाव का उद्योतक फिर, शास्त्रों का स्वाध्याय करे ॥३७॥
फिर चतुर्थ पहर के शेष भाग में, गुरु-चरणों में वन्दन कर।
शय्या-स्थल देखे ध्यान लगा, स्वाध्यायकाल का चिंतन कर।३८।
प्रस्रवण और उच्चारभूमि का, पुनः करे मुनि प्रतिलेखन।
सब दुःखों का विमोचक फिर, कायोत्सर्ग (का) करे चिंतन।३९।

अन्वयार्थ—चउत्थीए पोरिसीए—चौथी पोरुषी में, भायणं—पात्रों (का प्रतिलेखन करके उनको) (एक ओर), निक्खिवित्ताण—रखकर, तओ—तत्पश्चात, (मुनि), सव्वभावविभावणं—जीवादि समस्त पदार्थों का प्रकाशक, सज्झायं—स्वाध्याय, च—तथा (तदर्थ—चिन्तन), कुज्जा—करे ॥३७॥

तओ—तदनन्तर, पोरिसीए—चतुर्थ प्रहर के, चउब्भाए—चौथा भाग बाकी रहने पर, गुरु—गुरुदेव को, वंदित्ताण—वन्दन करके, कालस्स—काल का, पडिक्कमित्ता—प्रतिक्रमण करके, सेज्जं तु—शय्या=वसति का, पडिलेहए—प्रतिलेखन करे ॥३८॥

जई—सयमी साधु, जयं—यतनापूर्वक, पासवणुच्चारभूमिं च—प्रस्रवणभूमि और उच्चार-भूमि का प्रतिलेखन करे, तओ—तत्पश्चात, सव्वदुक्ख-विमोक्खणं—सर्वदुःखों से मुक्त कराने वाला, काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग, कुज्जा—करे ॥३९॥

विशेषार्थ—तीसरे पहर का समय समाप्त हो जाने पर चौथे पहर का समय आ जाए तब साधु अपने पात्रों तथा उपलक्षण से अन्य उपकरणों की प्रतिलेखना करके उन्हें बांधकर अलग रख दे, फिर ,जीव-अजीव आदि समस्त भावों को प्रकाशित करने वाले पंचविध स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए, क्योंकि वह सर्वदुःखों से मुक्त कराने वाला है।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय के आचरण से सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ

प्रत्याख्यान अनशन कर लेने पर आहारादि का सर्वथा त्याग करना अभीष्ट है। इन छह कारणो मे से किसी भी कारण के उपस्थित होने पर आहारादि का गवेषण और ग्रहण नही करना चाहिए[1] ॥३५॥

३६वी गाथा का तात्पर्य यह है कि साधुवर्ग भिक्षाटन के लिए जाने से पूर्व अपने आचारभाण्डक[2] (पात्र, पटल (पल्ला), रजोहरण, दण्डक, कल्पद्वय=एक ऊनी और एक सूती चादर तथा मात्रक—पेशाब आदि के लिए भाजन ये ६ उपकरण) लेकर पहले आंखो से भलीभाँति देख-भाल ले, ताकि कोई जीवजन्तु उनमे न हो, तत्पश्चात् उन्हे लेकर भिक्षा (आहार-पानी की गवेषणा) के निमित्त अर्धयोजन क्षेत्र तक ही पर्यटन करे। इस गाथा की निचली पंक्ति का एक अर्थ यह भी है कि साधु ने जिस क्षेत्र से आहार-पानी लिया है, उसे वह अर्द्धयोजन (दो कोस) तक ही ले जाए, आगे नही, क्योकि आगे ले जाने से 'क्षेत्रातिक्रान्त' दोष लगता है ॥३६॥

विहार विहरए के दो अर्थ—(१) रूढ अर्थ—विहार क्षेत्र मे विचरण करे, (२) प्रसग-सगत अर्थ—विहारभूमि[3] अर्थात् भिक्षानिमित्त-परिभ्रमण भूमि मे भिक्षा के निमित्त अर्धयोजन (दो कोस) विहार=क्षेत्र तक मुनि विचरे—भक्त-पान-गवेषणा के लिए पर्यटन करे। भाव यह है कि वस्तु की दुर्लभता या विहार आदि कारण से साधु दो कोस तक के क्षेत्र से आहार आदि ला सकते एव ले जा सकते है।

चतुर्थ पौरुषी की दिनचर्या—

मूल—चउत्थीए पोरिसीए निक्खिवित्ताण भायण ।
सज्झाय च तओ कुज्जा सव्व-भाव-विभावण ॥३७॥
पोरिसीए चउब्भाए, वदित्ताण तओ गुरु ।
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्ज तु पडिलेहए ॥३८॥

---

१ स्थानाग स्थान ६/५०० वृत्ति।

२ यह अपवाद विधि है, उत्सर्ग विधि समस्त उपकरणो को साथ मे ले जाने की है, जो जिनकल्पी के लिए सम्भावित है। स्थविरकल्पी मुनि अपनी उपधि अन्य मुनि को बतलाकर जाता है।

—ओघनिर्युक्ति भाष्य गा २२७, बृहद्वृत्ति पत्र ५४४।
उत्तरा टी आचार्यश्री आत्मारामजी, भा २ पृ ३३

३ व्यवहारभाष्य ४/४० वृत्ति। बृहद्वृत्ति पत्र ५४४। उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भावनगर, पत्र २१५

पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई ।
काउसग्गं तओ कुज्जा, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणं ॥३९॥

छाया—चतुर्थ्यां पौरुष्यां, निक्षिप्य भाजनम् ।
स्वाध्यायं ततः कुर्यात्, सर्व-भाव-विभावनम् ॥३७॥
पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालस्य, शय्यां तु प्रतिलिखेत् ॥३८॥
प्रस्रवणोच्चार-भूमिं च, प्रतिलिखेद् यतं यतिः ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥३९॥

पद्यानुवाद—चौथा पहर प्राप्त कर मुनि-जन, भाण्ड देखकर अलग धरे ।
सकल भाव का उद्योतक फिर, शास्त्रों का स्वाध्याय करे ॥३७॥
फिर चतुर्थ पहर के शेष भाग में, गुरु-चरणों में वन्दन कर ।
शय्या-स्थल देखे ध्यान लगा, स्वाध्यायकाल का चिंतन कर ।३८।
प्रस्रवण और उच्चारभूमि का, पुनः करे मुनि प्रतिलेखन ।
सब दुःखों का विमोचक फिर, कायोत्सर्ग (का) करे चिंतन ।३९।

अन्वयार्थ—चउत्थीए पोरिसीए—चौथी पौरुषी में, भायणं—पात्रों (का प्रतिलेखन करके उनको) (एक ओर), निक्खिवित्ताणं—रखकर, तओ—तत्पश्चात्, (मुनि), सव्वभावविभावणं—जीवादि समस्त पदार्थों का प्रकाशक, सज्झायं—स्वाध्याय, च—तथा (तदर्थ—चिन्तन), कुज्जा—करे ॥३७॥

तओ—तदनन्तर, पोरिसीए—चतुर्थ प्रहर के, चउब्भाए—चौथा भाग बाकी रहने पर, गुरु—गुरुदेव को, वंदित्ताण—वन्दन करके, कालस्स—काल का, पडिक्कमित्ता—प्रतिक्रमण करके, सेज्जं तु—शय्या=वसति का, पडिलेहए—प्रतिलेखन करे ॥३८॥

जई—संयमी साधु, जयं—यतनापूर्वक, पासवणुच्चारभूमिं च—प्रस्रवणभूमि और उच्चार-भूमि का प्रतिलेखन करे, तओ—तत्पश्चात्, सव्वदुक्ख-विमोक्खणं—सर्वदुःखों से मुक्त कराने वाला, काउस्सग्गं—कायोत्सर्ग, कुज्जा—करे ॥३९॥

विशेषार्थ—तीसरे पहर का समय समाप्त हो जाने पर चौथे पहर का समय आ जाए तब साधु अपने पात्रों तथा उपलक्षण से अन्य उपकरणों की प्रतिलेखना करके उन्हें बांधकर अलग रख दे, फिर ,जीव-अजीव आदि समस्त भावों को प्रकाशित करने वाले पंचविध स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए, क्योंकि वह सर्वदुःखों से मुक्त कराने वाला है ।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय के आचरण से सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की भी उपलब्धि होती है। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है, तथा आत्मा की धर्म मे स्थिरता होने से वह अन्य जीवो को भी धर्म मे स्थिर कर सकता है ॥३७॥

जब चतुर्थ प्रहर का चौथा भाग शेष रह जाए, तब स्वाध्याय के काल से प्रतिक्रम करके, अर्थात्— स्वाध्याय से निवृत्त होकर गुरुवन्दन करे। फिर शय्या की अर्थात्—साधु जिस स्थान मे ठहरा हुआ है, उस स्थान की प्रतिलेखना करे ॥३८॥

यद्यपि स्वाध्याय काल पूर्ण होने मे अभी दो घडी प्रमाण समय शेष था, फिर भी स्वाध्याय को छोडकर वसति की प्रतिलेखना करने का विधान इसलिए किया गया है कि ईर्या आदि पाच समिति और तीन गुप्ति की भली भाति आराधना हो सके।

साथ ही उच्चार-प्रस्रवणभूमि (मल मूत्र विसर्जन के स्थान) की प्रतिलेखना भली भाति कर ले, ताकि साय काल या रात्रि मे मल मूत्र-त्याग की आवश्यकता पडे तो सुखपूर्वक कर सके और किसी जीव-जन्तु की विराधना भी नही हो ॥३९॥

रात्रिचर्या का प्रारम्भ छह आवश्यक से—

इस प्रकार ३९वी गाथा के पूर्वार्द्ध तक दिनचर्या का विधान करके उसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे रात्रिचर्या का वर्णन करते हुए कहते है—आवश्यकसूत्रानुसार प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर, उसके मूल पाठ को पढ कर फिर कायोत्सर्ग करे, जो शारीरिक और मानसिक दु खो से छुटकारा दिलाने वाला है।

मूल—देवसिय च अइयार, चिंतिज्जा अणुपुव्वसो।
नाणम्मि दसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥४०॥
पारिय काउसग्गो, वदित्ताण तओ गुरु।
देवसिय च अईयार, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४१॥
पडिक्कमित्तु निसल्लो, वदित्ताण तओ गुरुं।
काउसग्ग तओ कुज्जा, सव्वदुक्ख-विमोक्खण ॥४२॥
पारिय-काउस्सग्गो वदित्ताण तओ गुरुं।
[1]थुइ-मगल च काऊण, काल सपडिलेहए ॥४३॥

---

१ पाठान्तर—सिद्धाण सथव किच्चा—सिद्धो की स्तुति करके। —बृहद्वृत्ति

छाया—दैवसिक मतिचारं, चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने चैव, चारित्रे तथैव च ॥४०॥
पारित-कायोत्सर्गं, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
दैवसिक त्वतिचार, आलोचयेत् यथाक्रमम् ॥४१॥
प्रतिक्रम्य निःशल्य, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्, सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥४२॥
पारित-कायोत्सर्गं, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
स्तुति-मगल च कृत्वा, काल संप्रतिलिखेत् ॥४३॥

पद्यानु०—चारित्र ज्ञान और दर्शन मे, अतिचार लगा जो दिन भर मे ।
उनका पुनरावर्त्तन ना हो, चिन्तन अनुक्रम मन मे धर ले ॥४०॥
कायोत्सर्ग पूर्ण करके फिर, करे भाव से गुरु वन्दन ।
अतिचार दैवसिक का पीछे, अनुक्रम से कर ले आलोचन ॥४१॥
दोष-शुद्धि कर शल्य रहित हो, गुरुजन का करके वन्दन ।
सब दुःखो से विमोचक फिर, कायोत्सर्ग करे मुनिजन ॥४२॥
कायोत्सर्ग पारित करके फिर, गुरुवर को करके वन्दन ।
स्तुति-मगल नित कृत्य करे फिर, करे काल का प्रतिलेखन ॥४३॥

अन्वयार्थ—(उक्त कायोत्सर्ग मे स्थित साधु), नाणे—ज्ञान मे, य—और, दसणे चेव—दर्शन मे, तहेव य—तथैव, चरित्तम्मि—चारित्र मे लगे, देवसिय—दिवस-सम्बन्धी, अइयार—अतिचारो का, अणुपुव्वसो—अनुक्रम से, चिंतिज्जा—चिन्तन करे ॥४०॥

तओ—अतिचारो का चिन्तन करने के बाद, पारिय-काउसग्गो—कायोत्सर्ग को पूर्ण (पारित) करके, गुरु—गुरु को, वंदित्ताण—(द्वादशावर्त) वन्दन करके, देवसिय अइयार—कायोत्सर्ग मे चिन्तित दिवस-सम्बन्धी अतिचारो की, जहक्कम—यथाक्रम से, आलोएज्ज—आलोचना (गुरु के समक्ष प्रकटीकरण करे) ॥४१॥

तओ— उसके पश्चात्, पडिक्कमित्तु—प्रतिक्रमण करके, निस्सल्लो—शल्य-रहित होकर गुरु—गुरु को, वंदित्ताण—वन्दन करके, तओ—फिर, सव्वदुक्ख-विमोक्खण—समस्त दुःखो से मुक्त कराने वाला, काउस्सग्ग—कायोत्सर्ग, कुज्जा—करे ॥४२॥

पारिय-काउस्सग्गो—कायोत्सर्ग को पारित करके, तओ—फिर, गुरु—गुरु को, वंदित्ताण—वन्दना करके, य—तथा थुइ-मगल—स्तुति-मगल, काऊ—करके, काल—काल की, संपडिलेहए—सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखना करे ॥४३॥

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की भी उपलब्धि होती है। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय या क्षयोपशम हो जाता है, तथा आत्मा की धर्म मे स्थिरता होने से वह अन्य जीवो को भी धर्म मे स्थिर कर सकता है ॥३७॥

जब चतुर्थ प्रहर का चौथा भाग शेष रह जाए, तब स्वाध्याय के काल से प्रतिक्रम करके, अर्थात्— स्वाध्याय से निवृत्त होकर गुरुवन्दन करे। फिर शय्या की अर्थात्—साधु जिस स्थान मे ठहरा हुआ है, उस स्थान की प्रतिलेखना करे ॥३८॥

यद्यपि स्वाध्याय काल पूर्ण होने मे अभी दो घडी प्रमाण समय शेष था, फिर भी स्वाध्याय को छोडकर वसति की प्रतिलेखना करने का विधान इसलिए किया गया है कि ईर्या आदि पाच समिति और तीन गुप्ति की भली भाति आराधना हो सके।

साथ ही उच्चार-प्रस्रवणभूमि (मल मूत्र विसर्जन के स्थान) की प्रतिलेखना भली भाति कर ले, ताकि साय काल या रात्रि मे मल मूत्र-त्याग की आवश्यकता पडे तो सुखपूर्वक कर सके और किसी जीव-जन्तु की विराधना भी नही हो ॥३९॥

रात्रिचर्या का प्रारम्भ छह आवश्यक से—

इस प्रकार ३९वी गाथा के पूर्वार्द्ध तक दिनचर्या का विधान करके उसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे रात्रिचर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं—आवश्यकसूत्रानुसार प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर, उसके मूल पाठ को पढ कर फिर कायोत्सर्ग करे, जो शारीरिक और मानसिक दु खो से छुटकारा दिलाने वाला है।

मूल—देवसिय च अइयार, चिंतिज्जा अणुपुव्वसो।
नाणमि दसणे चेव, चरित्तमि तहेव य ॥४०॥
पारिय काउसग्गो, वदित्ताण तओ गुरु।
देवसिय च अईयार, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४१॥
पडिक्कमित्तु निसल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं।
काउसग्ग तओ कुज्जा, सव्वदुक्ख-विमोक्खण ॥४२॥
पारिय-काउस्सग्गो वदित्ताण तओ गुरुं।
[1]थुइ-मगल च काऊण, काल सपडिलेहए ॥४३॥

---

१ पाठान्तर—सिद्धाण संथव किच्चा—सिद्धो की स्तुति करके। —बृहद्वृत्ति

रात्रिचर्या का क्रम—

मूल—पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, सज्झायं तु चउत्थिए ॥४४॥
पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झायं तओ कुज्जा, अबोहेंतो असंजए ॥४५॥
पोरिसीए चउब्भाए, वंदिऊण तओ गुरुं ।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥४६॥
आगए काय-वोसग्गे, सव्वदुक्ख-विमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्व दुक्ख-विमोक्खणं ॥४७॥
राइयं च अइयारं चिंतिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणम्मि दंसणम्मि य, चरित्तम्मि तवंमि य ॥४८॥
पारिय-काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
राइयं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४९॥
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणं ॥५०॥
किं तवं पडिवज्जामि, एवं तत्थ विचिंतए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता, वंदई य तओ गुरुं ॥५१॥
पारिअ-काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं ॥५२॥

छाया—प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं, द्वितीयां ध्यानं ध्यायति ।
तृतीयायां निद्रा-मोक्षं तु, स्वाध्यायं तु चतुर्थ्याम् ॥४४॥
पौरुष्यां चतुर्थ्यां कालं तु प्रतिलिख्य ।
स्वाध्यायं ततः कुर्यात्, अबोधयन्नसंयतान् ॥४५॥
पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालस्य, कालं तु प्रतिलिखेत् ॥४६॥
आगते काय व्युत्सर्गे, सर्व दुःख—विमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात् सर्व दुःख—विमोक्षणम् ॥४७॥
रात्रिकं चातिचारं चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने चारित्रे तपसि च ॥४८॥
पारित-कायोत्सर्गः वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं आलोचयेद् यथाक्रमम् ॥४९॥

विशेषार्थ—जब सूर्यास्त हो जाए और रात्रि का आगमन होने लगे, तब मुनि कायोत्सर्ग (ध्यान) करे, उसमे दिन मे जो भी अतिचार (दोष) ज्ञान मे, दर्शन मे या चारित्र मे लगे हो, उनका विचार करे। सर्वप्रथम १४ ज्ञान के, तथा ५ दर्शन के अतिचारो का विचार करे, फिर चारित्र के अतिचारो मे—पाँच समिति, तीन गुप्ति, पृथ्वीकायादि षट्काय, अहिंसा आदि पाच महाव्रत, रात्रिभोजनत्याग, अठारह पापस्थान–विरमण आदि से सम्बन्धित अतिचारो का ध्यान मे क्रमश चिन्तन करे।

इसके अतिरिक्त मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखन से लेकर इस कायोत्सर्ग तक जो भी क्रियाएँ हुई हैं, उनमे लगे हुए अतिचारो या सूत्रविरुद्ध क्रियाओ का तथा पाँच महाव्रत मूलगुण, दस प्रत्याख्यान उत्तरगुण आदि मे लगे अतिचारो का भी चिन्तन करे ॥४०॥

जब मुनि ध्यान (कायोत्सर्ग) मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्बन्धी अतिचारो का चिन्तन कर चुके, तब कायोत्सर्ग को पूर्ण करके गुरु से चतुर्विंशति-स्तवरूप (लोगस्स) द्वितीय,आवश्यक की आज्ञा ले। तदनन्तर वन्दनारूप तृतीय आवश्यक की आज्ञा लेकर गुरुदेव की द्वादशावर्त वन्दना करे (दो खमासमणा दे) फिर गुरु से आज्ञा लेकर प्रतिक्रमण रूप चतुर्थ आवश्यक मे लग जाये, सर्वप्रथम दिन मे लगे हुए ज्ञानादि विषयक अतिचारो का गुरुदेव के समक्ष आलोचन (प्रकट) करे, क्योकि इस प्रकार करने से भाव-विशुद्धि के परिणाम उत्पन्न होते हैं।

तत्पश्चात श्रमण सूत्र के पाठानुसार प्रतिक्रमण करके माया-निदान-मिथ्यादर्शनरूप तीन शल्यो से रहित हो। फिर गुरु वन्दन करके पाचवे आवश्यक की आज्ञा लेकर सर्व दु खो से विमुक्त कराने वाला पचम कायोत्सर्ग आवश्यक करे। यह आवश्यक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विशुद्धि के लिए है।

जब कायोत्सर्ग पूर्ण हो जाए, तब उसे पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करके स्तुति मगल का पाठ करे। वर्तमान मे तो पाचवे आवश्यक के बाद छठा प्रत्याख्यानरूप आवश्यक करने की परिपाटी है। अत छठा आवश्यक करके स्तुति मगल (नमोत्थुण) का पाठ पढा जाता है। इसके पश्चात स्वाध्याय करने के लिए काल का प्रतिलेखन करे कि कही आकाश मे तारो का पतन, विद्युत प्रकाश, मेघगर्जन, दिग्दाह आदि तो नही हो रहा है। निर्दिष्ट समय मे स्वाध्याय आदि क्रियाए तभी हो सकती है जबकि काल का भलीभाति निरीक्षण हो जाए।

रात्रिचर्या का क्रम—

मूल—पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्खं तु, सज्झायं तु चउत्थिए ॥४४॥
पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झायं तओ कुज्जा, अबोहेंतो असंजए ॥४५॥
पोरिसीए चउब्भाए, वंदिऊण तओ गुरु ।
पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥४६॥
आगए काय-वोसग्गे, सव्वदुक्ख-विमोक्खणे ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्व दुक्ख-विमोक्खणं ॥४७॥
राइयं च अइयारं चिंतिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणम्मि दंसणम्मि य, चरित्तंम्मि तवम्मि य ॥४८॥
पारिय-काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरु ।
राइयं तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥४९॥
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरु ।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणं ॥५०॥
किं तवं पडिवज्जामि, एवं तत्थ विचिंतए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता, वंदई य तओ गुरुं ॥५१॥
पारिअ-काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं ।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण संथवं ॥५२॥

छाया—प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं, द्वितीयां ध्यानं ध्यायति ।
तृतीयायां निद्रा-मोक्षं तु, स्वाध्यायं तु चतुर्थ्याम् ॥४४॥
पौरुष्यां चतुर्थ्यां कालं तु प्रतिलिख्य ।
स्वाध्यायं ततः कुर्यात्, अबोधयन्नसंयतान् ॥४५॥
पौरुष्याश्चतुर्भागे, वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
प्रतिक्रम्य कालस्य, कालं तु प्रतिलिखेत् ॥४६॥
आगते काय व्युत्सर्गे, सर्व दुःख— विमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात् सर्व दुःख—विमोक्षणम् ॥४७॥
रात्रिकं चातिचारं चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने चारित्रे तपसि च ॥४८॥
पारित-कायोत्सर्गो वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं आलोचयेद् यथाक्रमम् ॥४९॥

विशेषार्थ—जब सूर्यास्त हो जाए और रात्रि का आगमन होने लगे, तब मुनि कायोत्सर्ग (ध्यान) करे, उसमे दिन मे जो भी अतिचार (दोष) ज्ञान मे, दर्शन मे या चारित्र मे लगे हो, उनका विचार करे। सर्वप्रथम १४ ज्ञान के, तथा ५ दर्शन के अतिचारो का विचार करे, फिर चारित्र के अतिचारो मे—पाँच समिति, तीन गुप्ति, पृथ्वीकायादि षट्काय, अहिंसा आदि पाच महाव्रत, रात्रिभोजनत्याग, अठारह पापस्थान–विरमण आदि से सम्बन्धित अतिचारो का ध्यान मे क्रमश चिन्तन करे।

इसके अतिरिक्त मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखन से लेकर इस कायोत्सर्ग तक जो भो क्रियाएँ हुई हैं, उनमे लगे हुए अतिचारो या सूत्रविरुद्ध क्रियाओ का तथा पाँच महाव्रत मूलगुण, दस प्रत्याख्यान उत्तरगुण आदि मे लगे अतिचारो का भी चिन्तन करे ॥४०॥

जब मुनि ध्यान (कायोत्सर्ग) मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्बन्धी अतिचारो का चिन्तन कर चुके, तब कायोत्सर्ग को पूर्ण करके गुरु से चतुर्विंशतिस्तवरूप (लोगस्स) द्वितीय आवश्यक की आज्ञा ले। तदनन्तर वन्दनारूप तृतीय आवश्यक की आज्ञा लेकर गुरुदेव की द्वादशावर्त वन्दना करे (दो खमासमणा दे) फिर गुरु से आज्ञा लेकर प्रतिक्रमण रूप चतुर्थ आवश्यक मे लग जाये, सर्वप्रथम दिन मे लगे हुए ज्ञानादि विषयक अतिचारो का गुरुदेव के समक्ष आलोचन (प्रकट) करे, क्योकि इस प्रकार करने से भावविशुद्धि के परिणाम उत्पन्न होते हैं।

तत्पश्चात श्रमण सूत्र के पाठानुसार प्रतिक्रमण करके माया-निदान-मिथ्यादर्शनरूप तीन शल्यो से रहित हो। फिर गुरु वन्दन करके पाचवे आवश्यक की आज्ञा लेकर सर्व दुखो से विमुक्त कराने वाला पचम कायोत्सर्ग आवश्यक करे। यह आवश्यक ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विशुद्धि के लिए है।

जब कायोत्सर्ग पूर्ण हो जाए, तब उसे पार कर गुरु की विधिपूर्वक वन्दना करके स्तुति मगल का पाठ करे। वर्तमान मे तो पाचवे आवश्यक के बाद छठा प्रत्याख्यानरूप आवश्यक करने की परिपाटी है। अत छठा आवश्यक करके स्तुति मगल (नमोत्थुण) का पाठ पढा जाता है। इसके पश्चात स्वाध्याय करने के लिए काल का प्रतिलेखन करे कि कही आकाश मे तारो का पतन, विद्युत प्रकाश, मेघगर्जन, दिग्दाह आदि तो नही हो रहा है। निर्दिष्ट समय मे स्वाध्याय आदि क्रियाए तभी हो सकती हैं जबकि काल का भलीभाति निरीक्षण हो जाए।

पडिक्कमित्तु—प्रतिक्रमण करके, काल—काल की, तु पडिलेहए—प्रतिलेखना करे ॥४६॥

सव्व-दुक्ख-विमोक्खणे—सब दु खो से छुटकारा दिलाने वाले, काय-वोसग्गे—कायव्युत्सर्ग का समय, आगए—आने पर, तओ—तदनन्तर, सव्व-दुक्ख-विमोक्खण—सब दु खो से विमुक्त करने वाला, काउस्सग्ग—कायोत्सर्ग, कुज्जा—करे ॥४७॥

च—और, (कायोत्सर्ग मे), राइय—रात्रि-सम्बन्धी, नाणम्मि—ज्ञान मे, दसणम्मि—दर्शन मे, च—और, चरित्तम्मि—चारित्र मे, (तथा) तवम्मि—तप मे, (उपलक्षण से वीर्य मे लगे हुए), अइयार—अतिचारो का, अणुपुव्वसो—अनुक्रम से, चितिज्ज—चिन्तन करे ॥४८॥

पारिय-काउस्सग्गो—कायोत्सर्ग को पूर्ण करके, (साधु) तओ—तदनन्तर गुरु—गुरु को, वदिसाण—वन्दन करके, तु—पुन, राइय—रात्रि-सम्बन्धी, अइयार—अतिचारो की, जहक्कम—अनुक्रम से, आलोएज्ज—आलोचना करे॥४९॥

तओ—इसके पश्चात् पडिक्कमित्तु—प्रतिक्रमण करके, निसल्लो—नि शल्य होकर, गुरु—गुरु को, वदित्ताण—वन्दना करके, तओ—तदनन्तर, सव्वदुक्ख-विमोक्खण—सर्वदु खो से विमुक्त करने वाला, काउस्सग्ग—कायोत्सर्ग, कुज्जा—करे ॥५०॥

तत्थ—उस कायोत्सर्ग (ध्यान) मे, एव—इस प्रकार, विचितए—चिन्तन करे (कि आज मैं), कि—किस, तव—तप का, पडिवज्जामि—स्वीकार करू ? तु—फिर, काउस्सग्ग—कायोत्सर्ग को, पारित्ता—पार कर, जिणसथव—जिनेन्द्र भगवान की स्तुति, करिज्जा—करे ॥५१॥

पारिय-काउस्सग्गो—कायोत्सर्ग को पूर्ण कर, तओ—तदनन्तर, गुरु—गुरु को, वदित्ताण—वन्दना करके, तव—तप को, सपडिवज्जेत्ता—अगीकार करके, सिद्धाण—सिद्ध भगवन्तो की, सथव—स्तुति (सस्तव) कुज्जा—करे ॥५२॥

विशेषार्थ—आवश्यक (प्रतिक्रमण) के पश्चात् काल की प्रतिलेखना करके फिर प्रथम पहर मे स्वाध्याय करे। स्वाध्याय का समय पूर्ण हो जाए, तब द्वितीय पहर मे ध्यान (सूत्रार्थ-चिन्तन, आत्म-चिन्तन, अथवा धर्म-ध्यान) करे। जब तीसरा पहर आए, तब निद्रा ले, चतुर्थ पहर मे फिर स्वाध्याय करे। किन्तु स्वाध्यायकाल (चतुर्थ प्रहर) के प्रारम्भ मे अपने आसन से उठकर काल का भलीभाति निरीक्षण करे। तत्पश्चात् गृहस्थ लोगो की निद्रा भग न हो जाए, इतने उच्च-स्वर से स्वाध्याय न करके

प्रतिक्रम्य नि शल्य वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्ग तत कुर्यात् सर्व-दु ख-विमोक्षणम् ॥५०॥
किं तप प्रतिपद्ये एव तत्र विचिन्तयेत् ।
कायोत्सर्ग तु पारयित्वा वन्दते च ततो गुरुम् ॥५१॥
पारित-कायोत्सर्गं वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
तप सप्रतिपद्य कुर्यात् सिद्धाना सस्तवम् ॥५२॥

पद्या०—प्रथम पहर स्वाध्याय और, हो द्वितीय ध्यान का समय नियत ।
पहर तीसरे निद्रा ले, फिर चौथे मे स्वाध्याय नियत ।४४।
प्रतिलेखन स्वाध्याय काल का, करे चतुर्थ पहर आए ।
फिर शस्त्रो का स्वाध्याय करे, जो गृही जान नही पाए ।४५।
फिर पौन पौरुषी के बीते, गुरु के चरणो मे कर वन्दन ।
प्रतिक्रमण काल का करके मुनि, फिर करे काल का प्रतिलेखन ।४६।
सब दु ख मुक्त करने वाले, उत्सर्ग-काल के आने पर ।
सब दु ख मुक्त करने के हित, उत्सर्ग करे हर्षित मुनिवर ।४७।
चारित्र ज्ञान और दर्शन मे, अतिचार लगा जो जीवन मे ।
अनुक्रम से उनका ध्यान करे, रजनी के दोषो का मन मे ।४८।
कायोत्सर्ग पारित करके, गुरु के चरणो मे कर वन्दन ।
अतिचार रात्रि से सम्बन्धित, अनुक्रम से करले आलोचन ।४९।
कर दोष-शुद्धि, हो शल्यहीन, फिर गुरु चरणो मे वन्दन कर ।
कायोत्सर्ग करे मुनिवर, सब दु ख-मुक्ति का सत्पथ धर ।५०।
क्या करू तपस्या मैं धारण ?, उत्सर्ग समय यो ध्यान करे ।
करके कायोत्सर्ग पूर्ण फिर, गुरु वन्दन का भाव धरे ।५१।
कायोत्सर्ग पारित करके, फिर साधु करे गुरु को वन्दन ।
तप को सम्यक् धारण करके, फिर करे सिद्ध सस्तुति गायन ।५२।

अन्वयार्थ—पढम पोरिसिं—प्रथम पौरुषी=प्रहर मे (मुनि), सज्झाय—स्वाध्याय करे, बिइय—द्वितीय पौरुषी मे, झाण—ध्यान की, झियायई—आराधना करे, उ—पुन , तइयाए—तीसरी पौरुषी मे, निद्दमोक्ख—निद्रा ले=शयन करे, तु—और, चउत्थिए—चौथी पौरुषी मे, सज्झाय—स्वाध्याय करे ॥४४॥

उ—किन्तु, चउत्थीए पोरिसीए—चौथी पौरुषी=प्रहर मे, काल—काल की प्रतिलेखना करके, तओ—तदनन्तर, असजए—असयमी लोगो को, अबोहेंतो—नही जगाता हुआ, उ—फिर, सज्झाय—स्वाध्याय, कुज्जा—करे ॥४५॥

पोरिसीए—(चतुर्थ) पौरुषी के, चउब्भाए—चतुर्थ भाग मे, गुरुं—गुरु को, वंदित्ता—वन्दना करके, तओ—तत्पश्चात्, कालस्स—(स्वाध्याय) काल का,

फिर कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का पाठ करे और फिर द्वादशावर्त गुरु वन्दन (इच्छामि खमासमणो वंदिउं के पाठ से) करे ॥५१॥

५२वी गाथा मे छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। पाँचवे आवश्यक मे जिस तप को अगीकार करने का विचार किया था। छठे आवश्यक मे गुरु वन्दन करके उस तप को प्रत्याख्यान के रूप मे गुरुदेव से अगीकार करे। फिर सिद्धो को स्तुति विषयक नमोत्थुण आदि पाठ करे ॥५२॥

उपसहार—

मूल—एसा सामायारी, समासेण वियाहिया।
ज चरित्ता बहु जीवा, तिण्णा ससार-सागर ॥५३॥
—त्ति बेमि।

छाया—एषा सामाचारी समासेन व्याख्याता।
या चरित्वा बहवो जीवा· तीर्णा ससार-सागरम् ॥५३॥
—इति ब्रवीमि

पद्यानु०—सक्षेपरूप से कही यहाँ, मैंने मुनि की सामाचारी।
कर पालन इसे तिरे बहुत, दुस्तर भव-सागर ससारी ॥५३॥

अन्वयार्थ—एसा—यह, सामायारी—सामाचारी, समासेण—सक्षेप मे, वियाहिया—वर्णन की गई है, ज—जिसका, चरित्ता—आचरण करके, बहु—बहुत-से, जीवा—जीव, ससार-सागर—ससाररूपी समुद्र को तर गए। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ॥५३॥

विशेषार्थ—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैंने संक्षेप मे प्रतिपादन किया है, इस सामाचारी का समयाचारी सहित आचरण करने से अनेक साधक ससार को पार कर गये, वर्तमान मे भी पार कर रहे है और भविष्य मे भी पार करेंगे।

विचारणीय—प्रस्तुत अध्ययन मे दिन और रात की साधुचर्या का क्रम उत्सर्ग-मार्ग की दृष्टि से निरूपित किया गया है, अपवादमार्ग मे या विहार की अवस्था मे इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था रहना कठिन (सभव नही) है, इसमे परिवर्तन भी हो सकता है। गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर सामाचारी की यथायोग्य स्वय आराधना करें और दूसरे साधको को तदनुरूप आराधना करने की प्रेरणा करें। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

॥ सामाचारी · छब्बीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

☐☐

मन्द स्वर से स्वाध्याय करे, अन्यथा कई पामर प्राणी जागने पर अनेक प्रकार के हिंसाकारी कर्म करने लग जाते हैं ।।४४-४५।।

जिस पौरुषी मे स्वाध्याय प्रारम्भ किया था, उसका चतुर्थ भाग अर्थात्—दो घडी प्रमाण समय शेष रह जाय, तब गुरु की वन्दना करके काल का प्रतिक्रम करे—अर्थात्—स्वाध्याय-काल से विरत हो जाए, फिर आवश्यक (प्राभातिक प्रतिक्रमण) के समय की प्रतिलेखना करे, यानी समय का निरीक्षण कर ले ।।४६।।

४७वी गाथा मे पूर्वोक्त विधि का ही सक्षेप मे वर्णन किया गया है। यथा—पहले सामायिक आवश्यक, फिर चतुर्विशतिस्तव, तदनन्तर गुरु-वन्दन, फिर चतुर्थ आवश्यक करने की गुरु से आज्ञा लेकर कायोत्सर्ग करे ।।४७।।

कायोत्सर्ग मे रात्रि मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य मे लगे हुए अतिचारो—दोषो का चिन्तन करे ।।४८।।

कायोत्सर्ग को पूर्ण करके, फिर गुरु को वन्दना करे। तदनन्तर रात्रि सम्बन्धी ज्ञानादि विषयक जिन अतिचारो का कायोत्सर्ग मे चिन्तन किया था, उनकी अनुक्रम से आलोचना करे—अर्थात् प्रकट मे उच्चारण करे प्रत्येक पाठ के अन्त मे 'मिच्छामि दुक्कड' देकर पश्चात्ताप प्रकट करना चाहिए। अर्थात्—अपनी भूल स्वीकार करते हुए भविष्य मे उससे साव-धान रहने का प्रयास करना चाहिए। यही आत्मशुद्धि का प्रशस्त मार्ग है। ।।४९।।

जब मुनि लगे हुए अतिचारो की आलोचना कर चुके, तब गुरु को वन्दन करके प्रतिक्रमण करे—श्रमण सूत्र का पाठ करके पापकर्मों से पीछे हटे और सब प्रकार के शल्यो से रहित होकर चतुर्थ आवश्यक पूर्ण करे।

चतुर्थ आवश्यक विधिवत् पूर्ण हो जाए तब फिर गुरु को वन्दन करके पचम आवश्यक की आज्ञा लेकर सभी शारीरिक मानसिक दु खो से निवृत्ति और निजानन्द की प्राप्ति कराने वाला कायोत्सर्ग करे। काया को पाषाण प्रतिमावत् पूर्णतया स्थिर रखकर देह का ममत्व एव आकर्षण छोडकर आत्मध्यान मे आरूढ होना कायोत्सर्ग है ।।५०।।

कायोत्सर्ग नामक पचम आवश्यक मे मुनि कायोत्सर्ग को यत्किचित् चरितार्थ करने के लिए इस प्रकार का चिन्तन करे कि भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकरो ने दीर्घ तपश्चर्या की थी, अत मैं भी देखू कि मुझ मे कितना तप करने की शक्ति विद्यमान है ? आज मैं कौन-सा तप अगीकार करू ? क्योकि आत्मशुद्धि का यही सर्वोपरि विशिष्ट उपाय है।

फिर कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का पाठ करे और फिर द्वादशावर्त गुरु वन्दन (इच्छामि खमासमणो वंदिउं के पाठ से) करे ॥५१॥

५२वी गाथा मे छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। पाँचवे आवश्यक मे जिस तप को अगीकार करने का विचार किया था। छठे आवश्यक मे गुरु वन्दन करके उस तप को प्रत्याख्यान के रूप मे गुरु-देव से अगीकार करे। फिर सिद्धो की स्तुति विषयक नमोत्थुण आदि पाठ करे ॥५२॥

उपसहार—

मूल—एसा सामायारी, समासेण वियाहिया।
ज चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा ससार-सागर ॥५३॥
—त्ति बेमि।

छाया—एषा सामाचारी समासेन व्याख्याता।
या चरित्वा बहवो जीवा तीर्णा ससार-सागरम् ॥५३॥
—इति ब्रवीमि

पद्यानु०—सक्षेपरूप से कही यहाँ, मैंने मुनि की सामाचारी।
कर पालन इसे तिरे बहुत, दुस्तर भव-सागर ससारी ॥५३॥

अन्वयार्थ—एसा—यह, सामायारी—सामाचारी, समासेण—सक्षेप मे, वियाहिया—वर्णन की गई है, ज—जिसका, चरित्ता—आचरण करके, बहू—बहुत-से, जीवा—जीव, ससार-सागर—ससाररूपी समुद्र को तर गए। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूं ॥५३॥

विशेषार्थ—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैंने संक्षेप मे प्रतिपादन किया है, इस सामाचारी का समयाचारी सहित आचरण करने से अनेक साधक ससार को पार कर गये, वर्तमान मे भी पार कर रहे हैं और भविष्य मे भी पार करेंगे।

विचारणीय—प्रस्तुत अध्ययन मे दिन और रात की साधुचर्या का क्रम उत्सर्ग-मार्ग की दृष्टि से निरूपित किया गया है, अपवादमार्ग मे या विहार की अवस्था मे इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था रहना कठिन (सभव नही) है, इसमे परिवर्तन भी हो सकता है। गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर सामाचारी की यथायोग्य स्वय आराधना करें और दूसरे साधको को तदनुरूप आराधना करने की प्रेरणा करें। इस प्रकार मैं कहता हूं।

॥ सामाचारी छब्बीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

मन्द स्वर से स्वाध्याय करे, अन्यथा कई पामर प्राणी जागने पर अनेक प्रकार के हिंसाकारी कर्म करने लग जाते हैं ।।४४-४५।।

जिस पौरुषी मे स्वाध्याय प्रारम्भ किया था, उसका चतुर्थ भाग अर्थात्—दो घडी प्रमाण समय शेष रह जाय, तब गुरु की वन्दना करके काल का प्रतिक्रम करे—अर्थात्—स्वाध्याय-काल से विरत हो जाए, फिर आवश्यक (प्राभातिक प्रतिक्रमण) के समय की प्रतिलेखना करे, यानी समय का निरीक्षण कर ले ।।४६।।

४७वी गाथा मे पूर्वोक्त विधि का ही सक्षेप मे वर्णन किया गया है । यथा—पहले सामायिक आवश्यक, फिर चतुर्विशतिस्तव, तदनन्तर गुरु-वन्दन, फिर चतुर्थं आवश्यक करने की गुरु से आज्ञा लेकर कायोत्सर्ग करे ।।४७।।

कायोत्सर्ग मे रात्रि मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य मे लगे हुए अतिचारो—दोषो का चिन्तन करे ।।४८।।

कायोत्सर्ग को पूर्ण करके, फिर गुरु को वन्दना करे । तदनन्तर रात्रि सम्बन्धी ज्ञानादि विषयक जिन अतिचारो का कायोत्सर्ग मे चिन्तन किया था, उनकी अनुक्रम से आलोचना करे–अर्थात् प्रकट मे उच्चारण करे प्रत्येक पाठ के अन्त मे 'मिच्छामि दुक्कड' देकर पश्चात्ताप प्रकट करना चाहिए । अर्थात्—अपनी भूल स्वीकार करते हुए भविष्य मे उससे साव-धान रहने का प्रयास करना चाहिए । यही आत्मशुद्धि का प्रशस्त मार्ग है । ।।४९।।

जब मुनि लगे हुए अतिचारो की आलोचना कर चुके, तब गुरु को वन्दन करके प्रतिक्रमण करे—श्रमण सूत्र का पाठ करके पापकर्मो से पीछे हटे और सब प्रकार के शल्यो से रहित होकर चतुर्थ आवश्यक पूर्ण करे ।

चतुर्थ आवश्यक विधिवत् पूर्ण हो जाए तब फिर गुरु को वन्दन करके पचम आवश्यक की आज्ञा लेकर सभी शारीरिक मानसिक दु खो से निवृत्ति और निजानन्द की प्राप्ति कराने वाला कायोत्सर्ग करे । काया को पाषाण प्रतिमावत् पूर्णतया स्थिर रखकर देह का ममत्व एव आकर्षण छोडकर आत्मध्यान मे आरूढ होना कायोत्सर्ग है ।।५०।।

कायोत्सर्ग नामक पचम आवश्यक मे मुनि कायोत्सर्ग को यत्किचित् चरितार्थ करने के लिए इस प्रकार का चिन्तन करे कि भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकरो ने दीर्घ तपश्चर्या की थी, अत मैं भी देखू कि मुझ मे कितना तप करने की शक्ति विद्यमान है ? आज मैं कौन-सा तप अगीकार करू ? क्योकि आत्मशुद्धि का यही सर्वोपरि विशिष्ट उपाय है ।

फिर कायोत्सर्ग पूर्ण करके चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) का पाठ करे और फिर द्वादशावर्त गुरु वन्दन (इच्छामि खमासमणो वंदिउ के पाठ से) करे ॥५१॥

५२वी गाथा मे छठे आवश्यक की विधि का वर्णन किया गया है। पाँचवें आवश्यक मे जिस तप को अगीकार करने का विचार किया था। छठे आवश्यक मे गुरु वन्दन करके उस तप को प्रत्याख्यान के रूप मे गुरुदेव से अगीकार करे। फिर सिद्धो की स्तुति विषयक नमोत्थुण आदि पाठ करे ॥५२॥

उपसहार—

मूल—एसा सामायारी, समासेण वियाहिया।
ज चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा ससार-सागर ॥५३॥
—त्ति बेमि।

छाया—एषा सामाचारी समासेन व्याख्याता।
या चरित्वा बहवो जीवा तीर्णा ससार-सागरम् ॥५३॥
—इति ब्रवीमि

पद्यानु०—सक्षेपरूप से कही यहाँ, मैंने मुनि की सामाचारी।
कर पालन इसे तिरे बहुत, दुस्तर भव-सागर ससारी ॥५३॥

अन्वयार्थ—एसा—यह, सामायारी—सामाचारी, समासेण—सक्षेप मे, वियाहिया—वर्णन की गई है, ज—जिसका, चरित्ता—आचरण करके, बहू—बहुत-से, जीवा—जीव, ससार-सागर—ससाररूपी समुद्र को तर गए। त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हू ॥५३॥

विशेषार्थ—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार की ओघरूप सामाचारी का मैंने संक्षेप मे प्रतिपादन किया है, इस सामाचारी का समयाचारी सहित आचरण करने से अनेक साधक ससार को पार कर गये, वर्तमान मे भी पार कर रहे है और भविष्य मे भी पार करेंगे।

विचारणीय—प्रस्तुत अध्ययन मे दिन और रात की साधुचर्या का क्रम उत्सर्ग-मार्ग की दृष्टि से निरूपित किया गया है, अपवादमार्ग मे या विहार की अवस्था मे इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था रहना कठिन (सभव नही) है, इसमे परिवर्तन भी हो सकता है। गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर सामाचारी की यथायोग्य स्वय आराधना करें और दूसरे साधको को तदनुरूप आराधना करने की प्रेरणा करें। इस प्रकार मैं कहता हू।

॥ सामाचारी : छब्बीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□

सत्ताईसवां अध्ययन : खलुंकीय

[अध्ययन सार]

इस अध्ययन का नाम है--खलुंकीय । खलुंक का अर्थ है—दुष्ट बैल ।

दुर्विनीत और उद्दण्ड शिष्य का खलुंक से उपमित किया गया है ।

अनुशासन और विनय, ये साधक-जीवन के महत्वपूर्ण अनिवार्य अग हैं ।

ये दोनो जिस साधक मे नही होते, वह आगे चलकर स्वच्छन्द, उच्छृखल, एव सयम से भ्रष्ट हो जाता है । जिस प्रकार दुष्ट बैल गाडी को तोड देता है, मालिक को कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार अनुशासनहीन उद्दण्ड शिष्य भी धर्मयान, सघशकट और उसके स्वामी सघाचार्य को कष्ट पहुँचाता है, महाव्रतभार और समिति-गुप्तिरूप अकुश को ताड डालता है । विपथगामी हो जाता है ।

गार्ग्याचार्य अपने समय के गणधारक, स्थविर, शास्त्रविशारद एव सयम के गुणो से विभूषित थे । किन्तु उनके सभी शिष्य उद्दण्ड, आलसी, उच्छृखल, अविनीत थे । उनके कारण आचार्य श्रमणधर्म के पालन मे खिन्न हो गए । चिरकाल तक उन्होने सहन किया, उन्होने शिष्यो को विभिन्न प्रकार से शिक्षा दी, किन्तु कोई अनुकूल परिणाम न आया, तब उन्होने अपनी रत्नत्रय साधना, समत्व-आराधना एव समाधि मे बाधा उत्पन्न होते देख निर्णय किया कि ऐसे शिष्यो के साथ रहने से मुझे कोई इहलौकिक या पारलौकिक आध्यात्मिक लाभ नही है । अत ऐसे शिष्यो को छोडकर अकेले ही समाधि और समता की पगडण्डी पर चलना श्रेयस्कर है ।

समाधि और आत्मभाव मे सहायक होना ही गुरु शिष्य दोनो के

लिए हितकर है, परन्तु यदि वे ही शिष्य समाधिवान हितचिन्तक गुरु के मार्ग मे बाधक बनें तो इससे दोनो के हित का घात होता है। गार्ग्याचार्य के साथ भी ऐसा ही हुआ, जब उनका शिष्य वर्ग उनके सयमपथ मे हानि पहुँचाने लगा, तब वे निरुपाय होकर आत्मधर्म की सुरक्षा के लिए शिष्यो का मोह, सम्प्रदाय का स्नेह और अपनी सेवा-शुश्रूषा का अपेक्षा छोड़कर आत्मभाव से प्रेरित होकर अकेले ही चल पड़े ।

वास्तव मे आत्मार्थी साधक के लिए यही कर्तव्य है कि समूह के साथ रहने से जब अपनी समाधि और साधना भग होती हो, अथवा कोई निपुण वा गुण मे अधिक या सम सहायक न मिले तो अपने जीवन मे पाप-वासना, आसक्ति एव विषमता आदि न आने देकर सयम की सुरक्षा करता हुआ एकाकी रहकर साधना करे। गार्ग्याचार्य के जीवन से यही प्रेरणा मिलती है।

□

सत्ताईसवां अध्ययन : खलुंकीय

[अध्ययन सार]

इस अध्ययन का नाम है—खलुंकीय । खलुंक का अर्थ है—दुष्ट बैल ।

दुर्विनीत और उद्दण्ड शिष्य का खलुंक से उपमित किया गया है ।

अनुशासन और विनय, ये साधक-जीवन के महत्वपूर्ण अनिवार्य अग हैं ।

ये दोनो जिस साधक मे नही होते, वह आगे चलकर स्वच्छन्द, उच्छृखल, एव सयम से भ्रष्ट हो जाता है । जिस प्रकार दुष्ट बैल गाडी को तोड देता है, मालिक को कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार अनुशासनहीन उद्दण्ड शिष्य भी धर्मयान, सघशकट और उसके स्वामी सघाचार्य को कष्ट पहुँचाता है, महाव्रतभार और समिति-गुप्तिरूप अकुश को तोड डालता है । विपथगामी हो जाता है ।

गार्ग्याचार्य अपने समय के गणधारक, स्थविर, शास्त्रविशारद एव सयम के गुणो से विभूषित थे । किन्तु उनके सभी शिष्य उद्दण्ड, आलसी, उच्छृखल, अविनीत थे । उनके कारण आचार्य श्रमणधर्म के पालन मे खिन्न हो गए । चिरकाल तक उन्होने सहन किया, उन्होने शिष्यो को विभिन्न प्रकार से शिक्षा दी, किन्तु कोई अनुकूल परिणाम न आया, तब उन्होने अपनी रत्नत्रय साधना, समत्व-आराधना एव समाधि मे बाधा उत्पन्न होते देख निर्णय किया कि ऐसे शिष्यो के साथ रहने से मुझे कोई इहलौकिक या पारलौकिक आध्यात्मिक लाभ नही है । अत ऐसे शिष्यो को छोडकर अकेले ही समाधि और समता की पगडण्डी पर चलना श्रेयस्कर है ।

समाधि और आत्मभाव मे सहायक होना ही गुरु शिष्य दोनो के

लिए हितकर है, परन्तु यदि वे ही शिष्य समाधिनाशक हितचिन्तक गुरु के मार्ग में बाधक बनें तो इससे दोनों के हित का घात होता है। गार्ग्याचार्य के साथ भी ऐसा ही हुआ, जब उनका शिष्य वर्ग उनके संयमपथ में हानि पहुँचाने लगा, तब वे निरुपाय होकर आत्मधर्म की सुरक्षा के लिए शिष्यों का मोह, सम्प्रदाय का स्नेह और अपनी सेवा-शुश्रूषा की अपेक्षा छोड़कर आत्मभाव से प्रेरित होकर अकेले ही चल पड़े।

वास्तव में आत्मार्थी साधक के लिए यही कर्तव्य है कि समूह के साथ रहने से जब अपनी समाधि और साधना भंग होती हो, अथवा कोई निपुण या गुण में अधिक या सम सहायक न मिले तो अपने जीवन में पाप-वासना, आसक्ति एवं विषमता आदि न आने देकर संयम की सुरक्षा करता हुआ एकाकी रहकर साधना करे। गार्ग्याचार्य के जीवन से यही प्रेरणा मिलती है।

□

खलुंकिज्जं : सत्तावीसइमं अज्झयणं

[खलुंकीय सत्ताईसवां अध्ययन]

गार्ग्यमुनि का विशिष्ट परिचय—

मूल—थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसी विसारए।
आइण्णे गणि-भावम्मि, समाहिं पडिसंधए ॥१॥

छाया—स्थविरो गणधरो गार्ग्य, मुनिरासीद् विशारद ।
आकीर्णो गणि-भावे, समाधि प्रतिसधत्ते ॥१॥

पद्यानुवाद—मुनि गार्ग्य स्थविर गणधर एव, शास्त्रो के पूर्ण विशारद थे।
वे गुणीकीर्ण गणिकार्य कुशल, करते समाधि को धारण थे ॥१॥

अन्वयार्थ—थेरे—स्थविर, गणहरे—गणधारक=गच्छाचार्य, गग्गे—गर्ग—गोत्रीय=गार्ग्य नामक, मुणी—मुनि, विसारए—(सर्वशास्त्र) विशारद, आसी—थे (वे) आइण्णे—आचार्य के गुणो से आकीर्ण=व्याप्त (ओत प्रोत) (एव), गणि-भावम्मि—गणिभाव मे (स्थित थे) समाहिं—(शिष्यो द्वारा तोडी हुई) समाधि को, पडिसधए—पुन जोडने वाले थे ॥१॥

विशेषार्थ—गार्ग्य नामक सर्व-सावद्य-विरत मुनि, अस्थिर जीवो को धर्म मे स्थिर करने वाले (स्थविर), गणधर=गणी=गणनायक, एवं सर्व-शास्त्र-निष्णात (विशारद) थे । वे आचार्य के गुणो से युक्त, आचार्यभाव मे स्थित तथा कुशिष्यो द्वारा भग की हुई चित्त की समाधि को पुन जोडने वाले थे ।

समाहिं पडिसधए . दो अर्थ—(१) वह (गार्ग्याचार्य) कुशिष्यो के द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप भाव-समाधि या चित्त-समाधि तोडने पर भी पुन चित्त को समाधि मे लगा लेते-जोड लेते थे । (२) बृहद्वृत्तिकार के अनुसार

कर्मोदयवश अविनीत शिष्यों की टूटी हुई समाधि को पुन: जोड देते थे।[1]

विनीत शिष्यों से गुरु का ससार सुखपूर्वक पार—

मूल—वहणे वहमाणस्स, कतार अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई ॥२॥

छाया—वहने वहमानस्य, कान्तारमतिवर्तते।
योगे वहमानस्य, ससारोऽतिवर्तते ॥२॥

पद्यानुवाद—चलता मार्ग पर जो वाहन, कान्तार पार कर जाता है।
सयम-योग मे गति-कर्ता, ससार पार हो जाता है ॥२॥

अन्वयार्थ—वहणे—(गाडी आदि) वाहनो मे, वहमाणस्स—जोता हुआ (अच्छा बैल), कतार - महावन से, अइवत्तई—(सुखपूर्वक) पार हो जाता है (वैसे ही), जोए—सयम-योग मे, वहमाणस्स—भलीभांति प्रवृत्त हुआ (साधक भी), ससार – ससार से, अइवत्तई—(सुखपूर्वक) पार हो जाता है ॥२॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार शकट आदि वाहनो मे जोता हुआ विनीत वृषभ स्वय, शकट और वाहक, इन दोनो को लेकर सुखपूर्वक अटवी से पार हो जाता है, उसी प्रकार सयममार्ग मे प्रवृत्त हुआ साधक, अपने साथ प्रवर्तक (गुरु या आचार्य) एव सवरथ को भी लेकर इस ससाररूपी भयावहा भवाटवी से पार हो जाता है ॥२॥

आशय—शिष्यो के विनीत भाव, एव सयम-मार्ग मे सम्यक्गति-प्रवृत्ति को देखकर गुरु भी समाधिमान् होकर शिष्य के साथ ससार को पार कर जाते हैं। विनीतशिष्य और सद्गुरु का योग=परस्पर सम्बन्ध ससार का उच्छेदकर्ता होता है।

अविनीत शिष्य दुष्टवृषभ के समान—

मूल—खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जई ॥३॥
एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विंधइऽभिक्खणं।
एगो भजइ समिलं, एगो उप्पह-पट्ठिओ ॥४॥
एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई।

---

१ (क) उत्तरा० गुजराती भाषान्तर भा-२ पत्र २१९

(ख) कर्मोदयात् त्रुटितमपि समाधिं सघट्टयति तथाविध-शिष्याणाम् इति गम्यते।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५५०

उक्कुद्दइ उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥५॥
माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
[1]मय-लक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥६॥
छिन्नाले छिंदई सेल्लि, दुद्दन्तो भंजए जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहाय पलायते ॥७॥
खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्म-जाणम्मि, भज्जन्ति धिइ-दुब्बला ॥८॥

छाया—खलुंको यस्तु योजयति विध्नन् क्लिश्यति।
असमाधिं च वेदयति, तोत्रकं च तस्य भज्यते ॥३॥
एकं दशति पुच्छे, एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्।
एको भनक्ति समिलं, एक उत्पथ-प्रस्थितः ॥४॥
एकः पतति पार्श्वेन निविशति निपद्यते।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठः बालगवी व्रजेत् ॥५॥
मायी मूर्ध्ना पतति क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम्।
मृत-लक्षेण तिष्ठति वेगेन च प्रधावति ॥६॥
'छिन्नाले' छिनत्ति 'सेल्लि', दुर्दान्तो भनक्ति युगम्।
सोऽपि च सूत्कृत्य, उद्धाय पलायते ॥७॥
खलुंका यादृशा योज्याः, दुःशिष्या अपि खलु तादृशाः।
योजिता धर्म-याने, भज्यन्ते धृति-दुर्बलाः ॥८॥

पद्या०—गाडी में दुष्ट बैल जोड़े जो, चलता वह दुःख पाता है।
असमाधि चित्त वेदन करता, डण्डा भी टूक हो जाता है ॥३॥
कुपित एक की पूछ काटता, और बींधता मन बहुवार।
दुष्ट तोड़ता कील जुए की, उत्पथ जाता कोई कर फकार ॥४॥
एक पार्श्व से गिर ज[illegible] कोई लेट [illegible]
कूदता उछलता [illegible]
कपटी मस्तक के
मृतवत् गिरता
तोड़ रास
सूं-सूं कर

---

1 पाठान्तर—किसी[illegible]
चिट्ठई' है, जिसका [illegible]

जैसे होते ये बैल दुष्ट, दुःशिष्य समझ लो वैसे ही।
दुर्बल धृति वाले धर्म-यान मे, जुड भग जाते ऐसे ही ॥८॥

अन्वयार्थ—जो—जो कोई (वाहन मे), खलुके—दुष्ट बैलो को, जोएइ—जोतता है, उ—निश्चय ही वह, विहम्माणो—प्रताडन करता हुआ, किलिस्सइ—क्लेश पाता है, य—और, असमाहिं (चित्त मे) असमाधि का, वेएइ—अनुभव करता है (यहा तक कि बैलो को मारते-मारते) से—उसका, तोत्तओ—तोत्रक=चाबुक, य—भी, भज्जई—टूट जाता है ॥३॥

(दुष्ट बैल वाला क्षुब्ध गाडीवान) एग—किसी (एक दुष्ट बैल) की, पुच्छमि—पूंछ मे, डसइ—दश देता है, (तो) एग—किसी एक को, अभिक्खण—बार-बार, विधइ—आरी से बीधता है (और) एगो—(उन दुष्ट बैलो मे से) कोई, समिल—जुए की कील (समिला) को, भजइ—तोड डालता है (तो) एगो—दूसरा उप्पह पट्ठिओ—उन्मार्ग पर चल पडता है ॥४॥

एगो—कोई (दुष्ट बैल) (रास्ते के) पासेण—एक ओर, पडइ—पड जाता है, (कोई) निवेसई—बैठ जाता है, (तो कोई) निवज्जई—लम्बा लेट जाता है, उक्कुदइ—(कोई) कूदता है, उप्फिडइ—उछलता है, सढे—(कोई शठ)=धूर्त बैल, बालगवीं—तरुण गाय के पीछे, वए—भाग जाता है ॥५॥

मायी—कपटी (बैल), मुद्धेण—मस्तक के बल, पडइ—लुढक पडता है; कुद्धे—क्रुद्ध होकर, पडिप्पह—पीछे को या उलटे पैरो, गच्छइ—चल पडता है (कोई), मय लक्खेण—मृतवत, चिट्ठइ—निश्चेष्ट हो जाता है, य—और (कोई कोई तो) वेगेण—तेजी से, पहावई—दौडने लगता है, ॥६॥

छिन्नाले—दुष्ट बैल, सेल्लि—रस्सी को, छिंदइ—तोड देता है, दुद्दन्तो—दुर्दान्त बैल, जुग—जुए को (भी), भजए—तोड डालता है, य—और, वि—वह फिर, सुस्सुयाइत्ता—सू सू करके, स्वामी और गाडी को, उज्जहित्ता—छोडकर, पलायए—भाग जाता है ॥७॥

जारिसा—जैसे, जोज्जा—शकट मे जोते हुए, खलु का—दुष्ट बैल होते है, तारिसा—वैसे, धम्मजाणम्मि—धर्मयान मे, जोइया—जोते हुए, कुस्सीसा वि—कुशिष्य भी, धिइ-दुब्बला—धैर्य से दुर्बल होने के कारण (धर्मकार्यो से) भज्जती—दूर भागते है, धर्म मे अच्छी तरह प्रवृत्ति नही करते ॥८॥

विशेषार्थ—गाडी मे दुष्ट बैलो को जोतने से एक तो गाडी हांकने वाले को उन्हे मारते हुए क्लेश होता है, दूसरे, उसके चित्त मे असमाधि-व्याकुलता उत्पन्न होती है, तीसरे, ताडना करते समय उसका चाबुक आदि

उक्कुद्दई उप्फिडई, सढे बालगवीं वए ॥५॥
माई मुद्धेण पडई, कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
[1]मय-लक्खेण चिट्ठई, वेगेण य पहावई ॥६॥
छिन्नाले छिंदई सेल्लि, दुद्दंतो भंजए जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहाय पलायते ॥७॥
खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्म-जाणम्मि, भज्जंति धिइ-दुब्बला ॥८॥

छाया—खलुंको यस्तु योजयति विघ्नन क्लिश्यति।
असमाधिं च वेदयति, तोत्रक च तस्य भज्यते ॥३॥
एकं दशति पुच्छे, एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्।
एको भनक्ति समिल, एक उत्पथ-प्रस्थित ॥४॥
एक पतति पार्श्वेन निविशति निपद्यते।
उत्कूर्दते उत्प्लवते, शठ बालगवी व्रजेत् ॥५॥
मायी मूर्ध्ना पतति क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम्।
मृत-लक्षेण तिष्ठति वेगेन च प्रधावति ॥६॥
'छिन्नाले' छिनत्ति 'सेल्लि', दुर्दान्तो भनक्ति युगम्।
सोपि च सूत्कृत्य, उद्धाय पलायते ॥७॥
खलुंका यादृशा योज्या, दु शिष्या अपि खलुतादृशा।
योजिता धर्म-याने, भज्यन्ते धृति-दुर्बला ॥८॥

पद्या०—गाडी मे दुष्ट बैल जोडे जो, चलता वह दु ख पाता है।
असमाधि चित्त वेदन करता, डडा भी टूक हो जाता है ॥३॥
कुपित एक की पूछ काटता, और बीधता मन बहुवार।
दुष्ट तोडता कील जुए की, उत्पथ जाता कोई कर फुकार ॥४॥
एक पार्श्व से गिर जाता, और कोई लेट बैठ जाता।
कूदता उछलता कोई शठ, तरुणी गौ पीछे भग जाता ॥५॥
कपटी मस्तक के बल गिरता, हो कुपित कोई पीछे जाता।
मृतवत् गिरता निश्चेष्ट बना, कोई तेज दौडने लग जाता ॥६॥
तोड रास उद्दण्ड वृषभ, दुर्दान्त तोडता है युग को।
सूं-सूं कर तजता वाहन वह, जाता है भाग छोड सबको ॥७॥

---

१ पाठान्तर—किसी-किसी प्रति मे 'मयलक्खेण चिट्ठई' के बदले 'पसयतेण चिट्ठई' है, जिसका अर्थ होता है—'प्रबलता से कापने लगता है।'— स०

जैसे होते ये बैल दुष्ट, दु शिष्य समझ लो वैसे ही।
दुर्बल धृति वाले धर्म-यान मे, जुड भग जाते ऐसे ही ॥८॥

अन्वयार्थ—जो—जो कोई (वाहन मे), खलुके—दुष्ट बैलो को, जोएइ—जोतता है, उ—निश्चय ही वह, विहम्माणो—प्रताडन करता हुआ, किलिस्सइ—क्लेश पाता है, च—और, असमाहिं (चित्त मे) असमाधि का, वेएइ—अनुभव करता है (यहा तक कि बैलो को मारते-मारते) से—उसका, तोत्तओ—तोत्रक=चाबुक, य—भी, भज्जई—टूट जाता है ॥३॥

(दुष्ट बैल वाला क्रुद्ध गाडीवान) एग—किसी (एक दुष्ट बैल) की, पुच्छमि—पूंछ मे, डसइ—दश देता है, (तो) एग—किसी एक को, अभिक्खण—बार-बार, विधइ—आरी से बीधता है (और) एगो—(उन दुष्ट बैलो मे से) कोई, समिल—जुए की कील (समिला) को, भजइ—तोड डालता है (तो) एगो—दूसरा उप्पह पट्ठिओ—उन्मार्ग पर चल पडता है ॥४॥

एगो—कोई (दुष्ट बैल) (रास्ते के) पासेण—एक ओर, पडइ—पड जाता है, (कोई) निवेसई—बैठ जाता है, (तो कोई) निवज्जई—लम्बा लेट जाता है, उक्कुदई—(कोई) कूदता है, उप्फिडइ—उछलता है, सढे—(कोई शठ)=धूर्त बैल, बालगवी—तरुण गाय के पीछे, वए—भाग जाता है ॥५॥

मायी—कपटी (बैल), मुद्धेण—मस्तक के बल, पडइ—लुढक पडता है, कुद्धे—क्रुद्ध होकर, पडिप्पहं—पीछे को या उलटे पैरो, गच्छइ—चल पडता है (कोई), मय लक्खेण—मृतवत, चिट्ठइ—निश्चेष्ट हो जाता है; य—और (कोई कोई तो) वेगेण—तेजी से, पहावई—दौडने लगता है, ॥६॥

छिन्नाले—दुष्ट बैल, सेल्लि—रस्सी को, छिंदइ—तोड देता है, दुद्दन्तो—दुर्दान्त बैल, जुग—जुए को (भी), भजए—तोड डालता है, य—और, वि—वह फिर, सुस्सुयाइत्ता—सू सू करके, स्वामी और गाडी को, उज्जहित्ता—छोडकर, पलायए—भाग जाता है ॥७॥

जारिसा—जैसे, जोज्जा—शकट मे जोते हुए, खलु का—दुष्ट बैल होते है, तारिसा—वैसे, धम्मजाणम्मि—धर्मयान मे, जोइया—जोते हुए, कुसीसा वि—कुशिष्य भी, धिइ-दुब्बला—धैर्य से दुर्बल होने के कारण (धर्मकार्यो से) भज्जती—दूर भागते है, धर्म मे अच्छी तरह प्रवृत्ति नही करते ॥८॥

विशेषार्थ—गाडी मे दुष्ट बैलो को जोतने से एक तो गाडी हाँकने वाले को उन्हे मारते हुए क्लेश होता है, दूसरे, उसके चित्त मे असमाधि-व्याकुलता उत्पन्न होती है, तीसरे, ताडना करते समय उसका चाबुक आदि

भी टूट जाता है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट बैलो को जोतने से गाडीवान को क्रोध, व्याकुलता, अशान्ति आदि आर्त्तरौद्र ध्यान होते है, उसी प्रकार धर्मयान मे भी कुशिष्यो को सलग्न करने से गुरु को क्रोधादि मनस्ताप होता है, फलत आर्त्त-रौद्र ध्यान होते हैं ॥३॥

क्रोध से क्षुब्ध हुआ वाहक एक की पूछ को बार-बार मरोडता है, दूसरे को आरा भोककर बीधता है, ऐसी स्थिति मे कोई दुष्ट बैल तो क्रुद्ध होकर जुए की कील को तोड देता है, जबकि दूसरा भागकर ऊजड मार्ग पर चढ जाता है। आशय यह है कि वाहक और बैल दोनो ही परम दुखी होते है ॥४॥

जब वाहक उन दुष्ट बैलो को मारता है तो उनमे से कोई तो जमीन पर एक ओर गिर पडता है, कोई धम्म से बैठ जाता है, कोई लम्बा पसर कर सो जाता है, कोई उछल-कूद मचाता है, तो कोई धूर्त्त बैल चढती उम्र की किसी गौ के पीछे भागने लगता है। इस प्रकार दुष्ट बैल अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हुए वाहक को भी अत्यन्त दुखी करते हैं ॥५॥

कोई बैल कपट करके पृथ्वी पर सिर पटककर निढाल होकर गिर पडता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे को भागने लगता है, कोई छल से अपने शरीर को मृतक के लक्षणो से लक्षित करके निश्चेष्ट होकर पड जाता है, और अवसर पाकर जोर से भाग खडा होता है ॥६॥

दुष्ट जाति का बैल रास को तोड डालता है, कोई कोई बैल तो सागडी (गाडीवान) के काबू मे नही आता, वह जुए को भी तोड फेंकता है और वह उद्धत बैल सू सू करके वाहन और स्वामी दोनो को छोडछाड कर भाग जाता है ॥७॥

जैसे दुष्ट बैल शकटादि मे जोतने पर कार्य साधक नही होते, अर्थात् वे अभीष्ट स्थान पर नही पहुँचा सकते, ठीक उसी प्रकार धर्मयान मे नियोजित किये हुए कुशिष्य सयम भार का भली भाति वहन नही कर पाते, न ही स्व-पर को मुक्तिनगर पहुचा सकते हैं, क्योकि वे धैर्यशील नही होने से धर्मानुष्ठान मे दृढ नही रह सकते। वे अपने गुरु आदि को भी खेदित करने मे कारण बनते है ॥८॥

प्रतिकूल कुशिष्यो के कारण गार्ग्याचार्य चिन्तित—

मूल—इड्ढी-गारविए एगे, एगेऽत्थ रस-गारवे।
साया-गारविए एगे, एगे सुचिर-कोहणे ॥९॥

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाण-भीरुए ।
थद्धे एगेऽणुसासम्मी, हेऊहिं कारणेहि य ॥१०॥
सोवि अतर-भासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।
आयरियाण तु वयणं, पडिकूलेइ ऽभिक्खण ॥११॥
न सा मम वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई ।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ ॥१२॥
पेसिया पलिउंचति, ते परियंति समंतओ ।
रायवेट्ठिं व मन्नता, करेंति भिउडिं मुहे ॥१३॥
वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया ।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥१४॥
अह सारही विचिंतेइ, खलुकेहिं समागओ ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

छाया—ऋद्धि गौरविक एक एकोत्र रस-गौरव ।
सात-गौरविक एक, एक सुचिर-क्रोधन ॥९॥
भिक्षालस्यिक एक, एकोऽवमान-भीरुक स्तब्ध ।
एक च अनुशास्ति, हेतुभि कारणैश्च ॥१०॥
सोप्यन्तर-भाषावान् दोषमेव प्रकरोति ।
आचार्याणा तद् वचन प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥११॥
न सा मा विजानाति नापि सा मह्य दास्यति ।
निर्गता भविष्यति मन्ये साधुरन्योऽत्र व्रजतु ॥१२॥
प्रेषिता परिकुञ्चन्ति ते परियन्ति समन्तत ।
राज-वेष्टिमिव मन्यमाना कुर्वन्ति भृकुटि मुखे ॥१३॥
वाचिता सगृहीताश्चैव भक्त-पानेन च पोषिता ।
जात-पक्षा यथा हसा प्रक्रामन्ति दिशो दिशम् ॥१४॥
अथ सारथिर्विचिन्तयति खलुंकै समागत ।
किं मम दुष्ट-शिष्य आत्मा मेऽवसीदति ॥१५॥

पद्यानुवाद—करे ऋद्धि-गौरव कोई, रस-गौरव कोई मन धरता ।
साता का कोई मान करे, चिर कोई कोप कर क्षुब्ध होता ॥९॥
एक करे भिक्षा-प्रमाद, अपमान-भीरु कोई स्तब्ध रहे ।
हेतु और कोई कारण से, अनुशासित होकर मार्ग वहे ॥१०॥
अनुशासित अन्तर मे बोले, दुर्मेधा अतिशय दोष करे ।
आचार्य-वचन प्रतिकूल करे, दे युक्ति वचन का काट करे ॥११॥

भी टूट जाता है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट बैलो को जोतने से गाडीवान को क्रोध, व्याकुलता, अशान्ति आदि आर्त्त रौद्र ध्यान होते है, उसी प्रकार धर्मयान मे भी कुशिष्यो को सलग्न करने से गुरु को क्रोधादि मनस्ताप होता है, फलत आर्त्त-रौद्र ध्यान होते हैं ॥३॥

क्रोध से क्षुब्ध हुआ वाहक एक की पूछ को वार-बार मरोडता है, दूसरे को आरा भोककर बीधता है, ऐसी स्थिति मे कोई दुष्ट बैल तो क्रुद्ध होकर जुए की कील को तोड देता है, जबकि दूसरा भागकर ऊजड मार्ग पर चढ जाता है। आशय यह है कि वाहक और बैल दोनो ही परम दु खी होते है ॥४॥

जब वाहक उन दुष्ट बैलो को मारता है तो उनमे से कोई तो जमीन पर एक ओर गिर पडता है, कोई धम्म से बैठ जाता है, कोई लम्बा पसर कर सो जाता है, कोई उछल-कूद मचाता है, तो कोई धूर्त्त बैल चढती उम्र की किसी गौ के पीछे भागने लगता है। इस प्रकार दुष्ट बैल अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हुए वाहक को भी अत्यन्त दु खी करते हैं ॥५॥

कोई बैल कपट करके पृथ्वी पर सिर पटककर निढाल होकर गिर पडता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे को भागने लगता है, कोई छल से अपने शरीर को मृतक के लक्षणो से लक्षित करके निश्चेष्ट होकर पड जाता है, और अवसर पाकर जोर से भाग खडा होता है ॥६॥

दुष्ट जाति का बैल रास को तोड डालता है, कोई कोई बैल तो सागडी (गाडीवान) के काबू मे नही आता, वह जुए को भी तोड फैकता है और वह उद्धत बैल सू सू करके वाहन और स्वामी दोनो को छोडछाड कर भाग जाता है ॥७॥

जैसे दुष्ट बैल शकटादि मे जोतने पर कार्य साधक नही होते, अर्थात् वे अभीष्ट स्थान पर नही पहुँचा सकते, ठीक उसी प्रकार धर्मयान मे नियोजित किये हुए कुशिष्य सयम भार का भली भाति वहन नही कर पाते, न ही स्व-पर को मुक्तिनगर पहुचा सकते हैं, क्योकि वे धैर्यशील नही होने से धर्मानुष्ठान मे दृढ नही रह सकते। वे अपने गुरु आदि को भी खेदित करने मे कारण बनते हैं ॥८॥

प्रतिकूल कुशिष्यो के कारण गार्ग्याचार्य चिन्तित—

मूल—इड्ढी-गारविए एगे, एगेऽत्थ रस-गारवे।
साया-गारविए एगे, एगे सुचिर-कोहणे ॥९॥

भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाण-भीरुए ।
थद्धे एगेऽणुसासम्मी, हेऊहिं कारणेहि य ॥१०॥
सोवि अतर-भासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई ।
आयरियाण तु वयण, पडिकूलेइ ऽभिक्खण ॥११॥
न सा मम वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई ।
निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ ॥१२॥
पेसिया पलिउचंति, ते परियंति समतओ ।
रायवेट्ठि च मन्नता, करेंति भिउडिं मुहे ॥१३॥
वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया ।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥१४॥
अह सारही विचितेइ, खलुकेहिं समागओ ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

छाया—ऋद्धि-गौरविक एक एकोत्र रस-गौरव ।
सात-गौरविक एक, एक सुचिर-क्रोधन ॥९॥
भिक्षालस्यिक एक, एकोऽवमान-भीरुक स्तब्ध ।
एक च अनुशास्ति, हेतुभि कारणैश्च ॥१०॥
सोप्यन्तर-भाषावान् दोषमेव प्रकरोति ।
आचार्याणा तद् वचन प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥११॥
न सा मा विजानाति नापि सा मह्य दास्यति ।
निर्गता भविष्यति मन्ये साधुरन्योऽत्र व्रजतु ॥१२॥
प्रेषिता परिकुचन्ति ते परियन्ति समन्तत ।
राज-वेष्टिमिव मन्यमाना कुर्वन्ति भृकुटि मुखे ॥१३॥
वाचिता सगृहीताश्चैव भक्त-पानेन च पोषिता ।
जात-पक्षा यथा हसा प्रक्रामन्ति दिशो दिशम् ॥१४॥
अथ सारथिर्विचिन्तयति खलुंकै समागत ।
किं मम दुष्ट-शिष्यै आत्मा मेऽवसीदति ॥१५॥

पद्यानुवाद—करे ऋद्धि-गौरव कोई, रस-गौरव कोई मन धरता ।
साता का कोई मान करे, चिर कोई कोप कर क्षुब्ध होता ॥९॥
एक करे भिक्षा-प्रमाद, अपमान-भीरु कोई स्तब्ध रहे ।
हेतु और कोई कारण से, अनुशासित होकर मार्ग वहे ॥१०॥
अनुशासित अन्तर मे बोले, दुर्मेधा अतिशय दोष धरे ।
आचार्य-वचन प्रतिकूल करे, दे युक्ति वचन का काट करे ...

'नही जानती वह मुझको', 'मेरे को ना कुछ भी देगी।'
'कोई भी अन्य वहाँ जाए', वह निकल गई बाहर होगी ॥१२॥
भेजे किसी कार्य पर वे, छल कर बोले, ना काम करें।
चहुँ ओर फिरें, गुरु-आज्ञा को, बेगार समझ मुख भृकुटि धरे ॥१३॥
दीक्षा शिक्षा दे शास्त्र पढाया, भक्त-पान से पुष्ट किये।
पंख प्राप्त कर हस-पोत, दश दिश जाते, त्यो शिष्य गये ॥१४॥
सारथि-सम सोचे गणी मन मे, खलुको का सग मिला मुझको।
'इनसे मिलता क्या लाभ मुझे?', होता है दुख अन्तर-मन को ॥१५॥

अन्वयार्थ—(गार्ग्याचार्य मन ही मन)—एगे—(मेरा) कोई शिष्य, इड्ढि-गारविए—ऋद्धि-ऐश्वर्य के गौरव (अहकार) से युक्त है, एगे—(इनमे से) कोई एक, अत्थ—यहाँ, रस-गारवे—रसास्वाद के गर्व मे मग्न है, एगे—(तो) कोई, साया-गारवे—सुख-साता का गौरव करता है, एगे—(तथा) कोई, सुचिर-कोहणे—चिरकाल तक क्रोध रखने वाला है ॥९॥

एगे—कोई, भिक्खालसिए—भिक्षाचरी करने मे आलसी है, एगे—(तो) कोई, ओमाणभीरुए—अपमान से भयभीत होने वाला है, (तथा कोई) थद्धे—स्तब्ध=अहकारी है। एग च—और किसी शिष्य को मैं, हेऊहिं—हेतुओ, य—और, कारणेहिं—कारणो से, अणुसासम्मी—अनुशासित करने मे शिक्षा देता हूँ, (फिर भी वह समझता नही।)॥१०॥

सो वि—वह कुशिष्य (शिक्षा देने पर) भी, अन्तर भासिल्लो—बीच मे बोलने लगता है। (आचार्य के वचनो मे) दोसमेव—दोष ही, पकुव्वई—निकालता रहता है। तु—इतना ही नही, आयरियाण—आचार्यो के, वयण—वचन के, अभिक्खण—बार-बार, पडिकूलेइ—प्रतिकूल आचरण करता है ॥११॥

सा—वह, मम—मुझे, न—नही, वियाणाइ—जानती, न वि—और न, सा—वह, मज्झ—मुझे (अमुक वस्तु) दाहिई—देगी ही। मन्ने—मैं समझता हूँ, (वह), निग्गया—बाहर निकल गई, होहिई—होगी। साहू—अच्छा है, अत्थ—(इसके लिए) वहाँ, अन्नो—दूसरा कोई साधु, वच्चउ—जाए?॥१२॥

पेसिया—(किसी कार्य के लिए) भेजे जाने पर, ते—वे कुशिष्य, पलिउचति—अपलाप करते हैं, (बिना कार्य किये ही) समतओ—चारो ओर (यो ही) परियति—भटकते रहते है, रायवेट्ठि व—(गुरु की आज्ञा को) राजा की बेगार, मन्नता—मानते हुए, (वे क्रोध से) मुहे—मुख पर, भिउडि—भृकुटि, करति—चढा लेते हैं ॥१३॥

(आचार्य सोचते है कि) वाइया—मैंने इन्हे वाचना दी = पढाया, सगहिया—शिक्षा-दीक्षा देकर अपने पास रखा, चेव—और, भत्तपाणेण—आहार-पानी से, पोसिया—(इनका) पोषण किया, (किन्तु अब ये) जायपक्खा—पख आने पर, हसा—हस, जहा—जैसे, दिसोदिसि—दसो दिशाओ मे (मनमाने) पक्कमंति—उड जाते है, (वैसे ही ये कुशिष्य भी स्वेच्छाचारी बनकर घूमते है) ॥१४॥

अह - अब, सारही—सारथि के समान धर्मसारथि आचार्य, विचितेइ—(खिन्न होकर) विचार करते है—खलुकेहि—दुष्ट बैलो के समान अविनीत शिष्यो से, समागओ—युक्त होने पर भी, मज्झ—मुझे इन कुट्ठसीसेहि—दुष्ट शिष्यो से कि—क्या लाभ ? (उलटे इनसे), मे अप्पा—मेरी आत्मा, अवसीयई—अवसाद = खेद ही पाती है ॥१५॥

विशेषार्थ—गाथा ९ से लेकर १५ तक अपने शिष्यो की धृष्टता एव अविनीतता को देखकर प्रस्फुटित हुआ गार्ग्याचार्य का चिन्तन है। (मैं देख रहा हूँ कि मेरे इन शिष्यो मे से) कोई अपनी ऋद्धि पर गर्व करता रहता है, अर्थात्—इस प्रकार डीग हाँकता है कि मेरे वश मे अनेक वैभवशाली गृहस्थ हैं, जिनसे मेरे सभी मनोरथ सिद्ध हो सकते है, फिर मुझे गुरु-आज्ञा मे रहने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि। कुछ शिष्य रसो के स्वाद मे ही गर्वित हैं। वे यह कहते हैं—मैं स्वादिष्ट से स्वादिष्ट, पौष्टिक वस्तु कही से भी ला सकता हूँ, या पा लेता हूँ। कोई शिष्य सुखशील बन गए, स्वय को प्राप्त सुख-सुविधाओ के गर्व से उन्मत्त बने हुए हैं। वे इतने सुख-सुविधावादी हो गए हैं कि विहार नही करते, न हो किसी रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि साधु की सेवा करते हैं। कुछ शिष्य तो इतने क्रोधी है कि उनका क्रोध लम्बे समय तक चलता है, इस कारण वे मन-वाणी पर सयम नही रख सकते ॥९॥

कोई शिष्य तो भिक्षा लाने मे इतने आलसी है, कि वे आहार लाने गृहस्थो के घरो मे नही जाना चाहते, कुछ तो अपमान के भय से कही जाने मे सकुचाते हैं, कुछ शिष्य अहकारग्रस्त होकर अपना हठाग्रह नही छोडते, ऐसे कुशिष्यो को कौन-से हेतु और कारण से समझाकर मैं अनुशासन रखूं ? ताकि वे अपने सयममार्ग मे स्थिर रह सके ॥१०॥

ऐसे कुशिष्यो को जब गुरु शिक्षा देने लगते है, तब वे बीच मे ही अट-सट बोलने लगते हैं, आचार्य, उपाध्याय या गुरु के वचनो मे वे दोष निकालने लगते है। वास्तव मे वे आचार्य आदि गुरुजनो के कथन से बार-बार विपरीत चलते हैं ॥११॥

'नही जानती वह मुझको', 'मेरे को ना कुछ भी देगी।'
'कोई भी अन्य वहाँ जाए', वह निकल गई बाहर होगी ॥१२॥
भेजे किसी कार्य पर वे, छल कर बोलें, ना कार्य करें।
चहुँ ओर फिरे, गुरु-आज्ञा को, बेगार समक्ष मुख भृकुटि धरे ॥१३॥

दीक्षा शिक्षा दे शास्त्र पढाया, भक्त-पान से पुष्ट किये।
पंख प्राप्त कर हंस-पोत, दश दिश जाते, त्यो शिष्य गये ॥१४॥
सारथि-सम सोचे गणी मन मे, खलुको का सग मिला मुझको।
'इनसे मिलता क्या लाभ मुझे ?', होता है दुख अन्तर-मन को ॥१५॥

अन्वयार्थ—(गार्ग्याचार्य मन ही मन)—एगे—(मेरा) कोई शिष्य, इड्ढि-गारविए—ऋद्धि-ऐश्वर्य के गौरव (अहकार) से युक्त है, एगे—(इनमे से) कोई एक, अत्थ—यहाँ, रस-गारवे—रसास्वाद के गर्व मे मग्न है, एगे—(तो) कोई, साया-गारवे—सुख-साता का गौरव करता है, एगे—(तथा) कोई, सुचिर-कोहणे—चिरकाल तक क्रोध रखने वाला है ॥९॥

एगे—कोई, भिक्खालसिए—भिक्षाचरी करने मे आलसी है, एगे—(तो) कोई, ओमाणभीरुए—अपमान से भयभीत होने वाला है, (तथा कोई) थद्धे—स्तब्ध=अहकारी है। एग च—और किसी शिष्य को मैं, हेऊहि—हेतुओ, य—और, कारणेहि—कारणो से, अणुसासम्मी—अनुशासित करने मे शिक्षा देता हूँ, (फिर भी वह समझता नही।)॥१०॥

सो वि—वह कुशिष्य (शिक्षा देने पर) भी, अन्तर भासिल्लो—बीच मे बोलने लगता है। (आचार्य के वचनो मे) दोसमेव—दोष ही, पकुव्वई—निकालता रहता है। तु—इतना ही नही, आयरियाण—आचार्यो के, वयण—वचन के, अभिक्खण—बार-बार, पडिकूलेइ—प्रतिकूल आचरण करता है ॥११॥

सा—वह, मम—मुझे, न—नही, वियाणाइ—जानती, न वि—और न, सा—वह, मज्झ—मुझे (अमुक वस्तु) दाहिई—देगी ही। मन्ने—मैं समझता हूँ, (वह), निग्गया—बाहर निकल गई, होहिई—होगी। साहू—अच्छा है, अत्थ—(इसके लिए) वहाँ, अन्नो—दूसरा कोई साधु, वच्चउ—जाए ?॥१२॥

पेसिया—(किसी कार्य के लिए) भेजे जाने पर, त—वे कुशिष्य, पलिउचति—अपलाप करते हैं, (बिना कार्य किये ही) समतओ—चारो ओर (यो ही) परियति—भटकते रहते हैं, रायवेट्ठि व—(गुरु की आज्ञा को) राजा की बेगार, मन्नता—मानते हुए, (वे क्रोध से) मुहे—मुख पर, भिउडि—भृकुटि, करति—चढा लेते हैं ॥१३॥

गार्ग्याचार्य के चिन्तन का फलितार्थ यह है कि इन धृष्ट और अविनीत शिष्यो से मेरा कौन-सा इहलौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होता है ? उलटे, इन्हे प्रेरणा देने से मेरे आत्म-कृत्य मे हानि होती है । अत इन कुशिष्यो को छोडकर मुझे स्वय उद्यतविहारी हो जाना ही श्रेष्ठ है ।

गार्ग्याचार्य द्वारा कुशिष्यो का त्याग करके एकाकी विचरण—

मूल—जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा ।
गलि-गद्दहे चइत्ता णं दढ परिगिण्हइ तव ॥१६॥
मिउ-मद्दव-सपन्ने, गभीरे सुसमाहिए ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा ॥१७॥
—त्ति बेमि

छाया—यादृशा मम शिष्यास्तु तादृशा गलि-गर्दभा ।
गलि-गर्दभान् त्यक्त्वा दृढ परिगृण्हामि तप ॥१६॥
मृदुमार्दव-सम्पन्नो गम्भीर सुसमाहित ।
विहरति मही महात्मा शीलभूतेनात्मना ॥१७॥
—इति ब्रवीमि ।

पद्या०—ये मूर्ख शिष्य जैसे मेरे, हैं गलियो के रासभ जैसे ।
गलि-गर्दभ शिष्यो को तजकर, तप का पथ पकडा दृढ मन से ॥१६॥
अन्तर् बाहर मृदुता वाले, गम्भीर समाहित मन वाले ।
पृथ्वी पर विचरे गर्ग मुनि, निर्मल-आचारी तप वाले ॥१७॥

अन्वयार्थ—मम—मेरे, सीसा—शिष्य, उ—तो, जारिसा—जैसे है, तारिसा—वैसे, गलि-गद्दहा—गलि-गर्दभ (यो सोचकर गार्ग्याचार्य ने उन), गलि-गद्दहा—गलिगर्दभरूप शिष्यो को, चइत्ता ण—छोडकर, दढ तव—दृढ तपश्चरण, परिगिण्हइ—स्वीकार किया ॥१६॥

(तदनन्तर) मिउ-मद्दव-सम्पन्ने—मृदु और मार्दवगुण से सम्पन्न, गम्भीरे—गम्भीर, सुसमाहिए—सम्यक समाधि में सलग्न, सीलभूएण अप्पणा—अपने शील-भूत—चारित्रमय आत्मा से युक्त होकर वे, महप्पा—महात्मा (गार्ग्याचार्य अपने अवि-नीत शिष्यो को छोडकर), महिं—पृथ्वी पर, विहरइ—विचरण करने लगे ।

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विशेषार्थ—ढीठ गधो का यह स्वभाव होता है कि मदबुद्धि होने के कारण उन्हे बार-बार प्रेरणा देने पर भी वे प्राय चलते नही, इसी प्रकार गार्ग्याचार्य के बार-बार प्रेरणा देने पर भी उनके शिष्य सत्मार्ग पर नही

जब मैं (गार्ग्याचार्य) किसी शिष्य को आदेश देता हूँ कि अमुक घर से ग्लान या रोगी साधु के लिए आहार या औषध ले आओ, तब छूटते ही वह कहता है—"वह श्राविका मुझे जानती ही नही, इसलिए वह मुझे आहारादि कोई वस्तु देगी ही नही।'

इस पर आचार्य कहते है—'जाओ, यदि तुम्हे वह नही पहचानती होगी, तब भी साधु समझकर दे देगी,' इस पर धृष्ट शिष्य कहता है—"मैं समझता हूँ, इस समय वह घर से बाहर कही चली गई होगी। इस पर भी आपका आग्रह है तो किसी और साधु को भेज दीजिए। अन्य साधु भी इस कार्य को कर सकते हैं। फिर मुझे ही इस कार्य के लिए बार-बार क्यो कहते है ॥१२॥

अथवा किसी कार्य के लिए भेजे जाने पर वे झूठमूठ का बहाना बनाते है, वे उस कार्य को तो करते नही, सिर्फ इधर-उधर घूम कर वापस लौट आते हैं। पूछने पर गुरु से कहते है—आपने हमे इस कार्य के लिए कब कहा था ? अथवा झूठ बोल देते हैं—हम उस कार्य के लिए गए थे, पर अमुक व्यक्ति मिला ही नही, कार्य कैसे होता ? गुरु की किसी भी आज्ञा को राजा की बेगार-सी समझकर सदा उसे टालने का प्रयास करते है, अधिक कहने पर क्रोध से भौहे तान लेते है ॥१३॥

इस पर आचार्य सोचते हैं कि मैंने इन शिष्यो को पढाया-लिखाया, शिक्षा-दीक्षा देकर अपने पास रखा, परन्तु जिस प्रकार माता-पिता के द्वारा लालित-पालित हस पाखो के आ जाने पर माता-पिता के लालन-पालन की कुछ भी परवाह न करके स्वेच्छानुसार दसो दिशाओ मे उड जाते हैं, उसी प्रकार ये कुशिष्य भी मेरे उपकारो को भूलकर अब स्वेच्छाचारपूर्वक मन-माने चल रहे हैं ॥१४॥

अत जैसे उन दुष्ट बैल आदि पशुओ के सम्पर्क के कारण वाहक (सारथी) खिन्न होता है, वैसे ही धर्मरथ के सारथी आचार्य भी कुशिष्यो के समागम के कारण मन में खिन्न होकर सोचते हैं—अनेक प्रकार से हित-शिक्षा देने पर भी जब ये शिष्य सन्मार्ग पर नही आते, तो मुझे इन दुष्ट शिष्यो से क्या लाभ ? प्रत्युत, इनके ससर्ग से मेरी आत्मा मे विषाद उत्पन्न होता है। अत इनके सग का परित्याग कर मेरे लिए आत्मकल्याण करना ही उचित है ॥१५॥

गार्ग्याचार्य के चिन्तन का फलितार्थ यह है कि इन धृष्ट और अविनीत शिष्यो से मेरा कौन-सा इहलौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होता है ? उलटे, इन्हे प्रेरणा देने से मेरे आत्म-कृत्य मे हानि होती है । अत इन कुशिष्यो को छोडकर मुझे स्वय उद्यतविहारी हो जाना ही श्रेष्ठ है ।

गार्ग्याचार्य द्वारा कुशिष्यो का त्याग करके एकाकी विचरण—

मूल—जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा ।
गलि-गद्दहे चइत्ता ण दढ परिगिण्हइ तव ॥१६॥
मिउ-मद्दव-सपन्ने, गंभीरे सुसमाहिए ।
विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणा ॥१७॥
—त्ति बेमि

छाया—यादृशा मम शिष्यास्तु तादृशा गलि-गर्दभा ।
गलि-गर्दभान् त्यक्त्वा दृढ परिगृण्हामि तप ॥१६॥
मृदुमार्दव-सम्पन्नो गम्भीर सुसमाहित ।
विहरति मही महात्मा शीलभूतेनात्मना ॥१७॥
—इति ब्रवीमि ।

पद्या०—ये मूर्ख शिष्य जैसे मेरे, हैं गलियो के रासभ जैसे ।
गलि-गर्दभ शिष्यो को तजकर, तप का पथ पकडा दृढ मन से ॥१६॥
अन्तर् बाहर मृदुता वाले, गम्भीर समाहित मन वाले ।
पृथ्वी पर विचरे गर्ग मुनि, निर्मल-आचारी तप वाले ॥१७॥

अन्वयार्थ—मम—मेरे, सीसा—शिष्य, उ—तो, तारिसा—वैसे हैं, जारिसा—जैसे, गलि-गद्दहा—गलि-गर्दभ (यो सोचकर गार्ग्याचार्य ने उन), गलि-गद्दहा—गलिगर्दभरूप शिष्यो को, चइत्ता ण—छोडकर, दढ तव—दृढ तपश्चरण, परिगिण्हइ—स्वीकार किया ॥१६॥

(तदनन्तर) मिउ-मद्दव-सम्पन्ने—मृदु और मार्दवगुण से सम्पन्न, गम्भीरे—गम्भीर, सुसमाहिए—सम्यक समाधि में सलग्न, सीलभूएण अप्पणा—अपने शील-भूत—चारित्रमय आत्मा से युक्त होकर वे, महप्पा—महात्मा (गार्ग्याचार्य अपने अवि-नीत शिष्यो को छोडकर), महिं—पृथ्वी पर, विहरइ—विचरण करने लगे ।

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूं ।

विशेषार्थ—ढीठ गधो का यह स्वभाव होता है कि मदबुद्धि होने के कारण उन्हें बार-बार प्रेरणा देने पर भी वे प्राय चलते नही, इसी प्रकार गार्ग्याचार्य के बार-बार प्रेरणा देने पर भी उनके शिष्य सन्मार्ग पर नही

चलते थे, इसलिए उन्हे शास्त्रकार ने गलि-गर्दभ की उपमा दी है। अत ढीठ, अविनीत, साधना मे आलसी, निरुत्साही और प्रतिकूलाचारी शिष्यो को त्याग कर वे तप सयम के मार्ग पर दृढता के साथ चल पडे।

मिउमद्दव-सम्पन्ने—वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—बाह्य वृत्ति से भी कोमल (विनम्र) एव अन्तर् से भी मृदुता-सम्पन्न।

तात्पर्य—महात्मा गार्ग्याचार्य ने गभीर और सुसमाहित होकर चारित्रमय एकाकी विचरण इसलिए स्वीकार किया कि ढीठ गर्दभ के समान उन अविनीत शिष्यो को प्रेरणा देने और समझाने मे सारा समय व्यतीत करने की अपेक्षा इनका त्याग करके दृढतापूर्वक तप-सयम मे प्रवृत्त होना ही श्रेयस्कर है। दृढतापूर्वक तप-सयम को अपनाने वाले महान् आत्मा मे मृदुता, गम्भीरता, चित्त मे सदैव प्रसन्नता, शील-सम्पन्नता आदि गुण होने अनिवार्य हैं, वे गुण गार्ग्याचार्य मे थे।

जिन कारणो मे आत्मा मे असमाधि उत्पन्न हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति मे बाधा उपस्थित हो, धर्म-शुक्लध्यान के बदले आर्त्त-रौद्र ध्यान उत्पन्न होता हो, उन कारणो से स्वय को पृथक् रखना मुमुक्षु आत्मा का परम कर्त्तव्य है, यही अन्त प्रेरणा गार्ग्याचार्य के मन मे जागी और उन्होने शिष्यो का मोह छोडकर स्वतत्र समाधिमार्ग अपना लिया।

॥ खलुकीय सत्ताईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□

मोक्ष-मार्ग-गति : अट्ठाईसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

यह मोक्षमार्ग-गति नामक अट्ठाईसवाँ अध्ययन है।

निर्ग्रन्थ साधुवर्ग का अन्तिम साध्य मोक्ष है, मार्ग है उसे पाने का साधन और उसमे गति-प्रगति करना साधक का सम्यक् पराक्रम है।

साध्य को पाने के लिए साधनो का आलम्बन लेना अनिवार्य है। साधनो को जान लेने अथवा मान लेने मात्र से ही साध्य प्राप्ति तक पहुँचना कठिन है। उसके लिए साधक का तीव्र गति से क्रियारत होना अनिवार्य रूपेण परमावश्यक है। इसी उद्देश्य से इस अध्ययन का निरूपण किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन मे मोक्ष प्राप्ति के चार साधन बताए गए हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। तप को सम्यक्चारित्र मे अन्तर्भूत कर लेने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय मोक्षमार्ग कहलाता है। रत्नत्रयी के सुसम्पृक्त—अर्थात् सम्मिलित युगपद् प्रयास से ही साधक को अपने चरम-परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए यहा प्रथम साधन सम्यग्ज्ञान को बता कर उस के भेद तथा ज्ञेय द्रव्य-गुण-पर्याय एव धर्मास्तिकायादि षट् द्रव्यो का गाथा १ से १४ तक प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान के बिना कोरी क्रिया अन्धी है, वह साध्य को प्राप्त नही करा सकती।

मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा साधन है—दर्शन=सम्यक्त्व। नौ तत्त्वो पर पूर्ण श्रद्धा करना उसका स्वरूप है, तथा उसकी प्राप्ति मे १० प्रकार की रुचियाँ सहायक हैं, जिन्हें व्यवहार सम्यक्त्व के परिप्रेक्ष्य मे शास्त्रकार ने गाथा १५ से ३१ तक मे बताया है।

तत्पश्चात् दो गाथाओ मे चारित्र के सामायिकादि ५ भेद तथा यत्किंचित् स्वरूप बताया है।

चतुर्थ साधन तप है, जिसे एक ही गाथा मे भेद-प्रभेद सहित बताया गया है।

तदनन्तर दर्शन की प्राथमिकता और विशेषता दो गाथाओ मे बतायी है। सम्यग्दर्शन के बिना न तो ज्ञान ही सम्यक् होगा और न चारित्र ही। भावचारित्र के प्राप्त हुए बिना कर्मों से मोक्ष नही हो सकता, और कर्म-मुक्ति हुए बिना निर्वाण प्राप्ति असम्भव है। अर्थात्—कर्म से सर्वथा मुक्त हुए बिना आत्मगुणो का परिपूर्ण विकास नही हो सकता। क्योकि आत्म-गुणो के परिपूर्ण विकास का नाम ही मोक्ष है।

अन्तिम दो गाथाओ मे चारो साधनो की उपयोगिता और मोक्ष-प्राप्ति मे सहायकता बताई गई है।

□

मोक्ख-मग्ग-गई : अट्ठावीसइमं अज्झयणं

[मोक्ष-मार्ग-गति अट्ठाईसवां अध्ययन]

मोक्ष-मार्ग : स्वरूप और सुपरिणाम—

मूल—मोक्खमग्ग-गइं तच्चं, सुणेह जिण-भासियं ।
चउ-कारण-संजुत्तं, नाण-दंसण-लक्खणं ॥१॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥२॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥३॥

पद्यानु०—जिन-भाषित मोक्ष मार्ग-गति को, जो तथ्यरूप है सुन लेना ।
चार कारणों से संयुत, सद्‌ज्ञान-दर्श-लक्षण धरना ॥१॥
श्रद्धा ज्ञान चारित्र और, चौथा कारण है तप जानो ।
यह मार्ग बताया जिनवर ने, निर्दोष ज्ञान उनका मानो ॥२॥
ज्ञान और श्रद्धा संयम, चौथा तप कारण दिखलाया ।
इस पथ पर चलके जीव सुगति, पाते जिनवर ने बतलाया ॥३॥

अन्वयार्थ—जिण-भासियं—जिन-भाषित, चउ-कारण-संजुत्तं—चार कारणों से युक्त, नाण-दंसण-लक्खणं—ज्ञान और दर्शन के लक्षणवाली, तच्चं—तथ्यरूप—यथार्थ, मोक्ख-मग्ग-गइं—मोक्ष-मार्ग की गति को, सुणेह—सुनो ॥१॥

नाणं—ज्ञान, च—और, दंसणं—दर्शन, चेव—इसी प्रकार, चरित्तं च—चारित्र, तहा—तथा, तवो—तप, एस—यह, मग्गुत्ति—(चारों मिलकर मोक्ष का) मार्ग है, ऐसा, वरदंसिहिं—केवलज्ञानी केवलदर्शी-सर्वज्ञ, जिणेहिं—जिनेन्द्र देवों ने, पन्नत्तो—बताया है ॥२॥

नाणं—ज्ञान, च—और, दंसणं—दर्शन, चेव—इसी प्रकार, चरित्तं च—चारित्र, तहा—तथा, तवो—तप, एयं—(कारण चतुष्टय युक्त) इस, मग्गं—मोक्ष-

मार्ग को, अणुपत्ता—प्राप्त करने वाले, जीवा—जीव, सोग्गइ—सिद्धिगति नामक सुगति को, गच्छंति—प्राप्त करते है ॥३॥

विशेषार्थ—राग-द्वेष-विजेता जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप चार कारणो—साधनो से युक्त तथा ज्ञान-दर्शनात्मक लक्षण वाली, सत्य मोक्ष-मार्ग की गति=प्राप्ति का मुझसे सुनो ॥१॥

मोक्ख-मग्ग-गइ स्वरूप—अष्टविध कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त होना—मोक्ष है, उसका मार्ग जिनोक्त सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप है, उक्त मोक्षमार्ग मे शुद्ध गति=प्राप्ति या सिद्धि—मोक्षमार्गगति है।

एक शका—समाधान—मोक्षमार्ग यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र और तप इन चारो से युक्त कहा है, फिर शास्त्रकार ने उसे ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला क्यो कहा ? बृहद्वृत्तिकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि इन दोनो को मुक्ति के मूल कारण बताने हेतु यहाँ ऐसा निर्देश किया है।[1]

जिसके द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विशेष बोध हो, उसे ज्ञान कहते हैं तथा शुद्ध श्रद्धा को (सम्यग्) दर्शन कहते है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो मति आदि ज्ञान प्रकट—व्यक्त होते हैं, वह ज्ञान है और दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जो शुद्ध श्रद्धा होती है, वह (सम्यग्) दर्शन है। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयो-पशम से जो सामायिक आदि चारित्र की उपलब्धि होती है, वह चारित्र है तथा पुरातन कर्मो की निर्जरा—क्षय करने हेतु द्वादश प्रकार का तप प्ररूपित किया गया है, वह तप है। केवलज्ञानी-केवलदर्शी (प्रत्यक्ष सत्य-द्रष्टा) जिनेश्वर देवो ने समन्वित ज्ञानादि चार को मोक्षमार्ग अथवा—मोक्ष प्राप्ति का प्रधान साधन—बताया है।[2]

मोक्षमार्ग—यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन को ही मोक्षमार्ग माना है तथा तप को चारित्र का ही एक अग माना है। तथापि यहाँ जो तप को पृथक स्थान दिया गया है, उसका कारण यह है कि तप कर्मक्षय का विशिष्ट साधन है। तपस्या आत्मशुद्धि का मुख्य साधन है, क्योंकि बन्ध और उसके हेतु के अभाव का

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र ५५६,

२ उत्तरा (श्री आत्मारामजी) भाग ३ पृ ६२

तथा निर्जरा (पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय) का प्रमुख साधक कारण तप है, वही आत्मा को मोक्ष के निकट ले जाता है।[1]

यद्यपि यहाँ ज्ञानादि के पूर्व 'सम्यक्' विशेषण नहीं लगाया गया है, किन्तु 'तच्च' और 'जिनभासिय' ये दो शब्द ऐसे हैं, जो दर्शन-ज्ञान आदि की सम्यक्ता के ही सूचक हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि ही मोक्ष के कारण हैं, मिथ्याज्ञानादि नहीं।

ज्ञानादि साधन-चतुष्टय रूप मोक्षमार्ग की सम्यक् रूप से जिन्होंने साधना-आराधना की है, वे अवश्य ही सुगति=सिद्धिगति को प्राप्त करते हैं ॥३॥

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान प्रकार और विशेषता —

मूल—तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥
एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहिं देसियं ॥५॥

पद्यानु०—मार्ग-चतुष्टय में पहला है, ज्ञान पंचविध बतलाया ।
श्रुत आभिनिबोधिक अवधि और, मन-पर्यव, केवल मनभाया ॥४॥
सब द्रव्य और गुण पर्यायें, ज्ञातव्य जगत् में तीन सही ।
इन सबको जाने जिस गुण से, है ज्ञान पंचविध पूर्ण वही ॥५॥

अन्वयार्थ—तत्थ—उनमें, नाणं—ज्ञान, पंचविहं—पांच प्रकार का है। सुयं—श्रुतज्ञान, आभिणिबोहियं—आभिनिबोधिक-ज्ञान, तु—और, तइयं—तीसरा, ओहिनाणं—अवधिज्ञान, च—तथा, मणनाणं—मनो (मन पर्यव) ज्ञान (एवं) केवलं—केवलज्ञान ॥४॥

नाणीहिं—ज्ञानी पुरुषों ने, देसियं—निर्देश किया है कि, एयं—यह (पूर्वोक्त), पंचविहं नाणं—पांच प्रकार का ज्ञान, दव्वाण—द्रव्यों का, य—और, गुणाण—गुणों का, य—तथा, सव्वेसिं च पज्जवाणं—समस्त पर्यायों का, नाणं—ज्ञाता=जानने वाला है ॥५॥

---

१ (क) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।—तत्त्वार्थ सूत्र अ. १/१
(ख) इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव कर्मक्षपण प्रत्यसाधारण-त्वमुपदर्शयितुम् । तथा च वक्ष्यति—'तवसा परिसुज्झइ ।'
(ग) बन्ध-हेत्वभाव-निर्जराभ्याम् ।—तत्त्वार्थ १०/२

मार्ग को, अणुपत्ता—प्राप्त करने वाले, जीवा—जीव, सोग्गइ—सिद्धिगति नामक सुगति को, गच्छंति—प्राप्त करते है ॥३॥

विशेषार्थ—राग-द्वेष-विजेता जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप चार कारणो=साधनो से युक्त तथा ज्ञान-दर्शनात्मक लक्षण वाली, सत्य मोक्ष-मार्ग की गति=प्राप्ति का मुझसे सुनो ॥१॥

मोक्ख-मग्ग-गइ स्वरूप—अष्टविध कर्मो के बन्धन से सर्वथा मुक्त होना—मोक्ष है, उसका मार्ग जिनोक्त सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप है, उक्त मोक्षमार्ग मे शुद्ध गति=प्राप्ति या सिद्धि—मोक्षमार्गगति है।

एक शका—समाधान—मोक्षमार्ग यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र और तप इन चारो से युक्त कहा है, फिर शास्त्रकार ने उसे ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला क्यो कहा ? बृहद्वृत्तिकार ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि इन दोनो को मुक्ति के मूल कारण बताने हेतु यहाँ ऐसा निर्देश किया है।[1]

जिसके द्वारा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विशेष बोध हो, उसे ज्ञान कहते है तथा शुद्ध श्रद्धा को (सम्यग्) दर्शन कहते है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो मति आदि ज्ञान प्रकट—व्यक्त होते हैं, वह ज्ञान है और दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जो शुद्ध श्रद्धा होती है, वह (सम्यग्) दर्शन है। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जो सामायिक आदि चारित्र की उपलब्धि होती है, वह चारित्र है तथा पुरातन कर्मो की निर्जरा—क्षय करने हेतु द्वादश प्रकार का तप प्ररूपित किया गया है, वह तप है। केवलज्ञानी-केवलदर्शी (प्रत्यक्ष सत्य-द्रष्टा) जिनेश्वर देवो ने समन्वित ज्ञानादि चार को मोक्षमार्ग अथवा=मोक्ष प्राप्ति का प्रधान साधन—बताया है।[2]

मोक्षमार्ग—यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन को ही मोक्षमार्ग माना है तथा तप को चारित्र का ही एक अग माना है। तथापि यहाँ जो तप को पृथक स्थान दिया गया है, उसका कारण यह है कि तप कर्मक्षय का विशिष्ट साधन है। तपस्या आत्मशुद्धि का मुख्य साधन है, क्योंकि बन्ध और उसके हेतु के अभाव का

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र ५५६,

२ उत्तरा (श्री आत्मारामजी) भाग ३ पृ ६२

तथा निर्जरा (पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय) का प्रमुख साधक कारण तप है, वही आत्मा को मोक्ष के निकट ले जाता है।[1]

यद्यपि यहाँ ज्ञानादि के पूर्व 'सम्यक्' विशेषण नहीं लगाया गया है, किन्तु 'तच्च' और 'जिनभासिय' ये दो शब्द ऐसे है, जो दर्शन-ज्ञान आदि की सम्यक्ता के ही सूचक हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञानादि ही मोक्ष के कारण हैं, मिथ्याज्ञानादि नहीं।

ज्ञानादि साधन-चतुष्टय रूप मोक्षमार्ग की सम्यक् रूप से जिन्होंने साधना-आराधना की है, वे अवश्य ही सुगति=सिद्धिगति को प्राप्त करते हैं ॥३॥

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान . प्रकार और विशेषता —

मूल—तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥
एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाण च सव्वेसिं, नाणं नाणीहिं देसियं ॥५॥

पद्यानु०—मार्ग-चतुष्टय में पहला है, ज्ञान पंचविध बतलाया।
श्रुत आभिनिबोधिक अवधि और, मन-पर्यव, केवल मनभाया ॥४॥
सब द्रव्य और गुण पर्यायें, ज्ञातव्य जगत् में तीन सही।
इन सबको जाने जिस गुण से, है ज्ञान पंचविध पूर्ण वही ॥५॥

अन्वयार्थ—तत्थ—उनमें, नाणं—ज्ञान, पंचविहं—पांच प्रकार का है। सुयं—श्रुतज्ञान, आभिणिबोहियं—आभिनिबोधिक-ज्ञान, तु—और, तइयं—तीसरा, ओहिनाणं—अवधिज्ञान, च—तथा, मणनाणं—मनो (मनःपर्यव) ज्ञान (एवं) केवलं—केवलज्ञान ॥४॥

नाणीहिं—ज्ञानी पुरुषों ने, देसियं—निर्देश किया है कि, एयं—यह (पूर्वोक्त), पंचविहं नाणं—पांच प्रकार का ज्ञान, दव्वाण—द्रव्यों का, य—और, गुणाण—गुणों का, य—तथा, सव्वेसिं च पज्जवाणं—समस्त पर्यायों का, नाणं—ज्ञाता=जानने वाला है ॥५॥

---

1 (क) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थ सूत्र अ. १/१
(ख) इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव कर्मक्षपणं प्रत्यसाधारण-त्वमुपदर्शयितुम्। तथा च वक्ष्यति—'तवसा परिसुज्झइ।'
(ग) बन्ध-हेत्वभाव-निर्जराभ्याम्।—तत्त्वार्थ १०/२

विशेषार्थ—पूर्वोक्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो मे प्रथम सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है, यथा—श्रुत, आभिनिबोधिक, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान एव केवलज्ञान ॥४॥

शका-समाधान—यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र एव जैनागमो के अनुसार अभिनिबोधिक ज्ञान का प्रथम उल्लेख करना चाहिए था, किन्तु यहाँ पहले श्रुतज्ञान का उल्लेख किया है, ऐसा क्यो ? इसका समाधान बृहद्वृत्तिकार यो करते हैं कि शेष सभी ज्ञानो के स्वरूप का ज्ञान प्राय श्रुतज्ञान से ही सम्भव है इसलिए श्रुतज्ञान की मुख्यता बताने हेतु इसे प्रथम कहा है। लब्धि की अपेक्षा तो मति और श्रुत दोनो एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, दोनो अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए इनमे पहले-पीछे का कोई प्रश्न ही नही उठता ।[1]

आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायवाचक—यद्यपि जैनागमो मे तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि मे मतिज्ञान शब्द अधिक प्रचलित है, तथापि इसके लिए 'आभिनिबोधिक' आदि अनेक नामो का भी प्रयोग किया गया है। नन्दीसूत्र मे ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, मति, स्मृति, सज्ञा, प्रज्ञा आदि को भी मतिज्ञान के पर्यायवाची माने हैं ।[2]

ज्ञानियो—सर्वज्ञ तीर्थंकरो ने जीवादि द्रव्यो का, रूप-रस आदि गुणो का एव एक ही पदार्थ के नूतनत्व पुरातनत्व आदि अनुक्रम से होने वाले सर्व पर्यायो (परिवर्तनो या अवस्थाओ) का ज्ञायक पूर्वोक्त पचविध ज्ञान को बताया है ॥५॥

पचविधज्ञान की द्रव्य-गुण-पर्यायज्ञता कैसे ?—प्रस्तुत पचम गाथा मे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप ज्ञेय तत्त्व मे ज्ञान की उपयोगिता का दिग्दर्शन कराया गया है। यहाँ केवलज्ञान की अपेक्षा से पचविध ज्ञान को सर्वद्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञाता बताया गया है, वास्तव मे केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान तो नियत पर्यायो को ही जान सकते हैं, सर्व पर्यायो को नही ।

पचविध ज्ञान का लक्षण—शास्त्रादि के श्रवण, पठन आदि से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है, सम्मुख उपस्थित हुए पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला आभिनिबोधिक या मतिज्ञान है। ये दोनो ज्ञान परोक्ष हैं, इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। नीचे-नीचे विशेष गति करने वाला, रूपी द्रव्यो को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अमुक मर्यादा मे जाने वाला ज्ञान—अवधिज्ञान है। मनोद्रव्यवर्गणा के पर्यायो को जिससे जाना जाता

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५७, (ख) मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलानि ज्ञानम् । —तत्त्वार्थ अ १/९ ।

२ (क) नदीसुत्त सु २९ (ख) मति स्मृति संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।

है उसे मन पर्यायज्ञान कहते हैं। मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना लोक के सभी द्रव्य-गुण-पर्यायों का एव अलोकाकाश का करतलगत, आमलक वत्, अथवा मुकुरगत् बिम्बवत्, युगपत् साक्षात्कार करा देने वाला लोकालोकप्रकाशी ज्ञान केवलज्ञान है। वैसे तो ज्ञान एक ही है परन्तु ज्ञान के ये पाँचो भेद क्षयोपशमभाव की विलक्षणता—तारतम्यता तथा अन्ततोगत्वा पूर्णता की अपेक्षा से माने गए है।

द्रव्य, गुण और पर्याय लक्षण और प्रकार—

मूल—गुणाणमासओ दव्व, एग-दव्वस्सिया गुणा।
लक्खण पज्जवाण तु उभओ अस्सिया भवे ॥६॥

धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥७॥

धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जंतवो ॥८॥

गइ-लक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाण-लक्खणो।
भायण सव्वदव्वाणं, नह ओगाह-लक्खणं ॥९॥

वत्तणा-लक्खणो कालो, जीवो उवओग-लक्खणो।
नाणेण दंसणेण च, सुहेण य दुहेण य ॥१०॥

नाणं च दंसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

सद्द्धयार-उज्जोओ, पभा-छायाऽऽतवो इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खणं ॥१२॥

एगत्त च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाण तु लक्खणं ॥१३॥

पद्यानुवाद—द्रव्य गुणो का है आश्रय, द्रव्याश्रित विध-विध गुण होते।
जो द्रव्य और गुण के आश्रित, पर्यायरूप वे कहलाते ॥६॥

धर्म, अधर्म, नभ, काल और पुद्गल, चेतन को द्रव्य कहा।
वरदर्शी जिनवर बतलाते, षड्द्रव्य-रूप ही लोक यहा ॥७॥

धर्म-अधर्म-आकाश-द्रव्य, ये एक-एक ही बतलाये।
हैं जीव, काल, पुद्गल तीनों, ये द्रव्य अनन्त जगत् छाये ॥८॥

गतिलक्षण वाला धर्म कहा, स्थिति-लक्षण अधर्म है बतलाया।
है सब द्रव्यो का भाजन नभ, अवकाश-दान गुण कहलाया ॥९॥
वर्त्तना काल का लक्षण है, उपयोग जीव का है लक्षण।
सुख-दु ख ज्ञान-दर्शन-गुण से, जीवत्व भाव का है रक्षण ॥१०॥
है दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपस्या, और शक्ति-उपयोग जहा।
चैतन्य-गुणो का वास देख, लक्षण से मानो जीव यहाँ ॥११॥
शब्द-तिमिर-उद्योत-प्रभा, छाया आतप हैं पुद्गलरूप।
स्पर्श गध रस और वर्ण, लक्षण से पुद्गल का है निजरूप ॥१२॥
एकत्व जुदाई या सख्या, आकार-रूप हैं पुद्गल के।
मिलना वियुक्त होना जानो, लक्षण पुद्गल-पर्यायो के ॥१३॥

अन्वयार्थ—गुणाण—गुणो का, आसओ—आश्रय, दव्व—द्रव्य (कहलाता) हैं, एग-दव्वस्सिया—एक द्रव्य के आश्रित (जो वर्ण-गन्ध-रसादि या ज्ञानादि धर्म हैं। वे) गुणा—गुण हैं। तु—तथा, उभओ अस्सिया—द्रव्य और गुण दोनो के आश्रित होकर रहना, पज्जवाण—पर्यायो का, लक्खण—लक्षण, भवे—होता है ॥६॥

परदसिहि—प्रत्यक्षदर्शी, जिणेहि—जिनवरो ने, धम्मो—धर्मास्तिकाय, अधम्मो—अधर्मास्तिकाय, आगास—आकाशास्तिकाय, कालो—काल, पुग्गल—पुद्गलास्तिकाय, जतवो—जीवास्तिकाय, (इस प्रकार), एस—यह षड्द्रव्यात्मक, लोगोत्ति—लोक, पन्नत्तो—कहा है ॥७॥

धम्मो—धर्म, अधम्मो—अधर्म (और), आगासं—आकाश, (ये तीनों) इक्किक्क दव्व—एक-एक द्रव्य, आहिय—कहा है, (तथा) कालो—काल, पुग्गल जतवो—और जीव, (ये तीनो) अणताणि दव्वाणि—द्रव्य (सख्या मे) अनन्त हैं ॥८॥

गइ-लक्खणो धम्मो—गति (करने मे सहायता देना) धर्म (धर्मास्तिकाय) का लक्षण है, ठाण-लक्खणो अहम्मो—स्थिति (करने मे सहायक होना) अधर्मास्तिकाय का लक्षण है, सव्वदव्वाण—सब द्रव्यो का, भायण—भाजन (आधार), ओगाहलक्खण—अवगाह (अवकाश देने के) लक्षण वाला, नह—आकाश द्रव्य है ॥९॥

कालो वत्तणा-लक्खणो—काल वर्त्तना लक्षण वाला है, जीवो—जीव, उव-ओग-लक्खणो—उपयोग लक्षण वाला है, (जो) नाणेण—ज्ञान से, दसणेण—दर्शन से च—और, सुहेण—सुख से, य—और, दुहेण—दुःख से (जाना जाता है।) ॥१०॥

नाणं—ज्ञान, च—और, दसण चेव—दर्शन, चरित्त च—एव चारित्र, तहा—

तथा, तवो—तप, वीरियं—वीर्य, य—और, उवओगो—उपयोग, एय=यह, जीवस्स—जीव का, लक्खणं—लक्षण है ॥११॥

सद्दन्धयार-उज्जोओ—शब्द, अन्धकार, उद्योत (प्रकाश), पभा—प्रभा, छाया—छाया, वा—अथवा, आतवो इ—आतप (धूप) आदि, तु—तथा, वण्ण-रस-गंध-फासा—वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, ये सब, पुग्गलाणं—पुद्गलों के, लक्खणं—लक्षण हैं ॥१२॥

एगत्तं—एकत्व=एकत्रित होना, च—और, पुहत्तं—पृथक होना, च—तथा, संखा—संख्या, च—और, संठाणमेव—संस्थान=आकार, (एव) संजोगा—संयोग, य—और, विभागा—विभाग, पज्जवाणं—पर्यायों के, लक्खणं—लक्षण हैं ॥१३॥

विशेषार्थ—जो रूप आदि गुणों (तथा उसकी काला नीला आदि विभिन्न पर्यायों) का आधार है, वह द्रव्य है। जैनदार्शनिकों ने सहभावी धर्मों को गुण और क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहा है। जैसे—आत्मा एक द्रव्य है, उसके ज्ञान आदि गुण हैं, तथा कर्मवशात् उसकी मनुष्य-तिर्यंच आदि जो विभिन्न अवस्थाएं है, वे उसके पर्याय कहलाते हैं। गुण वे कहलाते हैं जो किसी एक द्रव्य के आश्रित हों (तथा स्वयं निर्गुण हों, अर्थात् जिनमें दूसरे गुणों का सद्भाव न हो)। इसी तरह पर्याय वह कहलाते हैं—जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहता हो। तात्पर्य यह है कि गुण वस्तुत द्रव्य मे कथंचित् तादात्म्य-सम्बन्ध से रहते हैं, जबकि पर्याय द्रव्य और गुण दोनों मे रहते हैं। जैसे—आत्मा द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है, मनुष्यत्व आदि आत्म द्रव्य के पर्याय हैं, तथा मतिज्ञानादि ज्ञानगुण के पर्याय हैं[1] ॥६॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीव ये षट्द्रव्य हैं। ये छह द्रव्य हैं, छह ही रहेंगे। इस संख्या में न कभी कोई न्यूनाधिक्य हुआ है और न कभी होगा ही। इस संख्या-नियत मर्यादा के कारण ही इन्हे नित्य और अवस्थित कहा है। इन छह द्रव्यों के समूह को ही 'लोक' कहा है। अर्थात्

---

१ तुलना करें—(क) गुण पर्यायवद्द्रव्यम्। —तत्त्वार्थ० अ ५ सू ३८
(ख) द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा। —तत्त्वार्थ अ ५ सू ४१
(ग) तद्भाव परिणाम।—(उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम—पर्याय है।) —वही सू ४२

—जिसमे ये छह द्रव्य पाए जाएँ, उस लोकाकाश को 'लोक' और इनसे रहित शून्य आकाश-अलोकाकाश को 'अलोक' कहा गया है। लोक इन छह द्रव्यो की लीला भूमि है। इनमे जीवास्तिकाय चेतन है, शेष ५ अचेतन—जड है[1] ॥७॥

धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनो एक-एक द्रव्य हैं। ये स्वय निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल, दोनो सक्रिय है। काल, जीव और पुद्गल ये तीनो द्रव्य अनन्त–अनन्त है। पुद्गल रूपी है, शेष सब द्रव्य अरूपी हैं।[2]

यह ध्यान रहे कि अनन्त द्रव्यो के परिवर्तन मे सहकारी कारण होने से काल को 'अनन्त' कहा गया है। काल का दिन–रात, पक्ष आदि व्यवहार मनुष्यलोक के बाहर नही होता, परन्तु नये–पुराने पर्यायो के परिवर्तन मे 'अद्धाकाल' सारे विश्व मे कारणरूप से विद्यमान होता है ॥८॥

धर्मास्तिकाय—गति-सहायक द्रव्य है। जीव और परमाणु पुद्गल जो गति करते हैं, उसमे सहायक द्रव्य 'धर्म' है। भगवतीसूत्र मे बताया है कि जीवो का आगमन-गमन, बोलना-चलना, पलको का झपकाना या ऐसी ही कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ धर्मद्रव्य के सहारे सम्पन्न होती हैं।[3] यह धर्मद्रव्य न तो आत्मशुद्धि के साधनभूत धर्म के अर्थ का वाचक है, न ही कर्त्तव्य-गुण का बोध कराने वाला है, बल्कि गुणो के आश्रयभूत द्रव्य का द्योतक है।

जैन दार्शनिको ने धर्म-द्रव्य को जीवो और पुद्गलो की गति का उदासीन माध्यम माना है। वह न तो किसी गतिशील द्रव्य के साथ-साथ स्वय चलता है, न ही उन्हें ठेलकर या धक्का देकर चलाता है और न ही उन्हे चलने की प्रेरणा देता है। गति करने की शक्ति तो जीव और पुद्गल मे ही है, वे स्वय ही गति करते हैं, परन्तु जब भी गति करते हैं, धर्मद्रव्य की सहायता से ही करते हैं। धर्मद्रव्य उनमे गति करने की शक्ति की पूर्ति

---

१ तत्त्वार्थ अ ५ सू १, २, ३।
२ वही ४, ५, ६, ७ सू
३ धम्मत्थिकाएण जीवाण आगमण-गमण-भासुम्मेस-मणजोगा, वयजोगा-कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तति।—भगवती श १३, उ ४।

हलन-चलन आदि क्रिया, और (४-५) परत्व-अपरत्व पर्याय—एक की अपेक्षा से दूसरे के निकट-अनिकट का, छोटे-बड़े का पहले पीछे आदि का बोध होना।

वस्तुत समस्त द्रव्य स्व प्रतिष्ठ हैं। कोई किसी पर निर्भर नही है, सब आत्म निर्भर हैं, किन्तु उपचार से वर्तना आदि को काल का लक्षण कहा गया है। वर्तना आदि से ही काल के होने का बोध होता है। जीव और पुद्गल पर काल द्रव्य के उपकार हैं। ये दोनो चारो ओर से परिवर्तन-शीलता से वेष्ठित हैं। ये शुद्धानुभूतिगम्य है। परिवर्तित होते हुए भी 'ध्रौव्य' इनमे प्रति समय हुआ है। वह दृष्टिगोचर नही होता, किन्तु है यह असदिग्ध।[1]

उपयोग अर्थात्—ज्ञानादि व्यापार जीव का लक्षण है। ज्ञान, (विशेष-ग्राही), दर्शन (सामान्यग्राही), सुख (आनन्द रूप) और दुख (आकुलता रूप) से जीव जाना=पहचाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दुख, ये चारो लक्षण जीव पदार्थो मे ही है, अजीव पदार्थो मे नही पाये जाते। जीव को अजीव से भिन्न करने के लिए ये लक्षण ही पर्याप्त हैं ॥१०॥[2]

ग्यारहवी गाथा मे जीव का विस्तृत लक्षण दिया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण है। इन सबको हम दो भागो मे विभक्त कर सकते है—उपयोग और वीर्य। उपयोग मे ज्ञान और दर्शन का, तथा वीर्य मे चारित्र और तप का समावेश हो जाता है। ये सब जीव के असाधारण लक्षण हैं। क्योकि द्रव्यात्मा निश्चय ही ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा तथा वीर्यात्मा आदि से युक्त है। यद्यपि वीर्य (शक्ति)

---

१ (क) 'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य'।-तत्वार्थ अ ५ सू २२
(ख) तीर्थंकर जैन भौतिकी विशेषाक पृ ९८
(ग) पदार्थ की क्रियाओ के परिवर्तन से समय की जो गणना की जाती है, उस को वर्तना कहते है, यही काल का लक्षण है। जिस जिस ऋतु मे जो-जो भाव उत्पन्न होने वाले होते है, औपचारिक नय से उनका कर्ता काल द्रव्य ही माना जाता है। ऋतु विभाग से शीत-आतपादि पर्यायो (दशाओ) की उत्पत्ति का कारण भी काल द्रव्य है।
—आचार्य श्री आत्माराम जी म उत्तरा भा ३ पृ ६९

२ उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३, पृ ६९

हलन-चलन आदि क्रिया, और (४-५) परत्व-अपरत्व पर्याय—एक की अपेक्षा से दूसरे के निकट-अनिकट का, छोटे-बडे का पहले पीछे आदि का बोध होना।

वस्तुत समस्त द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ है। कोई किसी पर निर्भर नही है, सब आत्म निर्भर हैं, किन्तु उपचार से वर्तना आदि को काल का लक्षण कहा गया है। वर्तना आदि से ही काल के होने का बोध होता है। जीव और पुद्गल पर काल द्रव्य के उपकार है। ये दोनो चारो ओर से परिवर्तन-शीलता से वेष्ठित हैं। ये शुद्धानुभूतिगम्य है। परिवर्तित होते हुए भी 'ध्रौव्य' इनमे प्रति समय हुआ है। वह दृष्टिगोचर नही होता, किन्तु है यह असदिग्ध।[1]

उपयोग अर्थात्—ज्ञानादि व्यापार जीव का लक्षण है। ज्ञान, (विशेष-ग्राही), दर्शन (सामान्यग्राही), सुख (आनन्द रूप) और दु ख (आकुलता रूप) से जीव जाना=पहचाना जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, दर्शन, सुख और दु ख, ये चारो लक्षण जीव पदार्थो मे ही है, अजीव पदार्थो मे नही पाये जाते। जीव को अजीव से भिन्न करने के लिए ये लक्षण ही पर्याप्त हैं ॥१०॥[2]

ग्यारहवी गाथा मे जीव का विस्तृत लक्षण दिया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं। इन सबको हम दो भागो मे विभक्त कर सकते है—उपयोग और वीर्य। उपयोग मे ज्ञान और दर्शन का, तथा वीर्य मे चारित्र और तप का समावेश हो जाता है। ये सब जीव के असाधारण लक्षण हैं। क्योंकि द्रव्यात्मा निश्चय ही ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा तथा वीर्यात्मा आदि मे युक्त है। यद्यपि वीर्य (शक्ति)

---

१ (क) 'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य'।-तत्वार्थ अ ५ सू २२
(ख) तीर्थंकर जैन भौतिकी विशेषाक पृ ९८
(ग) पदार्थ की क्रियाओ के परिवर्तन से समय की जो गणना की जाती है, उस को वर्तना कहते है, यही काल का लक्षण है। जिस जिस ऋतु मे जो-जो भाव उत्पन्न होने वाले होते हैं, औपचारिक नय से उनका कर्ता काल द्रव्य ही माना जाता है। ऋतु विभाग से शीत-आतपादि पर्यायो (दशाओ) की उत्पत्ति का कारण भी काल द्रव्य है।
—आचार्य श्री आत्माराम जी म उत्तरा भा ३ पृ ६१

२ उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३, पृ ६१

जड पदार्थों मे भी विद्यमान है, परन्तु वह वीर्य शून्यता गुण वाला है, इस लिए वीर्य के साथ 'उपयोग' शब्द जोडा गया है, ताकि जड-पदार्थों मे यह लक्षण न जाए[1] ॥११॥

शब्द, अन्धकार, उद्योत (प्रकाश), प्रभा (कान्ति), छाया, आतप (धूप), वर्ण (रग), गन्ध, रस और स्पर्श, ये सब पुद्गल के लक्षण हैं। वर्णादि चार पुद्गल के गुण हैं और शब्दादि छह पुद्गलो के परिणाम या कार्य हैं। गुण सदा सत्ता मे रहते हैं और परिणाम या कार्य निमित्त मिलने पर प्रकट होते हैं ॥१२॥

शब्द—जैन दार्शनिको के अनुसार—एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह शब्द है अर्थात्—विद्यमान अणुओ का ध्वनिरूप परिणाम शब्द है। वह अरूपी (वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-रहित) नही है, न ही अभौतिक है, क्योकि वह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। इन्द्रियग्राह्य होने से वह मूर्त है, और पौद्गलिक है।

यद्यपि वैज्ञानिक शब्द को शक्तिरूप मानते है, किन्तु शक्ति और पुद्गल (matter) को अब वे एक सिक्के के दो पहलू मानने लगे हैं, क्योकि शब्द पकडा जा सकता है, इसलिए वह पौद्गलिक सिद्ध हो जाता है। रेडियो, माइक आदि मे शब्द पकडे जाते हैं। जैनागमो मे बताया गया है कि तीव्र प्रयत्न से निकला हुआ शब्द ३-४ समय मे लोक के अन्त तक पहुँच जाता है। वर्तमान वैज्ञानिको ने सिद्ध कर दिया है कि टेलिफोन, टेलिविजन, वायरलेस, केबिल आदि द्वारा बोले गए शब्द हजारो मील दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं।[2]

वैशेषिक और नैयायिक दर्शन ने शब्द को पुद्गल पर्याय न मानकर आकाश द्रव्य का गुण माना है, किन्तु यह बात तर्क से खण्डित हो जाती है। आकाश अमूर्तिक है, जब कि शब्द मूर्तिक है, वह छुआ-पकडा जा सकता है, आकाश मे स्पर्श आदि कुछ भी गुण नही होते। यदि शब्द को आकाश का गुण होने से अमूर्तिक माना जाए तो मूर्तिक इन्द्रिय उसे ग्रहण नही कर सकती। अमूर्तिक आकाश किसी से टकराता नही, इसी प्रकार

---

१ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ६९

२ (क) सद्दो खधप्पभावो खंध परमाणु-सग-संघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥—पचास्तिकाय गा ७९

(ख) विज्ञान अने धर्म (चद्रशेखरविजयजी) पृ ३१८

पुद्गल—पुद्गल का लक्षण है—पूरणात् गलनाच्च पुद्गला —अर्थात्—जो वस्तु दूसरी वस्तु (द्रव्य या पर्याय) से पूर्ण होती—भरती रहे, और गलती रहे—कम होती रहे,—उसे पुद्गल कहते हैं। इन छह द्रव्यो मे केवल पुद्गल रूपी होते हैं। रूपी का लक्षण है—जिसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो। पुद्गल मे पाच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस और आठ स्पर्श होते हैं। पुद्गलो की सख्या अनन्त है। वह लोकाकाश मे व्याप्त है। उसका सदैव अस्तित्व रहता है। वह वर्णादि वाला होता है। उसका ग्रहण गुण होता है। पुद्गल द्रव्य के ४ भेद होते हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ॥१२॥[1]

पर्यायों का लक्षण—तेरहवी गाथा मे पर्यायो के लक्षण बताये गए हैं। द्रव्य मे विभिन्न प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं, उन्हे पर्याय कहते हैं। जैसे द्रव्य का लक्षण है—सत् (तीनो काल मे रहना) परन्तु सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त माना जाता है। अत द्रव्य मे जो उत्पाद, व्ययरूप, धर्म उत्पन्न होते हैं, उन्हे ही पर्याय कहते है। पुद्गल द्रव्य के सत् होने पर भी परमाणुओ का एकत्र होना, पृथक् होना, सख्याबद्ध होना, या आकार-युक्त होना, अथवा सयुक्त होना और विभक्त होना—ये सब पर्याय के असाधारण धर्म है। इसीलिए शास्त्रकार ने यहाँ इन्हे पर्याय लक्षण वाला बतलाया है। एक ही पुद्गल द्रव्य मे अनेक प्रकार के एकत्व-पृथक्त्व आदि भाव क्रम पूर्वक उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इन्ही क्रमभावी धर्मो को पर्याय कहा जाता है। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य। जैसे—स्वर्णपिण्ड मे कडे का उत्पाद और कुण्डलरूप का विनाश होता है। परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर भी स्वर्ण अपने मूलरूप मे सर्वदा स्थित रहता है। मिट्टी के परमाणुओ के समूह का एकत्र होकर घडे का आकार बन जाना एकत्व है और परमाणुओ के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार सयोग-विभाग, नवीन-प्राचीन, सख्या, सस्थान आदि सब पर्याय हैं। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र मे बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद आदि को भी पुद्गलो के पर्याय होने से पुद्गल कहा गया है॥१३॥[2]

---

१ (क) विज्ञान अने धर्म, पृ २८७ (ख) आतप आदित्यादिनिमित्त उष्ण प्रकाश लक्षण।—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ५/२४

२ उत्तराध्ययन भाग ३, (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) पृ ७१

सम्यग्दर्शन

नौ तत्त्व एव सम्यक्त्व-लक्षण—

मूल—जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव ॥१४॥
तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण ।
भावेणं सद्दहतस्स, सम्मत्त तं वियाहिय ॥१५॥

पद्यानु०—जीव अजीव बन्ध आस्रव और पुण्य पाप बतलाए ।
संवर और निर्जरा पथ से, मोक्ष, तथ्य ये नव गाए ॥१४॥
यथाभूत इन भावो का, सत्यार्थ कथन है जिनवर का ।
अन्तर्मन से श्रद्धा करना, सम्यक्त्व मार्ग है शिवपुर का ॥१५॥

अन्वयार्थ—जीवा—जीव, य—और, अजीवा—अजीव, य—तथा, बंधो—बन्ध, पुण्ण—पुण्य, पाव—पाप, तहा—तथा, आसवो—आस्रव, संवरो—संवर, निज्जरा—निर्जरा (एव), मोक्खो—मोक्ष, एए—ये, तहिया—तथ्यभाव, नव—नौ, सति—हैं ॥१४॥

तु—अत', (इन) तहियाण भावाण—तथ्यरूप (तत्त्व-भूत) भावो के, सब्भावे—सद्भाव (अस्तित्व) उवएसण—उपदेश = जिनेन्द्रो या गुरुजनो के कथन पर भावेण—भाव से, सद्दहन्तस्स—जो श्रद्धा करता है, त—उसे, सम्मत्त—सम्यक्त्व, वियाहिय—कहा गया है ॥१५॥

विशेषार्थ—जीव—एकेन्द्रियादि, अजीव—धर्मास्तिकायादि, बन्ध—जीव और कर्म का सयोग, पुण्य—सातादि शुभ प्रकृतिरूप, पाप—मिथ्यात्वादि अशुभ प्रकृतिरूप, आस्रव—कर्मों के हिंसादि आगमन मार्ग, संवर—महाव्रतादि द्वारा आस्रव का निरोध, निर्जरा—भोगने से अथवा तप इत्यादि करने से बाधे हुए कर्मदलिको का एकदेश से आत्मा से पृथक होना और मोक्ष—घाति-अघाति समस्त कर्मों का समूल क्षय, ये नौ सत्य तत्त्व हैं ॥१४॥

उपयोगिता—आत्मा के हित के लिए इनमे से कुछ तत्त्व ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं और कुछ उपादेय हैं।[1] प्रस्तुत अध्ययन का नाम मोक्षमार्ग-गति है। अत मोक्ष तो साध्य है ही। अत उसको तथा उसके साधक, बाधक कारणो को जाने बिना यथार्थ गति नही हो सकती। सर्वप्रथम मुमुक्षु को अपने

---

१ (क) उत्तरा (आ आत्माराम जी म.) भाग ३ पृ ७२, (ख) तत्त्वार्थ सूत्र प सुखलाल जी) पृ ६.

पुद्गल—पुद्गल का लक्षण है—पूरणात् गलनाच्च पुद्गला —अर्थात्—जो वस्तु दूसरी वस्तु (द्रव्य या पर्याय) से पूर्ण होती—भरती रहे, और गलती रहे—कम होती रहे,—उसे पुद्गल कहते हैं। इन छह द्रव्यो मे केवल पुद्गल रूपी होते हैं। रूपी का लक्षण है—जिसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो। पुद्गल मे पाच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस और आठ स्पर्श होते हैं। पुद्गलो की सख्या अनन्त है। वह लोकाकाश मे व्याप्त है। उसका सदैव अस्तित्व रहता है। वह वर्णादि वाला होता है। उसका ग्रहण गुण होता है। पुद्गल द्रव्य के ४ भेद होते हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ॥१२॥[1]

पर्यायों का लक्षण—तेरहवी गाथा मे पर्यायो के लक्षण बताये गए हैं। द्रव्य मे विभिन्न प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं, उन्हे पर्याय कहते हैं। जैसे द्रव्य का लक्षण है—सत् (तीनो काल मे रहना) परन्तु सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त माना जाता है। अत द्रव्य मे जो उत्पाद, व्ययरूप, धर्म उत्पन्न होते है, उन्हे ही पर्याय कहते हैं। पुद्गल द्रव्य के सत् होने पर भी परमाणुओ का एकत्र होना, पृथक् होना, सख्याबद्ध होना, या आकार-युक्त होना, अथवा सयुक्त होना और विभक्त होना—ये सब पर्याय के असाधारण धर्म हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने यहाँ इन्हे पर्याय लक्षण वाला बतलाया है। एक ही पुद्गल द्रव्य मे अनेक प्रकार के एकत्व-पृथक्त्व आदि भाव क्रम पूर्वक उत्पन्न और विनष्ट होते रहते है। इन्ही क्रमभावी धर्मो को पर्याय कहा जाता है। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य। जैसे—स्वर्णपिण्ड मे कडे का उत्पाद और कुण्डलरूप का विनाश होता है। परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर भी स्वर्ण अपने मूलरूप मे सर्वदा स्थित रहता है। मिट्टी के परमाणुओ के समूह का एकत्र होकर घडे का आकार बन जाना एकत्व है और परमाणुओ के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार सयोग-विभाग, नवीन-प्राचीन, सख्या, सस्थान आदि सब पर्याय हैं। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र मे बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद आदि को भी पुद्गलो के पर्याय होने से पुद्गल कहा गया है ॥१३॥[2]

---

१ (क) विज्ञान अने धर्म, पृ २८७ (ख) आतप आदित्यादिनिमित्त उष्ण प्रकाश लक्षण ।—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ५/२४

२ उत्तराध्ययन भाग ३, (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) पृ ७१

सम्यग्दर्शन

नौ तत्व एवं सम्यक्त्व-लक्षण—

मूल—जीवाजीवा य बंधो य पुण्ण पावाऽऽसवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥१४॥
तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥१५॥

पद्यानु०—जीव अजीव बन्ध आस्रव, और पुण्य पाप बतलाए।
संवर और निर्जरा पथ से, मोक्ष, तथ्य ये नव गाए ॥१४॥
यथाभूत इन भावों का, सत्यार्थ कथन है जिनवर का।
अन्तर्मन से श्रद्धा करना, सम्यक्त्व मार्ग है शिवपुर का ॥१५॥

अन्वयार्थ—जीवा—जीव, य—और, अजीवा—अजीव, य—तथा, बंधो—बन्ध, पुण्णं—पुण्य, पावं—पाप, तहा—तथा, आसवो—आस्रव, संवरो—संवर, निज्जरा—निर्जरा (एवं), मोक्खो—मोक्ष, एए—ये, तहिया—तथ्यभाव, नव—नौ, सन्ति—हैं ॥१४॥

तु—अत:, (इन) तहियाणं भावाणं—तथ्यरूप (तत्त्व-भूत) भावों के, सब्भावे—सद्भाव (अस्तित्व) उवएसणं—उपदेश=जिनेन्द्रों या गुरुजनों के कथन पर भावेणं—भाव से, सद्दहन्तस्स—जो श्रद्धा करता है, तं—उसे, सम्मत्तं—सम्यक्त्व, वियाहियं—कहा गया है ॥१५॥

विशेषार्थ—जीव—एकेन्द्रियादि, अजीव—धर्मास्तिकायादि, बन्ध—जीव और कर्म का संयोग, पुण्य—साताादि शुभ प्रकृतिरूप, पाप—मिथ्यात्वादि अशुभ प्रकृतिरूप, आस्रव—कर्मों के हिंसादि आगमन मार्ग, संवर—महाव्रतादि द्वारा आस्रव का निरोध, निर्जरा—भोगने से अथवा तप इत्यादि करने से बांधे हुए कर्मदलिकों का एकदेश से आत्मा से पृथक होना और मोक्ष—घाति-अघाति समस्त कर्मों का समूल क्षय, ये नौ सत्य तत्त्व हैं ॥१४॥

उपयोगिता—आत्मा के हित के लिए इनमें से कुछ तत्त्व ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं और कुछ उपादेय हैं।[1] प्रस्तुत अध्ययन का नाम मोक्षमार्ग-गति है। अत: मोक्ष तो साध्य है ही। अत: उसको तथा उसके साधक, बाधक कारणों को जाने बिना यथार्थ गति नहीं हो सकती। सर्वप्रथम मुमुक्षु को अपने

---

१ (क) उत्तरा (आ आत्माराम जी म.) भाग ३ पृ ७२, (ख) तत्त्वार्थ सूत्र प. सुखलाल जी) पृ ६.

पुद्गल—पुद्गल का लक्षण है—पूरणात् गलनाच्च पुद्गलाः —अर्थात्—जो वस्तु दूसरी वस्तु (द्रव्य या पर्याय) से पूर्ण होती—भरती रहे, और गलती रहे—कम होती रहे,—उसे पुद्गल कहते हैं। इन छह द्रव्यो मे केवल पुद्गल रूपी होते हैं। रूपी का लक्षण है—जिसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो। पुद्गल मे पाच वर्ण, दो गन्ध, पाच रस और आठ स्पर्श होते हैं। पुद्गलो की सख्या अनन्त है। वह लोकाकाश मे व्याप्त है। उसका सदैव अस्तित्व रहता है। वह वर्णादि वाला होता है। उसका ग्रहण गुण होता है। पुद्गल द्रव्य के ४ भेद होते है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ॥१२॥[1]

पर्यायों का लक्षण—तेरहवी गाथा मे पर्यायो के लक्षण बताये गए हैं। द्रव्य मे विभिन्न प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं, उन्हे पर्याय कहते हैं। जैसे द्रव्य का लक्षण है—सत् (तीनो काल मे रहना) परन्तु सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त माना जाता है। अत द्रव्य मे जो उत्पाद, व्ययरूप, धर्म उत्पन्न होते हैं, उन्हे ही पर्याय कहते हैं। पुद्गल द्रव्य के सत् होने पर भी परमाणुओ का एकत्र होना, पृथक् होना, सख्याबद्ध होना, या आकार-युक्त होना, अथवा सयुक्त होना और विभक्त होना—ये सब पर्याय के असाधारण धर्म हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने यहाँ इन्हे पर्याय लक्षण वाला बतलाया है। एक ही पुद्गल द्रव्य मे अनेक प्रकार के एकत्व-पृथक्त्व आदि भाव क्रम पूर्वक उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इन्ही क्रमभावी धर्मों को पर्याय कहा जाता है। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य। जैसे—स्वर्णपिण्ड मे कडे का उत्पाद और कुण्डलरूप का विनाश होता है। परन्तु उत्पत्ति और विनाश के होने पर भी स्वर्ण अपने मूलरूप मे सर्वदा स्थित रहता है। मिट्टी के परमाणुओ के समूह का एकत्र होकर घडे का आकार बन जाना एकत्व है और परमाणुओ के समूह का बिखर जाना पृथक्त्व है। इसी प्रकार सयोग-विभाग, नवीन-प्राचीन, सख्या, सस्थान आदि सब पर्याय हैं। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र मे बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद आदि को भी पुद्गलो के पर्याय होने से पुद्गल कहा गया है ॥१३॥[2]

---

१ (क) विज्ञान अने धर्म, पृ २८७ (ख) आतप आदित्यादिनिमित्त उष्ण प्रकाश लक्षण ।—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ५/२४

२ उत्तराध्ययन भाग ३, (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) पृ ७१

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥१९॥
रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥
जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥२१॥
एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥२२॥
सो होई अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥२३॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नय-विहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥२४॥
दंसण-नाण-चरित्ते तव विणए, सच्च-समिइ-गुत्तीसु ।
जो किरिया भावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥२५॥
अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होई नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥
जो अत्थिकाय धम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

पद्या०—निसर्ग-भाव-उपदेशरुचि, आज्ञा-श्रुत-बीजरुचि वैसे ।
अभिगम विस्तार क्रिया अष्टम, संक्षेप धर्मरुचि है ऐसे ॥१६॥
उपदेश बिना जो ज्ञान करे, वह चेतन कर्म शुभाशुभ का ।
निजमति से आस्रव संवर मे, हो भाव सहज सद्दर्शन का ॥१७॥
जो द्रव्यादिक जिनदृष्ट चतुर्विध, भाव स्वयं ही मान्य करे ।
है सत्य वही प्रभु बतलाया, यो निसर्गरुचि मन भाव धरे ॥१८॥
जिनवर या छद्मस्थ किसी से, कथित भाव को जो माने ।
उपदेशजन्य उस श्रद्धा को, उपदेश-रुचि ज्ञानी माने ॥१९॥
अज्ञान मोह और राग-द्वेष, जिसका जग मे मिट जाता है ।
रखता रुचि जो उस आज्ञा मे, वह आज्ञारुचि कहलाता है ॥२०॥
जो पढकर अंग-सूत्र अथवा, श्रुत अंग-बाह्य से ज्ञान करे ।
सूत्रो से श्रद्धा है करता, वह सूत्ररुचि जग नाम धरे ॥२१॥
जो एक सूत्र-पद से नाना, वचनो मे सम्यक् भाव धरे ।
जल मे तैल-बिन्दु-सम उसको, बीजरुचि मुनिवर उचरे ॥२२॥

शुद्ध स्वरूप को जानने हेतु मोक्ष-तत्त्व का कथन किया गया। मोक्ष का अधिकारी जीव है। फिर मोक्ष के उपदेश का अनधिकारी तत्त्व—अजीव बतलाया गया। इसमे बन्ध तत्त्व से मोक्ष के विरोधी भाव (ससार मार्ग) का और आस्रव तथा पाप तत्त्व से मोक्ष-विरोधी भाव (ससार भ्रमण) के कारण का कथन किया गया है। सवर और निर्जरा ये दो तत्त्व इसमे मोक्ष के कारण बताए गए हैं। पुण्य तत्त्व को वस्तुत निर्जरा मे परम्परा से सहायक कारण होने की दृष्टि से कथचित् उपादेय एव कथचित हेय बताया गया है।

यद्यपि जीव और अजीव ये दो मौलिक तत्त्व हैं, तथापि मुमुक्षु को मोक्षमार्ग मे साधक-बाधक तत्त्वो का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए तथा मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए नौ तत्त्व विशद विवेचन के साथ कहे गए हैं। इन तथ्यो को सत्य या तत्त्व भी कहा जा सकता है।

नौ तत्त्वो के भेद-प्रभेद सक्षेप मे—जीव के १४, अजीव के ५, पुण्य के ९, पाप के १८, आस्रव के मुख्य ५, सवर के ५७, निर्जरा के १२ या २, बन्ध के मिथ्यात्वादि ५, मोक्ष का एक अथवा मुक्तात्माओ की पूर्वावस्था की अपेक्षा से १५ भेद हैं।

सम्यक्त्व का लक्षण—तत्त्वभूत जीव-अजीव आदि पदार्थों के विषय मे गुरुजनो का जो सदुपदेश है, उसे अन्त करण से मानने, उसके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा रखने तथा मोहनीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम भाव आदि से आत्मा मे उत्पन्न हुए अभिरुचि रूप परिणामविशेष को तीर्थंकरो ने सम्यक्त्व कहा है ॥१५॥

सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार, मूल या अधिष्ठान है। उसी से आत्म-विकास का प्रारम्भ होता है। व्रत, तप या ज्ञान आदि सम्यक्त्वपूर्वक हो, तभी वे मोक्ष के हेतु बन सकते हैं।

रुचिरूप सम्यक्त्व के दस प्रकार एव लक्षण—

मूल—निसग्गुवएसरुई, आणारुई, सुत्त-बीय-रुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-सखेव-धम्मरुई ॥१६॥
भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्ण-पाव च।
सह सम्मइयासव-संवरो य, रोएइ उ निसग्गो ॥१७॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥१६॥
रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥
जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥२१॥
एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥२२॥
सो होई अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥२३॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहि नय-विहीहि, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥२४॥
दंसण-नाण-चरित्ते तव विणए, सच्च-समिइ-गुत्तीसु ।
जो किरिया भावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥२५॥
अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होई नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥
जो अत्थिकाय धम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

पद्या०—निसर्ग-भाव-उपदेशरुचि, आज्ञा-श्रुत-बीजरुचि वैसे ।
अभिगम विस्तार क्रिया अष्टम, संक्षेप धर्मरुचि है ऐसे ॥१६॥
उपदेश बिना जो ज्ञान करे, वह चेतन कर्म शुभाशुभ का ।
निजमति से आस्रव संवर में, हो भाव सहज सद्दर्शन का ॥१७॥
जो द्रव्यादिक जिनदृष्ट चतुर्विध, भाव स्वयं ही मान्य करे ।
है सत्य वही प्रभु बतलाया, यों निसर्गरुचि मन भाव धरे ॥१८॥
जिनवर या छद्मस्थ किसी से, कथित भाव को जो माने ।
उपदेशजन्य उस श्रद्धा को, उपदेश-रुचि ज्ञानी माने ॥१९॥
अज्ञान मोह और राग-द्वेष, जिसका जग में मिट जाता है ।
रखता रुचि जो उस आज्ञा में, वह आज्ञारुचि कहलाता है ॥२०॥
जो पढ़कर अंग-सूत्र अथवा, श्रुत अंग-बाह्य से ज्ञान करे ।
सूत्रों से श्रद्धा है करता, वह सूत्ररुचि जग नाम धरे ॥२१॥
जो एक सूत्र-पद से नाना, वचनों में सम्यक् भाव धरे ।
जल में तैल-बिन्दु-सम उसको, बीजरुचि मुनिवर उच्चरे ॥२२॥

शुद्ध स्वरूप को जानने हेतु मोक्ष-तत्त्व का कथन किया गया। मोक्ष का अधिकारी जीव है। फिर मोक्ष के उपदेश का अनधिकारी तत्त्व—अजीव बतलाया गया। इसमे बन्ध तत्त्व से मोक्ष के विरोधी भाव (ससार मार्ग) का और आस्रव तथा पाप तत्त्व से मोक्ष-विरोधी भाव (ससार भ्रमण) के कारण का कथन किया गया है। सवर और निर्जरा ये दो तत्त्व इसमे मोक्ष के कारण बताए गए हैं। पुण्य तत्त्व को वस्तुत निर्जरा मे परम्परा से सहायक कारण होने की दृष्टि से कथचित् उपादेय एव कथन्चित हेय बताया गया है।

यद्यपि जीव और अजीव ये दो मौलिक तत्त्व हैं, तथापि मुमुक्षु को मोक्षमार्ग मे साधक-बाधक तत्त्वो का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए तथा मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए नौ तत्त्व विशद विवेचन के साथ कहे गए हैं। इन तथ्यो को सत्य या तत्त्व भी कहा जा सकता है।

नौ तत्त्वो के भेद-प्रभेद सक्षेप मे—जीव के १४, अजीव के ५, पुण्य के ९, पाप के १८, आस्रव के मुख्य ५, सवर के ५७, निर्जरा के १२ या २, बन्ध के मिथ्यात्वादि ५, मोक्ष का एक अथवा मुक्तात्माओ की पूर्वावस्था की अपेक्षा से १५ भेद हैं।

सम्यक्त्व का लक्षण—तत्त्वभूत जीव-अजीव आदि पदार्थों के विषय मे गुरुजनो का जो सदुपदेश है, उसे अन्त करण से मानने, उसके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा रखने तथा मोहनीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम भाव आदि से आत्मा मे उत्पन्न हुए अभिरुचि रूप परिणामविशेष को तीर्थंकरो ने सम्यक्त्व कहा है ॥१५॥

सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार, मूल या अधिष्ठान है। उसी से आत्म-विकास का प्रारम्भ होता है। व्रत, तप या ज्ञान आदि सम्यक्त्वपूर्वक हो, तभी वे मोक्ष के हेतु बन सकते हैं।

रुचिरूप सम्यक्त्व के दस प्रकार एव लक्षण—

मूल—निसग्गुवएसरुई, आणारुई, सुत्त-बीय-रुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-सखेव-धम्मरुई ॥१६॥
भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्ण-पाव च ।
सह सम्मइयासव-सवरो य, रोएइ उ निसग्गो ॥१७॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥१९॥
रागो दोसो मोहो, अन्नाण जस्स अवगय होइ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥
जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्त।
अगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥२१॥
एगेण अणेगाइ, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्त।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥२२॥
सो होई अभिगमरुई, सुयनाण जेण अत्थओ दिट्ठ।
एक्कारस अगाइ, पइण्णग दिट्ठिवाओ य ॥२३॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नय-विहीहि, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥२४॥
दसण-नाण-चरित्ते तव विणए, सच्च-समिइ-गुत्तीसु।
जो किरिया भावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥२५॥
अणभिग्गहियकुदिट्ठी, सखेवरुइ त्ति होई नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥
जो अत्थिकाय धम्म, सुयधम्म खलु चरित्तधम्म च।
सद्दहइ जिणाभिहिय, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

पद्या०—निसर्ग-भाव-उपदेशरुचि, आज्ञा-श्रुत-बीजरुचि वैसे।
अभिगम विस्तार क्रिया अष्टम, सक्षेप धर्मरुचि है ऐसे ॥१६॥
उपदेश बिना जो ज्ञान करे, वह चेतन कर्म शुभाशुभ का।
निजमति से आस्रव सवर मे, हो भाव सहज सद्दर्शन का ॥१७॥
जो द्रव्यादिक जिनदृष्ट चतुर्विध, भाव स्वय ही मान्य करे।
है सत्य वही प्रभु बतलाया, यो निसर्गरुचि मन भाव धरे ॥१८॥
जिनवर या छद्मस्थ किसी से, कथित भाव को जो माने।
उपदेशजन्य उस श्रद्धा को, उपदेश-रुचि ज्ञानी माने ॥१९॥
अज्ञान मोह और राग-द्वेष, जिसका जग मे मिट जाता है।
रखता रुचि जो उस आज्ञा मे, वह आज्ञारुचि कहलाता है ॥२०॥
जो पढकर अग-सूत्र अथवा, श्रुत अंग-बाह्य से ज्ञान करे।
सूत्रो से श्रद्धा है करता, वह सूत्ररुचि जग नाम धरे ॥२१॥
जो एक सूत्र-पद से नाना, वचनो मे सम्यक् भाव धरे।
जल मे तैल-बिन्दु-सम उसको, बीजरुचि मुनिवर उच्चरे ॥२२॥

शुद्ध स्वरूप को जानने हेतु मोक्ष-तत्त्व का कथन किया गया। मोक्ष का अधिकारी जीव है। फिर मोक्ष के उपदेश का अनधिकारी तत्त्व—अजीव बतलाया गया। इसमे बन्ध तत्त्व से मोक्ष के विरोधी भाव (ससार मार्ग) का और आस्रव तथा पाप तत्त्व से मोक्ष-विरोधी भाव (ससार भ्रमण) के कारण का कथन किया गया है। सवर और निर्जरा ये दो तत्त्व इसमे मोक्ष के कारण बताए गए हैं। पुण्य तत्त्व को वस्तुत निर्जरा मे परम्परा से सहायक कारण होने की दृष्टि से कथचित् उपादेय एव कथचित हेय बताया गया है।

यद्यपि जीव और अजीव ये दो मौलिक तत्त्व हैं, तथापि मुमुक्षु को मोक्षमार्ग मे साधक-बाधक तत्त्वो का स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए तथा मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए नौ तत्त्व विशद विवेचन के साथ कहे गए हैं। इन तथ्यो को सत्य या तत्त्व भी कहा जा सकता है।

नौ तत्त्वो के भेद-प्रभेद सक्षेप मे—जीव के १४, अजीव के ५, पुण्य के ९, पाप के १८, आस्रव के मुख्य ५, सवर के ५७, निर्जरा के १२ या २, बन्ध के मिथ्यात्वादि ५, मोक्ष का एक अथवा मुक्तात्माओ की पूर्वावस्था की अपेक्षा से १५ भेद हैं।

सम्यक्त्व का लक्षण—तत्त्वभूत जीव-अजीव आदि पदार्थों के विषय मे गुरुजनो का जो सदुपदेश है, उसे अन्त करण से मानने, उसके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा रखने तथा मोहनीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम भाव आदि से आत्मा मे उत्पन्न हुए अभिरुचि रूप परिणामविशेष को तीर्थंकरो ने सम्यक्त्व कहा है ॥१५॥

सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार, मूल या अधिष्ठान है। उसी से आत्म-विकास का प्रारम्भ होता है। व्रत, तप या ज्ञान आदि सम्यक्त्वपूर्वक हो, तभी वे मोक्ष के हेतु बन सकते हैं।

रुचिरूप सम्यक्त्व के दस प्रकार एव लक्षण—

मूल—निसग्गुवएसरुई, आणारुई, सुत्त-बीय-रुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥१६॥
भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्ण-पाव च।
सह सम्मइयासव-सवरो य, रोएइ उ निसग्गो ॥१७॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव नन्नहत्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥१९॥
रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥२०॥
जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥२१॥
एगेण अणेगाइं, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिंदू, सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥२२॥
सो होई अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥२३॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहि नय-विहीहि, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥२४॥
दंसण-नाण-चरित्ते तव विणए, सच्च-समिइ-गुत्तीसु ।
जो किरिया भावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥२५॥
अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइ त्ति होई नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥२६॥
जो अत्थिकाय धम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥२७॥

पद्या०—निसर्ग-भाव-उपदेशरुचि, आज्ञा-श्रुत-बीजरुचि जैसे ।
अभिगम विस्तार क्रिया अष्टम, संक्षेप धर्मरुचि है ऐसे ॥१६॥
उपदेश बिना जो ज्ञान करे, वह चेतन कर्म शुभाशुभ का ।
निजमति से आस्रव संवर में, हो भाव सहज सद्दर्शन का ॥१७॥
जो द्रव्यादिक जिनदृष्ट चतुर्विध, भाव स्वयं ही मान्य करे ।
है सत्य वही प्रभु बतलाया, यो निसर्गरुचि मन भाव धरे ॥१८॥
जिनवर या छद्मस्थ किसी से, कथित भाव को जो माने ।
उपदेशजन्य उस श्रद्धा को, उपदेश-रुचि ज्ञानी माने ॥१९॥
अज्ञान मोह और राग-द्वेष, जिसका जग मे मिट जाता है ।
रखता रुचि जो उस आज्ञा मे, वह आज्ञारुचि कहलाता है ॥२०॥
जो पढकर अंग-सूत्र अथवा, श्रुत अंग-बाह्य से ज्ञान करे ।
सूत्रो से श्रद्धा है करता, वह सूत्ररुचि अंग नाम धरे ॥२१॥
जो एक सूत्र-पद से नाना, वचनो मे सम्यक् भाव धरे ।
जल मे तैल-बिन्दु-सम उसको, बीजरुचि मुनिवर उचरे ॥२२॥

अर्थरूप जिसने श्रुत को, देखा वह अभिगमरुचि वाला।
अग ग्यारह और प्रकीर्णक, दृष्टिवाद की मति वाला ॥२३॥
द्रव्यो के सब भावो को, जो सकल प्रमाणो से जाने।
सम्पूर्ण नयो से ज्ञान करे, विस्ताररुचि वह मुनि माने ॥२४॥
दर्शन ज्ञान चारित्र विनय, तप समिति गुप्ति जो मन धरता।
जो चरणभाव मे रुचि रखता, है वही क्रियारुचि कहलाता ॥२५॥
निष्णात न जो जिनशासन मे, परमत का जिसको ज्ञान नही।
मन मे कुदृष्टि ने घर न किया, सक्षिप्तरुचि है जान वही ॥२६॥
जो अस्तिकाय के धर्म और श्रुत चरण-धर्म का ज्ञान करे।
जिन कथित भाव पर हो श्रद्धा, वह धर्मरुचि श्रुतधर उचरे ॥२७॥

अन्वयार्थ—(वह सम्यक्त्व दस प्रकार का है—) निसग्ग—निसर्ग-रुचि, उवएसरुई—उपदेश-रुचि, आणारुई—आज्ञारुचि, सुत्त-बीय-रुईमेव—सूत्ररुचि तथा बीजरुचि, अभिगम—अभिगमरुचि, वित्थाररुई—विस्ताररुचि, किरिया—क्रियारुचि सखेव—सक्षेपरुचि, (और) धम्मरुई—धर्मरुचि ॥१६॥

(दूसरे के उपदेश के बिना ही) सहसम्मइया—अपनी ही मति से, जीवा-जीवा य—जीव और अजीव को, च—तथा, पुण्ण पाव—पुण्य और पाप को, आसव-सवरो—आस्रव और सवर, आदि तत्वो को, भूयत्थेण—सद्भूत अर्थ=यथार्थ रूप से, अहिगया—जान लिया, य—और, उ—फिर (उनमे) रोएइ—श्रद्धा (रुचि) रखता है, निसग्गो—वह निसर्गरुचि है ॥१७॥

जो—जो, जिणदिट्ठे—जिनोपदिष्ट या जिनदृष्ट, भावे—भावो को, चउव्विहे—(द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) चार प्रकार से, सयमेव—स्वयमेव (दूसरो के उपदेश के बिना) एमेव नन्नहत्ति—'यह इसी प्रकार है, अन्यथा नही, ऐसी सद्दहाइ—श्रद्धा रखता है, स—वह, निसग्गरुइ त्ति—निसर्गरुचि है, ऐसा नायव्वो—जानना चाहिए ॥१८॥

जो—जो, परेण—पर=दूसरे के, जिणेण—जिन (केवली) के, व—अथवा छउमत्थेण—किसी छद्मस्थ के, उवइट्ठे—उपदेश से, एए—इन (पूर्वोक्त) चेव उ भावे—जीवादि भावो पर, सद्दहइ—श्रद्धा करता है, (वह) उवएसरुइ त्ति—उपदेश रुचि है, ऐसा, नायव्वो—जानना चाहिए ॥१९॥

जस्स—जिस (महान् आत्मा=आप्तपुरुष) के, रागो—राग, दोसो—द्वेष, मोहो—मोह, (और) अन्नाण—अज्ञान, अवगय—अपगत=दूर, होइ—हो गए है, आणाए—(उसकी) आज्ञा से, रोअतो—जो जीवादि पदार्थों पर रुचि श्रद्धा रखता

हैं, सो—वह, खलु—निश्चय ही, आणारुईनाम—'आज्ञारुचि' कहलाता है ॥२०॥

जो—जो व्यक्ति, सुत्तं—सूत्र को, अहिज्जंतो—अध्ययन करता हुआ, अंगेण—अंगप्रविष्ट आचारांगादि, बाहिरेण व—अथवा, अंगबाह्य—उत्तराध्ययनादि, सुएण—श्रुत-शास्त्र से, सम्मत्तं—सम्यक्त्व, ओगाहई उ—अवगाहन=प्रवेश कर लेता है, सो—वह व्यक्ति, सुत्तरुइ त्ति—सूत्र रुचि है, नायव्वो—ऐसा जानना चाहिए ॥२१॥

उदए—जल में, तेल्लबिंदुव्व=तेल की बूंद फैल जाती है, उसी प्रकार, एगेण—एक पद से, अणेगाइ पयाइ—अनेक पदों में, जो—जो, सम्मत्तं—सम्यक्त्व, पसरई—फैल जाता है, सो—वह, बीयरुई त्ति—बीज रुचि है, ऐसा, नायव्वो—जानना चाहिए ॥२२॥

जेण—जिसने, एक्कारस अंगाइ—ग्यारह अंग, पइण्णगं—प्रकीर्णक, य—तथा, दिट्ठिवाओ दृष्टिवाद (आदि) सुयनाण—श्रुतज्ञान को, अत्थओ—अर्थत = अर्थसहित, दिट्ठं—देखा है या उपदेश प्राप्त किया है, सो—वह, अभिगमरुई—अभिगमरुचि, होइ—होता है ॥२३॥

सव्व-पमाणेहिं—सभी प्रमाणों, य—और, सव्वाहिं नय-विहीहिं—समस्त-नयविधियों से, दव्वाण सव्वभावा—द्रव्यों के सभी भाव, जस्स—जिसे, उवलद्धा—उपलब्ध (ज्ञात) हो गये हैं, (उसे), वित्थाररुइत्ति—विस्तार रुचि, नायव्वो—समझना चाहिए ॥२४॥

दंसण-नाण-चरित्ते—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तव-विणए—तप, विनय, सच्च-समिइ-गुत्तीसु—सत्य, समिति, और गुप्तियों में, जो—जो, किरिया भावरुई—क्रिया भाव रुचि है, सो—वह, खलु—निश्चय ही, किरियारुईनाम—क्रियारुचि नाम (से प्रसिद्ध) है ॥२५॥

(जो) पवयणे—(वीतराग के) प्रवचन में, अविसारओ—विशारद नहीं है, य—और, सेसेसु—शेष कपिलादि मतों पर भी जिसकी, अणभिग्गहिओ—गृहीतबुद्धि नहीं है (तथा) अणभिग्गहिय कुदिट्ठी—जिसने कुदृष्टि भी ग्रहण नहीं की (वह व्यक्ति) संखेवरुइ होइत्ति—संक्षेपरुचि होता है ऐसा, नायव्वो—समझना चाहिए ॥२६॥

जो—जो व्यक्ति, जिणाभिहियं—जिनेन्द्र कथित, अत्थि-कायधम्मं—अस्ति-काय धर्म, सुयधम्मं—श्रुतधर्म, च—और, चरित्त धम्मं—चारित्र धर्म पर, सद्दहइ श्रद्धान करता है, सो—वह, खलु—निश्चय ही, धम्मरुइत्ति—धर्मरुचि है ऐसा, नायव्वो—समझना चाहिए ॥२७॥

अर्थरूप जिसने श्रुत को, देखा वह अभिगमरुचि वाला।
अग ग्यारह और प्रकीर्णक, दृष्टिवाद की मति वाला ॥२३॥
द्रव्यो के सब भावो को, जो सकल प्रमाणो से जाने।
सम्पूर्ण नयो से ज्ञान करे, विस्ताररुचि वह मुनि माने ॥२४॥
दर्शन ज्ञान चारित्र विनय, तप समिति गुप्ति जो मन धरता।
जो चरणभाव में रुचि रखता, है वही क्रियारुचि कहलाता ॥२५॥
निष्णात न जो जिनशासन मे, परमत का जिसको ज्ञान नही।
मन मे कुदृष्टि ने घर न किया, सक्षिप्तरुचि है जान वही ॥२६॥
जो अस्तिकाय के धर्म और श्रुत चरण-धर्म का ज्ञान करे।
जिन कथित भाव पर हो श्रद्धा, वह धर्मरुचि श्रुतधर उचरे ॥२७॥

अन्वयार्थ—(वह सम्यक्त्व दस प्रकार का है—) निसग्ग—निसर्ग-रुचि, उवएसरुई—उपदेश-रुचि, आणारुई—आज्ञारुचि, सुत्त-बीय-रुईमेव—सूत्ररुचि तथा बीजरुचि, अभिगम—अभिगमरुचि, वित्थाररुई—विस्ताररुचि, किरिया—क्रियारुचि सखेव—सक्षेपरुचि, (और) धम्मरुई—धर्मरुचि ॥१६॥

(दूसरे के उपदेश के बिना ही) सहसम्मइया—अपनी ही मति से, जीवा-जीवा य—जीव और अजीव को, य—तथा, पुण्ण पाव—पुण्य और पाप को, आसव-सवरो—आस्रव और सवर, आदि तत्वो को, भूयत्थेण—सद्‌भूत अर्थ=यथार्थ रूप से, अहिगया—जान लिया, य—और, उ—फिर (उनमे) रोएइ—श्रद्धा (रुचि) रखता है, निसग्गो—वह निसर्गरुचि है ॥१७॥

जो—जो, जिणदिट्ठे—जिनोपदिष्ट या जिनदृष्ट, भावे—भावो को, चउव्विहे—(द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) चार प्रकार से, सयमेव—स्वयमेव (दूसरो के उपदेश के बिना) एमेव नन्नहत्ति—'यह इसी प्रकार है, अन्यथा नही, ऐसी सद्दहाइ—श्रद्धा रखता है, स—वह, निसग्गरुइ त्ति—निसर्गरुचि है, ऐसा नायव्वो— जानना चाहिए ॥१८॥

जो- -जो, परेण—पर=दूसरे के, जिणेण—जिन (केवली) के, व—अथवा छउमत्थेण—किसी छद्मस्थ के, उवइट्ठे—उपदेश से, एए—इन (पूर्वोक्त) चेव उ भावे—जीवादि भावो पर, सद्दहइ—श्रद्धा करता है, (वह) उवएसरुइ त्ति—उपदेश रुचि है, ऐसा, नायव्वो—जानना चाहिए ॥१९॥

जस्स—जिस (महान् आत्मा=आप्तपुरुष) के, रागो—राग, दोसो—द्वेष, मोहो—मोह, (और) अन्नाण—अज्ञान, अवगय—अपगत=दूर, होइ—हो गए हैं, आणाए—(उसकी) आज्ञा से, रोअतो—जो जीवादि पदार्थो पर रुचि श्रद्धा रखता

हैं, सो—वह, खलु—निश्चय ही, आणारुईनाम—'आज्ञारुचि' कहलाता है ॥२०॥

जो—जो व्यक्ति, सुत्तं—सूत्र को, अहिज्जन्तो—अध्ययन करता हुआ, अंगेण—अंगप्रविष्ट आचारांगादि, बाहिरेण व—अथवा, अंगबाह्य—उत्तराध्ययनादि, सुएण—श्रुत-शास्त्र से, सम्मत्त—सम्यक्त्व, ओगाहई उ—अवगाहन=प्रवेश कर लेता है, सो—वह व्यक्ति, सुत्तरुइ त्ति—सूत्र रुचि है, नायव्वो—ऐसा जानना चाहिए ॥२१॥

उदए—जल से, तेल्लबिंदुव्व—तेल की बूंद फैल जाती है, उसी प्रकार, एगेण—एक पद से, अणेगाइं पयाइं—अनेक पदों में, जो—जो, सम्मत्त—सम्यक्त्व, पसरई—फैल जाता है, सो—वह, बीयरुई त्ति—बीज रुचि है, ऐसा, नायव्वो—जानना चाहिए ॥२२॥

जेण—जिसने, एक्कारस अंगाइं—ग्यारह अंग, पइण्णगं—प्रकीर्णक, य—तथा, दिट्ठिवाओ दृष्टिवाद (आदि) सुयनाण—श्रुतज्ञान को, अत्थओ—अर्थत = अर्थसहित, दिट्ठ—देखा है या उपदेश प्राप्त किया है, सो—वह, अभिगमरुई—अभिगमरुचि, होइ—होता है ॥२३॥

सव्व-पमाणेहिं—सभी प्रमाणो, य—और, सव्वाहिं नय-विहीहिं—समस्त-नयविधियो से, दव्वाण सव्वभावा—द्रव्यो के सभी भाव, जस्स—जिसे, उवलद्धा—उपलब्ध (ज्ञात) हो गये है, (उसे), वित्थाररुइत्ति—विस्तार रुचि, नायव्वो—समझना चाहिए ॥२४॥

दसण-नाण-चरित्ते—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तव-विणए—तप, विनय, सच्च-समिइ-गुत्तीसु—सत्य, समिति, और गुप्तियो मे, जो—जो, किरिया भावरुई—क्रिया भाव रुचि है, सो—वह, खलु—निश्चय ही, किरियारुईनाम—क्रियारुचि नाम (से प्रसिद्ध) है ॥२५॥

(जो) पवयणे—(वीतराग के) प्रवचन मे, अविसारओ=विशारद नही है, य—और, सेसेसु—शेष कपिलादि मतो पर भी जिसकी, अणभिग्गहिओ—गृहीतबुद्धि नही है (तथा) अणभिग्गहिय कुदिट्ठी—जिसने कुदृष्टि भी ग्रहण नही की (वह व्यक्ति) सखेवरुइ होइत्ति—संक्षेपरुचि होता है ऐसा, नायव्वो—समझना चाहिए ॥२६॥

जो—जो व्यक्ति, जिणाभिहिय—जिनेन्द्र कथित, अत्थि-कायधम्मं—अस्ति-काय धर्म, सुयधम्म—श्रुतधर्म, च—और, चरित्त धम्म—चारित्र धर्म पर, सद्दहइ श्रद्धान करता है, सो—वह, खलु—निश्चय ही, धम्मरुइत्ति—धर्मरुचि है ऐसा, नायव्वो—समझना चाहिए ॥२७॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत १६ से २७ गाथा तक विभिन्न निमित्तो से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व के प्रकारो का वर्णन किया गया है। रुचि का अर्थ भी यहाँ सम्यक्त्व-प्राप्ति के विभिन्न निमित्तो के प्रति श्रद्धा है। वे सम्यक्त्व अर्थात् रुचि के दस प्रकार ये हैं—(१) निसर्गरुचि—किसी के उपदेश के बिना स्वाभाविक रूप से होने वाली तत्त्वरुचि, (२) उपदेशरुचि—गुरु आदि के उपदेश से हुई तत्त्वरुचि, (३) आज्ञारुचि—सर्वज्ञ के वचन से हुई तत्त्व-रुचि, (४) सूत्ररुचि—आगमो के गहन अध्ययन से हुई तत्त्वरुचि, (५) बीज-रुचि—बीज की तरह एक पद का ज्ञान होते ही अनेक अर्थों को समझ लेने या हृदयगम करने की तत्त्वरुचि, (६) अभिगमरुचि—शास्त्रो को अर्थसहित पारायण करने से हुई तत्त्वरुचि, (७) विस्ताररुचि—द्रव्यो को नय-प्रमाणो से विस्तृतरूप से जानने की हुई तत्त्वरुचि, (८) क्रियारुचि—विविध धर्म-क्रियाओ मे हुई रुचि, (९) सक्षेपरुचि—विवादास्पद विषयो से अनभिज्ञ तथा दूर रहकर सक्षेप मे श्रद्धा रखने की रुचि और (१०) धर्मरुचि—जिनोक्त धर्मों के प्रति रुचि रखना ॥१६॥

जो जीव जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट या अनुभूत जीवादि पदार्थों को किसी के उपदेश के बिना अपनी सहज स्फुरणा से, या जातिस्मरणादि ज्ञान के कारण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से यथार्थरूप से जानकर जिनेन्द्र भग-वान ने जो कुछ कथन किया है, वह बिल्कुल सत्य है, मिथ्या कदापि नही हो सकता, इस प्रकार का दृढ विश्वास निसर्गरुचि[1] है ॥१७-१८॥

उक्त जीवादि तत्त्वो को तथा उनके यथार्थ स्वरूप को छद्मस्थ-अल्पज्ञ महासाधक के द्वारा अथवा सर्वज्ञ—केवली भगवान के द्वारा श्रवण करके उनमे श्रद्धान करना उपदेशरुचि है ॥१९॥

बीसवीं गाथा के दो अर्थ—(१) एक अर्थ तो अन्वयार्थ मे किया गया है, (२) दूसरा अर्थ है—जिसके राग-द्वेष, मोह और अज्ञान सर्वथा नही, किन्तु आशिक रूप से क्षय हो गए हो, उस व्यक्ति का आचार्यादि की आज्ञा से माषतुष मुनि की तरह तत्वार्थ पर श्रद्धान करना आज्ञारुचि[2] है ॥२०॥

आचारागादि शास्त्रो को अग या अगप्रविष्ट कहते हैं, और इनके अतिरिक्त शेष सब शास्त्र अग-बाह्य कहलाते हैं। इन अगप्रविष्ट और अग-

---

१ मृगापुत्र को उत्पन्न हुई धर्मरुचि वस्तुत धर्मरुचि थी।—सम्पादक

२ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर, पत्र २२७ (ख) उत्तरा (आ० आत्मा०) भा० ३ पृ० ७६

बाह्य शास्त्रो के सम्यक् अध्ययन से, तथा उनमे गहरी डुबकी लगाने से जिस जीव के विशुद्ध अन्त करण मे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह सूत्र-रुचि है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रो के सम्यक् अध्ययन से अन्त करण मे विशिष्ट प्रकार की जो अभिरुचि उत्पन्न होती है, उसी को सूत्ररुचि सम्यक्त्व कहते है। वस्तुत इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति का मुख्य कारण श्रुत-ज्ञान है। ।२१॥

जिस प्रकार जल मे डाला हुआ तेल का बिन्दु सारे जल पर फैल जाता है, तथा बोए हुए बीज से हजारो बीज उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस जीव को एक पद या हेतु से बहुत से पदो, दृष्टान्तो या हेतुओ की स्फुरणा द्वारा अन्त करण मे तत्त्व का श्रद्धान या सम्यक्त्व की विशेषरूप से प्राप्ति होती है, उसे बीज रुचि सम्यक्त्व कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसके अन्त.करण मे बोया हुआ सम्यक्त्व बीज अनेक प्रकार से फैल जाता है, उस व्यक्ति को बीजरुचि कहते हैं ॥२२॥

अभिगमरुचि वह जीव होता है, जो आचारागादि अगसूत्रो, चउ-सरणपइन्ना आदि १० प्रकीर्णक सूत्रो अथवा उत्तराध्ययनादि प्रकीर्ण सूत्रो एव दृष्टिवाद और उपागसूत्रो के द्वारा श्रुतज्ञान को भलीभाति हृदयगम करने से जिसे तत्त्वरुचि—सम्यक्त्व-प्राप्ति हुई हो, उसे अभिगमरुचि कहते हैं ॥२३॥

धर्मास्तिकायादि द्रव्यो के सर्वभावो को प्रत्यक्षादि प्रमाणो और नैगमादि नयो के द्वारा सम्यक्रीत्या विस्तृतरूपेण जानने से जिसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, उसे विस्ताररुचि कहते है ॥२४॥

पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप को जानने के मुख्य दो साधन तत्त्वार्थ सूत्रकार ने बताये हैं—प्रमाण और नय। अत इस लोक मे जितने भी द्रव्य हैं, उनके समस्त भावो को जानने के लिए प्रमाण और नय की आवश्यकता है। प्रमाण के मुख्य दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । इन्ही के विस्तार से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम, ये चार भेद बने हैं। प्रमाण के एक अश को नय कहते हैं। दूसरे शब्दो मे कहे तो विभिन्न अपेक्षाओ से विचारो का विश्लेषण करना नय है। नय के भी मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इन्ही के विस्तृतरूप से—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत ये सात भेद किए गए हैं।

सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र का अनुष्ठान, बारह प्रकार

का तप, विनय, सत्य (भावसत्य-करणसत्य-योगसत्य), पाच प्रकार की समिति, तीन गुप्ति आदि शुद्ध क्रियानुष्ठान मे अन्त करण से रुचि=पूर्ण-श्रद्धा =निष्ठा होना, क्रियारुचि सम्यक्त्व है। तात्पर्य यह है कि उक्त क्रियानुष्ठान भलीभाँति करते हुए जिसने सम्यक्त्व प्राप्त किया है, उसे क्रियारुचि कहते हैं ॥२५॥

यद्यपि चारित्र मे सभी क्रियाओ का समावेश हो जाता है, तथापि कर्म-क्षय करने मे तप आदि की प्रधानता ध्वनित करने हेतु शास्त्रकार ने इनका पृथक् ग्रहण किया है।

जिस जीव ने कुदृष्टि-अर्थात् मिथ्यामत का भी ग्रहण नही किया, जो जिनप्रवचन मे भी कुशल नही है, तथा जिसे साख्यादि अन्य मतो की भी रुचि नही है, किन्तु एकमात्र वीतराग के मार्ग पर अटल श्रद्धा है, ऐसा जीव सक्षेप रुचि होता है। आशय यह है कि वह थोडे मे एकमात्र जिनप्रवचन पर शुद्ध श्रद्धा-भक्ति रखता है, अत सक्षेपरुचि है ॥२६॥

जो तीर्थंकरोपदिष्ट अस्तिकाय धर्म—धर्मास्तिकायादि द्रव्यो की यथार्थता पर विश्वास करता है, और श्रुतधर्म अगप्रविष्ट तथा अगबाह्य आदि सभी श्रुतप्रवचन मे पूर्ण श्रद्धा रखता है, एव जिसे चारित्रधर्म पर पूरी आस्था है, ऐसे जीव का सम्यक्त्व धर्मरुचि है ॥२७॥

दशविध रुचि स्पष्ट रूप से समझाने हेतु—यद्यपि तत्वार्थसूत्रकार ने 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' इस सूत्र से सम्यक्त्वोत्पत्ति के दो कारण बताये है—(१) निसर्ग से और (२) अधिगम—गुरु आदि दूसरे के उपदेश से। परन्तु यहाँ निसर्ग रुचि आदि १० भेद सभी मुमुक्षु लोगो को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए बताए है। वस्तुत यह रुचिभेद केवल व्यवहारनय को लेकर किया गया है, निश्चयनय के अनुसार तो सम्यग्दर्शन आत्मा का निजी गुण है। जो मोहकर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से प्रगट होता है।

सम्यक्त्वी की पहचान—तीन गुणों से—

मूल—परमत्थ-सथवो वा, सुदिट्ठ-परमत्थ-सेवण वावि।
वावण्ण कुदसण-वज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥२८॥

पद्यानु०—परमार्थ-भाव का परिचय हो, परमार्थी सेवा सदा करे।
सम्यक्त्व-भ्रष्ट या मिथ्यामत, वर्जन कर श्रद्धा मे विचरे ॥२८॥

अन्वयार्थ—परमत्थ-सथवो—परमार्थ—जीवादि तात्त्विक पदार्थों का, सस्तव =उनके स्वरूप का बार-बार चिन्तनरूप परिचय अथवा गुणगान करना, वा—

अथवा, सुदिट्ठ-परमत्थ-सेवण—जिन्होंने परमार्थ को भलीभांति देखा है, उन (आचार्य आदि) की सेवा, वावि—अथवा वैयावृत्य करना, य=तथा वावण्णकुदसण-वज्जणा —व्यापन्न—जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, उसका, य—तथा, कुदर्शन —शाक्यादि मिथ्यादृष्टियों का वर्जन करना, सम्मत्त-सद्दहणा—यही सम्यक्त्व की श्रद्धा है ॥२८॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे सम्यक्त्वी की पहचान के लिए तीन गुणो का प्रतिपादन किया गया है, अर्थात्—जो व्यक्ति सम्यग्दृष्टि से युक्त होता है, उसमे निम्नोक्त तीन गुण अवश्य होते हैं—(१) परमार्थ—तत्त्वभूत पदार्थों का सस्तव—गुण कीर्तन या बार-बार चिन्तन रूप परिचय, (२) परमार्थ-तत्ववेत्ता महापुरुषो की उपासना, (३) सन्मार्ग से भ्रष्ट और कुमार्ग मे प्रवृत्ति रखने वालो के ससर्ग का परित्याग। परमार्थ के सस्तव से हृदय मे परमार्थ के प्रति उल्लास बहुमान पैदा होता है, परमार्थदर्शी पुरुषो की सेवा से आत्मगुणो के विकास मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, तथा सम्यक्त्वभ्रष्ट एव मिथ्यात्वग्रस्त पुरुषो के ससर्ग से धर्ममार्ग से विमुख होने का भय रहता है। इसलिए जिस आत्मा मे इन तीन गुणो की अभि-व्यक्ति हो, वहाँ सम्यक्त्व की विद्यमानता का अनुमान कर लेना चाहिए ॥२८॥

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य—

मूल— नत्थि चरित्तं सम्मत्त-विहूणं, दसणे उ भइयव्वं ।
सम्मत्त-चरित्ताइ जुगवं, पुव्वं व सम्मत्तं ॥२९॥
नादसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण-गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥३०॥

पद्यानु०—सम्यक्त्व बिना चारित्र नही, चारित्र विकल्पित दर्शन मे ।
सम्यक्त्व और चारित्र सम, या हो सम्यक्त्व पूर्वपद मे ॥२०॥
अदर्शनी को ज्ञान नही, और ज्ञान बिना गुण चरण नही ।
निर्गुण को मिलती मुक्ति नही, और बिना मोक्ष के शांति नही॥३०॥

अन्वयार्थ—सम्मत्त-विहूणं—सम्यक्त्व के बिना, चरित्तं—चारित्र, नत्थि—नही हो सकता, दसणे उ—किन्तु दर्शन (सम्यक्त्व) मे (चारित्र की) भइयव्वं—भजना है। (या तो) सम्मत्त—चरित्ताइ—सम्यक्त्व और चारित्र (दोनो), जुगवं—युगपत—एक साथ (उत्पन्न होते हैं), व—अथवा, पुव्वं—पहले, सम्मत्तं—सम्यक्त्व (होता है फिर चारित्र) ॥२९॥

अदंसणिस्स—दर्शन-रहित को, नाण—ज्ञान, न—नही (होता), नाणेण—ज्ञान के, विणा—बिना, चरणगुणा—चारित्र के गुण (प्रकट), न हु ति—नही होते, अगुणिस्स—चारित्रगुण से रहित साधक को, मोक्खो नत्थि—मोक्ष नही होता, (और) अमोक्खस्स—(कर्मों से) अमुक्त (साधक) को, निव्वाण—निर्वाण शान्तिमय-सिद्धपद, नत्थि—(प्राप्त) नही (होता।) ॥३०॥

विशेषार्थ—उनतीसवी एव तीसवी गाथा मे सम्यग्दर्शन की विशेषता बताते हुए शास्त्रकार ने मोक्ष के साधनो मे सबसे अग्रस्थान सम्यक्त्व को दिया है। सम्यक्त्व के बिना चारित्र—सम्यक्चारित्र नही हो सकता। पहले सम्यग्दर्शन होगा, तभी सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होगी। यथार्थ श्रद्धा के बिना चारित्र (आचरण) यथार्थ नही हो सकता। अत सम्यग्दर्शनपूर्वक ही चारित्र होता है। परन्तु दर्शन मे चारित्र की भजना है। अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर चारित्र हो भी सकता है, नही भी हो सकता है। यदि सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ हो तो उसमे प्रथम दर्शन—सम्यक्त्व ही होता है। अत मोक्षनिधि के अमूल्य रत्नो मे सर्वप्रथम सम्यग्-दर्शन होना अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन से रहित साधक को सम्यग्ज्ञान नही हो सकता। और सम्यग्ज्ञान न हो तो सम्यक्-चारित्र—चारित्रसम्बन्धी सद् गुणो का प्राप्त होना दुर्लभ है। चारित्रसम्बन्धी सद्गुणो की प्राप्ति जिसे नही हुई, वह कर्मों से मुक्त नही हो सकता, और कर्मों से मुक्त हुए बिना समस्त कर्मक्षयरूप जो निर्वाण—(आत्मा का परमशातिरूप) पद है, उसकी प्राप्ति नही होगी।

फलितार्थ यह है कि निर्वाणप्राप्ति की इच्छा रखने वाले साधक को सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होगी, और सम्यग्ज्ञान से चारित्रिक गुणो की उपलब्धि होगी। चारित्र सम्बन्धी सद्गुणो के धारण करने से कर्मों का क्षय होगा और कर्मों के क्षय से सर्वोत्कृष्ट निर्वाणप्रद-सिद्धपद की प्राप्ति होगी ॥३०॥

सम्यग्दर्शन के आठ अग—

मूल—निस्सकिय-निक्कखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥३१॥

पद्यानु०—शका काक्षा विचिकित्सा तज, बनकर अमूढदृष्टिधारी।
उपबृ हण और स्थिरीकरण, वात्सल्य प्रभावन आचारी ॥३१॥

अन्वयार्थ—निस्संकिय—निःशंकित, निक्कंखिय—आकांक्षारहित, निव्वितिगिच्छा—फल मे सन्देहरहित, य—और, उववूह—उपबृंहण, थिरीकरणे—स्थिरीकरण, वच्छल्ल—वात्सल्य (और), पभावणे—प्रभावना, (ये) अट्ठ—आठ (सम्यग्दर्शन के आचार या अंग है।) ॥३१॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व के आठ अंग या आचार है। यथा (१) निःशंकित—जिन वचन मे किसी प्रकार की शंका न करना, (२) निष्कांक्षित—अन्य दर्शन की आकांक्षा नही करना, (३) निर्विचिकित्स्य—धर्म के फल मे सन्देह न करना, या साधुओ के मलिन वेष आदि को देखकर घृणा न करना (४) अमूढदृष्टि—देवमूढता, गुरुमूढता, धर्ममूढता, शास्त्रमूढता, लोकमूढता आदि मूढताओ से या चमत्कारो से दृष्टिमूढ न होना, (५) उपबृंहण—गुणीजनो की प्रशंसा करना, उन्हे बढावा देना, (६) स्थिरीकरण—धर्म से विचलित होते हुए जीवो को धर्म मे स्थिर करना, (७) वात्सल्य—स्वधर्म और स्वधर्मियो के प्रति शुद्ध प्रेमभाव रखना और (८) प्रभावना—सद्धर्म की प्रभावना—उन्नति एवं प्रचार-प्रसार करना ॥३१॥

इनमे से प्रथम चार गुण अन्तरंग हैं, शेष चार गुण बहिरंग हैं। इन आठ गुणो के द्वारा दर्शन प्रदीप्त होता है, सम्यग्ज्ञान भी उपलब्ध होता है।

सम्यक् चारित्र

सम्यक्चारित्र प्रकार और स्वरूप—

मूल—सामाइयत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहार-विसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च ॥३२॥

अकसायमहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्त-करं, चारित्तं होइ आहियं ॥३३॥

पद्यानु०—चारित्र प्रथम है सामायिक, छेदोपस्थापन है दूजा।
परिहार-विशुद्धि है तप-साधन, अतिसूक्ष्म कषाय कहा चौथा ॥ ३२ ॥
यथाख्यात निर्मोहभाव,- छद्मस्थ तथा जिन को होता।
करता सञ्चित-कर्म रिक्त है, चारित्र वही है कहलाता ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—अत्थ—इस (सम्यक्चारित्र) मे, सामाइय—सामायिक चारित्र,

पढम—प्रथम है, बीय—दूसरा, छेओवट्ठावण—छेदोपस्थापन चारित्र, भवे—है। तह—तथा (तीसरा) परिहार विसुद्धीयं—परिहार-विशुद्धिक (चारित्र है) च=और (चौथा) सुहुम सपराय—सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र है ॥३२॥

(जो) अकसाय=कषायरहित (चारित्र है, वह) अहक्खाय—यथाख्यात है। एय—यह, छउमत्थस्स—छद्मस्थ को, वा—अथवा, जिणस्स—जिन को (होता है।) चरित्त—(यह पचविध) चारित्र, चयरित्तकर—सचित कर्म राशि को रिक्त करने वाला, होइ—होता है, (इस कारण तीर्थंकरो ने इसे चारित्र) आहिय—कहा है ॥३३॥

विशेषार्थ—चारित्र के पाँच प्रकार है—(१) सामायिक चारित्र—अहिंसादि-पच-महाव्रत-ग्रहण रूप या सर्व-सावद्य-विरति रूप प्रथम चारित्र।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र—सातिचार या निरतिचार होने पर पूर्व-पर्याय का अथवा पूर्व-गृहीत सामायिक चरित्र के काल का छेद करके पचमहाव्रतो का आरोपण या पुन धारण करना।

(३) परिहार-विशुद्धि चारित्र—परिहार=प्राणिवध-निवृत्ति या तप के द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्मा की विशुद्धि करना। परिहारविशुद्धि चारित्र-पालन की विधि यह है कि इसकी साधना गच्छ के ९ साधु मिलकर १८ महीनो मे पूर्ण करते हैं। सर्वप्रथम नौ मे से चार साधु छह मास तक तप करते हैं, चार उनकी वैयावृत्य-सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य होता है। फिर दूसरे ६ मास तक वैयावृत्य मे लगे हुए ४ साधु तपस्या करते हैं, और उनकी सेवा पहले जो ४ साधु तप करते थे, वे करते हैं। एक वाचनाचार्य रहता है। तीसरी छमाही मे पूर्व वाचनाचार्य तप करने लगता है, एक साधु उन आठो मे से वाचनाचार्य बन जाता है। शेष साधु उनकी सेवा मे लग जाते हैं। इस प्रकार ६+६+६=१८ मास पूर्ण हो जाते हैं, तब वे जिनकल्प या गच्छ के आश्रित होकर विचरते हैं। इस चारित्र के द्वारा बहुत से कर्मो का क्षय होकर आत्मा के ज्ञानादि गुणो का अधिक विकास और विशुद्धि होती है, इसलिए इसे परिहार-विशुद्धि-चारित्र कहा जाता है।

(४) सूक्ष्म सम्पराय-चारित्र वह है—जहाँ सूक्ष्म—केवल सज्वलन लोभ कषाय हो। यह चारित्र दशम गुणस्थानवर्ती साधुओ को होता है। जिसमे सूक्ष्म सज्ञक लोभ उदय मे रह जाता है, जिसके कारण सम्पराय=ससार मे भ्रमण किया जाता है, इस कारण इस चारित्र को सूक्ष्म सम्पराय कहते हैं ॥३२॥

(५) यथाख्यात चारित्र वह है, जिसमे चारो कषाय सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं। इस चारित्र को गुणस्थान की अपेक्षा दो भागो में विभक्त कर सकते हैं—उपशमात्मक और क्षयात्मक। प्रथम यथाख्यात चारित्र ११वें गुणस्थान वाले छद्मस्थ साधक को और द्वितीय यथाख्यात चारित्र १२-१३-१४ वें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान् को होता है। इस चारित्र वाला जैसी प्ररूपणा करता है, वैसी ही वह क्रिया करता है।

चारित्र शब्द की निरुक्ति—चय-समूह=कर्म सचय को जो रिक्त=खाली करता है, वह चारित्र है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को जो कर्ममल से सर्वथा रहित कर देने की शक्ति रखता है, उसे चारित्र कहते हैं ॥३३॥

सम्यक् तप

तप के भेद-प्रभेद—

मूल—तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भतरो तवो ॥३४॥

पद्यानु०—आन्तर बाह्य भेद दो तप के, वीर-प्रभु ने बतलाए।
है छह प्रकार का बाह्य और, आन्तर तप भी षड्विध गाए ॥॥३४॥

अन्वयार्थ—तवो—तप, दुविहो—दो प्रकार का, वुत्तो—कहा गया है—बाहिरब्भतरो य—बाह्य और आभ्यन्तर, तहा—तथा, बाहिरो—बाह्य तप, छव्विहो—छह प्रकार का, वुत्तो—कहा गया है, एव—इसी प्रकार, अब्भतरो तवो—आभ्यन्तर तप भी (छह प्रकार का है।)

विशेषार्थ—मोक्ष का चतुर्थ साधन तप है। वह दो प्रकार का है—(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप। फिर इन दोनो के छह-छह भेद हैं। इनका पूर्ण निरूपण इसी शास्त्र के तीसवे अध्ययन मे किया गया है।

वास्तव मे सम्यक् तप एक प्रकार का विशिष्ट पावक है, जो आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रूपी कूडे-कर्कट को जलाकर आत्मा को सर्वथा पावन विशुद्ध बना देता है। दोनो ही प्रकार के तप कर्मक्षय के विशिष्ट कारण होने से मोक्ष के अमोघ साधन हैं। बशर्ते कि वे सम्यक् हो, उनके साथ कामना, नामना, लोभ, स्वार्थ, काम-भोगाभिलाषा आदि मैल न मिले हुए हो।

चारो ही साधनो की उपयोगिता—

मूल—नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥३५॥

खवित्ता पुव्वकम्माइ, संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्ख-पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥३६॥

—त्ति बेमि

पद्यानु० तत्त्व ज्ञान से जाने जाते, दर्शन से श्रद्धा पाता है ।
चारित्र कर्म का रोध करे, तप से सचित क्षय होता है ॥३५॥
सयम से आते कर्म रोक, सयम तप से क्षय करते हैं ।
सकल दु ख-क्षय करने को, ऋषिवर बलवीर्य लगाते हैं ॥३६॥

अन्वयार्थ—नाणेण—ज्ञान से, (जीव) भावे—भावो (पदार्थों या तत्त्वो) को, जाणइ—जानता है, य—और, दसणेण—दर्शन से (उन पर) सद्दहे—श्रद्धा करता है, चरित्तेण—चारित्र से, निगिण्हाइ—(आस्रवो का) निरोध करता है, (एव) तवेण—तप से (आत्मा की) परिसुज्झइ—विशुद्धि करता है ॥३५॥

सव्व दुक्ख-प्पहीणट्ठा—सभी दु खो को नष्ट करने के लिए, महेसिणो—महर्षिगण, सजमेण—सयम से, य—और, तवेण—तप से, पुव्वकम्माइ—पूर्वकृत कर्मों का, खवित्ता—क्षय करके, (मोक्ष=सिद्धि के लिए) पक्कमति—पराक्रम (पुरुषार्थ) करते हैं ॥३६॥

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विशेषार्थ—ज्ञानादि चारो साधनो के पृथक्-पृथक् कार्य ये हैं—ज्ञान का कार्य वस्तुतत्त्व को जानना है, दर्शन का कार्य उस पर पूर्ण विश्वास करना है, चारित्र का कार्य आस्रवो से रहित करना है और तप का कार्य आत्मा से सयुक्त कर्मों को जलाकर उसे विशुद्ध बना देना है । ये चारो ही बन्ध से छुटकारा पाने के उपाय हैं । इनके द्वारा कर्म बन्धनो को काट कर यह आत्मा सर्वथा मुक्त हो जाती है ॥३५॥

पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का सयम और तप से क्षय करके समस्त दु खो का अन्त करके मोक्ष प्राप्ति के लिए महर्षिजन पुरुषार्थ करते हैं ।
॥३६॥

तात्पर्य यह है कि महर्षियो के द्वारा तप-सयम का सारा पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए होता है ।

दो मे अन्तर्भाव—यहा ज्ञानादि चारो मे प्रथम तीन को सयम मे और तप को तप मे समाविष्ट कर दिया है । सयम के १७ और तप के १२ भेदो के आचरण से सर्वकर्मक्षय हो जाता है ।

॥ मोक्षमार्ग-गति अट्ठाईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

(१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरु साधर्मिक सुश्रूषा,

(५) आलोचना, (६) निन्दना, (७) गर्हणा,

(८) सामायिक, (९) चतुर्विंशति-स्तव, (१०) वन्दना, (११) प्रतिक्रमण, (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान, (१४) स्तव-स्तुति-मंगल, (१५) काल प्रतिलेखना, (१६) प्रायश्चित्त करण, (१७) क्षमापना,

(१८) स्वाध्याय, (१९) वाचना, (२०) प्रतिपृच्छना, (२१) परावर्तना, (२२) अनुप्रेक्षा, (२३) धर्मकथा, (२४) श्रुत-आराधना, (२५) मन की एकाग्रता,

(२६) संयम, (२७) तप, (२८) व्यवदान, (२९) सुखशात, (३०) अप्रतिबद्धता, (३१) विविक्तशयनासन, (३२) विनिवर्त्तना,

(३३) संभोग-प्रत्याख्यान, (३४) उपधि-प्रत्याख्यान, (३५) आहार प्रत्याख्यान, (३६) कषाय-प्रत्याख्यान, (३७) योग-प्रत्याख्यान, (३८) शरीर-प्रत्याख्यान, (३९) सहाय-प्रत्याख्यान, (४०) भक्त-प्रत्याख्यान, (४१) सद्भाव-प्रत्याख्यान, (४२) प्रतिरूपता, (४३) वैयावृत्य, (४४) सर्वगुण-सम्पन्नता, (४५) वीतरागता,

(४६) क्षान्ति, (४७) मुक्ति, (४८) आर्जव, (४९) मार्दव

(५०) भावसत्य, (५१) करणसत्य, (५२) योग-सत्य,

(५३) मनोगुप्ति, (५४) वचन-गुप्ति, (५५) कायगुप्ति,

(५६) मन समाधारणा (५७) वचन समाधारणा, (५८) काय समाधारणा,

(५९) ज्ञान सम्पन्नता, (६०) दर्शन-सम्पन्नता, (६१) चारित्र-सम्पन्नता

(६२) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह, (६३) चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, (६४) घ्राणेन्द्रिय निग्रह, (६५) जिह्वेन्द्रिय-निग्रह, (६६) स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह,

(६७) क्रोध विजय (६८) मान विजय, (६९) माया-विजय, (७०) लोभ विजय, (७१) प्रेय-द्वेष मिथ्यादर्शन-विजय,

(७२) शैलेशी और (७३) अकर्मता ।

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा गया है—

सम्यक्त्व-पराक्रम के अन्तिम परिणाम के रूप मे मुक्ति के शिखर पर पहुँच सकता है, बशर्ते कि श्रद्धा से लेकर आज्ञानुसार अनुपालन हो, यही वस्तु अध्ययन के उपसंहार मे बताई गई है । □

सम्यक्त्व-पराक्रम : उनतीसवाँ अध्ययन

सम्मत्त-परक्कमे एगुणतीसइमं अज्झयण

सम्यक्त्व-पराक्रम का अन्तिम फल मोक्षप्राप्ति—

मूल—सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं—'इह खलु सम्मत्त-परक्कम्मे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेण कासवेण पवेइए। ज सम्मं सद्दहित्ता, पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, फासइत्ता, पालइत्ता, तीरइत्ता, किट्टइत्ता, सोहइत्ता, आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति सव्व-दुक्खाणमंतं करेंति।'

पद्यानु०—उस प्रभु ने कहा, सुना मैंने, सम्यक्त्व-पराक्रम का सुविचार।
काश्यप-गोत्री प्रभु महावीर, आयुष्मन् ! जगती के आधार ॥
जिस पर सम्यक् श्रद्धा प्रतीति, कर विषय-स्पर्श और रुचि करके।
स्मृति मे रख सकल हस्तगत कर, आचारित कर्म कीर्तन करके॥
गुरु-निकट शुद्ध उच्चारण कर, अर्थों का सही बोध पाकर।
जैसी अर्हत् की है आज्ञा, वैसा उसका अनुपालन कर ॥
होते है सिद्ध बहुत प्राणी, और बुद्ध मुक्त वे होते हैं।
कर सभी दुखों का अन्त, अन्त मे परम शान्त वे होते हैं॥

अन्वयार्थ—आउस—हे आयुष्मन् ! मे सुयं—मैंने सुना है, तेण भगवया—उन भगवान् ने, एवं—इस प्रकार, अक्खायं—कहा था—'इह खलु—इसी (जिनप्रवचन) में, कासवेण समणेण भगवया महावीरेण—काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान महावीर ने, सम्मत्त-परक्कमे नाम अज्झयणे—सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन का, पवेइए—प्रतिपादन किया है, ज—जिस (सम्यक्त्व-पराक्रम नामक अध्ययन) का, सम्मं—सम्यक्, सद्दहित्ता—श्रद्धान करके, पत्तियाइत्ता—प्रतीति करके, रोयइत्ता—रुचि

करके, फासइत्ता—स्पर्श करके, पालयित्ता—पालन करके, तीरित्ता—पार करके, कित्तइत्ता—कीर्त्तन करके, सोहइत्ता—शुद्ध करके, आराहइत्ता—आराधन करके, आणाए अणु-पालइत्ता—गुरु-आज्ञानुसार निरन्तर पालन करके, बहवे जीवा—बहुत से जीव, सिज्झति—सिद्ध होते है, बुज्झति—बुद्ध होते है, मुच्चति—मुक्त होते है, परिनिव्वायति—परिनिर्वाण को प्राप्त होते है, (और) सव्वदुक्खाण—समस्त दु खो का, अत करेंति—अन्त (समाप्त) करते हैं।

विशेषार्थ—श्री सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा कि यह सम्यक्त्व पराक्रम भगवान् के श्रीमुख से मैंने सुना था, उन्ही के द्वारा उपदिष्ट सम्यक्त्व पराक्रम का कथन मैं तुम्हारे समक्ष कर रहा हूँ। गणधर सुधर्मा स्वयं लब्धप्रतिष्ठ श्रुतकेवली होते हुए भी उक्त कथन गुरु-माहात्म्य प्रकट करने के लिए है।

सम्यक्त्व-पराक्रम आशय—आध्यात्मिक जगत् मे सम्यक्त्व के होने पर, अथवा गुण और गुणी का परस्पर अभेद सम्बन्ध मानने पर, जीव के सम्यक्त्वगुणयुक्त होने पर, जो पराक्रम—उत्तरोत्तर मूल-उत्तरगुण मे वृद्धि करते हुए कर्मरिपुओ पर विजय पाने का सामर्थ्यरूप पुरुषार्थ किया जाता है, वह सम्यक्त्व-पराक्रम है।

सम्यक्त्व-पराक्रम साधना का अतिम लक्ष्य तक पहुँचने का क्रम—सम्यक्त्व पराक्रम एक साधना है, क्रमश जिसके शिखर तक पहुँचने पर जीव अपने अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व-पराक्रम-साधना का क्रम इस प्रकार है—(१) सम्यग्तया श्रद्धा (२) शब्द, अर्थ और उभयरूप से प्रतीति—विशेष निश्चय या दृढ विश्वास, (३) अध्ययन मे कथित क्रियानुष्ठान मे रुचि (आत्मा मे अभिलाषा), (४) उक्त क्रिया का स्पर्श, (५) अध्यध्यन मे विहित क्रिया का निरतिचाररूप से पालन (आचरण), (६) उक्त क्रियानुष्ठान को पार लगाना, (७) स्वाध्यायादि द्वारा उसका कीर्तन-गुणानुवाद करना, (८) अध्ययनोक्त कार्यो के आचरण से उत्तरोत्तर गुणस्थानो को प्राप्त करके गुणो की उत्तरोत्तर शुद्धि करना, (९) उत्सर्ग और अपवाद मार्ग से इसकी आराधना करना, (१०) गुरु-आज्ञा से सतत अनुपालन-सेवन करना।

सम्यक्त्व-पराक्रम की क्रमश साधना का फल—इस क्रम से सम्यक्त्व मे पराक्रम करने से जीव सिद्ध होते हैं—सिद्धि प्राप्त कर लेते है। बुद्ध हो जाते हैं—घातिकर्मों के क्षय से बोध केवलज्ञान—पाते हैं, मुक्त होते हैं—

६७—कोह-विजए, ६८—माणविजए, ६९—माया विजए, ७०—लोहविजए, ७१—पेज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजए।

७२—सेलेसी, ७३—अकम्मया।

पद्यानु०—उसका यह अर्थ कहा ऐसे, सवेगादिक का फल क्या है?
हैं बोल तेहत्तर पृच्छा के, चिन्तन से अतिरस आता है॥
सवेग और निर्वेद धर्म-श्रद्धा गुरु या साधर्मिक सेवा।
आलोचन निन्दा वा गर्हा, सामायिक समता-रस मेवा॥
चौबीसजिनो की स्तुति-वदन, प्रतिक्रमण काय का प्रतिलेखन।
प्रत्याख्यान स्तव-स्तुतिमगल, हो तथा काल का प्रतिलेखन॥
प्रायश्चित्त, क्षमाराधन, स्वाध्याय, वाचना प्रतिपृच्छन।
परिवर्तन एव अनुप्रेक्षा, और धर्मकथा श्रुत-आराधन॥
एकाग्रचित्त का सस्थापन, सयम, तप और व्यवदान कहा।
सुखशय्या और उन्मुक्तभाव, शय्या-आसन जनरहित सदा॥
विनिवर्त्तन और समोग उपधि, होवे आहार का त्याग जहा।
कट्ठ कषाय और योग त्याग, एव शरीर का त्याग जहा॥
हो सहाय का त्याग और, भक्तो का भी होवे वर्जन।
सद्भाव-त्याग, प्रतिरूपतादि, एव हो वैयावृत्त्य ग्रहण॥
सब गुण से पूर्ण वीतरागी, और क्षान्ति मुक्ति मृदुता ऋजुता।
हो भाव, योग और करण-सत्य, एव मानस की गोपनता॥
हो वचन गुप्त और काय-गुप्त, एव मन धारित हो समता।
वचन-शरीर-समाधारण, हो ज्ञानपूर्ण यह मानवता॥
हो दर्शन और चारित्र पूर्ण, एव श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह।
चक्षु घ्राण जिह्वा इन्द्रिय, और स्पर्शेन्द्रिय का भी निग्रह॥
क्रोध मान माया एव, अतिलोभ भाव पर रहे विजय।
राग, द्वेष, मिथ्यादर्शन, इन सब पर होवे सदा विजय॥
शैलेशी निष्कर्मयोग की, स्थिति से यह जीवन चमके।
ये हैं द्वार तिहत्तर इनका, कर पालन जन-जन दमके॥

अन्वयार्थ—तस्स ण—उस (उक्त सम्यक्त्व-पराक्रम) का, अयमट्ठे—यह अर्थ (अभिधेय) है, (जो), एव—इस प्रकार, आहिज्जइ—कहा जाता है। त जहा—जैसे कि—सवेगे—सवेग, निव्वेए—निर्वेद, धम्मसद्धा—धर्मश्रद्धा, गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणया—गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा, आलोयणया—आलोचना, निंदणया—निन्दना, गरहणया—गर्हणा, सामाइए—सामायिक, चउव्वीसत्थए—चतुर्विंशति

(जिन)—स्तव, वन्दणए—(गुरु) वन्दना, पडिक्कमण—प्रतिक्रमण, काउसग्गे—कायोत्सर्ग, पच्चक्खाणे—प्रत्याख्यान, थव-थुइ-मगले—स्तव-स्तुति-मंगल, काल-पडिलेहणया—काल-प्रतिलेखना, पायच्छित्तकरणे—प्रायश्चित्तकरण, खमावणया—क्षामणा—क्षमापना, सज्झाए—स्वाध्याय, वायणया—वाचना, पडिपुच्छणया—प्रतिपृच्छा, परियट्टणा—परावर्तना=पुनरावृत्ति, अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा, धम्मकहा—धर्मकथा, सुयस्स आराहणया—श्रुत-आराधना, एगग्ग-मण-सनिवेसणया—एकाग्र मन की सन्निवेशना, सजमे—सयम, तवे - तप, वोदाणे—व्यवदान=विशुद्धि, सुहसाए—सुखशाता अप्पडिबद्धया—अप्रतिबद्धता, विवित्तसयणासण सेवणया—विविक्त शयन-आसन-सेवन, विणियट्टणा—विनिवर्तना, सभोग-पच्चक्खाणे—सभोग-प्रत्याख्यान, उवहि-पच्चक्खाणे—उपधि (उपकरण) का प्रत्याख्यान, आहार पच्चक्खाणे—आहार-प्रत्याख्यान, कसाय-पच्चक्खाणे—कषाय-प्रत्याख्यान जोग-पच्चक्खाणे—योग (मन-वचन-काय-व्यापार) का प्रत्याख्यान, सरीर-पच्चक्खाणे—शरीर प्रत्याख्यान, सहाय-पच्चक्खाणे—सहाय-प्रत्याख्यान, भत्त पच्चक्खाणे—भक्त (भोजन) का त्याग, सब्भावपच्चक्खाणे—सद्भाव प्रत्याख्यान, पडिरूवया—प्रतिरूपता, वेयावच्चे - वैयावृत्य (सेवा), सव्व-गुण-सपन्नया—सर्व-गुण सम्पन्नता, वीयरागया—वीतरागता, खती—क्षांति (क्षमा), मुत्ती—मुक्ति (निर्लोभता), अज्जवे—ऋजुता=सरलता, मद्दवे—मृदुता, भावसच्चे—भावसत्य, करणसच्चे—करण-सत्य, जोगसच्चे—योग-सत्य, मणगुत्तया—मनोगुप्ति, वयगुत्तया—वचन-गुप्ति, कायगुत्तया—काय-गुप्ति, मण-समाधारणया—मन समाधारणा, वय-समाधारणया - वचन समाधारणा, काय-समाधारणया—काय समाधारणा नाणसम्पन्नया—ज्ञान-सम्पन्नता, दसण-सम्पन्नया—दर्शन-सम्पन्नता, चरित्त सम्पन्नया—चारित्र सम्पन्नता, सोइन्दिय निग्गहे—श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, चक्खिन्दियनिग्गहे—चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, घाणिन्दिय-निग्गहे—घ्राणेन्द्रिय निग्रह, जिब्भिन्दियनिग्गहे—जिह्वेन्द्रिय निग्रह, फासिन्दिय-निग्गहे—स्पर्शेन्द्रिय निग्रह, कोह-विजए—क्रोध विजय, माण-विजए—मान-विजय, माया-विजए—माया-विजय, लोह-विजए—लोभ-विजय, पेज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजए—प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शन विजय, सेलेसी—शैलेशी, अकम्मया—अकर्मता।

विशेषार्थ—सूत्रकार महर्षि ने इस सूत्र के द्वारा प्रस्तुत अध्ययन मे आने वाले विषयो की अनुक्रमणिका दे दी है। ताकि विषय-विवेचन मे क्रम और सुगमता रहे। इन ७३ बोलो (सम्यक्त्व-पराक्रम के मूल सूत्रो) के विषय मे आगे क्रमश प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की जाएगी। इन शब्दो का अर्थ भी यथास्थान दिया जायगा।

२ (१) प्रथम सूत्र—सवेग—

मूल—(प्र०) सवेगेण भते! जीवे किं जणयइ?

६७—कोह-विजए, ६८—माणविजए, ६९—माया विजए, ७०—लोहविजए, ७१—पेज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजए ।

७२—सेलेसी, ७३—अकम्मया ।

पद्यानु०—उसका यह अर्थ कहा ऐसे, सवेगादिक का फल क्या है ?
है बोल तेहत्तर पृच्छा के, चिन्तन से अतिरस आता है ॥
सवेग और निर्वेद धर्म-श्रद्धा गुरु या साधर्मिक सेवा ।
आलोचन निन्दा वा गर्हा, सामायिक समता-रस मेवा ॥
चौबीसजिनो की स्तुति-वदन, प्रतिक्रमण काय का प्रतिलेखन ।
प्रत्याख्यान स्तव-स्तुतिमगल, हो तथा काल का प्रतिलेखन ॥
प्रायश्चित्त, क्षमाराधन, स्वाध्याय, वाचना प्रतिपृच्छन ।
परिवर्तन एव अनुप्रेक्षा, और धर्मकथा श्रुत-आराधन ॥
एकाग्रचित्त का सस्थापन, सयम, तप और व्यवदान कहा ।
सुखशय्या और उन्मुक्तभाव, शय्या-आसन जनरहित सदा ॥
विनिवर्त्तन और सभोग उपधि, होवे आहार का त्याग जहा ।
कटु कषाय और योग त्याग, एव शरीर का त्याग जहा ॥
हो सहाय का त्याग और, भक्तो का भी होवे वर्जन ।
सद्‌भाव—त्याग, प्रतिरूपतादि, एव हो वैयावृत्त्य ग्रहण ॥
सब गुण से पूर्ण वीतरागी, और क्षान्ति मुक्ति मृदुता ऋजुता ।
हो भाव, योग और करण-सत्य, एव मानम की गोपनता ॥
हो वचन गुप्त और काय-गुप्त, एव मन धारित हो समता ।
वचन-शरीर-समाधारण, हो ज्ञानपूर्ण यह मानवता ॥
हो दर्शन और चारित्र पूर्ण, एव श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह ।
चक्षु घ्राण जिह्वा इन्द्रिय, और स्पर्शेन्द्रिय का भी निग्रह ॥
क्रोध मान माया एव, अतिलोभ भाव पर रहे विजय ।
राग, द्वेष, मिथ्यादर्शन, इन सब पर होवे सदा विजय ॥
शैलेशी निष्कर्मयोग की, स्थिति से यह जीवन चमके ।
ये हैं द्वार तिहत्तर इनका, कर पालन जन-जन दमके ॥

अन्वयार्थ—तस्स ण—उस (उक्त सम्यक्त्व-पराक्रम) का, अयमट्ठे—यह अर्थ (अभिधेय) है, (जो), एव—इस प्रकार, आहिज्जइ—कहा जाता है । त जहा—जैसे कि—सवेगे—सवेग, निव्वेए—निर्वेद, धम्मसद्धा—धर्मश्रद्धा, गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणया—गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा, आलोयणया—आलोचना, निंदणया—निन्दना, गरहणया—गर्हणा, सामाइए—सामायिक, चउव्वीसत्थए—चतुर्विंशति

(जिन)—स्तव, वन्दणए—(गुरु) वन्दना, पडिक्कमण—प्रतिक्रमण, काउसग्गे—कायोत्सर्ग, पच्चक्खाणे—प्रत्याख्यान, थव-थुइ-मंगले—स्तव-स्तुति-मंगल, काल-पडिलेहणया—काल-प्रतिलेखना, पायच्छित्तकरणे—प्रायश्चित्तकरण, खमावणया—खामणा—क्षमापना, सज्झाए—स्वाध्याय, वायणया—वाचना, पडिपुच्छणया—प्रतिपृच्छा, परियट्टणा—परावर्तना=पुनरावृत्ति, अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा, धम्मकहा—धर्मकथा, सुयस्स आराहणया—श्रुत-आराधना, एगग्ग-मण-सन्निवेसणया—एकाग्र मन की सन्निवेशना, संजमे—संयम, तवे - तप, वोदाणे—व्यवदान=विशुद्धि, सुहसाए—सुखसाता अप्पडिबद्धया—अप्रतिबद्धता, विवित्तसयणासण सेवणया- -विविक्त शयन-आसन-सेवन, विणियट्टणा—विनिवर्तना, संभोग-पच्चक्खाणे—संभोग-प्रत्याख्यान, उवहि-पच्चक्खाणे—उपधि (उपकरण) का प्रत्याख्यान, आहार पच्चक्खाणे—आहार-प्रत्याखान, कसाय-पच्चक्खाणे—कषाय-प्रत्याख्यान, जोग-पच्चक्खाणे—योग (मन-वचन-काय-व्यापार) का प्रत्याख्यान, सरीर-पच्चक्खाणे—शरीर प्रत्याख्यान, सहाय-पच्चक्खाणे—सहाय-प्रत्याख्यान, भत्त पच्चक्खाणे—भक्त (भोजन) का त्याग, सब्भावपच्चक्खाणे—सद्भाव प्रत्याख्यान, पडिरूवया—प्रतिरूपता, वेयावच्चे - वैयावृत्य (सेवा), सव्व-गुण-संपण्णया—सर्व-गुण सम्पन्नता, वीयरागया—वीतरागता, खंती—क्षांति (क्षमा), मुत्ती—मुक्ति (निर्लोभता), अज्जवे—ऋजुता=सरलता, मद्दवे—मृदुता, भावसच्चे—भावसत्य, करणसच्चे—करण-सत्य, जोगसच्चे-योग-सत्य, मणगुत्तया—मनोगुप्ति, वयगुत्तया—वचन-गुप्ति, कायगुत्तया—काय-गुप्ति, मण-समाधारणया—मन समाधारणा, वय-समाधारणया—वचन समाधारणा, काय-समाधारणया—काय समाधारणा नाणसम्पन्नया—ज्ञान-सम्पन्नता, दंसण-सम्पन्नया—दर्शन-सम्पन्नता, चरित्त सम्पन्नया—चारित्र सम्पन्नता, सोइंदिय निग्गहे—श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, चक्खिंदियनिग्गहे—चक्षुरिन्द्रिय निग्रह, घाणिंदिय-निग्गहे—घ्राणेन्द्रिय निग्रह, जिब्भिंदियनिग्गहे—जिह्वेन्द्रिय निग्रह, फासिंदिय-निग्गहे—स्पर्शेन्द्रिय निग्रह, कोह-विजए—क्रोध विजय, माण-विजए—मान-विजय, माया-विजए—माया-विजय, लोह-विजए—लोभ-विजय, पेज्ज-दोस-मिच्छादंसण-विजए—प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शन विजय, सेलेसी—शैलेशी, अकम्मया—अकर्मता।

विशेषार्थ—सूत्रकार महर्षि ने इस सूत्र के द्वारा प्रस्तुत अध्ययन मे आने वाले विषयो की अनुक्रमणिका दे दी है। ताकि विषय-विवेचन मे क्रम और सुगमता रहे। इन ७३ बोलो (सम्यक्त्व-पराक्रम के मूल सूत्रो) के विषय मे आगे क्रमश प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की जाएगी। इन शब्दो का अर्थ भी यथास्थान दिया जायगा।

२ (१) प्रथम सूत्र—संवेग—

मूल—(प्र०) संवेगेण भंते! जीवे किं जणयइ ?

(उ०)—संवेगेण अणुत्तर धम्मसद्धं जणयइ ।

अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ ।

अणंताणुबंधि-कोह-माण-माया-लोभे-खवेइ । नवं च कम्मं न बंधइ । तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसण-विसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइ । सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ।

पद्यानु०—पाकर संवेग भदन्त ! कहो, क्या जीव यहाँ पर पाता है ?
यह जीव अनुत्तर धार्मिक रुचि, संवेगभाव से पाता है ॥
जिससे करता है प्राप्त शीघ्र, संवेग भाव निज जीवन में ।
होता है माया मान लोभ, और तीव्र क्रोध भी क्षय क्षण में ॥
संचय न करे नव कर्मों का, जग में कषाय-क्षय होने से ।
मिथ्यात्व-विशोधन से करता दर्शन-आराधन मतिबल से ॥
दर्शन-विशोधि के होने से कतिपय उस भव में सिद्ध होते ।
यदि कर्म शेष हो तो भी ना, भव तीजे का लंघन करते ॥

अन्वयार्थ—भन्ते !—भगवन् (भदन्त)!, संवेगेण—संवेग (मोक्षाभिलाषा) से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

संवेगेण—संवेग से, (जीव) अणुत्तरं—अनुत्तर—उत्कृष्ट, धम्मसद्धं—श्रुत-चारित्ररूप धर्म पर श्रद्धा को, जणयइ—प्राप्त होता है, अणुत्तराए धम्मसद्धाए—अनुत्तर धर्मश्रद्धा से, हव्वं—शीघ्र ही, संवेगं—संवेग, आगच्छइ—आता है (जिससे) अणंताणुबन्धि—अनन्तानुबन्धी, कोह-माण-माया-लोभे—क्रोध, मान, माया, और लोभ का, खवेइ—क्षय करता है, च—और फिर, नवं कम्मं—नये कर्मों को, न बंधइ—नहीं बांधता, तप्पच्चइयं—उस (अनन्तानुबन्धी कषाय-क्षय) के निमित्त (कारण) से, मिच्छत्त विसोहिं—मिथ्यात्व-विशुद्धि, काऊण—करके, (जीव), दंसणाराहए—दर्शना-राधक, भवइ—होता है, दंसण-विसोहीए—दर्शन-विशोधि के द्वारा, विसुद्धाए—विशुद्ध होने से, अत्थेगइए—कई एक (भव्य जीव), तेणेव भवग्गहणेण—उसी जन्म से, सिज्झइ—सिद्ध=मुक्त हो जाते हैं, च—और (कुछ ऐसे हैं जो), सोहीए विसुद्धाए—दर्शन विशोधि से विशुद्ध होने पर, तच्चं पुण भवग्गहणं—तीसरे भव का तो, न अइक्कमइ—अतिक्रमण नहीं करते (अर्थात्—तृतीय जन्म में तो अवश्य ही उनका मोक्ष हो जाता है) ।

विशेषार्थ—सवेग का फल एक दृष्टि मे—(१) सवेग से उत्कृष्ट धर्म-श्रद्धा, (२) परम धर्मश्रद्धा से (सवेग) मोक्षाभिलाषा या ससारदु खभीरुता, (३) अनन्तानुबन्धी कषाय-क्षय, (४) नूतन-कर्मबन्ध-निरोध, (५) मिथ्यात्वक्षय निरतिचार क्षायिक सम्यग्दर्शन की आराधना, (६) दर्शन विशुद्धि से निर्मल भव्यात्मा का या तो उसी भव मे मोक्ष, या तीसरे भव तक मे अवश्य मोक्षप्राप्ति। जैसे—मरुदेवी माता को उसी भव मे मोक्ष प्राप्त हो गया था।

सवेग के विशिष्ट अर्थ—सम्यक् उद्वेग—मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा, अभिलापा या ससार के दु खो से भीति पाकर मोक्ष-सुखाभिलाषा। देव, गुरु, धर्म एव तत्वो पर निश्चल अनुराग सवेग है।[1]

'नव च कम्म न बन्धइ' का तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि के नया अशुभकर्म नही बधता ऐसा नियम नही है, अपितु कषायजनित अशुभकर्मबन्ध होता ही है। अत शान्त्याचार्य के अनुसार इस पक्ति का अर्थ यो समझना चाहिए कि जिसके अनन्तानुबन्धी कपाय सर्वथा क्षीण हो चुके है, जिसका दर्शन विशुद्ध हो गया है, उसके नये सिरे से मिथ्यात्व-जनित कर्मबन्ध नही होता।

३ (२) द्वितीय सूत्र निर्वेद—

मूल—(प्र०) निव्वेएण भते! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) निव्वेएण दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्व विसएसु विरज्जइ। सव्व विसएसु विरज्जमाणे आरम परिच्चाय करेइ। आरम्भ परिच्चाय[2] करेमाणे ससारमग्ग वोच्छिदइ, सिद्धि मग्गे पडिवन्ने य भवई।

पद्यानु०—भते! निर्वेद-भाव पा कर, यह जीव यहाँ क्या पाता है ?
वह वैराग्य देव-नर-तिर्यंचो के, कामभोग मे पाता है॥
इससे जग के सब विपयो से, वह नर विरक्त हो जाता है।
नानविध आरम्भो का जिससे, वह परित्याग कर जाता है॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७, (ख) दशवै अ १ टीका
(ग) आचारागचूर्णि १।४३, (घ) द्रव्य सग्रह टीका ३५।११२।७
(ङ) नारक-तिर्यंच मनुष्य-देवभवकरात् ससारदु खात् नित्यभीरुत्व सवेग।
—सर्वार्थसिद्धि ६।२४

२ पाठान्तर—'आरम्भ-परिग्गह परिच्चाय'—अर्थात् आरम्भ और परिग्रह का परित्याग।

(उ०)—संवेगेण अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ ।

अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ ।

अणंताणुबंधि-कोह-माण-माया-लोभे-खवेइ । नवं च कम्मं न बंधइ । तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसण-विसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइ । सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ।

पद्यानु०—पाकर संवेग भदन्त ! कहे, क्या जीव यहाँ पर पाता है ?
यह जीव अनुत्तर धार्मिक रुचि, संवेगभाव से पाता है ॥
जिससे करता है प्राप्त शीघ्र, संवेग भाव निज जीवन में ।
होता है माया मान लोभ, और तीव्र क्रोध भी क्षय क्षण में ॥
संचय न करे नव कर्मों का, जग में कषाय-क्षय होने से ।
मिथ्यात्व-विशोधन से करता दर्शन-आराधन मतिबल से ॥
दर्शन-विशोधि के होने से कतिपय उस भव में सिद्ध होते ।
यदि कर्म शेष हो तो भी ना, भव तीजे का लंघन करते ॥

अन्वयार्थ—भन्ते !—भगवन् (भदन्त)!, संवेगेण—संवेग (मोक्षाभिलाषा) से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

संवेगेण—संवेग से, (जीव) अणुत्तरं—अनुत्तर—उत्कृष्ट, धम्मसद्धं—श्रुत-चारित्ररूप धर्म पर श्रद्धा को, जणयइ—प्राप्त होता है, अणुत्तराए धम्मसद्धाए—अनुत्तर धर्मश्रद्धा से, हव्वं—शीघ्र ही, संवेगं—संवेग, आगच्छइ—आता है (जिससे) अणंताणुबंधि—अनन्तानुबन्धी, कोह-माण-माया-लोभे—क्रोध, मान, माया, और लोभ का, खवेइ—क्षय करता है, च—और फिर, नवं कम्मं—नये कर्मों को, न बंधइ—नहीं बांधता, तप्पच्चइयं—उस (अनन्तानुबन्धी कषाय-क्षय) के निमित्त (कारण) से, मिच्छत्त विसोहिं—मिथ्यात्व-विशुद्धि, काऊण—करके, (जीव), दंसणाराहए—दर्शना-राधक, भवइ—होता है, दंसण-विसोहीए—दर्शन-विशोधि के द्वारा, विसुद्धाए—विशुद्ध होने से, अत्थेगइए—कई एक (भव्य जीव), तेणेव भवग्गहणेणं—उसी जन्म से, सिज्झइ—सिद्ध=मुक्त हो जाते हैं, च—और (कुछ ऐसे हैं जो), सोहीए विसुद्धाए—दर्शन विशोधि से विशुद्ध होने पर, तच्चं पुणं भवग्गहणं—तीसरे भव का तो, न अइक्कमइ—अतिक्रमण नहीं करते (अर्थात्—तृतीय जन्म में तो अवश्य ही उनका मोक्ष हो जाता है) ।

विशेषार्थ—सवेग का फल एक दृष्टि से—(१) सवेग से, उत्कृष्ट धर्म-श्रद्धा, (२) परम धर्मश्रद्धा से (सवेग) मोक्षाभिलाषा या ससारदु खभीरुता, (३) अनन्तानुबन्धी कषाय-क्षय, (४) नूतन-कर्मबन्ध-निरोध, (५) मिथ्यात्वक्षय निरतिचार क्षायिक सम्यग्दर्शन की आराधना, (६) दर्शन विशुद्धि से निर्मल भव्यात्मा का या तो उसी भव मे मोक्ष, या तीसरे भव तक मे अवश्य मोक्षप्राप्ति। जैसे—मरुदेवी माता को उसी भव मे मोक्ष प्राप्त हो गया था।

सवेग के विशिष्ट अर्थ—सम्यक् उद्वेग—मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा, अभिलाषा या ससार के दु खो से भीति पाकर मोक्ष-सुखाभिलाषा। देव, गुरु, धर्म एव तत्त्वो पर निश्चल अनुराग सवेग है।[1]

'नव च कम्म न बन्धइ' का तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि के नया अशुभकर्म नही बधता ऐसा नियम नही है, अपितु कषायजनित अशुभकर्मबन्ध होता ही है। अत शान्त्याचार्य के अनुसार इस पक्ति का अर्थ यो समझना चाहिए कि जिसके अनन्तानुबन्धी कषाय सर्वथा क्षीण हो चुके हैं, जिसका दर्शन विशुद्ध हो गया है, उसके नये सिरे से मिथ्यात्व-जनित कर्मबन्ध नही होता।

३ (२) द्वितीय सूत्र निर्वेद—

मूल—(प्र०) निव्वेएण भते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ०) निव्वेएण दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेय हव्वमागच्छइ। सव्व विसएसु विरज्जइ। सव्व विसएसु विरज्जमाणे आरभ परिच्चाय करेइ। आरम्भ परिच्चाय[2] करेमाणे ससारमग्ग वोच्छिदइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ।

पद्यानु०—भते ! निर्वेद-भाव पा कर, यह जीव यहाँ क्या पाता है ?
वह वैराग्य देव-नर-तिर्यंचो के, कामभोग मे पाता है॥
इससे जग के सब विषयो से, वह नर विरक्त हो जाता है।
नानविध आरम्भो का जिससे, वह परित्याग कर जाता है॥

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७, (ख) दशवै अ १ टीका
(ग) आचारागचूर्णि १।४।३, (घ) द्रव्य सग्रह टीका ३५।११२।७
(ड) नारक-तिर्यंच मनुष्य-देवभवकरात् ससारदु खात् नित्यभीरुता सवेग।
—सर्वार्थसिद्धि ६।२४

२ पाठान्तर—'आरम्भ-परिग्गह परिच्चाय'—अर्थात् आरम्भ और परिग्रह का परित्याग।

आरम्भ-त्याग करने वाला, भव-पथ का है छेदन करता।
जिससे वह सहज सुगमता से, शिवपथ मे बढता ही रहता॥

अन्वयार्थ—भते!—भगवन्, निव्वेएण—निर्वेद से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है।

निव्वेएण—निर्वेद से, (जीव), दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु—देवता, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी, कामभोगेसु—कामभोगो मे, हव्व—शीघ्र ही, निव्वेएण—निर्वेदभाव—वैराग्य को, आगच्छइ—प्राप्त करता है। (फिर वह) सव्व-विसएसु—विरज्जमाणे—सर्वविषयो से विरक्त हुआ, वह, आरम्भ-परिच्चाय—आरम्भ का परित्याग, करेइ—कर देता हे। आरम्भ-परिच्चाय—आरम्भ-परित्याग, करेमाणे—करता हुआ व्यक्ति, ससारमग्ग—ससार के माग का, वोच्छिदइ—विच्छेद कर देता है, य—और, सिद्धिमग्गे—सिद्धि-मुक्ति मार्ग, पडिवन्ने—ग्रहण करने वाला, भवइ होता है।

विशेषार्थ—निर्वेद विभिन्न अर्थो में—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—सासारिक विषयो के त्याग की भावना, (२) मोक्षप्राभृत के अनुसार—ससार, शरीर और भोगो से विरक्ति, (३) पचाध्यायी के अनुसार—समस्त अभिलाषाओ का त्याग।[1]

निर्वेद का फल सक्षेप मे—(१) निर्वेद से समस्त कामभोगो और सासारिक विषयो से विरक्ति, (२) विषय-विरक्ति से आरम्भ-परित्याग, (३) आरभ-परित्याग से चतुर्गतिजन्म-मरणरूप ससार के मार्ग का विच्छेद, साथ ही सिद्धिमार्ग की प्राप्ति।

४ (३) तृतीय सूत्र धर्मश्रद्धा—

मूल—(प्र०) धम्मसद्धाए ण भते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) धम्म-सद्धाए ण सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ अगार-

---

१ (क) निर्वेदेन—सामान्यत ससार विषयेण कदाऽसौत्यक्ष्यामीत्येवरूपेण
—बृहद् वृत्ति ५७८

(ख) निर्वेद ससार-शरीर-भोग-विरागत।—मोक्षप्राभृत ८२ टीका

(ग) त्याग सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो।—पचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३

धम्म च णं चयइ । अणगारे ण जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाण छेयण-भेयण संजोगाईण वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाह च सुह निव्वत्तेइ ।

पद्यानु०—धार्मिक श्रद्धा के होने से, भन्ते ! क्या जीव यहाँ पाता ?

सातासुख मे रतियुत् प्राणी, मन मे विरक्ति को पा लेता ॥
देता त्याग आगारधर्म को, और बन जाता अनगार यहाँ ।
सब छेदन-भेदन छोडछाड, करता सेवन तप-कार्य यहाँ ॥
सयोग-वियोगादिक हैं जितने, शारीरिक तथा मानसिक दुख ।
करता उनका विच्छेद और, पाता निर्बाध जगत् मे सुख ॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन !, धम्मसद्धाए णं—धर्मश्रद्धा से जीवे—जीव ने, किं—क्या, जणयइ—उपलब्धि होती है ।

धम्मसद्धाए ण—धर्मश्रद्धा से, सायासोक्खेसु—साता-सुखो=साता वेदनीय-जन्य विषय-सुखो मे, रज्जमाणे—अनुरक्ति, आसक्ति मे, विरज्जइ—विरक्त हो जाता है, च—और, अगारधम्म ण—आगारधर्म=गृहस्थ सम्बन्धी धर्म=प्रवृत्ति को, चयइ—त्याग कर देता है । (फिर), अणगारे ण—अनगार होकर, जीवे—जीव, छेयण-भेयण—छेदन-भेदन तथा, सजोगाईण—सयोग आदि (क्रमश), सारीर माणसाण दुक्खाण—शारीरिक और मानसिक दु खो का, वोच्छेय—विच्छेद, करेइ—कर डालता है, च—और (फिर), अव्वाबाह—अव्याबाध—समस्त बाधा रहित, सुह—सुख को, निव्वत्तेइ—निष्पन्न=प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ—धर्मश्रद्धा का फल एक दृष्टि मे—(१) धर्मश्रद्धा से साता-वेदनीय कर्म जनित सुखोपभोग मे आसक्ति से विरक्ति, (२) फिर गृहस्थ धर्म छोडकर अनगार धर्म का ग्रहण, (३) छेदन-भेदन आदि शारीरिक और अनिष्ट-सयोगादि मानसिक दु खो का विनाश, (४) निराबाध सुख की प्राप्ति ।

धर्मश्रद्धा का विशिष्ट अर्थ—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का आचरण करने की अभिलाषा, या तीव्र धर्मेच्छा ।

छेयण भेयण-सजोगाईण सारीर-माणसाण दुक्खाण अर्थ—यह पक्ति छेदन भेदन, शारीरिक और सयोगादि मानसिक दु खो से सम्बन्धित है । अर्थात्—छेदन—तलवार आदि से टुकडे-टुकडे कर देना, काट देना, भेदन—

आरम्भ-त्याग करने वाला, भव-पथ का है छेदन करता ।
जिससे वह सहज सुगमता से, शिवपथ मे बढता ही रहता ॥

अन्वयार्थ—भते !—भगवन्, निव्वेएण—निर्वेद से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ।

निव्वेएण—निर्वेद से, (जीव), दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु—देवता, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी, कामभोगेसु—कामभोगो मे, हव्व—शीघ्र ही, निव्वेएण—निर्वेदभाव—वैराग्य को, आगच्छइ—प्राप्त करता है । (फिर वह) सव्व-विसएसु—विरज्जमाणे—सर्वविषयो से विरक्त हुआ, वह, आरम्भ-परिच्चाय—आरम्भ का परित्याग, करेइ—कर देता है । आरम्भ-परिच्चाय—आरम्भ-परित्याग, करेमाणे—करता हुआ व्यक्ति, ससारमग्ग—ससार के मार्ग का, वोच्छिन्दइ—विच्छेद कर देता है, य—और, सिद्धिमग्गे—सिद्धि-मुक्ति मार्ग, पडिवन्ने—ग्रहण करने वाला, भवइ होता है ।

विशेषार्थ—निर्वेद विभिन्न अर्थों में—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—सासारिक विषयो के त्याग की भावना, (२) मोक्षप्राभृत के अनुसार—ससार, शरीर और भोगो से विरक्ति, (३) पचाध्यायी के अनुसार—समस्त अभिलाषाओ का त्याग ।[1]

निर्वेद का फल सक्षेप मे—(१) निर्वेद से समस्त कामभोगो और सासारिक विषयो से विरक्ति, (२) विषय-विरक्ति से आरम्भ-परित्याग, (३) आरम-परित्याग से चतुर्गतिजन्म-मरणरूप ससार के मार्ग का विच्छेद, साथ ही सिद्धिमार्ग की प्राप्ति ।

४ (३) तृतीय सूत्र धर्मश्रद्धा—

मूल—(प्र०) धम्मसद्धाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) धम्म-सद्धाए ण सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ अगार-

---

१ (क) निर्वेदेन—सामान्यत ससार विषयेण कदाऽसौत्यक्ष्यामीत्येवरूपेण
—बृहद् वृत्ति ५७८

(ख) निर्वेद ससार-शरीर-भोग-विरागत । —मोक्षप्राभृत ८२ टीका

(ग) त्याग सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो । —पचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३

धम्मं च णं चयइ । अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ।

पद्यानु०—धार्मिक श्रद्धा के होने से, भन्ते ! क्या जीव यहाँ पाता ?
सातासुख मे रतियुत प्राणी, मन मे विरक्ति को पा लेता ॥
देता त्याग आगारधर्म को, और बन जाता अनगार यहाँ ।
सब छेदन-भेदन छोडछाड, करता सेवन तप-कार्य यहाँ ॥
सयोग-वियोगादिक हैं जितने, शारीरिक तथा मानसिक दुख ।
करता उनका विच्छेद और, पाता निर्बाध जगत् मे सुख ॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन् !, धम्मसद्धाए णं—धर्मश्रद्धा से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्धि होती है ।

धम्मसद्धाए णं—धर्मश्रद्धा से, सायासोक्खेसु—साता-सुखो=साता वेदनीय-कर्मजन्य विषय-सुखो मे, रज्जमाणे—अनुरक्ति, आसक्ति से, विरज्जइ—विरक्त हो जाता है, च—और, अगारधम्मं णं—आगारधर्म=गृहस्थ सम्बन्धी धर्म=प्रवृत्ति का, चयइ—त्याग कर देता है । (फिर), अणगारे णं—अनगार होकर, जीवे—जीव, छेयण-भेयण—छेदन-भेदन तथा, संजोगाईणं—सयोग आदि (क्रमश), सारीर माण-साण दुक्खाणं—शारीरिक और मानसिक दु खो का, वोच्छेयं—विच्छेद, करेइ—कर डालता है, च—और (फिर), अव्वाबाहं—अव्याबाध—समस्त बाधा रहित, सुहं—सुख को, निव्वत्तेइ—निष्पन्न=प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ—धर्मश्रद्धा का फल एक दृष्टि से—(१) धर्मश्रद्धा से साता-वेदनीय कर्म जनित सुखोपभोग मे आसक्ति से विरक्ति, (२) फिर गृहस्थ धर्म छोडकर अनगार धर्म का ग्रहण, (३) छेदन-भेदन आदि शारीरिक और अनिष्ट-सयोगादि मानसिक दु खो का विनाश, (४) निराबाध सुख की प्राप्ति ।

धर्मश्रद्धा का विशिष्ट अर्थ—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का आचरण करने की अभिलाषा, या तीव्र धर्मेच्छा ।

छेयण भेयण-संजोगाईणं सारीर-माणसाणं दुक्खाणं अर्थ—यह पक्ति छेदन-भेदन, शारीरिक और सयोगादि मानसिक दु खो से सम्बन्धित है । अर्थात्—छेदन—तलवार आदि से टुकडे-टुकडे कर देना, काट देना, भेदन—

आरम्भ-त्याग करने वाला, भव-पथ का है छेदन करता ।
जिससे वह सहज सुगमता से, शिवपथ मे बढता ही रहता ॥

अन्वयार्थ—भंते !—भगवन्, निव्वेएण—निर्वेद से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ।

निव्वेएण—निर्वेद से, (जीव), दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु—देवता, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी, कामभोगेसु—कामभोगो मे, हव्व—शीघ्र ही, निव्वेएण—निर्वेदभाव—वैराग्य को, आगच्छइ—प्राप्त करता है । (फिर वह) सव्व-विसएसु—विरज्जमाणे—सर्वविषयो से विरक्त हुआ, वह, आरम्भ-परिच्चाय—आरम्भ का परित्याग, करेइ—कर देता है । आरम्भ-परिच्चाय—आरम्भ-परित्याग, करेमाणे—करता हुआ व्यक्ति, ससारमग्ग—ससार के मार्ग का, वोच्छिदइ—विच्छेद कर देता है, य—और, सिद्धिमग्गे—सिद्धि-मुक्ति मार्ग, पडिवन्न—ग्रहण करने वाला, भवइ होता है ।

विशेषार्थ—निर्वेद विभिन्न अर्थों में—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—सासारिक विषयो के त्याग की भावना, (२) मोक्षप्राभृत के अनुसार—ससार, शरीर और भोगो से विरक्ति, (३) पचाध्यायी के अनुसार—समस्त अभिलाषाओ का त्याग ।[1]

निर्वेद का फल सक्षेप मे—(१) निर्वेद से समस्त कामभोगो और सासारिक विषयो से विरक्ति, (२) विषय-विरक्ति से आरम्भ-परित्याग, (३) आरभ-परित्याग से चतुर्गतिजन्म-मरणरूप ससार के मार्ग का विच्छेद, साथ ही सिद्धिमार्ग की प्राप्ति ।

४ (३) तृतीय सूत्र धर्मश्रद्धा—

मूल—(प्र०) धम्मसद्धाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) धम्म-सद्धाए ण सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ अगार-

---

१ (क) निर्वेदेन—सामान्यत ससार विषयेण कदाऽसौत्यक्ष्यामीत्येवरूपेण
—बृहद् वृत्ति ५७८

(ख) निर्वेद ससार-शरीर-भोग-विरागत । —मोक्षप्राभृत ८२ टीका

(ग) त्याग सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो । —पचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३

धम्मं च ण चयइ। अणगारे ण जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ।

पद्यानु०—धार्मिक श्रद्धा के होने से, भन्ते! क्या जीव यहाँ पाता?

सातासुख मे रतियुत् प्राणी, मन मे विरक्ति को पा लेता॥
देता त्याग आगारधर्म को, और बन जाता अनगार यहाँ।
सब छेदन-भेदन छोड़छाड़, करता सेवन तप-कार्य यहाँ॥
सयोग-वियोगादिक हैं जितने, शारीरिक तथा मानसिक दुख।
करता उनका विच्छेद और, पाता निर्बाध जगत् मे सुख॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्!, धम्मसद्धाए णं—धर्मश्रद्धा से जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्धि होती है।

धम्मसद्धाए णं—धर्मश्रद्धा से, सायासोक्खेसु—साता-सुखो=साता वेदनीय-कर्मजन्य विषय-सुखो मे, रज्जमाणे—अनुरक्ति, आसक्ति से, विरज्जइ—विरक्त हो जाता है, च—और, अगारधम्मं णं—आगारधर्म=गृहस्थ सम्बन्धी धर्म=प्रवृत्ति का, चयइ—त्याग कर देता है। (फिर), अणगारे णं—अनगार होकर, जीवे—जीव, छेयण-भेयण—छेदन-भेदन तथा, संजोगाईण—सयोग आदि (क्रमश), सारीर माण-साणं दुक्खाणं—शारीरिक और मानसिक दु खो का, वोच्छेयं—विच्छेद, करेइ—कर डालता है, च—और (फिर), अव्वाबाहं—अव्याबाध—समस्त बाधा रहित, सुहं—सुख को, निव्वत्तेइ—निष्पन्न=प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—धर्मश्रद्धा का फल एक दृष्टि से—(१) धर्मश्रद्धा से साता-वेदनीय कर्म जनित सुखोपभोग मे आसक्ति से विरक्ति, (२) फिर गृहस्थ धर्म छोडकर अनगार धर्म का ग्रहण, (३) छेदन-भेदन आदि शारीरिक और अनिष्ट-सयोगादि मानसिक दु खो का विनाश, (४) निराबाध सुख की प्राप्ति।

धर्मश्रद्धा का विशिष्ट अर्थ—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का आचरण करने की अभिलाषा, या तीव्र धर्मेच्छा।

छेयण भेयण-संजोगाईण सारीर-माणसाणं दुक्खाणं अर्थ—यह पंक्ति छेदन भेदन, शारीरिक और सयोगादि मानसिक दु खो से सम्बन्धित है। अर्थात्—छेदन—तलवार आदि से टुकडे-टुकडे कर देना, काट देना, भेदन—

भाले आदि से बींधना, चीरना, आदि शारीरिक, तथा संयोग = इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग, आदि मानसिक दुःखों का (विच्छेद)।[1]

अव्याबाधसुख—सब प्रकार की बाधाओं से रहित अनवरत मोक्षसुख, निजगुण का आध्यात्मिक सुख, जो कि नित्य, अनन्त और शाश्वत है।

५ (४) चतुर्थ सूत्र गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषा—

मूल—(प्र०) गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयई?

(उ०) गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं विणय-पडिवत्तिं जणयइ। विणय-पडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गइओ निरुम्भइ। वण्ण-संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए माणुस-देव-सोग्गइयो निबंधइ, सिद्धि सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणय-मूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ।

पद्यानु०— गुरु-साधर्मिक सेवा से, यह जीव कहो क्या पाता है?
इनकी सेवा करके वह, शुभ विनय-धर्म को पाता है॥
विनयशील परिवाद और, अविनय न कभी गुरु का करता।
इसलिए नैरयिक-नर-तिर्यंक् सुर दुर्गति का वारण करता॥
श्लाघा एवं गुणगण प्रकाश, बहुमान और सेवा द्वारा।
सम्बन्ध जोड़ता है अपना, मानव और देव सुगतियों से॥
करता प्रशस्त पथ सिद्धि सुगति, और विनयमूल शुभ कामों को।
बढ़ता है सिद्ध विनय-पथ पर, लाता है आगे पर जन को॥

अन्वयार्थ—भंते!—भगवन्!, गुरु-साहम्मिय सुस्सूसणयाए—गुरु और साधर्मिकों की शुश्रूषा से, जीवे—जीव, किं—क्या (फल), जणयइ—प्राप्त करता है।

गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणयाए—गुरु और साधर्मिकों की शुश्रूषा से (जीव) विणय-पडिवत्तिं—विनय-प्रतिपत्ति को, जणयइ—प्राप्त होता है। य—और, विणय-

---

१ छेदन—खड्गादिना द्विधाकरणम् भेदन-कुन्तादिना विदारण आदि शब्दस्येहापि सम्बन्धात् ताडनादयश्च गृह्यन्ते। संयोग—प्रस्तावादनिष्ट सम्बन्ध। आदि-शब्दादिष्ट-वियोगादि-ग्रह। तत छेदन-भेदनादिना शारीरिक दुःखाना, संयोगादिना मानस-दुःखाना व्यवच्छेद।—बृहद्वृत्ति पत्र ५७८

पडिवन्नेण—विनय-प्रतिपन्न, जीवे—जीव, अणच्चासायणसीले—आशातना-रहित स्वभाव वाला होकर, नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गइओ—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गतियो का, निरुम्भइ—निरोध करता है। वण्ण-सजलण भत्ति-बहुमाणयाए—वर्ण=श्लाघा, सज्वलन=गुणो का प्रकाशन, भक्ति और बहुमान से, मणुस्स-देव-सोग्गइओ—मनुष्य और देव सम्बन्धी सुगतियो का, निबन्धइ—बन्ध करता है, य—और, सोग्गइ—श्रेष्ठगतिरूप, सिद्धि—सिद्धि की, विसोहेइ—विशुद्धि करता है। य—तथा, पसत्थाइ—प्रशस्त, विणय-मूलाइ—विनयमूलक, सव्व-कज्जाइ—सब कार्यों को, साहेइ—सिद्ध कर लेता है। य—और, अन्ने—अन्य, बहवे जीवे—बहुत-से जीवो को भी, विणइत्ता—विनय ग्रहण कराने वाला, भवइ—होता है।

विशेषार्थ—प्रस्तुत सूत्र मे गुरु और सार्धर्मिक की शुश्रूषा का निम्नोक्त फल मुख्य रूप से बताया गया है—(१) विनय-प्रतिपत्ति, (२) चारो गति-सम्बन्धी दुर्गतियो का निरोध, (३) विनय प्रतिपत्ति के चारो अगो से मनुष्य-देव-सम्बन्धी सुगतियो का बन्ध, सिद्धिगति की विशुद्धि, (४) प्रशस्त विनयमूलक सर्वकार्यसिद्धि, और (५) अनेक जीवो को विनयी बनाता है।

शुश्रूषा विभिन्न अर्थों से—(१) सद्बोध और धर्मशास्त्र सुनने की इच्छा, (२) परिचर्या, (३) गुरु आदि की वैयावृत्य, (४) गुरु के आदेश को विनयपूर्वक सुनने की वृत्ति, (५) न अतिदूर और न अतिनिकट, किन्तु विधिपूर्वक सेवा करना।[1]

विनय-प्रतिपत्ति : दो अर्थ—(१) विनय की प्राप्ति, (२) विनय का प्रारम्भ या हृदय से स्वीकार।[2]

विनय-प्रतिपत्ति के चार अग[3]—वर्ण—गुणाधिक व्यक्ति की प्रशसा, सज्वलन—गुणो को प्रकट करना, भक्ति—हाथ जोडना, गुरु के आने पर उठ

---

१ (क) सद्बोध। धर्म-श्रवणेच्छा।—पचाशक ६ विवरण। (ख) अष्टक २५,
(ग) दशवै० अ ९ उ १
(घ) सूत्रकृताग श्रु १ अ ९।

२ विनय-प्रतिपत्ति—प्रारम्भे अगीकारे वा।—बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९

३ वर्ण—श्लाघा, सज्वलन—गुणोद्भासन, भक्ति अजलिप्रग्रहादिका बहुमान आन्तर-प्रीति विशेष।—वही, पत्र ५७९

भाले आदि से बींधना, चीरना, आदि शारीरिक, तथा संयोग=इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग, आदि मानसिक दुःखों का (विच्छेद)।[1]

अव्याबाधसुख—सब प्रकार की बाधाओं से रहित अनवरत मोक्षसुख, निजगुण का आध्यात्मिक सुख, जो कि नित्य, अनन्त और शाश्वत है।

५ (४) चतुर्थ सूत्र गुरु-सार्धमिक-शुश्रूषा—

मूल—(प्र०) गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं विणय-पडिवत्तिं जणयइ। विणय-पडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गइओ निरुंभइ। वण्ण-संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए माणुस-देव-सोग्गइओ निबंधइ, सिद्धि सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणय-मूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ।

पद्यानु०—गुरु-सार्धमिक सेवा से, यह जीव कहो क्या पाता है?
इनकी सेवा करके वह, शुभ विनय-धर्म को पाता है॥
विनयशील परिवाद और, अविनय न कभी गुरु का करता।
इसलिए नैरयिक-नर-तिर्यक् सुर दुर्गति का वारण करता॥
श्लाघा एवं गुणगण प्रकाश, बहुमान और सेवा द्वारा।
सम्बन्ध जोड़ता है अपना, मानव और देव सुगतियों से॥
करता प्रशस्त पथ सिद्धि सुगति, और विनयमूल शुभ कामों को।
बढ़ता है सिद्ध विनय-पथ पर, लाता है आगे पर जन को॥

अन्वयार्थ—भन्ते!—भगवन्!, गुरु-साहम्मिय सुस्सूसणयाएणं—गुरु और सार्धमिकों की शुश्रूषा से, जीवे—जीव, किं—क्या (फल), जणयइ—प्राप्त करता है।

गुरु-साहम्मिय-सुस्सूसणयाएणं—गुरु और सार्धमिकों की शुश्रूषा से (जीव) विणय-पडिवत्तिं—विनय-प्रतिपत्ति को, जणयइ—प्राप्त होता है। य—और, विणय-

---

१ छेदन—खड्गादिना द्विधाकरणम् भेदन-कुन्तादिना विदारण आदि शब्दस्येहापि सम्बन्धात् ताडनादयश्च गृह्यन्ते। संयोग—प्रस्तावादनिष्ट सम्बन्ध। आदि-शब्दादिष्ट-वियोगादि-ग्रह। तत छेदन-भेदनादिना शारीरिक दुःखाना, संयोगादिना मानस-दुःखाना व्यवच्छेद।—बृहद्वृत्ति पत्र ५७८

स्त्रीवेद और नपुसकवेद का, न बधइ—बंध नही करता । च—और (यदि) पुव्व-बद्ध च—पूर्वबद्ध (हो तो उस) की, निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

विशेषार्थ—आलोचना शब्द अनेक अर्थो मे—(१) अपने दोषो को गुरु के समक्ष निष्कपटभाव से प्रकट करके उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त का स्वीकार करना, (२) दैनिक जीवन मे लगे हुए दोषो का स्वय निरीक्षण—आत्म सम्प्रेक्षण करना, (३) गुण-दोषो की समीक्षा करना —आलोचना गुण-दोष समीक्षा ।

आलोचना से साधक मायाशल्य, निदान-शल्य और मिथ्यादर्शन-शल्य, इन तीन भावशल्यो को निकाल फेंकता है ।

माया का अर्थ है—कपट या दम्भ,

निदान का अर्थ है—तप, सयम आदि से लौकिक-पारलौकिक फलो या वैषयिक सुखो की वाछा करना,

और मिथ्यादर्शन का अर्थ है— असद्दृष्टि ।

मायादि शल्य मोक्षमार्ग मे विघ्नरूप है और अनन्त-ससारवर्द्धक है। नि शल्य होने से जीव सरलता को प्राप्त करता है, मायारहित हो जाता है। अमायी होने से वह स्त्रीवेद या नपु सकवेद का बध नही करता, कदाचित् पूर्वभव मे उसका बध भी हो चुका हो तो वह उसका नाश कर डालता है। तात्पर्य यह है कि आलोचनाशील साधक पुरुष ही बनता है, स्त्री या नपु सक नही । वस्तुत आलोचना आत्मशुद्धि का विशिष्टतम साधन है ।

७ (६) छठा सूत्र निन्दना—

मूल—(प्र०) निंदणयाए ण भते ! जीवे किं जणयई ?

(उ०) निंदणयाए ण पच्छाणुताव जणयइ । पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ । करण-गुण-सेढिंपडिवन्ने य ण अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ।

पद्यानु०—भते ! निंदा अपनी करके, क्या प्राणी जग है पाता ?
प्राणी अपनी निन्दा करके, अनुताप हृदय मे कर पाता ।।
होकर विरक्त उसके द्वारा, करण गुण श्रेणी वह धर लेता ।
गुण श्रेणी करण कर गुण-गण की, धारण मुनिवर वह कर लेता ।।
अनगार-मार्ग पर चलकर वह, निज मोहकर्म का क्षय करता ।
हो जाने से फिर मोह क्षीण, है परमशान्ति सुख वह पाता ।।

कर सामने जाना, आदर देना, और बहुमान—अन्तर् मे प्रीति, मन मे आदर भाव।

चारो गति की दुर्गति—नारकी और तिर्यंच की दुर्गति तो प्रसिद्ध है, मनुष्य की दुर्गति है—अधमाधम जाति मे उत्पन्न होना, और देव सम्बन्धी दुर्गति है—किल्विषी या परमाधार्मिक अधम देवजाति मे उत्पन्न होना।

मनुष्य और देव की सुगति—मनुष्य की सुगति है—ऐश्वर्ययुक्त विशिष्टकुल मे उत्पन्न होना, और देव-सम्बन्धी सुगति है—अहमिन्द्रादि पदवी को प्राप्त करना।

६ (५) पचम सूत्र आलोचना—

मूल—(प्र०) आलोयणाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) आलोयणाए ण माया-नियाण-मिच्छादसण-सल्लाणं मोक्ख-मग्ग-विग्घाण अणत-ससार-वद्धणाण उद्धरण करेइ। उज्जुभाव च जणयइ। उज्जुभाव-पडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेय च न बधइ। पुव्वबद्ध च ण निज्जरेइ।

पद्यानु०—गुरु-सम्मुख भूल निवेदन कर, भते ! क्या प्राणी पाता है ?
और आलोचन के बिना जीव, जग मे क्या हानि उठाता है?
इससे अनन्तभव के वर्द्धक, और मोक्षमार्ग-बाधाकारी।
मिथ्यादर्शनरूप शल्य, माया निदान जो दु खकारी॥
उनको निकाल कर दूर करे, ऋजुभाव जगत् मे पाता है।
और प्राप्त हुआ ऋजुभाव व्यक्ति,माया-विहीन हो जाता है॥
इसलिए नपुसक नारी का, वह नही वेद-बन्धन करता।
यदि पहले से ही बधे हुए, तो निश्चय उनका क्षय करता॥

अन्वयार्थ—*भते*—हे भगवन् ! *आलोयणाए ण*—आलोचना से, *जीवे*—जीव को, *किं*—क्या, *जणयइ*—(लाभ) प्राप्त होता है ?

आलोयणाए ण—आलोचना से, (जीव) *मोक्खमग्गविग्घाण*—मोक्ष-मार्ग मे विघ्न डालने वाले, (और) *अणत-ससार-वद्धणाण*—अनत ससार को बढाने वाले, *माया-नियाण-मिच्छादसण-सल्लाण*—माया, निदान और मिथ्यादर्शनरूप शल्यो को, *उद्धरण करेइ*—निकाल फेकता है। *च*—और, *उज्जुभाव*—ऋजुभाव (सरलता) को, *जणयइ*—प्राप्त होता है। *य*—और, *उज्जुभाव-पडिवन्ने ण*—ऋजुभाव को प्राप्त, *जीवे*—जीव, *अमाई*—माया-रहित होता है। (अत वह) *इत्थीवेय-नपुंसगवेय*—

स्त्रीवेद और नपुसकवेद का, न बधइ—बध नही करता । य—और (यदि) पुव्व-बद्ध च—पूर्वबद्ध (हो तो उस) की, निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

विशेषार्थ—आलोचना शब्द अनेक अर्थों मे—(१) अपने दोषो को गुरु के समक्ष निष्कपटभाव से प्रकट करके उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त का स्वीकार करना, (२) दैनिक जीवन मे लगे हुए दोषो का स्वय निरीक्षण—आत्म सम्प्रेक्षण करना, (३) गुण-दोषो की समीक्षा करना —आलोचना गुण-दोष समीक्षा ।

आलोचना से साधक मायाशल्य, निदान-शल्य और मिथ्यादर्शन-शल्य, इन तीन भावशल्यो को निकाल फेंकता है ।

माया का अर्थ है—कपट या दम्भ,

निदान का अर्थ है—तप, सयम आदि से लौकिक-पारलौकिक फलो या वैषयिक सुखो की वाछा करना,

और मिथ्यादर्शन का अर्थ है— असद्दृष्टि ।

मायादि शल्य मोक्षमार्ग मे विघ्नरूप है और अनन्त-ससारवर्द्धक है। नि शल्य होने से जीव सरलता को प्राप्त करता है, मायारहित हो जाता है। अमायी होने से वह स्त्रीवेद या नपु सकवेद का बध नही करता, कदाचित् पूर्वभव मे उसका बध भी हो चुका हो तो वह उसका नाश कर डालता है। तात्पर्य यह है कि आलोचनाशील साधक पुरुष ही बनता है, स्त्री या नपु सक नही । वस्तुत आलोचना आत्मशुद्धि का विशिष्टतम साधन है ।

७ (६) छठा सूत्र निन्दना—

सूत्र—(प्र०) निंदणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयई ?

(उ०)[1] निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ । पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ । करण-गुण-सेढिपडिवन्ने य ण अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ।

पद्यानु०—भंते ! निंदा अपनी करके, क्या प्राणी जग है पाता ?
प्राणी अपनी निन्दा करके, अनुताप हृदय मे कर पाता ॥
होकर विरक्त उसके द्वारा, करण-गुण श्रेणी वह धर लेता ।
गुण श्रेणी करण कर गुण-गण को, धारण मुनिवर वह कर लेता ॥
अनगार-मार्ग पर चलकर वह, निज मोहकर्म का क्षय करता ।
हो जाने से फिर मोह क्षीण, है परमशान्ति सुख वह पाता ॥

गौरव देना पुरस्कार है, इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव अपुरस्कार है। (२) पुरस्कार=आत्मगौरव, उसका अभाव अपुरस्कार= आत्मलाघव=आत्म-नम्रता। यहाँ प्रसगवश दूसरा अर्थ ही अधिक सगत प्रतीत होता है।

फलितार्थ—ऐसी स्थिति मे इस सूत्र का फलितार्थ होगा—आत्मगर्हा से आत्म-विनम्रता की प्राप्ति होती है, अर्थात्—ऐसा साधक आत्मगौरव का परित्याग करके आत्मलघुता को स्वीकार करता है। आत्मविनम्रता से वह अशुभ योगो से निवृत्त होकर शुभयोगो मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार शुभयोगो से युक्त अनगार अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय के घातक ज्ञानावरणीयादि घाती कर्मो की पर्यायो=विशेष परिणतियो को क्षय कर डालता है। जिसके प्रभाव से उसे मोक्षपद की प्राप्ति हो जाती है।

९ (८) आठवाँ सूत्र सामायिक—

मूल—(प्र०) सामाइएण भते। जीवे किं जणयइ ?
(उ०) सामाइएण सावज्जजोग-विरइ जणयइ।

पद्यानु०—समभाव-साधना मे भते! यह जीव यहाँ क्या पाता है ?
सामायिक से सावद्य-योग से, विरति जीव पा जाता है॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन्! सामाइएण—सामायिक से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ? (जीव) सामाइएण—सामायिक से, सावज्ज जोग-विरइ—सावद्य योगो से विरति, जणयइ—प्राप्त कर लेता है।

सामायिक का विशद अर्थ—समस्त प्राणियो के प्रति समभाव, तथा शत्रु-मित्र, महल-झोपडी, दुःख-सुख, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशसा, सयोग-वियोग, मणि-पाषाण, मान-अपमान, स्वर्ण-मिट्टी, प्रिय-अप्रिय आदि पर समभाव-राग द्वेष का अभाव सामायिक समता-साधना है। सक्षेप मे कहे तो—समभाव मे स्थिर होने का नाम सामायिक है। यह प्रथम आवश्यक है।

तात्पर्य—सामायिक के अनुष्ठान से सावद्य योग, अर्थात्—पापमय मन-वचन-काया के व्यापार से जीव की विरति हो जाती है। क्योकि सामायिक-साधना मे सावद्ययोग का प्रत्याख्यान किया जाता है और शुभयोगो के द्वारा कर्म-निर्जरा करने का प्रयत्न किया जाता है।

१० (९) नौवा सूत्र—चतुर्विंशतिस्तव—

मूल—(प्र०) चउव्वीसत्थएण भते! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) चउव्वीसत्थएणं दंसण-विसोहिं जणयइ ।

पद्यानु०—अर्हत् की स्तवना करने से, भंते! क्या जीव यहाँ पाता ?
अर्हत्स्तवना करने वाला, दर्शन-विशोधि को है पाता ।।

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्!, चउव्वीसत्थएणं—चतुर्विंशति-स्तव=चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति से, जीवे—जीव, किं—क्या (फल), जणयइ—प्राप्त करता है ? चउव्वीसत्थएणं—चतुर्विंशति-स्तव से (जीव), दंसण-विसोहिं—दर्शन=सम्यक्त्व की विशुद्धि, जणयइ—प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ—चतुर्विंशतिस्तव, अर्थात्—ऋषभदेव से लेकर भ महावीर तक प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल की चौबीसी के चौबीस तीर्थंकरों का श्रद्धापूर्वक गुणोत्कीर्तन करने से जीव के दर्शन में बाधा उत्पन्न करने वाले जो कर्म हैं, वे दूर हो जाते हैं, सम्यक्त्व चल-मल-अगाढ दोष से रहित निर्मल-शुद्ध हो जाता है ।

११ (१०) दसवां सूत्र वन्दना—

मूल—(प्र०) वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ । सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ । दाहिणभावं च णं जणयइ ।

पद्यानु०—भंते ! वन्दन से जीव कहो, इस जगती में क्या पाता है ?
वन्दन से नीच-गोत्रदायक, कर्मों को क्षीण बनाता है ।।
कुल आदि उच्च देने वाले, कर्मों का अर्जन करता है ।
जिससे कुल-गौरव हो न क्षीण, उन सबका वर्जन करता है ।।
सौभाग्य अखण्डित आज्ञाफल, दाक्षिण्यभाव वह पाता है ।
दाक्षिण्यभाव है ही ऐसा, जिससे मन हर्षित होता है ।।

अन्वयार्थ—भंते—हे भगवन्! वंदणएणं—वन्दना से, जीवे—जीव, किं—किस फल को, जणयइ—प्राप्त होता है ?

वंदणएणं—वन्दना से (जीव), नीयागोयं कम्मं—नीच गोत्रकर्म का, खवेइ—क्षय करता है, (और) उच्चागोयं कम्मं—उच्च गोत्रकर्म का, बंधइ—बन्ध करता है (फिर वह) अप्पडिहयं णं—अप्रतिहत, सोहग्गं—सौभाग्य, च—तथा, आणाफलं—आज्ञा का प्रतिफल, निव्वत्तेइ—प्राप्त करता है, च णं—तथा, दाहिणभावं—दाक्षिण्यभाव को, जणयइ—प्राप्त होता है ।

विशेषार्थ—आचार्य, गुरु आदि गुरुजनों को वन्दना—यथोचित प्रति-

पत्तिरूप विनयभक्ति करने से[1], जीव के यदि पूर्व मे नीचगोत्र भी बांधा हुआ हो तो उसे दूर करके वह उच्चगोत्र—उत्तमकुलादि मे उत्पन्न कराने वाले कर्म का उपार्जन कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह अखण्ड सौभाग्य-शाली होता है, उसकी आज्ञा सफल होती है, अर्थात्—वह जन-समुदाय का मान्य नेता बन जाता है, उसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करते हैं, तथा वह दाक्षिण्यभाव (जन-जन के मानस मे अनुकूल भाव अर्थात् लोकप्रियता) को प्राप्त कर लेता है।

१२ (११) ग्यारहवां सूत्र प्रतिक्रमण—

मूल—(प्र०) पडिक्कमणेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) पडिक्कमणेण वय-छिद्दाइ पिहेइ। पिहिय-वय-छिद्दे पुणजीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणि-हिए विहरइ।

अन्वयार्थ—भंते—भगवन् !, पडिक्कमणेण—प्रतिक्रमण से, जीवे—जीव को, किं—क्या (फल), जणयइ—प्राप्त होता है।

पडिक्कमणेण—प्रतिक्रमण से (जीव), वयछिद्दाइ—(स्वीकृत) व्रतो के छिद्रो को, पिहेइ—ढाकता है, पिहिय-वय-छिद्दे—व्रत के छिद्रो को ढाकने वाला, जीवे—जीव, पुण—पुन, निरुद्धासवो—आस्रवो को रोक देता है, असबल-चरित्ते—चारित्र पर आये हुए धब्बे मिटा देता है, अट्ठसु पवयण-मायासु—अष्ट प्रवचन माताओ मे (वह), उवउत्ते—उपयोगवान् (सावधान) (होता है) (फिर), अपुहत्ते—पृथक्त्व से रहित (और), सुप्पणिहिए—सम्यक् प्रकार से प्रणिहित—समाधियुक्त होकर (सयममार्ग मे), विहरइ—विचरता है।

विशेषार्थ—प्रश्न किया गया है—भगवन् ! प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक का क्या फल है ?

उत्तर मे, गुरुदेव कहते हैं—प्रतिक्रमण से यह जीव ग्रहण किये हुए अहिंसादि व्रतो मे अतिचार रूप जो छिद्र हैं, उन्हे ढाकता है, अर्थात्—व्रतो मे लगे हुए अतिचारादि दोषो से स्वय को बचाता है। व्रतो को अतिचारादि दोषो से रहित करके आस्रवो (नये आते हुए कर्मो को) को रोकता है, अपने चारित्र को कलुषित नही होने देता, अर्थात्—शुद्ध, चारित्रयुक्त होकर वह पांच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माताओ के आराधन मे

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र ५८१,

सावधान हो जाता है, फिर चारित्र से अपृथक्—एकरूप होकर, संयममार्ग में समाहित-चित्त होकर विचरता है।

प्रतिक्रमण का अर्थ—ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रमादवश जो दोष (अतिचार) लगे हों, उनके कारण जीव स्वस्थान से परस्थान में (संयम से असंयम में) गया हो, उससे प्रतिक्रम करना—वापिस लौटना—उन दोषों (या स्वकृत अशुभयोगों) से निवृत्त होना—प्रतिक्रमण है।[1]

१३ (१२) बारहवां सूत्र कायोत्सर्ग

मूल—(प्र) काउस्सग्गेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) काउस्सग्गेण तीय-पडुपन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्ध-पायच्छित्ते य जीवे निव्वुय-हियए ओहरिय-भारोव्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेण विहरइ।

पद्यानु०—कायोत्सर्ग करके प्राणी, क्या है इस भूतल में पाता ?
वर्तमान और भूतकाल का, पाप-विशोधन है करता॥
जैसे तज भार भारवाही, अतिस्वस्थ हृदय हो जाता है।
वैसे प्रशस्त ध्यानरत हो, सुख से वह विचरण करता है॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्, काउस्सग्गेण—कायोत्सर्ग से, जीवे—जीव को, किं—क्या (लाभ), जणयइ—प्राप्त होता है।

काउस्सग्गेण—कायोत्सर्ग से, तीय-पडुप्पन्नं—अतीत और वर्तमान के, पायच्छित्तं—प्रायश्चित्त योग्य (अतिचारों) का, विसोहेइ—विशोधन होता है, य—फिर, विसुद्ध-पायच्छित्ते—प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ, जीवे—जीव, ओहरिय-भारोव्व भारवहे—भार को उतारने वाले भारवाहक की भांति, निव्वुय-हियए—शान्त (चिन्तारहित) हृदय वाला हो जाता है (फिर), पसत्थज्झाणोवगए—प्रशस्त ध्यान में लीन होकर, सुहंसुहेण—सुखपूर्वक, विहरइ—विचरण करता है।

विशेषार्थ—अतिचारों की शुद्धि के निमित्त शरीर का आगमोक्त-उत्सर्ग=ममत्वत्याग करना अथवा अतिचारों का आलोचना द्वारा शोधन

---

१ (क) प्रतिक्रम्यते—प्रमादकृत दैवसिकादिदोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्।
—गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७

(ख) स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्।
—भगवती आराधना वि ६/३२/१९

पत्तिरूप विनयभक्ति करने से[1], जीव के यदि पूर्व मे नीचगोत्र भी बाँधा हुआ हो तो उसे दूर करके वह उच्चगोत्र—उत्तमकुलादि मे उत्पन्न कराने वाले कर्म का उपार्जन कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह अखण्ड सौभाग्य-शाली होता है, उसकी आज्ञा सफल होती है, अर्थात्—वह जन-समुदाय का मान्य नेता बन जाता है, उसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करते हैं, तथा वह दाक्षिण्यभाव (जन-जन के मानस मे अनुकूल भाव अर्थात् लोकप्रियता) को प्राप्त कर लेता है।

१२ (११) ग्यारहवां सूत्र प्रतिक्रमण—

मूल—(प्र०) पडिक्कमणेण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) पडिक्कमणेण वय-छिद्दाइ पिहेइ। पिहिय-वय-छिद्दे पुणजीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणि-हिए विहरइ।

अन्वयार्थ—भते—भगवन् !, पडिक्कमणेण—प्रतिक्रमण से, जीवे—जीव को, किं—क्या (फल), जणयइ—प्राप्त होता है।

पडिक्कमणेण—प्रतिक्रमण से (जीव), वयछिद्दाइ—(स्वीकृत) व्रतो के छिद्रो को, पिहेइ—ढाकता है, पिहिय-वय-छिद्दे—व्रत के छिद्रो को ढाकने वाला, जीवे—जीव, पुण—पुन, निरुद्धासवो—आस्रवो को रोक देता है, असबल-चरित्ते—चारित्र पर आये हुए धब्बे मिटा देता है, अट्ठसु पवयण-मायासु—अष्ट प्रवचन माताओ मे (वह), उवउत्ते—उपयोगवान् (सावधान) (होता है) (फिर), अपुहत्ते—पृथक्त्व से रहित (और), सुप्पणिहिए—सम्यक् प्रकार से प्रणिहित—समाधियुक्त होकर (सयममार्ग मे), विहरइ—विचरता है।

विशेषार्थ—प्रश्न किया गया है—भगवन् ! प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक का क्या फल है ?

उत्तर मे, गुरुदेव कहते है—प्रतिक्रमण से यह जीव ग्रहण किये हुए अहिसादि व्रतो मे अतिचार रूप जो छिद्र है, उन्हे ढाकता है, अर्थात्—व्रतो मे लगे हुए अतिचारादि दोषो से स्वय को बचाता है। व्रतो को अतिचारादि दोषो से रहित करके आस्रवो (नये आते हुए कर्मो को) को रोकता है, अपने चारित्र को कलुषित नही होने देता, अर्थात्—शुद्ध, चारित्रयुक्त होकर वह पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माताओ के आराधन मे

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र ५८१,

सावधान हो जाता है, फिर चारित्र से अपृथक्—एकरूप होकर, संयममार्ग मे समाहित-चित्त होकर विचरता है।

प्रतिक्रमण का अर्थ—ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे प्रमादवश जो दोष (अतिचार) लगे हो, उनके कारण जीव स्वस्थान से परस्थान मे (संयम से असंयम मे) गया हो, उससे प्रतिक्रम करना—वापिस लौटना—उन दोषो (या स्वकृत अशुभयोगो) से निवृत्त होना—प्रतिक्रमण है।[1]

१३ (१२) बारहवां सूत्र · कायोत्सर्ग

मूल—(प्र) काउस्सग्गेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) काउस्सग्गेण तीय-पडुप्पन्न पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्ध-पायच्छित्ते य जीवे निव्वुय-हियए ओहरिय-भारोव्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेण विहरइ।

पद्यानु०—कायोत्सर्ग करके प्राणी, क्या है इस भूतल मे पाता ?
वर्तमान और भूतकाल का, पाप-विशोधन है करता ॥
जैसे तज भार भारवाही, अतिस्वस्थ हृदय हो जाता है।
वैसे प्रशस्त ध्यानरत हो, सुख से वह विचरण करता है ॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्, काउस्सग्गेण—कायोत्सर्ग से, जीवे—जीव को, किं—क्या (लाभ), जणयइ—प्राप्त होता है ।

काउस्सग्गेण—कायोत्सर्ग से, तीय-पडुप्पन्न—अतीत और वर्तमान के, पायच्छित्त—प्रायश्चित्त योग्य (अतिचारो) का, विसोहेइ—विशोधन होता है, य—फिर, विसुद्ध-पायच्छित्ते—प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ, जीवे—जीव, ओहरिय-भारोव्व भारवहे—भार को उतारने वाले भारवाहक की भाति, निव्वुय-हियए—शान्त (चिन्तारहित) हृदय वाला हो जाता है (फिर), पसत्थज्झाणोवगए—प्रशस्त ध्यान मे लीन होकर, सुहंसुहेण—सुखपूर्वक, विहरइ—विचरण करता है।

विशेषार्थ—अतिचारो की शुद्धि के निमित्त शरीर का आगमोक्त-उत्सर्ग=ममत्वत्याग करना अथवा अतिचारो का आलोचना द्वारा शोधन

---

१ (क) प्रतिक्रम्यते—प्रमादकृत दैवसिकादिदोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम् ।
—गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७

(ख) स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्ति प्रतिक्रमणम् ।
—भगवती आराधना वि ६/३२/१९

करने हेतु ध्यानावस्था मे शरीर की समस्त चेष्टाओ का त्याग करना—कायोत्सर्ग है ।[1]

कायोत्सर्ग से आत्मा के साथ प्रमादवश भूतकाल मे लगे हुए और वर्तमानकाल मे लग रहे, प्रायश्चित्तयोग्य अतिचारो—दोषो की शुद्धि होती है । उन दोषो के दूर हो जाने पर विशुद्धात्मा जीव उसी प्रकार हलका, निश्चिन्त, शान्त और स्वस्थ हो जाता है, जिस प्रकार कि सिर पर से बोझ उतर जाने पर भार ढोने वाला व्यक्ति सुखी और निश्चिन्त हो जाता है । तत्पश्चात् वह शुभ ध्यानमग्न होकर सुखपूर्वक इस जगत् मे विचरण करता है ।

१४ (१३) तेरहवां सूत्र प्रत्याख्यान—

मूल— (प्र) पच्चक्खाणेण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) पच्चक्खाणेण आसव-दाराइ निरुम्भइ ।[2]

पद्यानु०—भते ! प्रत्याख्यानभाव से, क्या जग-जीव प्राप्त करता ?
इससे वह आस्रव-द्वारो का, है सहज निरोध सदा करता ॥

अन्वयार्थ—भते !—भगवन् !, पच्चक्खाणेण—प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

पच्चक्खाणेण—प्रत्याख्यान से, आसवदाराइ—(कर्मबन्ध के हेतु भूतहिंसादि) आस्रव-द्वारो का, निरुम्भइ—निरोध होता है ।

विशेषार्थ—प्रत्याख्यान स्वरूप और प्रकार—भविष्य मे हिंसादि दोष न हो, इसके लिए वर्तमान मे ही कुछ न कुछ त्याग, नियम, व्रत, तप आदि अगीकार करना प्रत्याख्यान कहलाता है । ये प्रत्याख्यान दस प्रकार के हैं—(१) अनागत, (२) अतिक्रान्त, (३) कोटि-सहित, (४) निखण्डित, (५)

---

१ (क) काय शरीर, तस्योत्सर्ग —आगमोक्तरीत्या परित्याग कायोत्सर्ग ।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

२ अधिक पाठ—"पच्चक्खाणेण इच्छानिरोह जणयइ । इच्छानिरोह गए य ण जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ।" (प्रत्याख्यान से जीव इच्छाओ को रोक लेता है । इच्छानिरोध किए हुए जीव की सभी द्रव्यो पर से तृष्णा हट जाती है, वह शीतल शान्त होकर विचरता है ।) हस्तलिखित कतिपय प्रतियो मे ।

सागार, (६) अनागार, (७) परिमाणगत, (८) अपरिशेष, (९) अध्वगत एव (१०) सहेतुक।[1]

मूलगुण-उत्तरगुणरूपी प्रत्याख्यान से जीव हिंसादि आस्रव द्वारो का, निरोध करता है। उपलक्षण से पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय कर देता है। नव कारसी आदि प्रत्याख्यानो का उत्तरगुणप्रत्याख्यान मे समावेश हो जाता है।

१५ (१४) चौदहवाँ सूत्र . स्तव-स्तुति-मगलपाठ—

मूल (प्र)—थव-थुइ-मंगलेण भते! जीवे किं जणयइ?

(उ)—थव-थुइ-मंगलेण नाण-दसण-चरित्त-बोहिलाभ जणयइ। नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभ-सपन्ने य ण जीवे अन्तकिरियं कप्प-विमाणो-ववत्तिय आराहणं आराहेइ।

पद्यानु—भते! स्तव-स्तुति-मगल से, यह जीव यहाँ क्या पाता है?
इससे सद्ज्ञान-दर्शन-चरित मय, बोधिलाभ वह पाता है॥
रत्नत्रयरूपी बोधिलाभ से, हो सम्पन्न विवेकी नर।
करते अन्तक्रिया आराधन, या वैमानिक होते सुर॥

अन्वयार्थ—भते!—भगवन्, थव-थुइ-मगलेण—स्तव, स्तुति मगल से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है?

थव-थुइ-मगलेणं—स्तव-स्तुति-मगल से, (जीव को) नाण-दसण-चरित्त-बोहिलाभ—ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूप बोधिलाभ, जणयइ—प्राप्त होता है। य—और, नाण-दसण-चरित्त-बोहिलाभ-सम्पन्ने—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप बोधिलाभ से सम्पन्न, जीवे ण—जीव, अन्तकिरिय—अन्तक्रिया (मुक्ति) के योग्य, (अथवा) कप्प विमाणोववत्तिय—कल्पो (वैमानिक देवो) मे उत्पन्न होने योग्य, आराहण आराहेइ—आराधना करता है।

विशेषार्थ—स्तव-स्तुति-मगलपाठ का फल—मति-श्रुतादि ज्ञान, क्षायिक-सम्यक्त्वरूप दर्शन, विरतिरूप चारित्र, इस प्रकार रत्नत्रयरूप बोधिलाभ-

---

१ (क) अनागत दोषापोहन प्रत्याख्यानम्—राजवार्तिक ६-२४-११

(ख) अणागदमदिकत कोडि-सहिदं निखडिद चेव।
सागारमणागार परिमाणगदं अपरिसेस॥ अद्धागद सहेदुग ...।
—मूलाराधना ६३७—६३९

जिन प्ररूपित धर्मबोध की प्राप्ति है। रत्नत्रयरूप बोधिलाभ से सम्पन्न जीव ससार का अन्त करने वाली—कर्मों का क्षय करने वाली अन्तक्रिया (अर्थात् जिस साधन से अन्त मे अन्तक्रिया=मुक्ति हो) के योग्य अथवा देवलोको या नव ग्रैवेयको या पच अनुत्तर विमानो मे उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि उस साधक के समस्त घातिकर्मों का क्षय हो गया हो तो उसे अन्तक्रिया-मुक्ति प्राप्त होनी है, यदि कुछ कर्म बाकी रह गए हो तो वह आत्मा नव ग्रैवेयक और पाच अनुत्तर विमान तथा कल्पविमान मे उत्पन्न होती है।

स्तव और स्तुति-मगल—स्तव और स्तुति दोनो द्रव्य मगलरूप नही, भावमगलरूप हैं। यद्यपि स्तव और स्तुति दोनो का अर्थ भक्ति-बहुमानपूर्वक गुणोत्कीर्तन करना है, तथापि यहाँ एक, दो या तीन श्लोको वाले गुणानुवाद को स्तुति और तीन से अधिक श्लोको वाले गुणनुवाद को स्तव कहते हैं। अथवा स्तव से शक्रस्तव का, और स्तुति से एकादि सप्तश्लोकान्त चतुर्विशतिस्तव का ग्रहण करना चाहिए। मगल शब्द इनकी विशिष्टता का द्योतक है।

१६ (१५) पन्द्रहवाँ सूत्र काल-प्रतिलेखना—

मूल—(प्र)—काल-पडिलेहणयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ)—काल-पडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्म खवेइ।

पद्यानु०—भते ! कायिक-प्रतिलेखन से, यह जीव यहाँ क्या है पाता ?
वह ज्ञानावरण कर्म को इससे, क्षीण जगत् मे कर जाता ॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन् ! काल-पडिलेहणयाए—काल-प्रतिलेखना से, जीवे—जीव को, किं—क्या, (फल) जणयइ—प्राप्त होता है ?

काल-पडिलेहणयाएण—काल की प्रतिलेखना से, नाणावरणिज्ज—ज्ञानावरणीय, कम्म—कर्म का, खवेइ—क्षय करता है।

विशेषार्थ—काल-प्रतिलेखना क्यो, क्या और कैसे—सामाचारी अध्ययन मे साधुवर्ग को वस्त्रादि प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, शयन, भिक्षाचर्या आदि के लिए विशेषत स्वाध्याय के लिए दिवस और रात्रि मे काल की प्रतिलेखना समय विभाग करना आवश्यक बताया है। सूत्रकृताग सूत्र मे अशन पान, वस्त्र, लयन, शयन आदि अपने-अपने विहित काल मे करने का विधान है। आचारागसूत्र मे बताया है कि साधु को 'कालज्ञ' होना अनिवार्य है। दशवैकालिकसूत्र मे समय पर समस्त चर्या करने का विधान है। निष्कर्ष

यह है कि साधुवर्ग को काल का निरीक्षण करना या ध्यान रखना अनिवार्य है ।

इसलिए यहां प्रादोषिक, प्राभातिक आदि काल को प्रतिलेखना का शास्त्रकार का आशय यह है कि स्वाध्याय, ध्यान, शयन, जागरण, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, भिक्षाचर्या आदि धर्मक्रियाओ के लिए उपयुक्त शास्त्रोक्त काल का निरीक्षण करना या ध्यान रखना ।[1]

काल-प्रतिलेखना से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है, क्योकि समय विभाग के अनुसार चलने मे आत्मा को प्रमादरहित होना और उपयोग रखना पडता है, उसी के फल-स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाता है ।[2]

१७ (१६) सोलहवाँ सूत्र · प्रायश्चित्तकरण—

मूल (प्र)—पायच्छित्त-करणेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ·)—पायच्छित्त-करणेण पावकम्म-विसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ । सम्मं च णं पायच्छित्त पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयार-फल च आराहेइ ।

पद्यानु०—भंते ! कर प्रायश्चित्त जीव, क्या इस जगती मे है पाता ?
कर प्रायश्चित्त पाप-शोधन कर, वह निरतिचार है हो जाता ॥

---

१ (क) उत्तरा अ २६ गा. ४६ पडिक्कमित्तु कालस्स' 'कालं तु पडिलेहए' ।
(ख) अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले ।
—सूत्रकृतांग २, १, १५
(ग) कालण्णू—आचारांग १ श्रु-अ ८-उ ३
(घ) 'काले काल समायरे—दशवै ५-२-४
(च) आवश्यक क्रियाओ के लिये काल विधान का उल्लेख निम्नलिखित आगमो मे देखना चाहिये—
(१) स्वाध्याय ध्यान—उत्तराध्ययन २६
(२) चतुष्काल स्वाध्याय—स्थानांग, ठा ४, उ २, सूत्र २८५
(३) भिक्षाचरी—दशवैकालिक अ ५-२ उत्तराध्ययन, अ. २६-१२
(४) प्रतिलेखना आदि—उत्तराध्ययन, अ २६
(५) विस्तृत समय वर्णन के लिये देखें—चरणानुयोग (मुनि श्री कन्हैया लाल जी म 'कमल') पृष्ठ ६२-८०

२ उत्तरा (आ श्री आत्मारामजी म) भाग ३, पृ ११३

कर सम्यक् प्रायश्चित्त मनुज, सम्यक्त्व ज्ञान निर्मल करता।
आचार और उसके फल का, है सम्यक् आराधन करता॥

अन्वयार्थ—भंते—हे भगवन्!, पायच्छित्त-करणेणं—प्रायश्चित करने से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जयणइ—प्राप्त होता है?

पायच्छित्त-करणेणं—प्रायश्चित्त करने से, (जीव) पावकम्म-विसोहिं—पाप-कर्म की विशुद्धि, जणयइ—करता है, (फिर वह) निरइयारे—निरतिचार यावि—भी, भवइ—हो जाता है, य—तथा, सम्मं—सम्यक् प्रकार से, पायच्छित्तं ण—प्रायश्चित को, पडिवज्जमाणे—स्वीकार करता हुआ, (साधक), मग्गं—मार्ग, च—और, मग्गफलं च—मार्ग-फल को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, य—तथा, आयारं—आचार, च—और, आयारफलं—आचार फल की, आराहेइ—आराधना कर लेता है।

विशेषार्थ—प्राय का अर्थ है पाप और चित्त कहते है विशुद्धि को, जिससे पापो की विशुद्धि हो, उसे प्रायश्चित्त कहते है।[1] इस दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि प्रायश्चित्त से पापो की विशुद्धि होती है, साधक का व्रतादि चारित्र अतिचारो से रहित हो जाता है। इतना ही नही, शुद्ध अन्त करण से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला साधक, मार्ग अर्थात—सम्यग्दर्शन की विशुद्धि कर लेता है और उसकी विशुद्धि से मार्गफल, अर्थात्—सम्यग्ज्ञान को निर्मल कर लेता है, साथ ही वह चारित्र और उसके फल—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

१८ (१७) सत्तरहवाँ सूत्र क्षमापना—

मूल—(प्र) खमावणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ)—खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभाव-मुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्ती भाव-मुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।

पद्यानु—भन्ते! क्षमादान करके, यह जीव जगत् मे क्या पाता?
है क्षमादान से मानस की, अतिशय प्रसन्नता वह पाता॥
मानस प्रसन्नता को पाकर, सब प्राण, भूत और जीवो के।
सत्त्वो के साथ करे मैत्री, होती मन निर्भयता इससे उसके॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्!, खमावणयाए ण—क्षमापना से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है?

---

१ प्राय पाप विजानीयाच्चित्त तस्य विशोधनम्—बृहद्वृत्ति पत्र ५८२

खमावणयाए णं—क्षमापना से, (जीव को) पल्हायणभाव—प्रल्हाद भावना—चित्त की प्रसन्नता, जणयइ—प्राप्त होती है, पल्हायणभावमुवगए—प्रल्हाद भाव को प्राप्त (जीव), सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु—सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो मे, मित्तीभाव—मैत्रीभाव, उप्पाएइ—उत्पन्न करता है, मित्तीभावमुवगए—मैत्रीभाव को प्राप्त, जीवे—जीव, भाव-विसोहिं—भाव विशुद्धि, काऊण—करके, निब्भए-यावि—निर्भय भी, भवइ—हो जाता है।

विशेषार्थ—किसी के द्वारा अपराध हो जाने पर प्रतीकार-सामर्थ्य होते हुए भी अपकार को सहन करना—उसकी उपेक्षा कर देना, अर्थात्—किसी प्रकार का दण्ड देने के लिए उद्यत न होना, क्षमा है।[1] अथवा किसी दुष्कृत्य या अपराध के अनन्तर गुरु या आचार्य आदि के समक्ष—गुरुदेव! क्षमा करे, भविष्य मे इस प्रकार का अपराध नही करूँगा, इत्यादि रूप से क्षमा मागना—क्षामणा है, और क्षमा प्रदान करना क्षमापना है।

क्षमापना (क्षमा मागने और प्रदान करने) से चित्त मे परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। प्रसन्न-चित्त व्यक्ति ससार के सभी प्राणियो के साथ मैत्री-भाव सम्पादन कर लेता है। मैत्रीभाव से राग-द्वेष का क्षय होकर, भाव-विशुद्धि होती है, और भावविशुद्धि से व्यक्ति निर्भय हो जाता है।

१९-२५—१९वें से २४वां सूत्र स्वाध्याय और उसके अग—

मूल—(प्र) सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयई?

(उ) सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥१९॥

(प्र) वायणाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

(उ) वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ। तित्थधम्मं अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥२०॥

(प्र) पडिपुच्छणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

(उ) पडिपुच्छणयाए सुत्तऽत्थ-तदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥२१॥

(प्र) परियट्टणाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

(उ) परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥ २२ ॥

---

१ 'सत्यपि सामर्थ्येऽपकारसहनं क्षमा।'

कर सम्यक् प्रायश्चित्त मनुज, सम्यक्त्व ज्ञान निर्मल करता।
आचार और उसके फल का, है सम्यक् आराधन करता॥

अन्वयार्थ—भते—हे भगवन् !, पायच्छित्त-करणेण—प्रायश्चित करने से, जीवे—जीव को, कि—क्या, जयणइ—प्राप्त होता है ?

पायच्छित्त-करणेण—प्रायश्चित्त करने से, (जीव) पावकम्म-विसोहि—पाप-कर्म की विशुद्धि, जणयइ—करता है, (फिर वह) निरइयारे—निरतिचार यावि—भी, भवइ—हो जाता है, च—तथा, सम्म—सम्यक् प्रकार से, पायच्छित्त ण—प्रायश्चित को, पडिवज्जमाणे—स्वीकार करता हुआ, (साधक), मग्ग—मार्ग, च—और, मग्गफल च—मार्ग-फल को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, च—तथा, आयार—आचार, च—और, आयारफल—आचार फल की, आराहेइ—आराधना कर लेता है।

विशेषार्थ—प्राय का अर्थ है पाप और चित्त कहते हैं विशुद्धि को, जिससे पापो की विशुद्धि हो, उसे प्रायश्चित्त कहते है।[1] इस दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि प्रायश्चित्त से पापो की विशुद्धि होती है, साधक का व्रतादि चारित्र अतिचारो से रहित हो जाता है। इतना ही नही, शुद्ध अन्त करण से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला साधक, मार्ग अर्थात—सम्यग्दर्शन की विशुद्धि कर लेता है और उसकी विशुद्धि से मार्गफल, अर्थात्—सम्यज्ञान को निर्मल कर लेता है, साथ ही वह चारित्र और उसके फल=मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

१८ (१७) सतरहवाँ सूत्र क्षमापना—

मूल—(प्र) खमावणयाए ण भते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ)—खमावणयाए ण पल्हायणभाव जणयइ। पल्हायणभाव-मुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्ती भाव-मुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।

पद्यानु—भन्ते ! क्षमादान करके, यह जीव जगत् मे क्या पाता ?
है क्षमादान से मानस की, अतिशय प्रसन्नता वह पाता॥
मानस प्रसन्नता को पाकर, सब प्राण, भूत और जीवो के।
सत्त्वो के साथ करे मैत्री, होती मन निर्भयता इससे उसके॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन् !, खमावणयाए ण—क्षमापना से, जीवे—जीव को, कि—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

---

१ प्राय पाप विजानीयाच्चित्त तस्य विशोधनम्—बृहद्वृत्ति पत्र ५८२

खमावणयाए ण—क्षमापना से, (जीव को) पल्हायणभाव—प्रल्हाद-भावना—चित्त की प्रसन्नता, जणयइ—प्राप्त होती है, पल्हायणभावमुवगए—प्रल्हाद भाव को प्राप्त (जीव), सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेसु—सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो मे, मित्तीभाव—मैत्रीभाव, उप्पाएइ—उत्पन्न करता है, मित्तीभावमुवगए—मैत्रीभाव को प्राप्त, जीवे—जीव, भाव-विसोहिं—भाव विशुद्धि, काऊण—करके, निब्भए-यावि—निर्भय भी, भवइ—हो जाता है।

विशेषार्थ—किसी के द्वारा अपराध हो जाने पर प्रतीकार-सामर्थ्य होते हुए भी अपकार को सहन करना—उसकी उपेक्षा कर देना, अर्थात्—किसी प्रकार का दण्ड देने के लिए उद्यत न होना, क्षमा है।[1] अथवा किसी दुष्कृत्य या अपराध के अनन्तर गुरु या आचार्य आदि के समक्ष—गुरुदेव ! क्षमा करें, भविष्य मे इस प्रकार का अपराध नही करूंगा, इत्यादि रूप से क्षमा मागना—क्षामणा है, और क्षमा प्रदान करना क्षमापना है।

क्षमापना (क्षमा मागने और प्रदान करने) से चित्त मे परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। प्रसन्न-चित्त व्यक्ति ससार के सभी प्राणियो के साथ मैत्री-भाव सम्पादन कर लेता है। मैत्रीभाव से राग-द्वेष का क्षय होकर, भाव-विशुद्धि होती है, और भावविशुद्धि से व्यक्ति निर्भय हो जाता है।

१९-२५—१९वें से २४वां सूत्र स्वाध्याय और उसके अग—

मूल—(प्र) सज्झाएणं भन्ते ! जीवे कि जणयई ?

(उ) सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्मं खवेइ ॥१९॥

(प्र) वायणाए णं भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ) वायणाए ण निज्जर जणयइ। सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टए। सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्म अवलबइ। तित्थधम्म अवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥२०॥

(प्र) पडिपुच्छणयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ) पडिपुच्छणयाए सुत्तऽत्थ-तदुभयाइ विसोहेइ। कखामोहणिज्ज कम्म वोच्छिदइ ॥२१॥

(प्र) परियट्टणाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ) परियट्टणाए णं वजणाइ जणयइ, वजणलद्धि च उप्पाएइ ॥ २२ ॥

---

१ 'सत्यपि सामर्थ्येऽपकारसहन क्षमा।'

कर सम्यक् प्रायश्चित्त मनुज, सम्यक्त्व ज्ञान निर्मल करता।
आचार और उसके फल का, है सम्यक् आराधन करता॥

अन्वयार्थ—भंते—हे भगवन् !, पायच्छित्त-करणेण—प्रायश्चित करने से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जयणइ—प्राप्त होता है ?

पायच्छित्त-करणेण—प्रायश्चित्त करने से, (जीव) पावकम्म-विसोहिं—पाप-कर्म की विशुद्धि, जणयइ—करता है, (फिर वह) निरइयारे—निरतिचार यावि—भी, भवइ—हो जाता है, य—तथा, सम्म—सम्यक् प्रकार से, पायच्छित्तं ण—प्रायश्चित को, पडिवज्जमाणे—स्वीकार करता हुआ, (साधक), मग्ग—मार्ग, च—और, मग्गफल च—मार्ग-फल को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, य—तथा, आयार—आचार, च—और, आयारफल—आचार फल की, आराहेइ—आराधना कर लेता है।

विशेषार्थ—प्राय का अर्थ है पाप और चित्त कहते है विशुद्धि को, जिससे पापो की विशुद्धि हो, उसे प्रायश्चित्त कहते है।[1] इस दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि प्रायश्चित्त से पापो की विशुद्धि होती है, साधक का व्रतादि चारित्र अतिचारो से रहित हो जाता है। इतना ही नही, शुद्ध अन्त करण से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला साधक, मार्ग अर्थात—सम्यग्दर्शन की विशुद्धि कर लेता है और उसकी विशुद्धि से मार्गफल, अर्थात्—सम्यग्ज्ञान को निर्मल कर लेता है, साथ ही वह चारित्र और उसके फल—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

१८ (१७) सतरहवाँ सूत्र क्षमापना—

मूल—(प्र) खमावणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ)—खमावणयाए ण पल्हायणभाव जणयइ। पल्हायणभाव-मुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्ती भाव-मुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ।

पद्यानु—भन्ते ! क्षमादान करके, यह जीव जगत् मे क्या पाता ?
है क्षमादान से मानस की, अतिशय प्रसन्नता वह पाता॥
मानस प्रसन्नता को पाकर, सब प्राण, भूत और जीवो के।
सत्त्वो के साथ करे मैत्री, होती मन निर्भयता इससे उसके॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन् !, खमावणयाए ण—क्षमापना से, जीवे—जीव को, कि—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

---

१ प्राय पाप विजानीयाच्चित्त तस्य विशोधनम्—बृहद्वृत्ति पत्र ५८२

बहुप्रदेश का कर देता है, अल्पप्रदेश मे परिवर्तन।
करता स्यात् नही भी करता, आयुकर्म का वह बन्धन ॥
असात-वेदनीय का बहुश उपचय वह यहाँ नही करता।
अनाद्यनन्त भव-वन का पथ, वह लघु कर जल्दी तर जाता ।२३।
भंते ! धर्मकथा से प्राणी लाभ कहो क्या पाता है ?
कर्मनिर्जरा कर वह दीप्ति, जिनशासन की फैलाता है ॥
प्रवचन-प्रभाव करने वाला, आगे इस जगती मे चलता।
कल्याणक फल देने वाले, कर्मो का अर्जन है करता ॥२४॥
भंते ! श्रुत के आराधन से, क्या प्राणी जग मे पाता है ?
करता है अज्ञान नष्ट, सक्लेशो से बच जाता है ॥२५॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्, सज्झाएण—स्वाध्याय से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—लाभ होता है, सज्झाएण—स्वाध्याय से, नाणावरणिज्ज—ज्ञानावरणीय, कम्मं—कर्म का, खवेइ—क्षय करता है ॥१९॥

भंते—भगवन्, वायणाए णं—वाचना से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है, वायणाए णं—वाचना से, (जीव) निज्जरं—कर्मो की निर्जरा, जणयइ—करता है, सुयस्स—श्रुत की, य—और, अणुसज्जणाए—अनुवर्तन से, अणासायणाए—अनाशातना मे, वट्टए—प्रवृत्त होता है, सुयस्स—श्रुत की, अणुसज्जणाए—अनुप्रवर्तन (एव), अणासायणाए—अनाशातना मे, वट्टमाणे—प्रवर्त्तमान (जीव), तित्थधम्मं—तीर्थ धर्म का, अवलंबमाणे—अवलम्बन लेता है, तित्थधम्मं तीर्थ धर्म का, अवलम्बमाणे—अवलबन लेता हुआ (साधक), महानिज्जरे—(कर्मों की) महानिर्जरा वाला (और), महापज्जवसाणे—महापर्यवसान (कर्मो का सर्वथा अन्त करने) वाला, भवइ—होता है ॥२०॥

भंते !—भगवन्, पडिपुच्छणयाए—प्रतिपृच्छना से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है, पडिपुच्छणाए णं—प्रतिपृच्छना से, सुत्तत्थ-तदुभयाइं—सूत्र, अर्थ और तदुभय (दोनो के तात्पर्य) को, विसोहेइ—विशुद्ध कर लेता है (और) कंखा-मोहणिज्जकम्मं—कांक्षामोहनीय कर्म को, वोच्छिदइ—विच्छिन्न कर देता है ॥२१॥

भंते—भगवन्, परियट्टणाए णं—परिवर्तना से, जीवे—जीव, किं—किस (गुण) को, जणयइ—प्राप्त करता है ?, परियट्टणाए णं—परिवर्तना से, वंजणाइं—व्यंजनो की, जणयइ—प्राप्ति होती है, वंजण लद्धिं—व्यंजन-लब्धि को, च—तथा पदानुसारिणी लब्धि को, उप्पाएइ—प्राप्त कर लेता है ॥२२॥

(प्र.) अणुप्पेहाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) अणुप्पेहाए ण आउय-वज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणिय-बंधण-बद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ। दीह-कालट्ठिइयाओ हस्स-कालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ। बहु-पएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउय च ण कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। असायावेयणिज्ज च ण कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइय च अणवदग्ग दीहमद्ध चाउरंत ससार कंतार खिप्पामेव वीइवयइ ॥२३॥

(प्र) धम्मकहाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) धम्मकहाए ण निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए ण पवयण पभावेइ। पवयण-पभावेण जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्म निबंधइ ॥२४॥

(प्र) सुयस्स आराहणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) सुयस्स आराहणयाएण अन्नाण खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥२५॥

पद्यानु०—कर स्वाध्याय भदन्त ! जीव यह, क्या फल जग मे पाता है ?
स्वाध्याय-भाव से ज्ञानाच्छादक, कर्म क्षीण कर पाता है ॥१९॥
सूत्र वाचना से यह प्राणी, भते ! क्या जग मे पाता है ?
अज्ञान-निर्जरा, अनुवर्तन, कर श्रुत-आशातन से बचता है ॥
अनुवर्तन—अनाशातना से कर, तीर्थधर्म का अवलम्बन।
जिनशासन की दीप्ति बढाने, श्रुत-वाचन मे होता तन्मन ॥२०॥
प्रतिप्रश्नो के करने से, भते ! क्या प्राणी पाता है ?
करके सूत्रो की प्रतिपृच्छा, सूत्रार्थ शुद्ध कर पाता है ॥
पृच्छा और प्रतिपृच्छा से, सशय को दूर हटाता है।
कांक्षा-मोहनीय कर्मों का, फिर विनाश कर पाता है ॥२१॥
सूत्रो के पुनरावर्तन से, भन्ते ! क्या प्राणी पाता है ?
परावर्तना से प्राणी, अक्षर-सयाग मिलाता है।
परिपक्व पाठ करके फिर वह, विस्मृत की याद बढाता है।
व्यंजन-लब्धि कर प्राप्त ज्ञान, श्रुत को निर्मल कर पाता है ।२२।
भते ! अनुप्रेक्षा से प्राणी, क्या इस जग मे फल पाता है ?
आयुवर्ज सप्तकर्म प्रकृति के, दृढबंधन शिथिल बनाता है।
सप्तकर्म की चिरकालिक स्थिति, अल्पकाल कर देता है।
उनके तीव सकल अनुभव को, मदरूप दे देता है ॥

अणुप्पेहाए ण—अनुप्रेक्षा से, भंते—भगवन्, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्धि होती है? अणुप्पेहाए ण—अनुप्रेक्षा से, आउयवज्जाओ—आयुष्य कर्म को छोडकर, धणिय-बंधण बद्धाओ—गाढ बंधनो से बद्ध, सत्तकम्मपगडीओ—सात कर्म प्रकृतियो को, सिढिल-बंधण-बद्धाओ—शिथिल बंधनो से बद्ध, पकरेइ—कर लेता है, दीहकाल-ट्ठिइयाओ—दीर्घकाल की स्थिति वाली (कर्म प्रकृतियो) को, हस्सकालट्ठिइयाओ—ह्रस्वकाल की स्थिति वाली, पकरेइ—कर लेता है, तिव्वाणुभावाओ—तीव्र अनुभाव (रस) वाली (कर्म प्रकृतियो को), मंदाणुभावाओ—मन्द अनुभाव वाली, पकरेइ—कर लेता है, बहुप्पएसग्गाओ—बहुप्रदेश वाली (कर्म प्रकृतियो) को, अप्पप्पएसग्गाओ—अल्पप्रदेश वाली, पकरेइ—बना लेता है, आउयकम्म—आयुष्य कर्म को, सिया बंधइ—कदाचित् बाधता है, सिया नो बंधइ—कदाचित् नही बाधता, असायावेयणिज्जं कम्मं—असातावेदनीय कर्म का, भुज्जो-भुज्जो—बार-बार नो उवचिणाइ—उपचय नही करता, च—अन्य (कर्मो की अशुभ प्रकृतियो को) भी, अणाइयं—अनादि, अणवदग्गं—अनन्त, दीहमद्धं—दीर्घ मार्ग वाले, चाउरंत—चार गतिरूप, संसार-कंतार—संसार कातार—जगल को, खिप्पामेव—शीघ्र ही, वीइवयइ—व्यतिक्रम (पार) कर लेता है ॥२३॥

भंते—भगवन्, धम्मकहाए ण—धर्मकथा से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है?, धम्मकहाएण—धर्मकथा से, निज्जरं—कर्म-निर्जरा, जणयइ—करता है। धम्मकहाएण—धर्मकथा से, पवयणं—प्रवचन की, पभावेइ—प्रभावना करता है, पवयण-पभावेणं—प्रवचन की प्रभावना से, आगमेसस्स भद्दताए आगामी काल की भद्रता के लिए (भविष्य मे शुभ फल देने वाले) कम्मं—कर्मो का, निबंधइ—बंध करता है ॥२४॥

भंते—भगवन्!, सुयस्स—श्रुत (सूत्र-सिद्धात) की, आराहणाए ण—आराधना से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है?, सुयस्स आराहणाए ण—श्रुत की आराधना से, (जीव) अन्नाणं—अज्ञान का, खवेइ—क्षय करता है, य—और, न संकिलिस्सइ—संक्लेश नही पाता ॥२५॥

विशेषार्थ—स्वाध्याय और उसके अगों के विषय मे सात सूत्र—सूत्र १९ से २५ तक सात सूत्रो मे स्वाध्यायादि सात अध्यात्म सूत्रो से होने वाले फल का वर्णन किया गया है।

अध्यात्म सूत्र १८—स्वाध्याय के तीन व्युत्पत्त्यर्थ—(१) शुभ—सुन्दर (श्रेष्ठ) अध्ययन, (२) काल मर्यादा पूर्वक, अकाल वेला को छोडकर

स्वाध्याय पौरुषी की अपेक्षा से सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना, (३) स्व का स्व मे अध्ययन करना ।[1]

तात्पर्य—जिन क्रियाओ द्वारा ज्ञान को आच्छादित करने वाली कर्म वर्गणाएँ लगती हैं, वे स्वाध्याय के अनुष्ठान से आत्म-प्रदेशो से पृथक् हो जाती है, फलत आत्मा की ज्ञान-ज्योति निर्मल हो जाती है। इसलिए स्वाध्याय का मुख्य फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय बताया है, गौण रूप से अन्य कार्यों का भी क्षय होता है।

अध्यात्म सूत्र १९—वाचना का अर्थ है-पठन-पाठन—अध्ययन-अध्यापन करना। वाचना से कर्मों की निर्जरा होती है, अर्थात्-आत्म प्रदेशो मे लगे हुए कर्मपुद्गल उनसे पृथक हो जाते है। श्रुत (ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आप्तोपदेश एव आगम) के अनुवर्तन—सदैव पठन-पाठन होने से श्रुतप्रणाली का व्युच्छेद नही होता, श्रुत की आशातना (अवज्ञा) नही होती। श्रुत परम्परा चालू रखने और उसकी आशातना न करने वाला साधक तीर्थ धर्म का अवलम्ब—आश्रय होता है। तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाला साधक कर्मों की महानिर्जरा करने वाला और कर्मों का या ससार का सर्वथा अन्त करने वाला होता है।

तीर्थधर्म तीन अर्थ—तीर्थ के तीन अर्थ प्रचलित है— गणधर, प्रवचन अथवा चातुर्वर्ण्य श्रमणसघ। इस दृष्टि से तीर्थ धर्म के तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) गणधर-धर्म, गणधर द्वारा प्रदत्त श्रुतपरम्परा को अविच्छिन्न रखना, (२) प्रवचन का धर्म, स्वाध्याय परम्परा जारी रखना, और श्रमण-सघ का धर्म-स्वाध्याय प्रणाली का विच्छेद न होने देना।[2]

---

१ (क) शोभन अध्याय—अध्ययन—स्वाध्याय ।—आवश्यक ४

(ख) सुष्ठु आ मर्यादया—कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वा अध्याय स्वाध्याय । —धर्मसग्रह अधि-३

(ग) स्वस्य स्वस्मिन् अध्याय ।

२ (क) तीर्थमिह गणधर तस्य [धर्म—आचार, श्रुतधर्म-प्रदानलक्षणस्तीर्थ धर्म । यदि वा तीर्थं प्रवचन—श्रुतमित्यर्थ· तद्धर्म स्वाध्याय. ।

—बृहद्वृत्ति पत्र ५८४

(ख) तित्थ पुण चाउवण्णे समणसघे, तजहा—समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ ।—भगवती-२०/८

अध्यात्म सूत्र २०—प्रतिपृच्छना का अर्थ (१) ली हुई या पढी हुई शास्त्र-वाचना आदि मे कोई शका आदि होने पर पुन पुन पूछना, अथवा (२) सूत्रार्थ मे शंका होने पर उसके निवारण के लिए गुरु आदि से विनयपूर्वक पूछना। प्रतिपृच्छा से सूत्र, उसका अर्थ और उनका आशय ये तीनो शुद्ध-स्पष्ट हो जाते हैं। साथ ही काक्षामोहनीय-मिथ्यात्व मोहनीय-अनभिग्रहिक मिथ्यात्व भी नष्ट हो जाता है।[1]

अध्यात्म सूत्र २१—पढे हुए सूत्र एव अर्थ की पुन पुन आवृत्ति करना, गुणना, या बारबार स्मरण करना—परिवर्तना है। परिवर्तना से सूत्रार्थ की प्राप्ति करने वाले व्यजनो-अक्षरो की उपलब्धि होती है। तात्पर्य यह है कि बार-बार आवृत्ति करने से सूत्रार्थ मे स्खलना नही होती। पाठ करते करते, भूल जाने पर भी शीघ्र ही उसका स्मरण हो जाता है। इतना ही नही, क्षयोपशम के प्रभाव से उसे व्यजनलब्धि-एक व्यजन (अक्षर) के आधार पर शेष व्यजनो-अक्षरो को उपलब्ध करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, च शब्द से-पदलब्धि-एक पद (अक्षरो के समूह) के आधार पर शेष पदो को उपलब्ध करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।[2]

अध्यात्म सूत्र २२—अनुप्रेक्षा का अर्थ है-सूत्रार्थानुकूल तत्त्वचिन्तन। अनुप्रेक्षा करने से जीव निकाचित कर्मो के प्रगाढ बन्धनो को शिथिल कर लेता है। उनकी दीर्घकालिक स्थिति को अल्पकालिक बना लेता है। यदि उनका विपाक (रस) कटु—तीव्र हो तो उसे मन्द कर लेता है। अगर उनकी स्थिति बहुप्रदेश वाली हो तो उसे भी अल्प प्रदेशी बना लेता है।

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेषादि के परिणामविशेष से आत्म प्रदेशो के साथ कर्माणुओ का क्षीर-नीरवत् सम्बन्ध होना बन्ध है, उसके चार प्रकार हैं-प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग (रस) बन्ध और प्रदेश बन्ध। अनुप्रेक्षा करने से व्यक्ति बन्ध के इन चारो भेदो मे—चारो प्रकार के अशुभबन्धो मे कमी कर लेता है।

---

१ (क) पूर्वाधीतस्य सूत्रादे शकितादौ प्रश्न —पृच्छना।
(ख) काक्षाया मोहनीये—काक्षामोहनीय—मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थ।
—बृहद्वृत्ति पत्र ५८४

२ (क) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा २, पृ ११९,
(ख) परिवर्तना गुणनम्। —बृहद्वृत्ति पत्र ५८४

आयुकर्म का बन्ध आयु के तीसरे भाग मे होता है। यदि अनुप्रेक्षा करते समय तीसरा भाग शेष न हो तो आयुकर्म का बन्ध नही होता, अथवा जिस मनुष्य को उसी जन्म में मोक्ष पाना है, वह भी आयुकर्म का बन्ध नही करता। असातावेदनीय आदि अशुभ कर्म प्रकृतियो को पुन पुन नही बाधता, इसका आशय यह है कि यदि व्यक्ति अप्रमत्त गुणस्थान से प्रमत्त-गुणस्थान में आजाए तो वह कदाचित अशुभकर्म का बंध कर भी सकता है। तथा वह चार गतियो वाले भयकर अनादि-अनन्त ससार रूपी वन को अनुप्रेक्षा के द्वारा पार कर जाता है।

अनुप्रेक्षा से यहाँ अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षा, धर्मध्यान सम्बन्धी चार और शुक्ल ध्यान-सम्बन्धी चार अनुप्रेक्षा आदि सभी प्रकार की अनु-प्रेक्षाओ का ग्रहण अभीष्ट है।

अध्यात्म सूत्र २३—धर्मकथा का अर्थ है—श्रुतरूप धर्म की कथा=व्याख्या करना।[1] धर्मकथा से कर्मो को निर्जरा और प्रवचन की प्रभावना होती है। शास्त्र मे ८ प्रवचन-प्रभावक माने गए हैं—(१) धर्मकथाकार, (२) प्रावचनी, (३) वादी, (४) नैमित्तिक, (५) तपस्वी, (६) विद्वान, (७) सिद्ध और (८) कवि। इसलिए धर्मकथा कहने से प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन-प्रभावक आगामी काल मे भद्र—(भविष्य मे शुभफल-दायक) कर्मो का ही बन्ध करता है।

अध्यात्म सूत्र २४—श्रुत अर्थात् शास्त्र या सिद्धान्त की आराधना—सम्यक् आसेवना—भलीभाति अध्ययन-मनन से अज्ञान का नाश होता है। वस्तुत श्रुतजन्य विशिष्ट बोध मिथ्याज्ञाननाशक होता ही है और अज्ञान के नाश होने से राग-द्वेषजन्य आन्तरिक क्लेश भी शान्त हो जाता है। श्रुताराधक मुनि ज्यो-ज्यो शास्त्र मे अवगाहन करता है, त्यो त्यो अतिशय प्रशमरस मे तल्लीन-सरबोल होने से उसके चित्त मे अपूर्व आनन्द, विशिष्ट श्रद्धा और सवेग उत्पन्न होता है।[2]

---

१ धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा—व्याख्या धर्मकथा।

—बृहद्वृत्ति पत्र ५८३

२ (क) बृहद् वृत्ति, पत्र ५८३

(ख) जह जह सुयमोगाहइ, अइसय-रस-पसर-सजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइमुणी, नव-नव-सवेगसद्धाए॥

२६ (२५) पच्चीसवा सूत्र एकाग्रमन सन्निवेश—

मूल—(प्र०) एगग्ग-मण-सनिवेसणयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?
(उ०) एगग्ग-मण-सनिवेसणयाए णं चित्त-निरोहं करेइ ॥

पद्यानु०—एकाग्रचित्त धारण कर भन्ते ! प्राणी क्या जग मे पाता है ?
मन को एकाग्र बनाने से, मन का निरोध हो जाता है ॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन ! एगग्ग-मण-सनिवेसणयाएण—मन को एकाग्रता मे स्थापित करने से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—उपलब्ध करता है ? एगग्ग-मण-सनिवेसणयाए ण—मन को एकाग्रता मे स्थापित करने से, चित्त-निरोहं—चित्त (वृत्ति) का निरोध, करेइ—कर लेता है ।

विशेषार्थ—मन को एकाग्रता में स्थापित करने के तीन उपाय—प्रस्तुत २५ वें अध्यात्मसूत्र मे मन को एकाग्रता मे स्थापित करने का फल बताया है। उसके तीन उपाय उपलब्ध होते हैं—(१) एक ही पुद्गल मे दृष्टि को निविष्ट कर देना-गडा देना,[1] (२) मन को एक ही शुभ अवलम्बन मे स्थिर करना, (३) मन और वायु के निरोध से मन को एकाग्र करके, एकमात्र ध्येय मे एकतान हो जाना। चित्तनिरोध का अर्थ है—चित्त मे विकल्पो का न उठना। यदि उक्त प्रकार से मन को एकाग्र किया जाए तो इधर-उधर दौडने वाली जो चित्तवृत्तिया हैं, अथवा चित्त मे उठने वाले विकल्प जाल हैं, वे शान्त हो जाते हैं, रुक जाते है। चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है। किन्तु मन की एकाग्रता के लिये शुभ अवलम्बन ग्रहण करना अनिवार्य है अन्यथा आर्त्तरौद्रध्यान मे भी मन एकाग्र हो सकता है।

२७-२९ अध्यात्मसूत्र २६ से २८ सयम, तप और व्यवदान—

मूल—(प्र०) सजमेण भते ! जीवे किं जणयइ ?
(उ०) सजमेण अणण्हयत्तं जणयइ ॥२७॥
(प्र०) तवेण भते ! जीवे किं जणयइ ?
(उ०) तवेण वोदाण जणयइ ॥२८॥

---

१ (क) एकपोग्गल-निविट्ठ-दिट्ठित्ति ।
—अन्तकृत० गजसुकुमालमुनि वर्णन
(ख) उत्तरा० (प्रियदर्शिनी टीका) भा ४, पृ. २७१

(प्र०) वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।२९।

पद्यानु०—भंते ! संयम को धारण कर, प्राणी क्या जग मे पाता है ?
संयम-आराधन से प्राणी, आस्रव निरोध कर जाता है ।।२७।।
भन्ते ! तप के आराधन से, प्राणी क्या जग मे पाता है ?
तप से कर संचित कर्म क्षीण, प्राणी विशुद्धि पा जाता है ।।२८।।
भन्ते ! व्यवदानभाव से, जीव यहा क्या पाता है ?
व्यवदानभाव से अक्रियता, चाञ्चल्य योग का जाता है ।।
अक्रिय कर्मरहित होकर फिर, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त यहा ।
है करता परिनिर्वाण प्राप्त, सब दु खो का कर अन्त यहा ।।२९।।

अन्वयार्थ—भंते—भगवन !, संजमेण—संयम से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—उपार्जन करता है, संजमेण—संयम से, अणण्हयत्त—अनास्रवत्व (आते हुए कर्मों के निरोध)को, जणयइ—प्राप्त करता है ।।२७।।

भंते—भगवन् !, तवेण—तप से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है, तवेण—तप से जीव, वोदाण—व्यवदान को, जणयइ—प्राप्त करता है ।।२८।।

भंते—भगवन्, वोदाणेण—व्यवदान से, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है ?, वोदाणेण—व्यवदान से (जीव), अकिरियं—अक्रियता क्रियारहितता, जणयइ—प्राप्त करता है । अकिरियाए—अक्रिया से युक्त, भवित्ता—होकर, तओ पच्छा—तत्पश्चात् (व्यक्ति), सिज्झइ—सिद्ध हो जाता है, बुज्झइ—बुद्ध हो जाता है, मुच्चइ—मुक्त हो जाता है, परिनिव्वायइ—परिनिर्वाण—परमशान्ति को प्राप्त होता है, (और) सव्वदुक्खाणमंतं—सभी दु खो का अन्त, करेइ—कर देता है ।।२९।।

विशेषार्थ—संयम, तप और व्यवदान मोक्षत्रिवेणी—मोक्ष के लिए कर्मों का सर्वथा क्षय होना अनिवार्य है । संयम से नये कर्मों का आगमन (आस्रव) रुक जाता है, व्यक्ति आस्रवरहित हो जाता है और तब वह पुण्य-पाप दोनो का बन्ध नही करता । तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है और व्यवदान से पूर्वसंचित कर्मो का विनाश होता है, आत्मा विशुद्ध हो जाती है । फिर वह अक्रिय हो जाती है, उसके मन-वचन-काया की क्रियाएँ (हलचलें) बंद हो जाती हैं । आत्मा अक्रिय और निष्प्रकम्प होने पर शीघ्र ही सिद्ध, बुद्ध,

मुक्त परिनिवृत्त (परमशान्त) हो जाती है, सभी दु खो का अन्त कर डालती है। तात्पर्य यह है कि विशुद्ध आत्मा, शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की अवस्था (अक्रिय अवस्था) मे पहुच जाती है, ऐसा जीव ईर्यापथिकी क्रिया मे भी रहित हो जाता है। तब सिद्ध-बुद्धादि होने मे देर नही लगती। फिर वह आत्मा जन्ममरण-परम्परा के चक्र मे नही आती।

व्यवदान का अर्थ है—पूर्वसचित कर्मो का विनाश करके आत्मा का विशुद्ध होना।[1]

३० अध्यात्मसूत्र-२९ सुख-शात—

मूल—(प्र०) सुह-साएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) सुह-साएण अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए ण जीवे अणुकपए, अणुब्भडे विगयसोगे, चरित्त-मोहणिज्जं कम्म खवेइ।

पद्यानु०—सुख की स्पृहा निवारण कर, भते ! क्या प्राणी पाता है।
इससे विषयो के प्रति जग मे, वह अनौत्सुक्य पा जाता है॥
विषयो की उत्सुकता तज के, अनुकम्पा जो नर रखता है।
होकर प्रशान्त और शोकमुक्त, वह मोहनीय क्षय करता है॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन् !, सुख-साएणं—सुख शात से, जीवे—जीव, को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ? सुह साएण—सुख के शात से, अणुस्सुयत्त— (विषयो के प्रति) अनुत्सुकता, जणयइ—उत्पन्न होती है, अणुस्सुयाए ण—विषयो के प्रति अनुत्सुकता, जीवे—जीव, अणुकपए—अनुकम्पा करने वाला, अणुब्भडे—अनुद्भट—उद्धतता से रहित, विगयसोये—विगतशोक-शोकरहित (होकर) चरित्त-मोहणिज्ज कम्म—चारित्र-मोहनीय कर्म का, खवेइ—क्षय कर डालता है।

विशेषार्थ—सुख-शात अर्थात् वैषयिक सुखो के परित्याग अथवा विषयजन्य सुखो के प्रति गृद्धि निवारण से विषयो के प्रति नि स्पृहता उत्पन्न होती है। विषय-स्पृहा-रहित जीव किसी प्राणि को दु ख से पीडित देखता है तो उसके अन्त करण मे अनुकम्पा पैदा हो जाती है, वह अभिमान से रहित (अनुद्धत) अथवा शृगारादि की शोभारहित हो जाता है, तथा इष्ट पदार्थों के वियोग और अनिष्ट से सयोग से उसे किसी प्रकार का शोक सन्ताप नही होता। इस प्रकार प्रकृष्टतम शुभ अध्यवसाय युक्त

---

१ व्यवदान—विशुद्धि—पूर्वसचितकर्मक्षयात्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८५

होने से वह कषाय-नोकषायरूप चारित्र-मोहनीयकर्म का क्षय कर देता है ।[1]

(३१) अध्यात्मसूत्र ३० अप्रतिबद्धता

मूल—(प्र०) अप्पडिबद्धयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ०) अप्पडिबद्धयाए ण निस्सगत्त जणयइ । निस्संगत्तेणं जीवे एगे, एगग्गचित्ते दिया वा राओ वा असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरई ।

पद्यानु०— भते ! मन की अनासक्ति से, जीव यहाँ क्या पाता है ?
अप्रतिबद्धभाव धारण कर, वह असग हो जाता है ॥
जीव अकेला सगरहित हो, एकचित्त हो जाता है ।
त्याग अहर्निश बाह्यभाव, निर्लेपभाव से चलता है ॥

अन्वयार्थ—भते !—भगवन् !, अप्पडिबद्धयाए ण—अप्रतिबद्धता से, जीवे—जीव को, कि—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ? अप्पडिबद्धयाए ण—अप्रतिबद्धता से (जीव) निस्सगत्त—नि सगता को, जणयइ—प्राप्त करता है। निस्सगत्तेण—नि सगता से, जीवे—जीव, एगे—एकाकी (अकेला—आत्मनिष्ठ) (और) एगग्गचित्ते—एकाग्रचित्त हो जाता है । दिया य राओ य—तथा दिन और रात, (वह) (सदैव सर्वत्र) असज्जमाणे—अनासक्त, अप्पडिबद्धे यावि—एव अप्रतिबद्ध अर्थात् ममत्वविहीन होकर, विहरइ—विचरण करता है ।

विशेषार्थ—अप्रतिबद्धता का अर्थ है—किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के प्रति आसक्तिपूर्वक न बधना—प्रतिबन्धयुक्त न होना, अथवा मन मे किसी भी पदार्थ पर आसक्ति-ममता न रखना ।[2]

अप्रतिबद्धता से किसी भी पदार्थ के प्रति मन मे प्रतिबन्ध या ममत्व नही रहता, इस प्रकार वह प्रत्येक प्रकार के सग का त्याग कर देता है। नि सगता से रागादि रहित होकर व्यक्ति अकेला=आत्मनिष्ठ हो जाता है । अर्थात्—शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव सभी को पर समझकर स्व मे ही तन्मय हो जाता है । फिर उसे किसी भी पदार्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति मे हर्ष या शोक नही होता । वह अहर्निश अनासक्त रहता है, अर्थात्—सगदोष से उत्पन्न होने वाली नाना उपाधियो से मुक्त रहता है, और अप्रतिबद्ध होकर मासकल्पादि उद्यत विहार करके विचरता है ।

---

१ (क) सुख वैषयिक शातयति-नाशयति इति-सुखशातम् ।
(ख) उत्तरा-प्रियदर्शिनी टीका, भाग ४ पृ० २८३ ।

२ (क) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव प्रतिबन्ध विन एकाकी विचरतो । —आत्मसिद्धि
(ख) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ १२८

(३२) अध्यात्म सूत्र ३१ . विविक्त-शय्यासन

मूल—(प्र०) विवित्त-सयणासणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) विवित्त-सयणासणयाए णं चरित्त-गुत्ति जणयइ । चरित्त गुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभाव-पडिवन्ने अट्ठ-विह कम्मगंठिं निज्जरेइ ।

पद्यानु०—कर सेवन एकान्तस्थान, भंते ! प्राणी क्या पाता है ?
निर्दोष स्थान से संयम का,सम्यक् रक्षण कर पाता है ॥
चारित्र-सुरक्षा हेतु सदोष, आहारों का वर्जन करता ।
इससे चारित्र सुदृढ होता,एकान्त-रमण वह कर पाता ॥
सदा शुद्ध मन से प्राणी वह, मोक्ष-साधना मे लग कर ।
अष्टकर्म की गाठो का,भजन करता दृढ बल धर कर ॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन् !, विवित्त-सयणासणयाए णं—विविक्त शयनासन के सेवन से, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है ?

विवित्त-सयणासणयाए णं—विविक्त शयनासन के सेवन से, (जीव को) चरित्तगुत्तिं—चारित्र-गुप्ति=चारित्र-रक्षा, जणयइ—उपलब्ध होती है । य—और, चरित्तगुत्ते णं—चारित्र-गोपक=(रक्षक), जीवे—जीव, विवित्ताहारे—शुद्ध, सात्त्विक, विकृतिरहित एवं पवित्र आहारी, दढ-चरित्ते—दृढ-चारित्री, एगंतरए—एकान्त-रत (एकान्तप्रिय), (और) मोक्खभाव-पडिवन्ने—मोक्षभाव से सम्पन्न (हो कर), अट्ठविह-कम्मगंठिं—आठ प्रकार की कर्म ग्रन्थियो की, निज्जरेइ—निर्जरा कर लेता है ।

विशेषार्थ—विविक्त-शयनासन का विशिष्ट अर्थ है—जन-सम्पर्क एवं कोलाहल से रहित, स्त्री-पशु-नपुंसक के निवास से असंसक्त, शान्त, एकान्त एवं निरवद्य स्थान । उत्तराध्ययन मे श्मशान, शून्यगृह एवं वृक्षमूल को विविक्त स्थान[1] बताया है ।

विविक्त स्थान के सेवन से चारित्र की रक्षा होती है ।

चारित्र की रक्षा करने वाला साधक विविक्त आहारी (विकारोत्पादक आहार से दूर) रहता है, वह शुद्ध चारित्र धारक, एकान्तसेवी मुनि मोक्ष भाव को प्राप्त होकर अर्थात्—मुझे मोक्ष ही साधना (पाना) है, इस

---

१ (क) स्थानांग सूत्र स्थान ९ वृत्ति ।
(ख) सुसाणे सुन्नागारे य रुक्खमूले व एगओ । —उत्तरा० ३५/६

मुमुक्षु अभिप्राय से जीवन-यापन करता हुआ अष्टविध कर्मों की गाठो को क्षपक श्रेणी पर आरोहण द्वारा तोड देता है। कर्मों की निर्जरा (एक देश से क्षय) कर लेता है।

(३३) अध्यात्म सूत्र ३२ : विनिवर्तना—

मूल—(प्र०) विणियट्टणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) विणियट्टणयाए ण पावकम्माण अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए पाव नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंत ससार-कतार वीइवयइ।

पद्यानु — इन्द्रिय और मन के विषय दूर, कर भंते ! क्या प्राणी पाता ?
विनिवर्तन से नव पाप नही, करने को तत्पर हो जाता ॥
पूर्वार्जित पापो को अपने, कर दूर नष्ट कर देता है।
फिर चतुर्गतिक भीषण भव-वन का, पार शीघ्र पा लेता है ॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन् ! विणियट्टणाए ण—विनिवर्तना से, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है ? विणियट्टणयाए ण—विनिवर्तना से, (जीव) पावकम्माण (नये) पापकर्मों को, अकरणयाए—न करने के लिए, अब्भुट्ठेइ—उद्यत रहता है। य—और, पुव्वबद्धाण— पूर्वबद्ध पापकर्मों की, निज्जरणयाए—निर्जरा से, (वह) पाव नियत्तेइ—पाप कर्मों को क्षय कर उनसे निवृत्ति पा लेता है। तओ पच्छा—तत्पश्चात्, चाउरत—चतुर्गतिक, ससार-कतार—ससाररूपी अरण्य को, वीइवयइ—अतिक्रमण कर (लाघ) जाता है।

विशेषार्थ—विनिवर्तना का अर्थ है—आत्मा (मन और इन्द्रियो) की विषयवासना से निवृत्ति। विषय—वासना से पराङ्मुख होने वाला जीव पापकर्मबन्ध के हेतुओ—(मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ-योग) से विनिवृत्त हो जाता है, तब स्वत ही ज्ञानावरणीयादि नये पापकर्मों को न करने के लिए वह उद्यत रहता है। जब पापकर्म के हेतु नही रहते, तब पूर्वबद्ध कर्म स्वत ही क्षीण होने लगते हैं। बन्ध और आस्रव दोनो परस्पराश्रित हैं। आस्रवो के रुकते ही बन्ध टूटने लगते है। अत पूर्ण सवर और पूर्ण निर्जरा दोनो के सहवर्ती होने से ससाररूपी महारण्य को वह शीघ्र ही पार कर लेता है।

(३४—४२) अध्यात्म सूत्र ३३ से ४१ . प्रत्याख्यान की नवसूत्री

मूल—(प्र०) सभोग-पच्चक्खाणेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) संभोग-पच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवंति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥३४॥

(प्र०) उवहि-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिएणं जीवे निक्कंखे, उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ॥३५॥

(प्र०) आहार-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ। जीविया-संसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ॥३६॥

(प्र०) कसाय-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयराग-भावं जणयइ। वीयराग-भाव पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुह-दुक्खे भवइ ॥३७॥

(प्र०) जोग-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥३८॥

(प्र०) सरीर-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसय-गुणत्तणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसय-गुण संपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥३९॥

(प्र०) सहाय-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्प-तुमंतुमे, संजम-बहुले, संवर-बहुले, समाहिए यावि भवइ ॥४०॥

(प्र०) भत्त-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) भत्त-पच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ॥४१॥

(प्र०) सब्भाव-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) सब्भाव-पच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टि-पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं,

(उ०) संभोग-पच्चक्खाणेण आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवंति। सएण लाभेण संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं सुहसेज्जं उव-संपज्जित्ताणं विहरइ ॥३४॥

(प्र०) उवहि-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे, उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ॥३५॥

(प्र०) आहार-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियाससप्पओगं वोच्छिंदइ। जीविया-संसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं न संकिलिस्सइ ॥३६॥

(प्र०) कसाय-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयराग भावं जणयइ। वीयराग-भाव पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुह दुक्खे भवइ ॥३७॥

(प्र०) जोग-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥३८॥

(प्र०) सरीर-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसय-गुणत्तणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसय-गुण संपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥३९॥

(प्र०) सहाय-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्प-तुमंतुमे, संजम-बहुले, संवर-बहुले, समाहिए यावि भवइ ॥४०॥

(प्र०) भत्त-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) भत्त-पच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भइ ॥४१॥

(प्र०) सब्भाव-पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) सब्भाव-पच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टि-पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं,

आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्व-दुक्खाणमंतं करेइ ॥४२॥

पद्यानु० संभोग-त्याग करने वाला, भंते! क्या प्राणी पाता है?
संभोग-त्याग से वह जग मे, आलम्बन से छूट जाता है॥
मोक्षार्थ सभी उसके प्रयत्न हैं, पर अवलम्बन का त्यागी।
मिलता भिक्षा मे जो कुछ भी, रहता मुनि उसका ही भागी॥
पर-निमित्त से लब्ध द्रव्य मे, वह लेता है स्वाद नही।
करता ना उसकी स्पृहा प्रार्थना, चाह हृदय मे धरे नही॥
पर-प्राप्त कभी भिक्षाओ मे, आस्वाद न लेता व्रती वहाँ।
रखता न ताक उसकी मन मे, पर-लाभ-स्पृहा ना करे यहाँ॥
प्रार्थना तथा अभिलाषा भी, इस जग मे पर की ना करता।
पाकर वह दूजी सुखशय्या, नि स्पृह मन से विचरण करता ॥३४॥
उपधि-त्याग मे क्या प्राणी, भंते! इस जग मे है पाता?
उपधि-त्यागी स्वाध्याय ध्यान के, अन्तराय से बच जाता॥
उपधि-रहित कांक्षा से हटकर, होता जगती मे शोक-मुक्त।
उसको अलाभ पाकर न कभी, सक्लेश हृदय को करता तप्त ॥३५॥
आहार-त्याग करके प्राणी, भंते! क्या जग मे पाता है?
लम्बे जीवन की इच्छा को, इससे वह काट गिराता है॥
जीवन की इच्छा का जिसने, विच्छेद किया अन्तर्मन में।
करता न कभी सक्लेश प्राप्त, आहार बिना वह जीवन मे ॥३६॥
करके कषाय का त्याग जीव, भंते! क्या जग मे है पाता?
जो कषाय का त्यागी जन, वह वीतराग का पद पाता॥
वीतरागता को पाकर वह, हर्ष-शोक से बच जाता।
होकर अजातरिपु इस जग मे,
सुख दु ख मे समभन हो जाता ॥३७॥
भंते! योग त्याग कर प्राणी, क्या इस जग मे है पाता?
योग-त्याग से आत्म-अकम्पन, तन मन मे कम्प नही करता॥
जीव अयोगी नव-कर्मो का, कभी नही करता अर्जन।
कर देता है क्षीण पूर्व—, अर्जित कर्मो को भी तत्क्षण ॥३८॥
भंते! देह-त्याग से प्राणी, क्या इस जग मे है पाता?
मुक्तात्मा के अतिशय गुण को, इसके द्वारा वह पा जाता॥
सिद्धो के अतिशय गुण पाकर, वह ऊर्ध्वगति से भव तज कर।
परम सुखी हो जाता है, लोकाग्र स्थान को वह पा कर ॥३९॥

भंते ! जीव सहाय-त्याग कर, इस जग मे है क्या पाता ?
इससे एकाकी भाव-युक्त, प्राणी इस भव मे हो जाता ॥
एकाकी असहाय जीव, एकाग्रभाव साधन करता।
करके अभ्यास सदा कोलाहल-रव से वह जन बच जाता ॥
वाचिक कलह-कषाय मुक्त तू-तू-मैं-मैं मे ना पडता।
संयम-बहुल बहुल-संवर मुनि, स्थिर समाधि मे हो जाता ॥४०॥
भंते ! भक्त-त्याग-सेवन कर, प्राणी क्या जग मे है पाता ?
इससे अनेक शत जन्म-मरण का, वह निरोध है कर जाता ॥४१॥
सद्भाव त्याग करके प्राणी, भंते ! क्या जग मे है पाता ?
इससे वह तन-मन-वाणी की, कुछ भी प्रवृत्ति ना कर पाता ॥
अनिवृत्ति को पा मुनि-जन, केवलि-सस्थित चउ-कर्मों को।
वेदनीय, आयु और संज्ञा, करता है क्षीण गोत्र-पद को ॥
तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त जीव हो जाता है।
परिनिर्वाण प्राप्त होता, और अन्त सकल-दु ख करता है ॥४२॥

अन्वयार्थ—भंते !— भगवन्, संभोग-पच्चक्खाणेणं—सम्भोग के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है।

संभोग-पच्चक्खाणेणं—संभोग के प्रत्याख्यान से (साधक), आलंबणाइं—आलम्बनो (परालम्बनो) को, खवेइ—समाप्त कर देता है, य—और, निरालंबणस्स—निरालम्बी (स्वावलम्बी साधक) के, जोगा—मन-वचन-काया-योग, आयट्ठिया आयतार्थ=मोक्षार्थ, भवंति—हो जाते हैं (फिर वह) सएणं लाभेणं—स्वयं के द्वारा अर्जित लाभ से, संतुस्सइ—सन्तुष्ट रहता है, परलाभं—पर (दूसरो) के लाभ का, नो आसादेइ—आस्वादन (उपभोग) नही करता, नो तक्केइ—(परलाभ को) ताकता भी नही, कल्पना भी नही करता, नो पीहेइ—न (उसकी) स्पृहा करता है, नो पत्थेइ—न प्रार्थना (याचना) करता है (और), नो अभिलसइ—न ही अभिलाषा करता है, परलाभं—दूसरो के लाभ का, अणस्साएमाणे—आस्वादन न करता हुआ, अतक्केमाणे—कल्पना भी न करता हुआ, अपीहेमाणे—स्पृहा न करता हुआ, अपत्थेमाणे—प्रार्थना न करता हुआ (और), अणभिलसमाणे—अभिलाषा न करता हुआ (साधक), दुच्चं—दूसरी, सुहसेज्जं—सुखशय्या को, उवसंपज्जित्ताणं—प्राप्त करके, विहरइ—विचरता है ॥३४॥

भंते—भगवन्, उवहि-पच्चक्खाणेणं—उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्ध होता है ?

उवहि-पच्चक्खाणेणं—उपधि के प्रत्याख्यान से, अपलिमंथं जणयइ—अपरिसत्थ

(स्वाध्याय-ध्यान मे निर्विघ्नता) प्राप्त कर लेता है। निरुवहिएण—उपधि-रहित, जीवे—जीव, निक्कंखे—आकांक्षा से मुक्त होकर, उवहिमन्तरेण—उपधि के बिना, य—फिर, न संकिलिस्सइ—सक्लेश नही पाता ॥३५॥

भन्ते—भगवन्, आहार-पच्चक्खाणेण—आहार के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्ध होता है ?

आहार-पच्चक्खाणेणं—आहार के प्रत्याख्यान से, जीवियाससप्पओगं—जीवित रहने की आशसा (लालसा) के प्रयत्न को, वोच्छिन्दइ—विच्छिन्न कर देता है। जीवियाससप्पओगं—जीने की लालसा को, वोच्छिन्दित्ता—तोड (छोड) देने से, जीवे—जीव, आहार-मन्तरेण—आहार के अभाव मे, न संकिलिस्सइ—सक्लेश नही करता ॥३६॥

भंते—भगवन् ! कसाय-पच्चक्खाणेणं—कषाय के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—किस गुण की, जणयइ—प्राप्ति होती है ?

कसाय-पच्चक्खाणेणं—कषाय के प्रत्याख्यान से (साधक), वीयराग-भावं—वीतराग भाव को, जणयइ—प्राप्त करता है, य—और, वीयराग-भाव-पडिवन्ने—वीतराग भाव को प्राप्त, जीवे—जीव, सम-सुह-दुक्खे वि य—सुख और दुख मे भी समभावी, भवइ—हो जाता है ॥३७॥

भन्ते—भगवन ! जोग-पच्चक्खाणेणं—योगो के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्ध होता है ?

जोग-पच्चक्खाणेणं—योगो के प्रत्याख्यान से (जीव), अजोगत्तं—अयोगित्व, अयोगी भाव को, जणयइ—प्राप्त करता है, अजोगी जीवे—योगरहित जीव, नव-कम्मं—नए कर्म को, न बंधइ—नही बाधता है, पुव्वबद्धं च—और पहले के बधे हुए कर्म की, निज्जरेइ—निर्जरा (क्षय) कर देता है ॥३८॥

भंते—भगवन्, सरीर-पच्चक्खाणेणं—शरीर के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव, किं जणयइ—किस गुण को प्राप्त करता है ?

सरीर-पच्चक्खाणेणं—शरीर-प्रत्याख्यान से, सिद्धाइसय-गुणत्तणं—सिद्धो के अतिशय गुणत्व का, निव्वत्तेइ—सम्पादन कर लेता है, य—और, सिद्धाइसय-गुण-संपन्ने य—सिद्धो के अतिशय गुणो से सम्पन्न, जीवे—जीव, लोगग्गमुवगए—लोक के अग्रभाग मे पहुँच कर, परमसुही—परमसुखी, भवइ—हो जाता है ॥३९॥

भंते—भगवन् ! सहाय-पच्चक्खाणेणं—सहाय (सहायक) के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है ?

सहाय-पच्चक्खाणेणं—सहाय के त्याग से (जीव) एगीभावं—एकीभाव को, जणयइ—प्राप्त होता है। य—और, एगीभावभूए—एकीभाव को प्राप्त, जीवे—

भते ! जीव सहाय-त्याग कर, इस जग मे है क्या पाता ?
इससे एकाकी भाव-युक्त, प्राणी इस भव मे हो जाता ।।
एकाकी असहाय जीव, एकाग्रभाव साधन करता ।
करके अभ्यास सदा कोलाहल-रव से वह जन बच जाता ।।
वाचिक कलह-कपाय मुक्त तू-तू-मैं-मैं मे ना पडता ।
सयम-बहुल बहुल-सवर मुनि, स्थिर समाधि मे हो जाता ।।४०।।
भते ! भक्त-त्याग-सेवन कर, प्राणी क्या जग मे है पाता ?
इससे अनेक शत जन्म-मरण का, वह निरोध है कर जाता ।।४१।।
सद्भाव त्याग करके प्राणी, भते ! क्या जग मे है पाता ?
इससे वह तन-मन-वाणी की, कुछ भी प्रवृत्ति ना कर पाता ।।
अनिवृत्ति को पा मुनि-जन, केवलि-सस्थित चउ-कर्मों को ।
वेदनीय, आयु और सज्ञा, करता है क्षीण गोत्र-पद को ।।
तदनन्तर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त जीव हो जाता है ।
परिनिर्वाण प्राप्त होता, और अन्त सकल-दु ख करता है ।।४२।।

अन्वयार्थ—भते !—भगवन्, सभोग-पच्चक्खाणेण—सम्भोग के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ।

सभोग-पच्चक्खाणेण—सभोग के प्रत्याख्यान से (साधक), आलबणाइ—आलम्बनो (परालम्बनो) को, खवेइ—समाप्त कर देता है, य—और, निरालबणस्स—निरालम्बी (स्वावलम्बी साधक) के, जोगा—मन-वचन-काया-योग, आययट्ठिया आयतार्थ=मोक्षार्थ, भवति—हो जाते हैं (फिर वह) सएण लाभेण—स्वय के द्वारा अर्जित लाभ से, सतुस्सइ—सन्तुष्ट रहता है, परलाभ—पर (दूसरो) के लाभ का, नो आसाएइ—आस्वादन (उपभोग) नही करता, नो तक्केइ—(परलाभ को) ताकता भी नही, कल्पना भी नही करता, नो पीहेइ—न (उसकी) स्पृहा करता है, नो पत्थेइ—न प्रार्थना (याचना) करता है (और), नो अभिलसइ—न ही अभिलाषा करता है, परलाभ—दूसरो के लाभ का, अणस्साएमाणे—आस्वादन न करता हुआ, अतक्केमाणे—कल्पना भी न करता हुआ, अपीहेमाणे—स्पृहा न करता हुआ, अपत्थेमाणे—प्रार्थना न करता हुआ (और), अणभिलसमाणे—अभिलाषा न करता हुआ (साधक), दुच्चं—दूसरी, सुहसेज्ज—सुखशय्या को, उवसपज्जित्ताण—प्राप्त करके, विहरइ—विचरता है ।।३४।।

भते—भगवन्, उवहि-पच्चक्खाणेण—उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—उपलब्ध होता है ?

उवहि-पच्चक्खाणेण—उपधि के प्रत्याख्यान से, अपलिमथ जणयइ—अपरिमन्थ

इस प्रकार सहभोजनादि सम्भोगो का प्रत्याख्यान करने से साधक का परालम्बन मिट जाता है। स्वावलम्बी होने से आलम्बनरहित साधक की मन-वचन-काया की सभी प्रवृत्तियाँ एकमात्र मोक्ष प्राप्ति या सयम-पालन प्रयोजन हेतु ही होती हैं। फिर वह अपने ही द्वारा उपार्जित लाभ मे सतुष्ट रहता है। और तब वह दूसरो के लाभ का उपभोग नही करता, न ही दूसरो के लाभ की ओर ताकता है, वह दूसरो के लाभ की स्पृहा, प्रार्थना (याचना), या अभिलाषा नही करता। अत दूसरो के लाभ का उपभोग, कल्पना, स्पृहा, याचना और अभिलाषा नही करने वाला साधक स्थानागसूत्र मे वर्णित चार प्रकार की सुखशय्या मे से दूसरी सुखशय्या (जिसका प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन है) को प्राप्त कर विचरण करता है।

विशेष—सम्भोगत्याग जिनकल्प स्वीकार करने से पूर्व किया जाता है। ऐसा जिनकल्पी साधु उद्यतविहारी, स्वावलम्बी होकर विचरता है और वीर्याचार मे सदा उद्यम करता है। वैसे जो साधु गीतार्थ हो, वही इस प्रकार का त्याग कर सकता है, कषायाभिभूत साधक नही।[1]

अध्यात्मसूत्र ३५—सयम का निर्वाह जिन उपकरणो से हो, उन्हे उपधि कहते हैं। उपधि से यहाँ प्रसगवश रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोडकर अन्य उपकरणो का ग्रहण अभीष्ट है। जब मन की धृति और परीषह— सहनशक्ति बढ जाए तब उपधि के त्याग करने से परिमथ— अर्थात् स्वाध्याय-ध्यान आदि आवश्यक क्रियाओ मे पडने वाला विघ्न दूर हो जाता है। उपधि के त्याग करने वाले को उपधि के टूटने-फूटने, चोरी हो जाने अथवा अभाव आदि से होने वाले मानसिक सक्लेश तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नही होते। मनोज्ञ उपधि पाने की आकाक्षा भी उसे नही रहती।[2]

अध्यात्मसूत्र ३६—आहार त्याग यहाँ व्यापक अर्थ में है। आहार-प्रत्याख्यान चार प्रकार से होता है—(१) थोडे काल के लिए, (२) आजीवन (३) आहारत्याग के ६ कारणो मे से किसी कारण के उपस्थित होने पर तथा (४) दोषयुक्त आहार का त्याग करना। इसके दूरगामी परिणामो का

---

१ (क) आचार्य श्री आत्मा० रचित टीका भाग ३, पृ० १३२।
(ख) स्थानाग स्था ४, उ ३, सूत्र ३२५।
(ग) बृहद्वृत्ति पत्र ५८८।
२ परिमन्थ स्वाध्यायादि क्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थ। —बृ वृ पत्र ५८८।

जीव, एगत्त—एकत्व की, भावेमाणे—भावना करता हुआ, अप्पसद्दे—अल्प शब्द वाला, अप्पझंझे—वाक्कलह से रहित, अप्पकलहे—अल्पकलह (झगडे टंटे) वाला, अप्पकसाए—अल्प कषाय वाला, अप्प-तुमंतुमे—अल्प तू-तू-मैं-मैं वाला, (होकर) संजम बहुले—प्रधान संयमवान्, संवरबहुले—संवर प्रधान, च—और, समाहिएआवि—समाधियुक्त भी, भवइ—होता है ॥४०॥

भन्ते—भगवन्, भत्त-पच्चक्खाणेणं—भक्त (भोजन) के प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव, किं जणयइ—क्या प्राप्त करता है ?

भत्त-पच्चक्खाणेणं—भक्त (आहार) के त्याग से (जीव) अणेगाइं—अनेक, भव-सयाइं—सैकडो भवो को, निरुम्भइ—रोक देता है ॥४१॥

भन्ते—भगवन् ! सब्भाव-पच्चक्खाणेणं—सद्भाव प्रत्याख्यान से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

सब्भाव-पच्चक्खाणेणं—सद्भाव प्रत्याख्यान से, अनियट्टिं—अनिवृत्ति रूप शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की, जणयइ—प्राप्ति होती है, य—और, अनियट्टि पडिवन्ने अनिवृत्ति से सम्पन्न, अणगारे—अनगार, चत्तारि केवलि-कम्मंसे—केवली के चार शेष रहे हुए भवोपग्राही कर्मों का, खवेइ—क्षय कर डालता है, तं जहा—वे चार कर्म इस प्रकार है, वेयणिज्जं—वेदनीय, आउयं—आयुष्य, नामं—नाम कर्म (और) गोयं—गोत्रकर्म, तओ पच्छा—तत्पश्चात (वह) सिज्झइ—सिद्ध होता है, बुज्झइ—बुद्ध होता है, मुच्चइ—मुक्त होता है, परिनिव्वाएइ—परिनिर्वाण को प्राप्त होता है (और) सव्वदुक्खाणं—समस्त दुःखो का, अंतकरेइ—अन्त कर देता है ॥४२॥

विशेषार्थ—अध्यात्म सूत्र ३४—सम्भोग शब्द यहाँ साधु-साध्वियो के परस्पर आहार, विहार, वन्दन व्यवहार, वस्त्र-पात्रादि उपकरणो के सहयोग, साथ-साथ धर्मोपदेश करना इत्यादि सहयोग-व्यवहार के अर्थ मे प्रयुक्त है। बृहद्वृत्ति के अनुसार एकमण्डली मे बैठकर सहभोजन करना सम्भोग है। समवायाग सूत्र मे १२ प्रकार के संभोग बताए गए हैं।[1]

---

१ (क) उत्तरा० (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र २४८
(ख) एकमण्डल्या स्थित्वा आहारस्यकरण—सम्भोग ।—बृहद्वृत्ति तथा अ रा कोष भ ७ पृ २१६ ।
(ग) उत्तरा (आ आत्माराम) भा ३ पृ ३ ।
(घ) दुवालसविहे संभोगे पण्णत्ते, तं० उवहीए य पवयणे । —समवायाग समवाय १२ ।

इस प्रकार सहभोजनादि सम्भोगो का प्रत्याख्यान करने से साधक का परालम्बन मिट जाता है। स्वावलम्बी होने से आलम्बनरहित साधक की मन-वचन-काया की सभी प्रवृत्तियाँ एकमात्र मोक्ष प्राप्ति या सयम-पालन प्रयोजन हेतु ही होती हैं। फिर वह अपने ही द्वारा उपार्जित लाभ मे सतुष्ट रहता है। और तब वह दूसरो के लाभ का उपभोग नही करता, न ही दूसरो के लाभ की ओर ताकता है, वह दूसरो के लाभ की स्पृहा, प्रार्थना (याचना), या अभिलाषा नही करता। अत दूसरो के लाभ का उपभोग, कल्पना, स्पृहा, याचना और अभिलाषा नही करने वाला साधक स्थानागसूत्र मे वर्णित चार प्रकार की सुखशय्या मे से दूसरी सुखशय्या (जिसका प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन है) को प्राप्त कर विचरण करता है।

विशेष—सम्भोगत्याग जिनकल्प स्वीकार करने से पूर्व किया जाता है। ऐसा जिनकल्पी साधु उद्यतविहारी, स्वावलम्बी होकर विचरता है और वीर्याचार मे सदा उद्यम करता है। वैसे जो साधु गीतार्थ हो, वही इस प्रकार का त्याग कर सकता है, कषायाभिभूत साधक नही।[1]

अध्यात्मसूत्र ३५—सयम का निर्वाह जिन उपकरणो से हो, उन्हे उपधि कहते हैं। उपधि से यहाँ प्रसगवश रजोहरण और मुखवस्त्रिका को छोडकर अन्य उपकरणो का ग्रहण अभीष्ट है। जब मन की धृति और परीषह-सहनशक्ति बढ जाए तब उपधि के त्याग करने से परिमथ—अर्थात् स्वाध्याय-ध्यान आदि आवश्यक क्रियाओ मे पड़ने वाला विघ्न दूर हो जाता है। उपधि के त्याग करने वाले को उपधि के टूटने-फूटने, चोरी हो जाने अथवा अभाव आदि से होने वाले मानसिक सक्लेश तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नही होते। मनोज्ञ उपधि पाने की आकाक्षा भी उसे नही रहती।[2]

अध्यात्मसूत्र ३६—आहार त्याग यहाँ व्यापक अर्थ में है। आहार-प्रत्याख्यान चार प्रकार से होता है—(१) थोडे काल के लिए, (२) आजीवन (३) आहारत्याग के ६ कारणो मे से किसी कारण के उपस्थित होने पर तथा (४) दोषयुक्त आहार का त्याग करना। इसके दूरगामी परिणामो का

---

१ (क) आचार्य श्री आत्मा० रचित टीका भाग ३, पृ० १३२।
(ख) स्थानाग स्था ४, उ ३, सूत्र ३२५।
(ग) बृहद्वृत्ति पत्र ५८८।

२ परिमन्थ स्वाध्यायादि क्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थ। —बृ वृ पत्र ५८८।

यहाँ उल्लेख है । आहार-त्याग कर देने से जीने की आकाक्षा के निमित्त से जो प्रयत्न किया जाता है, वह स्वभावत छूट जाता है । जब जीने की आकाक्षा छूट गई तो आहार के अभाव मे उसे किसी प्रकार का मानसिक क्लेश नही होता । अनैषणीय आहार के प्रत्याख्यान के अभ्यास के कारण जब कोई परीषह उपस्थित होता है, तब आहारत्यागी सहर्ष दृढतापूर्वक उसको सहन करता है ।

अध्यात्मसूत्र ३७—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो की कषाय सज्ञा है । अर्थात् ससार का आय=लाभ या आगमन जिससे हो, वह कषाय है । कषायो के त्याग से जीव राग-द्वेष से रहित=वीतराग हो जाता है, फिर वह हर्ष-शोक, सयोग-वियोग, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो मे किसी प्रकार के उद्वेग का अनुभव नही करता, वह समभाव मे स्थित रहता है । कषाय त्याग का अनन्तर फल समभाव-भावित होना है ।[1]

अध्यात्मसूत्र ३८—मन-वचन-काय के व्यापार को योग कहते है । योगो के प्रत्याख्यान यानी निरोध से साधक अयोगी—मन-वचन काया की प्रवृत्ति से रहित हो जाता है । योगो का निरोध करने पर जीव नवीन कर्मो का बन्ध नही करता, क्योकि कर्मबन्ध मे हेतुभूत वस्तुत मन-वचन-काया का व्यापार ही है । जब इन्ही का निरोध हो गया तो नये कर्मो का बन्ध हो ही कैसे हो सकता है ? बल्कि पूर्व मे बाधे हुए वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र आदि कर्मो का भी वह क्षय कर डालता है । निष्कर्ष यह है कि अयोगी आत्मा ही शेष चार प्रकार के अघाती कर्मो का नाश करके मोक्ष-पद को प्राप्त कर सकती है ।

अध्यात्मसूत्र ३९—शरीर शब्द यहा औदारिकादि पाचो शरीरो का बोधक है । इन शरीरो का सर्वथा त्याग अयोगी-अवस्था मे ही होता है । और शरीरो के सर्वथा परित्याग से सिद्धो के परम-उत्कृष्ट गुणो को प्राप्त करके वह आत्मा मुक्तिस्थान—लोक के अग्रभाग पर पहुँचकर परम सुखी हो जाता है । तात्पर्य यह है कि ऐसा परम आत्मा सब प्रकार के कर्म-बन्धनो तथा ससार के जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध, अजर-

---

१ (क) कष ससारस्तस्य आय लाभ आगमन वा कषाय ।—उत्तरा प्रिय-दर्शिनी टीका भा ४ पृ ३०१ ।
(ख) उत्तरा (आ आ) भा ३, पृ १३५ ।

अमर पद को प्राप्त करके अनन्तशक्ति और आध्यात्मिक सुख से सम्पन्न हो जाता है।

अध्यात्मसूत्र ४०—सयमी जीवन मे किसी दूसरे साधक का भी सहयोग न लेना सहाय-प्रत्याख्यान है। सहाय-प्रत्याख्यान दो कारणो से होता है। (१) कोई साधक इतनी प्रचण्ड शक्ति वाला होता है, कि दैनिकचर्या मे वह स्वावलम्बी होता है, किसी से सहायता नही लेता। (२) कोई अपने सहयोगी साधको को पारस्परिक क्लेश, अवज्ञा, अपमान, अविनय और उद्दण्डता आदि के कारण मानसिक समाधि भग हो जाने पर गार्ग्याचार्य की तरह सहाय त्याग करता है। सहाय-त्याग का सकल्प करने से साधक एकत्वभावना से ओत प्रोत हो जाता है, फिर वह समाधि भग करने वाले कलह, द्वेष, रोष, कषाय, ईर्ष्या, तू-तू मैं-मैं आदि कारणो से बच जाता है। उस समाधिवान साधक के सयम, सवर आदि मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।[1]

अध्यात्मसूत्र ४१—भक्त प्रत्याख्यान का अर्थ-आमरण अनशन व्रत है, इसको स्वीकार करके समाधिपूर्वक दृढ अध्यवसाय करने से साधक अनेक जन्मो का निरोध कर देता है। अर्थात्—उसके जन्म धारण मे बहुत कमी हो जाती है। अल्प-ससारी होना भक्त प्रत्याख्यान का फल है।[2]

अध्यात्मसूत्र ४२—सद्भाव-प्रत्याख्यान उसे कहते हैं—जो सबसे अन्तिम, पूर्ण पारमार्थिक प्रत्याख्यान हो, जिसमे सर्वक्रियाओ, कर्मो, योगो कषायो आदि का पूर्णत परित्याग हो जाता है। यह प्रत्याख्यान सर्वसवर रूप या शैलेशी अवस्था रूप होता है, इसका अधिकारी १४वें गुणस्थान वाला आत्मा होता है। यह पूर्ण प्रत्याख्यान है, इसके बाद कोई भी प्रत्याख्यान करना शेष नही रहता। ऐसा साधक शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद पर आरूढ हो जाता है, फिर उसे जन्म-मरण रूप ससार मे पुन लौटना नही होता। इसे ही अनिवृत्ति कहते हैं। फिर उसके केवलो के शेष भवोपग्राही

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका भा ४ पृ ३०७।
(ख) उत्तरा (आ आत्म) भा ३, पृ १३८।

२ (क) तथाविध दृढाध्यवसनया ससाराल्पत्वापादनात्। —बृ वृ पत्र ५८८।
(ख) उत्तरा (आ आ) भा ३ पृ १३९

चार अघातिकर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।[1]

निष्कर्ष—प्रत्याख्यान की प्रस्तुत नवसूत्री का उद्देश्य मोक्ष की ओर बढ़ना और साधक के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करना है।

(४३) अध्यात्मसूत्र ४२ प्रतिरूपता—

मूल—(प्र.) पडिरूवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

(उ.) पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लहुभूए ण जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थ-लिंगे, विसुद्ध-सम्मत्ते, सत्त-समिइ-समत्ते, सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु वीससणिज्ज-रूवे, अप्पपडिलेहे, जिइंदिए, विउल- तव-समिइ-समन्नागए यावि भवई।

पद्यानु०—स्थविरकल्प-सम रूप धार, भते! क्या जीव यहाँ पाता?
प्रतिरूपत्व यहा पाकर वह, हल्कापन भी पा जाता॥
उपधि अल्पता से हल्का हो, अप्रमत्त हो जाता है।
प्रकट और शुभलिंग धार, सम्यक्त्व शुद्ध कर लेता है॥
अविकल सत्त्व समितिधर मुनि, सब प्राणभूत और जीवो के।
विश्वसनीय रूप होते वे, पार्थिव आदिक प्राणी के॥
परम जितेन्द्रिय हो जाता, प्रतिलेखन थोडा रह जाता।
विपुल समिति एव तप का, परिपूर्ण समागम हो जाता॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन्! पडिरूवयाए ण—प्रतिरूपता से, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है?

पडिरूवयाए ण—प्रतिरूपता से, (साधक) लाघवियं—लघुता (हल्कापन), जणयई—प्राप्त करता है। लहुभूए ण—लघुभाव को प्राप्त, जीवे—जीव, अप्पमत्ते प्रमादरहित, पागडलिंगे—प्रकट लिंग (वेष) वाला, पसत्थ-लिंगे—प्रशस्त लिंग वाला विसुद्ध-सम्मते—विशुद्ध-सम्यक्त्वी, सत्त-समिई-समत्ते—सत्त्व और समिति से परिपूर्ण,

---

१ (क) तत्र सद्भावेन=सर्वथा पुन करणाऽसम्भवात् परमार्थेन प्रत्याख्यान—सद्भाव प्रत्याख्यानम्। सर्वसंवररूपा शैलेशी यावत्।
—बृहद्वृत्ति पत्र ५८९

(ख) न विद्यते निवृत्ति—मुक्ति प्राप्य निवर्तनम् यस्मिन् तद् अनिवृत्ति, शुक्लध्यान चतुर्थ भेदरूप जनयति। —बृहद् वृत्ति पत्र ५८९

(ग) केवलिककम्मसे अंशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि—केवलि-सत्कर्माणि भवोपग्राहीणि क्षपयति। —वही पत्र ५८९

सव्व-पाण-भूय-जीव सत्तेसु—समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्वो के लिए, वीसस-णिज्ज-रूवे—विश्वसनीय रूप वाला, अप्पपडिलेहे—अल्प प्रतिलेखन वाला, जिइंदिए—जितेन्द्रिय, विउल-तव-समिइ-समन्नागए, यावि—और विपुल तप एव समिति से समन्वित भी, भवई—हो जाता है ॥

विशेषार्थ—प्रतिरूप के दो अर्थ फलित होते हैं—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—सुविहित प्राचीन मुनियो का रूप, (२) स्थविरकल्पी आदि मुनियो के सदृश रूप=वेष वाला। प्रतिरूप का भाव--प्रतिरूपता है। स्पष्ट शब्दों मे कहे तो स्थविरकल्पी मुनियो के द्रव्य और भावपूर्ण आतरिक तथा बाह्य दशा मे समानता का नाम प्रतिरूपता है। प्रकारान्तर से प्रतिरूप का अर्थ—आदर्श है। द्रव्य-भाव दोनो प्रकार से शुद्ध जो स्थविरकल्पी का आदर्श है, तदनुरूप वेष और गुण का धारण करना प्रतिरूपता है।[1]

प्रतिरूपता के अपनाने से अधिक उपकरणो का त्याग अनिवार्य होने के कारण साधक लघुभूत (हल्का) हो जाता है, अर्थात्—द्रव्य से अल्प उपकरण वाला और भाव से अल्प कषायी तथा अप्रतिबद्धतायुक्त हो जाता है। इस प्रकार लघुभूत साधक अप्रमत्त हो जाता है। जीव-रक्षा के निमित्त स्थविरकल्पी प्रभृति साधु रजोहरणादि प्रकट तथा प्रशस्त चिन्हो को धारण करके निर्मल सम्यक्त्व, सत्त्व (धैर्य) और समिति से युक्त होकर विचरण करें इससे उनका प्रतिरूपता सम्पन्न रूप सर्व प्राणियो के लिए विश्वासपात्र अथवा—प्रतीतिकारक हो जाता है। जिससे अनेक भव्यजीव उनके उपदेश से सन्मार्ग मे प्रवृत्त हो जाते हैं। बाह्यवेष स्वय उनको कई प्रकार के अकार्यों से बचा लेता है। उपकरण अल्प हो जाने से प्रतिलेखना भी स्वल्प हो गई। प्रतिलेखना से बचे हुए समय को स्वाध्याय, ध्यान मे लगाने से उनका ज्ञान अधिकाधिक निर्मल होता जाता है। उसके फलस्वरूप वह साधक चारित्र-शुद्धि करता हुआ परम जितेन्द्रिय, विपुल तपस्वी और समितियो से सम्पन्न बन जाता है। यही प्रतिरूपता का सर्वोत्कृष्ट लाभ है।

(४४) अध्यात्मसूत्र ४३ वैयावृत्त्य

मूल—(प्र) वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयई ?

(उ) वेयावच्चेण तित्थयर-नाम-गोत्त कम्मं निबन्धइ।

---

१ (क) सुविहित प्राचीन मुनीना रूपे। —उत्तरा० अ० १ बृहद्वृत्ति

(ख) प्रति—सादृश्ये, तत प्रतीति स्थविरकल्पिकादि—सदृश रूप—वेषो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता। —बृहद्वृत्ति पत्र ५८९/५९०

पद्यानु०—साधु-संघ की सेवा से, भंते ! क्या जीव यहां पाता ?
इससे तीर्थंकर नाम-गोत्र का, वह अर्जन है कर पाता ।।

अन्वयार्थ—भंते—भगवन ! वेयावच्चेण—वैयावृत्य से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—उपार्जन करता है ?

वेयावच्चेण—वैयावृत्य से, तित्थयर-नाम गोत्त-कम्म—तीर्थंकर, नाम-गोत्र का, निबंधइ—बन्ध करता है।

विशेषार्थ—वैयावृत्य का अर्थ है—निःस्वार्थभाव (व्यापृतभाव) से गुणिजनों तथा स्थविरादि मुनियों की आहारादि से यथोचित सेवा करना। आचार्यादि दशविध धर्ममूर्तियों की उत्कृष्ट भाव से सेवाभक्ति (वैयावृत्य) करने पर किसी समय तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का उपार्जन कर लेता है। वैयावृत्य की आभ्यन्तर तप में गणना की गई है। वस्तुतः वैयावृत्य कर्मों की निर्जरा का कारण है।

(४५) अध्यात्मसूत्र ४४ सर्व-गुण सम्पन्नता

मूल—(प्र) सव्व-गुण-सम्पन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) सव्व-गुण-सपन्नयाए णं अपुणराविर्त्ति जणयइ। अपुणराविर्त्ति पत्तए य जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवई।

पद्यानु०—सब गुण से सम्पन्न जीव, भंते ! क्या इस जग में पाता ?
इस गुण को धारण कर प्राणी, अविचल मुक्ति-पद पा जाता ।।
जिसको मिल जाती मुक्ति यहां, वह परम सुखी है हो जाता।
शारीरिक मानस दुःखों से, छुटकारा फिर तो पा जाता ।।

अन्वयार्थ—भंते—भगवन ! सव्व-गुण-सपन्नयाए णं—सर्व-गुण-सम्पन्नता से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ?

सव्व-गुण-सम्पन्नयाए णं—सर्व गुण-सम्पन्नता से, (साधक) अपुणराविर्त्ति—पुनः (संसार में) आगमन के अभाव=मोक्ष को, जणयइ—प्राप्त करता है। य—और, अपुणराविर्त्ति पत्तये—अपुनरावृत्ति को प्राप्त, जीवे—जीव, सारीर माणसाणं—शारीरिक और मानसिक, दुक्खाणं—दुःखों का, भागी—भागी-भोगने वाला, नो भवई—नहीं होता।

विशेषार्थ—सर्वगुण सम्पन्नता का स्वरूप—आत्मा के निजी गुण, जो उसे परिपूर्णता के शिखर पर पहुँचाते है, वे तीन हैं—निरावरण पूर्ण ज्ञान, पूर्ण

दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) एव सर्वसवर रूप पूर्ण (यथाख्यात) चारित्र। इन तीनो गुणो का परिपूर्ण होना—सर्वगुण सम्पन्नता है। सर्वगुण-सम्पन्नता से अपुनरावृत्ति अर्थात्—मुक्ति प्राप्त होती है, जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु कर्म काया आदि दु खो के, कारण नही हैं उनका तो मुक्ति प्राप्त होने से पहले ही सर्वथा अन्त कर दिया जाता है।[1]

(४६)-अध्यात्मसूत्र ४५ वीतरागता

मूल—(प्र.) वीयरागयाएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) वीयरागयाए ण नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि य वोच्छिदइ मणुन्नामणुन्नेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधेसु सचित्ताचित्त-मीसएसु चेव विरज्जइ।

पद्यानु०—वीतरागता धारण कर भते क्या लाभ जीव है पाता ?
इससे तृष्णा और स्नेहो के, बन्धन का छेदन हो जाता ॥
शुभ—अशुभ भाव को वीतराग, अन्तर्मन से है तज देता।
शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श से, है विरक्त मन बन जाता ॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन्, वीयरागयाएण—वीतरागता से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ? वीयरागयाएण वीतरागता से, नेहाणुबधणाणि—स्नेहानुबन्धनो, य—और तण्हाणुबधणाणि—तृष्णानुबन्धनो का, वोच्छिदइ—विच्छेद हो जाता है। फिर वह मणुन्नामणुन्नेसु—मनोज्ञ और अमनोज्ञ, सद्द-फरिस-रस-रूव गधेसु—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से, चेव- तथा सचित्ताचित्त-मीसएसु—सचित्त अचित्त और मिश्रद्रव्यो से, विरज्जइ—विरक्त (रागद्वेष-मुक्त) हो जाता है।

विशेषार्थ—वीतरागता का अर्थ है—राग-द्वेष रहितता। वीतरागता सम्पन्न साधक स्नेह बन्धनो और तृष्णाबन्धनो को तोड देता है। पुत्र-मित्र-स्त्री आदि मे स्नेह के अनुकूल बन्धन अर्थात्—प्रेम पाश को स्नेहबन्धन कहते हैं और द्रव्यादि मे तृष्णानुकूलबन्धन अर्थात् आशा-पाश को तृष्णानुबन्धन कहते है। इसके पश्चात् वीतराग पुरुष प्रिय—अप्रिय शब्दादि विषयो और सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्यो से विरक्त हो जाता है। राग-द्वेष के क्षय हो जाने

---

१ (क) ज्ञानादि—सर्वगुण—सहितत्वे—बृ वृ. पत्र ५९० ।
(ख) उत्तरा (आ आ.) भा. ३, पृ १४३-१४४

से उसे किसी भी पदार्थ या विषय के प्रति आसक्ति या घृणा नही होती है।[1]

(४७ से ५०) अध्यात्मसूत्र ४६ से ४९ क्षान्ति, मुक्ति आर्जव और मार्दव—

मूल—(प्र) खतीए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) खतीएण परीसहे जिणइ ॥४७॥

(प्र) मुत्तीए ण भ ते ! जीवे किं जणयइ ।

(उ) मुत्तीए ण अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्थ-लोलाण पुरिसाण अपत्थणिज्जे भवइ ॥४८॥

(प्र) अज्जवयाए ण भ ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) अज्जवयाए ण काउज्जुयय, भावुज्जुयय, भासुज्जुयय अविसवायणं जणयइ । अविसवायण-सपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥४९॥

(प्र) मद्दवयाए ण भ ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) मद्दवयाए ण अणुस्सियत्त जणयई । अणुस्सियत्तेण जीवे मिउ-मद्दव-सपन्ने अट्ठ-मयट्ठाणाइ निट्ठावेइ ॥५०॥

पद्यानु०—भते ! क्षमाभाव से प्राणी, क्या इस जग मे है पाता ?
क्षमाभाव से परीषहो पर, विजय प्राप्त वह कर पाता ॥४७॥
भते ! निर्लोभ-भाव पाकर, प्राणी क्या जग मे पाता ?
इससे जीव अकिंचनता को, सहजरूप मे पा जाता ॥
नही अकिंचन प्राणी से, अर्थीजन—कोई मांग करे ।
नही चाह के योग्य अकिंचन, मायात्यागी नही भीति धरे ॥४८॥
भते ! ऋजुता को धारण कर, यह जीव यहाँ है क्या पाता ?
इससे तन, मन और भाषा मे, सारल्यभाव है आ जाता ॥
सरलभाव से प्राणी मे, निश्चय आर्जव है आ जाता ।
आर्जव गुण से सयुक्त जीव, फिर धर्माराधक बन जाता ॥४९॥
भते ! मृदुता को धारण कर, है जीव यहाँ पर क्या पाता ?
उद्धतता तज मृदु मानस से, कोमलता जग मे पा जाता ।
जीव अनुद्धत मानस-मृदु—मार्दव-सयुत् जग मे रह कर ।
मद के आठ पदो को क्षण मे, क्षय कर देता है हस कर ॥५०॥

---

१ (क) वीतरागेन—रागद्वेषाभावेन । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९०

(ख) स्नेहस्यानुकूलानि बन्धनानि पुत्र-मित्र-कलत्रादिषु प्रेमपाशान् तथा तृष्णा-नुबन्धनानि द्रव्यादिषु आशापाशान् । —बृहद्वृत्ति अ. रा कोष, भा ६, पृ १३३९ ।

अन्वयार्थ—भंते—भगवन्, खंतीए णं—क्षान्ति से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ? खंतीए णं—क्षान्ति से, परीसहे—परीषहों को, जिणइ—जीत लेता है ॥४७॥

भंते—हे भगवन्, मुत्तीए णं—मुक्ति निर्लोभता से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ? मुत्तीए णं—निर्लोभता से, अकिंचणं—अकिंचनता, जणयइ—प्राप्त करता है। य—और, अकिंचणे जीवे—अकिंचन जीव, अत्थलोलाण पुरिसाण—अर्थलोलुपी पुरुषों द्वारा, अपत्थणिज्जे—अप्रार्थनीय, भवइ—होता है ॥४८॥

भंते—भगवन्, अज्जवयाए णं—ऋजुता (सरलता) से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है। अज्जवयाए णं—ऋजुता से (जीव) काउज्जुययं—काया की सरलता, भावुज्जुययं—भावों की सरलता, भासुज्जुययं—भाषा की सरलता (और), अविसंवायणं—अविसंवादिता को, जणयइ—प्राप्त करता है। (तथा) अविसंवायण संपन्नयाए णं—अविसंवाद सम्पन्नता से, जीवे—जीव, धम्मस्स—धर्म का, आराहए—आराधक, भवइ—होता है ॥४९॥

भंते—भगवन्, मद्दवयाए णं—मृदुता से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ? मद्दवयाए णं—मृदुता से, अणुस्सियत्तं—अनुद्धत भाव (निरभिमानता) को, जणयइ—प्राप्त होता है, अणुस्सियत्तेणं—अनुद्धतभाव से, जीवे—जीव, मिउ-मद्दव-सम्पन्ने—मृदु और मार्दव भाव से सम्पन्न होकर, अट्ठ-मयट्ठाणाइं—आठ मदस्थानों को, निट्ठावेइ—विनष्ट कर देते हैं।

विशेषार्थ—श्रमणधर्मचतुष्टय की चतु सूत्री—दस प्रकार के श्रमणधर्म में से प्रारम्भ के चार क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव के फल के विषय में यहाँ चार सूत्रों में बताया गया है।

अध्यात्मसूत्र ४७—क्षान्ति के दो अर्थ होते हैं—क्षमा और सहिष्णुता। क्षमापना के अन्तर्गत क्षमा के विषय में इससे पूर्व कहा जा चुका है। अतः प्रसंगवश क्षान्ति का अर्थ सहिष्णुता ही उपयुक्त है। सहिष्णुता और तितिक्षा होने पर व्यक्ति की सहन करने की क्षमता बढ जाती है। वह परीषहों पर अनायास ही विजय पा लेता है।[1]

अध्यात्मसूत्र ४८—मुक्ति का अर्थ—निर्लोभता या परिग्रहविरक्ति है। निर्लोभता से जीव अकिंचनता प्राप्त कर लेता है। धनादि द्रव्य रहित

---

१ (क) उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका भा. ४, पृ ३१८
(ख) क्षमुष् सहने, क्षम्यते सह्यते इति क्षान्तिः।

(अकिंचन) होने से धनलोलुप, चोर या याचक आदि उससे कोई याचना—माग नही करते। अकिंचन वृत्ति होने से उसे किसी प्रकार की चिन्ता या किसी से मागने की प्रार्थना नही करनी पडती।[1]

अध्यात्म सूत्र ४९—आर्जवता—सरलता या निष्कपटता से जीव काया (कायचेष्टा), भाव और भाषा तीनो से सरल—अवक्र होता है तथा उसमे अविसंवादिता—पूर्वापर विरोध का अभाव या अवचकता होती है।[2] अवचक भाव के कारण जीव अनायास ही धर्म का आराधक हो जाता है। शुद्ध अध्यवसायी होने के कारण दूसरे जन्मो मे भी उसे धर्म की प्राप्ति होती है।

कायादि की वक्रता—कुब्जादि वेष या बहुरूपिया आदि वेष बनाकर लोगो को हसाना—काय-वक्रता है। मन मे कुछ और वचन मे कुछ और हो वहाँ भाव-वक्रता है। उपहास के लिए अन्य देशो की भाषा बोलना, या वचन से फुसला बहका कर ठगना धोखा देना—भाषा वक्रता है। लोगो को ठगना, वचना करना विसवादिता वचकता है। जिस व्यक्ति ने ऋजु भाव को धारण कर लिया है, उसकी कोई भी चेष्टा कपटयुक्त नही होती। वह शरीर, भाव और भाषा तीनो से सरल होता है। ऐसा ही मनुष्य सद्धर्म का आराधना कर पाता है।

अध्यात्म सूत्र ५०—जो जीव द्रव्य और भाव से मृदु कोमल स्वभाव वाला है, उसको मृदुता के फलस्वरूप तीन उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं—(१) अनुद्धतता अभिमानरहितता, (२) द्रव्य से कोमलता और भाव से नम्रता तथा (३) आठ मदस्थानो का अभाव। अनुद्धतता से मृदुता प्राप्त करके व्यक्ति जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य और लाभ, इन आठ प्रकार के मदस्थानो को भी विनष्ट कर देता है।

(५१ से ५३) अध्यात्मसूत्र ५० से ५२ सत्य-त्रिवेणी—

मूल—(प्र०) भावसच्चेण भते! जीवे किं जणयइ?

(उ०) भावसच्चेण भाव-विसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहत-पन्नत्तस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेई। अरहत-पन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥५१॥

---

१ मुक्ति निर्लोभता। —बृहद्वृत्ति पत्र ५९०

२ तुलना करें—चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—काउज्जुयया, भाउज्जुयया, भासुज्जुयया, अविसवायणाजोगे। —स्थानाग, ठा ४

(प्र०) करणसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) करण-सच्चेणं करणसत्तिं जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥५२॥

(प्र०) जोग-सच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) जोगसच्चेण जोगं विसोहेई ॥५३॥

पद्यानु—भावसत्य धारण कर भन्ते !, जीव जगत् मे क्या पाता ?
भावसत्य से भावशुद्धता को प्राणी है पा जाता ॥
इसमे वर्तमान प्राणी, अर्हत्-मत—आराधन-तत्पर ।
होकर बन जाता आराधक, परलोकधर्म का वह सत्वर ॥५१॥
भंते ! करणसत्य पालन कर, जीव जगत् मे क्या पाता ?
करणसत्य से कार्यशक्ति को, प्राणी जग मे है पा जाता ॥
करणसत्य मे वर्तमान, प्राणी जैसा मुख से कहता ।
निश्छलभाव हृदय मे धर, वह कार्य सदा वैसा करता ॥५२॥
भन्ते ! योग-सत्य धारण कर, जीव यहाँ पर क्या पाता ?
योगसत्य से तन-मन-वाणी, क्रियाशुद्धि है कर जाता ॥५३॥

अन्वयार्थ—भंते—भगवन् ! भावसच्चेण—भाव-सत्य से, जीवे—जीव को, किं—किस गुण की, जणयइ—प्राप्त होती है । भावसच्चेण—भाव-सत्य से जीव, भाव-विसोहिं—भाव-विशुद्धि, जणयइ—प्राप्त करता है । भाव-विसोहीए—भाव-विशुद्धि मे, वट्टमाणे—प्रवर्तमान, जीवे—जीव, अरहंतपन्नत्तस्स—अर्हत् प्रज्ञप्त, धम्मस्स—धर्म की, आराहणयाए—आराधना के लिए, अब्भुट्ठेई—उद्यत होता है । अरहंत-पन्नत्तस्स—अर्हत् प्रज्ञप्त धर्म की, आराहणाए—आराधना के लिए, अब्भुट्ठित्ता—उद्यत व्यक्ति, परलोग-धम्मस्स—परलोक धर्म का, आराहए—आराधक, हवइ—होता है ॥५१॥

भंते—भगवन् ! करणसच्चेण—करण-सत्य से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ?

करणसच्चेण—करण-सत्य से जीव, करणसत्तिं—करण-शक्ति को, जणयइ—प्राप्त करता है । करणसच्चे—करण-सत्य मे, वट्टमाणे—प्रवर्तमान, जीवे—जीव, जहावाई-तहाकारी—यथावादी तथाकारी (जैसा कहता है, वैसा करने वाला) यावि—भी, भवइ—होता है ॥५२॥

भन्ते—भगवन ! जोग-सच्चेण—योग-सत्य से, जीवे—जीव, किं—क्या-जणयइ—प्राप्त करता है ? जोगसच्चेण—योग-सत्य से, जोग—योगो को, विसोहेइ विशुद्ध कर लेता है ॥५३॥

विशेषार्थ— सत्यत्रिवेणी और उसका मुख्य फल—सत्य की त्रिवेणी तीन धाराओ मे बहती है—भावो की सत्यता से, करण (कार्य) की सत्यता से, और योगो की सत्यता से। इन तीनो का मुख्य फल तीनो की विशुद्धि, कार्यक्षमता मे वृद्धि एव धर्माराधना है। सत्यार्थी और मुमुक्षु साधक को इस सत्य त्रिवेणी के द्वारा सत्य की पूर्णता तक पहुँचना चाहिए।

भावसत्य (अन्तरात्मा की सत्यता) से जीवात्मा के अध्यवसाय शुद्ध होते हैं, जिससे वह अरिहन्त-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना मे कटिबद्ध रहता है। उक्त धर्माराधना के फलस्वरूप उसे परलोक मे भी सद्धर्म की प्राप्ति होती है। अर्थात्—जन्मान्तर मे भी धर्माराधक होता है।

करणसत्य अर्थात्—कार्य की सत्यता से जीव मे कार्य करने की क्षमता बढ जाती है। और भविष्य मे उसके वक्तव्य और कार्य अर्थात्—उपदेश और आचरण दोनो समान हो जाते हैं।

योगसत्य अर्थात्—मन-वचन-काया के योगो—प्रयत्नो की सत्यता से साधक योगो की विशुद्धि कर लेता है।

(५४ से ५६) अध्यात्म सूत्र ५३ से ५५ त्रिगुप्ति-साधना—

मूल—(प्र) मणगुत्तयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) मणगुत्तयाए ण जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्ग-चित्तेणं जीवे मणगुत्ते सजमाराहए भवइ ॥५४॥

(प्र) वयणगुत्तयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) वयणगुत्तयाए ण निव्विकारत्तं[1] जणयइ। निव्विकारे[2] ण जीवे वइगुत्ते अज्झप्प-जोग[3]-ज्झाणजुत्ते यावि भवइ ॥५५॥

(प्र) काय-गुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) काय-गुत्तयाए णं संवरं जणयइ। सवरेण कायगुत्ते पुणो पावा-सव-निरोहं करेइ ॥५६॥

पद्यानु०—भन्ते ! मनोगुप्तता से, प्राणी क्या जग मे है पाता ?
मनोगुप्ति एकाग्रभाव का, उत्तम साधन बन जाता॥
एकाग्र-चित्त सकल्प अशुभ, से निज मन की रक्षा करता।
एव सयम का आराधक, वह भूतल पर समझा जाता ॥५४॥

पाठान्तर— १ निव्वियारत्तं २. निव्वियारे ३ साहुणजुत्ते

भन्ते ! वचन-गुप्तता से क्या, जीव यहाँ पर है पाता ?
वचनगुप्ति से निर्विकारता,—भाव जगत् में पा जाता ॥
निर्विकार होकर यह प्राणी, वचन-गुप्त हो जाता है।
अध्यात्मयोग के साधन से, फिर ध्यान-गुप्त बन जाता है ॥५५॥
काय-गुप्तता धारण कर, भंते ! प्राणी क्या पाता है ?
कायगुप्तता से प्राणी, जीवन में संवर पाता है ॥
संवर के द्वारा कायगुप्त, प्राणी फिर जग में बनता।
और पापास्रव का वह निरोध, है अनायास ही कर पाता ॥५६॥

अन्वयार्थ—भंते—हे पूज्य !, मणगुत्तयाए णं—मनोगुप्तता (मनोगुप्ति) से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ?

मणगुत्तयाए णं—मनोगुप्ति से, जीवे—जीव, एगग्गं—(मन की) एकाग्रता, जणयइ—प्राप्त करता है, एगग्ग-चित्ते णं—एकाग्र चित्तवाला, जीवे—जीव, मण-गुत्ते—(अशुभ विकल्पों से) मन का रक्षक (होकर), संजमाराहए—संयम का आराधक होता है ॥५४॥

भंते—भगवन्, वय-गुत्तयाए णं—वचन-गुप्ति से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ?

वयगुत्तयाए णं—वचनगुप्ति से (जीव), निव्वियारत्तं—निर्विकारता (या निर्विचार भाव) को, जणयइ—प्राप्त करता है, निव्वियारे णं जीवे—निर्विकार (या निर्विचार) जीव, वइगुत्ते—(सर्वथा) वचन से गुप्त (मौन) होकर, अज्झप्प-जोग-ज्झाण-जुत्ते—अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त, यावि—भी, भवइ—हो जाता है ॥५५॥

भंते—भगवन् ! कायगुत्तयाए णं—कायगुप्ति से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ?

काय-गुत्तयाए णं—कायगुप्ति से, (जीव) संवरं—संवर (आस्रव-निरोधरूप) को, जणयइ—प्राप्त होता है। संवरेणं—संवर के द्वारा, कायगुत्ते—कायगुप्त (होकर साधक), पुणो—फिर से (होने वाले) पावासव-निरोहं—पापास्रव का निरोध, करेइ—कर लेता है ॥५६॥

विशेषार्थ—मनोगुप्ति की परिभाषाएं—(१) समस्त विकल्पजाल से मुक्त होना और समभाव में प्रतिष्ठित होकर मन का आत्मा में रमण करना मनोगुप्ति कहलाती है। (२) अशुभ अध्यवसाय में जाते हुए मन को रोकना, (३) आचार्यश्री आत्मारामजी म० के अनुसार—जब सत्य-मनोयोग,

असत्य-मनोयोग, मिश्र-मनोयोग और व्यवहार-मनोयोग, इन चारों योगों का निरोध किया जाता है, तब मनोगुप्ति कही जाती है ।[1]

मनोगुप्ति के दो सुपरिणाम हैं—चित्त की एकाग्रता और सयम की सम्यक् आराधना ।

वचनगुप्ति के दो रूप—(१) सर्वथा वचन का निरोध (मौन), और (२) अशुभ वचन से निवृत्ति तथा (कुशल) शुभ वचन मे प्रवृत्ति । वचन-गुप्ति अर्थात् वचन का सयम करने से जीव वचन के द्वारा उत्पन्न क्लेशादि विकारो से या विकथा से उत्पन्न होने वाले विकारो अथवा विचारो से रहित होता है । निर्विकार या निर्विचार जीव सर्वथा वाग्गुप्त होकर अध्यात्म योग के साधनभूत धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान से युक्त हो जाता है ।[2]

कायगुप्ति के दो अर्थ हैं—(१) कायिक व्यापारो का निरोध, (२) काया को अशुभ चेष्टाओ, प्रवृत्तियो या कार्यो से रोकना और शुभ चेष्टाओ, प्रवृत्तियो या कार्यो मे लगाना ।

कायगुप्ति से अशुभकायिक प्रवृत्ति (काययोग) के द्वारा उत्पन्न होने वाले आस्रवो के निरोधरूप सवर और हिंसादि आस्रवो का निरोध होता है । एक शब्द मे कहे तो कायगुप्ति से पापो के आगमन-द्वार बन्द हो जाते है ।

(५७-५९) अध्यात्म सूत्र ५६ से ५८ समाधारणता की त्रिसूत्री—

मूल—(प्र) मणसमाहरणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) मणसमाहरणयाए ण एगग्ग जणयइ । एगग्ग जणइत्ता नाण-पज्जवे जणयइ । नाण-पज्जवे जणइत्ता सम्मत्त विसोहेइ, मिच्छत्त च निज्जरेइ ॥५७॥

(प्र.) वय समाहरणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) वय-समाहरणयाए ण वय-साहारण-दसण-पज्जवे विसोहेइ । वय-साहारण-दसण-पज्जवे विसोहेत्ता सुलह-बोहियत्त निव्वत्तेइ, दुल्लह-बोहियत्त निज्जरेइ ॥५८॥

---

१ विमुक्त—कल्पनाजाल समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्माराम मनस्तज्ज्ञै मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ —योगशास्त्र

२ (क) उत्तरा (प्रियदर्शिनी टीका) भा ४, पृ ३३१ ।
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) पृ २४६

(प्र) काय-समाहरणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) काय-समाहरणयाए णं चरित्त-पज्जवे विसोहेइ। चरित्त-पज्जवे विसोहेत्ता अहक्खाय-चरित्तं विसोहेइ। अहक्खाय-चरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ-पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥५९॥

पद्यानु०—भन्ते ! मन आगम-भावों मे, धारण कर प्राणी क्या पाता ?
श्रुत मे मन को स्थिर करने से, एकाग्रभाव थिर हो जाता ॥
पा करके एकाग्रभाव वह, ज्ञान-पर्यवों को पाता।
जिससे सम्यग्-दर्शन विशुद्ध हो, मिथ्या-दर्शन छूट जाता ॥५७॥

भन्ते ! स्वाध्याय निरत वाणी से, प्राणी क्या जग मे पाता ?
वाक् साधारण-दर्शन-पर्यव, को विशुद्ध है कर जाता ॥
दर्शन-पर्यव को कर विशुद्ध, वह सुलभबोधिता पा लेता।
दुर्लभ-बोधि-कर्म निर्जर कर, भव-अटन अल्पतम कर देता ॥५८॥

भन्ते ! कायिक समाधारणा, से प्राणी क्या है पाता ?
सयम मे काया-धारण से, चारित्र-शुद्धि है कर पाता।
वीतराग-पद पा करके, फिर यथाख्यात शोधन करता।
जिससे केवलिसत्क चतुष्टय, कर्मों का क्षय कर देता ॥
फिर बनता है शुद्ध, बुद्ध, पद मुक्त अन्त मे है पाता।
पाता पद निर्वाण अन्त मे, अन्त दुखों का कर जाता ॥५९॥

अन्वयार्थ—भंते !—भगवन् !, मण-समाहरणयाए णं—मन समाधारणता से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ? मण-समाहरणयाए णं—मन की समाधारणता से, (जीव), एगग्गं—एकाग्रता, जणयइ—प्राप्त करता है, एगग्गं—एकाग्रता, जणइत्ता—प्राप्त करके, नाण-पज्जवे—ज्ञान-पर्यवों को, जणयइ—प्राप्त करता है, नाण-पज्जवे—ज्ञान-पर्यवों को, जणइत्ता—प्राप्त करके, (वह) सम्मत्तं—सम्यक्त्व को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, य—और, मिच्छत्तं—मिथ्यात्व को, निज्जरेइ—निर्जरा करता है ॥५७॥

भंते—भगवन्, वय-समाहारणयाए णं—वचन-समाधारणता से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है, वय-समाहारणयाए णं—वचन की समाधारणता से (जीव), वय-साहारण दसण-पज्जवे—साधारण वाणी के (कथनयोग्य पदार्थ विषयक) विषयभूत, दर्शन के पर्यायों को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, वय-

साहारण-दसण-पज्जवे—वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यायो को, विसोहेत्ता—विशुद्ध करके (वह) सुलहबोहियत्त—सुलभ-बोधिता को, निव्वत्तेइ—प्राप्त करता है (और) दुल्लहबोहियत्त—दुर्लभ-बोधिता की, निज्जरेइ—निर्जरा करता है ॥५८॥

भंते—पूज्य ! काय-समाहरणयाए ण—काय समाधारणता से, जीवे—जीव को, कि—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ।

काय-समाहरणयाए ण—काय समाधारणता से, चरित्त पज्जवे—चारित्र के पर्यायो को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, चरित्त पज्जवे—चारित्र पर्यायो को, विसोहेत्ता—विशुद्ध करके (वह) अहक्खाय चरित्त—यथाख्यात चारित्र की, विसोहेत्ता—विशुद्धि करके, से—वह, चत्तारि केवलिकम्म—केवली मे विद्यमान चार (वेदनीयादि अघाती) कर्मों का, खवेइ—क्षय करता है, तओ पच्छा—तदनन्तर (वह) सिज्झइ—सिद्ध होता है, बुज्झइ—बुद्ध होता है, मुच्चइ—मुक्त हो जाता है, परिनिव्वाएइ—परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, (और) सव्वदुक्खाण अन्त करेइ—समस्त दुःखो का अन्त कर देता है ॥५९॥

विशेषार्थ—समाधारणा का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से व्यवस्थापित या नियोजित करना । प्रस्तुत त्रिसूत्री मे तीन समाधारणाओ का परिणाम बताया गया है ।

मन समाधारणता—आगमोक्त विधि के अनुसार समाधि मे, अथवा शास्त्रोक्त भावो के चिन्तन मे मन को सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित, स्थापित या नियुक्त करना (लगाना) मन समाधारणा है ।[1] मन समाधारणा की चार श्रुतिया हैं—(१) चित्त की एकाग्रता, (२) ज्ञान [सम्यग्ज्ञान] के (विशिष्ट श्रुत तत्त्वबोधरूप) पर्यायो (प्रकारो) की प्राप्ति, (३) (ज्ञान की यथेष्ट निर्मलता के अभाव से अन्त करण मे शकादि दोष उत्पन्न होते हैं अतएव) दर्शन की विशुद्धि और (४) मिथ्यात्व का क्षय ।

वचन समाधारणता—वाणी को सतत स्वाध्याय मे सम्यक् प्रकार से लगाये रखना वचन समाधारणा है । वचन समाधारणा (वाणी को सतत स्वाध्याय मे सलग्न रखने) से प्रज्ञापनीय दर्शन पर्याय विशुद्ध होते है । वाणी

---

१ मनस सम् इति सम्यक् आङिति मर्यादाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या अवधारण—व्यवस्थापन मन समाधारणा तया । —बृहद्वृत्ति पत्र ५९२

से निरन्तर स्वाध्याय करने से तथा सम्यक्त्व के भेदो का बार-बार निर्वाचन करने से सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। क्योकि द्रव्यानुयोग आदि के सतत अभ्यास से सम्यक्त्व को मलिन करने वाले शकादि दोष दूर हो जाते है, सम्यक्त्व विशुद्ध हो जाता है। सम्यक्त्व विशुद्ध होने पर सुलभबोधिता प्राप्त हो जाती है, साथ ही दुर्लभबोधिता नष्ट हो जाती है। सुलभबोधि जीव को अन्य भवो मे सद्धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है।[1]

काय समाधारणता—काया को सयम की शुद्ध प्रवृत्तियो मे भलीभाति लगाये रखना काय समाधारणा है। इसके सतत अभ्यास से चारित्रपर्यायो की विशुद्धि होती रहती है। क्योकि काय समाधारणा विधि से सयम-योग मे लगे रहने से उन्मार्ग प्रवृत्ति रुक जाती है, फलत चारित्र पर्याय शुद्ध होते जाते हैं, फिर एक दिन यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि (प्राप्ति) होती है। जिससे केवली के जीवन मे रहने वाले चार अघाती भवोपग्राही कर्म रहते हैं, उन्हे भी वह क्षय कर डालता है। फिर उसे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त होने तथा सभी दु खो का अन्त करने मे देर नही लगती।[2]

(६०—६२) अध्यात्म सूत्र ५९ से ६१ · रत्नत्रय-सम्पन्नता—

मूल—(प्र) नाण-सम्पन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) नाण-सम्पन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाण-सम्पन्ने ण जीवे चाउरन्ते ससार-कन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सइ॥

नाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे सपाउणइ, ससमय-परसमय[3] विसारए य असंघायणिज्जे भवइ ॥६०॥

---

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति पत्र ५९२
(ख) वाक् समाधारणया स्वाध्याय एव सन्निवेशात्मिकया।
(ग) उत्तरा (आ० आ०), भा० ३ पृ० १५५

२ काय समाधारणया—सयमयोगेषु शरीरस्य सम्यक् व्यवस्थानरूपया।
—बृहद्वृत्ति पत्र ५९३

३ पाठान्तर—ससमय परसमय सघाय णिज्जे।
अर्थात् वह स्वसमय-परसमय मे सघातनीय—भलीभाति सशय मिटाने योग्य अथवा सशय छेदनार्थ प्रामाणिक पुरुष के रूप मे मिलन योग्य केन्द्र।

साहारण-दसण-पज्जवे—वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यायो को, विसोहेत्ता—विशुद्ध करके (वह) सुलहबोहियत्त—सुलभ-बोधिता को, निव्वत्तेइ—प्राप्त करता है (और) दुल्लहबोहियत्त—दुर्लभ-बोधिता की, निज्जरेइ—निर्जरा करता है ॥५८॥

भंते—पूज्य ! काय-समाहरणयाए ण—काय समाधारणता से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ।

काय-समाहरणयाए ण—काय समाधारणता से, चरित्त पज्जवे—चारित्र के पर्यायो को, विसोहेइ—विशुद्ध करता है, चरित्त पज्जवे—चारित्र पर्यायो को, विसोहेत्ता—विशुद्ध करके (वह) अहक्खाय चरित्त—यथाख्यात चारित्र की, विसोहेत्ता—विशुद्धि करके, से—वह, चत्तारि केवलिकम्म—केवली मे विद्यमान चार (वेदनीयादि अघाती) कर्मो का, खवेइ—क्षय करता है, तओ पच्छा—तदनन्तर (वह) सिज्झइ—सिद्ध होता है, बुज्झइ—बुद्ध होता है, मुच्चइ—मुक्त हो जाता है, परिनिव्वाएइ—परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, (और) सव्वदुक्खाण अन्त करेइ—समस्त दु खो का अन्त कर देता है ॥५९॥

विशेषार्थ—समाधारणा का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से व्यवस्थापित या नियोजित करना । प्रस्तुत त्रिसूत्री मे तीन समाधारणाओ का परिणाम बताया गया है ।

मन समाधारणता—आगमोक्त विधि के अनुसार समाधि मे, अथवा शास्त्रोक्त भावो के चिन्तन मे मन को सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित, स्थापित या नियुक्त करना (लगाना) मन समाधारणा है ।[1] मन समाधारणा की चार श्रुतिया हैं—(१) चित्त की एकाग्रता, (२) ज्ञान [सम्यग्ज्ञान] के (विशिष्ट श्रुत तत्त्वबोधरूप) पर्यायो (प्रकारो) की प्राप्ति, (३) (ज्ञान की यथेष्ट निर्मलता के अभाव से अन्त करण मे शकादि दोष उत्पन्न होते हैं अतएव) दर्शन की विशुद्धि और (४) मिथ्यात्व का क्षय ।

वचन समाधारणता—वाणी को सतत स्वाध्याय मे सम्यक् प्रकार से लगाये रखना वचन समाधारणा है । वचन समाधारणा (वाणी को सतत स्वाध्याय मे सलग्न रखने) से प्रज्ञापनीय दर्शन पर्याय विशुद्ध होते है । वाणी

---

१ मनस सम् इति सम्यक् आङिति मर्यादाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या अवधारण—व्यवस्थापन मनसमाधारणा तया । —बृहद्वृत्ति पत्र ५९२

से निरन्तर स्वाध्याय करने से तथा सम्यक्त्व के भेदो का बार-बार निर्वाचन करने से सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। क्योकि द्रव्यानुयोग आदि के सतत अभ्यास से सम्यक्त्व को मलिन करने वाले शकादि दोष दूर हो जाते है, सम्यक्त्व विशुद्ध हो जाता है। सम्यक्त्व विशुद्ध होने पर सुलभबोधिता प्राप्त हो जाती है, साथ ही दुर्लभबोधिता नष्ट हो जाती है। सुलभबोधि जीव को अन्य भवो मे सद्धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है।[1]

काय समाधारणता—काया को सयम की शुद्ध प्रवृत्तियो मे भलीभाति लगाये रखना काय समाधारणा है। इसके सतत अभ्यास से चारित्रपर्यायो की विशुद्धि होती रहती है। क्योकि काय समाधारणा विधि से सयम-योग मे लगे रहने से उन्मार्ग प्रवृत्ति रुक जाती है, फलत चारित्र पर्याय शुद्ध होते जाते हैं, फिर एक दिन यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि (प्राप्ति) होती है। जिससे केवली के जीवन में रहने वाले चार अघाती भवोपग्राही कर्म रहते हैं, उन्हे भी वह क्षय कर डालता है। फिर उसे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिवृत्त होने तथा सभी दु खो का अन्त करने में देर नही लगती।[2]

(६०—६२) अध्यात्म सूत्र ५६ से ६१ · रत्नत्रय-सम्पन्नता—

मूल—(प्र) नाण-सम्पन्नयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ) नाण-सम्पन्नयाए ण जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाण-सम्पन्ने ण जीवे चाउरते ससार-कतारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सइ॥

नाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे संपाउणइ, ससमय-परसमय[3] विसारए य असंघायणिज्जे भवइ॥६०॥

---

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति पत्र ५९२
(ख) वाक् समाधारणया स्वाध्याय एव सन्निवेशात्मिकया।
(ग) उत्तरा (आ० आ०), भा० ३ पृ० १५५

२ काय समाधारणया—सयमयोगेषु शरीरस्य सम्यक् व्यवस्थानरूपया।

—बृहद्वृत्ति पत्र ५९३

३ पाठान्तर—ससमय परसमय सघाय णिज्जे।
अर्थात् वह स्वसमय-परसमय मे सघातनीय—भलीभाति सशय मिटाने योग्य अथवा सशय छेदनार्थ प्रामाणिक पुरुष के रूप मे मिलन योग्य केन्द्र।

(प्र०) दंसण-सपन्नयाए ण भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

(उ०) दसण-सपन्नयाए णं भव-मिच्छत्त-छेयणं करेइ । पर न विज्झायइ । परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेण नाण-दसणेण अप्पाण सजोए-माणे, सम्म भावेमाणे विहरइ ।।६१।।

(प्र०) चरित्त-सपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) चरित्त-सपन्नयाए ण सेलेसीभाव जणयइ । सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलि-कम्मसे खवेइ । तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमत करेइ ।।६२।।

पद्यानु०—भन्ते ! हो सम्पन्न ज्ञान से, क्या प्राणी है जग मे पाता ?
इससे सकल पदार्थों का है, सहज ज्ञान वह पा जाता ।।
ज्ञान-युक्त होकर प्राणी, गति अन्त चतुष्टय जग वन मे ।
पड कर भी नष्ट नही होता, आगे चलकर भी भव-मग मे ।।
जैसे सूत्र-सहित सूची, गिर कर भी होती नष्ट नही ।
वैसे ससूत्र प्राणी जग मे, रहकर भी होते नष्ट नही ।।
सम्पन्न ज्ञान, तप और विनय, चारित्र योग को पाता है ।
निज-पर-समय बोध कारण, प्रामाणिक माना जाता है ।।६०।।

भते ! दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति, इस जगती मे क्या है पाता ?
दर्शन-सम्पन्न भव जड मिथ्या,—दर्शन का छेदन कर जाता ।।
आगे चल कर इससे उसका, है ज्ञान-प्रकाश नही बुझता ।
आत्मा से परम ज्ञान दर्शन, सयोजन कर विहरण करता ।।६१।।

चारित्र-पूर्णता से भन्ते !, यह जीव यहा क्या है पाता ?
शैलेशीभाव प्राप्त कर निश्चल, गिरि-सम सयम मे स्थिर रहता ।
करता शैलेशी श्रमण क्षीण, केवलिगत कर्म-चतुष्टय को ।
आयुष्य नाम और गोत्र तथा, शुभ वेदनीय के दलिको को ।।
इसके पीछे वह सिद्ध बुद्ध, और महामुक्त हो जाता है ।
पा परिनिर्वाण-भाव पीछे, सब दु ख-अन्त कर लेता है ।।६२।।

अन्वयार्थ—भते—भगवन् ! नाण-सपन्नयाए ण—ज्ञान-सम्पन्नता से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

नाण-सपन्नयाए ण—ज्ञान-सम्पन्नता से, जीवे—जीव, सव्वभावाहिगम—सर्व-भावो का अधिगम—बोध, जणयइ—प्राप्त करता है । नाण-सपन्नेण—ज्ञान-सम्पन्न

जीवे—जीव, चाउरंते—चतुर्गतिक, ससार-कतारे—ससाररूपी कान्तार=महारण्य मे, न विणस्सइ—विनष्ट नही होता=रुलता नही।

जहा—जिस प्रकार, ससुत्ता—सूत्र (धागे) सहित, सूई—सूई, पडिया वि—(कही) गिर जाने पर भी, न विणस्सइ—विनष्ट नही होती=खो नही जाती, तहा—उसी प्रकार, ससुत्ते—ससूत्र (शास्त्रज्ञान-सहित) जीवे—जीव, ससारे—ससार मे, न विणस्सइ—विनष्ट नही होता।

(फिर वह) नाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे—ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगो को, सपाउणइ—सम्प्राप्त करता है, य—तथा, ससमय-परसमय-विसारए—स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त मे विशारद (होकर), असघायणिज्जे—प्रामाणिक पुरुष, भवइ—हो जाता है ॥६०॥

भते—भगवन ! दसण-सपन्नयाए ण—दर्शन-सम्पन्नता से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है।

दसण-सपन्नयाए ण—दर्शन-सम्पन्नता से, (जीव) भव-मिच्छत्त-छेयण—ससार के हेतुभूत मिथ्यात्व का छेदन, करेइ—करता है। पर—उत्तरकाल मे, न विज्झायइ—(सम्यक्त्व का प्रकाश) बुझता नही है। (फिर वह) अणुत्तरेण—अनुत्तर (श्रेष्ठ), नाण-दसणेण—ज्ञान-दर्शन से, अप्पाण—आत्मा को, सजोएमाणे—सयोजित करता (जोडता) हुआ, (तथा) सम्म—सम्यक् प्रकार से, भावेमाणे—भावित करता हुआ, विहरइ—विचरण करता है ॥६१॥

भते—भगवन् !, चरित्त-सपन्नयाए ण—चरित्र-सम्पन्नता से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

चरित्त सपन्नयाए ण—चारित्र-सम्पन्नता से, सेलेसी भाव—शैलेशी भाव को जणयइ—प्राप्त कर लेता है। य—और सेलेसिं पडिवन्ने—शैलेशीभाव को प्राप्त, अणगारे—अनगार, चत्तारि—चार, केवलि-कम्मसे—केवली मे शेष रहने वाले अघाती कर्माशो का, खवेइ—क्षय कर डालता है। तओ पच्छा—उसके पश्चात् (वह सिज्झइ—सिद्ध होता है, बुज्झइ—बुद्ध होता है, मुच्चइ—मुक्त होता है, परिनिव्वाएइ—परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, (और) सव्व दुक्खाण—सर्व दु खो का, अन्त-करेइ—अन्त कर देता है ॥६२॥

विशेषार्थ—ज्ञान सम्पन्नता से तात्पर्य—यहा प्रसगवश ज्ञानसम्पन्नता का अर्थ श्रुतज्ञान की प्राप्ति से युक्त होना है, क्योकि यहा ज्ञानसम्पन्नता का फल सर्वभावो का बोध बताया है। नन्दीसूत्र के अनुसार श्रुतज्ञान-

सम्पन्न साधक उपयोग युक्त होने पर सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जान-देख सकता है ।[1]

श्रुतज्ञान-सम्पन्नता से जीव सर्व पदार्थों के रहस्य को जान लेता है तथा चतुर्गतिरूप ससाराटवी मे विनष्ट नही होता, अर्थात्—खोता नही, रुलता नही । तात्पर्य यह है कि वह मोक्षमार्ग से अधिक दूर नही होता । इसे शास्त्रकार एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे डोरे सहित सूई यदि कही गिर भी जाए तो खोई नही जाती, ढूंढने पर जल्दी मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुत (सूत्र) ज्ञान से युक्त जीव इस ससार मे खोता नही, भटकता नही, वह ससारारण्य से पार हो जाता है, क्योकि श्रुतज्ञान से उसे समय समय पर मार्गदर्शन मिलता रहता है । साथ ही श्रुतज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति अभ्यास करता-करता अवधि आदि ज्ञानो को तथा विनय, तप, और चारित्र के योग (पराकाष्ठा) को प्राप्त कर लेता है । इतना ही नही, वह स्वपर-सिद्धान्तो का ज्ञाता होने से सघातनीय अर्थात्—स्वपरमतीय विद्वानो के सशयो को सम्यक् प्रकार से छिन्न करने (मिटाने) योग्य हो जाता है, अथवा वह सशयोच्छेदनार्थ सघातनीय अर्थात्—प्रामाणिक एव सम्मान्य पुरुष के रूप मे मिलन योग्य हो जाता है ।

दर्शन-सम्पन्नता का आशय है—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त । ऐसा व्यक्ति क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है । इसकी प्राप्ति से वह ससार के हेतुभूत, अर्थात्—जन्म-मरण-परम्परा के कारणभूत—मिथ्यात्व का सर्वथा नाश कर देता है, फिर उसका वह ज्ञान-दर्शन सम्बन्धी आलोक बुझता नही । वह उत्कृष्ट ज्ञानदर्शन हो तो (केवलज्ञानदर्शन) उसी भव मे या अधिक से अधिक तीसरे भव मे अवश्य प्राप्त कर लेता है । उसका केवल ज्ञान केवलदर्शन का प्रकाश प्रज्वलित रहता है । तथा अनुत्तर ज्ञान-दर्शन से अपनी आत्मा को जोडता हुआ तथा सम्यक् प्रकार से आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुप्रेक्षण करता हुआ भवस्थकेवली होकर विचरता है ।

चारित्र-सम्पन्नता का अर्थ है—पूर्ण रूप से चारित्र की प्राप्ति । इसका परिणाम है—शैलेशी भाव अर्थात्-मेरु पर्वत की तरह निष्कम्प अवस्था की प्राप्ति । अकम्पावस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात वह किसी से भी कम्पा-

---

१ तत्थ दव्वओ ण सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ, खित्तओ ण सु उ सव्व खेत्त जा पा, कालओ ण सु उ सव्वकाल जा पा, भावओ ण सु उ सव्वे भावे जा पासइ ॥ —नन्दीसूत्र सू ५७

यमान नही होता। फिर वह केवलिसत्क चार अघाती कर्मों का क्षय करके सिद्ध बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

"सेलेसी भाव" का तीन रूपान्तरपरक अर्थ—(१) शैलेशी-मेरुगिरिसम निष्कम्प अवस्था को प्राप्त, (२) शैल-चट्टान की तरह स्थिर ऋषि-शैलर्षि (३) शील का ईश—शीलेश, शीलेश की अवस्था=शील की पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ शैलेशी।[1]

(६३ से ६७) अध्यात्मसूत्र—६२ से ६६ पंचेन्द्रियनिग्रह की पंचसूत्री—

मूल—(प्र०) सोइंदिय-निग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) सोइंदिय-निग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु राग-दोस-निग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६३॥

(प्र०) चक्खिदिय-निग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) चक्खिदिय-निग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोस-निग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६४॥

(प्र०) घाणिदिय-निग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) घाणिदिय-निग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६५॥

(प्र०) जिब्भिदिय निग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) जिब्भिदिय-निग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६६॥

(प्र०) फासिंदिय-निग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) फासिंदिय-निग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु राग-दोस-निग्गहं जणयइ। तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६७॥

पद्यानु—भंते ! श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह से, प्राणी क्या जग मे पाता है ?
शब्द शुभाशुभ पर निग्रह से, मल-राग-द्वेष टल जाता है।
शब्द-जनित वह रागद्वेषवश, करता नही कर्म-बन्धन।
संयमबल से वह पूर्वबद्ध, कर्मों का क्षय करता प्रतिक्षण ॥६३॥

---

१ (क) उत्तरज्झयणाणि (मुनि नथमलजी) (टिप्पण) पृ २४७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा ३६८३-३६८५

भंते ! नयनेन्द्रिय-निग्रह से, यह जीव जगत् मे क्या पाता ?
इससे शुभ-अशुभ रूप-निग्रह से, राग-द्वेष ना हो पाता ॥
वह रूप-निमित्तक रागद्वेषवश, करता नही कर्म-बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्व-बद्ध, कर्मों को क्षीण करता तत्क्षण ॥६४॥

भते ! घ्राणेन्द्रिय निग्रह से, यह जीव जगत् मे क्या पाता ?
शुभ-अशुभ गध पर निग्रह से, वह राग-द्वेष से बच जाता ।
वह गन्ध-निमित्तक-राग-द्वेष वश, करता नही कर्म-बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ॥६५॥

भते ! रसनेन्द्रिय-निग्रह से, प्राणी क्या जग मे है पाता ?
शुभ-अशुभ रसो पर निग्रह से, रागद्वेष से बच जाता ॥
वह रस-निमित्त के राग-द्वेषवश, करता नही कर्म-बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ॥ ६६ ॥

भते ! स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह से, प्राणी क्या जग मे है पाता ?
शुभ-अशुभ स्पर्श के निग्रह से, वह रागद्वेष से बच जाता ॥
स्पर्श निमित्तक राग-द्वेषवश, करता नही कर्म-बन्धन ।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन्, सोइन्दिय-निग्गहेण—श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है । सोइन्दिय-निग्गहेण—श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह से, मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु—मनोज्ञ कर्णप्रिय और अनमोज्ञ कर्णकटु शब्दो पर, राग-दोस-निग्गहं—राग द्वेष का निग्रह, जणयइ—हो जाता है, (फिर वह) तप्पच्चइयं—तन्निमित्तक, कम्मं—कर्म, न बंधइ—नही बाधता, च—और, (यदि) पुव्वबद्ध—पहले बंधा हुआ हो तो (उसकी), निज्जरेइ—निर्जरा कर देता है ।

भते—भगवन् ! चक्खिन्दिय-निग्गहेण—चक्षुइन्द्रिय के निग्रह से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

चक्खिन्दिय-निग्गहेण—चक्षुइन्द्रिय के निग्रह से, मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु—मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो पर होने वाले, राग-दोस निग्गहं—राग, द्वेष का निग्रह, जणयइ—हो जाता है ? (फिर वह), तप्पच्चइयं—तन्निमित्तक, कम्मं—कर्म, न बंधइ—नही बाधता, च—और यदि, पुव्वबद्ध—पहले बधे हुए पूर्वसंचित कर्म की, निज्जरेइ—निर्जरा कर देता है ।

भन्ते—भगवन्, घाणिन्दिय-निग्गहेण—घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

घाणिंदिय निग्गहेणं—घ्राणेन्द्रिय निग्रह से, मणुन्नामणुन्नेसु गंधेसु—मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धो पर, रागदोसनिग्गहं—राग द्वेष का निग्रह, जणयइ—कर लेता है, (फिर वह) तप्पच्चइयं—तन्निमित्तक, कम्मं—कर्म, न बंधइ—नही बाधता, य—और, पुव्वबद्धं—पहले बँधे हुए कर्म की, निज्जरेइ—निर्जरा कर लेता है।

भंते—भगवन् ! जिब्भिंदियनिग्गहेणं—जिह्वेन्द्रिय के निग्रह से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

जिब्भिंदिय-निग्गहेणं—जिह्वेन्द्रिय के निग्रह से, मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु—मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसो पर, राग-दोस-निग्गहं—राग द्वेष का निग्रह, जणयइ—कर लेता है, तप्पच्चइयं—फिर वह तन्निमित्तक, कम्मं—कर्म, न बंधइ—नही बाँधता, य—और, पुव्वबद्धं—पूर्वबद्ध कर्म की, निज्जरेइ—निर्जरा कर लेता है।

भंते—भगवन्, फासिंदिय-निग्गहेणं—स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह से, जीवे—जीव, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त करता है ? फासिंदिय-निग्गहेणं—स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह से, मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु—मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शो पर, (होने वाले), राग दोस निग्गहं—राग-द्वेष का निग्रह, जणयइ—करता है। तप्पच्चइयं—(फिर वह) तन्निमित्तक, कम्मं न बंधइ—कर्म नही बाधता। पुव्वबद्धं च—और पूर्वबद्ध कर्म का, निज्जरेइ—क्षय कर देता है ॥६७॥

विशेषार्थ—पंचेन्द्रिय-निग्रह क्या, क्यो और कैसे ?—पाचो इन्द्रियो के मुख्य विषय पाच हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने स्वभाववश अपने-अपने विषय के प्रति आकर्षण, लगाव और प्रधावन (दौड) होता है। विषयो की ओर दौडने वाली उन इन्द्रियो को रोककर आत्मा की सेवा मे लगाना इन्द्रिय-निग्रह है। मुमुक्षु साधुवर्ग को मोक्ष की साधना मे विघ्न-विक्षेप डालने वाली इन्द्रियो को वश मे करना अनिवार्य है। इसके बिना ब्रह्मचर्य-साधना, तितिक्षा, परीषह-जय, तथा अन्य व्रतो का पालन आदि सब खटाई मे पड जाता है। अत इन्द्रिय-निग्रह मोक्ष-प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूपेण आवश्यक है। प्रत्येक इन्द्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषय मे होने वाले राग-द्वेष को वश मे करना, अर्थात्—राग और द्वेष न होने देना, विषय-प्राप्ति के पश्चात् मन को उसके साथ न जोडना, इन्द्रिय-निग्रह का राजमार्ग है। प्रत्येक इन्द्रिय के निग्रह का फल-रागद्वेष पर विजय पाना है। जब रागद्वेष पर काबू हो जाता है तो उसके निमित्त से होने वाला कर्मबन्ध रुक जाता है तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयो का निमित्त मिलने पर

मन मे समभाव रखने से, अर्थात् समपरिणामी होने से पहले बधे हुए कर्म (पूर्व सचित कर्म) भी विनष्ट हो जाते है।

(६८ से ७१) अध्यात्मसूत्र ६७ से ७० कषायचतुष्टय-विजय की चतु सूत्री—

मूल—(प्र०) कोह-विजएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) कोह-विजएण खंति जणयइ। कोहवेयणिज्ज कम्म न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६८ ॥

(प्र०) माण-विजएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) माण-विजएणं मद्दव जणयइ। माण-वेयणिज्ज कम्म न बधइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥ ६९ ॥

(प्र०) माया-विजएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) माया-विजएण अज्जव जणयइ। माया-वेयणिज्ज कम्म न बंधइ। पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥७०॥

(प्र०) लोभ-विजएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) लोभ-विजएण सतोसं जणयइ। लोभवेयणिज्ज कम्म न बधइ। पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥ ७१ ॥

पद्यानु०—भते ! क्रोध-विजय से प्राणी, क्या इस जग मे सुख पाता ?
है क्रोध-विजय से क्षमाभाव को, वह जीवन मे धर पाता ॥
क्रोध-वेदनीय कर्मो का, करता वह जीव नही बन्धन।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मो को, क्षीण करे तत्क्षण ॥ ६८ ॥

भते ! मान-विजय से प्राणी, क्या इस जग मे है पाता ?
मान-विजय से मृदुता का, गुण प्राणी मे है आ जाता ॥
मान-वेद्य का इस जग मे, वह करता नही कर्म-बन्धन।
और तन्निमित्त से पूर्वबद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ॥ ६९ ॥
भते ! माया-विजय प्राप्त कर, प्राणी क्या जग मे पाता ?
माया-विजय प्राप्त कर प्राणी, ऋजुता गुण को पा जाता ॥
माया-वेदनीय कर्मो का, करता नही जीव बन्धन।
और तिन्निमित्तवश, पूर्वबद्धकर्मो को क्षीण करे तत्क्षण ॥७०॥
भते ! लोभ-विजय से प्राणी, क्या इस जग मे है पाता ?
लोभ जीत सतोष भाव को, इस जगती मे वह पाता।
लोभ-वेदनीय कर्मो का, करता नही जीव बन्धन।
और तन्निमित्त से पूर्व-बद्ध, कर्मों को क्षीण करे तत्क्षण ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ— भंते—भगवन् !, कोह-विजएण—क्रोध पर विजय प्राप्त करने से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ? कोह-विजएण—क्रोध पर विजय पाने से, (जीव), खंति—क्षमाभाव को, जणयइ—प्राप्त करता है। (फिर वह) कोह-वेयणिज्ज— क्रोध-वेदनीय, कम्म —कर्म का, न बंधइ—बन्ध नही करता। च—और, पुव्वबद्धं—पहले बन्धे हुए इस कर्म की, निज्जरेइ—निर्जरा कर लेता है ॥६८॥

भंते—भगवन् !, माण-विजएणं—मान-विजय से, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है ?

माण-विजएण—मान-विजय से, (जीव को) मद्दव—मृदुता, जणयइ—प्राप्त होती है। (फिर वह) माण-वेयणिज्ज कम्म—मान-वेदनीय कर्म का, न बंधइ—बन्ध नही करता, पुव्वबद्ध —पहले बंधे हुए (इस कर्म), की निज्जरेइ—निर्जरा कर लेता है ॥६९॥

माया विजएण—माया पर विजय से, भंते—भगवन् !, जीवे—जीव, किं—किस गुण को, जणयइ—प्राप्त करता है ? माया-विजएण—माया पर विजय पाने से, (जीव) अज्जव—आर्जव, सरलता को, जणयइ—प्राप्त करता है। (फिर वह) माया-वेयणिज्ज—माया-वेदनीय, कम्म—कर्म, न बंधइ—नही बांधता। च—और पुव्वबद्ध—पहले बंधा हुआ हो तो, (उसकी), निज्जरेइ—निर्जरा कर लेता है ॥७०॥

भंते—भगवन् !, लोभ-विजएण—लोभ पर विजय पाने से, जीवे—जीव को, किं—क्या, जणयइ—प्राप्त होता है ?

लोभ-विजएण—लोभ-विजय से, (जीव को) संतोस—संतोष-गुण, जणयइ—प्राप्त होता है। (फिर वह) लोभ-वेयणिज्ज कम्म—लोभ-वेदनीय कर्म को, न बंधइ—नही बांधता। च—और, पुव्वबद्ध—पहले बंधे हुए (इस कर्म) की निज्जरेइ—निर्जरा करता है।

विशेषार्थ—कषाय-चतुष्टय-विजय—क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं। क्रोध-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव का प्रज्व-लनात्मक परिणाम-विशेष क्रोध है। इसी प्रकार मान-मोहनीय, माया-मोह-और लोभ-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव का परिणाम-विशेष क्रमश मान, माया और लोभ है। क्रोध का परिणाम बहुत ही भयकर, दुःखद, और पश्चात्ताप जनक होता है। इस प्रकार का निरन्तर विचार करने से जीव क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है। क्रोध पर विजय प्राप्त

कर लेने से जीव क्षमागुण को प्राप्त करता है। क्षमा से क्रोध के उदय से बँधने वाले क्रोध-मोहनीय (क्रोध करने से अवश्य भोगने योग्य कर्माणुओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध—क्रोधवेदनीय) का बन्ध नही होता तथा पूर्व मे बाँधे हुए कर्मो का भी क्षय हो जाता है।

मान (अहकार) एक कषायविशेष है। इस पर विजय पाने से जीव के परिणामो मे कोमलता और नम्रता आ जाती है। फलत इस कर्म के उदय से बधने वाले मानजन्य मोहनीय कर्म विशेष (मान वेदनीय) का बध नही होता, इतना ही नही, पूर्व मे बाधे हुए मानजन्य कर्मो का भी वह क्षय कर देता है।

माया (कपट) पर और लोभ पर विजय से क्रमश सरलता और सन्तोष वृत्ति प्राप्त होती है। फिर वह जीव माया और लोभ के उदय से बधने वाले माया-मोहनीय और लोभ-मोहनीय कर्म का बध नही करता, पहले बाधे हुए इन कर्मो का भी क्षय कर देता है।[1]

(७२) अध्यात्म सूत्र ७१ प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय—

मूल—(प्र०) पिज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

(उ०) पिज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजएण नाण-दसण-चरित्ताराहणाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगठि-विमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइ-विह मोहणिज्ज कम्म उग्घाएइ, पचविह नाणावरणिज्ज, नवविह दसणावरणिज्ज, पचविहं अतराइय—एए तिन्नि वि कम्मसे जुगव खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तर अणत, कसिणं, पडिपुण्ण, निरावरण, वितिमिर, विसुद्ध लोगालोग-प्पभावग केवल-वरनाण-दसण समुप्पादेइ। जाव सजोगी भवइ, ताव इरियावहिय कम्म निबधइ। सुह-फरिसं, दु-समय ठिइय। त जहा—पढम-समए बद्ध विइय-समए वेइय, तइय समए निज्जिण्ण। त बद्धं, पुट्ठ, उदीरिय, वेइय, निज्जिण्ण, सेयाले य अकम्मं यावि भवइ॥

पद्यानु०—प्रेय दोष मिथ्यादर्शन के, जय से क्या प्राणी पाता ?
दर्शन-ज्ञान-चरणाराधन के, लिए जीव उद्यत होता॥

---

1 (क) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ १६६ से १६७
(ख) उत्तरा (प्रियदर्शिनी टीका) भाग ४, पृ ३५१ से ३५३ तक

अष्टकर्म की ग्रन्थि-विमोचन हेतु यहा तत्पर होता ।
पूर्ण क्षीण कर सका न जिनको, क्रमश उसे क्षीण करता ॥
पाच ज्ञान नौ दर्शन की, और अन्तराय के पाचो को ।
तीनो को करता सग क्षीण, इन विद्यमान सब कर्मों को ॥
उसके पीछे अतिश्रेष्ठ तथा, केवल अनन्त प्रतिपूर्ण ज्ञान ।
निरावरण परिशुद्ध लोक का, करता अलोक का अवलोकन ॥
करते वे केवलज्ञान तथा, केवल दर्शन का उत्पादन ।
जब तक मन वच काय सयोगी हो, तब तक ईर्यापथिका बन्धन ॥
सुखकर विपाक उसके होता, दो समयमात्र स्थिति है होती ।
समय तीसरा पा करके, निर्जीर्ण दशा उसको होती ॥
होता जग मे वह कर्मबद्ध, और पुट्ठ उदय मे है आता ।
भोगा जाता और नष्ट अन्त, क्षण मे अकर्म भी हो जाता ॥

अन्वयार्थ—भते—भगवन्! पिज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजएण—प्रेय (राग), द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय से, जीवे—जीव को, कि—क्या जणयइ—प्राप्त होता है? पिज्ज-दोस-मिच्छादसण-विजएण—राग (प्रेय) द्वेष, और मिथ्यादर्शन पर विजय से, (जीव) नाण-दसण-चरित्ताराहणाए—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए, अब्भुट्ठेइ—उद्यत होता है। (फिर वह) अट्ठविहस्स कम्मस्स—(आठ प्रकार के कर्मों की, कम्मगठि-विमोयणाए—कर्मग्रन्थी को (विमोचन)खोलने के लिए, तप्पढमयाए—उनमे से सर्वप्रथम, जहाणुपुव्वीए—अनुक्रम से, अट्ठावीसइविह—अट्ठाइस प्रकार के, मोहणिज्ज कम्म —मोहनीय कर्म का, उग्घाएइ—घात (क्षय) करता है (तथा) पचविह—पाच प्रकार के, नाणावरणिज्ज—ज्ञानावरणीय कर्म का, नवविह दसणावरणिज्ज—नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म का, (एव) पचविह अतराइय—पाच प्रकार के कर्म का, ए ए तिन्नि वि कम्मसे—इन तीनो कर्मों के अश का, जुगव—युगपत्—एक साथ खवेइ—क्षय कर डालता है। तओ पच्छा—तत्पश्चात् अणुत्तर—प्रधान, अणत—अनन्त, कसिण—सम्पूर्ण, पडिपुण्ण—परिपूर्ण, निरावरण—आवरण-रहित, वितिमिर—अन्धकार-रहित, विसुद्ध—विशुद्ध, लोगालोगप्पभावग—लोक और अलोक का प्रकाशक, केवल—सहायरहित, वरनाण-दसण—श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन को, समुप्पाडेइ—प्राप्त कर लेता है।

जाव—जब तक (वह), सजोगी—सयोगी, भवइ—रहता है, ताव—तब तक इरियावहिय—ईर्यापथिक, कम्म—कर्म=क्रिया का, निबधइ—बध करता है। (परन्तु उसका) सुहफरिस—स्पर्श सुखरूप होता है। दुसमयठिइय—उसकी स्थिति

दो समय की होती है, त जहा—जैसे कि, पढमसमए—प्रथम समय मे, बद्ध—बध हुआ। बिइय समये—द्वितीय समय मे, वेइय—वेदन किया (और) तइय-समए—तीसरे समय मे, निज्जिण्णा—निर्जरा हुई—फल देकर विनष्ट हुआ।

(इस प्रकार) त—वह (क्रमश), बद्ध—बद्ध होता है, पुट्ठ—स्पृष्ट होता है, उदीरिय—उदय मे आता है, (फिर) वेइय—वेदन किया (भोगा) जाता है, (और) निज्जिण्ण—निर्जरा को प्राप्त (क्षय) हो जाता है। य—फिर, सेयाले—आगामीकाल (अन्त) मे, (वह) च—और चतुर्थ समय मे, अकम्म यावि—कर्मरहित भी, भवइ—हो जाता है।

विशेषार्थ—राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय की फलश्रुति—राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय पाने वाला जीव ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना मे सदा तत्पर रहता है। आठ प्रकार के कर्मों की गाँठो को खोलने के लिए, सर्वप्रथम वह मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियो का क्षय कर देता है, फिर एक ही झटके मे ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९ और अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियो का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

जब तक वह जीव सयोगी केवली होता है, अर्थात्—यह मन-वचन-काया के योग वाला होता है, तब तक वह नाममात्र के लिए ईर्यापथिकी क्रिया का बंध करता है, किन्तु आत्मप्रदेशो के साथ उसका स्पर्श अत्यन्त सुखकर होता है और उसकी स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है। यथा—प्रथम समय मे तो उसका बन्ध अर्थात् आत्म-प्रदेशो के साथ स्पर्श हुआ, दूसरे समय मे उसके रस का अनुभव किया और तीसरे समय मे उसकी निर्जरा कर दी। इस प्रकार प्रथम समय मे बन्ध, दूसरे समय मे उदय और तीसरे समय मे निर्जरा होने से, चौथे समय मे वह जीव सर्वथा कर्मरहित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कर्म का स्थिति बध कषाय भाव मे होता है। यहा तो केवली के मन-वचन-काया के योग कषायरहित व्यापार रूप होते हैं। अत-पाषाण की दीवार पर लगे सूखे बालू के गोले की तरह ज्यो ही आत्म-प्रदेशो के साथ वह शारीरिक कर्म लगता है, त्यो ही घट के साथ आकाश के सयोग की भाति झड जाता है, क्योकि उसमे रागद्वेषजन्य स्निग्धता नही है। इसलिए केवली जब तक सयोगी रहता है, तब तक चलते-फिरते,

उठते-बैठते हुए क्षण योग-निमित्तक दो समय की स्थिति का सुखस्पर्श कर्म बंधता रहता है, अयोगी होने पर वह भी नहीं।

चार घाती कर्मों के भेद—मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं। मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय, चारित्रमोहनीय मे कषायमोहनीय के १६ और नोकषाय-मोहनीय के ९ भेद इस प्रकार २५ भेद—चारित्रमोहनीय के और ३ भेद दर्शनमोहनीय के कुल मिलाकर २८ भेद हुए।

ज्ञानावरणीयकर्म के ५ भेद—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्यवज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।

दर्शनावरणीय के ९ भेद—चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, और स्त्यानर्द्धि।

अन्तराय कर्म के ५ भेद—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। (देखें कर्मग्रन्थ भाग १)

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियो के ग्रन्थिभेद के क्रम का विवेचन कम्मपयडी, प्रज्ञापना आदि मे विस्तार से किया गया है। जिज्ञासुजन वहीं से देख लें।

(७३) अध्यात्मसूत्र ७२ योगनिरोध और शैलेशी अवस्था—

मूल—(७०) अहाउअं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाउए जोग-निरोहं करेमाणे सुहुम-किरियं अप्पडिवाइ-सुक्कज्झाणं झियायमाणे, तप्पढमयाए मणजोगं निरुम्भई, मण० निरुम्भइत्ता वइजोगं निरुम्भइ, वइ० निरुम्भइत्ता कायजोग निरुम्भइ, आण-पाण-निरोहं करेइ। करित्ता ईसिं पंच-हस्सक्खरुच्चारद्धाए य ण अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टि-सुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ।

पद्यानु०—केवल-पद-आयु पालन कर, भोग शेष वेदन करता।
अन्तर्मुहूर्त-परिमाण आयु, रहने पर योग-रोध करता॥
उस समय सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपातिक, वह शुक्लध्यान मे लीन बना।
वह मनोयोग और वचनयोग, दोनो निरोध क्रमश करता॥
उच्छ्वास और नि श्वासो का, पीछे निरोध कर लेता है।
उसके पीछे अ इ उ ऋ लृ का, जब तक उच्चारण होता है॥

उस स्वल्पकाल तक समुच्छिन्न, अनिवृत्ति ध्यान मे रत रहता।
अनगार चतुष्टय-सत्कर्मों को, क्षीण हेतु तत्पर बनता ॥७३॥

अन्वयार्थ—[भगवन् ! केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात शैलेशी अवस्था कैसे प्राप्त होती है ?]

[उ०] अह—केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात्, आउय—शेष आयु कर्म को, पालइत्ता—भोगकर, अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाउए—जब अन्तर्मुहूर्त काल परिमित आयु शेष रहती है, (तब अनगार), जोगनिरोहं—योग का निरोध, करेमाणे—करता हुआ, सुहुम-किरियं अप्पडिवाइं— सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती नामक, सुक्कज्झाणं—शुक्लध्यान को, झियायमाणे—ध्याता हुआ, तप्पढमयाए—सर्वप्रथम, मणजोगं—मनोयोग का, निरुम्भइ—निरोध करता है। मणजोगं—मनोयोग का, निरुम्भइत्ता—निरोध करके, वइजोगं—वचनयोग का, निरुम्भइ—निरोध करता है, वइजोगं निरुम्भइत्ता—वचनयोग का निरोध करके, आणपाण-निरोहं—आनापान-श्वासोच्छ्वास का निरोध, करेइ—करता है। आणपाण निरोहं करित्ता—श्वासोच्छ्वास का निरोध करके, ईसि—ईषत्=स्वल्प (मध्यमगति से), पञ्चहस्सक्खरुच्चारणद्धाए=पाच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण जितने काल मे, समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टि सुक्कज्झाणं—समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान को, झियायमाणे—ध्याता हुआ (वह) अणगारे—अनगार, य—फिर, वेयणिज्जं—वेदनीय, आउयं—आयु, नामं—नाम, गोत्तं—गोत्र, एए—इन, चत्तारि कम्मंसे—चार कर्मांशो का, जुगवं—एक ही साथ, खवेइ—क्षय कर देता है।

विशेषार्थ—शैलेशी अवस्था—प्रस्तुत सूत्र मे चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगी शैलेशी-अवस्थापन्न आत्मा की अवस्था का वर्णन किया गया है।

केवलज्ञान-प्राप्त आत्मा अपने शेष आयुकर्म को भोगता हुआ जब दो घड़ी (अन्तर्मुहूर्त) आयु शेष रह जाती है, तब वह योग-निरोध (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का सर्वथा रोकना) करता है। ऐसा करते हुए वह सर्वप्रथम सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान के तृतीय पाद मे एकाग्र होकर प्रथम मन के, फिर वचन और अन्त मे काया के योगो का निरोध करता है।

तात्पर्य यह है कि पर्याप्त संज्ञी जीव का जहाँ तक जघन्य योग होता है, उससे भी असंख्यात-गुणहीन मनोयोग का निरोध करने लगता है। प्रति समय मन के पुद्गलो और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्यात समयो मे मनोयोग का पूर्णतया निरोध कर लेता है। तदनन्तर वचनयोग का निरोध करता हुआ पर्याप्त मात्र द्वीन्द्रिय जीव को जितना जघन्य वचन

योग होता है, उससे भी असख्यात गुणहीन वचनयोग का निरोध करता है। वचन के पुद्‌गलो और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते असख्यात समयो मे वचनयोग का पूर्णतया निरोध कर लेता है। तत्पश्चात् प्रति समय काया के पुद्‌गलो और व्यापार का निरोध करते-करते असख्यात समयो मे श्वासोच्छ्‌वास का पूर्ण निरोध कर लेता है।[1]

योगो का निरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसे अयोगी केवली नामक १४वा गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होने के बाद न तो विलम्ब से और न शीघ्रता से, किन्तु मध्यम गति से अ इ उ ऋ लृ इन पाच ह्रस्व अक्षरो का उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने समय तक वह आत्मा शैलेशीअवस्था मे रहता है। इस बीच समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान का चतुर्थ पाद होता है, जिसमे मानसिक वाचिक कायिक समस्त क्रियाओ का सर्वथा अन्त हो जाता है, तथा जो सर्व कर्मक्षय करने से पहले निवृत्त नही होता। इस ध्यान के प्रभाव से चार अघाती कर्म एक ही समय मे एकसाथ सर्वथा क्षीण हो जाते हैं। यही शैलेशी अर्थात्—मेरुपर्वत के समान निष्कम्प-अचल आत्मस्थिति है।

(७४) अध्यात्मसूत्र ७३ अकर्मता—सिद्धावस्था

मूल—तओ ओरालिय-तेय-कम्माइ च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाण-गई उड्ढ एगसमएण अविग्गहेणं तत्थ गता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंत करेइ ॥

उपसहार

एस खलु सम्मत्त-परक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेण भगवया महावीरेण आघविए, पन्नविए, परूविए, दसिए, उवदसिए ॥

—त्तिबेमि ॥

पद्यानु—फिर औदारिक तैजस कार्मण सब, विग्रहानि से तन तजकर।
सरल श्रेणि अस्पृष्टगति से, सिद्धि पाता है शिव पाकर ॥
ज्ञानभाव से बुद्ध मुक्त, लोकाग्र पहुँचकर स्थिर होता।
इस प्रकार सब दुखो का, वह अन्त यहाँ पर है करता ॥

---

१ (क) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र २९२
(ख) औपपातिकसूत्र, सू ४३

प्राणी होने से सिद्ध पूर्व, करता है गति ऋजु श्रेणी से।
उसकी गति ऊपर को होती, नभ-प्रदेश की श्रेणी से॥
आत्म-प्रदेशवत् नभ-प्रदेश को, सदा स्पर्श करने वाली।
वह एक काल की होती है, और होती है ऋजुता वाली॥

सम्यक्त्व-पराक्रम पूर्व-कथित, यह अर्थ वीर-प्रभु ने दर्शित।
आख्यात प्ररूपित प्रज्ञापित, और वीर श्रमण से उपदर्शित॥

अन्वयार्थ—तओ—तदनन्तर, ओरालिय-तेय-कम्माइ—औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को, सव्वाहिं सव्वविप्पजहणाहिं—त्याग से (सदा के लिए सर्वथा) विप्पजहित्ता—छोड़कर, उज्जुसेढिपत्ते—ऋजुश्रेणी को प्राप्त हुआ (और) एगसमएण—एक समय मे, अफुसमाणगई—अस्पृशद्गतिरूप, उड्ढ—ऊंची, अविग्गहेण—अविग्रह (बिना मोड वाली) गति से, तत्थ—वहाँ (लोकाग्र मे), गंता—जाकर, सागारोवउत्ते—साकारोपयुक्त—अर्थात्—अपने शरीर की अवगाहना के २/३, दो तिहाई परिमाण आकाश प्रदेशो मे ज्ञानोपयोग से, सिज्झई—सिद्ध होता है, बुज्झइ—बुद्ध होता है, मुच्चई—मुक्त होता है, परिनिव्वाएइ—निर्वाण को प्राप्त होता है, सव्वदुक्खाणमंत—सभी प्रकार के दु खो का अन्त, करेइ—कर देता है।

एस—यह, खलु—निश्चयरूपेण, सम्मत्तपरक्कमस्स—सम्यक्त्व पराक्रम नामक, अज्झयणस्स—अध्ययन का, अट्ठे—अर्थ, समणेण—श्रमण, भगवया—भगवान, महावीरेण—महावीर ने, आघविए—आख्यायित प्रतिपादित किया है, पन्नविए—प्रज्ञापित किया है, परूविए—प्ररूपित किया है, दंसिए—दिखलाया है, निदंसिए—दृष्टान्तो के साथ वर्णित किया है, उवदंसिए—उपदेश दिया है।

इति सम्मत्तपरक्कम्मे—यह सम्यक्त्व पराक्रम नामक
२९वाँ अध्ययन समाप्त हुआ

□□

तपोमार्ग : तीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन—सार]

यह 'तपोमार्ग' नामक तीसवाँ अध्ययन है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की तरह सम्यक्‌तप को भी मोक्ष-प्राप्ति के विशिष्ट साधन के रूप मे २८वे अध्ययन मे बताया गया है। इस अध्ययन मे राग-द्वेष से उपार्जित पापकर्मो को क्षय करने मे अमोघ साधन—तप की सम्यक् पद्धति का निरूपण किया गया है।

आत्मा के अनादिकालीन सस्कारो के कारण ससारी प्राणियो का शरीर के साथ तादात्म्य भाव (अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध) हो गया है। उसी के कारण अज्ञानवश नाना पापकर्मो का बन्ध होता है, जिससे सारा ससार आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दु खो से प्रपीडित एव इन त्रिविध तापो से सन्तप्त है, समस्त अज्ञ जीव आधि-व्याधि-उपाधि से पीडित है। इस पीडा को दूर करने की अमोघ औषध के रूप मे तीर्थंकर महावीर प्रभु ने तप को बताया है। वस्तुत तप शरीर के साथ आत्मा के तादात्म्य सम्बन्ध को जोडने वाले कर्मो की निर्जरा करके इस तादात्म्य को तोडकर शरीर और आत्मा का पृथक्करण करता है, आत्मा की विशुद्धि करता है।

सिर्फ शरीर को कष्ट देना—पीडित करना सम्यक्‌तप नही है। सम्यक्‌तप का मार्ग वस्तुत समझ बूझकर स्वेच्छा से उत्साहपूर्वक शरीर, इन्द्रियो और मन को अनुशासित, सयमित एव अप्रमत्त करके स्वरूपावस्थित करने का मार्ग है। अत तप की सम्यक्‌रूप से आराधना करने का मार्ग न जाना जाये, उसके साथ नामना-कामना, प्रसिद्धि, भोगवाछा, स्वार्थलिप्सा, माया, निदान, मिथ्यादर्शन एव लौकिक-पारलौकिक फलाकाक्षा आदि दूषणो को जोड दिया जाये, तो वह तप सम्यक् के बदले मिथ्या तप हो जाता है, जो कर्म मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति का साधन नही

होता । अतएव प्रस्तुत अध्ययन मे तप के साथ इसके सम्यक् मार्ग का भी निर्देश किया गया है ।

तप के यहाँ दो मार्ग बताये गये है— एक बाह्य, दूसरा आभ्यन्तर । पहले से स्वय की अनुभूति मे शरीर के अध्यास या कर्तापन का लोप हो जाता है, और दूसरे से साधक शरीर को झकझोर कर उसके भीतर जो है, उसको जानने, उस पर से आवरण हटाने और उसे ढूढने का प्रयास करता है । इसी दृष्टि से बाह्य तप के अनशनादि ६ भेदो का क्रमश वर्णन किया गया है, ताकि साधक की शरीरासक्ति, स्वादलोलुपता, सुकुमारता, कष्ट सहन मे अक्षमता, खानपान-लालसा आदि छूट सके ।

इसी प्रकार आभ्यन्तर तप के भी प्रायश्चित्तादि ६ भेद बताये हैं । प्रायश्चित्त से साधु जीवन मे लगे दोषो की शुद्धि और दोष न लगाने की जागृति अथवा प्रवृत्ति पैदा होती है । विनय से मदत्याग, अहत्याग, नम्रता आदि गुण बढते है, वैयावृत्य से सेवा भावना, सहिष्णुता बढती है, ध्यान से मानसिक शान्ति एव चित्त की एकाग्रता बढती है, व्युत्सर्ग से शरीर उपकरण आदि पर मे ममता का त्याग होता है । आभ्यन्तर तप का विशुद्ध भाव जगाने मे बाह्य तप का प्रेरक बनना अनिवार्य है ।

अध्ययन के उपसहार मे इन दोनो तपोमार्गों का समझ-बूझपूर्वक सम्यक् आचरण करने वाले को ससार के जन्म-मरणकारक बन्धनो से शीघ्र मुक्ति-प्राप्तिरूप फल बताया गया है । □

तपोमार्ग : तीसवां अध्ययन

(तवमग्गं तीसइम अज्झयण)

तप द्वारा कर्मक्षय क्यों और कैसे ?

मूल—जहा उ पावगं कम्मं, राग-दोस-समज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥१॥
पाणिवह-मुसावाया, अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राई-भोयण-विरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥२॥
पंच-समिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निसल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥३॥
एएसिं तु विवच्चासे, राग-दोस-समज्जियं ।
जहा खवयइ भिक्खू, तं मे एगमणो सुण ॥४॥
जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे ॥५॥
एवं तु संजयस्सावि, पाव-कम्म-निरासवे ।
भव-कोडि-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥६॥

पद्यानु०—जैसे राग-द्वेष से संचित, पापकर्म को मुनि तप से ।
करता क्षीण, एकमन होकर, श्रवण करो तुम वह मुझसे ॥१॥
हिंसा झूठ तथा चोरी, धन-संग्रह मैथुन वर्जन से ।
होता आस्रव-रहित जीव, रजनी के भोजन-विरमण से ॥२॥
समित पंच समिति त्रिगुप्ति से, गुप्त जितेन्द्रिय गर्व-रहित ।
हो जाता है जीव अनास्रव, कर अपने को शल्य-रहित । ३॥
इनसे उलट कर्म करके, जो राग-द्वेष से बद्ध किया ।
करता क्षीण भिक्षु जैसे, सुन, मैंने प्रभु से धार लिया ॥४॥

जैसे बडे जलाशय का कर, द्वार बन्द जल-आने का।
उत्सेचन या सूर्य-ताप से, क्रमश होता शोषण जल का ॥५॥
ऐसे ही सयत पुरुषो के, पापास्रव के रुक जाने से।
कर्मबन्ध भवकोटि वि-सचित, होते प्रणष्ट तप-साधन से ॥६॥

अन्वयार्थ—राग-दोस-समज्जियं—राग और द्वेष से उपार्जित किये हुए, पावग कम्म—पाप कर्म का, भिक्खू—भिक्षु, जहा उ—जिस प्रकार, तवसा—तप से, खवेइ—क्षय करता है, त—उसे, एगग्गमणो—एकाग्रचित्त होकर, सुण—(तुम) सुनो ॥१॥

पाणिवह—प्राणिवध=हिंसा, मुसावाया—मृषावाद=असत्य, अदत्त—अदत्तादान=चोरी, मेहुण—मैथुन=अब्रह्मचर्य (और) परिग्गहा—परिग्रह से, विरओ—विरत (तथा) राईभोयण-विरओ—रात्रिभोजन से विरत, जीवो—जीव, अणासवो—आस्रव= र्मों के आगमन से रहित, भवइ—होता है ॥२॥

पच समिओ=ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और परिष्ठापना इन पाच समितियो से समित=युक्त, तिगुत्तो—मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—इन तीन गुप्तियो से युक्त, अकसाओ—कषाय-रहित, जिइदिओ—जितेन्द्रिय, अगारवो—त्रिविध गौरव (गर्व) से रहित, य—और, निसल्लो—त्रिविध शल्य से रहित, जीवो—जीव, अणासवो— आस्रव-रहित, होइ=होता है ॥३॥

एएसिं—इन (पूर्वोक्त अनास्रव-साधना आदि) गुणो से, विवच्चासे—विपर्यास से—विपरीत (आचरण) करने पर, राग-दोस-समज्जियं—राग और द्वेष से उपार्जित किये हुए कर्म का, भिक्खू—भिक्षु, जहा उ—जिस प्रकार, खवेइ—क्षय करता है, त— उसे, (तुम) एगमणो—एकाग्रमना होकर, मे—मुझ से, सुण—सुनो ॥४॥

जहा—जिस प्रकार, महातलायस्स—किसी बडे तालाब के, जलागम—नये जल के आने के मार्ग को, सन्निरुद्धे—रोक देने पर (तथा पहले जल को) उस्सिचणाए—उलीचने से (और), तवणाए—(सूर्य के ताप से) तपने से, कमेण—क्रमश, सोसणा भवे—(वह जल बिलकुल) सूख जाता है, एव—इसी प्रकार, सजयस्सावि—सयमी साधु के भी, भवकोडि-सचिय कम्म—करोडो भवो के सचित कर्म, तु—पुन, पावकम्म-निरासवे—पापकर्मों के आस्रव (आगमन) को रोक देने पर, तवसा—तप से, निज्जरिज्जइ—निर्जीर्ण— क्षीण हो जाते हैं ॥५-६॥

विशेषार्थ—प्रथम गाथा मे तपश्चर्या का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि जितने भी पापकर्म हैं, उन सबके बन्ध के मुख्य कारण रागद्वेष हैं। अत राग-द्वेष से सचित किये हुए पाप कर्मों का क्षय भिक्षु तप के द्वारा

किस प्रकार कर देता है, यह तुम (जम्बूस्वामी) मुझ से (सुधर्मास्वामी से) ध्यान देकर सुनो।

तप की निर्युक्ति . दो प्रकार से—(१) जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता—जलाता है, वह तप है, (२) कर्मक्षय करने हेतु जो स्वयं तपता है, वह तप है।[1]

प्रस्तुत दूसरी-तीसरी गाथा का निष्कर्ष यही है कि हिंसादि पापकर्मों से विरत, पाँच समिति और तीन गुप्तियो से युक्त, चार कषायो, तीन शल्य (माया, निदान और मिथ्यादर्शन), एव तीन प्रकार के गौरव (मिथ्याभिमान) से रहित होकर साधक जब बिलकुल अनास्रव—नूतन कर्मो के आगमन का निरोध करता है, तभी वह पहले बँधे हुए पापकर्मो को तप से क्षीण कर सकता है। यही तपोमार्ग है ॥२-३॥

निष्कर्ष यह है कि तप से पूर्वकृत पापकर्मों का क्षय करने से पहले पूर्वोक्त साधना से आस्रव रहित होना आवश्यक है।

चौथी, पाचवी और छठी गाथा मे एक रूपक द्वारा कर्मों का क्षय करने की विधि बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

जिस प्रकार एक महासरोवर का पानी सुखाने के लिए जिस प्रकार एक ओर से नये आने वाले जल के आगमन के मार्गों (नालो) को रोक दिया जाता है, दूसरी ओर पहले से सचित जल को यत्रादि से उलीचकर बाहर फेंका जाता है और शेष जल को सूर्य के प्रचण्ड ताप से सुखाया जाता उसी प्रकार सयमी साधक अपने जीवन-रूपी महासरोवर मे राग-द्वेष के कारण नये आने वाले पापकर्मरूपी जल के आगमन को सर्वप्रथम पूर्वोक्त उपायो से रोककर निरास्रव हो जाता है तथा इसके साथ ही दूसरी ओर से करोडो जन्मो के पूर्व-सचित कर्मों को व्रत, प्रत्याख्यान, ध्यान आदि से उलीचकर निकाल देता है, और शेष बचे हुए कर्मों को परीषह-सहन तथा बारह प्रकार के तप से आत्मा को तपाकर सुखा देता है ॥ ४-५-६॥

तात्पर्य यह है कि, साधक सयम से नवीन कर्मों के आगमन का निरोध, और तप से पूर्व-सचित कर्मों का क्षय कर सकता है।

---

१ (क) तापयति अष्ट प्रकार कर्म दहतीति तप । आवश्यक मलय-१ अ
(ख) कर्मक्षयार्थंतप्यते इति तप । —राजवार्तिक ९।६।१७

तप के भेद-प्रभेद

मूल—सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भितरो तवो ॥७॥

पद्यानु०—तप द्विविध ईश ने बतलाया, आभ्यन्तर बाह्य प्रभेदो से।
षड्विध का बाह्य कहा तप है, आभ्यन्तर भी समझो वैसे ॥७॥

अन्वयार्थ—सो—वह तवो—तप, दुविहो—दो प्रकार का, वुत्तो—कहा गया है। बाहिरब्भतरो तहा—बाह्य तथा आभ्यन्तर तप। बाहिरो—बाह्य तप। छव्विहो—छह प्रकार का, वुत्तो—बताया गया है, एवं—इसी प्रकार, अब्भितरो तवो—आभ्यन्तर तप (भी छह प्रकार का है।) ॥७॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर प्रभु ने बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार कहा है। फिर बाह्य तप भी उन्होने छह प्रकार का कहा है, इसी प्रकार, आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का बताया है। ॥७॥

बाह्य और आभ्यन्तर तप मे अन्तर—बाह्य तप वह है, जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा रखता हो, सर्वसाधारण जनता मे जो तप के नाम से प्रसिद्ध हो, तथा अन्यतीर्थिक भी अपने अभिप्रायानुसार जिसका अनुष्ठान करते हो, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, अथवा जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है। बाह्य तप मोक्ष का बहिरग कारण है, जबकि आभ्यन्तर तप मोक्ष का अन्तरग कारण है। आभ्यन्तर तप वह है, जिसमे बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रहे। जिसमे मन का नियमन होता है, जो स्वसवेद्य है, जो दूसरो को प्रत्यक्ष न दिखता हो, वह भावप्रधान आभ्यन्तर तप है।[1]

बाह्य तप आभ्यन्तर तप की वृद्धि मे कारण है, क्योंकि बाह्यतप से शरीर और इन्द्रियाँ कृश हो जाती हैं। शरीर की कृशता इन्द्रियदमन मे

---

१ (क) बाह्य—बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यवाप्ति बहिरगत्वाच्च। आभ्यन्तर तद्-विपरीतम्। यदि वा लोक-प्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद् बाह्यम्, तदितरत्वादाभ्यन्तरम्।

—उत्तरा० बृहद्वृत्ति, पत्र ६००

(ख) मनोनियमनार्थत्वादाभ्यन्तरत्वम्। —सर्वार्थसिद्धि अ ९/१९-२०

(ग) बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वत परै।
अनध्यक्षात् तप प्रायश्चित्ताद्याभ्यन्तर भवेत्॥

—अनगार धर्मामृत ३३ श्लोक

सहायक होती है। इन दोनो के कृश हो जाने से मन अपना पराक्रम नही दिखा सकता। अत बाह्य तप से अन्त करण के परिणामो की शुद्धि होती है। बाह्य तप के निमित्त से समग्र अशुभ कर्म अग्नि से ईंधन के समान भस्म हो जाते हैं। इसलिए आभ्यन्तर परिणामशुद्धि की पहिचान बाह्य तप से हो जाती है। यद्यपि बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है, तथापि प्रधानता आभ्यन्तर तप की है, क्योकि वही शुभ और शुद्ध-परिणामात्मक होता है। अत आभ्यन्तर तप के बिना अकेला बाह्य तप कर्म-निर्जरा करने मे समर्थ नही होता।

बाह्यतप का मुख्य प्रयोजन जीव को अप्रमत्त रखना है, क्योकि अप्रमत्त जीव पापकर्मो से निवृत्त होकर पूर्वकृत कर्मो को क्षय करने का मनोबल बढा सकता है। प्रमादयुक्त जीव की प्रवृत्ति पापकर्मों की ओर झुकेगी, रागद्वेष, विषय-कषायो मे उसका मन भटकेगा। इसलिए अन्तरग तप को विशुद्ध बनाने के लिए बाह्य-तप अपेक्षित है, सहायक भी है।

बाह्यतप के छह भेद—

मूल—अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रस-परिच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥८॥

पद्यानु—अनशन एवं ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या रस-परिवर्जन।
कायक्लेश सलीनभाव, षड्भेद बाह्यतप के साधन ॥८॥

अन्वयार्थ—अणसण—अनशन, ऊणोयरिया—ऊनोदरी, भिक्खायरिया—भिक्षाचर्या, य—और, रस-परिच्चाओ—रस-परित्याग, कायकिलेसो—कायक्लेश, य—तथा, सलीणया—सलीनता (इस तरह छह प्रकार का) बज्झो तवो—बाह्य तप, होइ—होता है ॥८॥

विशेष—तत्त्वार्थ सूत्र मे गृहस्थ और साधु दोनो को लक्ष्य मे रखकर 'भिक्षाचर्या' के बदले 'वृत्ति—परिसख्यान और (प्रति) सलीनता के बदले 'विविक्तशय्यासन' का उल्लेख किया गया है।[1] बाह्यतप के ६ प्रकारो का

---

१ अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्य तप।—तत्त्वार्थसूत्र ९।२०।
वृत्तिसक्षेप—भोज्य वस्तुओ की सख्या—मर्यादा करना। विविक्त-शय्यासन—स्त्री-पशु-नपु सक तथा मनुष्यो के आवागमन से रहित शय्या (उपाश्रय) एवं आसन।
—सपादक

तप के भेद-प्रभेद

मूल—सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भितरो तवो ॥७॥

पद्यानु०—तप द्विविध ईश ने बतलाया, आभ्यन्तर बाह्य प्रभेदो से।
षडविध का बाह्य कहा तप है, आभ्यन्तर भी समझो वैसे ॥७॥

अन्वयार्थ—सो—वह तवो—तप, दुविहो—दो प्रकार का, वुत्तो—कहा गया है। बाहिरब्भतरो तहा—बाह्य तथा आभ्यन्तर तप। बाहिरो—बाह्य तप। छव्विहो—छह प्रकार का, वुत्तो—बताया गया है, एव—इसी प्रकार, अब्भितरो तवो—आभ्यन्तर तप (भी छह प्रकार का है।) ॥७॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर प्रभु ने बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार कहा है। फिर बाह्य तप भी उन्होने छह प्रकार का कहा है, इसी प्रकार, आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का बताया है। ॥७॥

बाह्य और आभ्यन्तर तप मे अन्तर—बाह्य तप वह है, जो बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा रखता हो, सर्वसाधारण जनता मे जो तप के नाम से प्रसिद्ध हो, तथा अन्यतीर्थिक भी अपने अभिप्रायानुसार जिसका अनुष्ठान करते हो, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, अथवा जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पडता है। बाह्य तप मोक्ष का बहिरग कारण है, जबकि आभ्यन्तर तप मोक्ष का अन्तरग कारण है। आभ्यन्तर तप वह है, जिसमे बाह्य द्रव्यो की अपेक्षा न रहे। जिसमे मन का नियमन होता है, जो स्वसवेद्य है, जो दूसरो को प्रत्यक्ष न दिखता हो, वह भावप्रधान आभ्यन्तर तप है।[1]

बाह्य तप आभ्यन्तर तप की वृद्धि मे कारण है, क्योकि बाह्यतप से शरीर और इन्द्रियाँ कृश हो जाती है। शरीर की कृशता इन्द्रियदमन मे

---

१ (क) बाह्य—बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यवाप्ति बहिरगत्वाच्च। आभ्यन्तर तद्-विपरीतम्। यदि वा लोक-प्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद् बाह्यम्, तदितरत्वादाभ्यन्तरम्।

—उत्तरा० बृहद्वृत्ति, पत्र ६००

(ख) मनोनियमनार्थत्वादाभ्यन्तरत्वम्। —सर्वार्थसिद्धि अ ९/१९-२०

(ग) बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसवेद्यत्वत परै।
अनध्यक्षात् तप प्रायश्चित्ताद्याभ्यन्तर भवेत्॥

—अनगार धर्मामृत ३३ श्लोक

सहायक होती है। इन दोनो के कृश हो जाने से मन अपना पराक्रम नही दिखा सकता। अत बाह्य तप से अन्त करण के परिणामो की शुद्धि होती है। बाह्य तप के निमित्त से समग्र अशुभ कर्म अग्नि से ईंधन के समान भस्म हो जाते हैं। इसलिए आभ्यन्तर परिणामशुद्धि की पहिचान बाह्य तप से हो जाती है। यद्यपि बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है, तथापि प्रधानता आभ्यन्तर तप की है, क्योकि वही शुभ और शुद्ध-परिणामात्मक होता है। अत आभ्यन्तर तप के बिना अकेला बाह्य तप कर्म-निर्जरा करने मे समर्थ नही होता।

बाह्यतप का मुख्य प्रयोजन जीव को अप्रमत्त रखना है, क्योकि अप्रमत्त जीव पापकर्मो से निवृत्त होकर पूर्वकृत कर्मो को क्षय करने का मनोबल बढा सकता है। प्रमादयुक्त जीव की प्रवृत्ति पापकर्मो की ओर झुकेगी, रागद्वेष, विषय-कषायो मे उसका मन भटकेगा। इसलिए अन्तरग तप को विशुद्ध बनाने के लिए बाह्य-तप अपेक्षित है, सहायक भी है।

बाह्यतप के छह भेद—

मूल—अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रस-परिच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥८॥

पद्यानु—अनशन एव ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या रस-परिवर्जन।
कायक्लेश सलीनभाव, षड्भेद बाह्यतप के साधन ॥८॥

अन्वयार्थ—अणसण—अनशन, ऊणोयरिया—ऊनोदरी, भिक्खायरिया—भिक्षाचर्या, य—और, रस-परिच्चाओ—रस-परित्याग, कायकिलेसो—कायक्लेश, य—तथा, सलीणया—सलीनता (इस तरह छह प्रकार का) बज्झो तवो—बाह्य तप, होइ—होता है ॥८॥

विशेष—तत्त्वार्थ सूत्र मे गृहस्थ और साधु दोनो को लक्ष्य मे रखकर 'भिक्षाचर्या' के बदले 'वृत्ति—परिसख्यान और (प्रति) सलीनता के बदले 'विविक्तशय्यासन' का उल्लेख किया गया है।[1] बाह्यतप के ६ प्रकारो का

१ अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्य तप।—तत्त्वार्थसूत्र ९।२०।
वृत्तिसक्षेप—भोज्य वस्तुओ की सख्या—मर्यादा करना। विविक्त-शय्यासन—स्त्री-पशु-नपुसक तथा मनुष्यो के आवागमन से रहित शय्या (उपाश्रय) एवं आसन।

—सपादक

उल्लेख इस गाथा मे किया गया है। इनका वर्णन आगे की गाथाओ मे यथास्थान किया जायेगा।

(१) अनशनतप भेद-प्रभेद

मूल—इत्तरियामरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिया सावकखा, निरवकखा उ बिइज्जिया ॥९॥

जो सो इत्तरिय तवो, सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥१०॥
तत्तो य वग्गवग्गो, पचमो छट्ठओ पइण्णतवो।
मण-इच्छिय-चित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥११॥

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियार, कायचिट्ठ पई भवे ॥१२॥
अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया।
नीहारिमनीहारी, आहारच्छेओ दोसु वि ॥१३॥

पद्यानु०—सावधिक और निरवधि ऐसे, अनशन युगविध बतलाया।
सावधिक साकाक्ष कहा और, विगतेच्छ दूसरा समझाया ॥९॥

सक्षिप्त रूप से छह प्रकार, इत्वरिक तपस्या के होते।
श्रेणि प्रतर और घन तीजा, तूर्य वर्गतप कह गाते ॥१०॥

वर्ग-वर्ग पचम तप है, छठा प्रकीर्ण है शासन मे।
यह इत्वर तप के भेद कहे, मनवाछित फल देता क्षण मे ॥११॥
मरण-समय का अनशन भी, है द्विविध शास्त्र मे बतलाया।
सविचार कायचेष्टा वाला, अविचार उलट दूजा गाया ॥१२॥
सपरिकर्म वा अपरिकर्म, दो भेद यहाँ इनके होते।
निर्हारी और अनिर्हारी, दोनो मे अशनत्याग होते ॥१३॥

अन्वयार्थ—अणसणा—अनशन, दुविहा—दो प्रकार के, भवे—होते हैं। (यथा) इत्तरिया—इत्वरिक (अल्पकाल की अवधि वाला), य—और, आमरण-काला—आमरण-कालभावी (मृत्यु-पर्यन्त तक का)। इत्तरिया—इत्वरिक अनशन, सावकखा—सावकाक्ष—(आकांक्षासहित—अर्थात्—निर्धारित उपवासादि अनशन के पश्चात् पुन आहार की आकाक्षा वाला) (होता है।) उ—किन्तु, बिइज्जिया—दूसरा, निरवकखा—निरवकाक्ष=भोजन की अकाक्षा-रहित, (होता है।) ॥९॥

(और) जो—जो, सो—पूर्वोक्त, इत्तरिय तवो—इत्वरिक (अनशन) तप है, सो—वह, समासेण—सक्षेप मे, छव्विहो—छह प्रकार का (है।) (यथा—)

सेढितवो—श्रेणितप, पयरतवो—प्रतरतप, य—और, घणो—घनतप, तह—तथा, वग्गो य—वर्गतप, होइ—है ॥१०॥

तत्तो—तत्पश्चात्, पञ्चमो—पाचवाँ, वग्गवग्गो—वर्ग-वर्ग तप, य—और, उ—पुन, छट्ठओ—छठा, पइण्णतवो—प्रकीर्णतप। (इस प्रकार) मणइच्छियचित्तत्थो—मनोवाछित विचित्र (स्वर्ग-अपवर्ग आदि नाना) प्रकार के फल देने वाला, इत्तरिओ—इत्वरिक (अनशन तप), होइ—होता है, (यह) नायव्वो—जानना चाहिए ॥११॥

जा—जो, सा—पूर्वोक्त, मरणे—मृत्यु-समय मे, अणसणा—अनशन (होता है), सा—वह, कायचिट्ठं पई—कायचेष्टा को लेकर, दुविहा—दो प्रकार का, वियाहिया—कहा है। (यथा—) सवियार—सविचार=कायचेष्टासहित (और) अवियारा—अविचार=कायचेष्टारहित ॥१२॥

अहवा—अथवा (आमरणकालभावी अनशन) सपरिकम्मा—सपरिकर्म, य—और, अपरिकम्मा—अपरिकर्म (नाम से दो प्रकार का) आहिया—कहा है। (इनमे अपरिकर्म अनशन दो प्रकार का है—) नीहारी—निर्हारी, (और) अनीहारी—अनिर्हारी (अनशन)। (किन्तु) दोसु वि—इन दोनो मे ही, आहारच्छेओ—आहार का त्याग, (अनिवार्य है।) ॥१३॥

विशेषार्थ—अनशन का अर्थ है—चतुर्विध आहार मे से त्रिविध या चतुर्विध रूप से आहार का त्याग करना। वह प्रधानतया दो प्रकार का है—इत्वरिक और आमरणकालभावी (यावत्कथिक)। थोडे समय का—यानी दो घडी से लेकर छह मास तक का तप इत्वरिक कहलाता है। इत्वरिक अनशन तप देश, काल, परिस्थिति, परिणामधारा, शक्ति आदि को देखकर अमुक समय की सीमा बाधकर किया जाता है। औपपातिकसूत्र मे इत्वरिक अनशन के चतुर्थभक्त (उपवास) से लेकर छह महीने तक के १४ भेद बताये हैं। इत्वरिक अनशन तप को सावकाक्ष या सावधिक कहा है, क्योकि उसमे अमुक मर्यादा या नियत काल के पश्चात् भोजन करने की आकाक्षा बनी रहती है, इसलिए वह सावकाक्ष या सावधिक होता है। मृत्यु-पर्यन्त [जब से यावज्जीव अनशन का प्रत्याख्यान किया है, तब से लेकर जीवन के अन्तिम श्वास तक] जो अनशन किया जाता है, वह निरवकाक्ष है, इसे निरवधिक भी कहा है, क्योकि इस अनशन मे भोजन की आकाक्षा नही होती, न ही कोई अवधि बाधी जाती है ॥९॥

इत्वरिक अनशन तप के श्रेणितप आदि ६ भेद बताए गये हैं—

१ श्रेणितप—उपवास से लेकर छह महीने तक का क्रमपूर्वक किया जाता है, उसे श्रेणितप कहते हैं। इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं यथा—दो पदो [उपवास और बेले] का श्रेणितप, चार पदो (उपवास, बेला, तेला, चौला) का श्रेणितप इत्यादि।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

२ प्रतरतप—श्रेणि से गुणाकार किये हुए श्रेणितप को प्रतरतप कहा जाता है। यथा—पहली श्रेणी मे एक उपवास और दो, तीन, चार उपवासो की सख्या के चार पदरूप श्रेणि लें, उसे चार से गुणा करने पर सोलह पद रूप प्रतर होता है, जो लम्बाई और चौडाई मे एक समान होता है। प्रस्तुत यन्त्र से प्रतरतप जान लेना चाहिए।

३ घनतप—जितने पदो की श्रेणी हो, प्रतरतप को उतने पदो से गुणित करने पर घनतप बनता है। उदाहरणार्थ—ऊपर चार पदो की श्रेणि है। इस चार पदरूप श्रेणि को सोलह पद रूप श्रेणि से गुणा करने पर ६४ पद से घनतप हुआ। सीधा गुर यह है कि प्रतरतप को चार बार करने से घनतप होता है।

४ वर्गतप—घनतप को घन से गुणा करने पर वर्गतप होता है। सरल शब्दो मे कहें तो घनतप को ६४ बार करने से वर्गतप होता है। अत वर्गतप के ६४×६४=४०९६ कोष्ठक बनते हैं।

५ वर्ग-वर्गतप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्ग-वर्ग तप होता है। ४०९६ को इतने ही अको से गुणित करने पर १,६७,७७,२१६ कोष्ठक होते हैं। इसी को वर्ग-वर्ग तप कहते हैं।

ये पाचो तप श्रेणितप की भावना से सम्बन्धित हैं।

६ प्रकीर्णतप—यह पद श्रेणी आदि निश्चित पद की रचना के बिना अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार किया जाता है। इस तप मे नवकारसी से लेकर पूर्वपुरुष-आचरित यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक प्रकार के प्रकीर्णक (फुटकर) तपो का, तथा एक से लेकर पन्द्रह उपवास तक चढकर पुन एक कम करते हुए एक उपवास पर उतर आना इत्यादि तपो का भी समावेश है।

इत्वरिक तप का फल—यद्यपि कोई भी तप इहलोक-परलोक की कामना, कामभोग की लालसा, जीवन-मरण की इच्छा, या किसी प्रकार के निदान, प्रशंसा, स्वार्थ, लोभ, पद आदि की दृष्टि से नही करना चाहिए, ये सब तप के अतिचार (दोष) हैं। तथापि यहाँ ११ वी गाथा मे इत्वरिक तप के फल के लिए 'मण-इच्छिय-चित्तत्थो' शब्द प्रयुक्त किया है, उसकी दो व्याख्याएं मिलती हैं—१ बृहद्वृत्ति के अनुसार—मनोवांछित विचित्र प्रकार का फल देने वाला, २ विचित्र स्वर्ग, अपवर्ग आदि के या तेजोलेश्यादि के प्रयोजन वाला मन को अभीष्ट तप।[1]

आमरणकालभावी अनशन : स्वरूप एवं भेद-प्रभेद—मरण के समय जो आमरणान्त (मृत्युपर्यन्त) चारो या तीनो आहार का त्याग किया जाता है, उसे आमरण-कालभावी, आमरण, यावत्कथिक, यावज्जीव, या यावत्-कालिक अनशन कहते हैं। वर्तमान प्रचलित भाषा मे इसे 'संथारा' कहते हैं। यह सविचार और अविचार के भेद से दो प्रकार का है।

सविचार-अविचार की तीन व्याख्याएं—१ जिसमे करवट बदलने, लेटने, बैठने आदि की कायचेष्टाएं होती हैं। उसे सविचार, और काय चेष्टाओ से रहित अनशन को अविचार कहते हैं। २ जिसकी मृत्यु अनागाढ (तात्कालिक होने वाली नहीं) है, ऐसे पराक्रमयुक्त साधक का भक्त-प्रत्याख्यान अविचार और मृत्यु की अकस्मात् (अगाढ) सम्भावना होने पर जो किया जाता है, वह अविचार कहलाता है। ३ विचरण कहते हैं—नाना प्रकार के गमन को, जो विचारसहित है, वह सविचार है, और जो अनियत विहारादि विचार से रहित है, वह अविचार है। भक्तप्रत्याख्यान और इंगिनी-मरण ये दोनो सविचार हैं, क्योंकि भक्तप्रत्याख्यान मे अनशनकर्ता स्वयं करवट आदि बदल सकता है, दूसरो से इस प्रकार की सेवा ले सकता है। यह अनशन दूसरे साधुओ के साथ रहते हुए तथा त्रिविध या चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक किया जा सकता है। इंगिनीमरण मे अनशनकर्ता एकान्त मे एकाकी रहता है वह स्वयं करवट बदलने आदि की कायचेष्टाएं कर सकता है, किन्तु दूसरो से ऐसी सेवा नहीं ले सकता। जिसमे करवट आदि कायचेष्टाएं न हों, वह अविचार अनशन कहलाता है। यह पादपो-

---

१ (क) नो इहलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा० इत्यादि।

—दशवैकालिक अ ९ उ, ४

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ (ग) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) पत्र २६४

१ श्रेणितप—उपवास से लेकर छह महीने तक का क्रमपूर्वक किया जाता है, उसे श्रेणितप कहते हैं। इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं यथा—दो पदो [उपवास और बेले] का श्रेणितप, चार पदो (उपवास, बेला, तेला, चौला) का श्रेणितप इत्यादि।

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

२ प्रतरतप—श्रेणि से गुणाकार किये हुए श्रेणितप को प्रतरतप कहा जाता है। यथा—पहली श्रेणी मे एक उपवास और दो, तीन, चार उपवासो की सख्या के चार पदरूप श्रेणि लें, उसे चार से गुणा करने पर सोलह पद रूप प्रतर होता है, जो लम्बाई और चौडाई मे एक समान होता है। प्रस्तुत यन्त्र से प्रतरतप जान लेना चाहिए।

३ घनतप—जितने पदो की श्रेणी हो, प्रतरतप को उतने पदो से गुणित करने पर घनतप बनता है। उदाहरणार्थ—ऊपर चार पदो की श्रेणि है। इस चार पदरूप श्रेणि को सोलह पद रूप श्रेणि से गुणा करने पर ६४ पद से घनतप हुआ। सीधा गुर यह है कि प्रतरतप को चार बार करने से घनतप होता है।

४ वर्गतप—घनतप को घन से गुणा करने पर वर्गतप होता है। सरल शब्दो मे कहे तो घनतप को ६४ बार करने से वर्गतप होता है। अत वर्गतप के ६४×६४=४०९६ कोष्ठक बनते हैं।

५ वर्ग-वर्गतप—वर्ग को वर्ग से गुणा करने पर वर्ग-वर्ग तप होता है। ४०९६ को इतने ही अको से गुणित करने पर १,६७,७७,२१६ कोष्ठक होते हैं। इसी को वर्ग-वर्ग तप कहते हैं।

ये पाचो तप श्रेणितप की भावना से सम्बन्धित हैं।

६ प्रकीर्णतप—यह पद श्रेणी आदि निश्चित पद की रचना के बिना अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार किया जाता है। इस तप मे नवकारसी से लेकर पूर्वपुरुष-आचरित यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमा आदि अनेक प्रकार के प्रकीर्णक (फुटकर) तपो का, तथा एक से लेकर पन्द्रह उपवास तक चढकर पुन एक कम करते हुए एक उपवास पर उतर आना इत्यादि तपो का भी समावेश है।

पगमन अनशन है। वृक्ष कटकर जिस अवस्था मे गिर जाता है, उसी स्थिति मे पडा रहता है, इसी प्रकार इसमे आसन, करवट[1] आदि बदलने की कोई चेष्टा नही होती। पादपोपगमन अनशनकर्ता न तो अपने शरीर की शुश्रूषा स्वयं करता है और न ही दूसरो से करवाता है। इसके भी दो भेद और भी बताये गये हैं—सकारणक (कारण होने पर अनशन करना) और अकारणक (मरणान्तक रोग, मृत्यु का तात्कालिक कारण—भूकम्प, गिरि-पतन तथा सर्पदंश आदि कारणो से वाणी रुक जाने प्रभृति कारणो से अनशन करना)।[2]

प्रकारान्तर से मरणकालीन तप के दो प्रकार—(१) सपरिकर्म और (२) अपरिकर्म।

सपरिकर्म-अपरिकर्म तीन अर्थ—(१) जो बैठना, उठना, करवट बदलना, विश्राम लेना आदि परिकर्म के सहित होता है, वह सपरिकर्म, इससे विपरीत अपरिकर्म है। (२) अथवा परिकर्म अर्थात्—सल्लेखना (अनशनादि तप विधिवत् करते हुए शरीर, कषायो, इच्छाओ एव विकारो को क्रमश क्षीण-कृश करके अन्तिम समाधिमरणरूप अनशन की पहले से तैयारी रखना) जिस आमरण-अनशन मे होती हो, वह सपरिकर्म है, उसके विपरीत जिसमे सल्लेखना न होती हो, वह अपरिकर्म है। (३) स्वय करना या दूसरो से सेवा कराना सपरिकर्म है, इसके विपरीत अपरिकर्म है। भक्त-प्रत्याख्यान और इगिनीमरण सपरिकर्म है और पादपोपगमन अनशन

---

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३

(ख) मूलाराधना ८/२०४२,४३,६४

(ग) दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचार, सविचारमणागाढे, मरणे सपरिकम्मस्स हवे।

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो, अपरिकम्मस्स मुणिणो कालंमि असपुहुत्तम्मि॥

—मूलाराधना २/६५,७/२०११, १३, १५, २१-२२

(घ) विचरणं नानागमन विचार, विचारेण वर्तते इति सविचारम्।

—मूला. विजयोदया ८/२०६३

(ङ) अविचारं अनियतविहारादि विचारणाविरहात् —मूला दर्पण ७/२०१५

२ पादपस्येवोपगमन—अस्पन्दतयाऽवस्थान पादपोपगमनम्।

—औपपातिक वृत्ति पृ० ७१

पगमन अनशन है। वृक्ष कटकर जिस अवस्था मे गिर जाता है, उसी स्थिति मे पड़ा रहता है, इसी प्रकार इसमे आसन, करवट[1] आदि बदलने की कोई चेष्टा नही होती। पादपोपगमन अनशनकर्ता न तो अपने शरीर की शुश्रूषा स्वयं करता है और न ही दूसरो से करवाता है। इसके भी दो भेद और भी बताये गये हैं—सकारणक (कारण होने पर अनशन करना) और अकारणक (मरणान्तक रोग, मृत्यु का तात्कालिक कारण—भूकम्प, गिरि-पतन तथा सर्पदश आदि कारणो से वाणी रुक जाने प्रभृति कारणो से अनशन करना)।[2]

प्रकारान्तर से मरणकालीन तप के दो प्रकार—(१) सपरिकर्म और (२) अपरिकर्म।

सपरिकर्म-अपरिकर्म तीन अर्थ—(१) जो बैठना, उठना, करवट बदलना, विश्राम लेना आदि परिकर्म के सहित होता है, वह सपरिकर्म, इससे विपरीत अपरिकर्म है। (२) अथवा परिकर्म अर्थात्—सल्लेखना (अनशनादि तप विधिवत् करते हुए शरीर, कषायो, इच्छाओ एव विकारो को क्रमश क्षीण-कृश करके अन्तिम समाधिमरणरूप अनशन की पहले से तैयारी रखना) जिस आमरण-अनशन मे होती हो, वह सपरिकर्म है, उसके विपरीत जिसमे सल्लेखना न होती हो, वह अपरिकर्म है। (३) स्वय करना या दूसरो से सेवा कराना सपरिकर्म है, इसके विपरीत अपरिकर्म है। भक्त-प्रत्याख्यान और इगिनीमरण सपरिकर्म है और पादपोपगमन अनशन

---

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३

(ख) मूलाराधना ८/२०४२,४३,६४

(ग) दुविहे तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचार, सविचारमणागाढे, मरणे सपरिकम्मस्स हवे।

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो, अपरिकम्मस्स मुणिणो कालम्मि असपुहुत्तम्मि ॥

—मूलाराधना २/६५,७/२०११, १३, १५, २१-२२

(घ) विचरणं नानागमन विचार, विचारेण वर्तते इति सविचारम्।

—मूला विजयोदया ८/२०६३

(ङ) अविचारं अनियतविहारादि विचारणाविरहात् —मूला दर्पण ७/२०१५

२ पादपस्येवोपगमन—अस्पन्दतयाऽवस्थान पादपोपगमनम्।

—औपपातिक वृत्ति पृ० ७१

अपरिकर्म है, उसमे साधक किसी दूसरे से या स्वय भी किसी प्रकार की कायचेष्टा या सेवा कर या करा नही सकता ।[1]

अन्य अपेक्षा से आमरण अनशन के दो भेद—(१) निहारी और (२) अनिहारी । इन्हे निर्हारिम और अनिर्हारिम भी कहते हैं । जो बस्ती से बाहर किसी पर्वत आदि की गुफा मे किया जाता है, जिससे कि अन्तिम सस्कार की अपेक्षा न रहे, वह अनिहारी या अनिर्हारिम आमरण अनशन होता है, और जो ग्राम-नगरादि मे वसति के एक देश मे किया जाता है, वह निर्हारिम या निहारी कहलाता है, इसमे अन्तिम सस्कार की आवश्यकता होती है ।[2]

निष्कर्ष—आहार-त्याग की दृष्टि से तो ये सब एक ही हैं, किन्तु कायचेष्टा आदि की विभिन्नता से इनमे परस्पर अन्तर है ।

(२) ऊनोदरी तप स्वरूप और भेद—

मूल—ओमोयरियं पचहा, समासेण वियाहियं ।
दव्वओ खेत्त-कालेण, भावेणं पज्जवेहि य ॥१४॥

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहन्नेणेग-सित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे ॥१५॥

गामे नगरे तह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कब्बड-दोणमुह-पट्टण-मडंब-संबाहे ॥१६॥

आसमपए विहारे, सन्निवेसे समाय-घोसे य ।
थलि सेणा-खन्धारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे य ॥१७॥

वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥१८॥

---

१ सह परिकर्मणा—स्थान-निषदन-त्वग्वर्तनादि विश्रामणादिना च वर्तते यत्तत् सपरिकर्म । अपरिकर्म च तद्विपरीतम् । यद्वा परिकर्म-संलेखना, सा यत्रास्तीति तत् सपरिकर्मं, तद्विपरीत तु अपरिकर्मं ।

—बृहद्वृत्ति पत्र ६०२-६०३

२ यद् वसतेरेकदेशे विधीयते ततत शरीरस्य निर्हरणात् निस्सारणान्निर्हारिमम् । यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणाद् अनिर्हारिमम् ।

—स्थानांग० वृत्ति २-४-१०२

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति पयंग-विहिया चेव।
सबुकावट्टाऽऽययगतुं, पगया छट्ठा ॥१९॥

दिवसस्स पोरुसीण,चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ॥२०॥

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाए घासमेसंतो।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण ऊ भवे ॥२१॥

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकियो वाऽनलंकियो वा वि।
अन्नयर-वयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेण ॥२२॥

अन्नेण विसेसेणं, वण्णेण भावमणुमुयते उ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाण मुणेयव्वो ॥२३॥

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहिं ओमचरओ, पज्जव-चरओ भवे भिक्खु ॥२४॥

पद्यानु०—द्रव्य क्षेत्र और काल भाव, एवं पर्यायों के कारण से।
अवमोदर पंच प्रकार कहा, सक्षेप सूत्र-निर्धारण से ॥१४॥

जितना अनुमित भोजन जिसका, उससे कम यदि वह खाता।
अवमौदर्य द्रव्य से वह होता, जिसमे जघन्य कण कम होता ॥१५॥

ग्राम नगर या राजधाम, आकर पल्ली या निगमस्थल।
खेडा कर्वट और द्रोणपथ, मडप पत्तन सम्बाध सबल ॥१६॥

सन्निवेश आश्रम-पद मे, संवर्त्त कोट या सार्थों मे।
सेना के शिविर विहार घोष, वा थली समाज के लोगो मे ॥१७॥

पाडा रथ्या वा नवघर मे, ऐसे वा इतने उस थल में।
मिले द्रव्य तो ग्रहण करे, यह नियम क्षेत्र-ऊनोदर मे ॥१८॥
पेटा तथा अर्द्धपेटा, गोमूत्रिका पतगवीथी वैसे।
शखावर्त्त दीर्घ आ-जाना, छट्ठी चर्या जानो ऐसे ॥१९॥

दिन के चारो प्रहरो मे, भिक्षाहित समय-विचार किया।
उसमे भिक्षा लेते व्रत का, कालावमान यह नाम दिया ॥२०॥

अथवा पहर तीसरे के, कुछ शेष रहे भिक्षा लेवे।
चतुर्भाग हो शेष काल, ऊनोदर तब मुनिवर सेवे ॥२१॥

यदि दाता नर या नारी हो, भूषण-सज्जित या अनलकृत।
हो अमुक अवस्था का धारी, या अमुक वस्त्र से हो सयुत ॥२२॥

पीतादि वर्ण या हर्षादि भाव से, युक्त दाता से करे ग्रहण।
अभिग्रहपूर्वक चर्या करना, भाव ऊनोदरी तप कहे श्रमण ॥२३॥
द्रव्य क्षेत्र और काल भाव मे, कहे गए जो भाव यहाँ।
उनसे ऊन विचरता वह, पर्यवचारी मुनि बने वहाँ ॥२४॥

अन्वयार्थ—दव्वओ—द्रव्य से, खेत्त-कालेण—क्षेत्र और काल से, भावेण—भाव से, य—और, पज्जवेहि—पर्यायो की अपेक्षा से, ओमोयरियं—अवमौदर्य—ऊनोदरी तप, समासेण—सक्षेप मे, पचहा—पाच प्रकार का, वियाहियं—कहा गया है ॥ १४॥

जो—जो=जितना, जस्स—जिसका, आहारो—आहार है, तत्तो—उससे, जहन्नेण—जघन्य, एगसित्थाई—एक कवल (ग्रास) आदि अन्नकण, जो तु—जो, ओमं—कम (भोजन), करे—करता है, एव—इसी प्रकार, दव्वेण—द्रव्य से, ऊ—ऊनोदरी तप, भवे—होता है ॥१५॥

गामे—गाम मे, नगरे—नगर मे, तह—तथा, रायहाणि—राजधानी (शासक के रहने के स्थान) मे, निगमे—निगम (वाणिज्य-स्थान, व्यापारी मडी), आगरे—आकर (सोने आदि की खान) मे, य—और, पल्ली—पल्ली (अटवी मे चोरो, लुटेरो या भीलो की वसति) मे, खेडे—खेडे (छोटे गाँव) मे, कव्वड—कर्वट (कस्बे या छोटे नगर) मे, दोणमुह—द्रोणमुख (जल और स्थल दोनो मार्ग से जिसमे प्रवेश किया जाय, उस स्थान—बन्दरगाह, पत्तन—पट्टण (जहाँ सभी ओर से लोग आकर रहते और व्यापार करते हो), मडंब—मण्डप (जिसके निकट ढाई कोस तक कोई ग्राम न हो), सबाहे—सम्बाध (पर्वत के मध्य बसे हुए गाम, या जहाँ चारो वर्णो के लोगो की प्रचुर बस्ती हो, ऐसे कस्बे) मे, आसमपए—आश्रमपद (आश्रम के स्थान) मे, विहारे—विहार या मठ मे, सन्निवेसे—सन्निवेश (मोहल्ले, पडाव या यात्रिविश्रामगृह) मे, समाय—समाज (सभा या परिषद्) मे, घोसे—घोष (ग्वालो की बस्ती) मे, थली—स्थली (ऊचे रेती के टीबे पर बसे हुए स्थल) मे, सेणा-खधारे—सेना के स्कन्धावार (छावनी) मे, सत्थे—सार्थ (सार्थवाह के पडाव) मे, सवट्ट—सवर्त्त (भयग्रस्त एवं विचलित शरणार्थी लोगो की बस्ती) मे, कोट्टे—कोट (किले या प्राकार) मे, वाडेसु—वाडो (बाडो से घिरी हुई ढाणी या पाडो शिल्पियो की बस्ती) मे, रत्थासु—रथ्याओ (गली कूचो) मे, व—अथवा, घरेसु—घरो मे, एवमित्तिय खेत्त—इस प्रकार के इतने क्षेत्रो मे, अथवा इस प्रकार के इतने ही (सीमित) क्षेत्र मे, एवमाई उ—और इस प्रकार के अन्य क्षेत्र (यथा-पाठशाला पचायत घर, लुहारशाला आदि) मे, (भिक्षाचरी कर लेना) कप्पइ—कल्पनीय है। एव उ—इस प्रकार, खेत्तेण—क्षेत्र से, (अवमौदर्य तप) भवे—होता है ॥१६-१८॥

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति पयंग-विहिया चेव।
सबुकावट्टाऽऽययगतु, पगया छट्ठा ॥१९॥

दिवसस्स पोरसीण,चउण्ह पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एव चरमाणो खलु, कालोमाण मुणेयव्वं ॥२०॥

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाए घासमेसतो।
चउभागूणाए वा, एव कालेण ऊ भवे ॥२१॥

इत्थी वा पुरिसो वा, अलकियो वाऽनलकियो वा वि।
अन्नयर-वयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेण ॥२२॥

अन्नेण विसेसेण, वण्णेण भावमणुमुयते उ।
एव चरमाणो खलु, भावोमाण मुणेयव्वो ॥२३॥

दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
एएहि ओमचरओ, पज्जव-चरओ भवे भिक्खू ॥२४॥

पद्यानु०—द्रव्य क्षेत्र और काल भाव, एव पर्यायो के कारण से।
अवमोदर पच प्रकार कहा, सक्षेप सूत्र-निर्धारण से ॥१४॥

जितना अनुमित भोजन जिसका, उससे कम यदि वह खाता।
अवमौदर्य द्रव्य से वह होता, जिसमे जघन्य कण कम होता ॥१५॥

ग्राम नगर या राजग्राम, आकर पल्ली या निगमस्थल।
खेडा कर्वट और द्रोणपथ, मडप पत्तन सम्बाध सबल ॥१६॥

सन्निवेश आश्रम-पद मे, सवर्त्त कोट या सार्थो मे।
सेना के शिबिर विहार घोष, वा थली समाज के लोगो मे ॥१७॥

पाडा रथ्या वा नवघर मे, ऐसे वा इतने उस थल मे।
मिले द्रव्य तो ग्रहण करे, यह नियम क्षेत्र-ऊनोदर मे ॥१८॥

पेटा तथा अर्द्धपेटा, गोमूत्रिका पतगवीथी वैसे।
शखावर्त्त दीर्घ आ-जाना, छट्ठी चर्या जानो ऐसे ॥१९॥

दिन के चारो प्रहरो मे, भिक्षाहित समय-विचार किया।
उसमे भिक्षा लेते व्रत का, कालावमान यह नाम दिया ॥२०॥

अथवा पहर तीसरे के, कुछ शेष रहे भिक्षा लेवे।
चतुर्भाग हो शेष काल, ऊनोदर तब मुनिवर सेवे ॥२१॥

यदि दाता नर या नारी हो, भूषण-सज्जित या अनलकृत।
हो अमुक अवस्था का धारी, या अमुक वस्त्र से हो सयुत ॥२२॥

पीतादि वर्ण या हर्षादि भाव से, युक्त दाता से करू ग्रहण।
अभिग्रहपूर्वक चर्या करना, भाव-ऊनोदरी तप कहे श्रमण ॥२३॥
द्रव्य क्षेत्र और काल भाव मे, कहे गए जो भाव यहाँ।
उनसे ऊन विचरता वह, पर्यवचारी मुनि बने वहाँ ॥२४॥

अन्वयार्थ—दव्वओ—द्रव्य से, खेत्त-कालेण—क्षेत्र और काल से, भावेण—भाव से, य—और, पज्जवेहि—पर्यायो की अपेक्षा से, ओमोयरियं—अवमौदर्य—ऊनोदरी तप, समासेण—सक्षेप मे, पचहा—पाच प्रकार का, वियाहियं—कहा गया है ॥ १४॥

जो—जो=जितना, जस्स—जिसका, आहारो—आहार है, तत्तो—उससे, जहन्नेण—जघन्य, एगसित्थाई—एक कवल (ग्रास) आदि अशकण, जो तु—जो, ओम—कम (भोजन), करे—करता है, एव—इसी प्रकार, दव्वेण—द्रव्य से, ऊ—ऊनोदरी तप, भवे—होता है ॥१५॥

गामे—गाम मे, नगरे—नगर मे, तह—तथा, रायहाणि—राजधानी (शासक के रहने के स्थान) मे, निगमे—निगम (वाणिज्य-स्थान, व्यापारी मडी), आगरे—आकर (सोने आदि की खान) मे, य—और, पल्ली—पल्ली (अटवी मे चोरो, लुटेरो या भीलो की वसति) मे, खेडे—खेडे (छोटे गाँव) मे, कव्वड—कर्बट (कस्बे या छोटे नगर) मे, दोणमुह—द्रोणमुख (जल और स्थल दोनो मार्गो से जिसमे प्रवेश किया जाय, उस स्थान—बन्दरगाह, पत्तन—पट्टण (जहाँ सभी ओर से लोग आकर रहते और व्यापार करते हो), मडब—मण्डप (जिसके निकट ढाई कोस तक कोई ग्राम न हो), सबाहे—सम्बाध (पर्वत के मध्य बसे हुए गाम, या जहाँ चारो वर्णो के लोगो की प्रचुर बस्ती हो, ऐसे कस्बे) मे, आसमपए—आश्रमपद (आश्रम के स्थान) मे, विहारे—विहार या मठ मे, सन्निवेसे—सन्निवेश (मोहल्ले, पडाव या यात्रिविश्रामगृह) मे, समाय—समाज (सभा या परिषद्) मे, घोसे—घोष (ग्वालो की बस्ती) मे, थली—स्थली (ऊचे रेती के टीले पर बसे हुए स्थल) मे, सेणा-खधारे—सेना के स्कन्धावार (छावनी) मे, सत्थे—सार्थ (सार्थवाह के पडाव) मे, सवट्ट—सवर्त (भयग्रस्त एवं विचलित शरणार्थी लोगो की बस्ती) मे, कोट्टे—कोट (किले या प्राकार) मे, वाडेसु—वाडो (वाडो से घिरी हुई ढाणी या पाडो गलियो की बस्ती) मे, रत्थासु—रथ्याओ (गली कूचो) मे, व—अथवा, घरेसु—घरो मे, एवमित्तिय खेत्त—इस प्रकार के इतने क्षेत्रो मे, अथवा इस प्रकार के इतने ही (सीमित) क्षेत्र मे, एवमाई उ—और इस प्रकार के अन्य क्षेत्र (यथा-पाठशाला पचायत घर, लुहारशाला आदि) मे, (भिक्षाचरी कर लेना) कप्पइ—कल्पनीय है। एव उ—इस प्रकार, खेत्तेण—क्षेत्र से, (अवमौदर्य तप) भवे—होता है ॥१६-१८॥

पेडा—पेटिका (सन्दूक) के आकार मे, अद्धपेडा—अर्ध-पेटिका के आकार मे, गोमुत्ति—गोमूत्रिकावत् टेढे-मेढे आकार मे, य—और, पयंगवीहिया—पतंगवीथिका के आकार मे, चेव—इसी प्रकार, सम्बुक्कावट्टा—शम्बूक=शंख के आवर्त्त के आकार मे, आयय-गतु पच्चागया—आयत-गत्वा-प्रत्यागता—लम्बा सीधा जाकर वापस लौटते (हुए भिक्षाचरी करना) (यह) छट्ठा—छठा (क्षेत्र सम्बन्धी ऊनोदरी तप है ॥१९॥

दिवसस्स—दिन की, चउण्ह पोरुसीण—चार पौरुषियो (पहरो) मे से, जत्तिओ—जितना (जो) कालो—काल (अभिग्रहरूप मे) भवे—रखा हो, एव—उसी काल मे, चरमाणो—भिक्षा के लिए विचरण (अटन) करना, (यह) खलु अवश्य ही, कालोमाण—कालसम्बन्धी अवमौदर्य, ऊनोदरी तप मुणेयव्व—जानना चाहिए ॥२०॥

अहवा—अथवा (प्रकारान्तर से) तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी (प्रहर) मे, ऊणाए—कुछ कम, वा—अथवा, चउभागूणाए—चौथे भाग कम मे, घासमेसतो—भिक्षा की गवेषणा करना, एवं—इस प्रकार, कालेण ऊ—काल की अपेक्षा से ऊनोदरी तप, भवे—होता है ॥२१॥

इत्थी वा पुरिसो—स्त्री अथवा पुरुष, अलकिओ वा अणलकिओ वावि—अलंकृत हो, अथवा अनलकृत हो, वा—अथवा, अन्नयर-वयत्थो—अमुक वय (उम्र) वाले, व—या, अन्नयरेण वत्थेण—अमुक वस्त्र वाले, अन्नेण—अन्य किसी, विसेसेण वण्णेण—विशेष प्रकार के वर्ण से, भाव—हर्षादि भावो को, अणुमुयते—नही छोडता हुआ (दाता यदि भिक्षा देगा तो ले लूंगा,) एव—इस प्रकार के (अभिग्रह पूर्वक भिक्षा) चरमाणो—चर्या करते हुए साधु के, भावोमाण—भाव से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप, मुणेयव्वो—जानना चाहिए ॥२२—२३॥

दव्वे—द्रव्य मे, खेत्ते—क्षेत्र मे, काले—काल मे, य—और, भावम्मि—भाव मे, जे—जो, भावा—भाव, आहिया—कहे गए हैं, एएहि—इन (भावो) से भी, ओमचरओ—अवम-चर्या (अवमौदर्य तप) करने वाला, भिक्खू—भिक्षु, पज्जवचरओ—पर्यवचरक (पर्याय-ऊनोदरी तप करने वाला), भवे—होता है ॥२४॥

विशेषार्थ—अवमौदर्य : निर्वचन और विस्तृत अर्थ—जिसका उदर अवम् अर्थात् न्यून हो, उसे अवमोदर कहते हैं, उसका भाव, अर्थात्—उदर की न्यूनता—प्रमाण से (भूख से) कम आहार करना=उदर को कुछ खाली रखना अवमौदर्य है, इसे ही प्रचलित भाषा मे ऊनोदरी कहा जाता है। यह तो हुआ भक्तपान मे कमी करने के अर्थ मे अवमौदर्य तप। किन्तु

प्रस्तुत शास्त्र मे गा० १४ से २४ तक इस शब्द के भावार्थ को लेकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की अपेक्षा से इसका व्यापक एव विशिष्ट अर्थ की दृष्टि से वर्णन किया गया है ।

औपपातिक सूत्र मे इसके मुख्यत दो भेद बताए गए हैं—द्रव्यत. अवमौदर्य और भावत अवमौदर्य । यहाँ अवमौदर्य के विभिन्न दृष्टि से पाच प्रकार बताये हैं—१ द्रव्य-अवमौदर्य, २ क्षेत्र-अवमौदर्य, ३ काल अवमौदर्य, ४ भाव-अवमौदर्य और ५ पर्याय-अवमौदर्य ॥१४॥

द्रव्य-अवमौदर्य—द्रव्य-अवमौदर्य के भक्तपान-अवमौदर्य और उपकरण-अवमौदर्य इन दो भेदो मे से यहाँ भक्त-पान-अवमौदर्य के सन्दर्भ मे कहा गया है कि जो जिसका परिपूर्ण आहार है, उसमे कम से कम एक कवल कम करना द्रव्य-ऊनोदरी तप है ॥१५॥

शास्त्रो मे पुरुष का आहार ३२ कवल-प्रमाण, और स्त्री का २८ कवल-प्रमाण कहा गया है तथा २४ कवल-प्रमाण आहार नपु सक का माना है । इस प्रमाण से कम आहार करना भी द्रव्य-ऊनोदरी तप है । दूसरे प्रकार से भक्तपान-अवमौदर्य के ५ उपभेद भी किए गए हैं—१ एक ग्रास से आठ ग्रास तक आहार करना अल्पाहार है । २ नौ से बारह ग्रास तक आहार करना अपार्द्ध अवमौदर्य है । ३ तेरह से सोलह ग्रास तक आहार करना अर्द्ध अवमौदार्य है, ४ सत्रह से चौबीस ग्रास तक आहार करना पौन-अवमौदर्य है और ५ पच्चीस से इकतीस ग्रास तक आहार करने पर किंचित् अवमौदर्य है ।[1] द्रव्य-अवमौदर्य से स्वाध्याय, समाधि, सयमपालन मे सुकरता, इन्द्रियविजय एव निद्राविजय आदि लाभ हैं ।

क्षेत्र अवमौदर्य—भिक्षाचरी की दृष्टि से क्षेत्र-मर्यादा न्यून कर लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है ।

इसकी विधि मे गा० १६ से १८ तक मे बताए हुए ग्राम से लेकर गृह तक २५ प्रकार के क्षेत्रो, तथा ऐसे ही किसी क्षेत्र मे से किसी निर्धारित क्षेत्र की मर्यादा बाध लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है । गा० १९ मे क्षेत्र (भिक्षाचरी के क्षेत्र) मे कमी करने हेतु दूसरी पद्धति क्षेत्र-अवमौदर्य की बताई है । यथा—१ पेटा—जो मोहल्ला चतुष्कोण पेटी (सन्दूक) के आकार के समान है, उसमे—आज मैं पेटी के समान चोकोन (चतुष्कोण) घरो की पक्ति मे ही गोचरी के लिए जाऊँगा, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक गोचरी करना, क्षेत्र

---

१ (क) औपपातिक सूत्र १९, (ख) उत्तरा०, (आ० आत्मा०) भा० ३ पृ० १८८

पेडा—पेटिका (सन्दूक) के आकार मे, अद्धपेडा—अर्ध-पेटिका के आकार मे, गोमुत्ति—गोमूत्रिकावत् टेढ़े-मेढे आकार मे, य—और, पयंगवीहिया—पतगवीथिका के आकार मे, चेव—इसी प्रकार, सम्बुक्कावट्टा—शम्बूक=शख के आवर्त्त के आकार मे, आयय-गतु पच्चागया—आयत-गत्वा-प्रत्यागता—लम्बा सीधा जाकर वापस लौटते (हुए भिक्षाचरी करना) (यह) छट्ठा—छठा (क्षेत्र सम्बन्धी ऊनोदरी तप है ॥१९॥

दिवसस्स—दिन की, चउण्ह पोरुसीण—चार पौरुषियो (पहरो) मे से, जत्तिओ—जितना (जो) कालो—काल (अभिग्रहरूप मे) भवे—रखा हो, एव—उसी काल मे, चरमाणो—भिक्षा के लिए विचरण (अटन) करना, (यह) खलु अवश्य ही, कालोमाण—कालसम्बन्धी अवमौदर्य, ऊनोदरी तप मुणेयव्व—जानना चाहिए ॥२०॥

अहवा—अथवा (प्रकारान्तर से) तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी (प्रहर) मे, ऊणाए—कुछ कम, वा—अथवा, चउभागूणाए—चौथे भाग कम मे, घासमेसतो—भिक्षा की गवेषणा करना, एवं—इस प्रकार, कालेण ऊ—काल की अपेक्षा से ऊनोदरी तप, भवे—होता है ॥२१॥

इत्थी वा पुरिसो—स्त्री अथवा पुरुष, अलकिओ वा अणलकिओ वावि—अलंकृत हो, अथवा अनलकृत हो, वा—अथवा, अन्नयर-वयत्थो—अमुक वय (उम्र) वाले, व—या, अन्नयरेण वत्थेण—अमुक वस्त्र वाले, अन्नेण—अन्य किसी, विसेसेण वण्णेण—विशेष प्रकार के वर्ण से, भाव—हर्षादि भावो को, अणुमुयते—नही छोड़ता हुआ (दाता यदि भिक्षा देगा तो ले लूँगा,) एव—इस प्रकार के (अभिग्रह पूर्वक भिक्षा) चरमाणो—चर्या करते हुए साधु के, भावोमाण—भाव से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप, मुणेयव्वो—जानना चाहिए ॥२२—२३॥

दव्वे—द्रव्य मे, खेत्ते—क्षेत्र मे, काले—काल मे, य—और, भावम्मि—भाव मे, जे—जो, भावा—भाव, आहिया—कहे गए है, एएहिं—इन (भावो) से भी, ओमचरओ—अवम-चर्या (अवमौदर्य तप) करने वाला, भिक्खू—भिक्षु, पज्जवचरओ—पर्यवचरक (पर्याय-ऊनोदरी तप करने वाला), भवे—होता है ॥२४॥

विशेषार्थ—अवमौदर्य : निर्वचन और विस्तृत अर्थ—जिसका उदर अवम अर्थात् न्यून हो, उसे अवमोदर कहते हैं, उसका भाव, अर्थात्—उदर की न्यूनता—प्रमाण से (भूख से) कम आहार करना=उदर को कुछ खाली रखना अवमौदर्य है, इसे ही प्रचलित भाषा मे ऊनोदरी कहा जाता है। यह तो हुआ भक्तपान मे कमी करने के अर्थ मे अवमौदर्य तप। किन्तु

प्रस्तुत शास्त्र मे गा० १४ से २४ तक इस शब्द के भावार्थ को लेकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की अपेक्षा से इसका व्यापक एव विशिष्ट अर्थ की दृष्टि से वर्णन किया गया है।

औपपातिक सूत्र मे इसके मुख्यत दो भेद बताए गए हैं—द्रव्यत. अवमौदर्य और भावत अवमौदर्य। यहाँ अवमौदर्य के विभिन्न दृष्टि से पाच प्रकार बताये हैं—१ द्रव्य-अवमौदर्य, २ क्षेत्र-अवमौदर्य, ३ काल अवमौदर्य, ४ भाव-अवमौदर्य और ५ पर्याय-अवमौदर्य ॥१४॥

द्रव्य-अवमौदर्य—द्रव्य-अवमौदर्य के भक्तपान-अवमौदर्य और उपकरण-अवमौदर्य इन दो भेदो मे से यहाँ भक्त-पान-अवमौदर्य के सन्दर्भ मे कहा गया है कि जो जिसका परिपूर्ण आहार है, उसमे कम से कम एक कवल कम करना द्रव्य-ऊनोदरी तप है ॥१५॥

शास्त्रो मे पुरुष का आहार ३२ कवल-प्रमाण, और स्त्री का २८ कवल-प्रमाण कहा गया है तथा २४ कवल-प्रमाग आहार नपुसक का माना है। इस प्रमाण से कम आहार करना भी द्रव्य-ऊनोदरी तप है। दूसरे प्रकार से भक्तपान-अवमौदर्य के ५ उपभेद भी किए गए हैं—१ एक ग्रास से आठ ग्रास तक आहार करना अल्पाहार है। २ नौ से बारह ग्रास तक आहार करना अपार्द्ध अवमौदर्य है। ३ तेरह से सोलह ग्रास तक आहार करना अर्द्ध अवमौदार्य है, ४ सत्रह से चौबीस ग्रास तक आहार करना पौन-अवमौदर्य है और ५ पच्चीस से इकतीस ग्रास तक आहार करने पर किंचित् अवमौदर्य है।[1] द्रव्य-अवमौदर्य से स्वाध्याय, समाधि, सयमपालन मे सुकरता, इन्द्रियविजय एव निद्रा-विजय आदि लाभ हैं।

क्षेत्र अवमौदर्य—भिक्षाचरी की दृष्टि से क्षेत्र-मर्यादा न्यून कर लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है।

इसकी विधि मे गा० १६ से १८ तक मे बताए हुए ग्राम से लेकर गृह तक २५ प्रकार के क्षेत्रो, तथा ऐसे ही किसी क्षेत्र मे से किसी निर्धारित क्षेत्र की मर्यादा बाध लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है। गा० १९ मे क्षेत्र (भिक्षाचरी के क्षेत्र) मे कमी करने हेतु दूसरी पद्धति क्षेत्र-अवमौदर्य की बताई है। यथा—१ पेटा—जो मोहल्ला चतुष्कोण पेटी (सन्दूक) के आकार के समान है, उसमे—आज मैं पेटी के समान चोकोन (चतुष्कोण) घरो की पक्ति मे ही गोचरी के लिए जाऊँगा, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक गोचरी करना, क्षेत्र

---

१ (क) औपपातिक सूत्र १९, (ख) उत्तरा०, (आ० आत्मा०) भा० ३ पृ० १८८

पेडा—पेटिका (सन्दूक) के आकार मे, अद्धपेडा—अर्द्ध-पेटिका के आकार मे, गोमुत्ति—गोमूत्रिकावत् टेढे-मेढे आकार मे, य—और, पयगवीहिया—पतंगवीथिका के आकार मे, चेव—इसी प्रकार, सबुक्कावट्टा—सम्बूक=शख के आवर्त के आकार मे, आयय-गतु पच्चागया—आयत-गत्वा-प्रत्यागता—लम्बा सीधा जाकर वापस लौटते (हुए भिक्षाचरी करना) (यह) छट्ठा—छठा (क्षेत्र सम्बन्धी ऊनोदरी तप है ॥१९॥

दिवसस्स—दिन की, चउण्ह पोरुसीण—चार पौरुषियो (पहरो) मे से, जत्तिओ—जितना (जो) कालो—काल (अभिग्रहरूप मे) भवे—रखा हो, एव—उसी काल मे, चरमाणो—भिक्षा के लिए विचरण (अटन) करना, (यह) खलु अवश्य ही, कालोमाण—कालसम्बन्धी अवमौदर्य, ऊनोदरी तप मुणेयव्व—जानना चाहिए ॥२०॥

अहवा—अथवा (प्रकारान्तर से) तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी (प्रहर) मे, ऊणाए—कुछ कम, वा—अथवा, चउभागूणाए—चौथे भाग कम मे, घासमेसतो—भिक्षा की गवेषणा करना, एवं—इस प्रकार, कालेण ऊ—काल की अपेक्षा से ऊनोदरी तप, भवे—होता है ॥२१॥

इत्थी वा पुरिसो—स्त्री अथवा पुरुष, अलकिओ वा अणलकिओ वावि—अलंकृत हो, अथवा अनलकृत हो, वा—अथवा, अन्नयर-वयत्थो—अमुक वय (उम्र) वाले, व—या, अन्नयरेण वत्थेण—अमुक वस्त्र वाले, अन्नेण—अन्य किसी, विसेसेण वण्णेण—विशेष प्रकार के वर्ण से, भाव—हर्षादि भावो को, अणुमुयते—नही छोडता हुआ (दाता यदि भिक्षा देगा तो ले लूंगा,) एव—इस प्रकार के (अभिग्रह पूर्वक भिक्षा) चरमाणो—चर्या करते हुए साधु के, भावोमाण—भाव से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप, मुणेयव्वो—जानना चाहिए ॥२२—२३॥

दव्वे—द्रव्य मे, खेत्ते—क्षेत्र मे, काले—काल मे, य—और, भावम्मि—भाव मे, जे—जो, भावा—भाव, आहिया—कहे गए हैं, एएहि—इन (भावो) से भी, ओमचरओ—अवम-चर्या (अवमौदर्य तप) करने वाला, भिक्खू—भिक्षु, पज्जवचरओ—पर्यवचरक (पर्याय-ऊनोदरी तप करने वाला), भवे—होता है ॥२४॥

विशेषार्थ—अवमौदर्य : निर्वचन और विस्तृत अर्थ—जिसका उदर अवम् अर्थात् न्यून हो, उसे अवमोदर कहते हैं, उसका भाव, अर्थात्—उदर की न्यूनता—प्रमाण से (भूख से) कम आहार करना=उदर को कुछ खाली रखना अवमौदर्य है, इसे ही प्रचलित भाषा मे ऊनोदरी कहा जाता है। यह तो हुआ भक्तपान मे कमी करने के अर्थ मे अवमौदर्य तप। किन्तु

प्रस्तुत शास्त्र मे गा० १४ से २४ तक इस शब्द के भावार्थ को लेकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की अपेक्षा से इसका व्यापक एव विशिष्ट अर्थ की दृष्टि से वर्णन किया गया है।

औपपातिक सूत्र मे इसके मुख्यत दो भेद बताए गए हैं—द्रव्यत. अवमौदर्य और भावत अवमौदर्य। यहाँ अवमौदर्य के विभिन्न दृष्टि से पाच प्रकार बताये हैं—१ द्रव्य-अवमौदर्य, २ क्षेत्र-अवमौदर्य, ३ काल अवमौदर्य, ४ भाव-अवमौदर्य और ५ पर्याय-अवमौदर्य ॥१४॥

द्रव्य-अवमौदर्य—द्रव्य-अवमौदर्य के भक्तपान-अवमौदर्य और उपकरण-अवमौदर्य इन दो भेदो मे से यहाँ भक्त-पान-अवमौदर्य के सन्दर्भ मे कहा गया है कि जो जिसका परिपूर्ण आहार है, उसमे कम से कम एक कवल कम करना द्रव्य-ऊनोदरी तप है ॥१५॥

शास्त्रो मे पुरुष का आहार ३२ कवल-प्रमाण, और स्त्री का २८ कवल-प्रमाण कहा गया है तथा २४ कवल-प्रमाग आहार नपु सक का माना है। इस प्रमाण से कम आहार करना भी द्रव्य-ऊनोदरी तप है। दूसरे प्रकार से भक्तपान-अवमौदर्य के ५ उपभेद भी किए गए हैं—१ एक ग्रास से आठ ग्रास तक आहार करना अल्पाहार है। २ नौ से बारह ग्रास तक आहार करना अपार्द्ध अवमौदर्य है। ३ तेरह से सोलह ग्रास तक आहार करना अर्द्ध अवमौदार्य है, ४ सत्रह से चौबीस ग्रास तक आहार करना पौन-अवमौदर्य है और ५ पच्चीस से इकतीस ग्रास तक आहार करने पर किंचित् अवमौदर्य है।[1] द्रव्य-अवमौदर्य से स्वाध्याय, समाधि, सयमपालन मे सुकरता, इन्द्रियविजय एव निद्राविजय आदि लाभ हैं।

क्षेत्र अवमौदर्य—भिक्षाचरी की दृष्टि से क्षेत्र-मर्यादा न्यून कर लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है।

इसकी विधि मे गा० १६ से १८ तक मे बताए हुए ग्राम से लेकर गृह तक २५ प्रकार के क्षेत्रो, तथा ऐसे ही किसी क्षेत्र मे से किसी निर्धारित क्षेत्र की मर्यादा बाध लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है। गा० १९ मे क्षेत्र (भिक्षाचरी के क्षेत्र) मे कमी करने हेतु दूसरी पद्धति क्षेत्र-अवमौदर्य की बताई है। यथा—१ पेटा—जो मोहल्ला चतुष्कोण पेटी (सन्दूक) के आकार के समान है, उसमे—आज मैं पेटी के समान चौकोन (चतुष्कोण) घरो की पक्ति मे ही गोचरी के लिए जाऊँगा, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक गोचरी करना, क्षेत्र

---

१ (क) औपपातिक सूत्र १९, (ख) उत्तरा०, (आ० आत्मा०) भा० ३ पृ० १८८

अवमौदर्य का प्रथम भेद है। २ अर्द्धपेटा—अर्द्धपेटिकाकार घरो (केवल दो श्रेणियो) मे भिक्षा के लिए जाने का अभिग्रह करना। ३ गोमूत्रिका—चलते बैल के मूत्र की रेखा की तरह टेढे-मेढे भ्रमण करके भिक्षा करना। ४ पतगवीथिका—जैसे पतग (शलभ अथवा ज्योतिरिंगण) उडता है, तो बीच-बीच मे कही-कही चमकता है, वैसे ही एक घर से आहार लेकर फिर उसके निकटवर्ती ५-६ घरो को छोडकर सातवें घर से आहार लेना आहार-चर्या की पतगवीथिका विधि है। ५ शम्बूकावर्त्ता—शख के बाहरी आवर्तो की तरह गाँव के बाहरी भाग से गोचरी करते हुए अन्दर मे जाना, अथवा गाँव के अन्दर से भिक्षा लेते हुए बाहर की ओर जाना। ६ आयत गत्वा प्रत्यागता—यह छठा भेद है, जिसका आशय है पहले गली के प्रारम्भ से अन्त तक सीधे चले जाना और फिर वहाँ से लौटते हुए भिक्षा ग्रहण करना, अर्थात्—एक ही पक्ति से आहार लेना। अथवा जाते समय गली की एक पक्ति से और आते समय दूसरी पक्ति से भिक्षाचरी करना। यद्यपि अभिग्रह-सम्बन्धी यह कथन भिक्षाचरी तप से सम्बन्धित है, तथापि निमित्त-भेद से[1] अवमौदर्य तप के सन्दर्भ मे यहाँ यह वर्णन किया गया है ।।१९।।

काल-अवमौदर्य—गा० २० और २१ मे यह तप दो प्रकार से बताया गया है—(१) दिन के चार प्रहरो में से आज मैं अमुक प्रहर मे भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्य प्रहरो मे भिक्षा लेने का त्याग करता हूँ। इस प्रकार का अभिग्रह करना, सकल्पित प्रहर मे भिक्षा मिल जाये तो वह आहार करेगा, अन्यथा उपवास कर लेगा। (२) तृतीय पौरुषी (प्रहर) मे भिक्षा लेने का विधान है, किन्तु तृतीय पौरुषी के दो घडी प्रमाण चार भाग होते हैं। उन चार भागो मे से किसी एक भाग मे ही भिक्षार्थ जाने का अभिग्रह करना। यदि निर्धारित (उतने) समय मे भिक्षा उपलब्ध न हो तो वैसे ही (उपवास के साथ) सन्तुष्ट रहने के अभिग्रह को दूसरा काल-ऊनोदरी तप कहा है ।।२०-२१।।

भाव-अवमौदर्य—यदि अमुक स्त्री या पुरुष, अलकारयुक्त या अलकार रहित हो, बाल, युवक या वृद्ध हो, अमुक प्रकार के वस्त्रो या अमुक रग के

---

१ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा-३ पृ० १९२
(ख) प्रवचन-सारोद्धार गा० ७४५ से ७४९ तक

वस्त्रों से विभूषित हो, हंसता हो, रोता हो, या हर्षावेशयुक्त हो, कोपयुक्त हो, काला हो या गोरा हो इत्यादि में से अमुक प्रकार के दाता के हाथ से भिक्षा मिलेगी, तभी ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं, इस प्रकार के अभिग्रह को धारण करके भिक्षार्थ जाना भाव-अवमौदर्य तप है। मूलाराधना (अमितगति) में क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भाव-अवमौदर्य बताया है ॥२२-२३॥

पर्याय-अवमौदर्य—जो भिक्षु उपर्युक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अवमौदर्य के सम्बन्ध में बताये हुए न्यूनाधिक सर्व भावों से अर्थात्—उक्त चारों अभिग्रहों अथवा इनमें से किसी एक से युक्त होकर विचरता है, उसे पर्यवचरक=पर्याय-ऊनोदरी तप करने वाला कहते हैं ॥२४॥

(३) भिक्षाचर्या तप : स्वरूप और प्रकार—

मूल—अट्ठविह-गोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥२५॥

पद्यानु०—आठ भेद के गोचराग्र, यों सात एषणाएँ गाईं।
और अन्य अभिग्रह जो ऐसे, भिक्षाचर्या है कहलाईं ॥२५॥

अन्वयार्थ—अट्ठविह गोयरग्ग—आठ प्रकार की प्रधान गोचरी, तु—पुनः तथा, सत्तेव एसणा—सात ही (शास्त्रोक्त) एषणाएं, य—और, जे अन्ने—जो अन्य, अभिग्गहा—अभिग्गह हैं, (वे सब), भिक्खायरिय—भिक्षा-चर्या तप, आहिया—कहे गये हैं।

विशेषार्थ—अष्टविध गोचराग्र—गोचर का अर्थ है—गाय की तरह (उच्च-नीच-मध्यम समस्त कुलों में अकल्प्य पिण्ड को छोड़कर) भ्रमण करना, और अग्र का अर्थ है—प्रधान। तात्पर्य यह है कि आठ प्रकार की प्रधान गोचरी करना। वे आठ प्रकार ये हैं—(१) पेटा, (२) अर्धपेटा, (३) गो-मूत्रिका, (४) पतंग-वीथिका, (५) आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता, (६) बाह्य शम्बूकावर्त्ता, तथा (७) आयतगत्वा और (८) प्रत्यागता।[1]

सप्तविध एषणाएं—(१) संसृष्टा—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या बर्तन से भिक्षा लेना, (२) असंसृष्टा—अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करना, (३) उद्धृता—रसोईघर में से अपने खाने के लिए जिस बर्तन में भोजन

---

१ (क) उत्तरा भा २ (गुजराती भाषान्तर) पत्र २७०।
(ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५।

अवमौदर्य का प्रथम भेद है। २ अर्द्धपेटा—अर्द्धपेटिकाकार घरो (केवल दो श्रेणियो) मे भिक्षा के लिए जाने का अभिग्रह करना। ३ गोमूत्रिका—चलते बैल के मूत्र की रेखा की तरह टेढे-मेढे भ्रमण करके भिक्षा करना। ४ पतगवीथिका—जैसे पतग (शलभ अथवा ज्योतिरिंगण) उडता है, तो बीच-बीच मे कही-कही चमकता है, वैसे ही एक घर से आहार लेकर फिर उसके निकटवर्ती ५-६ घरो को छोडकर सातवें घर से आहार लेना आहार-चर्या की पतगवीथिका विधि है। ५ शम्बूकावर्त्ता—शख के बाहरी आवर्तों की तरह गाँव के बाहरी भाग से गोचरी करते हुए अन्दर मे जाना, अथवा गाँव के अन्दर से भिक्षा लेते हुए बाहर की ओर जाना। ६ आयत गत्वा प्रत्यागता—यह छठा भेद है, जिसका आशय है पहले गली के प्रारम्भ से अन्त तक सीधे चले जाना और फिर वहाँ से लौटते हुए भिक्षा ग्रहण करना, अर्थात्—एक ही पक्ति से आहार लेना। अथवा जाते समय गली की एक पक्ति से और आते समय दूसरी पक्ति से भिक्षाचरी करना। यद्यपि अभिग्रह-सम्बन्धी यह कथन भिक्षाचरी तप से सम्बन्धित है, तथापि निमित्त-भेद से[1] अवमौदर्य तप के सन्दर्भ मे यहाँ यह वर्णन किया गया है ॥१९॥

काल-अवमौदर्य—गा० २० और २१ मे यह तप दो प्रकार से बताया गया है—(१) दिन के चार प्रहरो में से आज मैं अमुक प्रहर मे भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्य प्रहरो मे भिक्षा लेने का त्याग करता हूँ। इस प्रकार का अभिग्रह करना, सकल्पित प्रहर मे भिक्षा मिल जाये तो वह आहार करेगा, अन्यथा उपवास कर लेगा। (२) तृतीय पौरुषी (प्रहर) मे भिक्षा लेने का विधान है, किन्तु तृतीय पौरुषी के दो घडी प्रमाण चार भाग होते हैं। उन चार भागो मे से किसी एक भाग मे ही भिक्षार्थ जाने का अभिग्रह करना। यदि निर्धारित (उतने) समय मे भिक्षा उपलब्ध न हो तो वैसे ही (उपवास के साथ) सन्तुष्ट रहने के अभिग्रह को दूसरा काल-ऊनोदरी तप कहा है ॥२०-२१॥

भाव-अवमौदर्य—यदि अमुक स्त्री या पुरुष, अलकारयुक्त या अलकार रहित हो, बाल, युवक या वृद्ध हो, अमुक प्रकार के वस्त्रो या अमुक रग के

---

१ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा-३ पृ० ११२

(ख) प्रवचन-सारोद्धार गा० ७४५ से ७४९ तक

वस्त्रों से विभूषित हो, हंसता हो, रोता हो, या हर्षावेशयुक्त हो, कोपयुक्त हो, काला हो या गोरा हो इत्यादि में से अमुक प्रकार के दाता के हाथ से भिक्षा मिलेगी, तभी ग्रहण करूँगा, अन्यथा नही, इस प्रकार के अभिग्रह को धारण करके भिक्षार्थ जाना भाव-अवमौदर्य तप है। मूलाराधना (अमितगति) मे क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को कम करना भाव-अवमौदर्य बताया है ॥२२-२३॥

पर्याय-अवमौदर्य—जो भिक्षु उपर्युक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अवमौदर्य के सम्बन्ध मे बताये हुए न्यूनाधिक सर्व भावो से अर्थात्—उक्त चारो अभिग्रहो अथवा इनमे से किसी एक से युक्त होकर विचरता है, उसे पर्यवचरक=पर्याय-ऊनोदरी तप करने वाला कहते हैं ॥२४॥

(३) भिक्षाचर्या तप : स्वरूप और प्रकार—

मूल—अट्ठविह-गोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥२५॥

पद्यानु०—आठ भेद के गोचराग्र, यो सात एषणाएँ गाई।
और अन्य अभिग्रह जो ऐसे, भिक्षाचर्या है कहलाई ॥२५॥

अन्वयार्थ—अट्ठविह गोयरग्गं—आठ प्रकार की प्रधान गोचरी, तु—पुनः तथा, सत्तेव एसणा—सात ही (शास्त्रोक्त) एषणाएं, य—और, जे अन्ने—जो अन्य, अभिग्गहा—अभिग्रह है, (वे सब), भिक्खायरिय—भिक्षा-चर्या तप, आहिया—कहे गये हैं।

विशेषार्थ—अष्टविध गोचराग्र—गोचर का अर्थ है—गाय की तरह (उच्च-नीच-मध्यम समस्त कुलो मे अकल्प्य पिण्ड को छोडकर) भ्रमण करना, और अग्र का अर्थ है—प्रधान। तात्पर्य यह है कि आठ प्रकार की प्रधान गोचरी करना। वे आठ प्रकार ये हैं—(१) पेटा, (२) अर्धपेटा, (३) गो-मूत्रिका, (४) पतंग-वीथिका, (५) आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता, (६) बाह्य शम्बूकावर्त्ता, तथा (७) आयतगत्वा और (८) प्रत्यागता।[1]

सप्तविध एषणाएं—(१) संसृष्टा—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या बर्तन से भिक्षा लेना, (२) असंसृष्टा—अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करना, (३) उद्धृता—रसोईघर मे से अपने खाने के लिए जिस बर्तन मे भोजन

---

१ (क) उत्तरा भा २ (गुजराती भाषान्तर) पत्र २७०।
(ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५।

निकाला हो, वह लेना, (४) अल्पलेपा—चना, चिउडा आदि अल्पलेप वाली वस्तु लेना, (५) उद्गृहीता—खाने के लिए भोजन जिस बर्तन मे परोसा गया हो, उसी मे से भोजन लेना, (६) प्रगृहीता—भोजन करने वाले ने अपने हाथ आदि मे वस्तु ली हुई हो, उसी मे से लेना,और (७) उज्झित-धर्मा—अमनोज्ञ एव त्याज्य (परिष्ठापनयोग्य नीरस) खाद्य वस्तु लेना।[1]

चार प्रकार के मुख्य अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह के मुख्य चार भेद होते हैं। यथा—द्रव्यत —अगर भाले के अग्रभाग आदि मे स्थित मण्डक या खण्डक आदि मिलेगे तो लूँगा, इत्यादि। क्षेत्रत —यदि आहारदाता दोनो पैरो के बीच मे दहलीज (देहली) रखकर आहार देगा तो लूँगा, इत्यादि। कालत —सभी भिक्षु भिक्षा ला चुकेंगे, तभी भिक्षाटन करूँगा, और जो मिलेगा, सो लूँगा, इत्यादि। भावत —हँसता या रोता अथवा अन्य किसी प्रकार से बँधा हुआ हो, वह यदि आहार देगा, तो लूँगा, इत्यादि। ये और अन्य विविध प्रकार के अभिग्रह एव नियम-पूर्वक आहार की गवेषणा और ग्रहणैषणा करना भिक्षाचरीतप कहलाता है।[2]

(४) रसपरित्याग का स्वरूप—

मूल—खीर-दहि-सप्पिमाई, पणीय पाण-भोयण।
परिवज्जण रसाणं तु, भणिय रस-विवज्जण ॥२६॥

पद्यानु०—दूध दही घृत आदि तथा, अतिशय-प्रणीत पानक-भोजन।
रस वाले द्रव्यो का वर्जन, तप कहा ईश ने रस-वर्जन ॥२६॥

अन्वयार्थ—खीर-दहि-सप्पिमाई—खीर=दूध, दही, घृत (सर्पिष), आदि तेल, गुड (शक्कर चीनी बूरा आदि), पक्वान्न आदि, पणीअ—प्रणीत, (अतिबृहक=पौष्टिक=बल वर्द्धक), पाणभोयण—पान—पेय-पदार्थ और भोजन, तु—तथा, रसाण—रसो का, परिवज्जण—परित्याग करना, रसविवज्जण—रस-परित्याग तप भणिय—कहा गया है ॥२६॥

विशेषार्थ—रसपरित्याग मे प्रणीत तथा रसवर्द्धक पेय और भोजन का त्याग अनिवार्य है। प्रणीत का अर्थ है—स्निग्ध एव पौष्टिक (बल-वर्द्धक) पान-भोजन। यथा—खजूर, इक्षु आदि का रसादि पेय पदार्थ और जिसमे से घी झर रहा हो, ऐसे भोजन का त्याग करना। रसो मे—खट्टा

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र २७०-२७१।
(ख) पिण्डनिर्युक्ति।

२ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र २७१।
(ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३ पृ० १९६।

मीठा, तीखा, चरपरा, नमकीन, कसैला आदि रसयुक्त पदार्थ आते हैं। इसका फलितार्थ यह है कि सागारधर्मामृत मे विहित चार प्रकार की विकृतियो का त्याग तथा शाक, व्यजन, तली हुई चीजो, नमक मिर्च आदि मसालो का त्याग करना रस परित्याग है। वे विकृति के चार प्रकार ये हैं—(१) गोरस-विकृति—दूध, दही, घी, नवनीत आदि, (२) इक्षुरस-विकृत—गुड, चीनी, मिठाई आदि, (३) फलविकृति—अगूर, आम, मोसबी, अनार, खजूर, इक्षु आदि फलो के रस, और (४) धान्य-रस-विकृति—तेल, माड, पूडे, हरे साग, या सस्कारित साग, तली हुई चीजें, व्यजन आदि।

अत: आज या अमुक दिनो तक मे प्रणीत और रस युक्त (स्वादिष्ट या स्वादवर्द्धक) पदार्थ नही खाऊँगा, इस प्रकार का प्रत्याख्यान करना रसपरित्याग है। इसमे आयम्बिल एव निव्विगई तप आ जाता है। इस तप का मुख्य प्रयोजन स्वाद-विजय है। इस तप से इन्द्रियनिग्रह कामोत्तेजना, की प्रशान्ति, सतोष-भावना एव स्वादिष्ट पदार्थो से विरक्ति होती है, फलत आत्मा अन्तर्मुखी होती है।[1]

(५) कायक्लेशतप—

मूल—ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जति, कायकिलेस तमाहियं ॥२७॥

पद्यानु०—वीरासन आदिक आसन जो, हैं मानव के हित सुखदायक।
करें उग्र आसन-धारण जो, कायक्लेश तप के ज्ञापक ॥२७॥

अन्वयार्थ—जीवस्स—जीव के लिए, सुहावहा—सुखदायक, उ—किन्तु, उग्गा—उग्र=उत्कट, वीरासणाईआ—वीरासन आदि आसन और उपलक्षण से लोच आदि] [तथा]ठाणा—स्थान (काया की स्थिति के प्रकार) जहा—जिस प्रकार धरिज्जति—धारण किए जाते है, त—उन्हे (धारण करने को) कायकिलेस—कायक्लेश, आहिय—कहा गया है ॥२७॥

---

१ (क) प्रणीत अतिबृ हकम्।—उत्तरा (लक्ष्मीविजय टीका)।
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भाग २, पत्र २७१।
(ग) उत्तरा. (आचार्य श्री आत्माराम जी म)भाग ३, पृष्ठ ११७
(घ) सन्तोषो भावित सम्यग्, ब्रह्मचर्य-प्रपालितम्।
दर्शित स्वस्य वैराग्य कुर्वाणेन रसोज्झनम्।
—मूलाराधना (अमितगति) ३।२१७

निकाला हो, वह लेना, (४) अल्पलेपा—चना, चिउडा आदि अल्पलेप वाली वस्तु लेना, (५) उद्गृहीता—खाने के लिए भोजन जिस बर्तन मे परोसा गया हो, उसी मे से भोजन लेना, (६) प्रगृहीता— भोजन करने वाले ने अपने हाथ आदि मे वस्तु ली हुई हो, उसी मे से लेना,और (७) उज्झित-धर्मा—अमनोज्ञ एव त्याज्य (परिष्ठापनयोग्य नीरस) खाद्य वस्तु लेना ।[1]

चार प्रकार के मुख्य अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह के मुख्य चार भेद होते हैं। यथा—द्रव्यत —अगर भाले के अग्रभाग आदि मे स्थित मण्डक या खण्डक आदि मिलेंगे तो लूँगा, इत्यादि। क्षेत्रत —यदि आहारदाता दोनो पैरो के बीच मे दहलीज (देहली) रखकर आहार देगा तो लूँगा, इत्यादि। कालत —सभी भिक्षु भिक्षा ला चुकेंगे, तभी भिक्षाटन करूँगा, और जो मिलेगा, सो लूँगा, इत्यादि। भावत —हँसता या रोता अथवा अन्य किसी प्रकार से बँधा हुआ हो, वह यदि आहार देगा, तो लूँगा, इत्यादि। ये और अन्य विविध प्रकार के अभिग्रह एव नियम-पूर्वक आहार की गवेषणा और ग्रहणैषणा करना भिक्षाचरीतप कहलाता है।[2]

(४) रसपरित्याग का स्वरूप—

मूल—खीर-दहि-सप्पिमाई, पणीय पाण-भोयण।
परिवज्जण रसाणं तु, भणिय रस-विवज्जण ॥२६॥

पद्यानु०—दूध दही घृत आदि तथा, अतिशय-प्रणीत पानक-भोजन।
रस वाले द्रव्यो का वर्जन, तप कहा ईश ने रस-वर्जन ॥२६॥

अन्वयार्थ—खीर-दहि-सप्पिमाई—क्षीर=दूध, दही, घृत (सर्पिष), आदि तेल, गुड (शक्कर चीनी बूरा आदि), पक्वान्न आदि, पणीअ—प्रणीत, (अतिबृहक= पौष्टिक=बल वर्द्धक), पाणभोयण—पान—पेय-पदार्थ और भोजन, तु—तथा, रसाण—रसो का, परिवज्जण—परित्याग करना, रसविवज्जण—रस-परित्याग तप भणिय—कहा गया है ॥२६॥

विशेषार्थ—रसपरित्याग मे प्रणीत तथा रसवर्द्धक पेय और भोजन का त्याग अनिवार्य है। प्रणीत का अर्थ है—स्निग्ध एव पौष्टिक (बल-वर्द्धक) पान-भोजन। यथा—खजूर, इक्षु आदि का रसादि पेय पदार्थ और जिसमे से घी झर रहा हो, ऐसे भोजन का त्याग करना। रसो मे—खट्टा

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र २७०-२७१।
(ख) पिण्डनिर्युक्ति।

२ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र २७१।
(ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३ पृ० १९९।

मीठा, तीखा, चरपरा, नमकीन, कसैला आदि रसयुक्त पदार्थ आते हैं। इसका फलितार्थ यह है कि सागारधर्मामृत मे विहित चार प्रकार की विकृतियो का त्याग तथा शाक, व्यजन, तली हुई चीजो, नमक मिर्च आदि मसालो का त्याग करना रस परित्याग है। वे विकृति के चार प्रकार ये हैं—(१) गोरस-विकृति—दूध, दही, घी, नवनीत आदि, (२) इक्षुरस-विकृत—गुड, चीनी, मिठाई आदि, (३) फलविकृति—अगूर, आम, मौसबी, अनार, खजूर, इक्षु आदि फलो के रस, और (४) धान्य-रस-विकृति—तेल, माड, पूडे, हरे साग, था सस्कारित साग, तली हुई चीजें, व्यजन आदि।

अत आज या अमुक दिनो तक मे प्रणीत और रस युक्त (स्वादिष्ट या स्वादवर्द्धक) पदार्थ नही खाऊँगा, इस प्रकार का प्रत्याख्यान करना रसपरित्याग है। इसमे आयम्बिल एव निव्विगई तप आ जाता है। इस तप का मुख्य प्रयोजन स्वाद-विजय है। इस तप से इन्द्रियनिग्रह कामोत्तेजना, की प्रशान्ति, सतोष-भावना एव स्वादिष्ट पदार्थो से विरक्ति होती है, फलत आत्मा अन्तर्मुखी होती है।[1]

(५) कायक्लेशतप—

मूल—ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जति, कायकिलेस तमाहियं ॥२७॥

पद्यानु०—वीरासन आदिक आसन जो, हैं मानव के हित सुखदायक।
करे उग्र आसन-धारण जो, कायक्लेश तप के ज्ञापक ॥२७॥

अन्वयार्थ—जीवस्स—जीव के लिए, सुहावहा—सुखदायक, उ—किन्तु, उग्गा—उग्र=उत्कट, वीरासणाईया—वीरासन आदि आसन और उपलक्षण से लोच आदि] [तथा]ठाणा—स्थान (काया की स्थिति के प्रकार) जहा—जिस प्रकार धरिज्जति—धारण किए जाते है, त—उन्हे (धारण करने को) कायकिलेस—कायक्लेश, आहियं—कहा गया है ॥२७॥

---

१ (क) प्रणीत अतिबृहकम्।—उत्तरा (लक्ष्मीविजय टीका)।
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भाग २, पत्र २७१।
(ग) उत्तरा. (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) भाग ३, पृष्ठ ११७
(घ) सन्तोषो भावित सम्यग्, ब्रह्मचर्य-प्रपालितम्।
दर्शित स्वस्य वैराग्य कुर्वाणेन रसोज्झनम्।
—मूलाराधना (अमितगति) ३।२१७

विशेषार्थ—आजकल कायक्लेश तप का अर्थ भ्रान्ति से काया को कष्ट देना प्रचलित हो गया है। परन्तु कायक्लेश का अर्थ विभिन्न आचार्यों की दृष्टि से और ही है—(१) शरीर-सुख की अभिलाषा का त्याग करना कायक्लेश है। (२) प्रस्तुत गाथा मे उक्त कायक्लेश का फलितार्थ यह है कि काया को अप्रमत्त रखने, शरीर को साधने, कसने, अनुशासित एवं सयत रखने के लिए स्वेच्छा से बिना ग्लानि के वीरासनादि आसनो, कायोत्सर्ग (स्थान) तथा लोच, आतापना आदि का अभ्यास करना।[1]

कायक्लेश के बारह प्रकार—औपपातिकसूत्र मे कायक्लेश के १२ प्रकार बताये गये हैं—(१) स्थान—कायोत्सर्ग, (२) उकडू-आसन (३) प्रतिमा (या गोदुह) आसन, (४) वीरासन (५) निषद्या (६) दण्डायतासन, (७) लगु डश-यनासन, (८) आतापना, (९) वस्त्र-त्याग, (१०) अकण्डूयन (अग न खुजलाना), (११) अनिष्ठीवन (थूकना नही) और, (१२) सर्वगात्र-परिकर्म-विभूषावर्जन।[2]

कायक्लेश की सिद्धि के छह उपाय और लाभ—अनगारधर्मामृत मे ६ उपायो का निर्देश किया गया है—(१) अयन (सूर्य की गति के अनुसार गमन करना), (२)शयन (लगड उत्तान, अवाक्, एकपार्श्व, अभ्रावकाश आदि नाना प्रकार से शयन करना), (३) आसन (समपर्यंक, असम-पर्यंक, मकरमुख, गोशय्या, वीरासन, दण्डासन आदि आसन करना), (४) स्थान —(साधार, सविचार, ससन्निरोध, विसृष्टाग, समपाद, प्रसारितबाहू आदि अनेक प्रकार के कायोत्सर्ग करना), (५) अवग्रह (थूकना, खासना, छीक, जभाई, खाज, काटा चुभना, पत्थर लगना आदि बाधाओ को जीतना, खिन्न न होना, केशलोच करना, अस्नान, अदन्तधावन आदि अनेक प्रकार के अव-ग्रह) और (६) योग (आतापनयोग, वृक्ष-मूल-योग, शातयोग आदि धारण करना)। कायक्लेश से देहदु ख, रोग-पीडा, परीषह, उपसर्ग आदि कष्ट सहने की शक्ति आ जाती है, सुखविषयक आसक्ति कम हो जाती है, शरीर ध्यान के योग्य, अनुशासित, अन्तरगबलवृद्धियुक्त बन जाता है। सम्यग्दर्शन, युक्त इस तप से कर्मो की अनन्तनिर्जरा होती है, मुमुक्षुओ और प्रशान्त

---

१ (क) शरीर सुखाभिलाष-त्यजनं कायक्लेश ।—भगवती आराधना, (विजयो) ८६/३२/१८

२ औपपातिक सूत्र सू १९

तपस्वियो को ध्यान की सिद्धि के लिए इसका दैनिक अभ्यास करना आवश्यक है।[1]

६. प्रतिसलीनता विविक्त शयनासन—

मूल— एगतमणावाए, इत्थी - पसु - विवज्जिए।
सयणासण-सेवणया, विवित्त-सयणासणं ॥२८॥

पद्यानु०—एकान्त तथा आपात-रहित, स्त्री-पशु-पण्डक से शून्य स्थल।
शयनासन का सेवन करना, निर्दोषवास है तप साधन ॥२८॥

अन्वयार्थ—एगत—एकान्त मे, अणावाए—अनापात(लोगों के आवागमन से रहित) स्थान मे, इत्थी-पसु-विवज्जिए—स्त्री और पशु आदि से विवर्जित स्थान मे, सयणासण-सेवणया—शयन और आसन का सेवन करने से, विवित्त-सयणासण—विविक्त शयनासन (तप होता है।) ॥२८॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे विविक्तशयनासन का स्वरूप बताया है। विविक्तशयनासन तप बाह्य तप का छठा भेद है। तीन बातो से यह तप होता है। सयमशील मुनि इस प्रकार के स्थान (उपाश्रय या मकान) मे रहे और सोये—(१) जो एकान्त हो—जनता से आकीर्ण न हो, (२) जिस स्थान पर स्त्री आदि की दृष्टि न पड़े—लोगो का आवागमन न हो, तथा (३) जो स्थान स्त्री-पशु-नपुसक के ससर्ग से रहित हो।

विविक्तशयनासन और प्रतिसलीनता—यद्यपि गा ८ मे छठे बाह्यतप के लिए 'सलीनता' शब्द प्रयुक्त है, भगवतीसूत्र और औपपातिक सूत्र मे इस तप का 'प्रतिसलीनता' नाम मिलता है। प्रतिसलीनता का ही एक प्रकार विविक्तचर्या या विविक्तशयनासन (या विविक्तशय्यासन) है। यही कारण है कि औपपातिक सूत्र मे इसको चार प्रकार का बताया गया है—(१) इन्द्रिय-प्रतिसलीनता (मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयो मे राग-द्वेष न करना, इन्द्रियो के अशुभ व्यापार का निरोध करना), (२) कषाय-प्रतिसलीनता (क्रोधादि कषायों का उदय—उत्तेजन न होने देना), (३) योग-प्रतिसलीनता—(मन-वचन-काया के अशुभ व्यापार से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति करना) एव (४) विविक्त शयनासन-सेवनता—जन्तुओ को पीड़ा,

---

१ (क) अनगारधर्मामृत ७/३२/६८६ (ख) चारित्रसार, १३६/४
(ग) ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः।
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रमावग्रहैः ॥
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना सतापन यत्तनोः।
कायक्लेशमिद तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यैभजेत्।
—भगवती आराधना २२२/२२७

स्त्री-पशु-नपुसक के निवास, एव जनता के आवागमन से रहित एकान्त (शून्यगृह, गिरिगुफा, वृक्षमूल, विश्रामगृह, देवकुल, कूटगृह या अकृत्रिम शिलागृह आदि) स्थान मे निवास एव शयन करना।[1]

विविक्तशय्यासन तप से लाभ—विविक्तशयनासन से शब्दादि विषयो द्वारा चित्त-विक्षेप, व्यग्रकारक शब्द, कलह, सक्लेश, मन की व्यग्रता, असयमीजनो की संगति, व्यामोह (मेरे-तेरे का भाव) ध्यान और स्वाध्याय मे विघात, इन सब बातो से सहज ही बचाव हो जाता है। एकान्तवास से निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय एव ध्यान की सिद्धि, सुखपूर्वक आत्मस्वरूप मे लीनता, मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्तियो का निरोध होता है। ऐसा साधु आत्मचिन्तन, आत्मप्रयोजन मे तत्पर रहता है। एक दृष्टि से देखें तो इन्द्रिय-कषाय-योग-प्रतिसलीनता विविक्तशय्यासन तप के ही सुपरिणाम हैं।[2]

आभ्यन्तर तप ६ भेद

मूल—एसो बहिरंगतवो, समासेण वियाहिओ।
अब्भिंतरं तव एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥२९॥
पायच्छित्त विणओ, वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउसग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥३०॥

पद्यानु०—सक्षिप्त रूप से बतलाया, षड्विध बहिरग तपस्या को।
कहता अनुक्रम से अब सुन लो, सुखदायक अन्तर के तप को ॥२९॥
प्रायश्चित्त विनय वैयावच्च, चौथा है स्वाध्याय खरा।
ध्यान और व्युत्सर्ग नाम, आभ्यन्तर तप भव-अन्तकरा ॥३०॥

अन्वयार्थ—समासेण—सक्षेप मे, एसो—यह, बहिरग तवो—बाह्य तप (का), वियाहिओ—वर्णन किया गया है। एत्तो—इसके पश्चात् (अब), अब्भितरं तव—आभ्यन्तर तप का, अणुपुव्वसो—अनुक्रम से, वुच्छामि—प्रतिपादन करूंगा ॥२९॥

पायच्छित्त—प्रायश्चित्त, विणओ—विनय, वेयावच्च—वैयावृत्य, तहेव—

---

१ से किं त पडिसलीणया ? पडिसलीणया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा-इदिय पडिसलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसलीणया, विवित्तसयणासणसेवणया।
—औपपातिक सू० १९

२ भगवती आराधना वि ६/३२/१९

तहेव, सज्झाओ—स्वाध्याय, झाण—ध्यान, य – और, विउस्सग्गो—व्युत्सर्ग, एसो—यह (छह प्रकार का) अब्भितरो तवो—आभ्यन्तर तप हैं ॥३०॥

विशेषार्थ—२९वी गाथा मे बाह्य तप का उपसहार तथा आभ्यन्तर तप का उपक्रम करने की सूचना दी गई है। ३०वी गाथा मे अन्तरग तप के ६ भेदो का नामोल्लेख किया गया है।

आभ्यन्तर तप का स्वरूप और महत्त्व—जो तप प्राय अन्त करण-व्यापाररूप हो, अथवा जो तप सामान्यजनो मे अप्रसिद्ध है, केवल कुशलजन द्वारा ही ग्राह्य है, वह आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तर तप का प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तःकरण पर पडता है। वह मुक्ति का अन्तरग कारण है। यह कर्मशत्रुओ के विदारण मे वज्र के समान प्रभावशाली है। मोक्षप्राप्ति के साधनो मे आभ्यन्तर तप का असाधारण स्थान है। ध्यान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग से वास्तव मे कर्मों का क्षय शीघ्र होता है, अत मुमुक्षु के लिए ये विशेषरूप से उपादेय हैं।[1]

(१) प्रायश्चित्त स्वरूप और भेद—

मूल—आलोयणारिहाईय, पायच्छित्त तु दसविह।
जं भिक्खू वहई सम्म, पायच्छित्त तमाहियं ॥३१॥

पद्यानु०—आलोचनार्ह आदिक दशविध, व्रतशोधन को तप बतलाये।
सम्यक् वहन करे जिसका मुनि, प्रायश्चित्त तप वह गाये ॥३१॥

अन्वयार्थ—आलोयणारिहाईय—आलोचनार्ह आदि, दसविह—दस प्रकार का, पायच्छित्त—प्रायश्चित्त तप है। भिक्खू—भिक्षु, ज—जिसका, सम्म—सम्यक् प्रकार से, वहई—वहन—सेवन करता है, त—उसे, पायच्छित्त—प्रायश्चित्त तप, आहिय—कहा है।

विशेषार्थ—प्रायश्चित्त के विविध अर्थ—(१) आत्मसाधना की दुर्गम यात्रा मे सावधान रहते हुए भी कुछ दोष लग जाते हैं, उनका परिमार्जन करके आत्मा को पुन निर्दोष-विशुद्ध बना लेना प्रायश्चित्त तप है। (२) आलोचनार्ह आदि दशविध प्रायश्चित्त अपने कृत दोष की न्यूनाधिक, प्रगाढ अगाढ, साधारण-असाधारण मात्रा के अनुरूप प्रायश्चित्त ग्रहण करना प्रायश्चित्त है। (३) प्रमादजन्य दोषो का परिहार करना प्रायश्चित्त है। (४)

---

१ 'प्रायेणान्त करण व्यापाररूपमेवाभ्यन्तर तप।
आभ्यन्तरमप्रथित, कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम् ॥'—बृहद्वृत्ति पत्र ६००

स्त्री-पशु-नपुसक के निवास, एव जनता के आवागमन से रहित एकान्त (शून्यगृह, गिरिगुफा, वृक्षमूल, विश्रामगृह, देवकुल, कूटगृह या अकृत्रिम शिलागृह आदि) स्थान मे निवास एव शयन करना ।[1]

विविक्तशय्यासन तप से लाभ—विविक्तशयनासन से शब्दादि विषयो द्वारा चित्त-विक्षेप, व्यग्रकारक शब्द, कलह, सक्लेश, मन की व्यग्रता, असयमीजनो की संगति, व्यामोह (मेरे-तेरे का भाव) ध्यान और स्वाध्याय मे विघात, इन सब बातो से सहज ही बचाव हो जाता है। एकान्तवास से निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय एव ध्यान की सिद्धि, सुखपूर्वक आत्मस्वरूप मे लीनता, मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्तियो का निरोध होता है। ऐसा साधु आत्मचिन्तन, आत्मप्रयोजन मे तत्पर रहता है। एक दृष्टि से देखें तो इन्द्रिय-कषाय-योग-प्रतिसलीनता विविक्तशय्यासन तप के ही सुपरिणाम हैं।[2]

आभ्यन्तर तप ६ भेद

मूल—एसो बहिरगतवो, समासेण वियाहिओ।
अब्भितरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥२९॥
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउसग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥३०॥

पद्यानु०—सक्षिप्त रूप से बतलाया, षड्विध बहिरग तपस्या को।
कहता अनुक्रम से अब सुन लो, सुखदायक अन्तर के तप को ॥२९॥
प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य, चौथा है स्वाध्याय खरा।
ध्यान और व्युत्सर्ग नाम, आभ्यन्तर तप भव-अन्तकरा ॥३०॥

अन्वयार्थ—समासेण—सक्षेप मे, एसो—यह, बहिरग तवो—बाह्य तप (का), वियाहिओ—वर्णन किया गया है। एत्तो—इसके पश्चात् (अब), अब्भितरं तव—आभ्यन्तर तप का, अणुपुव्वसो—अनुक्रम से, वुच्छामि—प्रतिपादन करूंगा ॥२९॥

पायच्छित्त—प्रायश्चित्त, विणओ—विनय, वेयावच्च—वैयावृत्य, तहेव—

---

१ से किं त पडिसलीणया ? पडिसलीणया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा-इ दिय पडिसलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसलीणया, विवित्तसयणासणसेवणया।
—औपपातिक सू० १९

२ भगवती आराधना वि ६/३२/१९

पद्यानु०— वृद्धो के हित मे उठना, और अजलि कर आसन का देना ।
गुरु-भक्ति भाव या शुश्रूषा, है विनय यही समझ लेना ।।३२।।

अन्वयार्थ—अब्भुट्ठाणं—अभ्युत्थान (बड़ो के आने पर खड़ा होना), अंजलि-करण—हाथ जोड़ना, तहेव—इसी प्रकार, आसण-दायणं—आसन प्रदान करना, गुरु-भत्तिभाव—गुरु के प्रति भक्तिभाव करना, सुस्सूसा—(उनकी) सेवा-शुश्रूषा करना, एस—यह, विणओ—विनय तप, वियाहिओ—कहा गया है ।।३२।।

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे विनय के भेदपूर्वक उसका लक्षण दिया गया है । इसका स्पष्टार्थ है—(१) गुरु, स्थविर, आचार्य या रत्नाधिक आदि बड़ो को आते देखकर सत्कार के लिए उनके सम्मुख जाना, उठकर खड़े होना, (२) उनके आगे हाथ जोड़ना, (३) उनको आसन देना, (४) गुरु की अनन्य भक्ति करना, (५) अन्त करण से उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, अथवा उनकी आज्ञा को नम्रतापूर्वक सुनकर श्रद्धापूर्वक पालन करना । इन पाँच भेदो से युक्त विनय ही विनयतप का हार्द है ।

विनय के भेद—प्रस्तुत गाथा मे विनय के एक भेद—उपचार विनय पर ही प्रकाश डाला गया है, तत्त्वार्थ सूत्र मे विनय के ज्ञानविनय, दर्शन-विनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये चार भेद, तथा औप-पातिक सूत्र मे प्रथम तीन के अतिरिक्त मनोविनय, वचनविनय, काय-विनय और लोकोपचार विनय, यो सात भेद बताये गये हैं ।[1]

विनय के अर्थ और लाभ—विनय के निम्नोक्त ५ अर्थ प्रसिद्ध हैं—(१) रत्नत्रयधारी पुरुषो के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, (२) पूज्य-पुरुषो के प्रति आदर करना, (३) मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि के प्रति तथा उनके साधक गुरु आदि के प्रति योग्यरूप से आदर-सत्कार आदि करना, (४) कषायो और इन्द्रियो को नमाना, और (५) अशुभ क्रिया रूप ज्ञानादि के अतिचारो का विनय न करना—उनको दूर करना ।[2]

---

१ (ख) औपपातिक सूत्र २० ।

२ (क) रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनय । —धवला १३/५

(ख) पूज्येष्वादरो विनय । —सर्वार्थ० ९/२०

(ग) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार-आदर, कषाय-निवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता । —राजवार्तिक ६/२४

(घ) ज्ञान-दर्शन-चारित्र तपसामतीचारा अशुभक्रिया, तासामपोहन विनय ।
—भगवती आराधना वि ३००/५११

किसी अपराध के किये जाने पर अपने उस अपराध के निराकरण के लिए संवेग और निर्वेदभाव से मुनि जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त नामक तप कर्म है। (५) प्राय कहते हैं पाप को, उसका चित्त=शोधन प्रायश्चित्त है। (६) प्राय=प्रचुररूप से जिस अनुष्ठान से निर्विकार चित्त अर्थात्—बोध हो जाए।[1]

प्रायश्चित्त के दस भेद—(१) आलोचनार्ह—जो प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट कर देने के योग्य (अर्ह) हो, (२) प्रतिक्रमणार्ह—कृत पापों से निवृत्त होने के लिए जो प्रतिक्रमण (अपने पापों की निन्दना-गर्हणा, मिच्छामि दुक्कड देना आदि) के योग्य हो, (३) तदुभयार्ह—जो प्रायश्चित्त आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से हो सकने योग्य हो। (४) विवेकार्ह—परस्पर मिले हुए अशुद्ध आहार-पानी या उपकरणादि को छाँटकर पृथक् करने के या जिस वस्तु के सम्पर्क से अशुभ परिणाम होते हो, उससे दूर रहने की दृढ प्रतिज्ञा के योग्य हो। (५) व्युत्सर्गार्ह—जो प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग के योग्य हो, (६) तपोऽर्ह—जिस अपराध के दोष से निवृत्ति उपवासादि तप करने योग्य हो, (७) छेदार्ह—जिस अपराध के दोष से शुद्धि दीक्षापर्याय का छेद करने के योग्य हो। (८) मूलार्ह—जो प्रायश्चित्त फिर से मूल महाव्रतों का आरोपण कर, नई दीक्षा देने योग्य हो। (९) अनवस्थाप्यार्ह—दीर्घ तप के साथ नई दीक्षा देने योग्य प्रायश्चित्त। (१०) पाराञ्चिकार्ह—भयंकर पापदोष होने पर काफी समय तक तिरस्कृत करने के बाद नई दीक्षा देने योग्य सबसे बड़ा प्रायश्चित्त।[2]

(२) विनयतप का लक्षण—

मूल— अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासण-दायणं।
गुरु-भत्ति-भाव-सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥३२॥

---

१ (क) प्रमाद-दोष-परिहार

(ख) कषायवराहेण

त ।।ध[illegible]

(ग) प्राय पाप

२ (क) स्थान

(ख) [illegible]

पद्यानु०— वृद्धो के हित मे उठना, और अजलि कर आसन का देना ।
गुरु-भक्ति भाव या शुश्रूषा, है विनय यही समझ लेना ॥३२॥

अन्वयार्थ—अब्भुट्ठाणं—अभ्युत्थान (बड़ो के आने पर खड़ा होना), अंजलि-करण—हाथ जोड़ना, तहेव—इसी प्रकार, आसण-दायणं—आसन प्रदान करना, गुरु-भत्तिभाव—गुरु के प्रति भक्तिभाव करना, सुस्सूसा—(उनकी) सेवा-शुश्रूषा करना, एस—यह, विणओ—विनय तप, वियाहिओ—कहा गया है ॥३२॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे विनय के भेदपूर्वक उसका लक्षण दिया गया है । इसका स्पष्टार्थ है—(१) गुरु, स्थविर, आचार्य या रत्नाधिक आदि बड़ो को आते देखकर सत्कार के लिए उनके सम्मुख जाना, उठकर खड़े होना, (२) उनके आगे हाथ जोड़ना, (३) उनको आसन देना, (४) गुरु की अनन्य भक्ति करना, (५) अन्तःकरण से उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, अथवा उनकी आज्ञा को नम्रतापूर्वक सुनकर श्रद्धापूर्वक पालन करना । इन पाँच भेदो से युक्त विनय ही विनयतप का हार्द है ।

विनय के भेद—प्रस्तुत गाथा मे विनय के एक भेद—उपचार विनय पर ही प्रकाश डाला गया है, तत्त्वार्थ सूत्र मे विनय के ज्ञानविनय, दर्शन-विनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये चार भेद, तथा औपपातिक सूत्र मे प्रथम तीन के अतिरिक्त मनोविनय, वचनविनय, काय-विनय और लोकोपचार विनय, यों सात भेद बताये गये हैं ।[1]

विनय के अर्थ और लाभ—विनय के निम्नोक्त ५ अर्थ प्रसिद्ध हैं—(१) रत्नत्रयधारी पुरुषो के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, (२) पूज्य-पुरुषो के प्रति आदर करना, (३) मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि के प्रति तथा उनके साधक गुरु आदि के प्रति योग्यरूप से आदर-सत्कार आदि करना, (४) कषायो और इन्द्रियो को नमाना, और (५) अशुभ क्रिया रूप ज्ञानादि के अतिचारो का विनय न करना—उनको दूर करना ।[2]

---

१ (ख) औपपातिक सूत्र २० ।

२ (क) रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनय । —धवला १३/५

(ख) पूज्येष्वादरो विनय । —सर्वार्थ० ९/२०

(ग) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार-आदर०, कषाय-निवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता । —राजवार्तिक ६/२४

(घ) ज्ञान-दर्शन-चारित्र तपसामतीचारा अशुभक्रिया , तासामपोहनं विनय । —भगवती आराधना वि ३००/५११

किसी अपराध के किये जाने पर अपने उस अपराध के निराकरण के लिए सवेग और निर्वेदभाव से मुनि जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त नामक तप कर्म है। (५) प्राय कहते हैं पाप को, उसका चित्त=शोधन प्रायश्चित्त है। (६) प्राय =प्रचुररूप से जिस अनुष्ठान से निर्विकार चित्त अर्थात्—बोध हो जाए।[1]

प्रायश्चित्त के दस भेद—(१) आलोचनार्ह—जो प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष अपने दोषो को प्रकट कर देने के योग्य (अर्ह) हो, (२) प्रतिक्रमणार्ह—कृत पापो से निवृत्त होने के लिए जो प्रतिक्रमण (अपने पापो की निन्दना-गर्हणा, मिच्छामि दुक्कड देना आदि) के योग्य हो, (३) तदुभयार्ह—जो प्रायश्चित्त आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो से हो सकने योग्य हो। (४) विवेकार्ह—परस्पर मिले हुए अशुद्ध आहार-पानी या उपकरणादि को छाँटकर पृथक् करने के या जिस वस्तु के सम्पर्क से अशुभ परिणाम होते हो, उससे दूर रहने की दृढ प्रतिज्ञा के योग्य हो। (५) व्युत्सर्गार्ह—जो प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग के योग्य हो, (६) तपोऽर्ह—जिस अपराध के दोष से निवृत्ति उपवासादि तप करने योग्य हो, (७) छेदार्ह—जिस अपराध के दोष से शुद्धि दीक्षापर्याय का छेद करने के योग्य हो। (८) मूलार्ह—जो प्रायश्चित्त फिर से मूल महाव्रतो का आरोपण कर, नई दीक्षा देने योग्य हो। (९) अनवस्थापनार्ह—दीर्घ तप के साथ नई दीक्षा देने योग्य प्रायश्चित्त। (१०) पाराञ्चिकार्ह—भयकर पापदोष होने पर काफी समय तक तिरस्कृत करने के बाद नई दीक्षा देने योग्य सबसे बडा प्रायश्चित्त।[2]

(२) विनयतप का लक्षण—

मूल— अब्भुट्ठाण अञ्जलिकरण तहेवासण-दायण।
गुरु-भत्ति-भाव-सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥३२॥

---

१ (क) प्रमाद-दोष-परिहार प्रायश्चित्तम्।—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ९/२०
(ख) कयावराहेण ससवेय-निव्वेएण,सगावराह-णिरायरकट्ठ जमणुट्ठाण कीरदि तप्पायच्छित्त णाम तवोकम्म।—धवला १३/५/४/२६
(ग) प्राय पाप विजानीयात् चित्त तस्य विशोधनम्।'—राजवार्तिक ९/२२/१

२ (क) स्थानाग सूत्र स्थान १० सूत्र ७३३।
(ख) औपपातिक सूत्र २०।

पद्यानु०— वृद्धो के हित मे उठना, और अजलि कर आसन का देना।
गुरु-भक्ति भाव या शुश्रूषा, है विनय यही समझ लेना ॥३२॥

अन्वयार्थ—अब्भुट्ठाणं—अभ्युत्थान (बडो के आने पर खडा होना), अजलि-करण—हाथ जोडना, तहेव—इसी प्रकार, आसण-दायणं—आसन प्रदान करना, गुरु-भत्तिभाव—गुरु के प्रति भक्तिभाव करना, सुस्सूसा—(उनकी) सेवा-शुश्रूषा करना, एस—यह, विणओ—विनय तप, वियाहिओ—कहा गया है ॥३२॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे विनय के भेदपूर्वक उसका लक्षण दिया गया है। इसका स्पष्टार्थ है—(१) गुरु, स्थविर, आचार्य या रत्नाधिक आदि बडो को आते देखकर सत्कार के लिए उनके सम्मुख जाना, उठकर खडे होना, (२) उनके आगे हाथ जोडना, (३) उनको आसन देना, (४) गुरु की अनन्य भक्ति करना, (५) अन्त करण से उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, अथवा उनकी आज्ञा को नम्रतापूर्वक सुनकर श्रद्धापूर्वक पालन करना। इन पाँच भेदो से युक्त विनय ही विनयतप का हार्द है।

विनय के भेद—प्रस्तुत गाथा मे विनय के एक भेद—उपचार विनय पर ही प्रकाश डाला गया है, तत्त्वार्थ सूत्र मे विनय के ज्ञानविनय, दर्शन-विनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये चार भेद, तथा औपपातिक सूत्र मे प्रथम तीन के अतिरिक्त मनोविनय, वचनविनय, काय-विनय और लोकोपचार विनय, यो सात भेद बताये गये हैं।[1]

विनय के अर्थ और लाभ—विनय के निम्नोक्त ५ अर्थ प्रसिद्ध हैं—(१) रत्नत्रयधारी पुरुषो के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, (२) पूज्य-पुरुषो के प्रति आदर करना, (३) मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि के प्रति तथा उनके साधक गुरु आदि के प्रति योग्यरूप से आदर-सत्कार आदि करना, (४) कषायो और इन्द्रियो को नमाना, और (५) अशुभ क्रिया रूप ज्ञानादि के अतिचारो का विनय न करना—उनको दूर करना।[2]

---

१ (ख) औपपातिक सूत्र २०।

२ (क) रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —धवला १३/५

(ख) पूज्येष्वादरो विनयः। —सर्वार्थ० ९/२०

(ग) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार-आदर, कषाय-निवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। —राजवार्तिक ६/२४

(घ) ज्ञान-दर्शन-चारित्र तपसामतीचारा अशुभक्रिया, तासामपोहन विनयः।
—भगवती आराधना वि ३००/५११

किसी अपराध के किये जाने पर अपने उस अपराध के निराकरण के लिए संवेग और निर्वेदभाव से मुनि जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त नामक तप कर्म है। (५) प्राय कहते हैं पाप को, उसका चित्त=शोधन प्रायश्चित्त है। (६) प्राय =प्रचुररूप से जिस अनुष्ठान से निर्विकार चित्त अर्थात्—बोध हो जाए।[1]

प्रायश्चित्त के दस भेद—(१) आलोचनार्ह—जो प्रायश्चित्त गुरु के समक्ष अपने दोषो को प्रकट कर देने के योग्य (अर्ह) हो, (२) प्रतिक्रमणार्ह—कृत पापो से निवृत्त होने के लिए जो प्रतिक्रमण (अपने पापो की निन्दना-गर्हणा, मिच्छामि दुक्कड देना आदि) के योग्य हो, (३) तदुभयार्ह—जो प्रायश्चित्त आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो से हो सकने योग्य हो। (४) विवेकार्ह—परस्पर मिले हुए अशुद्ध आहार-पानी या उपकरणादि को छाँटकर पृथक् करने के या जिस वस्तु के सम्पर्क से अशुभ परिणाम होते हो, उससे दूर रहने की दृढ प्रतिज्ञा के योग्य हो। (५) व्युत्सर्गार्ह—जो प्रायश्चित्त व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग के योग्य हो, (६) तपोऽर्ह—जिस अपराध के दोष से निवृत्ति उपवासादि तप करने योग्य हो, (७) छेदार्ह—जिस अपराध के दोष से शुद्धि दीक्षापर्याय का छेद करने के योग्य हो। (८) मूलार्ह—जो प्रायश्चित्त फिर से मूल महाव्रतो का आरोपण कर, नई दीक्षा देने योग्य हो। (९) अनवस्थापनार्ह—दीर्घ तप के साथ नई दीक्षा देने योग्य प्रायश्चित्त। (१०) पाराञ्चिकार्ह—भयंकर पापदोष होने पर काफी समय तक तिरस्कृत करने के बाद नई दीक्षा देने योग्य सबसे बडा प्रायश्चित्त।[2]

(२) विनयतप का लक्षण—

मूल— अब्भुट्ठाणं अञ्जलिकरण तहेवासण-दायण।
गुरु-भत्ति-भाव-सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥३२॥

---

१ (क) प्रमाद-दोष-परिहार प्रायश्चित्तम्।—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ९/२०
(ख) कयावराहेण ससवेय-निव्वेएण,सगावराह-णिरायरकट्ठ जमणुट्ठाण कीरदि तप्पायच्छित्त णाम तवोकम्म।—धवला १३/५/४/२६
(ग) प्राय पाप विजानीयात् चित्त तस्य विशोधनम्।'—राजवार्तिक ९/२२/१

२ (क) स्थानाग सूत्र स्थान १० सूत्र ७३३।
(ख) औपपातिक सूत्र २०।

पद्यानु०—वाचना पृच्छा वा अनुवर्त्तन, अनुप्रेक्षा चौथा भेद कहा।
है धर्मकथा प्रवचन-दीपक, स्वाध्याय पचविध सूत्र कहा ॥३४॥

अन्वयार्थ—वायणा—वाचना, पुच्छणा— पूछना—पृच्छा करना, चेव—और, परियट्टणा—परिवर्त्तना, तहेव—तथा, अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा (एवं) धम्मकहा—धर्मकथा (इस प्रकार), सज्झाओ—स्वाध्याय तप, पचहा—पांच प्रकार का, भवे—होता है।

विशेषार्थ—स्वाध्याय तप के पांच भेद हैं—१ वाचना—शास्त्र पढना या गुरु आदि से शास्त्र-वाचना लेना २ पृच्छा—पढे हुए पाठ मे किसी प्रकार की शका उत्पन्न होने पर पूछना, ३ परिवर्त्तना—पढा हुआ पाठ विस्मृत न हो जाए, इसके लिए उसकी बार-बार आवृत्ति करना, ४ अनुप्रेक्षा—पढे हुए पाठ के अर्थो पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करना, ५ धर्मकथा- स्वकृतकर्मो की निर्जरा के लिए तथा ससारी भव्यजीवो को धर्मलाभ प्राप्त कराने हेतु धर्म का उपदेश देना।

इस तप से होने वाले विशेष लाभ का वर्णन २९वें अध्ययन मे किया जा चुका है।

स्वाध्याय के अर्थ—१ तत्त्वज्ञान का अध्ययन, अध्यापन और स्मरण करना स्वाध्याय है, २ अपना—अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्याय =अध्ययन स्वाध्याय है, ३ आलस्य त्यागकर ज्ञान प्रभावना करना स्वाध्याय है।[1]

(५) ध्यान हेय और उपादेय

मूल—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म-सुक्काइ झाणाइं, झाणं त तु बुहा वए ॥३५॥

पद्यानु०—आर्त्त रौद्र को तज करके, स्थिर मन से जो सद्ध्यान करे।
धर्म-शुक्ल मे स्थिर होना, यह ध्यान तपस्या जिन उचरे ॥३५॥

अन्वयार्थ—सुसमाहिए—उत्तम समाधियुक्त मुनि, अट्ट-रुद्दाणि—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान (दोनो) को, वज्जित्ता—छोडकर, धम्म-सुक्काइ झाणाइ—धर्मध्यान

---

१ [क] स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरण च। —चारित्रसार ४४/३
[ख] स्वस्मै हितोऽध्याय स्वाध्याय —चारित्रसार १५२/५
[ग] ज्ञानभावनाऽलस्यत्याग स्वाध्याय। —सर्वार्थसिद्धि ९/२०

विनय के आचरण से अहंकार का नाश, गुणो और ज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मा की शुद्धि होती है।

(३) वैयावृत्यतप का स्वरूप और प्रकार—

मूल—आयरियमाईए वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवण जहाथाम-वेयावच्च तमाहिय ॥३३॥

पद्यानु०—आचार्य आदि दशविध जन की, सुसमुचित सेवा मन धरना।
यथाशक्ति सेवन करना, वैयावृत्य है तप करना ॥३३॥

अन्वयार्थ—आयरियमाईए—आचार्य आदि, दसविहे—दस प्रकार के, वेयावच्चम्मि—वैयावृत्य के योग्य पात्रो की, जहाथाम—यथाशक्ति, आसेवण—सेवा-शुश्रूषा करना है, त—उसे, वेयावच्च—वैयावृत्य तप, आहिय—कहा है ॥३३॥

विशेषार्थ—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण और सघ, ये आचार्यादि दश वैयावृत्य के उत्तम पात्र कहलाते हैं। इनकी अन्नपानादि से, शरीरचेष्टा से, अन्य द्रव्य द्वारा, उपसर्ग व्याधि परीषह आदि आ पडने पर उपाश्रय, आहारपानी, औषध आदि द्वारा परिचर्या करना, सयमी गुणीजनो पर दु ख आ पडने पर निरवद्य विधि से दु ख दूर करना, अथवा उपसर्ग पीडित या वृद्धावस्था से क्षीणकाय साधुओ का निरपेक्ष होकर उपकार करना वैयावृत्य है।[1]

वैयावृत्य के अठारह गुण—भगवती आराधना मे वैयावृत्य के अठारह गुण बताये हैं—१ गुण-ग्रहण-परिणाम, २ श्रद्धा, ३ भक्ति, ४ वात्सल्य, ५ पात्रता की प्राप्ति, ६ विच्छिन्न सम्यक्त्वादि का पुन सन्धान, ७ तप, ८ पूजा, ९ तीर्थ-अव्युच्छित्ति, १० समाधि, ११ जिनाज्ञा, १२ सयम, १३ सहाय, १४ दान, १५ निर्विचिकित्सा, १६ प्रवचन-प्रभावना, १७ पुण्य-सचय और १८ कर्तव्य-निर्वाह।

वैयावृत्य से तीर्थंकर पद-प्राप्ति होती है।[2]

(४) स्वाध्याय तप—

मूल—वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पचहा भवे ॥३४॥

---

१ (क) गुणवद्दु खोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरण वैयावृत्यम्।
—सर्वार्थसिद्धि ९/२४

(ख) जो उवयरदि जदीण उवसग्गजराइ खीणकायाण।
पूयादिसु निरवेक्ख वेज्जावच्च तवो तस्स। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४५९

२ वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्म निबधइ।' उत्तरा अ २९/४४ सू०

पद्यानु०—वाचना पृच्छा वा अनुवर्त्तन, अनुप्रेक्षा चौथा भेद कहा।
है धर्मकथा प्रवचन-दीपक, स्वाध्याय पचविध सूत्र कहा ।।३४।।

अन्वयार्थ—वायणा—वाचना, पुच्छणा— पूछना—पृच्छा करना, चेव—और, परियट्टणा—परिवर्त्तना, तहेव—तथा, अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा (एवं) धम्मकहा—धर्मकथा (इस प्रकार), सज्झाओ—स्वाध्याय तप, पचहा—पाँच प्रकार का, भवे—होता है।

विशेषार्थ—स्वाध्याय तप के पाँच भेद हैं—१ वाचना—शास्त्र पढना या गुरु आदि से शास्त्र-वाचना लेना २ पृच्छा—पढे हुए पाठ मे किसी प्रकार की शका उत्पन्न होने पर पूछना, ३ परिवर्त्तना—पढा हुआ पाठ विस्मृत न हो जाए, इसके लिए उसकी बार-बार आवृत्ति करना, ४ अनुप्रेक्षा—पढे हुए पाठ के अर्थो पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करना, ५ धर्मकथा—स्वकृतकर्मो की निर्जरा के लिए तथा ससारी भव्यजीवो को धर्मलाभ प्राप्त कराने हेतु धर्म का उपदेश देना।

इस तप से होने वाले विशेष लाभ का वर्णन २९वे अध्ययन मे किया जा चुका है।

स्वाध्याय के अर्थ—१ तत्त्वज्ञान का अध्ययन, अध्यापन और स्मरण करना स्वाध्याय है, २ अपना—अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्याय =अध्ययन स्वाध्याय है, ३ आलस्य त्यागकर ज्ञान प्रभावना करना स्वाध्याय है।[1]

(५) ध्यान हेय और उपादेय

मूल—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म-सुक्काइ झाणाइं, झाणं त तु बुहा बुए ।।३५।।

पद्यानु०—आर्त रौद्र को तज करके, स्थिर मन से जो सद्ध्यान करे।
धर्म-शुक्ल मे स्थिर होना, यह ध्यान तपस्या जिन उचरे ।।३५।।

अन्वयार्थ—सुसमाहिए—उत्तम समाधियुक्त मुनि, अट्ट-रुद्दाणि—आर्तध्यान और रौद्रध्यान (दोनो) को, वज्जित्ता—छोडकर, धम्म-सुक्काइ झाणाइ—धर्मध्यान

---

१ [क] स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापन स्मरण च। —चारित्रसार ४४/३
[ख] स्वस्मै हितोऽध्याय स्वाध्याय —चारित्रसार १५२/५
[ग] ज्ञानभावनाऽलस्यत्याग स्वाध्याय। —सर्वार्थसिद्धि ९/२०

विनय के आचरण से अहंकार का नाश, गुणों और ज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मा की शुद्धि होती है।

(३) वैयावृत्यतप का स्वरूप और प्रकार—

मूल—आयरियमाईए वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवण जहाथाम-वेयावच्च तमाहिय ॥३३॥

पद्यानु०—आचार्य आदि दशविध जन की, सुसमुचित सेवा मन धरना।
यथाशक्ति सेवन करना, वैयावृत्य है तप करना ॥३३॥

अन्वयार्थ—आयरियमाईए—आचार्य आदि, दसविहे—दस प्रकार के, वेयावच्चम्मि—वैयावृत्य के योग्य पात्रो की, जहाथाम—यथाशक्ति, आसेवण—सेवा-शुश्रूषा करना है, त—उसे, वेयावच्च—वैयावृत्य तप, आहिय—कहा है ॥३३॥

विशेषार्थ—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण और सघ, ये आचार्यादि दश वैयावृत्य के उत्तम पात्र कहलाते हैं। इनकी अन्नपानादि से, शरीरचेष्टा से, अन्य द्रव्य द्वारा, उपसर्ग व्याधि परीषह आदि आ पडने पर उपाश्रय, आहारपानी, औषध आदि द्वारा परिचर्या करना, सयमी गुणीजनो पर दु ख आ पडने पर निरवद्य विधि से दु ख दूर करना, अथवा उपसर्ग पीडित या वृद्धावस्था से क्षीणकाय साधुओ का निरपेक्ष होकर उपकार करना वैयावृत्य है।[1]

वैयावृत्य के अठारह गुण—भगवती आराधना मे वैयावृत्य के अठारह गुण बताये हैं—१ गुण-ग्रहण-परिणाम, २ श्रद्धा, ३ भक्ति, ४ वात्सल्य, ५ पात्रता की प्राप्ति, ६ विच्छिन्न सम्यक्त्वादि का पुन सन्धान, ७ तप, ८ पूजा, ९ तीर्थ-अव्युच्छित्ति, १० समाधि, ११ जिनाज्ञा, १२ सयम, १३ सहाय, १४ दान, १५ निर्विचिकित्सा, १६ प्रवचन-प्रभावना, १७ पुण्य-सचय और १८ कर्तव्य-निर्वाह।

वैयावृत्य से तीर्थंकर पद-प्राप्ति होती है।[2]

(४) स्वाध्याय तप—

मूल—वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पचहा भवे ॥३४॥

---

१ (क) गुणवद्दु खोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरण वैयावृत्यम्।
—सर्वार्थसिद्धि ९/२४

(ख) जो उवयरदि जदीण उवसग्गजराइ खीणकायाण।
पूयादिसु निरवेक्ख वेज्जावच्च तवो तस्स। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४५९

२ वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्म निबधइ।' उत्तरा अ २९/४४ सू०

पद्यानु०—वाचना पृच्छा वा अनुवर्त्तन, अनुप्रेक्षा चौथा भेद कहा।
है धर्मकथा प्रवचन-दीपक, स्वाध्याय पचविध सूत्र कहा ॥३४॥

अन्वयार्थ—वायणा—वाचना, पुच्छणा— पूछना–पृच्छा करना, चेव—और, परियट्टणा—परिवर्त्तना, तहेव—तथा, अणुप्पेहा—अनुप्रेक्षा (एवं) धम्मकहा—धर्मकथा (इस प्रकार), सज्झाओ—स्वाध्याय तप, पचहा—पांच प्रकार का, भवे—होता है।

विशेषार्थ—स्वाध्याय तप के पांच भेद हैं—१ वाचना—शास्त्र पढना या गुरु आदि से शास्त्र-वाचना लेना २ पृच्छा—पढे हुए पाठ मे किसी प्रकार की शका उत्पन्न होने पर पूछना, ३ परिवर्त्तना—पढा हुआ पाठ विस्मृत न हो जाए, इसके लिए उसकी बार-बार आवृत्ति करना, ४ अनुप्रेक्षा—पढे हुए पाठ के अर्थों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन-मनन करना, ५ धर्मकथा– स्वकृतकर्मो की निर्जरा के लिए तथा ससारी भव्यजीवो को धर्मलाभ प्राप्त कराने हेतु धर्म का उपदेश देना।

इस तप से होने वाले विशेष लाभ का वर्णन २९वे अध्ययन मे किया जा चुका है।

स्वाध्याय के अर्थ—१ तत्त्वज्ञान का अध्ययन, अध्यापन और स्मरण करना स्वाध्याय है, २ अपना—अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्याय =अध्ययन स्वाध्याय है, ३ आलस्य त्यागकर ज्ञान प्रभावना करना स्वाध्याय है।[1]

(५) ध्यान हेय और उपादेय

मूल—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म-सुक्काइ झाणाइं, झाण त तु बुहा वुए ॥३५॥

पद्यानु०—आर्त रौद्र को तज करके, स्थिर मन से जो सद्ध्यान करे।
धर्म-शुक्ल मे स्थिर होना, यह ध्यान तपस्या जिन उचरे ॥३५॥

अन्वयार्थ—सुसमाहिए—उत्तम समाधियुक्त मुनि, अट्ट-रुद्दाणि—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान (दोनो) को, वज्जित्ता—छोडकर, धम्म-सुक्काइ झाणाइ—धर्मध्यान

---

१ [क] स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापन स्मरण च। —चारित्रसार ४४/३
[ख] स्वस्मै हितोऽध्याय स्वाध्याय —चारित्रसार १५२/५
[ग] ज्ञानभावनाऽलस्यत्याग स्वाध्याय। —सर्वार्थसिद्धि ९/२०

विनय के आचरण से अहकार का नाश, गुणो और ज्ञान की प्राप्ति तथा आत्मा की शुद्धि होती है ।

(३) वैयावृत्यतप का स्वरूप और प्रकार—

मूल—आयरियमाईए वेयावच्चम्मि दसविहे ।
आसेवण जहाथाम-वेयावच्च तमाहिय ॥३३॥

पद्यानु०—आचार्य आदि दशविध जन की, सुसमुचित सेवा मन धरना ।
यथाशक्ति सेवन करना, वैयावृत्य है तप करना ॥३३॥

अन्वयार्थ—आयरियमाईए—आचार्य आदि, दसविहे—दस प्रकार के, वेयावच्चम्मि—वैयावृत्य के योग्य पात्रो की, जहाथाम—यथाशक्ति, आसेवण—सेवा-शुश्रूषा करना है, त—उसे, वेयावच्च—वैयावृत्य तप, आहिय—कहा है ॥३३॥

विशेषार्थ—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शिष्य, सार्धमिक, कुल, गण और सघ, ये आचार्यादि दश वैयावृत्य के उत्तम पात्र कहलाते है । इनकी अन्नपानादि से, शरीरचेष्टा से, अन्य द्रव्य द्वारा, उपसर्ग व्याधि परीषह आदि आ पडने पर उपाश्रय, आहारपानी, औषध आदि द्वारा परिचर्या करना, सयमी गुणीजनो पर दु ख आ पडने पर निरवद्य विधि से दु ख दूर करना, अथवा उपसर्ग पीडित या वृद्धावस्था से क्षीणकाय साधुओ का निरपेक्ष होकर उपकार करना वैयावृत्य है ।[1]

वैयावृत्य के अठारह गुण—भगवती आराधना मे वैयावृत्य के अठारह गुण बताये हैं—१ गुण-ग्रहण-परिणाम, २ श्रद्धा, ३ भक्ति, ४ वात्सल्य, ५ पात्रता की प्राप्ति, ६ विच्छिन्न सम्यक्त्वादि का पुन सन्धान, ७ तप, ८ पूजा, ९ तीर्थ-अव्युच्छित्ति, १० समाधि, ११ जिनाज्ञा, १२ सयम, १३ सहाय, १४ दान, १५ निर्विचिकित्सा, १६ प्रवचन-प्रभावना, १७ पुण्य-सचय और १८ कर्तव्य-निर्वाह ।

वैयावृत्य से तीर्थंकर पद-प्राप्ति होती है ।[2]

(४) स्वाध्याय तप—

मूल—वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पचहा भवे ॥३४॥

---

१ (क) गुणवद्दु खोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरण वैयावृत्त्यम् ।
—सर्वार्थसिद्धि ९/२४

(ख) जो उवयरदि जदीण उवसग्गजराइ खीणकायाण ।
पूयादिसु निरवेक्ख वेज्जावच्च तवो तस्स । —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४५९

२ वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्म निबधइ ।' उत्तरा अ २९/४४ सू०

लक्षण है— १. हिंसादि पापो से प्राय विरत न होना, २ हिंसादि प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त रहना, ३. अज्ञानतावश हिंसादि मे सलग्न होना, और ४. प्राणान्तक हिंसादि करने पर भी पश्चात्ताप न होना।

इसके चार प्रकार हैं—१ हिंसानुबन्धी, २ मृषानुबन्धी, ३ स्तेयानुबन्धी और ४ विषय-सरक्षणानुबन्धी। हिंसादि चारो की दृष्टि से मन मे जो क्रूरता उत्पन्न होती है, उसको लेकर धाराप्रवाह चिन्ता होने से रौद्रध्यान होता है।[1]

धर्मध्यान अर्थ, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा—जिसमे क्षमा आदि दशविध यतिधर्मों का सतत सम्यग् चिन्तन हो, अथवा आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान के चिन्तन-अन्वेषण मे एकाग्रचित्तता हो उसे धर्मध्यान कहते हैं। इसके चार लक्षण—१. आज्ञारुचि (प्रवचन के प्रति श्रद्धा), २ निसर्गरुचि (स्वभावत सत्य के प्रतिश्रद्धा), ३ सूत्ररुचि (शास्त्राध्ययन मे उत्पन्न श्रद्धा) और ४ अवगाढ-रुचि (विस्तृत रूप से सत्य मे अवगाहन करने की श्रद्धा)। चार आलम्बन—वाचना, प्रतिपृच्छा, पुनरावृत्ति और अनुप्रेक्षा। चार अनुप्रेक्षाएँ—एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और ससारानुप्रेक्षा।[2]

शुक्लध्यान अर्थ, लक्षण, आलम्बन, प्रकार और अनुप्रेक्षा—सभी प्रकार के आत्मगत मिथ्यात्वादि मल को या दु ख के कारणभूत अष्टविध कर्मावरणो को दूर करने मे समर्थ ध्यान को, अथवा आत्मा के शुद्धस्वरूप की सतत् सहज परिणति को शुक्लध्यान कहते हैं। चार लक्षण—१ अव्यथ (व्यथाऽभाव), २. असम्मोह (सूक्ष्मपदार्थ-विषयक मूढता का अभाव), ३ विवेक (शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान) और ४ व्युत्सर्ग (शरीर, उपधि आदि पर अनासक्ति या ममत्वत्याग)। चार आलम्बन—क्षमा, मुक्ति (निर्लोभता), मृदुता और ऋजुता। चार प्रकार—(१) पृथक्त्व-वितर्क सविचार (शास्त्र के आधार पर परमाणु आदि जड या आत्मरूप चेतन मे उत्पत्ति स्थिति, विलय, मूर्तता, अमूर्तता आदि नाना पर्यायो का द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक आदि विविध नयो द्वारा भेद-प्रधान चिन्तन करना, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार—(एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर अभेद(एकत्व) रूप से चिन्तन करना, (३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति—(योग निरोध के क्रम मे

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र (प० सुखलालजी) ९/३६

२ वही, (प० सुखलालजी) ९/३७

और शुक्लध्यान का, झाएज्जा—एकाग्र मन से चिन्तन करे, त तु—उसे ही, बुहा—बुध =ज्ञानीजन, झाण—ध्यान-तप, बुए—कहते है ॥३५॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे आर्त्त-रौद्रध्यान का त्याग एव धर्म-शुक्ल ध्यान के एकाग्रतापूर्वक चिन्तन को ध्यान तप का स्वरूप बताया गया है। ध्यान के विविध लक्षण—[१] उत्तम सहनन वाले पुरुष का एकाग्र चिन्तन ध्यान है, [२] चित्त विक्षेप का त्याग करना ध्यान है। [३] ध्येय के प्रति एकतान तन्मय होना ध्यान है, [४] जो स्थिर अध्यवसाय है, वही ध्यान है, [५] दीपशिखा की तरह अपरिस्पन्दमान ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं। [६] मन-वचन-काया की स्थिरता को ध्यान कहते हैं।[1]

ध्यान हेय और उपादेय—ध्यान के ४ भेद हैं, उनमे से दो अप्रशस्त [आर्त्त और रौद्र] ध्यान त्याज्य है, जबकि दो प्रशस्त [धर्म और शुक्ल] ध्यान उपादेय हैं। प्रशस्त ध्यान मोक्ष के हेतु हैं, आस्रव निरोधक हैं, जबकि आर्त्त-रौद्र नामक अप्रशस्त ध्यान पापास्रव के हेतु हैं, साधना की दृष्टि से आर्त्त-रौद्रपरिणतिमयी एकाग्रता विघ्नकारक है।

आर्त्तध्यान स्वरूप, लक्षण और प्रकार—जो ऋत अर्थात् दु ख मे होता है, उसे आर्त्तध्यान कहते है। इसे पहचानने के चार लक्षण हैं—आक्रन्द, शोक, अश्रुपात और विलाप। इसके चार प्रकार हैं—[१] अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत् चिन्ता करना, [२] आतकादि दु ख आ पडने पर उनके निवारण की निरन्तर चिन्ता करना, (३) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसको पुन प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना, अथवा मनोज्ञ वस्तु प्रीतिकर कामभोग या विषयो का सयोग होने पर उनका वियोग न होने की चिन्ता करना, (४) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता या सकल्प-विकल्प करना।

रौद्रध्यान स्वरूप, लक्षण और प्रकार—रौद्र =क्रूर चित्त के द्वारा की जाने वाली एकाग्र मन परिणति रौद्रध्यान है। इसकी पहचान के चार

---

१ (क) उत्तम सहननस्यैकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानम्। —तत्त्वार्थ ९/२०
(ख) चित्त-विक्षेप-त्यागो ध्यानम्। —सर्वार्थसिद्धि ९/२०/४३९
(ग) ज थिरमज्झवसाण त झाण। —ध्यान शतक गा २
(घ) तत्प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —योगदर्शन
(ङ) अपरिस्पन्दमान ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। —तत्त्वार्थ, श्रुतसागरीयवृत्ति ९/२७

लक्षण है— १ हिंसादि पापो से प्राय विरत न होना, २. हिंसादि प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त रहना, ३ अज्ञानतावश हिंसादि मे सलग्न होना, और ४. प्राणान्तक हिंसादि करते पर भी पश्चात्ताप न होना।

इसके चार प्रकार हैं—१ हिंसानुबन्धी, २ मृषानुबन्धी, ३ स्तेयानुबन्धी और ४ विषय-सरक्षणानुबन्धी। हिंसादि चारो की दृष्टि से मन मे जो क्रूरता उत्पन्न होती है, उसको लेकर धाराप्रवाह चिन्ता होने से रौद्रध्यान होता है।[1]

धर्मध्यान अर्थ, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा—जिसमे क्षमा आदि दशविध यतिधर्मो का सतत सम्यग् चिन्तन हो, अथवा आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान के चिन्तन-अन्वेषण मे एकाग्रचित्तता हो उसे धर्मध्यान कहते हैं। इसके चार लक्षण—१ आज्ञारुचि (प्रवचन के प्रति श्रद्धा), २ निसर्गरुचि (स्वभावत सत्य के प्रतिश्रद्धा), ३ सूत्ररुचि (शास्त्राध्ययन मे उत्पन्न श्रद्धा) और ४. अवगाढ-रुचि (विस्तृत रूप से सत्य मे अवगाहन करने की श्रद्धा)। चार आलम्बन—वाचना, प्रतिपृच्छा, पुनरावृत्ति और अनुप्रेक्षा। चार अनुप्रेक्षाएँ—एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और ससारानुप्रेक्षा।[2]

शुक्लध्यान अर्थ, लक्षण, आलम्बन, प्रकार और अनुप्रेक्षा—सभी प्रकार के आत्मगत मिथ्यात्वादि मल को या दु ख के कारणभूत अष्टविध कर्मावरणो को दूर करने मे समर्थ ध्यान को, अथवा आत्मा के शुद्धस्वरूप की सतत् सहज परिणति को शुक्लध्यान कहते हैं। चार लक्षण—१ अव्यथ (व्यथाऽभाव), २ असम्मोह (सूक्ष्मपदार्थ-विषयक मूढता का अभाव), ३ विवेक (शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान) और ४ व्युत्सर्ग (शरीर, उपधि आदि पर अनासक्ति या ममत्वत्याग)। चार आलम्बन—क्षमा, मुक्ति (निर्लोभता), मृदुता और ऋजुता। चार प्रकार—(१) पृथक्त्व-वितर्क सविचार (शास्त्र के आधार पर परमाणु आदि जड या आत्मरूप चेतन मे उत्पत्ति स्थिति, विलय, मूर्तता, अमूर्तता आदि नाना पर्यायो का द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक आदि विविध नयो द्वारा भेद-प्रधान चिन्तन करना, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार—(एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर अभेद (एकत्व) रूप से चिन्तन करना, (३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति—(योग निरोध के क्रम मे

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र (प० सुखलालजी) ९/३६

२ वही, (प० सुखलालजी) ९/३७

सूक्ष्म काययोग का आश्रय लेकर शेष योगो को रोकने के समय का ध्यान), (४) समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति—(शरीर की श्वासोच्छ्वासादि सूक्ष्म क्रियाएँ बन्द होने तथा आत्मप्रदेशो के निष्प्रकम्प होने के समय का ध्यान)

चार अनुप्रेक्षाए—(१) अनन्तवृत्तिता (अनादि-अनन्त ससार परम्परा का अनुप्रेक्षण), (२) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा (वस्तुओ के विविध परिणामो का अनुप्रेक्षण), (३) अशुभानुप्रेक्षा (पदार्थो की अशुभता का अनुप्रेक्षण) और (४) अपायानुप्रेक्षा (अपायो—दोषो का अनुप्रेक्षण)।

(६) कायोत्सर्ग का स्वरूप—

मूल—सयणासणट्ठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउसग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

पद्यानु०—बैठे उठे या सोये जो, कायवृत्ति का त्याग करे।
काया का व्युत्सर्ग करे, छट्ठा श्रोता जन तप करे ॥३६॥

अन्वयार्थ—सयणासणट्ठाणे वा—शयन, आसन और स्थान मे (स्थित), जे भिक्खू—जो भिक्षु, न उ वावरे—चलनात्मक क्रिया न करे, कायस्स—काया (की चेष्टा का या शरीर के प्रति ममता) का जो, विउसग्गो—व्युत्सग=त्याग है, सो—वह, छट्ठो—छठा (आभ्यन्तर तप-व्युत्सर्गतप), परिकित्तिओ—कहा गया है ॥३६॥

विशेषार्थ—व्युत्सर्ग तप आभ्यन्तर तप मे छठा और अन्तिम है। प्रस्तुत गाथा मे व्युत्सर्ग के मुख्य और प्रचलित प्रकार—कायोत्सर्ग का ही लक्षण दिया गया है, उसका फलितार्थ है—जिसमे काया की समस्त प्रवृत्तियो (सोना, बैठना, खडे होना, हिलना-डुलना आदि) का व्युत्सर्ग=त्याग किया जाता है, उसे काय-व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग कहते है ॥३६॥

व्युत्सर्गतप की परिभाषा—क्षेत्र, वास्तु, शरीर, उपधि, गण, भक्तपान आदि बाह्य पदार्थो का तथा कषाय, ससार, कर्म, आस्रव आदि अन्तरग भावो का नियत या अनियत काल के लिए त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। इस दृष्टि से शरीर-व्युत्सर्ग (कायिक क्रियाओ मे चचलता का त्याग), गण-व्युत्सर्ग (विशिष्ट साधना के लिए गण का त्याग), उपधि-व्युत्सर्ग (वस्त्र-पात्रादि उपकरणो का त्याग) और भक्तपान-व्युत्सर्ग, ये चार भेद द्रव्यव्युत्सर्ग के, तथा कषाय-व्युत्सर्ग, ससार-व्युत्सर्ग (संसार परिभ्रमण का त्याग) और कर्मव्युत्सर्ग (कर्म-पुद्गलो, कर्मबन्ध के कारणो का त्याग), ये तीन

भेद भावव्युत्सर्ग के कहे गए हैं।[1] इस दृष्टि से 'धवला' मे व्युत्सर्ग का फलितार्थ यो दिया है—शरीर और आहार पर से मन-वचन-काया की प्रवृत्तियो को हटाकर ध्येय वस्तु के प्रति एकाग्रतापूर्वक चित्तनिरोध करना।[2] तथा अनगार धर्मामृत मे व्युत्सर्ग का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—बन्धहेतुभूत विविध बाह्याभ्यन्तर दोषो का विशेष प्रकार से विसर्जन करना।

कायोत्सर्ग की विभिन्न परिभाषाएँ—(१) भगवती आराधना के अनुसार—अशुचि, अनित्य, विनाशशील, दोषपूर्ण, असार तथा दु.ख एवं अनन्त संसार-परिभ्रमण का कारण यह शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूँ यह शरीर मेरा नही है, न मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार भेद-विज्ञान प्राप्त होने पर शरीर रहते हुए भी शरीर के प्रति आदर घट जाने तथा ममत्व हट जाने की स्थिति का नाम 'कायोत्सर्ग' है। (२) जो मुनि शरीर सस्कार के प्रति उदासीन, भोजन, शय्या आदि के प्रति निरपेक्ष, दु सह रोग हो जाने पर भी चिकित्सा के प्रति उदासीन हो, शरीर पसीने और मैल से लिप्त होने पर भी जो अपने स्वरूप के चिन्तन मे लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन के प्रति मध्यस्थ हो, शरीर के प्रति ममत्व न रखता हो, उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है। (३) काय आदि पर-द्रव्यो मे स्थिरभाव छोडकर आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करना कायोत्सर्ग है। (४) दैवसिक, रात्रिक आदि नियमो वगैरह यथोक्त काल-प्रमाण तक उत्तमक्षमादि जिनेन्द्रगुणो के चिन्तन सहित देह के प्रति ममत्व छोडना कायोत्सर्ग है।[3]

कायोत्सर्ग कब और किसलिए?—सामान्यतया व्रत-नियमो मे दिवस तथा रात्रि आदि सम्बन्धी दोषो के आलोचन के लिए, ईर्यापथ, स्वाध्याय, गमनागमन, भिक्षाचरी आदि अवसरो पर हुए दोषो के शोधन के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर के प्रति ममत्व त्याग के अभ्यास के लिए, कर्मनाश एव दु खक्षय या मुक्ति के लिए भी कायोत्सर्ग

---

१ (क) भगवती सूत्र २५/७/८०२ (ख) औपपातिक सूत्र सू २६, (ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा ३ पृ० ६२७

२ सरीराहारेसु हु मण-वयण-पवुत्तिओ ओसारिमज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गोणाम।
—धवला ८/३,४१/८५

३ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८, (ख) भगवती-आराधना (विजयोदया) ११६/२७८/१३ (ग) योगसार अ ५/५२

सूक्ष्म काययोग का आश्रय लेकर शेष योगो को रोकने के समय का ध्यान), (४) समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति—(शरीर की श्वासोच्छ्वासादि सूक्ष्म क्रियाएँ बन्द होने तथा आत्मप्रदेशो के निष्प्रकम्प होने के समय का ध्यान)

चार अनुप्रेक्षाए—(१) अनन्तवृत्तिता (अनादि-अनन्त ससार परम्परा का अनुप्रेक्षण), (२) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा (वस्तुओ के विविध परिणामो का अनुप्रेक्षण), (३) अशुभानुप्रेक्षा (पदार्थो की अशुभता का अनुप्रेक्षण) और (४) अपायानुप्रेक्षा (अपायो—दोषो का अनुप्रेक्षण)।

(६) कायोत्सर्ग का स्वरूप—

मूल—सयणासणाट्ठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउसग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

पद्यानु०—बैठे उठे या सोये जो, कायवृत्ति का त्याग करे।
काया का व्युत्सर्ग करे, छट्ठा श्रोता जन तप करे ॥३६॥

अन्वयार्थ—सयणासणट्ठाणे वा—शयन, आसन और स्थान मे (स्थित), जे भिक्खू—जो भिक्षु, न उ वावरे—चलनात्मक क्रिया न करे, कायस्स—काया (की चेष्टा का या शरीर के प्रति ममता) का जो, विउसग्गो—व्युत्सर्ग=त्याग है, सो—वह, छट्ठो—छठा (आभ्यन्तर तप-व्युत्सर्गतप), परिकित्तिओ—कहा गया है ॥३६॥

विशेषार्थ—व्युत्सर्ग तप आभ्यन्तर तप मे छठा और अन्तिम है। प्रस्तुत गाथा मे व्युत्सर्ग के मुख्य और प्रचलित प्रकार—कायोत्सर्ग का ही लक्षण दिया गया है, उसका फलितार्थ है—जिसमे काया की समस्त प्रवृत्तियो (सोना, बैठना, खडे होना, हिलना-डुलना आदि) का व्युत्सर्ग=त्याग किया जाता है, उसे काय-व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग कहते हैं ॥३६॥

व्युत्सर्गतप की परिभाषा—क्षेत्र, वास्तु, शरीर, उपधि, गण, भक्तपान आदि बाह्य पदार्थो का तथा कषाय, ससार, कर्म, आस्रव आदि अन्तरग भावो का नियत या अनियत काल के लिए त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। इस दृष्टि से शरीर-व्युत्सर्ग (कायिक क्रियाओ मे चचलता का त्याग), गण-व्युत्सर्ग (विशिष्ट साधना के लिए गण का त्याग), उपधि-व्युत्सर्ग (वस्त्र-पात्रादि उपकरणो का त्याग) और भक्तपान-व्युत्सर्ग, ये चार भेद द्रव्यव्यु-त्सर्ग के, तथा कषाय-व्युत्सर्ग, ससार-व्युत्सर्ग (संसार परिभ्रमण का त्याग) और कर्मव्युत्सर्ग (कर्म-पुद्गलो, कर्मबन्ध के कारणो का त्याग), ये तीन

भेद भावव्युत्सर्ग के कहे गए हैं।[1] इस दृष्टि से 'धवला' मे व्युत्सर्ग का फलितार्थ यो दिया है—शरीर और आहार पर से मन-वचन-काया की प्रवृत्तियो को हटाकर ध्येय वस्तु के प्रति एकाग्रतापूर्वक चित्तनिरोध करना।[2] तथा अनगार धर्मामृत मे व्युत्सर्ग का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—बन्धहेतुभूत विविध बाह्याभ्यन्तर दोषो का विशेष प्रकार से विसर्जन करना।

कायोत्सर्ग की विभिन्न परिभाषाएँ—(१) भगवती आराधना के अनुसार—अशुचि, अनित्य, विनाशशील, दोषपूर्ण, असार तथा दुःख एव अनन्त ससार-परिभ्रमण का कारण यह शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूँ यह शरीर मेरा नही है, न मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार भेद-विज्ञान प्राप्त होने पर शरीर रहते हुए भी शरीर के प्रति आदर घट जाने तथा ममत्व हट जाने की स्थिति का नाम 'कायोत्सर्ग' है। (२) जो मुनि शरीर सस्कार के प्रति उदासीन, भोजन, शय्या आदि के प्रति निरपेक्ष, दुःसह रोग हो जाने पर भी चिकित्सा के प्रति उदासीन हो, शरीर पसीने और मैल से लिप्त होने पर भी जो अपने स्वरूप के चिन्तन मे लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन के प्रति मध्यस्थ हो, शरीर के प्रति ममत्व न रखता हो, उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है। (३) काय आदि पर-द्रव्यो मे स्थिरभाव छोडकर आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करना कायोत्सर्ग है। (४) दैवसिक, रात्रिक आदि नियमो वगैरह यथोक्त काल-प्रमाण तक उत्तमक्षमादि जिनेन्द्रगुणो के चिन्तन सहित देह के प्रति ममत्व छोडना कायोत्सर्ग है।[3]

कायोत्सर्ग कब और किसलिए ?—सामान्यतया व्रत-नियमो मे दिवस तथा रात्रि आदि सम्बन्धी दोषो के आलोचन के लिए, ईर्यापथ, स्वाध्याय, गमनागमन, भिक्षाचरी आदि अवसरो पर हुए दोषो के शोधन के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर के प्रति ममत्व त्याग के अभ्यास के लिए, कर्मनाश एव दुःखक्षय या मुक्ति के लिए भी कायोत्सर्ग

---

१ (क) भगवती सूत्र २५/७/८०२ (ख) औपपातिक सूत्र सू. २६, (ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा ३ पृ० ६२७

२ सरीराहारेसु हु मण-वयण-पवुत्तिओ ओसारिय ज्झेयम्मि एयग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गोणाम।

—धवला ८/३, ४१/८५

३ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८, (ख) भगवती-आराधना (विजयोदया) ११६/२७८/१३ (ग) योगसार अ ५/५२

सूक्ष्म काययोग का आश्रय लेकर शेष योगो को रोकने के समय का ध्यान), (४) समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति—(शरीर की श्वासोच्छ्वासादि सूक्ष्म क्रियाएँ बन्द होने तथा आत्मप्रदेशो के निष्प्रकम्प होने के समय का ध्यान)

चार अनुप्रेक्षाए —(१) अनन्तवृत्तिता (अनादि-अनन्त ससार परम्परा का अनुप्रेक्षण), (२) विपरिणाम-अनुप्रेक्षा (वस्तुओ के विविध परिणामो का अनुप्रेक्षण), (३) अशुभानुप्रेक्षा (पदार्थों की अशुभता का अनुप्रेक्षण) और (४) अपायानुप्रक्षा (अपायो—दोषो का अनुप्रेक्षण)।

(६) कायोत्सर्ग का स्वरूप—

मूल—सयणासणाट्ठाणे वा, जे उ भिक्खु न वावरे।
कायस्स विउसग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥३६॥

पद्यानु०—बैठे उठे या सोये जो, कायवृत्ति का त्याग करे।
काया का व्युत्सर्ग करे, छट्ठा श्रोता जन तप करे ॥३६॥

अन्वयार्थ—सयणासणट्ठाणे वा—शयन, आसन और स्थान मे (स्थित), जे भिक्खु—जो भिक्षु, न उ वावरे—चलनात्मक क्रिया न करे, कायस्स—काया (की चेष्टा का या शरीर के प्रति ममता) का जो, विउसग्गो—व्युत्सग=त्याग है, सो—वह, छट्ठो—छठा (आभ्यन्तर तप-व्युत्सर्गतप), परिकित्तिओ—कहा गया है ॥३६॥

विशेषार्थ—व्युत्सर्ग तप आभ्यन्तर तप मे छठा और अन्तिम है। प्रस्तुत गाथा मे व्युत्सर्ग के मुख्य और प्रचलित प्रकार—कायोत्सर्ग का ही लक्षण दिया गया है, उसका फलितार्थ है—जिसमे काया की समस्त प्रवृत्तियो (सोना, बैठना, खडे होना, हिलना-डुलना आदि) का व्युत्सर्ग=त्याग किया जाता है, उसे काय-व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग कहते है ॥३६॥

व्युत्सर्गतप की परिभाषा—क्षेत्र, वास्तु, शरीर, उपधि, गण, भक्तपान आदि बाह्य पदार्थों का तथा कषाय, ससार, कर्म, आस्रव आदि अन्तरग भावो का नियत या अनियत काल के लिए त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। इस दृष्टि से शरीर-व्युत्सर्ग (कायिक क्रियाओ मे चचलता का त्याग), गण-व्युत्सर्ग (विशिष्ट साधना के लिए गण का त्याग), उपधि-व्युत्सर्ग (वस्त्र-पात्रादि उपकरणो का त्याग) और भक्तपान-व्युत्सर्ग, ये चार भेद द्रव्यव्युत्सर्ग के, तथा कषाय-व्युत्सर्ग, ससार-व्युत्सर्ग (संसार परिभ्रमण का त्याग) और कर्मव्युत्सर्ग (कर्म-पुद्गलो, कर्मबन्ध के कारणो का त्याग), ये तीन

भेद भावव्युत्सर्ग के कहे गए हैं।[1] इस दृष्टि से 'धवला' मे व्युत्सर्ग का फलितार्थ यो दिया है—शरीर और आहार पर से मन-वचन-काया की प्रवृत्तियो को हटाकर ध्येय वस्तु के प्रति एकाग्रतापूर्वक चित्तनिरोध करना।[2] तथा अनगार धर्मामृत मे व्युत्सर्ग का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—बन्धहेतुभूत विविध बाह्याभ्यन्तर दोषो का विशेष प्रकार से विसर्जन करना।

कायोत्सर्ग की विभिन्न परिभाषाएँ—(१) भगवती आराधना के अनुसार—अशुचि, अनित्य, विनाशशील, दोषपूर्ण, असार तथा दु ख एव अनन्त संसार-परिभ्रमण का कारण यह शरीर भिन्न है, मैं भिन्न हूँ यह शरीर मेरा नही है, न मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार भेद-विज्ञान प्राप्त होने पर शरीर रहते हुए भी शरीर के प्रति आदर घट जाने तथा ममत्व हट जाने की स्थिति का नाम 'कायोत्सर्ग' है। (२) जो मुनि शरीर सस्कार के प्रति उदासीन, भोजन, शय्या आदि के प्रति निरपेक्ष, दु सह रोग हो जाने पर भी चिकित्सा के प्रति उदासीन हो, शरीर पसीने और मैल से लिप्त होने पर भी जो अपने स्वरूप के चिन्तन मे लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन के प्रति मध्यस्थ हो, शरीर के प्रति ममत्व न रखता हो, उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है। (३) काय आदि पर-द्रव्यो मे स्थिरभाव छोडकर आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करना कायोत्सर्ग है। (४) दैवसिक, रात्रिक आदि नियमो वगैरह यथोक्त काल-प्रमाण तक उत्तमक्षमादि जिनेन्द्रगुणो के चिन्तन सहित देह के प्रति ममत्व छोडना कायोत्सर्ग है।[3]

कायोत्सर्ग कब और किसलिए?—सामान्यतया व्रत-नियमो मे दिवस तथा रात्रि आदि सम्बन्धी दोषो के आलोचन के लिए, ईर्यापथ, स्वाध्याय, गमनागमन, भिक्षाचरी आदि अवसरो पर हुए दोषो के शोधन के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर के प्रति ममत्व त्याग के अभ्यास के लिए, कर्मनाश एव दु खक्षय या मुक्ति के लिए भी कायोत्सर्ग

---

१ (क) भगवती सूत्र २५/७/८०२ (ख) औपपातिक सूत्र सू २६, (ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा ३ पृ० ६२७

२ सरीराहारेसु हु मण-वयण-पवुत्तिओ ओसारिमज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गोणाम।

—धवला ८/३, ४१/८५

३ (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८, (ख) भगवती-आराधना (विजयोदया) ११६/२७८/१३ (ग) योगसार अ ५/५२

किया जाता है । कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य काया से आत्मा को पृथक् (वियुक्त) करना और आत्मा के सान्निध्य मे रहकर स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा परद्रव्यो मे स्व का व्युत्सर्ग करना है ।[1]

बाह्य और आभ्यन्तर तप का फल—

मूल—एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥ ३७ ॥
त्ति बेमि ॥

पद्यानु०—यो द्विविध तपस्या को सम्यक्, जो संत सदा आचरण करे ।
वह पण्डित मुनि भव-बन्धन से, अतिशीघ्र मुक्त होकर विचरे ॥३७॥

अन्वयार्थ—एवं—इस प्रकार, जे—जो, पण्डिओ मुणी—पण्डित मुनि, दुविहं तवं—(पूर्वोक्त) दो प्रकार के तप का, सम्मं तु—सम्यक् प्रकार से, आयरे—आचरण करता है, सो—वह, खिप्पं—शीघ्र ही, सव्वससारा—समस्त ससार (के सर्व बन्धनो) से, विप्पमुच्चइ—मुक्त हो जाता है । त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ॥३७॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे बाह्य-आभ्यन्तर तप का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—जो विचक्षण भिक्षु इस द्विविध तप का सम्यक् अनुष्ठान करता है, वह इस चतुर्गतिक ससार चक्र के समस्त बन्धनो से शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है ॥३७॥

क्यो और कैसे ?—इस प्रकार का विज्ञ पुरुष जन्म-मरणरूप ससार के यथार्थ स्वरूप को और उसमे उपलब्ध होने वाले विनश्वर वैषयिक सुखो को जानकर पूर्वोक्त द्विविध तपश्चर्या मे अहर्निश पुरुषार्थ करता हुआ शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा कर लेता है, जिससे ससार के बन्धनो को तोडकर अक्षय, अबाध मोक्ष को प्राप्त करना उसके लिए सुकर हो जाता है ।

॥ तपोमार्ग तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१ (क) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) प्रकाश ३, पत्र २५०,
(ख) राजवार्तिक ९/२६/१०/६२५

चरणविधि : इकतीसवां अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम चरण-विधि अर्थात्-चारित्रविधि है। इसका अर्थ है—चारित्र का ज्ञान करके उसे विवेकपूर्वक धारण करना।

चारित्र महाव्रती निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियो के जीवन का मेरुदण्ड है। चारित्र नष्ट हो जाने या उससे भ्रष्ट हो जाने से आध्यात्मिक जीवन का सर्वनाश सुनिश्चित है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन मे चारित्र की सर्वोपरि महत्ता प्रदर्शित करके तैतीस बोलो के माध्यम से साधक को हेय, ज्ञेय, उपादेय से चारित्र-पोषक, चारित्र-वर्द्धक गुण, क्रिया या प्रवृत्ति को छाटने की विधि यत्र-तत्र बताई गई है।

चारित्र का प्रारम्भ सयम से होता है। अत असयम से निवृत्ति और सयम मे विवेकपूर्वक प्रवृत्ति ही चारित्र विधि है।

चारित्र के अनेक अग हैं—पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म, सम्यक्तप, परीषहजय, कषाय विजय, विषय विरक्ति त्याग प्रत्याख्यान आदि।

चारित्र के उच्च शिखर पर चढने के लिए भिक्षुप्रतिमा, अवग्रह प्रतिमा, पिण्डावग्रह प्रतिमा आदि कई प्रतिमाए भी हैं, जिससे कि साधक अपनी आत्मशक्ति को छिपाये बिना साधक अपनी आत्मशक्ति को प्रकट करता हुआ, आगे से आगे मोक्ष की ओर बढता जाए।

वह आगे बढकर कदापि पीछे न हटे, इसलिए असयम, राग-द्वेष बन्धन, विराधना, अशुभ लेश्या, मदस्थान, क्रियास्थान, कषाय, पाच अशुभ क्रियाए, अब्रह्मचर्य, असमाधिस्थान, शबलदोष, पापश्रुत प्रसग महामोह-स्थान आशातना आदि कई विघ्नो का नाम निर्देश करके उनसे आत्म-रक्षा करने की विधि बताई गई है।

इसलिए मूल मे असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृति को केन्द्र बिन्दु मे रखकर सर्वत्र चारित्रविधि का विवेक साधक को बता दिया है। एक बोल से लेकर तेतीस बोल तक महकते गुलाब के साथ काटे की तरह चारित्र की सौरभ के साथ काटो को साधक न बटोर ले, त्याज्य का त्याग और उपादेय का ग्रहण करे इसी मे चारित्र विधि की सार्थकता बताई गई है।

प्रत्येक गाथा के साथ वज्जइ, चयइ, रमइ, रुसहइ आदि पद देकर शास्त्रकार ने साधक को पग-पग पर सावधान भी कर दिया है। सर्वत्र उपयोग यानी आत्मलक्ष्य रहेगा, तभी चारित्र मे प्रवृत्ति सम्यक्स्वरूप से हो सकेगी ।

चारित्रविधि की फलश्रुति भी प्रत्येक गाथा मे प्राय दी गई है कि इस प्रकार उपयोग (आत्मलक्ष्य) रखकर चारित्र आराधना करने वाला साधक ससार सागर को शीघ्र पार कर जाता है, इसमे कोई सन्देह नही।

चरणविही : एगतीसइमं अज्झयणं

[चरणविधि इकत्तीसवां अध्ययन]

चारित्र-विधि : महत्त्व और फल—

मूल—चरण-विहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं ।
ज चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसार-सागरं ॥१॥

पद्यानु०—चरण-विधि का कथन करू मैं, जो जीवो को सुखदायी ।
जिसका कर आचरण बहुत जन, तिरे भवोदधि दु खदायी ॥१॥

अन्वयार्थ—जीवस्स—जीव को, सुहावह उ—सुख देने वाली, चरणविहिं—चारित्रविधि को, पवक्खामि—कहता हूं, ज—जिसका, चरित्ता - आचरण करके, बहू जीवा—बहुत से जीव, ससार-सागर—ससार-समुद्र से, तिण्णा—पार हो गए ।

विशेषार्थ—चरण-विधि का अर्थ है—चारित्र का अनुष्ठान करने का शास्त्रीय विधान । वह प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप है । अर्थात्—अचारित्र से निवृत्ति और चारित्र मे प्रवृत्ति ही चरणविधि है । शास्त्रकार ने यहाँ चरणविधि को प्रतिपाद्य विषय बताकर, उसके आराधन का अनन्तर फल—जीव के लिए सुखदायक=आत्मिक सुखप्रदाता और परम्परफल—ससार-सागर पारगमन अर्थात्—मोक्ष-गमन का प्रतिपादन किया है ।

आगमो मे अनेक स्थान पर 'चारित्र' के अर्थ मे 'चरण' शब्द का प्रयोग हुआ है । जैसे—आहसु विज्जाचरणप्पमोक्खो (सूत्र) विज्जा-चरण पारगा (उत्त) आदि ।

चारित्रविधि का फलितार्थ यह है कि वह आचरण की वस्तु है, केवल भावना या कोरी कल्पना, अथवा वाणीविलास नही है ।

चरणविधि का सक्षिप्त स्वरूप प्रथम बोल

मूल —एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तण ।
असजमे नियत्ति च, सजमे य पवत्तण ॥२॥

के अनुसार साधुवर्ग को रागद्वेष से निवृत्ति और वीतरागता मे प्रवृत्ति करनी चाहिए।

तीन प्रकार के दण्ड, गौरव एवं शल्य से निवृत्ति : तीसरा बोल

मूल—दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥४॥
दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छ-माणुसे।
जे भिक्खू सहइ निच्चं, से न अच्छइ-मंडले ॥५॥

पद्यानु०—गौरव, दण्ड, शल्य तीनो ये, त्रिविध भेद कर बतलाए।
जो वर्जन करे सदा इनका, वह भिक्षु न भवमण्डल आए ॥४॥
देव तथा तिर्यञ्च-मनुज कृत, उपसर्गो को जो सहता।
नित्य सहन करने वाला वह, भिक्षु न भवनिधि मे रहता ॥५॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, दंडाण—दण्डो, गारवाण—गौरवो, च—और, सल्लाणं—शल्यो के, तियं तियं च—तीन-तीन प्रकारो का, निच्चं—सदैव, चयई—त्याग करता है, से—वह, मंडले—संसार मे, न अच्छइ—नही रहता ॥४॥

जे—जो, दिव्वे—देव-सम्बन्धी, तहा—तथा, तेरिच्छ-माणुसे य—तिर्यंच-सम्बन्धी और मनुष्य-सम्बन्धी, उवसग्गे—उपसर्ग हैं, (उन्हे) जे भिक्खू—जो भिक्षु, निच्चं—नित्य, सहेइ—सहन करता है, से—वह, मंडले—ससार मे, न अच्छइ—भ्रमण नही करता ॥५॥

विशेषार्थ—दण्ड—कोई अपराध करने पर राजा पचायत या न्यायालय आदि के द्वारा वध, बन्धन, ताडन आदि के रूप मे दण्डित किया जाए, वह द्रव्य दण्ड है और जिन हिंसादि प्रवृत्तियो या अपराधो से आत्मा दण्डित प्रताडित हो, अथवा जिनके द्वारा चारित्ररूपी ऐश्वर्य का अपहरण करवाकर आत्मा को असार=दण्डनीय किया जाए, उसे भावदण्ड कहते हैं।[1] प्रस्तुत गाथा मे तीन भावदण्ड बताये हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। यहा दण्ड का अर्थ दुष्प्रवृत्ति है। मन-वचन-काया जब दुष्प्रवृत्ति मे लगते हैं, तब दण्ड रूप हो जाते हैं, क्योकि तब चारित्रात्मा दण्डित होती है। अत

१ (क) दण्ड्यते चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा, द्रव्यभावभेदभिन्ना। भावदण्डैरिहाधिकारे। मन प्रभृतिभिश्च दुष्प्रयुक्तैर्दण्ड्यते आत्मेति।
—आचार्य हेमचन्द्र

साधुवर्ग का इन तीनो दण्डो से निवृत्त होना और प्रशस्त मन-वचन-काया के योगो मे प्रवृत्त होना ही यहाँ चरणविधि है।

गौरव—अहकार से उद्धत या दुष्ट चित्त-वृत्ति-प्रवृत्ति को गौरव कहते हैं। शब्द की दृष्टि से गर्व की भावना गौरव है। यह भी तीन प्रकार का है—ऋद्धि गौरव=(ऐश्वर्य का गर्व), रस-गौरव=(स्वादिष्ट पदार्थों की प्राप्ति का गर्व) एव साता-गौरव=(वैषयिक सुखो की प्राप्ति का गौरव)। साधक को इन तीनो गौरवो से निवृत्ति और नम्रता, मृदुता, लघुता एव निरभिमानता मे प्रवृत्ति करना ही चरणविधि है।

शल्य—जिस प्रकार शरीर मे चुभा हुआ तीख काटा या बाण (द्रव्य शल्य) तीव्र पीडा देता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा मे घुसे हुए दोषरूप मे भावशल्य साधु वर्ग को निरन्तर पीडित करने रहते हैं। ये आत्मा मे चुभते रहते हैं।

भावशल्य तीन प्रकार के हैं—मायाशल्य (कपटयुक्त प्रवृत्ति), निदान-शल्य (इहलौकिक-पारलौकिक भौतिक सुखो की आकाक्षा से तप त्याग आदि आचरण करना—नियाणा करना) तथा मिथ्यादर्शन शल्य (आत्मा की तत्वो के प्रति मिथ्या—सिद्धान्त के विपरीत दृष्टि)। इन तीनो शल्यो से निवृत्त होना और नि शल्यता मे प्रवृत्त होना, यहाँ चारित्रविधि है।[1]

उपसर्ग—जो दैहिक, मानसिक कष्टो का (उप) समीप मे आकर (सर्ग) सृजन करते हैं, उन्हे उपसर्ग कहते हैं। 'उपसर्ग' जैनागमो का पारिभाषिक शब्द है। इसके तीन प्रकार हैं—(१) देवकृत उपसर्ग वह है, जिसमे देवता द्वेषवश, हास्यवश या परीक्षा के निमित्त कष्ट देते हैं।

(२) तिर्यंचकृत उपसर्ग वह है, जो तिर्यंचो द्वारा भय, विद्वेष, आहार, स्वरक्षण या अपने स्थान या सन्तान की सुरक्षा के निमित्त से कष्ट दिया जाता है।

(३) मनुष्यकृत उपसर्ग वह है, जो मनुष्यो द्वारा हास्यवश, द्वेषवश या कुशीलसेवन आदि के लिए कष्ट दिया जाता है।[2]

यहाँ त्रिविध उपसर्गो को सहन करने मे प्रवृत्त होना और इन्हे

---

१ (क) शल्यते बाध्यते पीड्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि।—बृहद्वृत्ति, पत्र ६१२
(ख) नि शल्योव्रती।—तत्त्वार्थ सूत्र ७/१३

२ स्थानागवृत्ति, स्थान ३

सहन करते समय होने वाली ग्लानि, द्वेषभाव, असहिष्णुता आदि से निवृत्त होना चारित्रविधि है।

विकथा-कषाय-संज्ञा-ध्यान-चतुष्टय से निवृत्त-प्रवृत्ति : चौथा बोल—

मूल—विगहा-कसाय-सन्नाण, झाणाण च दुय तहा।
जे भिक्खू वज्जइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥६॥

पद्यानु०—विकथा कषाय एव सज्ञा, और आर्त्त-रौद्र वर्जन करता।
जो इन्हे दूर मन से करता, वह भिक्षु नही जग मे रहता ॥६॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, विगहा-कसाय-सन्नाणं च—चार विकथाओ, चार कषायो और चार संज्ञाओ का, तहा—तथा, झाणाण दुयं—चार ध्यानो मे से दो कुध्यानो का, वज्जइ—वर्जन=त्याग करता है, से—वह, मंडले—ससार मे, न अच्छइ—परिभ्रमण नही करता।

विशेषार्थ—विकथा—सयमी जीवन से विरुद्ध या विनाशकारी निरर्थक कथा विकथा[1] है। वह चार प्रकार की है—(१) स्त्रीविकथा—स्त्रियो के रूप, लावण्य, हास्य, क्रीडा, रति, दर्प एव वस्त्राभूषण आदि की वैकारिक दृष्टि से चर्चा करना, (२) भक्तविकथा—भोजन मे सम्बन्धित विविध वानगियो की चर्चा मे व्यस्त रहना, खाने-पीने की ही बातो मे मशगूल रहना। (३) देश-विकथा—देश-विदेश के विविध रीतिरिवाज, सभ्यता, रचना, वेशभूषा, भोजन पद्धति, गृहनिर्माणकला आदि की निन्दा-प्रशसा मे लगे रहना। (४) राज-विकथा—शासकवर्ग की सेना, अन्त पुर, युद्धकला, भोगविलास, आदि की ही चर्चा मे व्यस्त रहना।

विकथा करने वाला ध्यान, मौन, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, जप आदि आध्यात्मिक साधनाओ से विमुख हो जाता है, और अपने अमूल्य समय, शक्ति और मनोबल को व्यर्थ की गप्पें हाँकने तथा कर्मबन्धन करने मे व्यय कर देता है। अत साधुवर्ग को इन चारो प्रकार की विकथाओ से निवृत्त होना तथा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, उद्वेगिनी और सवेगिनी आदि वैराग्यरसयुक्त धर्मकथाओ मे प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।[2]

कषाय का अर्थ है—कष अर्थात् ससार, उसकी जिससे आय—प्राप्ति हो, वृद्धि हो। दशवैकालिक सूत्र मे चारो कषायो को पुन. पुन जन्म-मरणरूप ससार के मूल को सीचने वाले कहा गया है। कषाय कर्मों के

---

१ (क) विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा।—आचार्य हरिभद्र
(ख) स्थानाग वृत्ति, स्थान ४
२ स्थानाग वृत्ति, स्थान ४

आगमन का स्रोत है, और कर्मों से ही जीवो को कष्ट होता है। कषाय चार हैं —क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चार कषायो से निवृत्त होकर उपशम, मृदुता, विनयभाव और संतोष मे प्रवृत्त होना ही यहाँ चारित्रविधि है।[1]

संज्ञा—संज्ञा विकृत अभिलाषा को कहते है। मोहनीय और असाता-वेदनीय कर्म के उदय से चेतना विकारयुक्त होती है, तब संज्ञा उत्पन्न होती है।

संज्ञाएँ चार है—(१) आहारसंज्ञा, (२) भयसंज्ञा, (३) मैथुनसंज्ञा और (४) परिग्रह-संज्ञा। आहार आदि की संज्ञाएँ क्रमश (१) क्षुधावेद-नीय, (२) भयमोहनीय, (३) वेदमोहनीय और (४) लोभमोहनीय के उदय से उत्पन्न होती हैं। अत इन चार संज्ञाओ से निवृत्त होकर निराहारता, निर्भयता, ब्रह्मचर्य एव निष्परिग्रहता मे प्रवृत्त होना चरणविधि है।[2]

दो अशुभ ध्यान—एक ही विषय—वस्तु पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है।[3] उसके चार प्रकार हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। दो प्रकार के अशुभ ध्यानो से निवृत्त होना और पिछले दो शुभ ध्यानो मे प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।[4]

पाच प्रकार के व्रत, इन्द्रियार्थ, समिति और क्रियाओ मे यतना पाचवाँ बोल—

मूल—वएसु इंदियत्थेसु समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥७॥

पद्यानु०—इन्द्रिय-विषय क्रिया-वर्जन मे, समिति व्रतो के पालन मे।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता भव मे ॥७॥

अन्वयार्थ—वएसु—पाँच (महा) व्रतो (तथा), समिईसु—पाच समितियो (के

---

१ (क) कष्यते प्राणी विविधैर्दुःखैरस्मिन्निति कष—ससार, तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषाया।

(ख) 'चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स।'
—दशवै० अ० ८

२ स्थानाग वृत्ति स्थान ४

३ एकाग्र चिन्ता ध्यानम्

४ तीसवें अध्ययन मे इनकी व्याख्या की जा चुकी है।

पालन) मे, य—और, इंदियत्थेसु—पाँच इन्द्रियो के विषयो (और) किरियासु—पाच क्रियाओ (के परित्याग) मे, जे भिक्खू—जो भिक्षु, निच्च—नित्य, जयइ—यत्न (यतना) करता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—पर्यटन नही करता ॥७॥

विशेषार्थ—पच महाव्रत—साधु के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच महाव्रत है।

जो अपने आप मे महान् हो, तथा जो महान् आत्माओ द्वारा आचरित हो, तथा जो महान् अर्थ (मोक्ष-पुरुषार्थ) को सिद्ध करते हैं, वे महाव्रत कहलाते हैं। प्राणातिपात, मृषावाद आदि पाच आस्रवो से सर्वथा (तीन करण तीन योग से) निवृत्त होना और अहिंसा आदि पाच महाव्रतो मे प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।[1]

पच समिति—विवेकपूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है। ये पाच हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, एव परिष्ठापना।

युग-परिमित (स्व शरीर प्रमाण भूमि को सावधानी से देखते हुए जीवो की रक्षा करते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्यासमिति है।

भाषा के दोषो का परित्याग करते हुए आवश्यकतानुसार हित, मित और असदिग्ध (स्पष्ट) व निर्दोष वचन बोलना, भाषासमिति है।

आहारादि सम्बन्धी ४२ दोषो का वर्जन करते हुए, एषणीय, कल्पनीय निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र पात्रादि का ग्रहण एव उपभोग करना एषणासमिति है।

वस्त्र-पात्रादि उपकरणो को यतनापूर्वक ग्रहण करना और रखना आदाननिक्षेप समिति है।

मल-मूत्रादि, भुक्तशेष अन्न-पान तथा फटे-टूटे वस्त्र-पात्रादि को जीव रहित एकान्त निरवद्य स्थान मे परठना (डालना) या उनका विसर्जन करना परिष्ठापना समिति है।

---

१ (क) स्वयमपि महान्ति यस्मात् महाव्रतानीत्यतस्तानि।—ज्ञानार्णव
(ख) आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्त प्रसाधयन्त्यर्थम्।
—आवश्यक, हारिभद्रीय टीका

समिति मे अनुपयोग से निवृत्ति और उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति, दोनो ही समाविष्ट है तथा यह चारित्रविधि है ।[1]

पचेन्द्रियविषय—इन्द्रिया पाच हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा, और स्पर्शेन्द्रिय । इन पाचो के क्रमश शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये पाच विषय हैं । इन पाचो विषयो के प्रति (मनोज्ञ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष) राग-द्वेष से निवृत्ति और समभाव या तटस्थता मे प्रवृत्ति करना यहाँ चारित्रविधि है ।[2]

पाच क्रियाए—कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा का नाम क्रिया है । यो तो जैनागमो मे २५ क्रियाओ का उल्लेख है, किन्तु यहाँ उन सब का पाच क्रियाओ मे समावेश कर दिया गया है । वे पाच क्रियाएँ ये हैं—(१) **कायिकी**—काया द्वारा निष्पन्न होने वाली, (२) **आधिकारणिकी**—(घातक शस्त्रादि अधिकरणो के) प्रयोग से की गई क्रियाएँ जिनसे आत्मा नरकादि दुर्गति का अधिकारी बनता है, (३) **प्राद्वेषिकी**—जीव या अजीव के प्रति द्वेषभाव (ईर्ष्या, मात्सर्य, घृणा, वैर आदि) से होने वाली, (४) **पारितापनिकी**—किसी जीव को परिताप देने से होने वाली, (५) **प्राणातिपातिकी**—स्व-पर के प्राणातिपात हिंसा से होने वाली क्रिया । इन पाचो अशुभ क्रियाओ से निवृत्ति और उपयोगपूर्वक धर्मक्रियाओ मे प्रवृत्ति करना यहाँ चारित्र विधि है ।[3]

षड्लेश्या-षट्काय-षड्विध-आहारकारण मे प्रवृत्ति-निवृत्ति छठा बोल—

मूल—लेसासु छसु काएसु, छक्के आहार-कारणे ।
जे भिक्खू जयइ निच्च, से न अच्छइ मंडले ॥८॥

पद्यानु०—छह लेश्याओ, छहकायो और, आहार-ग्रहण षट्कारण मे ।
मन से सदा यत्न जो करता, वह भिक्षु न रहता भव-दारुण मे॥८॥

---

१ (क) सम्-एकीभावेन, इति प्रवृत्ति शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थ ।
—आचार्य नमि

(ख) आवश्यक वृत्ति —आचार्य हरिभद्र सूरि

२ स्थानाग वृत्ति स्थान ५

३ स्थानाग, स्थान ५ वृत्ति ।

विशेषार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, लेसासु—(कृष्णादि छह) लेश्याओ मे, छसु काएसु—(पृथ्वीकाय आदि) छह कायो मे, (और) छक्के आहार-कारणे—आहार ग्रहण करने के छह कारणो मे, निच्च—सदैव, जयइ—यतना—उपयोगपूर्वक यत्न करता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही ठहरता ।

विशेषार्थ—छह लेश्याएँ त्याज्य-ग्राह्यविवेक—जीव का अध्यवसाय या परिणामविशेष लेश्या है । आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामो द्वारा शुभाशुभ कर्मों का सश्लेष होता है उसे लेश्या कहते हैं । ऐसे परिणामो की ६ धाराएँ हैं, इसलिए लेश्या के मुख्य ६ प्रकार बताये गये है— कृष्ण, नील, कापोत, तेजस, पद्म और शुक्ल । ये छह लेश्याएँ परिणामो की धारा के अनुसार अशुभतम से लेकर शुभतम तक हैं । ये उत्तरोत्तर प्रशस्त होती जाती हैं । प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ त्याज्य हैं और पिछली तीन लेश्याएँ ग्राह्य हैं। साधक के लिए चारित्रविधि यह है कि वह प्रारम्भ की तीन अप्रशस्त लेश्याओ से निवृत्ति और पिछली तीन प्रशस्त लेश्याओ मे प्रवृत्ति करे ।[1]

षट्काय हिंसा-अहिंसा-विवेक—जीवनिकाय (ससारी जीव-समूह) छह हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये षट्कायिक जीव हैं । इनमे से प्रारम्भ के पाच एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं और अन्तिम त्रसकाय हैं, जिसमे द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीव आ जाते हैं । इन षट्कायिक जीवो की हिंसा से निवृत्ति और इनकी दया या रक्षा मे प्रवृत्ति करना-कराना चारित्रविधि है ।[2]

आहार के विधान-निषेध के षट् कारण—इसी आगम के सामाचारी अध्ययन[3] (अ २६) मे मूल पाठ मे बताया गया है कि साधु वर्ग अमुक छह कारणो के उपस्थित होने पर आहार ले, और अमुक छह कारणो के उपस्थित न होने पर आहार न ले । इस प्रकार आहार करने के विधि-निषेध रूप जो छह-छह कारण हैं, उनमे यत्न (विवेक) रखना आवश्यक

---

१ सश्लिष्यते आत्मा तैस्तै परिणामान्तरै लेश्याभिरात्मनि कर्माणि सश्लिष्यन्ते ।

—आवश्यक चूर्णि

विशेष वर्णन के लिए देखिये उत्तराध्ययन सूत्र का ३४ वा लेश्याध्ययन ।

२ (क) स्थानाग, स्थान ६ वृत्ति (ख) आवश्यकसूत्र वृत्ति

३ देखिये—उत्तराध्ययन सूत्र, अ २६ गा ३३-३४-३५ मूलपाठ

है। अर्थात्—चारित्रविधि यह है कि साधु उक्त ६ कारणो से आहार मे प्रवृत्त हो और ६ कारणो से आहार से निवृत्त हो।[1]

सप्तविध पिण्डावग्रह-आहार-प्रतिमा-भयस्थानो मे उपयोग सातवाँ बोल—

मूल—पिंडोग्गह-पडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्च, से न अच्छइ मडले ॥९॥

पद्यानु०—अशनग्रहण व प्रतिमाओ मे, तथा सप्तभय-स्थानो मे।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न रहता वह भव-थानो मे ॥९॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, पिंडोग्गह-पडिमासु[2]—(सात) पिण्ड (एषणाओ), (सात) अवग्रह-प्रतिमाओ (एव), सत्तसु भयट्ठाणेसु—सात भयस्थानो मे निच्च—नित्य, जयइ—यतना, (उपयोग) रखता है, से—वह, मंडले—ससार मे, न अच्छइ—नही ठहरता (या परिभ्रमण नही करता)।

विशेषार्थ—पिण्डैषणा-सम्बन्धी सात प्रतिमाए—पिण्डैषणा (आहारैषणा) से सम्बन्धित सात प्रतिमाए (प्रतिज्ञाएँ) इस प्रकार हैं—(१) ससृष्टा, (२) असससृष्टा, (३) उद्धृता, (४) अल्पलेपा, (५) अवगृहीता, (६) प्रगृहीता और (७) उज्झित धर्मा। इनका वर्णन तपोमार्गगति नामक ३०वे अध्ययन मे किया जा चुका है। इनके अनुसार आहार-गवेषणा मे प्रवृत्त हो, और सदोष आहारग्रहण से निवृत्त होना साधु वर्ग की चरण विधि है।[3]

अवग्रह-सम्बन्धी सात प्रतिमाए—अवग्रह पारिभाषिक शब्द है, उसका अर्थ है—स्थान सम्बन्धी सात प्रतिज्ञाएँ—अवग्रह प्रतिज्ञाएँ है। यथा—(१) अमुक प्रकार के स्थान मे रहूँगा, दूसरे मे नही, (२) मैं दूसरे साधुओ के लिए स्थान की याचना करूगा, अपने लिए नही, मैं दूसरे साधुओ द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा, (३) मैं दूसरे साधुओ के लिए स्थान की याचना करूगा, किन्तु दूसरो द्वारा याचित स्थान मे नही रहूँगा, (४) मैं दूसरो के लिए स्थान की याचना नही करूँगा, किन्तु दूसरो द्वारा याचित स्थान मे रहूँगा, (५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूगा, दूसरो के लिए नही, (६) जिसका स्थान मै ग्रहण करूगा, उसी के यहाँ 'पलाल' आदि सस्तारक सामग्री प्राप्त होगी तो लूगा, अन्यथा सारी रात उकडू या नैषिधिक आसन

---

१ देखिये (क) उत्तराध्ययन अ २६ गा ३३-३४-३५, (ख) पिण्डनिर्युक्ति, (ग) आवश्यक सूत्र वृत्ति।

२ कोई-कोई आचार्य पिंडावग्रह प्रतिमा नामक एक ही प्रतिमा मानते हैं, अवग्रह-प्रतिमा को नही मानते, न ही उसकी व्याख्या करते हैं।

३ देखिये (क) उत्तराध्ययन, अ ३० गा २५, (ख) पिण्डनिर्युक्ति

से बैठा-बैठा बिता दूगा, और (७) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूगा, उसी के यहाँ सहज भाव से पहले से रखा हुआ शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त होगा, तो उसका उपयोग करूगा, अन्यथा सारी रात उकडू या नैषधिक आसन से बैठे-बैठे बिता दूगा।[1] ये सात प्रकार की प्रतिमाएँ क्रमश (१) गच्छवासी, (२) गच्छवासी, (३) यथालन्दिक, (४) जिनकल्पावस्था के अभ्यासी, (५) जिनकल्पिक, (६) अभिग्रहधारी या जिनकल्पी, तथा (७) अभिग्रहधारी या जिनकल्पी साधुओ की अपेक्षा से कही गई है। इन सात अवग्रह प्रतिमाओ मे विवेक रखना।[2]

सात भयस्थान—साधु वर्ग को सात भयो से मुक्त होकर निर्भयता पूर्वक विचरण करना चाहिए, यही उसकी चारित्रविधि है। सात प्रकार के भय इस प्रकार हैं—(१) इहलोक-भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय या अत्राण भय, (४) अकस्मात्-भय (५) आजीविका भय, (६) अपयश भय और (७) मरण भय। निष्कर्ष यह है कि जो साधु सप्त पिण्डैषणा के अनुसार आहार-गवेषणा करता है, तथा सप्तविध अवग्रह-प्रतिमा मे से स्वगृहीत प्रतिमा के अनुसार चलने का प्रयत्न करता है तथा सात भयो से निवृत्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है।[3]

अष्टविध मदस्थान, नवविध ब्रह्मचर्यगुप्ति, दशविध श्रमण धर्म
आठवा, नौवाँ और दसवाँ बोल—

मूल—मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मंमि दसविहे।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मडले ॥१०॥

पद्यानु०—आठ मदो मय ब्रह्मगुप्ति मे, मुनि के दशविध धर्मों मे।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न रहता वह जग मे। ॥१०॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो साधु, मएसु—(अष्टविध) मदस्थानो मे बंभगुत्तीसु—(नवविध) ब्रह्मचर्य-गुप्तियो मे, (तथा) दसविहे—दस प्रकार के, भिक्खुधम्मंमि—श्रमण धर्म मे, निच्चं—सदैव, जयइ—यत्न करता है, से—वह, मडले—जन्म मरण चक्र रूप ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

---

१ (क) स्थानाग, स्थान ७ सू ५४५ वृत्ति, पत्र ३८६-३८७
(ख) ओघनिर्युक्ति

२ स्थानाग० स्थान ७, सू० ५४५ वृत्ति।

३ समवायाग, ७वाँ समवाय।

विशेषार्थ—अष्टविध मदस्थान—मानमोहनीयकर्म के उदय से आत्मा का जाति आदि से सम्बन्धित उत्कर्ष-अहकार का परिणाम 'मद' कहलाता है। मदस्थान ८ हैं—१ जातिमद, २ कुलमद, ३ बलमद, ४ रूपमद, ५ तपोमद, ६ श्रुतमद, ७ लाभमद और ८ ऐश्वर्यमद। इन आठ मदस्थानो से निवृत्त होना और नम्रता, मृदुता, निरहकारता मे प्रवृत्त होना साधु के लिए चारित्र विधि है।[1]

नवविध-ब्रह्मचर्य-गुप्ति—ब्रह्मचर्य की सर्वविध सुरक्षा के लिए ९ गुप्तियाँ नौ बाडे बताई गई है। यथा—१ विविक्त-वसति सेवन, २ स्त्री कथा वर्जन, ३ निषद्याऽनुपवेशन, ४ स्त्री-अगोपागादर्शन, ५ कुड्यान्तर-शब्द श्रवणादि-वर्जन, ६ पूर्वभुक्त-भोगाऽस्मरण, ७ प्रणीत भोजन त्याग, ८ अतिमात्र-भोजन त्याग और ९ विभूषात्याग। अब्रह्मचर्य पोषक वृत्तियो से निवृत्ति और ब्रह्मचर्य पोषक गुप्तियो मे प्रवृत्ति करना साधु वर्ग के लिए चारित्र विधि है।[2]

दशविध श्रमणधर्म—(१) क्षान्ति, (२) मुक्ति (निर्लोभता), (३) आर्जव, (४) मार्दव, (५) लाघव (लघुता-अल्प उपकरण), (६) सत्य, (७) सयम (हिंसादि आश्रव त्याग), (८) तप, (९) त्याग (सर्व-सग-परित्याग), और (१०) ब्रह्मचर्य वास, ये दश भेद श्रमण (भिक्षु) धर्म के हैं। इन दश धर्मो मे प्रवृत्त होना और इनसे विपरीत दस पापो से निवृत्त होना चारित्रविधि[1] है।

एकादश उपासक-प्रतिमा—द्वादश भिक्षु प्रतिमा मे उपयोग
ग्यारहवा बारहवा बोल—

मूल—उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूण पडिमासु य।
जे भिक्खू जयइ निच्च, से न अच्छइ मडले ॥११॥

पद्यानु०—उपासको की प्रतिमाओ और, भिक्षुजनो की प्रतिमा मे।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न रहता वह जग मे ॥११॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, **उवासगाण**—उपासको=श्रावको की, (ग्यारह) **पडिमासु**—प्रतिमाओ मे, **य**—और, **भिक्खूणं**—भिक्षुओ की, (बारह)

---

१ (क) मदोनाम मानोदयादात्मन उत्कर्ष-परिणाम —आवश्यक चूर्णि
(ख) श्रमण सूत्र—आवश्यक वृत्ति।

२ देखिये—उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन १६ मे ब्रह्मचर्य गुप्तियो का वर्णन।

३ (क) स्थानाग स्थान १०, (ख) आवश्यक वृत्ति, (ग) नवतत्व-प्रकरण।
(घ) तत्वार्थ सूत्र मे इनका क्रम और नाम इस प्रकार है—उत्तमा क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-सयम-तपस्त्यागाऽऽकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्म।—अ ९/६

पडिमासु—प्रतिमाओ मे, निच्चं—सदैव, जयइ—यत्न (उपयोग) रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही ठहरता ।

विशेषार्थ—श्रमणोपासको की ग्यारह प्रतिमाए (प्रतिज्ञाए) इस प्रकार है—

(१) दर्शन प्रतिमा—राजाभियोग आदि किसी प्रकार का छह छण्डी आगार न रखकर निरतिचार शुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन करना, इसकी अवधि एक मास है।

(२) व्रत प्रतिमा—ससम्यक्त्व पाच अणुव्रतादि व्रतो का निरतिचार पालन करना । अवधि दो मास ।

(३) सामायिक प्रतिमा—प्रात साय निरतिचार सामायिक व्रत की साधना करना । परिणामो मे समभाव की दृढता । अवधि-तीन मास । उपलक्षण से यथाकाल प्रतिक्रमणादि क्रियाए करना।

(४) पौषध प्रतिमा—अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वतिथियो मे चतुर्विध-आहार त्याग रूप परिपूर्ण पौषध व्रत पालन करना । अवधि-चार मास ।

(५) नियम प्रतिमा—पूर्वोक्त व्रतो के सम्यक् पालन करने के साथ-साथ अस्नान, रात्रि भोजन त्याग, कायोत्सर्ग, ब्रह्मचर्य-मर्यादा, (चतुर्दश-नियम-चिन्तन), आदि नियम अगीकार करना । अवधि कम से कम १-२ दिन, अधिक से अधिक ५ मास ।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना । अवधि-उत्कृष्ट ६ मास ।

(७) सचित्त त्याग-प्रतिमा—अवधि—उत्कृष्ट ७ मास (८) आरम्भ त्याग प्रतिमा—स्वय आरम्भ करने का त्याग । अवधि—उत्कृष्ट ८ मास (९) प्रेष्य-त्याग-प्रतिमा—दूसरो से आरम्भ कराने का त्याग । अवधि—उत्कृष्ट ९ मास (१०) उद्दिष्ट-भक्त-त्याग-प्रतिमा—इसमे शिरोमुण्डन करना आवश्यक है । अवधि-उत्कृष्ट १० मास । (११) श्रमणभूत-प्रतिमा—मुनि सदृश वेष और बाह्याचार का पालन । अवधि—उत्कृष्ट ११ मास । साधु को इन[1]

---

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति, भाव विजय टीका, (ख) समवायाग, ११ वाँ समवाय
(ग) दशाश्रुतस्कन्ध टीका
(घ) दर्शन व्रतानि सामायिक-पौषध-प्रतिमा, अब्रह्मचर्य-सचित्तारम्भ-प्रेष्य-उद्दिष्ट-वर्जक श्रमणभूतश्चेति ।"

है। साधु का इनकी विराधना से बचना और इनकी रक्षा एव दया मे प्रवृत्त होना चारित्र-विधि है।[1]

पचदश परमाधार्मिक असुर—(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रौद्र, (६) उपरौद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) बालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष।

ये पन्द्रह परमाधार्मिक देव नारक जीवो को अपने मनोविनोद के लिए विविध यातनाएँ देते हैं। अत परमाधार्मिक पर्याय प्राप्त होने के सक्लिष्ट परिणमो से बचना और उत्कृष्ट शुभ परिणामो मे प्रवृत्त होना साधु के लिए चारित्र-विधि है।[2]

गाथा-षोडशक एव सप्तदश असयम सोलहवा, सत्रहवा बोल—

मूल—गाहा-सोलसएहिं, तहा असजमम्मि य।
जे भिक्खू जयइ निच्च, से न अच्छइ मडले ॥१३॥

पद्यानु०—सोलह अध्ययनो मे सुयगडाग के, एव सकल असयम मे।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग मे ॥१३॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, गाहा-सोलसएहिं—गाथा-षोडशको मे सूत्रकृताग के गाथा सहित सोलह अध्ययन मे, तहा—तथा (सत्रह प्रकार के), असजमम्मि य—असयम मे, निच्च—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

विशेषार्थ—गाथा-षोडशक—गाथाओ मे निबद्ध गाथा नामक अध्ययन सहित सूत्रकृताग, प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन इस प्रकार हैं—१

---

१ (क) समवायाग, समवाय १४।
(ख) उत्तरा० (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा० ३, पृ० २१६।

२ (क) गच्छाचार-पइन्ना, पत्र ६४-६५।
(ख) समवायाग, समवाय १५, पत्र २८।
(ग) एत्थ जेहिं परमाधम्मियत्तण भवति, तेसु ठाणेसु न वट्टितव्व।
—जिनदास महत्तर

स्वसमय-परसमय, २ वैतालीय, ३ उपसर्ग-परिज्ञा, ४ स्त्री-परिज्ञा, ५. नरक-विभक्ति, ६ वीर-स्तुति, ७ कुशील परिभाषा, ८ वीर्याध्ययन, ९. धर्मध्यान, १० समाधि, ११. मोक्षमार्ग, १२ समवसरण, १३ याथातथ्य, १४ ग्रन्थ, १५ आदानीय और १६ गाथा। इन सोलह अध्ययनो मे प्ररूपित सम्यक् आचार-विचार का सुचारुरूप से पालन करना और इनमें उक्त अनाचार, दुर्विचार या अनाचार-दुर्विचार के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दु ख और दुर्गति आदि से बचना साधु के लिए चरणविधि है।[1]

सप्तदश असयम—सत्रह प्रकार का असयम—(१–९) पृथ्वीकाय से लेकर पचेन्द्रिय (पाच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पचेन्द्रिय) तक नौ प्रकार के जीवो की हिंसा करना-कराना-अनुमोदन करना। १० अजीव-असंयम—(अजीव होने पर भी असयमजनक या असयमवर्द्धक बहुमूल्य वस्तुओं का ग्रहण और उपयोग), ११ प्रेक्षा-असयम—(सजीव स्थल मे बिना देखे उठना-बैठना सोना आदि), १२ उपेक्षा असयम—(साधु के लिए उपेक्ष्य—गृहस्थ के सावद्य कर्मों का अनुमोदन करना), १३ अपहृत्य-असयम—अनुपयोगी वस्तुओ का अविधि से परिष्ठापन), १४ प्रमार्जना असयम—(वस्त्रादि का प्रमार्जन न करना या अविधि से करना) १५ मन असयम—(मन में दुर्भावादि लाना), १६ वचन-असयम—(असत्य, निरर्थक, शकायुक्त, मर्मस्पर्शी एवं कठोर दुर्वचन बोलना) १७ काय-असयम—(गमनागमन आदि में असयम रखना।।[2]

उपर्युक्त १७ प्रकार के असयम से निवृत्त होना और १७ प्रकार के सयम मे प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।

ब्रह्मचर्य, ज्ञाताध्ययन एव असमाधिस्थान . अठारहवां, उन्नीसवां, बीसवा बोल

मूल—बम्भम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए।
जे भिक्खू जयइ निच्च, से न अच्छइ मडले ॥१४॥

---

१ (क) गाहाए सह सोलस अज्झयणा, तेसु सुत्तगड-पढमसुतक्खध-अज्झयणेसु इत्यर्थ।
—आवश्यक चूर्णि (जिनदास महत्तर)

(ख) समवायाग समवाय १६

२ (क) वही, समवाय १७,

(ख) आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति।

पद्यानु०—ब्रह्मचर्य ज्ञाताध्ययनो में, और असमाधि-स्थानो मे।
मन से सदा यत्न जो करता, भिक्षु न वह रहता जग मे। ॥१४॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु (अठारह प्रकार के) बम्भम्मि—ब्रह्मचर्य मे, (उन्नीस) नायज्झयणेसु—ज्ञाताधर्मकथा के अध्ययनो मे (तथा बीस प्रकार के) असमाहिए—असमाधि के, ठाणेसु—स्थानो मे, निच्चं—नित्य, जयइ—यत्नशील रहता है, से—वह, मंडले—ससार मे, न अच्छइ—परिभ्रमण नही करता।

विशेषार्थ—अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य—औदारिक शरीर सम्बन्धी (मन-वचन-काया से कृत, कारित और अनुमोदन रूप से) मैथुन-त्याग के नौ भेद तथा वैक्रिय शरीर सम्बन्धी (मन-वचन-काया से कृत कारित अनुमोदनरूप से) मैथुन त्याग के नौ भेद, यो कुल १८ भेद ब्रह्मचर्य के हुए। साधु वर्ग का इन अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से विरत होना और अठारह ही प्रकार के ब्रह्मचर्य मे प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।[1]

उन्नीस ज्ञाताध्ययन—(१) मेघकुमार, (२) सघाटक, (३) मयूरी-अण्डक, (४) कूर्म, (५) शैलर्षि, (६) तुम्ब, (७) रोहिणी, (८) मल्ली, (९) माकन्दीपुत्र, (१०) चन्द्रमा, (११) दावद्रव, (१२) उदक शुद्धि, (१३) मण्डूक, (१४) तेतलि-अमात्य, (१५) नन्दीफल, (१६) अवरकका, (१७) आकीर्णक, (१८) सुषमा-दारिका और (१९) पुण्डरीक-कुण्डरीक। उक्त उन्नीस अध्ययनो मे कथित उदाहरणो के भावार्थानुसार सयम-साधना मे प्रवृत्त होना और इनसे विपरीत असयम से निवृत्त होना चारित्र विधि है।[2]

बीस असमाधि-स्थान—(१) द्रुत-द्रुत-चारित्व (जल्दी जल्दी चलना), (२) अप्रमृज्य-चारित्व, (३) दुष्प्रमृज्य-चारित्व, (४) अतिरिक्त-शय्याऽऽसनिकत्व, (५) रात्निक-पराभव (दीक्षाज्येष्ठ साधुओ का अपमान करना), (६) स्थविरोपघात (स्थविरो की अवज्ञा करना), (७) भूतोपघात, (८) सज्वलन (बार-बार रोष करना), (९) दीर्घ-कोप (लम्बे समय तक कुपित रहना), (१०) पृष्ठमासिकत्व (चुगली या निन्दा करना), (११) अभीक्ष्ण भाषण (सशक होने पर भी निश्चयकारी भाषा बोलना), (१२) नवाधिकरण-करण (नित नये कलह करना), (१३) उपशान्त-कल-

---

१ समवायाग, समवाय १८।

२ (क) वही, समवाय १९, (ख) ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अ० १ से १९ तक।

हृदोदीरण, (१४) अकाल-स्वाध्याय, (१५) सरजस्क-पाणि भिक्षा-ग्रहण (सचित्त रज से लिप्त हाथ आदि से भिक्षा लेना), (१६) शब्द-करण (पहर रात बीतने पर जोर जोर से बोलना, (१७) झझा-करण (संघ-विघटनकारक वचन बोलना), (१८) कलह-करण (आक्रोशादिरूप कलह करना), (१९) सूर्य प्रमाण भोजित्व (सूर्यास्त होने तक दिन भर कुछ न कुछ खाते रहना), और (२०) एषणाऽसमितित्व (एषणा समिति का उचित ध्यान न रखना) ।[1]

जिस कार्य के करने से चित्त मे शान्ति, स्वस्थता और मोक्ष मार्ग मे अवस्थिति रहे, उसे समाधि कहते हैं ।[2] इसके विपरीत जिस कार्य के करने से चित्त मे अशान्ति, अस्वस्थता एव अप्रशस्त भावना पैदा हो, ज्ञानादि रत्नत्रय से आत्मा भ्रष्ट हो, उसे असमाधि कहते हैं । प्रस्तुत मे असमाधि से निवृत्त होना और समाधि मे प्रवृत्त होना चारित्र-विधि है ।

शबलदोष एव परीषह इक्कीसवाँ और बाईसवाँ बोल—

मूल—एगवीसाए सबलेसु, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मडले ॥१५॥

पद्यानु—जो इक्कीस शबल दोषो मे, और बावीस परीषह मे ।
करता है यत्न सदा मन से, भिक्षु न वह रहता जग मे ॥१५॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, एगवीसाए—इक्कीस प्रकार के, सबलेसु—शबल दोपो मे, (तथा) बावीसाए—बाईस प्रकार के, परीसहे—परीषहो मे, निच्चं—नित्य, जयई—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—संसार मे, न अच्छइ—परिभ्रमण नही करता ।

विशेषार्थ—इक्कीस प्रकार के शबलदोष—(१) हस्तकर्म, (२) मैथुनसेवन, (३) रात्रिभोजन, (४) आधाकर्म, (५) सागारिक (शयातर) पिण्ड, (६) औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया, खरीदा, छीना या लाया हुआ आहार लेना), (७) प्रत्याख्यान-भग, (८) गण-परिवर्तन (६-६ मास मे एक गण से गणान्तर मे जाना) (९) उदक लेप (महीने मे तीन बार जघा-प्रमाण नदी आदि के जल को पार करना), (१०) माया स्थान (महीने मे तीन बार मायास्थानो का सेवन करना), (११) राज पिण्ड, (१२) जानबूझ कर

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १, (ख) समवायाग० समवाय २० ।
२ समाधान समाधि—चेतस स्वास्थ्य, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थं ।
—आचार्य हरिभद्र

हिंसा करना, (१३) जानबूझ कर असत्य बोलना, (१४) इरादेपूर्वक अदत्तादान-सेवन करना, (१५) सचित्त पृथ्वी आदि का स्पर्श, (१६) सचित्त स्निग्ध पृथ्वी, शिला या सजीव काष्ठ आदि पर शयनासनादि करना, (१७) बीज, चीटी आदि के अण्डो तथा जाले लगे हुए सजीव स्थानो पर शयनासनादि करना, (१८) जानबूझकर कन्दमूलादि का सेवन करना, (१९) वर्ष मे दस बार उदक लेप लगाना, (२०) वर्ष मे दस बार माया-स्थान सेवन करना और (२१) बार-बार सचित्त जल से लिपे हाथ, बर्तन या कुडछी आदि से दिया जाने वाला लेना।[1]

जिस कार्य के करने से या जिस क्रिया विशेष से चारित्र मे धब्बा लगता हो अथवा चारित्र मलिन होता हो, उसे 'शबल दोष' कहते हैं। उक्त शबल दोषो का त्याग करना और विशुद्ध साध्वाचार मे प्रवृत्त होना चारित्र विधि है।[2]

बाईस परीषह—इसी शास्त्र के दूसरे अध्ययन मे इनके नाम तथा स्वरूप का विशद वर्णन है। इनमे से कोई भी परीषह उपस्थित होने पर मन मे ग्लानि, वचन मे कटुता, तथा काया से प्रहारादि चेष्टा से बचना और शान्ति एव समभाव पूर्वक उसे सहन करना चारित्र-विधि है।[3]

सूत्रकृताग-अध्ययन एवं रूपाधिक देव तेईसवा और चौबीसवा बोल—

मूल—तेवीसई सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु य।
जे भिक्खू जयइ निच्च, से न अच्छइ मडले ॥१६॥

पद्यानु०—सूत्रकृताग तेवीस अध्ययनो मे, चौबीस रूपाधिक देवो मे।
मन से सदा यत्न करता जो, भिक्षु न रहता है जग मे ॥१६॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, तेवीसई सूयगडे—सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनो मे, य—और, रूवाहिएसु—रूपाधिक (सुन्दर रूप वाले) सुरेसु—(चौबीस प्रकार के) देवो मे, निच्च—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध दशा २, (ख) समवायाग समवाय २१

२ शबल कर्बुर चारित्र यै क्रिया विशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात् साधवोऽपि।
—समवायाग समवाय २१ टीका।

३ (क) उत्तराध्ययन अ २ मूलपाठ
(ख) परीसहिज्जते इति परीसहा अहियासिज्जतित्ति वुत्त भवति।
—जिनदास महत्तर

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, (पाच महाव्रतो की), पणवीस भावणासु—पच्चीस भावनाओ मे, (तथा) दसाईण—दशाश्रुतस्कन्ध आदि (सूत्रत्रयी) के (छब्बीस), उद्देसेसु—उद्देशो मे, निच्च—नित्य, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

विशेषार्थ— पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाए—प्रथम महाव्रत की पाँच भावना—१ ईर्यासमिति, २ आलोकित पान-भोजन, ३ आदान-निक्षेप-समिति, ४ मनोगुप्ति, और ५ वचन-समिति। द्वितीय महाव्रत की पाच भावना—१ अनुविचिन्त्य भाषण, २ क्रोध-विवेक, ३ लोभ-विवेक, ४ भय-विवेक, और ५ हास्यविवेक। तृतीय महाव्रत की पाच भावना—१ अवग्रहानुज्ञापना, २ अवग्रहसीमा-परिज्ञानता, ३ अवग्रहानुग्रहणता (अवग्रह स्थित तृण पट्ट आदि के लिए पुन अवग्रह—स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना) ४ गुरुजनो एव अन्य सार्धर्मिको से भोजनानुज्ञा प्राप्त करना, और ५ सार्धर्मिको से अवग्रहानुज्ञा प्राप्त करना। चतुर्थ महाव्रत की पाच भावना—१ केवल स्त्रियो मे कथा-वर्जन (अथवा स्त्री विषयक-चर्चा-त्याग), २ स्त्रियो के अगोपागो का अवलोकन-वर्जन, ३ अतिमात्रा मे तथा प्रणीत पान-भोजन वर्जन, ४ पूर्व-भुक्त-भोग-स्मृति वर्जन, और ५ स्त्री आदि से ससक्त शयनासन-वर्जन। पचम महाव्रत की पाच भावना—पाचो इन्द्रियो के विषयो (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज्ञ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष न रखना। पाच महाव्रतो की इन २५ भावनाओ द्वारा सयम की रक्षा करना और सयम-विरोधी भावनाओ से निवृत्त होना, चारित्रविधि है।[1]

दशाश्रुतस्कन्ध[2] आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशक—ये हैं—दशाश्रुतस्कन्ध

---

१ [क] आचाराग २।१५, [ख] समवायाग, स० २५,
[ग] प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार।
[घ] कही कही इन २५ भावनाओ के नाम और क्रम मे अन्तर है। यथा—प्रथम महाव्रत की दूसरी और तीसरी भावना—एषणासमिति भावना और काय समिति भावना है। तृतीय महाव्रत की प्रथम भावना—निर्दोष वसति-सेवन, चौथी भावना समविभाग करना और पाचवी भावना—तपस्वी आदि की सेवा करना है।
—उत्तरा० [आ० आत्मारामजी म०] भा० ३ पृ० २२१

२ [क] दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एव व्यवहार सूत्र। (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

के १०, बृहत्कल्प के ६ और व्यवहार सूत्र के १० उद्देशक, ये सब मिलाकर २६ उद्देशक होते हैं। इन तीनो शास्त्रो मे साधु जीवन सम्बन्धी शुद्ध आचार, व्यवहार एव आत्मशुद्धि का निरूपण है। साधु का इन २६ उद्देशको के अनुसार अपने आचार, व्यवहार और आत्मशुद्धि मे प्रवृत्त होना तथा इसके विपरीत अनाचार, अशुद्ध व्यवहार और आत्मा को अशुद्ध बनाने वाले आचरण से निवृत्त होना चारित्रविधि है।

अनगारगुण और आचार-प्रकल्प : सत्ताईसवा और अट्ठाईसवा बोल—

मूल—अणगार-गुणेहिं च, पगप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥१८॥

पद्यानु०—साधु के सत्ताबीस गुणो मे, एव आचार-प्रकल्पो मे।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता इस जग मे ॥१८॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु (सत्ताईस) अणगारगुणेहिं—अनगार-गुणो मे, तहेव य—तथा (आचार) पगप्पम्मि—प्रकल्प (आचाराग के २८ अध्ययनो) मे, निच्चं—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रुकता।

विशेषार्थ—सत्ताईस अनगार-गुण—(१—५) पाच महाव्रतो का सम्यक् पालन, (६—१०) पाच इन्द्रियो का निग्रह, (११—१४) चार कषायो पर विजय, (१५—१७) भावसत्य, करणसत्य, योग-सत्य, (१८) क्षमा, (१९) वैराग्य, (२०) मन समाधारणता (मन की शुभ प्रवृत्ति), (२१) वचन-समाधारणता, (२२) काय-समाधारणता, (२३) ज्ञान-सम्पन्नता, (२४) दर्शन सपन्नता, (२५) चारित्रसपन्नता (२६) वेदना-सहिष्णुता और (२७) मारणान्तिक कष्टाधिसहन। किसी आचार्य ने चार कषाय-त्याग के बदले केवल लोभ-त्याग तथा शेष के बदले रात्रि-भोजन त्याग, षट्कायिक जीव रक्षा एव सयमयोगयुक्तता माने हैं। इन सत्ताईस अनगार-गुणो मे दृढता-पूर्वक प्रवृत्त होना और इनसे विरुद्ध अवगुणो से निवृत्त होना चारित्रविधि है।[1]

---

१ (क) समवायाग, समवाय २७
(ख) आवश्यक सूत्र, वृत्ति।
(ग) वयछक्कमिंदियाण च, निग्गहो भाव-करण-सच्चं च।
खमया विरागया वि य, मणमाईणं णिरोहो य ॥
कायाण छक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया।
तह मारणंतियाहियासणया एएऽणगारगुणा ॥—बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, (पाच महाव्रतो की), पणवीस भावणासु—पच्चीस भावनाओ मे, (तथा) दसाईण—दशाश्रुतस्कन्ध आदि (सूत्रत्रयी) के (छब्बीस), उद्देसेसु—उद्देशो मे, निच्च—नित्य, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता ।

विशेषार्थ— पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाए—प्रथम महाव्रत की पाँच भावना—१ ईर्यासमिति, २ आलोकित पान भोजन, ३ आदान-निक्षेप-समिति, ४ मनोगुप्ति, और ५ वचन-समिति । द्वितीय महाव्रत की पाच भावना—१ अनुविचिन्त्य भाषण, २ क्रोध-विवेक, ३ लोभ-विवेक, ४ भय-विवेक, और ५ हास्यविवेक । तृतीय महाव्रत की पाच भावना—१ अवग्रहानुज्ञापना, २ अवग्रहसीमा-परिज्ञानता, ३ अवग्रहानुग्रहणता (अवग्रह स्थित तृण पट्ट आदि के लिए पुन अवग्रह—स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना) ४ गुरुजनो एव अन्य साधर्मिको से भोजनानुज्ञा प्राप्त करना, और ५ साधर्मिको से अवग्रहानुज्ञा प्राप्त करना । चतुर्थ महाव्रत की पाच भावना—१ केवल स्त्रियो मे कथा-वर्जन (अथवा स्त्री विषयक-चर्चा-त्याग), २ स्त्रियो के अगोपागो का अवलोकन-वर्जन, ३ अतिमात्रा मे तथा प्रणीत पान-भोजन वर्जन, ४ पूर्व-भुक्त-भोग-स्मृति वर्जन, और ५ स्त्री आदि से ससक्त शयनासन-वर्जन । पचम महाव्रत की पाच भावना—पाचो इन्द्रियो के विषयो (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज्ञ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष न रखना । पाच महाव्रतो की इन २५ भावनाओ द्वारा सयम की रक्षा करना और सयम-विरोधी भावनाओ से निवृत्त होना, चारित्रविधि है ।[1]

दशाश्रुत स्कन्ध[2] आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशक—ये हैं—दशाश्रुतस्कन्ध

---

१ [क] आचाराग २।१५, [ख] समवायाग, स० २५,
[ग] प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ।
[घ] कही कही इन २५ भावनाओ के नाम और क्रम मे अन्तर है । यथा—प्रथम महाव्रत की दूसरी और तीसरी भावना—एषणासमिति भावना और काय समिति भावना है । तृतीय महाव्रत की प्रथम भावना—निर्दोष वसति-सेवन, चौथी भावना समविभाग करना और पाचवी भावना—तपस्वी आदि की सेवा करना है ।

—उत्तरा० [आ० आत्मारामजी म०] भा० ३ पृ० २२१

२ [क] दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एव व्यवहार सूत्र । (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

के १०, बृहत्कल्प के ६ और व्यवहार सूत्र के १० उद्देशक, ये सब मिलाकर २६ उद्देशक होते हैं। इन तीनो शास्त्रो मे साधु जीवन सम्बन्धी शुद्ध आचार, व्यवहार एव आत्मशुद्धि का निरूपण है। साधु का इन २६ उद्देशको के अनुसार अपने आचार, व्यवहार और आत्मशुद्धि मे प्रवृत्त होना तथा इसके विपरीत अनाचार, अशुद्ध व्यवहार और आत्मा को अशुद्ध बनाने वाले आचरण से निवृत्त होना चारित्रविधि है।

अनगारगुण और आचार-प्रकल्प : सत्ताईसवा और अट्ठाईसवा बोल—

मूल—अणगार-गुणेहिं च, पगप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मडले ॥१८॥

पद्यानु०—साधु के सत्ताईस गुणो मे, एव आचार-प्रकल्पो मे।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता इस जग मे ॥१८॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु (सत्ताईस) अणगारगुणेहिं—अनगार-गुणो मे, तहेव य—तथा (आचार) पगप्पम्मि—प्रकल्प (आचाराग के २८ अध्ययनो) मे, निच्चं—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रुकता।

विशेषार्थ—सत्ताईस अनगार-गुण—(१—५) पाच महाव्रतो का सम्यक् पालन, (६—१०) पाच इन्द्रियो का निग्रह, (११—१४) चार कषायो पर विजय, (१५—१७) भावसत्य, करणसत्य, योग-सत्य, (१८) क्षमा, (१६) वैराग्य, (२०) मन समाधारणता (मन की शुभ प्रवृत्ति), (२१) वचन-समाधारणता, (२२) काय-समाधारणता, (२३) ज्ञान-सम्पन्नता, (२४) दर्शन सपन्नता, (२५) चारित्रसपन्नता (२६) वेदना-सहिष्णुता और (२७) मारणान्तिक कष्टाधिसहन। किसी आचार्य ने चार कषाय-त्याग के बदले केवल लोभ-त्याग तथा शेष के बदले रात्रि भोजन त्याग, षट्कायिक जीव रक्षा एव सयमयोगयुक्तता माने हैं। इन सत्ताईस अनगार-गुणो मे दृढता-पूर्वक प्रवृत्त होना और इनसे विरुद्ध अवगुणो से निवृत्त होना चारित्रविधि है।[1]

---

१ (क) समवायाग, समवाय २७
(ख) आवश्यक सूत्र, वृत्ति।
(ग) वयछक्कमिंदियाण च, निग्गहो भाव-करण-सच्चं।
खमया विरागया वि य, मणमाईणं णिरोहो य॥
कायाण छक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया।
तह मारणंतियाहियासणया एएऽणगारगुणा ॥—बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, (पाच महाव्रतो की), पणवीस भावणासु—पच्चीस भावनाओ मे, (तथा) दसाईण—दशाश्रुतस्कन्ध आदि (सूत्रत्रयी) के (छब्बीस), उद्देसेसु—उद्देशो मे, निच्चं—नित्य, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

विशेषार्थ— पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाए—प्रथम महाव्रत की पाँच भावना—१ ईर्यासमिति, २ आलोकित पान भोजन, ३ आदान-निक्षेप-समिति, ४ मनोगुप्ति, और ५ वचन-समिति। द्वितीय महाव्रत की पाच भावना—१ अनुविचिन्त्य भाषण, २ क्रोध-विवेक, ३ लोभ-विवेक, ४ भय-विवेक, और ५ हास्यविवेक। तृतीय महाव्रत की पाच भावना—१ अवग्रहानुज्ञापना, २ अवग्रहसीमा-परिज्ञानता, ३ अवग्रहानुग्रहणता (अवग्रह स्थित तृण पट्ट आदि के लिए पुन अवग्रह—स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना) ४ गुरुजनो एव अन्य सार्धमिको से भोजनानुज्ञा प्राप्त करना, और ५ सार्धमिको से अवग्रहानुज्ञा प्राप्त करना। चतुर्थ महाव्रत की पाच भावना—१ केवल स्त्रियो मे कथा-वर्जन (अथवा स्त्री विषयक-चर्चा-त्याग), २ स्त्रियो के अगोपागो का अवलोकन-वर्जन, ३ अतिमात्रा मे तथा प्रणीत पान-भोजन वर्जन, ४ पूर्व-भुक्त-भोग-स्मृति वर्जन, और ५ स्त्री आदि से ससक्त शयनासन-वर्जन। पचम महाव्रत की पाच भावना—पाचो इन्द्रियो के विषयो (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज्ञ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष न रखना। पाच महाव्रतो की इन २५ भावनाओ द्वारा सयम की रक्षा करना और सयम-विरोधी भावनाओ से निवृत्त होना, चारित्रविधि है।[1]

दशाश्रुतस्कन्ध[2] आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशक—ये हैं—दशाश्रुतस्कन्ध

---

१ [क] आचाराग २।१५, [ख] समवायाग, स० २५,
[ग] प्रश्नव्याकरण, सवरद्वार।
[घ] कही कही इन २५ भावनाओ के नाम और क्रम मे अन्तर है। यथा—प्रथम महाव्रत की दूसरी और तीसरी भावना—एषणासमिति भावना और काय समिति भावना है। तृतीय महाव्रत की प्रथम भावना—निर्दोष वसति-सेवन, चौथी भावना समविभाग करना और पाचवी भावना—तपस्वी आदि की सेवा करना है।

—उत्तरा० [आ० आत्मारामजी म०] भा० ३ पृ० २२१

२ [क] दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एव व्यवहार सूत्र। (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

मोहट्ठाणेसु—मोह (महामोहनीय कर्म) के (तीस) स्थानों में, जे भिक्खू—जो भिक्षु, निच्चं—सदा, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले न अच्छइ—संसार में नहीं रहता।

विशेषार्थ—उनतीस प्रकार के पापश्रुत-प्रसंग—जिसके पढने-सुनने से जीव की पापकर्म में रुचि उत्पन्न हो, उसे पापश्रुत कहते हैं। पापाश्रव-जनक पापश्रुतों के पढने-सुनने में प्रसंग अर्थात्—प्रसक्ति अथवा प्रयोग—पापश्रुत प्रसंग है। ये पापश्रुत २९ हैं—(१) भौम (भूमिकम्प तथा भूगर्भ निर्देशक) शास्त्र, (२) उत्पात (रुधिरवृष्टि, दिग्दाह, इत्यादि का शुभाशुभ-सूचक) शास्त्र, (३) स्वप्नशास्त्र, (४) अन्तरिक्ष—(खगोल-विज्ञान) शास्त्र, (५) अंग (अंगस्फुरणादि सूचक) शास्त्र, (६) स्वरशास्त्र, (७) व्यंजन (तिल, मसा आदि चिन्हों का शुभाशुभ सूचक) शास्त्र और (८) लक्षण शास्त्र, ये आठों ही सूत्र, वृत्ति और वार्त्तिक के भेद से २४ शास्त्र हो जाते हैं। (२५) विकथानुयोग, (२६) विद्यानुयोग, (२७) मन्त्रानुयोग, (२८) योगानुयोग (वशीकरणादि योग) और (२९) अन्यतीर्थिकानुयोग (अन्य-तैर्थिक हिंसा प्रधान आचार शास्त्र)।

इन २९ प्रकार के पापश्रुतों का उत्सर्गमार्ग में प्रयोग करने से विरत होना और धर्म एवं अध्यात्म-सिद्धान्त के प्रेरक सत्श्रुतों के स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।[1]

मोह (महामोहनीय कर्म) के तीस स्थान—(१) त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना, (२) त्रस जीवों को श्वास आदि रोककर मारना, (३) त्रस जीवों को मकान आदि में बन्द करके धुएँ से दम घोटकर मारना, (४) त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमडा आदि बाधकर मारना, (५) त्रस जीवों को मस्तक पर डण्डे, तलवार आदि घातक शस्त्रों के प्रहार से मारना, (६) पथिकों को धोखा देकर लूटना, (७) गुप्तरूप से अनाचार सेवन करना, (८) अपने द्वारा कृत महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना, (९) सभा में यथार्थ (सत्य) को जान-बूझकर छिपाना, मिश्र भाषा (सत्य जैसा झूठ) बोलना। (१०) अपने अधिकारी (या शासक) को अधिकार, प्रभाव और भोगसामग्री से वंचित करना, (११) बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को बालब्रह्मचारी कहना, (१२) आश्रयदाता का धन हडपना—

---

१ (क) समवायांग, समवाय २९
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७।

अट्ठाईस आचार-प्रकल्प—जिसमे मुनिजीवन के आध्यात्मिक और व्यावहारिक आचार का प्रकल्प (प्रकृष्ट मर्यादा) वर्णित हो, वह आचार-प्रकल्प कहलाता है। आचाराग सूत्र के २८ अध्ययनो को ही यहा आचार-प्रकल्प कहा गया है। २८ अध्ययन इस प्रकार हैं—आचाराग प्रथम श्रुत-स्कन्ध के ९ अध्ययन—(१) शस्त्र-परिज्ञा, (२) लोक-विजय, (३) शीतोष्णीय, (४) सम्यक्त्व, (५) लोकसार, (६) धूताध्ययन, (७) महापरिज्ञा (लुप्त), (८) विमोक्ष और (९) उपधान श्रुत। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन—(१) पिण्डैषणा, (२) शय्या, (३) ईर्या, (४) भाषा, (५) वस्त्रैषणा, (६) पात्रैषणा, (७) अवग्रह-प्रतिमा, (८—१४) सप्त सप्तत्तिका (सात स्थानादि एक-एक) (१५) भावना और (१६) विमुक्ति। इसके अतिरिक्त आचाराग चूला के रूप मे अभिमत निशीथ के तीन अध्ययन हैं—(१) उद्घात, (२) अनुद्घात और (३) आरोपण। ये कुल मिलाकर २८ हुए। इन २८ अध्ययनो मे वर्णित साध्वाचार का पालन करना और अनाचार से विरत होना साधुवर्ग के लिए चारित्रविधि है।[1]

समवायाग सूत्र मे २८ प्रकार का आचार-प्रकल्प अन्य रूप मे वर्णित है। यथा—(१) एक मासिक प्रायश्चित्त, (२) एक मास पाच दिन का प्रायश्चित्त, (३) एक मास दस दिन का प्रायश्चित्त, (४—२५) यो क्रमश पाच-पाच दिन बढाते हुए पाच मास तक कहना चाहिए। ये कुल २५ हुए। (२६) उपघातक-अनुपघातक, (२७) आरोपण और (२८) कृत्स्न-अकृत्स्न (सम्पूर्ण-असम्पूर्ण)।[2]

पापश्रुत-प्रसग और मोह-स्थान उनतीसवा और तीसवा बोल—

मूल—पाव-सुय-पसगेसु, मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मडले ॥१९॥

पद्यानु०—उन्तीस पापश्रुत-सगो मे, और तीस मोह के स्थानो मे।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता इस जग मे ॥१९॥

अन्वयार्थ—पावसुय-पसगेसु—पापश्रुत के (२९) प्रसगो मे, चेव य—और,

---

१ (क) आचाराग सूत्र, प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध तथा आचारचूला।
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

२ (क) समवायाग समवाय २८
(ख) निशीथ सूत्र, उद्देशक २० मे विशेष वर्णन द्रष्टव्य है।

मोहट्ठाणेसु—मोह (महामोहनीय कर्म) के (तीस) स्थानों में, जे भिक्खू—जो भिक्षु निच्चं—सदा, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मण्डले न अच्छइ—संसार में नहीं रहता।

विशेषार्थ—उनतीस प्रकार के पापश्रुत-प्रसंग—जिसके पढ़ने-सुनने से जीव की पापकर्म में रुचि उत्पन्न हो, उसे पापश्रुत कहते हैं। पापाश्रव-जनक पापश्रुतों के पढ़ने-सुनने में प्रसंग अर्थात्—प्रसक्ति अथवा प्रयोग—पापश्रुत प्रसंग है। ये पापश्रुत २९ हैं—(१) भौम (भूमिकम्प तथा भूगर्भ निर्देशक) शास्त्र, (२) उत्पात (रुधिरवृष्टि, दिग्दाह, इत्यादि का शुभाशुभ-सूचक) शास्त्र, (३) स्वप्नशास्त्र, (४) अन्तरिक्ष—(खगोल-विज्ञान) शास्त्र, (५) अंग (अंगस्फुरणादि सूचक) शास्त्र, (६) स्वरशास्त्र, (७) व्यंजन (तिल, मसा आदि चिन्हों का शुभाशुभ सूचक) शास्त्र और (८) लक्षण शास्त्र, ये आठों ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ शास्त्र हो जाते हैं। (२५) विकथानुयोग, (२६) विद्यानुयोग, (२७) मंत्रानुयोग, (२८) योगानुयोग (वशीकरणादि योग) और (२९) अन्यतीर्थिकानुयोग (अन्य-तैर्थिक हिंसा प्रधान आचार शास्त्र)।

इन २९ प्रकार के पापश्रुतों का उत्सर्गमार्ग में प्रयोग करने से विरत होना और धर्म एवं अध्यात्म-सिद्धान्त के प्रेरक सत्श्रुतों के स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चारित्रविधि है।[1]

मोह (महामोहनीय कर्म) के तीस स्थान—(१) त्रस जीवों को पानी में डुबाकर मारना, (२) त्रस जीवों को श्वास आदि रोककर मारना, (३) त्रस जीवों को मकान आदि में बन्द करके धुएँ से दम घोटकर मारना, (४) त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बांधकर मारना, (५) त्रस जीवों को मस्तक पर डण्डे, तलवार आदि घातक शस्त्रों के प्रहार से मारना, (६) पथिकों को धोखा देकर लूटना, (७) गुप्तरूप से अनाचार सेवन करना, (८) अपने द्वारा कृत महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना, (९) सभा में यथार्थ (सत्य) को जान-बूझकर छिपाना, मिश्र भाषा (सत्य जैसा झूठ) बोलना। (१०) अपने अधिकारी (या शासक) को अधिकार, प्रभाव और भोगसामग्री से वंचित करना, (११) बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को बालब्रह्मचारी कहना, (१२) आश्रयदाता का धन हड़पना—

---

१ (क) समवायांग, समवाय २९

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७।

चुराना, (१३) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोग करना, (१४) कृत-उपकार को न मानकर कृतघ्नता करना, उपकारी के भोगो का विच्छेद करना, (१५) पोषण देने वाले गृहपति, सघपति, सेनापति अथवा प्रशास्ता की हत्या करना, (१६) राष्ट्रनेता, निगमनेता या प्रसिद्ध श्रेष्ठी की हत्या करना, (१७) द्वीप के समान जनता एव समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना, (१८) सयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और दीक्षित साधु को सयमभ्रष्ट करना, (१९) अनन्तज्ञानियो की निन्दा करके उनकी उपासना का त्याग करना, सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा करना, (२०) आचार्य, उपाध्याय, जिनेन्द्र आदि की अवमानना एव निंदा करना, (२१) अहिंसादि मोक्षमार्ग की निन्दा करके जनता को मोक्ष-मार्ग से विमुख करना, (२२) पुन पुन क्लेश उत्पन्न करना, सघ मे विघटन पैदा करना, (२३) बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, (२४) तपस्वी न होते हुए भी स्वय को तपस्वी कहना, (२५) शक्ति होते हुए भी रोगी, वृद्ध, अशक्त आदि की सेवा न करना, (२६) ज्ञान-दर्शन-चारित्र-विघातक, कामोत्पादक कथाओ का बार-बार प्रयोग करना, (२७) अपने मित्रादि के लिए बार-बार जादू टोने, मन्त्र-वशीकरणादि का प्रयोग करना (२८) इहलौकिक एव पारलौकिक भोगो की निन्दा करके या विषयभोगो का त्याग करके छिपे-छिपे उनका सेवन करना, उनमे अत्यासक्त रहना, (२९) देवदर्शन न होने पर भी झूठमूठ कहना कि मुझे देवदर्शन होता है और (३०) देवो की ऋद्धि, द्युति, बल, वीर्य आदि का मजाक उडाना, देवो का अवर्णवाद बोलना ।[1]

महामोहनीय कर्म का बन्ध तीव्र दुरध्यवसाय, क्रूरता आदि के कारण होता है । यद्यपि इसके कारणो की कोई सीमा नही बाधी जा सकती, फिर भी शास्त्रकारो ने इसके मुख्य ३० कारण बताए हैं । साधु का, महा-मोहनीय कर्मबन्ध के उपर्युक्त कारणो से बचना और अहिंसादि महाव्रतो पर दृढ रहना ही यहाँ चारित्र-विधि है ।

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध दशा ९

(ख) समवायाग, समवाय ३० ।

(ग) मोहनीय कर्म के तीस स्थानो का किसी-किसी प्रति मे क्रमवैपरीत्य भी है
—उत्तरा (आ आ) पृ २२३

सिद्धों के अतिशय गुण, योग-सग्रह और आशातना :
३१, ३२ और ३३वाँ बोल—

मूल—सिद्धाइगुण-जोगेसु, तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥२०॥

पद्यानु०— सिद्धादिक गुण योगो मे, तेतीस आशातना-स्थानो मे।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता इस जग मे ॥२०॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, सिद्धाइ-गुण-जोगेसु—सिद्धो के अतिशय रूप (इकत्तीस) गुणो मे, (बत्तीस प्रकार के) योग-सग्रहो मे, य—और, तेत्तीसासायणासु—तेतीस प्रकार की आशातनाओ मे, निच्च—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

विशेषार्थ—सिद्धो के अतिशय इकत्तीस गुण—आठ कर्मो मे ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २ (दर्शन-मोहनीय एव चारित्र मोहनीय), आयु के ४, नाम कर्म के २, (शुभ नाम-अशुभ नाम) गोत्र कर्म के २, और अन्तराय कर्म के ५, इस प्रकार आठो कर्मो के सब मिलाकर ३१ भेद होते हैं। इन्ही ३१ कर्मो का सर्वथा क्षय करके सिद्ध भगवान् ३१ गुणो से युक्त बनते हैं। आचाराग सूत्र मे सिद्धो के ३१ गुण प्रकारान्तर से बताये गए हैं। यथा—५ सस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ३ वेद, शरीर, आसक्ति और पुनर्जन्म, इन ३१ दोषो के क्षय से भी ३१ गुण होते हैं।[1]

सिद्धाइगुण—सिद्धो के अतिगुण से तात्पर्य है—सिद्धो के उत्कृष्ट

---

१ (क) समवायाग, समवाय ३१
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७
(ग) से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तसे, ण चउरसे, ण परिमडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किले।
ण सुब्भिगधे, ण दुब्भिगधे।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अबिले, ण महुरे,
ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रुहे।
ण सगे। ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा।
—आचाराग श्रु० १, अ ५, उ ६, सू १२६-१३४

चुराना, (१३) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोंग करना, (१४) कृत-उपकार को न मानकर कृतघ्नता करना, उपकारी के भोगो का विच्छेद करना, (१५) पोषण देने वाले गृहपति, सघपति, सेनापति अथवा प्रशास्ता की हत्या करना, (१६) राष्ट्रनेता, निगमनेता या प्रसिद्ध श्रेष्ठी की हत्या करना, (१७) द्वीप के समान जनता एव समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना, (१८) सयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और दीक्षित साधु को सयमभ्रष्ट करना, (१९) अनन्तज्ञानियो की निन्दा करके उनकी उपासना का त्याग करना, सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा करना, (२०) आचार्य, उपाध्याय, जिनेन्द्र आदि की अवमानना एव निंदा करना, (२१) अहिंसादि मोक्षमार्ग की निन्दा करके जनता को मोक्ष-मार्ग से विमुख करना, (२२) पुन पुन क्लेश उत्पन्न करना, सघ मे विघटन पैदा करना, (२३) बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, (२४) तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को तपस्वी कहना, (२५) शक्ति होते हुए भी रोगी, वृद्ध, अशक्त आदि की सेवा न करना, (२६) ज्ञान-दर्शन-चारित्र-विघातक, कामोत्पादक कथाओ का बार-बार प्रयोग करना, (२७) अपने मित्रादि के लिए बार-बार जादू टोने, मन्त्र-वशीकरणादि का प्रयोग करना (२८) इहलौकिक एव पारलौकिक भोगो की निन्दा करके या विषयभोगो का त्याग करके छिपे-छिपे उनका सेवन करना, उनमे अत्यासक्त रहना, (२९) देवदर्शन न होने पर भी झूठमूठ कहना कि मुझे देवदर्शन होता है और (३०) देवो की ऋद्धि, द्युति, बल, वीर्य आदि का मजाक उडाना, देवो का अवर्णवाद बोलना ।[1]

महामोहनीय कर्म का बन्ध तीव्र दुरध्यवसाय, क्रूरता आदि के कारण होता है। यद्यपि इसके कारणो की कोई सीमा नही बाधी जा सकती, फिर भी शास्त्रकारो ने इसके मुख्य ३० कारण बताए है। साधु का, महा-मोहनीय कर्मबन्ध के उपर्युक्त कारणो से बचना और अहिंसादि महाव्रतो पर दृढ रहना ही यहाँ चारित्र-विधि है।

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध दशा ९

(ख) समवायाग, समवाय ३० ।

(ग) मोहनीय कर्म के तीस स्थानो का किसी-किसी प्रति मे क्रमवैपरीत्य भी है
—उत्तरा (आ आ) पृ २२३

सिद्धों के अतिशय गुण, योग-संग्रह और आशातना :
३१, ३२ और ३३वाँ बोल—

मूल—सिद्धाइगुण-जोगेसु, तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयइ निच्च, से न अच्छइ मंडले ॥२०॥

पद्यानु०— सिद्धादिक गुण योगो मे, तेतीस आशातना-स्थानो मे।
नित्य यत्न जो करता है, वह भिक्षु न रहता इस जग मे ॥२०॥

अन्वयार्थ—जे भिक्खू—जो भिक्षु, सिद्धाइ-गुण-जोगेसु—सिद्धो के अतिशय रूप (इकत्तीस) गुणो मे, (बत्तीस प्रकार के) योग-सग्रहो मे, य—और, तेत्तीसासायणासु—तेतीस प्रकार की आशातनाओ मे, निच्च—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, मडले—ससार मे, न अच्छइ—नही रहता।

विशेषार्थ—सिद्धो के अतिशय इकत्तीस गुण—आठ कर्मो मे ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २ (दर्शन-मोहनीय एव चारित्र मोहनीय), आयु के ४, नाम कर्म के २, (शुभ नाम-अशुभ नाम) गोत्र कर्म के २, और अन्तराय कर्म के ५, इस प्रकार आठो कर्मो के सब मिलाकर ३१ भेद होते हैं। इन्ही ३१ कर्मो का सर्वथा क्षय करके सिद्ध भगवान् ३१ गुणो से युक्त बनते हैं। आचाराग सूत्र मे सिद्धो के ३१ गुण प्रकारान्तर से बताये गए हैं। यथा—५ सस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ३ वेद, शरीर, आसक्ति और पुनर्जन्म, इन ३१ दोषो के क्षय से भी ३१ गुण होते हैं।[1]

सिद्धाइगुण—सिद्धो के अतिगुण से तात्पर्य है—सिद्धो के उत्कृष्ट

---

१ (क) समवायाग, समवाय ३१
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७
(ग) से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तसे, ण चउरसे, ण परिमडले, ण किण्हे,
ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किले।
ण सुब्भिगधे, ण दुब्भिगधे।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अबिले, ण महुरे,
ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे,
ण लुक्खे, ण काऊ, ण रुहे।
ण सगे। ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा।
—आचाराग श्रु० १, अ ५, उ ६, सू १२६-१३४

(अतिशय) या असाधारण गुण। साधु द्वारा इन सिद्ध गुणो को प्राप्त करने हेतु कर्मक्षयमूलक प्रयत्न करना और सिद्धगुणविरोधी कर्मबन्ध से बचना ही चारित्रविधि है।

बत्तीस शुभ योग सग्रह—(१) आलोचना (गुरुजन-समक्ष स्वदोष-निवेदन), (२) अप्रकटीकरण (किसी के दोषो की आलोचना सुनकर दूसरो के सामने प्रकट न करना), (३) सकट मे धर्म दृढता, (४) अनिश्रित या आसक्ति रहित तपोपधान, (५) ग्रहणशिक्षा और आसेवनाशिक्षा का अभ्यास, (६) निष्प्रतिकर्मता (शरीर की साज सज्जा एव शृगार से रहित), (७) अज्ञानता (अज्ञात कुल की गोचरी, पूजा-प्रतिष्ठा-मोह त्याग कर गुप्त तप आदि करना), (८) अलोभता, (९) तितिक्षा, (१०) आर्जव, (११) शुचि (सत्य एव सयम की पवित्रता या व्रतो मे निरतिचारता) (१२) सम्यक्त्वशुद्धि, (१३) समाधियुक्तता, (१४) आचारोपगत (माया रहित आचार-पालन), (१५) विनय, (१६) धैर्य, (१७) सवेग (सासारिक भोगो से भीति या मोक्षाभिलाषा), (१८) प्रणिधि (माया शल्य रहितता), (१९) सुविधि, (सदनुष्ठान) (२०) सवर (पापास्रव निरोध) (२१) दोष-शुद्धि, (२२) सर्व-काम-भोग-विरक्ति, (२३) मूल गुणो का शुद्ध-पालन, (२४) उत्तर गुणो का शुद्ध पालन, (२५) व्युत्सर्ग करना, (२६) अप्रमाद, (२७) प्रतिक्षण सयम यात्रा मे सावधानी, (२८) शुभ ध्यान, (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी धीरता, (३०) सग-परित्याग, (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना और (३२) अन्तिम समय मे सलेखना करके मारणान्तिक आराधना करना। आचार्य जिनदास महत्तर प्रकारान्तर से बत्तीस योग सग्रह बताते है—धर्म ध्यान के सोलह और शुक्ल ध्यान के सोलह, यो दोनो मिलाकर ३२ भेद योग सग्रह के हुए। साधु का, शुभ योगो मे प्रवृत्ति और अशुभ योगो से निवृत्ति करना ही चारित्रविधि है।[1]

तेतीस प्रकार की आशातना—गुणिजनो की अवहेलना, अवमानना या निन्दा आदि करने से सम्यग्दर्शनादि गुणो की शातना=खण्डना होती है, वही आशातना है। अथवा यथार्थता (सत्यता) से इन्कार करना भी एक प्रकार से आशातना है। श्रमण सूत्रोक्त ३३ आशातनाएँ इस प्रकार है—१ अरिहतो की, २ सिद्धो की, ३ आचार्यो की, ४ उपाध्यायो की, ५

---

१ समवायाग, समवाय ३२

साधुओ की, ६ साध्वियो की, ७ श्रावको की, ८ श्राविकाओ की, ९ देवो की, १० देवियो की, ११ इहलोक की, १२ परलोक की, १३ सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म, १४ देव मनुष्य असुर-सहित समग्र लोक की, १५ काल की, १६ श्रुत की, १७ श्रुतदेवता की, १८ सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्व की, १९ वाचनाचार्य की आशातना करना। ज्ञान की आशातना के १४ भेद—२०. व्याविद्ध (वर्ण विपर्यास करना), २१ व्यत्याम्रेडित (उच्चार्यमाण पाठ मे दूसरे पाठो का मिश्रण करना), २२ हीनाक्षर, २३ अत्यक्षर, २४ पदहीन, २५ विनयहीन, २६ योगहीन, २७ घोषहीन, २८ सुष्ठुदत्त (योग्यता से अधिक ज्ञान देना), २९ दुष्टु-प्रतीक्षित (ज्ञान को सम्यग्भाव से ग्रहण न करना), ३० अकाल मे स्वाध्याय करना, ३१ स्वाध्याय काल मे स्वाध्याय न करना, ३२ अस्वाध्याय की स्थिति मे स्वाध्याय करना और ३३ स्वाध्याय की स्थिति मे स्वाध्याय न करना।[1]

प्रकारान्तर से तेतीस आशातनाएँ—अथवा आशातना का प्रचलित अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्र व्यवहार। इस दृष्टि से दैनिक व्यवहार मे समाविष्ट आशातना के भी ३३ प्रकार हैं—१ गुरु (दीक्षाज्येष्ठ) के आगे-आगे चलना, २ उनके बराबर मे चलना, ३ उनसे एकदम सटकर चलना, ४ गुरु (दीक्षाज्येष्ठ) के आगे खड़े रहना, ५ समश्रेणि मे खड़े रहना, ६ उनसे सटकर खड़े रहना, ७ गुरु (रत्नाधिक) के आगे बैठना, ८ समश्रेणि मे बैठना, ९ सटकर बैठना, १० गुरु (रत्नाधिक) से पहले (जल पात्र एक ही हो तो) शुचि (आबदस्त) लेना, ११ स्थान मे आकर गुरु (दीक्षाज्येष्ठ) से पहले ही गमनागमन की आलोचना करना, १२ गुरु (बड़े साधु) को जिसके साथ वार्तालाप करना हो, उससे पहले ही उसके साथ वार्तालाप कर लेना, १३ रात्रि मे गुरु के बुलाने पर जागते हुए भी उत्तर न देना, १४. भिक्षा लाकर पहले छोटे साधु के पास भिक्षा सम्बन्धी आलोचना करना, फिर बड़े साधु के पास आलोचना करना। १५ लाई भिक्षा पहले छोटे साधु को दिखाना, फिर गुरु (बड़े साधु) को, १६ भिक्षा प्राप्त आहार मे से बड़े साधु को पूछे बिना पहले ही प्रचुर आहार अपने प्रिय साधुओ को दे देना, १७ लाई हुई भिक्षा के आहार के लिए पहले बड़े साधु को आमंत्रित किये

---

१ (क) समवायाग सूत्र, समवाय ३३

(ख) आवश्यक सूत्र, चतुर्थ आवश्यक

बिना ही छोटे साधु को आमन्त्रित करना, १८ बडे साधुओ के साथ भोजन करते हुए सरस आहार स्वय झटपट कर लेना, १९ बडे साधु द्वारा बुलाए जाने पर सुनी अनसुनी कर देना, २० बडे साधु या गुरु बुलाएँ तब अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना, २१ बडे साधु को अनादरपूर्वक 'रे' 'तू' करके बुलाना, २२ बडे साधु को अनादरपूर्वक कहना—'क्या कह रहे हो', २३ गुरु (या बडे साधु) यह कहे कि तुम यह काम करो, तब इसके उत्तर मे कहे—'तुम ही कर लो।' २४ बडा साधु (गुरु) व्याख्यान दे रहा हो, उस समय गुमसुम या अन्यमनस्क रहना। २५ बडा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय बीच मे ही परिषद् को भग कर देना, २६ बडा साधु व्याख्यान दे रहा हो तब बीच मे कथा का विच्छेद करना, २७ या उस समय यह कहना कि आप भूल रहे है। २८ बडा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय बीच मे ही स्वय व्याख्यान देने लगना। २९ बडे साधु की कथा को हीन बताने के लिए सभा मे ही स्वय उस की विस्तृत व्याख्या करना। ३० गुरु के आसन पर उनकी आज्ञा के बिना बैठना, ३१ उनके उपकरणो के या किसी अग के पैर लगने पर सविनय क्षमायाचना किये बिना ही चले जाना, ३२ बडे साधु के बिछौने पर खडे रहना, बैठना या सोना। ३३. बडे साधु (गुरु) से ऊँचे या बराबर के आसन पर बैठना, खडे रहना या सोना।[1]

इस प्रकार की या पूर्वोक्त ३३ आशातनाओ से सदैव बचना और गुरुजनो के प्रति विनय, भक्ति, बहुमान करना चारित्रविधि है।

उक्त तेतीस बोलो के आचरण की फलश्रुति

मूल—इइ एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयइ सया।
खिप्प से सव्व-ससारा विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥२१॥

—त्ति बेमि

पद्यानु०—इस प्रकार इन स्थानो मे, जो भिक्षु सदा श्रम करता है।
वह शीघ्र सकल भव-बन्धन से, पण्डित-विमुक्त हो जाता है ॥२१॥

अन्वयार्थ—इइ—इस प्रकार, जे—जो, पण्डिओ भिक्खू—पण्डित (सदसद्-

---

५३ (क) दशाश्रुतस्कन्ध दशा ३
(ख) समवायाग समवाय ३३

विवेकी) भिक्खु, एएसु ठाणेसु—इन (पूर्वोक्त तेतीस) स्थानो मे, सया—सदैव, जयइ—उपयोग रखता है, से—वह, खिप्पं—शीघ्र ही, सव्व-ससारा—समग्र ससार से, विप्पमुच्चइ—विमुक्त हो जाता है।

सिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—जो बुद्धिमान भिक्षु पूर्वोक्त तेतीस स्थानो के माध्यम से कही हुई चारित्र विधि मे सतत उपयोग रखता है—प्रयत्नशील रहता है, वह शीघ्र ही जन्म-मरणरूप समग्र ससार अर्थात् चार गति एव चौरासी लक्षयोनिगत् ससार से शीघ्र ही सर्वथा मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[1]

॥ चरण-विधि इकत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

● ●

---

१ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ २२७

बिना ही छोटे साधु को आमन्त्रित करना, १८ बड़े साधुओ के साथ भोजन करते हुए सरस आहार स्वय झटपट कर लेना, १९ बड़े साधु द्वारा बुलाए जाने पर सुनी अनसुनी कर देना, २० बड़े साधु या गुरु बुलाएँ तब अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना, २१ बड़े साधु को अनादरपूर्वक 'रे' 'तू' करके बुलाना, २२ बड़े साधु को अनादरपूर्वक कहना—'क्या कह रहे हो', २३ गुरु (या बड़े साधु) यह कहे कि तुम यह काम करो, तब इसके उत्तर मे कहे—'तुम ही कर लो।' २४ बड़ा साधु (गुरु) व्याख्यान दे रहा हो, उस समय गुमसुम या अन्यमनस्क रहना। २५ बड़ा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय बीच मे ही परिषद् को भग कर देना, २६ बड़ा साधु व्याख्यान दे रहा हो तब बीच मे कथा का विच्छेद करना, २७ या उस समय यह कहना कि आप भूल रहे है। २८ बड़ा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय बीच मे ही स्वय व्याख्यान देने लगना। २९ बड़े साधु की कथा को हीन बताने के लिए सभा मे ही स्वय उस की विस्तृत व्याख्या करना। ३० गुरु के आसन पर उनकी आज्ञा के बिना बैठना, ३१ उनके उपकरणो के या किसी अग के पैर लगने पर सविनय क्षमायाचना किये बिना ही चले जाना, ३२ बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना। ३३. बड़े साधु (गुरु) से ऊँचे या बराबर के आसन पर बैठना, खड़े रहना या सोना।[1]

इस प्रकार की या पूर्वोक्त ३३ आशातनाओ से सदैव बचना और गुरुजनो के प्रति विनय, भक्ति, बहुमान करना चारित्रविधि है।

उक्त तेतीस बोलो के आचरण की फलश्रुति

मूल—इइ एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयई सया।
खिप्प से सव्व-ससारा विप्पमुच्चइ पडिओ ॥२१॥

—त्ति बेमि

पद्यानु०—इस प्रकार इन स्थानो मे, जो भिक्षु सदा श्रम करता है।
वह शीघ्र सकल भव-बन्धन से, पण्डित-विमुक्त हो जाता है ॥२१॥

अन्वयार्थ—इइ—इस प्रकार, जे—जो, पडिओ भिक्खू—पण्डित (सदसद्-

---

५३ (क) दशाश्रुतस्कन्ध दशा ३
(ख) समवायाग समवाय ३३

प्रमाद-स्थान : बत्तीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

यह प्रमाद स्थान (पमायट्ठाण) नामक बत्तीसवाँ अध्ययन है। इसमे विविध पहलुओ से प्रमाद के स्थलो का यत्र-तत्र निर्देश करके उनसे बचने और अप्रमत्त वीतरागी साधक बनने की प्रेरणा की गई है।

साधक को शरीर, वचन, मन, इन्द्रियाँ तथा सयम पालन मे सहायक साधु वर्ग आदि साधन मिले हैं, वस्त्र, पात्र, उपकरण, मकान, भोजन-पानी आदि कई साधन उसे गृहस्थो से प्राप्त करने होते हैं, किन्तु वह उन के उपयोग, सरक्षण, प्राप्ति, आदि मे तथा उनके व्यय एव वियोग मे राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि करता है, उनका यथार्थ उपयोग करने आदि मे प्रमाद करता है, कैसे साधन चाहिए ? कैसे उनका उपयोग करना चाहिए ? तथा किन-किन बातो की सावधानी रखनी चाहिए ? इत्यादि बातो का विवेक नही रखता, अज्ञान, मिथ्यादृष्टि, भ्रान्ति, आदि के वश होकर उन्हे प्राप्त करने या उपयोगादि करने मे हिंसा, असत्य, ममत्व आदि पापकर्मबन्ध की परवाह नही करता, तो यह भी प्रमाद है, और ऐसे विविध प्रमाद स्थानो अर्थात् प्रमाद के कारणो का उल्लेख करके साधक को उनसे बचने का निर्देश किया गया है।

यो तो प्रमाद का अर्थ है—गफलत, असावधानी, अजागृति, आत्मलक्ष्य चूक जाना, अविवेक आदि। परन्तु शास्त्रो मे यत्र तत्र प्रमाद के पाच मुख्य भेद बताए हैं—मद्य (मद), विषय, कषाय, निद्रा अथवा निन्दा और विकथा।

प्रकारान्तर से प्रमाद के ८ भेद भी बताये गए हैं—(१) अज्ञान (२)

संशय, (३) मिथ्याज्ञान, (४) राग, (५) द्वेष, (६) स्मृति भ्रश (७) धर्म के प्रति अनादर एव (८) मन-वचन-काया का दुष्प्रणिधान।

साधन न हो तो सयम यात्रा, समता प्राप्ति, वीतरागता-प्राप्ति, धर्म-पालन आदि सम्भव नही होते। अत साधु वर्ग के लिए इन वस्तुओ की प्राप्ति या उपयोग करने का निषेध न करके शास्त्रकार ने उनके उपयोक्ता को विवेक की प्रेरणा दी है कि उसे किस दृष्टि से किस साधन का शुभ उपयोग करना चाहिए, अशुभ उपयोग उसके लिए प्रमाद होगा। जैसे--भोजन शरीर के लिए आवश्यक साधन है, परन्तु अति मात्रा मे या प्रतिदिन स्वादिष्ट भोजन हो तो वह प्रमाद का वर्द्धक है। निवास स्थान संयम पालन के लिए आवश्यक है, परन्तु स्त्री आदि से वह ससक्त हो, कामोत्तेजक वातावरण से घिरा हो तो वहा रहने से कामोत्तेजनरूपी प्रमाद उत्पन्न होगा। साधु के साथ रहने वाला सहायक साधु चाहिए, परन्तु वह विवेकी एव निपुण न हो, गीतार्थ न हो तो अपवाद उत्सर्ग का विवेक न रख पाएगा, यही प्रमादावस्था होगी। इन्द्रियो तथा मन का उपयोग करना पडता है, परन्तु इन का उपयोग करते समय इनके मनोज्ञ विषयो पर राग और मोह, तथा अमनोज्ञ वस्तुओ पर द्वेष व घृणा हो, तो वह प्रमाद है, इस प्रकार प्रत्येक उपकरण, वस्त्रादि साधन के उपयोग, सयोग, व्यय और वियोग मे राग-द्वेष, कषाय, नोकषाय आदि प्रमादवर्द्धक बातो से दूर रहना आवश्यक है।

साधु जीवन का लक्ष्य अनादिकाल से प्राप्त जन्म-मरणादि दु खो से मुक्ति पाना है। इन समस्त दु खो का मूल अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, काम, क्रोधादि कषाय प्रमुख हैं।

अत सर्व दु खो से मुक्ति, और एकान्त आत्मिक सुख प्राप्ति रूप मोक्ष के लिए अज्ञान, मिथ्यादर्शन, मोह, राग-द्वेष, आसक्ति आदि का त्याग, गुरु वृद्ध-सेवा, अज्ञजन सम्पर्क का त्याग, स्वाध्याय, एकान्त निवास, सूत्रार्थ-चिन्तन, धृति आदि से पूर्ण सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्दर्शन का प्रकाश आवश्यक होगा।

तत्पश्चात् चारित्र-पालन मे जागृति की दृष्टि से परिमित एषणीय आहार, निपुण तत्त्वज्ञ सहायक, विविक्त स्थान का सेवन, एकान्तवास, अल्प भोजन, विषयो मे अनासक्ति, दृष्टि-सयम, मन वचन काया पर नियन्त्रण, चिन्तन की पवित्रता आदि साधना प्रमादरहित होकर करनी आवश्यक बताई है।

तदनन्तर प्रमाद की शृंखलाओ को सुदृढ करने वाले राग, द्वेष, मोह, तृष्णा, लोभादि कषाय एवं हास्यादि नोकषाय आदि के परिणामो से दूर रहने का सकेत है। ये सब वीतरागता और समता मे बाधक हैं।

गाथा १० से ९९ तक पाचो इन्द्रियो और मन के विषयो मे राग-द्वेष रखने से उनके उत्पादन, सरक्षण, प्रबध, व्यय एव वियोग के समय हिंसा, असत्य, दम्भ, चोरी, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह आदि नाना दोष और दु ख आदि उत्पन्न होते है। इस पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

अन्त मे गा १०० से १०७ तक यह बताया गया है कि रागी व्यक्ति को ही इन्द्रिय और मन के विषय दु ख के कारण बनते हैं, वीतरागी के लिए नही। इन्द्रिय और मन के विषय या कामभोग आदि अपने आप मे न तो राग उत्पन्न करते हैं, न द्वेष। इसी प्रकार वीतरागी मे ये न तो समता उत्पन्न करते हैं, न ही विकृति ही। जो उनके प्रति राग और मोह रखता है, उसी मे ये विकृति पैदा करते हैं। रागी और द्वेषी मे या काम-गुणो मे आसक्त मे ही ये विषय, क्रोधादि कषाय एव नोकषायादि विकार पदा करते हैं। शब्दादि विषयविरक्त व्यक्ति के मन मे मनोज्ञ-अमनोज्ञ भाव नही पैदा करते।

वीतराग-पथ के पथिक साधको को सावधान करते हुए कहा गया है कि सयमी साधु को अपनी सेवा-शुश्रूषा या शारीरिक सुविधा के लिए शिष्य की इच्छा नही करना चाहिए। न ही उसे दीक्षा लेने के बाद पश्चा-त्ताप करना चाहिए, और न अपने तप, सयम, त्याग, व्रत आदि को निदा-नादि की सौदेबाजी पर चढाना चाहिए। ऐसा करने से साधक इन्द्रिय-चोरो के चगुल मे फँसकर पुन मोह समुद्र मे डूब जायगा। तथा अपने परीषहादि या सयम की कठोरताजन्य कल्पित दु ख निवारणार्थ वह पुन विषय-सुख एवं हिंसादि रूप प्रमाद मे पड जाएगा। काम-भोगो से विरक्ति के लिए उसे काम-भोगो से होने वाले आत्मिक, मानसिक, शारीरिक एव अन्य हानियो तथा परम्परागत दु खो का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार प्रमाद स्थानो से सावधान रहते हुए वीतरागता का अभ्यास करना चाहिए।

वीतरागी पुरुष ही ज्ञानावरणीयादि चार घा।।
शुक्लध्यान से युक्त होकर शेष चार अघाति कर्मों
फिर वह सिद्ध बुद्ध मुक्त और सर्व दु ख मुक्त हो
वीतरागता से सम्पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

पमायपट्ठाणं : बत्तीसइमं अज्झयणं

प्रमाद-स्थान बत्तीसवाँ अध्ययन

सर्व दु ख मुक्ति के उपाय निर्देश की प्रतिज्ञा—

मूल—अच्चतकालस्स समूलगस्स, सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।
त भासओ मे पडिपुण्णचित्ता, सुणेह एगत-हिय हियत्थ ।।१।।

पद्यानु०—चिरकालिक मूल-सहित सब दु ख, का मोचन-मार्ग कहा प्रभु ने ।
कहूँ उसे, लो एकचित्त सुन, हितवाणी हित को पाने ।। १ ।।

अन्वयार्थ—समूलगस्स—मूल (कारणो) सहित, अच्चतकालस्स—अत्यन्त (अनन्त अनादि) कालिक, सव्वस्स दुक्खस्स उ—सभी दु खो से, पमोक्खो—प्रमोक्ष=मुक्ति का जो उपाय (हेतु) है, (जो) एगतहिय—एकान्त हितरूप है, (तुम्हारे) हियत्थ—कल्याण के लिए है, त—उसे, मे भासओ—मैं (तुम्हे) कह रहा हूँ, पडिपुण्णचित्ता—पूर्ण (एकाग्र) चित्त होकर, सुणेह—सुनो ।

विशेषार्थ—अत्यन्तकाल का अर्थ है—जो अन्त का अतिक्रमण कर चुका हो । वह या तो अनन्त होता है या अनादि । यहा अनादिकालिक अर्थ ही अभीष्ट है ।

मूल सहित[1] से दो तात्पर्य हैं—दु ख का मूल कारण कषाय और अविरति है, जैसा कि कहा गया—मूल ससारस्स हु हु ति कसाया अविरती य । अथवा राग और द्वेष भी है ।

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२१
(ख) सहमूलेन—कषायाऽविरतिरूपेण वर्तत इति समूलक ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२१

तदनन्तर प्रमाद की शृंखलाओ को सुदृढ करने वाले राग, द्वेष, मोह, तृष्णा, लोभादि कषाय एवं हास्यादि नोकषाय आदि के परिणामो से दूर रहने का सकेत है। ये सब वीतरागता और समता मे बाधक हैं।

गाथा १० से ९९ तक पाचो इन्द्रियो और मन के विषयो मे राग-द्वेष रखने से उनके उत्पादन, सरक्षण, प्रबध, व्यय एव वियोग के समय हिंसा, असत्य, दम्भ, चोरी, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह आदि नाना दोष और दुःख आदि उत्पन्न होते हैं। इस पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

अन्त मे गा १०० से १०७ तक यह बताया गया है कि रागी व्यक्ति को ही इन्द्रिय और मन के विषय दुःख के कारण बनते हैं, वीतरागी के लिए नही। इन्द्रिय और मन के विषय या कामभोग आदि अपने आप मे न तो राग उत्पन्न करते हैं, न द्वेष। इसी प्रकार वीतरागी मे ये न तो समता उत्पन्न करते हैं, न ही विकृति ही। जो उनके प्रति राग और मोह रखता है, उसी मे ये विकृति पैदा करते हैं। रागी और द्वेषी मे या काम-गुणो मे आसक्त मे ही ये विषय, क्रोधादि कषाय एव नोकषायादि विकार पदा करते है। शब्दादि विषयविरक्त व्यक्ति के मन मे मनोज्ञ-अमनोज्ञ भाव नही पैदा करते।

वीतराग-पथ के पथिक साधको को सावधान करते हुए कहा गया है कि सयमी साधु को अपनी सेवा-शुश्रूषा या शारीरिक सुविधा के लिए शिष्य की इच्छा नही करना चाहिए। न ही उसे दीक्षा लेने के बाद पश्चात्ताप करना चाहिए, और न अपने तप, संयम, त्याग, व्रत आदि को निदानादि की सौदेबाजी पर चढाना चाहिए। ऐसा करने से साधक इन्द्रिय-चोरो के चगुल मे फँसकर पुन मोह समुद्र मे डूब जायगा। तथा अपने परीषहादि या सयम की कठोरताजन्य कल्पित दुःख निवारणार्थ वह पुन विषय-सुख एवं हिंसादि रूप प्रमाद मे पड जाएगा। काम-भोगो से विरक्ति के लिए उसे काम-भोगो से होने वाले आत्मिक, मानसिक, शारीरिक एव अन्य हानियो तथा परम्परागत दुःखो का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार प्रमाद स्थानो से सावधान रहते हुए वीतरागता का अभ्यास करना चाहिए।

वीतरागी पुरुष ही ज्ञानावरणीयादि चार घाति कर्मों का क्षय करके शुक्लध्यान से युक्त होकर शेष चार अघाति कर्मों का क्षय कर देता है। फिर वह सिद्ध बुद्ध मुक्त और सर्व दुःख मुक्त हो जाता है। इस प्रकार वीतरागता से सम्पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। 卐

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥४॥
न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥५॥

पद्यानु०— है मार्ग मुक्ति का गुरु-सेवा, वर्जन हो बालबोधजन का।
निश्चय स्वाध्याय-निसेवन हो, सूत्रार्थ मनन धृतिबलमन का ॥३॥
समाधिकामी श्रमण करे, परिमित निर्दोष अशन-इच्छा।
मुनि निपुणबुद्धि का संग करे, निर्दोष स्थान भी हो अच्छा ॥४॥
जो मिले न कोई निपुण संग, गुण से बढ़कर या समगुणधर।
एकाकी पाप बचा करके, विचरे मन विषयों से हटकर ॥५॥

अन्वयार्थ—तस्स—उस (दुःखमुक्ति) का, एस—यह, मग्गो—मार्ग है, गुरु-विद्धसेवा—गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करना, बालजणस्स—बालजन (के संग) का, दूरा—दूर से ही, विवज्जणा—त्याग करना, सज्झाय-एगंतनिसेवणा य—तथा स्वाध्याय और एकान्त सेवन, य—और, सुत्तत्थ-संचितणया—सूत्र एवं उसके अर्थ पर सम्यक् चिन्तन करना, (एवं) धिई—धृति रखना ॥३॥

समाहिकामे—समाधि की इच्छा रखने वाला, तवस्सी समणे—तपस्वी श्रमण, मियं—परिमित (और), एसणिज्जं—एषणीय, आहारं—आहार की, इच्छे—इच्छा करे, निउणत्थ-बुद्धिं—निपुणार्थ बुद्धि वाले, सहायं—सहायक (साथी साधक) की, इच्छे—इच्छा करे, विवेग-जोग्गं—विविक्त योग्य (स्त्री-पुरुष-नपुंसक के संसर्ग से रहित एकान्त), निकेयं—स्थान (में रहने) की, इच्छेज्ज—इच्छा करे ॥४॥

गुणाहियं वा—यदि अपने से अधिक गुणों वाला, गुणओ समं वा—या फिर गुण में सम, निउणं—निपुण, सहायं—सहायक=साथी, न वा लभेज्जा—नहीं मिले तो, पावाइं—पापों को, विवज्जयंतो—वर्जित करता हुआ, कामेसु—कामभोगों में, असज्जमाणो—अनासक्त रहता हुआ, एगो वि—अकेला भी, विहरेज्ज—विचरण करे ॥५॥

विशेषार्थ—ज्ञानादि-प्राप्ति के ९ मुख्य उपाय—प्रस्तुत तीन गाथाओं (३-४-५) में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति के ९ मुख्य उपाय बताये गये हैं—(१) गुरु और वृद्धजनों की सेवा, (२) अज्ञानी जनों के सम्पर्क से दूर रहना, (३) स्वाध्याय में तत्परता, (४) एकान्त-सेवन, (५) सूत्रार्थ का चिन्तन-मनन, (६) धृति (समाधि की दृढ़ता), (७) परिमित और एषणीय आहार-सेवन, (८) निपुण बुद्धि वाला साथी, और (९) विविक्त स्थान में निवास।

सर्व दुख से तात्पर्य है जन्म,जरा, मृत्यु, व्याधि, आधि, उपाधि आदि शारीरिक और मानसिक दुख।

इसका फलितार्थ यह है—भगवान कहते है कि जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग के कारण जन्म मरणादि दुखमूलक ससार चक्र मे परिभ्रमण कर रहा है। इन सब दुखो से छुटकारा पाने का एकान्त हितकर एव परमकल्याणकारी उपाय कहता हूँ, उसे प्रतिपूर्णचित्त अर्थात् चित्त को दूसरे विषयो मे न लगाकर अखण्डित चित्त से अथवा इस विषय मे पूर्ण ध्यान रखकर सुनो।

सर्वदु खमुक्ति एव एकान्त-सुखप्राप्ति का उपाय ज्ञानादि रत्नत्रय

मूल— नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य सखएण, एगंतसोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥२॥

पद्यानु०— होता है प्रकट ज्ञान सारा, अज्ञान मोह के वर्जन से।
हो राग-द्वेष का क्षय पूरा, एकान्त सौख्य मिलता तब से ॥२॥

अन्वयार्थ—सव्वस्स नाणस्स—सम्पूर्ण ज्ञान के, पगासणाए—प्रकाशन (प्रकट होने) से, अन्नाण मोहस्स—अज्ञान और मोह के, विवज्जणाए—विवर्जन (परिहार) से, रागस्स—राग के, य—और, दोसस्स—द्वेष के, सखएण—सर्वथा क्षय से, (जीव) एगत-सोक्ख—एकान्त सुख रूप, मोक्ख—मोक्ष को, समुवेइ—प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे समग्र दु,खो से मुक्ति एव एकान्त-सुख की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उपलब्धि बताते हुए कहा गया है कि मति-अज्ञानादि के परिहार के कारण सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकट होने से ज्ञान विशद एव निर्मल होगा। उधर मिथ्याश्रुत-श्रवण एव मिथ्या-दृष्टि-सग के परित्याग आदि से अज्ञान तथा मोह के परिहार से सम्यग्दर्शन प्रकट होगा, तीसरी ओर राग-द्वेष तथा उसके परिवाररूप चारित्रमोह-नीय का क्षय होने से सम्यक्-चारित्र प्राप्त किया जायेगा, तो अवश्य ही एकान्त सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी, सभी दुखो का अन्त हो जायेगा। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्ष प्राप्त कराते हैं और मोक्ष के बिना दुखो का सर्वथा अन्त नही होगा, न ही एकान्त सुख प्राप्त होता है।

मूल—तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय-एगंत-निसेवणा य, सुत्तत्थ-संचितणया धिई य ॥३॥

प्राप्त ज्ञानादि को सुस्थिर रखने के लिए समाधि आवश्यक बताई है। समाधि से यहाँ भावसमाधि अभीष्ट है, जिसका अर्थ है—ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों का अबाधितरूप से रहना। इस प्रकार की भाव-समाधि के लिए तीन बातों पर ध्यान देना अनिवार्य बताया है—(१) शुद्ध परिमित आहार, (२) निपुण-बुद्धि सहायक साधु, और (३) विविक्त स्थान।

आहार की शुद्धि और परिमितता पर ध्यान दिये बिना न तो साधक की बुद्धि प्रखर रहेगी, और न ही स्वाध्याय और अर्थ चिन्तन ठीक तरह से हो सकेगा। वह सेवा और ज्ञानादि का प्राप्ति मे भी प्रमाद करेगा, व सफल-मनोरथ न हो सकेगा। उसे अपना साथी भी, उसे बनाना चाहिए, जो सिद्धान्त और तत्व को ग्रहण करने और विवेचन करने मे निपुण हो, अन्यथा स्वेच्छाचारी, विवेकहीन एव मन्दबुद्धि को साथी बना लिया तो वह न तो वृद्धो व गुरुओ की सेवा करने देगा और न ही ज्ञानादि की प्राप्ति होने देगा। वह समाधि भग कर देगा। इसीलिए ५वी गाथा मे निपुण गुणाधिक या गुण मे सम साथी के न रहने पर एकाकी विचरण बताया है। इसी प्रकार साधु का निवासस्थान यदि स्त्री-पशु-नपु सक के ससर्ग से रहित तथा कामोत्तेजक वातावरण से दूर नही होगा तो उसकी समाधि भग हो जायेगी, वह ज्ञानादि प्राप्ति नही कर सकेगा। इसी दृष्टि से ज्ञानादि प्राप्ति मे अन्तरग कारणभूत समाधि के लिए इन तीनो का ध्यान रखना आवश्यक बताया है।

यद्यपि सामान्यतया एकाकी विहार आगमो मे निषिद्ध है, किन्तु तथाविध गीतार्थ एव ज्ञानादि आठ गुणो से सम्पन्न साधु के लिए यहाँ उसका विधान किया गया है।[1]

पूर्व गाथाओ मे सर्वदु खमुक्ति एव एकान्तसुखप्राप्ति के हेतुभूत ज्ञानादि की प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध मे कहा गया है, किन्तु दु खमुक्ति से पूर्व साधक को यह भलीभाति ज्ञात होना चाहिए कि दु ख की उत्पत्ति का परम्परागत स्रोत क्या है? अत अब दु खोत्पत्ति के परम्परागत स्रोत के विषय मे कहते हैं।

दु खोत्पत्ति एव दु खविनाश के परम्परागत स्रोत—

मूल—जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥६॥

---

१ तुलना कीजिए—न वा लभेज्जा निउणं सहायं—दशवैकालिकचूलिका २/१०

गुरु और वृद्धो की पर्युपासना से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होती है। यहाँ गुरु का अर्थ है—शास्त्रो के यथार्थ प्रतिपादक और वृद्ध का अर्थ है—तीनो प्रकार के स्थविर।[1] श्रुतस्थविर, पर्याय (बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले) स्थविर एव वय स्थविर (६० वर्ष की उम्र वाले)। यहाँ गुरुवृद्धसेवा से गुरुकुल-वास उपलक्षित होता है, क्योकि गुरु और स्थविरो की सेवा मे रहने से साधक को ज्ञान की प्राप्ति आसानी से हो सकती है, साथ ही वह दर्शन और चारित्र मे भी स्थिर हो जाता है।

अज्ञानी और पार्श्वस्थादि बालजन कहलाते हैं। इनका नाम मात्र का भी ससर्ग महादोष का कारण है। इनके ससर्ग से ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो की उन्नति तो दूर रही, तीनो के विनष्ट होने की ही अधिक सम्भावना रहती है। मिथ्यात्वीजनो के अति-परिचय से ज्ञानादि मे सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, भ्रम एव चल-मल-अगाढ आदि दोष आ जाने की सम्भावना भी होती है। इसलिए यहाँ बालजनो के सग को दूर से ही त्याज्य कहा गया है।

इसके अतिरिक्त ज्ञानादि रत्नत्रय की विशेष प्राप्ति तथा चिरस्थायिता के लिए पाँच प्रकार का स्वाध्याय, तथा तदनन्तर एकान्त मे बैठकर एकाग्रचित्त से शास्त्रपाठ के अर्थ पर चिन्तन-मनन करना चाहिए, जिससे ज्ञान पल्लवित हो, दर्शन सुदृढ हो और चारित्र मे दृढता आये।

ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए धृति को भी अनिवार्य बताया है। धृति का अर्थ है—चित्त की स्वस्थता या अनुद्विग्नता। चित्त की स्वस्थता एव अनुद्विग्नता के बिना न तो गुरुओ और स्थविरो की सेवा ही भली-भाँति हो सकेगी, और न ही उद्विग्नता से स्वाध्याय या सूत्रार्थ-चिन्तन भी यथार्थ रूप से हो सकेगा। फलत धृति के बिना न ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी, न ही दर्शन सुदृढ होगा और न परीषह-सहन एव व्रतनियमादिरूप चारित्र-पालन भी सम्यक् रूप से हो सकेगा।[2]

---

१ गुरवो यथावच्छास्त्राभिधायका, वृद्धाश्च श्रुत-पर्यायादि वृद्धा। तेषा सेवा-पर्युपासना। इय च गुरुकुलवासोपलक्षण, तत्र च सुप्राप्यान्येव ज्ञानादीनि। उक्त च—"णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दसणे चरित्ते य।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

२ चित्तस्वास्थ्य विना ज्ञानादि लाभो न, इत्याह—धृतिश्च—चित्तस्वास्थ्यमनुद्विग्नत्वमित्यर्थ। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२२

प्राप्त ज्ञानादि को सुस्थिर रखने के लिए समाधि आवश्यक बताई है। समाधि से यहाँ भावसमाधि अभीष्ट है, जिसका अर्थ है—ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणो का अबाधितरूप से रहना। इस प्रकार की भाव-समाधि के लिए तीन बातो पर ध्यान देना अनिवार्य बताया है—(१) शुद्ध परिमित आहार, (२) निपुण-बुद्धि सहायक साधु, और (३) विविक्त स्थान।

आहार की शुद्धि और परिमितता पर ध्यान दिये बिना न तो साधक की बुद्धि प्रखर रहेगी, और न ही स्वाध्याय और अर्थ चिन्तन ठीक तरह से हो सकेगा। वह सेवा और ज्ञानादि की प्राप्ति मे भी प्रमाद करेगा, व सफल-मनोरथ न हो सकेगा। उसे अपना साथी भी, उसे बनाना चाहिए, जो सिद्धान्त और तत्व को ग्रहण करने और विवेचन करने मे निपुण हो, अन्यथा स्वेच्छाचारी, विवेकहीन एव मन्दबुद्धि को साथी बना लिया तो वह न तो वृद्धो व गुरुओ की सेवा करने देगा और न ही ज्ञानादि की प्राप्ति होने देगा। वह समाधि भग कर देगा। इसीलिए ५वी गाथा मे निपुण गुणाधिक या गुण मे सम साथी के न रहने पर एकाकी विचरण बताया है। इसी प्रकार साधु का निवासस्थान यदि स्त्री-पशु-नपु सक के ससर्ग से रहित तथा कामोत्तेजक वातावरण से दूर नही होगा तो उसकी समाधि भग हो जायेगी, वह ज्ञानादि प्राप्ति नही कर सकेगा। इसी दृष्टि से ज्ञानादि प्राप्ति मे अन्तरग कारणभूत समाधि के लिए इन तीनो का ध्यान रखना आवश्यक बताया है।

यद्यपि सामान्यतया एकाकी विहार आगमो मे निषिद्ध है, किन्तु तथाविध गीतार्थ एव ज्ञानादि आठ गुणो से सम्पन्न साधु के लिए यहाँ उसका विधान किया गया है।[1]

पूर्व गाथाओ मे सर्वदु खमुक्ति एव एकान्तसुखप्राप्ति के हेतुभूत ज्ञानादि की प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध मे कहा गया है, किन्तु दु खमुक्ति से पूर्व साधक को यह भलीभाति ज्ञात होना चाहिए कि दु ख की उत्पत्ति का परम्परागत स्रोत क्या है? अब अब दु खोत्पत्ति के परम्परागत स्रोत के विषय मे कहते हैं।

दु खोत्पत्ति एव दु खविनाश के परम्परागत स्रोत—

मूल—जहा य अंडप्पभवा बलागा, अडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥६॥

---

१ तुलना कीजिए—न या लभेज्जा निउणं सहायं—दशवैकालिकचूलिका २/१०

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्म च मोहप्पभव वयति।
कम्म च जाई-मरणस्स मूल, दुक्ख च जाई-मरण वयति ॥७॥
दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥८॥

पद्यानु०—जैसे बक अण्डे से होता, और अण्ड बलाका से होता।
ऐसे ही मोह-सदन तृष्णा, और तृष्णा से मोह-उदय होता ॥६॥
हैं राग-द्वेष दो कर्म-बीज, और कर्म मोह से होता है।
है जन्म-मरण का मूल कर्म, जनु-मरण दुःख कहलाता है ॥७॥
जिसको न मोह है दुःख मिटा, है नष्ट-मोह तृष्णा न जिसे।
तृष्णा मेटी तो लोभ नही, जब लोभ गया कुछ भी न उसे ॥८॥

अन्वयार्थ—जहा य—जिस प्रकार, बलागा—बलाका=बगुली, अडप्पभवा—अडे से उत्पन्न होती है, जहा य—और जिस प्रकार, अड—अण्डा, बलागप्पभवा—बगुली से उत्पन्न होता है, एमेव—इसी प्रकार, मोहाययण खु—मोह का आयतन (घर या जन्मस्थान), तण्हा—तृष्णा है, च—और, तण्हाययण—तृष्णा का आयतन (जन्मस्थान), मोह=मोह को, वयति—कहा जाता है ॥६॥

कम्मबीय—कर्म के बीज, रागो य—राग है, और, दोसो वि य—द्वेष भी है, कम्म च—और कर्म, मोहप्पभव—मोह से उत्पन्न होता है, वयति—(ऐसा) कहते हैं। कम्म च—तथा कर्म, जाइ-मरणस्स—जन्म मरण का, मूल—मूल है, च—और, जाई मरण—जन्म-मरण को ही (वास्तव मे), दुक्ख वयति—दुःख कहा जाता है ॥७॥

जस्स मोहो—जिसके मोह, न होइ—नही होता (उसका), दुक्ख—दुःख, हयं—नष्ट हो गया है, जस्स—जिसके, तण्हा—तृष्णा, न होइ—नही है, (उसका) मोहो—मोह, हओ—नष्ट हो गया है, जस्स—जिसके, लोहो—लोभ, न होइ—नही है, (उसकी) तण्हा=तृष्णा, हया—समाप्त हो गई (और) जस्स—जिसके पास, न किंचणाइ—अकिंचन वृत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नही है अर्थात् अकिंचनता है, (उसका) लोहो—लोभ, हओ—नष्ट हो गया, अर्थात् जिसने लोभ को नष्ट कर दिया है, उसकी अकिंचनवृत्ति हो जाती है। अकिंचनवृत्ति के हो जाने पर मोह, दुःख, तृष्णा, लोभ आदि सभी दुःख के कारणभूत बीज नष्ट हो जाते हैं।

विशेषार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने दुःख के मूल और परम्परागत कारणो पर प्रकाश डालते हुए निम्नोक्त शकाओ का समाधान किया है—

(१) दु ख क्या है ?—जन्म-मरण ।
(२) जन्म-मरण का मूल कारण क्या है ?—कर्म
(३) कर्म के बीज कौन हैं ? राग और द्वेष ।
(४) कर्म का जनक कौन है ?—मोह ।

निष्कर्ष यह हुआ कि जन्म–मरणरूप दु ख को नष्ट करने के लिए मोह को नष्ट करना आवश्यक है । मोह की उत्पत्ति तृष्णा से होती है, और तृष्णा की उत्पत्ति मोह से, दोनो का परस्पर कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है । अतएव मोह उसी का नष्ट होता है, जिसके तृष्णा नहीं है, तथा तृष्णा भी उसी की नष्ट होती है, जिसके जीवन मे लोभ नही है । जिसके जीवन मे सन्तोष, अकिंचनता या अपरिग्रहवृत्ति आ गई, समझ लो, उसका लोभ नष्ट हो गया ।

मोह का उत्पत्ति स्थान तृष्णा क्यो और कैसे—जिसके प्रभाव से आत्मा मूढता का शिकार हो जाए वह मोह है । वह एक प्रकार से मिथ्यात्वदोष से दूषित कुज्ञान है ।[1] जब किसी मनचाहे पदार्थ को पाने की तृष्णा मन मे उठती है, तब आत्मा के वास्तविक ज्ञान पर पर्दा पड जाता है, और मूढता-वश वह उसे पाने के लिये लालायित हो उठता है । वह यह भूल जाता है कि यह पदार्थ मेरा नही है, फिर मैं इसे पाने के लिए क्यो छटपटा रहा हूँ । चूंकि पदार्थ को पाने की प्रबल तृष्णा होते ही अत्यन्त दुस्त्याज्य एव राग-प्रधान ममता-मूर्च्छा उत्पन्न होती है । जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष अवश्य हो जाता है । अत तृष्णा के आते ही मन मे राग द्वेष जग जाते हैं । यदि राग-द्वेष अनन्तानुबन्धीकषायरूप होते हैं, तब तो मिथ्यात्व सत्ता से उदय मे आ जाता है । जिसके कारण उपशान्तकषाय गुणस्थानी भी मिथ्यात्व-गुणस्थान के गर्त मे गिर पडते है । कषाय और मिथ्यात्व आदि मोहनीय के ही परिवार के हैं । इसीलिये यहाँ तृष्णायतन यानी तृष्णा का मूल उत्पत्ति-स्थान मोह को बताया है ।[2]

फलितार्थ—इस विषचक्र को वही रोक सकता है, जो अकिंचन हो, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हो, वितृष्ण हो, तथा राग-द्वेष-मोह

---

१ मोहयति—मूढता नयत्यात्मानमिति मोह—अज्ञानम् । तच्चेह मिथ्यात्व-दोषदुष्टं ज्ञानमेव गृह्यते । —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

२ बृहद्वृत्ति पत्र, ६२३
मोह आयतन—उत्पत्तिस्थान यस्या सा मोहायतना तृष्णा ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति ॥७॥
दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥८॥

पद्यानु०—जैसे बक अण्डे से होता, और अण्ड बलाका से होता।
ऐसे ही मोह-सदन तृष्णा, और तृष्णा से मोह-उदय होता ॥६॥
हैं राग-द्वेष दो कर्म-बीज, और कर्म मोह से होता है।
है जन्म-मरण का मूल कर्म, जनु-मरण दुःख कहलाता है ॥७॥
जिसको न मोह है दुःख मिटा, है नष्ट-मोह तृष्णा न जिसे।
तृष्णा मेटी तो लोभ नहीं, जब लोभ गया कुछ भी न उसे ॥८॥

अन्वयार्थ—जहा य—जिस प्रकार, बलागा—बलाका=बगुली, अडप्पभवा—अडे से उत्पन्न होती है, जहा य—और जिस प्रकार, अडं—अण्डा, बलागप्पभवा—बगुली से उत्पन्न होता है, एमेव—इसी प्रकार, मोहाययणं खु—मोह का आयतन (घर या जन्मस्थान), तण्हा—तृष्णा है, च—और, तण्हाययणं—तृष्णा का आयतन (जन्मस्थान), मोहं=मोह को, वयंति—कहा जाता है ॥६॥

कम्मबीयं—कर्म के बीज, रागो य—राग है, और, दोसो वि य—द्वेष भी है, कम्मं च—और कर्म, मोहप्पभवं—मोह से उत्पन्न होता है, वयंति—(ऐसा) कहते हैं। कम्मं च—तथा कर्म, जाइ-मरणस्स—जन्म मरण का, मूलं—मूल है, च—और, जाई मरणं—जन्म-मरण को ही (वास्तव में), दुक्खं वयंति—दुःख कहा जाता है ॥७॥

जस्स मोहो—जिसके मोह, न होइ—नहीं होता (उसका), दुक्खं—दुःख, हयं—नष्ट हो गया है, जस्स—जिसके, तण्हा—तृष्णा, न होइ—नहीं है, (उसका) मोहो—मोह, हओ—नष्ट हो गया है, जस्स—जिसके, लोहो—लोभ, न होइ—नहीं है, (उसकी) तण्हा=तृष्णा, हया—समाप्त हो गई (और) जस्स—जिसके पास, न किंचणाइं—अकिंचन वृत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है अर्थात् अकिंचनता है, (उसका) लोहो—लोभ, हओ—नष्ट हो गया, अर्थात् जिसने लोभ को नष्ट कर दिया है, उसकी अकिंचनवृत्ति हो जाती है। अकिंचनवृत्ति के हो जाने पर मोह, दुःख, तृष्णा, लोभ आदि सभी दुःख के कारणभूत बीज नष्ट हो जाते हैं।

विशेषार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने दुःख के मूल और परम्परागत कारणों पर प्रकाश डालते हुए निम्नोक्त शंकाओं का समाधान किया है—

(१) दुःख क्या है ?—जन्म-मरण ।
(२) जन्म-मरण का मूल कारण क्या है ?—कर्म
(३) कर्म के बीज कौन हैं ? राग और द्वेष ।
(४) कर्म का जनक कौन है ?—मोह ।

निष्कर्ष यह हुआ कि जन्म-मरणरूप दुःख को नष्ट करने के लिए मोह को नष्ट करना आवश्यक है । मोह की उत्पत्ति तृष्णा से होती है, और तृष्णा की उत्पत्ति मोह से, दोनो का परस्पर कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है । अतएव मोह उसी का नष्ट होता है, जिसके तृष्णा नही है, तथा तृष्णा भी उसी की नष्ट होती है, जिसके जीवन मे लोभ नही है । जिसके जीवन मे सन्तोष, अकिंचनता या अपरिग्रहवृत्ति आ गई, समझ लो, उसका लोभ नष्ट हो गया ।

मोह का उत्पत्ति स्थान तृष्णा क्यो और कैसे—जिसके प्रभाव से आत्मा मूढता का शिकार हो जाए वह मोह है । वह एक प्रकार से मिथ्यात्वदोष से दूषित कुज्ञान है ।[1] जब किसी मनचाहे पदार्थ को पाने की तृष्णा मन मे उठती है, तब आत्मा के वास्तविक ज्ञान पर पर्दा पड जाता है, और मूढता-वश वह उसे पाने के लिये लालायित हो उठता है । वह यह भूल जाता है कि यह पदार्थ मेरा नही है, फिर मैं इसे पाने के लिए क्यो छटपटा रहा हूँ । चूंकि पदार्थ को पाने की प्रबल तृष्णा होते ही अत्यन्त दुस्त्याज्य एव राग-प्रधान ममता-मूर्च्छा उत्पन्न होती है । जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष अवश्य हो जाता है । अतः तृष्णा के आते ही मन मे राग द्वेष जग जाते हैं । यदि राग-द्वेष अनन्तानुबन्धीकषायरूप होते हैं, तब तो मिथ्यात्व सत्ता से उदय मे आ जाता है । जिसके कारण उपशान्तकषाय गुणस्थानो भी मिथ्यात्व-गुणस्थान के गर्त मे गिर पडते हैं । कषाय और मिथ्यात्व आदि मोहनीय के ही परिवार के हैं । इसीलिये यहाँ तृष्णायतन यानी तृष्णा का मूल उत्पत्ति-स्थान मोह को बताया है ।[2]

फलितार्थ—इस विषचक्र को वही तोड सकता है, जो अकिंचन हो, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हो, वितृष्ण हो, तथा राग-द्वेष-मोह

---

१ मोहयति—मूढता नयत्यात्मानमिति मोह—अज्ञानम् । तच्चेह मिथ्यात्व-दोषदुष्टं ज्ञानमेव गृह्यते ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

२ बृहद्वृत्ति पत्र, ६२३
मोह आयतन—उत्पत्तिस्थान यस्याः सा मोहायतना तृष्णा ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्म च मोहप्पभव वयति।
कम्म च जाई-मरणस्स मूल, दुक्ख च जाई-मरण वयति ॥७॥
दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥८॥

पद्यानु०—जैसे बक अण्डे से होता, और अण्ड बलाका से होता।
ऐसे ही मोह-सदन तृष्णा, और तृष्णा से मोह-उदय होता ॥६॥
है राग-द्वेष दो कर्म-बीज, और कर्म मोह से होता है।
है जन्म-मरण का मूल कर्म, जनु-मरण दुःख कहलाता है ॥७॥
जिसको न मोह है दुःख मिटा, है नष्ट-मोह तृष्णा न जिसे।
तृष्णा मेटी तो लोभ नही, जब लोभ गया कुछ भी न उसे ॥८॥

अन्वयार्थ—जहा य—जिस प्रकार, बलागा—बलाका=बगुली, अण्डप्पभवा—अंडे से उत्पन्न होती है, जहा य—और जिस प्रकार, अंड—अण्डा, बलागप्पभवा—बगुली से उत्पन्न होता है, एमेव—इसी प्रकार, मोहाययण खु—मोह का आयतन (घर या जन्मस्थान), तण्हा—तृष्णा है, च—और, तण्हाययण—तृष्णा का आयतन (जन्मस्थान), मोह=मोह को, वयति—कहा जाता है ॥६॥

कम्मबीय—कर्म के बीज, रागो य—राग है, और, दोसो वि य—द्वेष भी है, कम्म च—और कर्म, मोहप्पभव—मोह से उत्पन्न होता है, वयति—(ऐसा) कहते हैं। कम्म च—तथा कर्म, जाइ-मरणस्स—जन्म मरण का, मूल—मूल है, च—और, जाई मरण—जन्म-मरण को ही (वास्तव मे), दुक्ख वयति—दुःख कहा जाता है ॥७॥

जस्स मोहो—जिसके मोह, न होइ—नही होता (उसका), दुक्ख—दुःख, हय—नष्ट हो गया है, जस्स—जिसके, तण्हा—तृष्णा, न होइ—नही है, (उसका) मोहो—मोह, हओ—नष्ट हो गया है, जस्स—जिसके, लोहो—लोभ, न होइ—नही है, (उसकी) तण्हा=तृष्णा, हया—समाप्त हो गई (और) जस्स—जिसके पास, न किंचणाइ—अकिंचन वृत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नही है अर्थात् अकिंचनता है, (उसका) लोहो—लोभ, हओ—नष्ट हो गया, अर्थात् जिसने लोभ को नष्ट कर दिया है, उसकी अकिंचनवृत्ति हो जाती है। अकिंचनवृत्ति के हो जाने पर मोह, दुःख, तृष्णा, लोभ आदि सभी दुःख के कारणभूत बीज नष्ट हो जाते हैं।

विशेषार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने दुःख के मूल और परम्परागत कारणो पर प्रकाश डालते हुए निम्नोक्त शकाओ का समाधान किया है—

एकान्त शयन आसन-यन्त्रित, मितभोजी इन्द्रियजित् जन को।
नहिं कष्ट राग-शत्रु दे सकता, जैसे औषधि-जित् रुजतन को ॥१२॥

जैसे बिल्ली के पास वास, चूहों का सुखद नही होता।
ऐसे ही ब्रह्मव्रती जन का, नारी-गृह-वास न शुभ होता ॥१३॥

सत् श्रमण तपस्वी नारी के, लावण्य-हास-इंगित-जल्पन।
वीक्षण विलास रख के मन मे, प्रमदा छवि का न करे दर्शन ॥१४॥

है ब्रह्मचर्य मे लीन व्रती के, नारी-दर्शन चिन्तन वर्णन।
करना न कभी हितकर निशदिन, है ध्यान आर्य यह शास्त्र-वचन ॥१५॥

त्रिगुप्ति-गुप्त मुनि को विचलित, कर सके न सज्जित देवी भी।
एकान्त लाभ का हेतु जान, है वास विविक्त कहा तब ही ॥१६॥

भवभीरु धर्म-स्थित मोक्षार्थी, के लिए न कुछ ऐसा दुस्तर।
जैसा बाल-मनोहारी नारी का, स्नेह-विजय है अति दुष्कर ॥१७॥

यदि विषय संग को जीत लिया, तो शेष विजय सुखकर होता।
जैसे सागर तिर जाने पर, गंगा का पार सुगम होता ॥१८॥

अन्वयार्थ—राग च—राग, दोस च—द्वेष, तहेव—तथा, मोहं—मोह को, (जो) समूलजालं—मूल सहित, उद्धत्तुकामेण—उखाड़ना चाहता है, उसे, जे जे—जो जो, उवाया—उपाय, पडिवज्जियव्वा—अपनाने चाहिए, ते—उन (उपायों) का, (मैं) अहाणुपुव्वि—अनुक्रम से, कित्तइस्सामि—कथन करूंगा ॥९॥

रसा—रसों का, पगामं—प्रकाम (अत्यधिक) न निसेवियव्वा—सेवन नहीं करना चाहिए। पायं—प्राय, रसा—रस, नराणं—(साधक) पुरुषों के लिए, दित्तिकरा—दृप्तिकर (उन्माद बढ़ाने वाले) या दीप्तिकर (कामोद्दीपन करने वाले) होते हैं[1] (उद्दीप्त मनुष्य को), कामा—काम (विषय-भोग), (वैसे ही), समभिद्दवंति—उत्पीडित करते हैं, जहा—जैसे, साउफलदुमं—स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को, पक्खी व—पक्षी ॥१०॥

जहा—जैसे, पउरिंधणे वणे—प्रचुर ईंधन वाले वन मे, समारुओ—(प्रचण्ड) वायु के साथ (लगी हुई) दवग्गी—दावाग्नि, न उवसमं उवेइ—उपशान्त नहीं होती, एवं—इसी प्रकार, पगामभोइणो—प्रकामभोजी (अतिमात्रा मे आहार करने

---

१ दृप्तिं धातूद्रेकस्तत्करणशीला दृप्तिकरा यदि वा दीप्त-दीपन मोहान-लज्वलनमित्यर्थं तत्करणशीला दीप्तिकरा। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२५

से दूर हो। इसीलिये शास्त्रकार आगे की गाथाओ मे कर्म के बीज एव जनक राग-द्वेष-मोह के उन्मूलन के उपाय विविध पहलुओ से बताते हैं।

राग-द्वेष-मोह के उन्मूलन के उपाय—

मूल—रागं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥९॥

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१०॥

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो, न बम्भयारिस्स हियाय कस्सइ ॥११॥

विवित्त सेज्जासण-जंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥१२॥

जहा बिरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थी-निलयस्स मज्झे, न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥१३॥

न रूव-लावण्ण-विलास-हासं, न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥१४॥

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारिय-झाणजोग्गं, हियं सया बम्भवए रयाणं ॥१५॥

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥१६॥

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बाल-मणोहराओ ॥१७॥

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१८॥

पद्यानु—राग, द्वेष और मोह कर्म के, मूल मिटाने वालो को।
जो उपाय करने होते, मैं कहता हूँ क्रम से उनको ॥९॥

करे रसो का नही अति सेवन, रस मन को उत्तेजित करते।
चचल को घेरे काम कष्ट, ज्यो खग गण से सुफल वृक्ष घिरते ॥१०॥

ज्यो इन्धन-पवन-संग पा वन का, दावानल शान्त नही होता।
त्यो विषयानल अतिभोगी जन को, नही कभी हितकर होता ॥११॥

धम्मे ठियस्स—धर्म मे स्थित, ससार-भीरुस्स—(जन्म-मरणरूप) ससार से भीरु, (तथा) मोक्खाभिकखिस्स—मोक्षाभिलाषी, माणवस्स—मानव के लिए, लोए—लोक मे, एयारिस—इसके समान, दुत्तर—दुस्तर कार्य, नत्थि—(और कोई) नही है, जह—जितनी कि, बाल-मणोहराओ—अज्ञानियो के मन को हरण करने वाली, इत्थिओ—स्त्रियाँ (दुस्तर हैं) ॥१७॥

एए य—इन (उपर्युक्त स्त्री-विषयक) सगे—सगो का, समइक्कमित्ता—सम्यक् अतिक्रमण (पार) करने पर, (उसके लिये) मेसा चेव—शेष (सारे ससर्गों के अतिक्रमण वैसे ही), सुहुत्तरा—सुखोत्तर=सुख से पार करने योग्य, भवति—हो जाते है, जहा—जैसे कि, महासागर—महासागर को, उत्तरित्ता—पार कर लेने के पश्चात्, गगासमाणा नई—गगा सरीखी नदी का पार करना, अवि—भी सुकर, भवे—हो जाता है ॥१८॥

विशेषार्थ—राग, द्वेष और मोह को जड से उखाडने के उपाय—चार कषायो मे माया और लोभ राग-रूप हैं तथा क्रोध और मान द्वेषरूप हैं। चारित्रमोहनीय (मोह) के अन्तर्गत, ये चारो कषाय आ जाते हैं। अत सक्षेप मे कहे तो चारित्रमोह को जड से उखाडने के उपाय शास्त्रकार (गा १० से १८ तक) ९ गाथाओ मे बतलाते है। कुछ मुख्य उपाय ये है—(१) प्रकाम-रस-सेवन-निषेध, (२) प्रकाम भोजन-निषेध, (३) विविक्त शय्यासन, (४) अवमोदर्य तप, (५) इन्द्रिय-दमन, (६) स्त्रियो के स्थान मे या उसके समीप आवास-निषेध, (७) स्त्रियो के रूप-लावण्यादि को चित्त मे निविष्ट करके देखने का निषेध, (८) स्त्रियो को रागपूर्वक देखना, चाहना, चिन्तन और कीर्तन करने का निषेध, (९) सर्वालकारादि विभूषित देवियाँ भी विचलित न करे, इसके लिए स्त्री सम्पर्क रहित एकान्त निवास, (१०) अज्ञानी जन मनोहारिणी नारियो से बचने के लिए साधु को मोक्षाभिलाषी, ससारभीरु और धर्म मे स्थिर होना आवश्यक है, (११) स्त्री सम्बन्धी आसक्ति का महासागर पार करने का सकल्प करे।

चारित्रमोह को बढाने मे सबसे प्रबल कारण काम-विकार है, और कामविकार का प्रबल निमित्त है—स्त्री। राग, द्वेष और मोह को उत्तेजित करने मे वही मुख्य निमित्त बनती है। इसलिए यहाँ इन तीनो का समूल उन्मूलन करने के लिए काम-विकार को उत्तेजित करने वाले निमित्तो से, विशेष रूप से स्त्रीसग से दूर रहने पर बल दिया है।

मुख्यतया मोह (रागादि) पर विजय प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचारी साधु को घी, दूध, दही, मिष्ठान्न आदि रसो अथवा स्वादिष्ट वस्तुओ का

वाले साधक की) इंदियग्गी वि—इन्द्रियाग्नि (इन्द्रियो मे उत्पन्न हुई काम रूपी अग्नि) भी (शान्त नही होती), कस्सइ—किसी भी, बंभयारिस्स—ब्रह्मचारी के लिए, प्रकाम भोजन, न हियाय—कदापि हितकर नही होता ॥११॥

(जो) विवित्त-सेज्जासण-जंतियाण—विविक्त (स्त्री-पुरुष-नपुसक आदि से असंसक्त) शय्या और आसन से नियन्त्रित (नियमबद्ध) है, ओमासणाण—जो अल्पाहारी (अवमौदर्य तप करने वाले) हैं, दमिइंदियाण—जिन्होने इन्द्रिय-दमन कर लिया है, (उनके) चित्त —चित्त को, रागसत्तू—रागरूपी शत्रु (उसी प्रकार) न धरिसेइ—पराभूत नही कर पाते (जिस प्रकार), ओसहेहिं—औषधो से, पराइओ —नष्ट की हुई (पराजित), वाहिरिव—व्याधि रोगी को पराभूत नही कर सकती ॥१२॥

जहा—जिस प्रकार, बिरालावसहस्स— बिल्ली के निवास स्थान के, मूले— समीप मे, मूसगाण—चूहो की, वसही—आवास, न पसत्था— प्रशस्त नही होता, एमेव—इसी प्रकार, इत्थी-निलयस्स—स्त्री के मकान, के मज्झे—मध्य (पास) मे बंभयारिस्स—ब्रह्मचारी का, निवासो—निवास, न खमो—क्षम्य (उचित) नही है ॥१३॥

तवस्सी समणे—तपस्वी श्रमण, इत्थीण—स्त्रियो के, रूव-लावण्ण-विलास-हास—रूप, लावण्य, विलास और हास्य, (तथा) जंपिय—प्रिय भाषण, इंगिय-पेहिय वा—इगित अगचेष्टा या (अग भगी आदि) या कटाक्षपूर्वक अवलोकन को, चित्ते—चित्त (मन) मे, निवेसइत्ता—निविष्ट (स्थापित) करके, दट्ठु—देखने का, न ववस्से—व्यवसाय (अध्यवसाय) न करे ॥१४॥

सया—सदा, बंभचेर रयाण—ब्रह्मचर्यव्रत मे रत (सयमी पुरुषो) के लिए, इत्थीजणस्स—नारीजन का (टकटकी लगाकर), अदंसण—अवलोकन न करना, अपत्थण च—उनकी प्रार्थना (अभिलाषा) न करना, अचिंतण चेव—उनका मन मे चिन्तन ही न करना, च—और, अकित्तण—उनका कीर्तन (वर्णन) न करना ही, हिय—हितकर है, (तथा) आरिय-झाणजोग्ग—आर्य (सम्यक् धर्म) ध्यान (आदि की साधना) के लिए योग्य—उचित है ॥१५॥

काम तु—माना कि, तिगुत्ता—तीन गुप्तियो से गुप्त (मुनियो) को, विभूसियाहिं—(वस्त्रालकारादि से) विभूषित, देवीहिं—देवागनाए (अप्सराए) भी, खोभइउ—विक्षुब्ध करने मे, न चाइया—समर्थ नही हैं, तहावि—तथापि, एगतहिय ति—(भगवान् ने) एकान्तहितकर है, ऐसा, नच्चा—जानकर, विवित्त-वासो—विविक्त=(स्त्री आदि के ससर्ग से रहित, एकान्त) निवास, मुणिण — मुनियो के लिए, पसत्थो—प्रशस्त (कहा) है ॥१६॥

धम्मे ठियस्स—धर्म मे स्थित, ससार-भीरुस्स—(जन्म-मरणरूप) ससार से भीरु, (तथा) मोक्खाभिकखिस्स—मोक्षाभिलाषी, माणवस्स—मानव के लिए, लोए —लोक मे, एयारिस—इसके समान, दुत्तर—दुस्तर कार्य, नत्थि—(और कोई) नही है, जह—जितनी कि, बाल-मणोहराओ—अज्ञानियो के मन को हरण करने वाली, इत्थिओ—स्त्रियाँ (दुस्तर हैं) ॥१७॥

एए य—इन (उपयुक्त स्त्री-विषयक) सगे—सगो का, समइक्कमित्ता—सम्यक् अतिक्रमण (पार) करने पर, (उसके लिये) सेसा चेव—शेष (सारे ससर्गो के अतिक्रमण वैसे ही), सुहुत्तरा—सुखोत्तर=सुख से पार करने योग्य, भवति—हो जाते है, जहा—जैसे कि, महासागर—महासागर को, उत्तरित्ता—पार कर लेने के पश्चात्, गगासमाणा नई—गगा सरीखी नदी का पार करना, अवि—भी सुकर, भवे —हो जाता है ॥१८॥

विशेषार्थ—राग, द्वेष और मोह को जड से उखाडने के उपाय—चार कषायो मे माया और लोभ राग-रूप हैं तथा क्रोध और मान द्वेषरूप हैं। चारित्रमोहनीय (मोह) के अन्तर्गत, ये चारो कषाय आ जाते हैं। अत सक्षेप मे कहे तो चारित्रमोह को जड से उखाडने के उपाय शास्त्रकार (गा १० से १८ तक) ९ गाथाओ मे बतलाते है। कुछ मुख्य उपाय ये हैं—(१) प्रकाम-रस-सेवन-निषेध, (२) प्रकाम भोजन-निषेध, (३) विविक्त शय्यासन, (४) अवमौदर्य तप, (५) इन्द्रिय-दमन, (६) स्त्रियो के स्थान मे या उसके समीप आवास-निषेध, (७) स्त्रियो के रूप-लावण्यादि को चित्त मे निविष्ट करके देखने का निषेध, (८) स्त्रियो को रागपूर्वक देखना, चाहना, चिन्तन और कीर्तन करने का निषेध, (९) सर्वालकारादि विभूषित देवियाँ भी विचलित न करे, इसके लिए स्त्री सम्पर्क रहित एकान्त निवास, (१०) अज्ञानी जन मनोहारिणी नारियो से बचने के लिए साधु को मोक्षाभिलाषी, ससारभीरु और धर्म मे स्थिर होना आवश्यक है, (११) स्त्री सम्बन्धी आसक्ति का महासागर पार करने का सकल्प करे।

चारित्रमोह को बढाने मे सबसे प्रबल कारण काम-विकार है, और कामविकार का प्रबल निमित्त है—स्त्री। राग, द्वेष और मोह को उत्तेजित करने मे वही मुख्य निमित्त बनती है। इसलिए यहाँ इन तीनो का समूल उन्मूलन करने के लिए काम-विकार को उत्तेजित करने वाले निमित्तो से, विशेष रूप से स्त्रीसग से दूर रहने पर बल दिया है।

मुख्यतया मोह (रागादि) पर विजय प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचारी साधु को घी, दूध, दही, मिष्ठान्न आदि रसो अथवा स्वादिष्ट वस्तुओ का

वाले साधक की) इंदियग्गी वि—इन्द्रियाग्नि (इन्द्रियों में उत्पन्न हुई काम रूपी अग्नि) भी (शान्त नहीं होती), कस्सइ—किसी भी, बंभयारिस्स—ब्रह्मचारी के लिए, प्रकाम भोजन, न हियाय—कदापि हितकर नहीं होता ॥११॥

(जो) विवित्त-सेज्जासण-जंतियाणं—विविक्त (स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि से असंसक्त) शय्या और आसन से नियन्त्रित (नियमबद्ध) हैं, ओमासणाणं—जो अल्पाहारी (अवमौदर्य तप करने वाले) हैं, दमिइंदियाणं—जिन्होंने इन्द्रिय-दमन कर लिया है, (उनके) चित्तं—चित्त को, रागसत्तू—रागरूपी शत्रु (उसी प्रकार) न धरिसेइ—पराभूत नहीं कर पाते (जिस प्रकार), ओसहेहिं—औषधों से, पराइओ—नष्ट की हुई (पराजित), वाहिरिव—व्याधि रोगी को पराभूत नहीं कर सकती ॥१२॥

जहा—जिस प्रकार, बिरालावसहस्स—बिल्ली के निवास स्थान के, मूले—समीप में, मूसगाणं—चूहों की, वसही—आवास, न पसत्था—प्रशस्त नहीं होता, एमेव—इसी प्रकार, इत्थी-निलयस्स—स्त्री के मकान, के मज्झे—मध्य (पास) में बंभयारिस्स—ब्रह्मचारी का, निवासो—निवास, न खमो—क्षम्य (उचित) नहीं है ॥१३॥

तवस्सी समणे—तपस्वी श्रमण, इत्थीण—स्त्रियों के, रूव-लावण्ण-विलास-हासं—रूप, लावण्य, विलास और हास्य, (तथा) जंपियं—प्रिय भाषण, इंगिय-पेहियं वा—इंगित अंगचेष्टा या (अंग भंगी आदि) या कटाक्षपूर्वक अवलोकन को, चित्तंसि—चित्त (मन) में, निवेसइत्ता—निविष्ट (स्थापित) करके, दट्ठुं—देखने का, न ववस्से—व्यवसाय (अध्यवसाय) न करे ॥१४॥

सया—सदा, बंभचेरे रयाणं—ब्रह्मचर्यव्रत में रत (संयमी पुरुषों) के लिए, इत्थीजणस्स—नारीजन का (टकटकी लगाकर), अदंसणं—अवलोकन न करना, अपत्थणं च—उनकी प्रार्थना (अभिलाषा) न करना, अचिंतणं चेव—उनका मन में चिन्तन ही न करना, च—और, अकित्तणं—उनका कीर्तन (वर्णन) न करना ही, हियं—हितकर है, (तथा) आरिय-झाणजोग्गं—आर्य (सम्यक् धर्म) ध्यान (आदि की साधना) के लिए योग्य=उचित है ॥१५॥

कामं तु—माना कि, तिगुत्ता—तीन गुप्तियों से गुप्त (मुनियों) को, विभूसियाहिं—(वस्त्रालंकारादि से) विभूषित, देवीहिं—देवांगनाएं (अप्सराएं) भी, खोभइउं—विक्षुब्ध करने में, न चाइया—समर्थ नहीं हैं, तहावि—तथापि, एगंतहियं ति—(भगवान् ने) एकान्तहितकर है, ऐसा, नच्चा—जानकर, विवित्त-वासो—विविक्त=(स्त्री आदि के संसर्ग से रहित, एकान्त) निवास, मुणिणं—मुनियों के लिए, पसत्थो—प्रशस्त (कहा) है ॥१६॥

धम्मे ठियस्स—धर्म मे स्थित, ससार-भीरुस्स—(जन्म-मरणरूप) ससार से भीरु, (तथा) मोक्खाभिकखिस्स—मोक्षाभिलाषी, माणवस्स—मानव के लिए, लोए—लोक मे, एयारिस—इसके समान, दुत्तर—दुस्तर कार्य, नत्थि—(और कोई) नहीं है, जहा—जितनी कि, बाल-मणोहराओ—अज्ञानियो के मन को हरण करने वाली, इत्थिओ—स्त्रियाँ (दुस्तर हैं) ॥१७॥

एए य—इन (उपर्युक्त स्त्री-विषयक) सगे—सगो का, समइक्कमित्ता—सम्यक् अतिक्रमण (पार) करने पर, (उसके लिये) सेसा चेव—शेष (सारे ससर्गों के अतिक्रमण वैसे ही), सुहुत्तरा—सुखोत्तर=सुख से पार करने योग्य, भवति—हो जाते है, जहा—जैसे कि, महासागर—महासागर को, उत्तरित्ता—पार कर लेने के पश्चात्, गगासमाणा नई—गगा सरीखी नदी का पार करना, अवि—भी सुकर, भवे—हो जाता है ॥१८॥

विशेषार्थ—राग, द्वेष और मोह को जड से उखाडने के उपाय—चार कषायो मे माया और लोभ राग-रूप हैं तथा क्रोध और मान द्वेषरूप हैं। चारित्रमोहनीय (मोह) के अन्तर्गत, ये चारो कषाय आ जाते हैं। अत सक्षेप मे कहे तो चारित्रमोह को जड से उखाडने के उपाय शास्त्रकार (गा १० से १८ तक) ९ गाथाओ मे बतलाते हैं। कुछ मुख्य उपाय ये हैं—(१) प्रकाम-रस-सेवन-निषेध, (२) प्रकाम भोजन-निषेध, (३) विविक्त शय्यासन, (४) अवमौदर्य तप, (५) इन्द्रिय-दमन, (६) स्त्रियो के स्थान मे या उसके समीप आवास-निषेध, (७) स्त्रियो के रूप-लावण्यादि को चित्त मे निविष्ट करके देखने का निषेध, (८) स्त्रियो को रागपूर्वक देखना, चाहना, चिन्तन और कीर्तन करने का निषेध, (९) सर्वालकारादि विभूषित देवियाँ भी विचलित न करे, इसके लिए स्त्री सम्पर्क रहित एकान्त निवास, (१०) अज्ञानी जन मनोहारिणी नारियो से बचने के लिए साधु को मोक्षाभिलाषी, ससारभीरु और धर्म मे स्थिर होना आवश्यक है, (११) स्त्री सम्बन्धी आसक्ति का महासागर पार करने का सकल्प करे।

चारित्रमोह को बढाने मे सबसे प्रबल कारण काम-विकार है, और कामविकार का प्रबल निमित्त है—स्त्री। राग, द्वेष और मोह को उत्तेजित करने मे वही मुख्य निमित्त बनती है। इसलिए यहाँ इन तीनो का समूल उन्मूलन करने के लिए काम-विकार को उत्तेजित करने वाले निमित्तो से, विशेष रूप से स्त्रीसग से दूर रहने पर बल दिया है।

मुख्यतया मोह (रागादि) पर विजय प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचारी साधु को घी, दूध, दही, मिष्ठान्न आदि रसो अथवा स्वादिष्ट वस्तुओ का

अतिमात्रा मे सेवन नही करना चाहिए क्योकि रसो का अत्यधिक मात्रा मे सेवन करने से कामोद्रेक होता है, ब्रह्मचर्य खण्डित होता है, जिससे मोह (रागादि) वृद्धि स्वाभाविक है तथा अतिमात्रा मे भोजन करने से धातु उद्दीप्त होती है, प्रमाद बढ जाता है, शरीर पुष्ट, मासल एव सुन्दर होने पर मोह (रागादि) वृद्धि स्वाभाविक है। मोह—(राग-द्वेषादि) शत्रु को परास्त करने के लिए ब्रह्मचारी को अपना आवास स्थान, आसन, शयन, सम्पर्क स्त्री आदि से रहित एकात मे रखना चाहिये। विविक्त स्थान मे भी यदि स्त्रियाँ आ जाएँ, या भिक्षाचर्या आदि प्रसग मे स्त्रियाँ सम्मुख आ जाएँ तो साधु उनकी ओर कामराग की दृष्टि से न देखे, न चाहे, न स्त्री सम्बन्धी चिन्तन और कीर्त्तन करे। स्त्रियो के हास्य, विलास, लावण्य, रूप, आलाप, अंगचेष्टा, कटाक्ष आदि को अपने चित्त मे कतई स्थान न दे। निष्कर्ष यह है कि स्त्री सम्बन्धी आसक्ति से बिल्कुल दूर रहना है। इन सब उपायो को क्रियान्वित करने से ब्रह्मचारी साधु की इन्द्रियाँ विषयोन्मुखी न होकर आत्मोन्मुखी होगी, ब्रह्मचर्य सुदृढ होगा, राग-द्वेष-मोहादि शत्रुओ पर अनायास ही विजय प्राप्त होगी।[1]

सातवी गाथा मे जन्म-मरण को दुःखरूप बताया गया है, परन्तु जन्म-मरण की वृद्धि मे प्रबल निमित्त कामभोग भी इहलोक, परलोक एव सर्वत्र दुःखो के हेतु है। इसलिए अगली दो गाथाओ मे कामभोग की दुःखजनकता प्रतिपादित की गई है।

परम्परा से दुःख के हेतु कामभोग—

मूल—कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइय माणसिय च किंचि, तस्सतग गच्छइ वीयरागो ॥१९॥
जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ॥२०॥

पद्यानु०—है काम-गृद्धि-उत्पन्न दुःख, सब देवसहित जगतीजन को।
कायिक या मानस जो कुछ भी, पाते जिनदेव अन्त उसको॥१९॥
खाते समय किम्पाक फलो के, रस-वर्ण-मनोरम होते हैं।
पर पीछे करते प्राण-हरण, यो विषय जगत् मे होते हैं॥२०॥

---

१ (क) रसा क्षीरादि विकृतय। अकाम ग्रहण तु वातादिक्षोभ-निवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव निष्कारण-सेवनस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्।
—बृहद्वृत्ति पत्र ६२५

अन्वयार्थ—सव्वस्स लोगस्स—समग्र लोक के, (यहां तक कि) सदेवगस्स—देवों के भी, जं—जो, किंचि—कुछ, काइयं—कायिक, च—और, माणसियं—मानसिक, दुक्खं—दुःख है, (वह सब) कामाणुगिद्धिप्पभवं खु—कामासक्ति से ही उत्पन्न होता है। तस्संतगं—उन (दुःखों का) अन्त, वीयरागो—वीतरागदेव ही, गच्छइ—कर पाते हैं ॥१९॥

जहा य—जैसे, किंपागफला—किम्पाकफल, रसेण वण्णेण य—रस और रंग रूप की दृष्टि से (देखने और खाने में) मणोरमा—मनोरम लगते हैं (किन्तु) भुज्जमाणा—खाने पर, पच्चमाणा—परिपाक (परिणाम) में, जीविय—सोपक्रम (जीवन) का, खुद्दए—विनाश कर देते हैं, कामगुणा—कामगुण भी, विवागे—विपाक में (अन्तिम परिणामरूप में) एओवमा—इन्हीं के समान (विनाशकारी) होते हैं ॥२०॥

विशेषार्थ—कामभोग इह-परलोक में दुःख के हेतु—कामभोग अर्थात्—पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोग बाहर से देखने में रमणीय एवं सुखकारक प्रतीत होते हैं। इस चतुर्गतिक संसार में देवों को वे अत्यधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं, इसलिए सामान्य जनजन यह समझते हैं कि देव बहुत सुखी हैं, किन्तु कामभोगों को जहाँ भी अपनाया जाता है, वहाँ राग, द्वेष और मोह का आना अवश्यम्भावी है। जहाँ ये तीनों शत्रु आए, समझ लो, वहाँ इस लोक में कायिक और मानसिक दुःख होते ही हैं, तथा इनके प्रति राग-द्वेष-मोह से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप नरकादि दुर्गतियों में जन्म-मरण परम्परा का दीर्घकालिक दुःख भी भोगना पड़ता है। ये कामभोग देवगति-सहित समग्र संसार को अपने घेरे में जकड़े हुए हैं। इन सभी दुःखों का अन्त तभी हो सकता है, जब व्यक्ति कामभोगों (पंचेन्द्रिय-विषयों) के प्रति वीतरागभाव धारण करे, राग-द्वेष-मोह से दूर रहे।[1]

वीतरागभाव अपनाने का एक तरीका २०वीं गाथा में बताया है कि देखने और खाने में मनोरम्य मधुर कामभोग भी किम्पाकफल के समान परिणाम में विनाशकारी हैं, अतः इनके प्रति विरक्ति रखकर राग-द्वेष से दूर रहे। साधक यह निश्चित समझे कि कामभोगों के शिकार होने पर दीर्घकाल तक जन्म-मरणजन्य दुःखों को भोगना पड़ेगा।

---

१ [क] बृहद्वृत्ति पत्र ६२७ कायिकं दुःखं—रोगादि, मानसिकं च इष्टवियोग-जन्यम्।

[ख] उत्तरा० [आचार्यश्री आत्मारामजी म०] भा ३ पृ २५४।

अतिमात्रा मे सेवन नही करना चाहिए क्योंकि रसो का अत्यधिक मात्रा मे सेवन करने से कामोद्रेक होता है, ब्रह्मचर्य खण्डित होता है, जिससे मोह (रागादि) वृद्धि स्वाभाविक है तथा अतिमात्रा मे भोजन करने से धातु उद्दीप्त होती है, प्रमाद बढ जाता है, शरीर पुष्ट, मासल एव सुन्दर होने पर मोह (रागादि) वृद्धि स्वाभाविक है। मोह—(राग-द्वेषादि) शत्रु को परास्त करने के लिए ब्रह्मचारी को अपना आवास स्थान, आसन, शयन, सम्पर्क स्त्री आदि से रहित एकात मे रखना चाहिये। विविक्त स्थान मे भी यदि स्त्रियाँ आ जाएँ, या भिक्षाचर्या आदि प्रसग मे स्त्रियाँ सम्मुख आ जाएँ तो साधु उनकी ओर कामराग की दृष्टि से न देखे, न चाहे, न स्त्री सम्बन्धी चिन्तन और कीर्त्तन करे। स्त्रियो के हास्य, विलास, लावण्य, रूप, आलाप, अगचेष्टा, कटाक्ष आदि को अपने चित्त मे कतई स्थान न दे। निष्कर्ष यह है कि स्त्री सम्बन्धी आसक्ति से बिल्कुल दूर रहना है। इन सब उपायो को क्रियान्वित करने से ब्रह्मचारी साधु की इन्द्रियाँ विषयोन्मुखी न होकर आत्मोन्मुखी होगी, ब्रह्मचर्य सुदृढ होगा, राग-द्वेष-मोहादि शत्रुओ पर अनायास ही विजय प्राप्त होगी।[1]

सातवी गाथा मे जन्म-मरण को दु खरूप बताया गया है, परन्तु जन्म-मरण की वृद्धि मे प्रबल निमित्त कामभोग भी इहलोक, परलोक एव सर्वत्र दु खो के हेतु है। इसलिए अगली दो गाथाओ मे कामभोग की दु ख-जनकता प्रतिपादित की गई है।

परम्परा से दु ख के हेतु कामभोग—

मूल—कामाणुगिद्धिप्पभव खु दुक्ख, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
ज काइय माणसिय च किचि, तस्सतग गच्छइ वीयरागो ॥१९॥
जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ॥२०॥

पद्यानु०—है काम-गृद्धि-उत्पन्न दु ख, सब देवसहित जगतीजन को।
कायिक या मानस जो कुछ भी, पाते जिनदेव अन्त उसको॥१९॥
खाते समय किम्पाक फलो के, रस-वर्ण-मनोरम होते हैं।
पर पीछे करते प्राण-हरण, यो विषय जगत् मे होते हैं॥२०॥

---

१ (क) रसा क्षीरादि विकृतय। प्रकाम ग्रहण तु वातादिक्षोभ-निवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव निष्कारण-सेवनस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्।
—बृहद्वृत्ति पत्र ६२५

पद्यानु०—जो इन्द्रिय के हैं विषय रुचिर, उनमे ना मुनि-मन ललचाए।
और अशुभ विषय मे शान्तिकाम, तापस मन-खेद नही लाये ॥२१॥

रूप चक्षु का ग्रहण कहा, शुभ राग हेतु वह होता है।
है अशुभ द्वेष का हेतु कहा, दोनो मे 'जिन' सम रहता है ॥२२॥

है चक्षु रूप का ग्रहण-हेतु, औ रूप चक्षु का विषय कहा।
समनोज्ञ राग का हेतु कहा, और द्वेष-हेतु अमनोज्ञ कहा ॥२३॥

रुचिर रूप मे मूच्छित जो, वह क्षय अकाल मे हो जाता।
ज्यो रागी पतग ज्योति-लोलुप, है दीप-शिखा मे जल जाता ॥२४॥

जो भी कुरूप पर दोष धरे, उस क्षण ही वह दुःख पाता है।
निज के दुर्दान्त दूषण से ही, नहिं खता रूप कुछ करता है ॥२५॥

एकान्त रक्त शुभ रूपो मे, अपरूपो मे जो द्वेष धरे।
वह बाल दुःख पीडा पाता, ना मुनि विरागि मन लेप करे ॥२६॥

रूपो का पीछा करके नर, बहु त्रस-स्थावर-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूक उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥२७॥

रूपानुराग और सग्रह से, उत्पादन रक्षण करता है।
सहता व्यय और वियोग-दुःख, ना भोग-समय सुख पाता है ॥२८॥

हो अतृप्त जो रूप-ग्रहण मे, रजित मन पाता तोष नही।
असन्तोप से दुःखी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥२९॥

तृष्णावश करे अदत्त-ग्रहण, होता अतृप्त छवि पाने मे।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, मुक्त न होता दुःख पाने मे ॥३०॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अति दुःखी प्रयोग मे होता है।
यो रूप-अतृप्त दुःखी आश्रय बिन, पर धन सदा चुराता है ॥३१॥

कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है रूपासक्त यहाँ?
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ? ॥३२॥

यो द्वेष रूप मे जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मो का बन्ध करे, बन्धन-फल दुःख उठाता है ॥३३॥

हो शोकरहित जो रूप-विरत, वह विविध दुःखो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल सम, अघ-जल से पाता लेप नही ॥३४॥

अन्वयार्थ—समाहिकामे—समाधि की भावना वाला, तवस्सी—तपस्वी, समणे—श्रमण, इंदियत्थ—इन्द्रियों के, जे—जो, मणुन्ना—(शब्द-रूपादि) मनोज्ञ,

इन्द्रिय और मन के विषयो के प्रति वीतरागता

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपो मे समभाव की प्रक्रिया

मूल— जे इंदियाण विसया मणुन्ना, न तेसु भाव निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मण वि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥२१॥

चक्खुस्स रूव गहण वयति, त रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥२२॥

रूवस्स चक्खु गहण वयति, चक्खुस्स रूव गहण वयति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥२३॥

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणास।
रागाउरे से जह वा पयगे, आलोय-लोले समुवेइ मच्चुं ॥२४॥

जे यावि दोस समुवेइ तिच्च, त सिक्खणे से उ उवेइ दुक्ख।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू, न किंच रूव अवरज्झई से ॥२५॥

एगतरत्ते रुइरसि रूवे, अतालिसे से कुणइ पओस।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥२६॥

रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥२७॥

रूवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कह सुह से ?, सभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥२८॥

रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्त ॥२९॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा, तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से ॥३०॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एव अदत्ताणि समाययन्तो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥३१॥

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एव, कत्तो सुह होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्ख, निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्ख ॥३२॥

एमेव रूवम्मि गओ पओस, उवेइ दुक्खोह-परम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म, ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥३३॥

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलास ॥३४॥

पद्यानु०—जो इन्द्रिय के हैं विषय रुचिर, उनमे ना मुनि-मन ललचाए।
और अशुभ विषय मे शान्तिकाम, तापस मन-खेद नही लाये ॥२१॥

रूप चक्षु का ग्रहण कहा, शुभ राग हेतु वह होता है।
है अशुभ द्वेष का हेतु कहा, दोनो मे 'जिन' सम रहता है ॥२२॥

है चक्षु रूप का ग्रहण-हेतु, औ रूप चक्षु का विषय कहा।
समनोज्ञ राग का हेतु कहा, और द्वेष हेतु अमनोज्ञ कहा ॥२३॥

रुचिर रूप मे मूर्च्छित जो, वह क्षय अकाल मे हो जाता।
ज्यो रागी पतग ज्योति-लोलुप, है दीप-शिखा मे जल जाता ॥२४॥

जो भी कुरूप पर दोष धरे, उस क्षण ही वह दुःख पाता है।
निज के दुर्दान्त दूषण से ही, नहि सदा रूप कुछ करता है ॥२५॥

एकान्त रक्त शुभ रूपो मे, अपरूपो मे जो द्वेष धरे।
वह बाल दुःख पीडा पाता, ना मुनि विरागि मन लेप करे ॥२६॥

रूपो का पीछा करके नर, बहु त्रस-स्थावर-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥२७॥

रूपानुराग और सग्रह से, उत्पादन रक्षण करता है।
सहता व्यय और वियोग-दुःख, ना भोग-समय सुख पाता है ॥२८॥

हो अतृप्त जो रूप-ग्रहण मे, रजित मन पाता तोष नही।
असन्तोष से दुःखी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥२९॥

तृष्णावश करे अदत्त-ग्रहण, होता अतृप्त छवि पाने मे।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, मुक्त न होता दुःख पाने मे ॥३०॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अति दुःखी प्रयोग मे होता है।
यो रूप-अतृप्त दुःखी आश्रय बिन, पर धन सदा चुराता है ॥३१॥
कब कैसे किंचित् सुख होगा, जो नर है रूपासक्त यहाँ ?
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ ? ॥३२॥
यो द्वेष रूप मे जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मो का बन्ध करे, बन्धन-फल दुःख उठाता है ॥३३॥
हो शोकरहित जो रूप-विरत, वह विविध दुःखो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल सम, अघ-जल से पाता लेप नही ॥३४॥

अन्वयार्थ—समाहिकामे—समाधि की भावना वाला, तवस्सी—तपस्वी, समणे—श्रमण, इंदियाण—इन्द्रियो के, जे—जो, मणुन्ना—(शब्द-रूपादि) मनोज्ञ,

इन्द्रिय और मन के विषयों के प्रति वीतरागता

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में समभाव की प्रक्रिया

मूल— जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥२१॥

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥२२॥

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥२३॥

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोय-लोले समुवेइ मच्चुं ॥२४॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू, न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥२५॥

एगन्तरत्ते रुइरंसि रूवे, अतालिसे से कुणइ पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥२६॥

रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥२७॥

रूवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से ?, संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥२८॥

रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥२९॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से ॥३०॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥३१॥

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥३२॥

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥३३॥

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥३४॥

जीवों की, हिंसइ—हिंसा करता है, अत्तट्ठगुरु—एकमात्र अपने स्वार्थ को ही महत्त्व देने वाला, किलिट्ठे—(राग-द्वेष से) क्लिष्ट, से बाले—वह अज्ञानी जीव, चित्तेहिं—विभिन्न प्रकार से, (उन्हें) पीलेइ—पीड़ित करता है ॥२७॥

रूवाणुवाएण—रूप में अनुपात—अनुराग (और) परिग्गहेण—परिग्रह (ममत्व) के कारण, उप्पायणे—रूप के उत्पादन में, रक्खण-सन्निओगे—संरक्षण में और सन्नियोग (व्यापार=विनिमय) में, य—तथा, वए—व्यय में, य—और, विओगे—वियोग में, से—उसे, सुहं कहिं—सुख कहाँ ? (उसे) (रूप के), संभोगकाले—उपभोग-काल में भी, अतित्ति-लाभे—अतृप्ति ही प्राप्त होती है ॥२८॥

रूवे—रूप में, अतित्ते—अतृप्त, य—तथा, परिग्गहे य—परिग्रह में, सत्तोवसत्तो—आसक्त और उपसक्त (अत्यन्त आसक्त) (व्यक्ति) तुट्ठिं—सन्तुष्टि, न उवेइ—नहीं पाता। अतुट्ठिदोसेण—(वह) असंतोष के दोष से, दुही—दुःखी (एवं) लोभाविले—लोभ से आविल (व्याकुल) व्यक्ति, परस्स—दूसरों की वस्तुएँ, आययई—चुराता है (बिना दिये ले लेता है) ॥२९॥

रूवे—रूप में, य—और, परिग्गहे—परिग्रह में, अतित्तस्स—अतृप्त (तथा) तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत, अदत्तहारिणो—दूसरों की वस्तुएँ हरने चुराने वाले उस व्यक्ति का, लोभदोसा—लोभ के दोष से, मायामुसं—कपट और झूठ वड्ढइ—बढ़ जाता है, तत्थावि—उस पर (कपट और झूठ का प्रयोग करने पर) भी, से—वह, दुक्खा—दुःख से, न विमुच्चइ—मुक्त नहीं होता ॥३०॥

मोसस्स—झूठ बोलने से, पुरत्थओ—पहले, य—और, पच्छा—बाद में, य—तथा, (असत्य के) पओगकाले—प्रयोग के समय (भी वह) दुही—दुःखी होता है, दुरंते—(उसका) अन्त (परिणाम भी) दुःखरूप होता है। एवं—इस प्रकार, रूवे-अतित्तो—रूप में अतृप्त (होकर) अदत्ताणि समाययंतो—चोरी करके दूसरे की वस्तुओं का अपहरण करने वाला (वह) दुहिओ—दुःखित (और) अणिस्सो—आश्रयहीन (निराधार) (हो जाता है।) ॥३१॥

एवं—इस प्रकार, रूवाणुरत्तस्स नरस्स—रूप में अनुरक्त मनुष्य को, कत्तो कहाँ से, कयाइ—कब (और), किंचि—कितना, सुहं—सुख, होज्ज—हो सकता है? जत्थ कएण—जिसे पाने के लिए (मनुष्य इतना) दुक्खं—दुःख, निव्वत्तई—प्राप्त करता है, तत्थोवभोगे वि—उसके उपभोग में भी, किलेस-दुक्खं—क्लेश और दुःख ही (होता है।) ॥३२॥

एमेव—इसी प्रकार, रूवम्मि—रूप के प्रति, पओसमओ—प्रद्वेष करने वाला भी, दुक्खोह-परम्पराओ—(उत्तरोत्तर) अनेक दुःखों की परम्पराएँ, उवेइ—प्राप्त करता है, य—और, (वह) पदुट्ठचित्तो—द्वेषयुक्त चित्त वाला होकर, जं कम्मं—जिन कर्मों

विसया—विषय हैं, तेसु—उनमे, भाव—(राग) भाव, कयाइ—कदापि, न—न, निसिरे—करे, य—और, अमणुन्नेसु—अमनोज्ञ (विषयो) मे, मण वि—मन से भी, (द्वेष-भाव) न कुज्जा—न करे ॥२१॥

चक्खुस्स—चक्षु का, गहणं—ग्रहण, (ग्राह्य विषय) रूव=रूप, वयंति—कहा जाता है, मणुन्न—(यदि) मनोज्ञ (रूप) है, तु—तो, तं—उसे, रागहेउं—राग का कारण, आहु—कहा है। (और) अमणुन्न—अमनोज्ञ रूप है (तो) तं—उसे, दोसहेउं—द्वेष का कारण, आहु—कहा है। तेसु—इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपो) मे जो—जो (साधक), समो य—(न रागी, न द्वेषी) सम रहता है, स—वह, वीयरागो—वीतराग है ॥२२॥

चक्खु—चक्षु, रूवस्स—रूप का, गहणं—ग्राहक, वयंति—कहलाता है, (और) रूवं—रूप, चक्खुस्स—चक्षु का, गहणं—ग्राह्य विषय, वयंति—कहलाता है (जो), रागस्स—राग का, हेउं—कारण है, (उसे) समणुन्नं—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (उसे) (जो) दोसस्स—द्वेष का, हेउं—कारण है, (उसे) अमणुन्नं—अमनोज्ञ, आहु—कहा है ॥२३॥

जो—जो व्यक्ति, रूवेसु—मनोज्ञ रूपो मे, तिव्वं गिद्धिं—तीव्र गृद्धि—आसक्ति, उवेइ—रखता है, से रागाउरे—वह रागातुर, अकालियं—अकाल मे ही, विणासं—विनाश, पावइ—पाता है, जह वा—जैसे कि, आलोय-लोलेपयंगे—प्रकाश लोलुप पतंगा, (प्रकाश के रूप मे आसक्त होकर) मच्चुं—मृत्यु को, समुवेइ—प्राप्त होता है ॥२४॥

य—और, जे—जो, (अमनोज्ञ रूप के प्रति) तिव्वं दोसं—तीव्र द्वेष, समुवेइ—करता है, से—वह, जंतू—प्राणी, तंसि क्खणे—उसी क्षण, सएण दुद्दंतदोसेण—अपने स्वय के ही दुर्दान्त (दुर्दम्य) दोष के कारण, दुक्खं उ—दु ख ही, उवेइ—पाता है, से—इसमे, रूवं—(कुत्सित) रूप, किंचि—कुछ भी, न अवरज्झई—अपराध नही करता ॥२५॥

(जो) रुइरंसि रूवे—रुचिर (सुन्दर) रूप मे, एगंत रत्ते—एकान्त—अत्यन्त आसक्त (अनुरक्त) होता है, से—वह, अतालिसे—अतादृश=कुरूप मे, पओसं—प्रद्वेष, कुणई—करता है, (वह) बाले—अज्ञानी, दुक्खस्स—दु ख की, संपीलमुवेइ—पीडा को प्राप्त होता है, विरागो—विरक्त (राग-द्वेष से दूर), मुणी—मुनि, तेण—उनमे (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप मे) न लिप्पइ—(राग-द्वेष से) लिप्त नही होता ॥२६॥

रूवाणुगासाणुगए—मनोज्ञ की आशा (लालसा) का अनुगमन करने वाला व्यक्ति, अणेगरूवे—अनेक प्रकार के, चराचरे जीवे—चर-अचर (त्रस और स्थावर)

जीवों की, हिंसइ—हिंसा करता है, अत्तट्ठगुरु—एकमात्र अपने स्वार्थ को ही महत्त्व देने वाला, किलिट्ठे—(राग-द्वेष से) क्लिष्ट, से बाले—वह अज्ञानी जीव, चित्तेहिं—विभिन्न प्रकार से, (उन्हें) पीलेइ—पीड़ित करता है ॥२७॥

रूवाणुवाएण—रूप में अनुपात=अनुराग (और) परिग्गहेण—परिग्रह (ममत्व) के कारण, उप्पायणे—रूप के उत्पादन में, रक्खण-सन्निओगे—संरक्षण में और सन्नियोग (व्यापार=विनिमय) में, य—तथा, वए—व्यय में, य—और, विओगे—वियोग में, से—उसे, सुहं कहिं—सुख कहाँ? (उसे) (रूप के), संभोगकाले—उपभोग-काल में भी, अतित्ति-लाभे—अतृप्ति ही प्राप्त होती है ॥२८॥

रूवे—रूप में, अतित्ते—अतृप्त, य—तथा, परिग्गहे य—परिग्रह में, सत्तोवसत्तो—आसक्त और उपसक्त (अत्यन्त आसक्त) (व्यक्ति) तुट्ठिं—सन्तुष्टि, न उवेइ—नहीं पाता। अतुट्ठिदोसेण—(वह) असन्तोष के दोष से, दुही—दुःखी (एवं) लोभाविले—लोभ से आविल (व्याकुल) व्यक्ति, परस्स—दूसरों की वस्तुएँ, आययई—चुराता है (बिना दिये ले लेता है) ॥२९॥

रूवे—रूप में, य—और, परिग्गहे—परिग्रह में, अतित्तस्स—अतृप्त (तथा) तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत, अदत्तहारिणो—दूसरों की वस्तुएँ हरने चुराने वाले उस व्यक्ति का, लोभदोसा—लोभ के दोष से, मायामुसं—कपट और झूठ वड्ढइ—बढ़ जाता है, तत्थावि—उस पर (कपट और झूठ का प्रयोग करने पर) भी, से—वह, दुक्खा—दुःख से, न विमुच्चइ—मुक्त नहीं होता ॥३०॥

मोसस्स—झूठ बोलने से, पुरत्थओ—पहले, य—और, पच्छा—बाद में, य—तथा, (असत्य के) पओगकाले—प्रयोग के समय (भी वह) दुही—दुःखी होता है, दुरंते—(उसका) अन्त (परिणाम भी) दुःखरूप होता है। एवं—इस प्रकार, रूवे-अतित्तो—रूप से अतृप्त (होकर) अदत्ताणि समाययंतो—चोरी करके दूसरे की वस्तुओं का अपहरण करने वाला (वह) दुहिओ—दुःखित (और) अणिस्सो—आश्रयहीन (निराधार) (हो जाता है।) ॥३१॥

एवं—इस प्रकार, रूवाणुरत्तस्स नरस्स—रूप में अनुरक्त मनुष्य को, कत्तो कहाँ से, कयाइ—कब (और), किंचि—कितना, सुहं—सुख, होज्ज—हो सकता है? जस्स कएण—जिसे पाने के लिए (मनुष्य इतना) दुक्खं—दुःख, निव्वत्तई—प्राप्त करता है, तत्थोवभोगे वि—उसके उपभोग में भी, किलेस-दुक्खं—क्लेश और दुःख ही (होता है।) ॥३२॥

एमेव—इसी प्रकार, रूवम्मि—रूप के प्रति, पओसमओ—प्रद्वेष करने वाला भी, दुक्खोह-परम्पराओ—(उत्तरोत्तर) अनेक दुःखों की परम्पराएँ, उवेइ—प्राप्त करता है, य—और, (वह) पदुट्ठचित्तो—द्वेषयुक्त चित्त वाला होकर, जं कम्मं—जिन कर्मों

का, विणाइ—सचय करता है, से—वे कर्म, विवागे—विपाक (के समय) मे, पुणो—पुन, दुह—दु खरूप (बनते है) ॥३३॥

(किन्तु) रूवे विरत्तो—रूप से विरक्त, मणुओ—मनुष्य, विसोगो—शोक-रहित होता है, वह, एएण—इन, दुक्खोहपरंपरेण—दु खो की परम्परा से (रहित होता है) (वह) भवमज्झे—ससार मे, सतो वि—रहता हुआ भी (रागद्वेष से उसी प्रकार) न लिप्पइ—लिप्त नही होता, वा—जैसे, (जलाशय मे) पोक्खरिणी-पलास—पुष्करिणी (कमलिनी) का पत्ता, जलेण वा—जल से (लिप्त न होकर अलिप्त ही रहता है) ॥३४॥

विशेषार्थ—मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो मे राग और द्वेष से मुक्ति का उपाय—गाथा २१ मे सामान्य रूप से पाचो इन्द्रियो के रूपादि मनोज्ञ विषयो पर राग और अमनोज्ञ विषयो पर द्वेष का त्याग समाधि (चित्त की एकाग्रता-स्वस्थता) के लिए अनिवार्य बताया है। क्योकि इन्द्रियजन्य प्रिय विषयो मे राग का त्याग कर दिया, तो फिर उनमे प्रवृत्ति नही होगी तथा अप्रिय विषयो मे द्वेष के त्याग से कषायो की निवृत्ति हो जाएगी। जब राग-द्वेष से निवृत्ति हो गई, तब चित्त की एकाग्रतारूप समाधि अवश्य ही प्राप्त हो जाएगी। कारण यह है कि मन की आकुलता से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उनके निवृत्त होने से मन मे निराकुलता और स्वस्थता आ जाएगी, वही समाधि है।[1]

तात्पर्य—गाथा २२ से ३४ तक मे रूप से सम्बन्धित राग-द्वेष का त्याग करने का उपाय बताया गया है। रूप को चक्षु का ग्राह्य विषय और चक्षु को रूप का ग्राहक बताया है। इस प्रकार दोनो मे ग्राह्य-ग्राहक भाव है।

रूप प्रिय है तो राग का और अप्रिय है तो द्वेष का कारण बन जाता है। वीतरागी साधक दोनो पर समभाव रखता है। वह प्रिय पर राग और अप्रिय पर द्वेष नही करता। जो मनोज्ञ रूप पर अनुरक्त और आसक्त होता है, वह प्रकाश-लोभी पतगे की तरह अकाल मे ही विनष्ट हो जाता है, इसी प्रकार जो अमनोज्ञ रूप पर द्वेष करता है, वह दुर्दम्य द्वेष के कारण तत्काल मानसिक दु ख पाता है। अच्छे बुरे रूप का इसमे

---

1 'समाधि चित्तैकाग्र्य, स च रागद्वेषाभाव एवेति।' तदसत्कामो रागद्वेषोद्धरणाभिलाषी '
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

कोई अपराध नही, यह व्यक्ति की दृष्टि और मनोभावो पर निर्भर है। यदि रूप या चक्षु ही राग-द्वेष का कारण होता तो कोई भी व्यक्ति वीतराग नही हो सकता था, इसीलिए जो इन दोनो पर समभाव रखता है, वही वीतराग है। अत चक्षुरिन्द्रिय और रूप दोनो पर नियन्त्रण रखने की प्रेरणा यहाँ फलित होती है।

अज्ञानी जीव सुन्दर रूप मे पूरी तरह आसक्त हो जाता है, और असुन्दर रूप पर द्वेष करता है, वह दु ख से स्वय पीडित होता है, परन्तु ज्ञानी—वीतरागी साधक मन को राग-द्वेष से नही जोडता, वह तटस्थ रहता है। जो मूढ मनोज्ञ रूप को पाने की आशा के अनुसार दौड-धूप करता है, वह क्लिष्ट भावो से ग्रस्त होकर अनेक त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है, उन्हे विविध प्रकार से पीडा पहुँचाता है, केवल अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए। किन्तु यह देखा गया है कि मनोज्ञ रूप को पाने की तृष्णा, उसकी प्राप्ति, सुरक्षा, उसके उपभोग, व्यय या वियोग होने मे उसे कही भी सुख नही मिलता, हरदम चिन्ताजन्य दु ख बना रहता है। इतना सब कुछ पाप करने पर भी वह न यहाँ सुखी होता है, और न परलोक मे ही। रूप मे अतृप्त और परिग्रह मे आसक्त, अत्यासक्त व्यक्ति कभी सतुष्ट नही होता। असन्तुष्ट और अतृप्त व्यक्ति दु खी और लोभाकुल होकर दूसरे की रूपवान वस्तु चुराने मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार तृष्णा, लोभ और चौर्य के कारण वह अपने पाप को छिपाने के लिए छल, कपट और झूठ फरेब करता है। झूठ बोलने से पहले और पीछे तथा बोलते समय भी वह मन ही मन दु खी और चिन्तित रहता है। स्त्री के रूप मे आसक्त होकर वह अब्रह्मचर्य सेवन करता है, ममत्वपूर्वक संग्रह करता है, फिर भी अतृप्त रहता है। इस प्रकार रूप से अतृप्त होकर चोरी का मार्ग अपनाने वाला कही का नही रहता, वह दर-दर भटकता है, दु खी हो जाता है। जिस रूप को पाने के लिए मनुष्य इतना उठापटक झूठ-फरेब एव पाप करता है आखिर दु ख और क्लेश ही तो उसके पहले पडते हैं। वह कभी, कही भी किंचित् मात्र भी सुखी नही हो पाता ? यह तो हुई रूप के प्रति राग और मोह की कहानी। जिसका रूप के प्रति द्वेष-भाव हो गया, वह वैर विरोध, कलह, क्लेश, मानसिक सताप, ईर्ष्या आदि की आग मे झुलस कर उत्तरोत्तर दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। घोर पाप कर्मबन्ध करके फल भोगने के समय नाना दु ख उठाता है।

जन्म-मरण की परम्परा बढाता है। यही गाथा २२ से ३३ तक का निष्कर्ष है।[1]

अत रूप के प्रति (अर्थात्—समस्त रूपवान सजीव-निर्जीव वस्तुओ के प्रति) राग, द्वेष, मोह आदि मिटाने के लिए वह रूपवान वस्तुओ को देख सुनकर मन से विरक्त रहे, मन मे राग-द्वेष का भाव न आने दे, मन को कषाय से लिप्त न होने दे। वह रूपवान वस्तुओ के बीच मे रहते हुए भी जलकमलवत् निर्लिप्त रहे, तभी उसके चित्त मे समाधि, सुखशान्ति, निर्द्वन्द्वता, निश्चिन्तता और अनुद्विग्नता प्राप्त होकर चिरस्थायिनी बन सकेगी।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो के प्रति समभाव की प्रक्रिया—

मूल—सोयस्स सद्द गहण वयति, तं रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥३५॥
सद्दस्स सोयं गहणं वयति, सोयस्स सद्द गहण वयति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥३६॥
सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणास।
रागाउरे हरिण-मिगे व मुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥३७॥
जे यावि दोस समुवेइ तिव्व,तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंतदोसेण सएण जतू, न किंचि सद्द अवरज्झई से ॥३८॥
एगतरत्ते रुइरसि सद्दे, अतालिसे से कुणइ पओस।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥३९॥
सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥४०॥
सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए वियोगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥४१॥
सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्त ॥४२॥

---

१ दुःखस्य सम्पिण्ड सघातं, यद्वा समिति भृश, पीडा-दुःखकता बाधा सम्पीडा।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२९

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥४३॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्से ॥४४॥

सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्खं ॥४५॥

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥४६॥

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥४७॥

पद्यानु०—शब्द श्रोत्र का विषय, राग का हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
है द्वेष-हेतु अमनोज्ञ, उभय मे, वीतराग सम हो रहता ॥३५॥
शब्दो का ग्राहक श्रोत्र कहा, है शब्द श्रोत्र का ग्राह्य बडा।
वह रागहेतु समनोज्ञ और, अमनोज्ञ दोष का हेतु कहा ॥३६॥
शब्दो मे आसक्त तीव्र, बिन समय नाश वह है पाता।
रागातुर मुग्ध हरिण जैसे, वह निधन तृप्ति बिन है पाता ॥३७॥
प्रतिकूल शब्द मे तीव्र द्वेष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
है उसका दुर्दम द्वेष हेतु, अपराध शब्द ना कुछ करता ॥३८॥
अतिरक्त रुचिर शब्दो मे जो, प्रतिकूलो मे वह रोष धरे।
वह बाल दुःख से पीडित होता, मुनि हो विरक्त, ना राग धरे ॥३९॥
शब्दाभिलाष-अनुगामी नर, चर-अचर जीव-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥४०॥
शब्दानुराग और ममता से, उत्पादन, भोग तथा रक्षण।
व्यय और वियोग मे सौख्य कहाँ? उपभोग काल ना मन तर्पण ॥४१॥
शब्दार्थी सग्रह मे रहता, आसक्त तोष पाता न कही।
बिन तृप्ति दुःखित हो परधन हरते, लोभो मन मे सकोच नही ॥४२॥
तृष्णाभिभूत करता चोरी, ना तृप्त शब्द के पाने मे।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नही दुःख पाने मे ॥४३॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अति दु खी प्रयोग मे होता है।
यो शब्द-अतृप्त दु खी आश्रय बिन, परधन सदा चुराता है ।।४४।।
कब कैसे किंचित सुख होगा, जो नर है शब्दासक्त यहाँ ?
जिसके हित दु ख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ ?।।४५।।
यो द्वेष शब्द मे जो करता, नानाविध दु ख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दु खमय होता है ।।४६।।
गतशोक वही, जो शब्द-विरत, वह विविध दु खो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल-सम, अघ-जल से होता लिप्त नही ।।४७।।

अन्वयार्थ—सोयस्स—श्रोत्र के, गहण—ग्रहण (ग्राह्य विषय) को, सद्द—शब्द, वयंति—कहते हैं, (जो शब्द) रागहेउ—राग का कारण है, त तु—उसे, मणुन्न—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (जो शब्द) दोसहेउ—द्वेष का कारण है, त—उसे, अमणुन्न—अमनोज्ञ, आहु—कहा है, जो य—जो, तेसु—इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दो) मे, समो—सम रहता है, स—वह, वीयरागो—वीतराग है ।।३५।।

सोय—श्रोत्र को, सद्दस्स—शब्द का, गहण—ग्राहक, वयंति—कहते हैं, (और) सद्द—शब्द को, सोयस्स—श्रोत्र का, गहण—ग्राह्य विषय, वयंति—कहते हैं। (जो शब्द) रागस्स—राग का, हेउ—हेतु है, (उसे), समणुन्न—समनोज्ञ, आहु—कहा है, (और) (जो शब्द) दोसस्स—द्वेष का, हेउ—हेतु है, (उसे) अमणुन्न—अमनोज्ञ, आहु—कहा है ।।३६।।

सद्देसु—(मनोज्ञ) शब्दो मे, जो—जो, तिव्व गिद्धि—तीव्र रूप से गृद्धि-आसक्ति, उवेइ—रखता है, से—वह, रागाउरे—रागातुर, अकालिय—अकाल मे ही, विणास—विनाश को, पावइ—प्राप्त होता है, व—जैसे, सद्दे अतित्ते—शब्द मे अतृप्त, मुद्धे हरिणमिगे—मुग्ध हरिणमृग, मच्चु—मृत्यु को, समुवेइ—प्राप्त होता है ।।३७।।

य—और, जे—जो, (अमनोज्ञ शब्द के प्रति) तिव्व दोस पि—तीव्र रूप से द्वेष भी, समुवेइ—करता है, से जन्तू—वह प्राणी, तसि क्खणे उ—उसी क्षण, सएण दुद्दन्तदोसेण—अपने दुर्दान्त दोष के कारण, दुक्ख उवेइ—दु ख पाता है। से—इसमे, सद्द—शब्द का, किंचि—कुछ भी, न अवरज्झई—अपराध नही होता ।।३८।।

(जो) रुइरसि सद्दे—रुचिर (प्रिय) शब्द मे, एगतरत्ते—एकान्त रक्त (आसक्त) होता है, (तथा) अतालिसे—अतादृश (प्रतिकूल) शब्द मे, पओस—प्रद्वेष, कुणइ—करता है, से बाले—वह अज्ञानी, दुक्खस्स—दु ख का, सपील—

पिण्ड—समूह, अथवा सपीडन, उवेइ—प्राप्त करता है। विरागो मुणी—विरक्त मुनि, तेण—उसमे, न लिप्पई—लिप्त नही होता ॥३९॥

सद्दाणुगासाणुगए—(मनोज्ञ) शब्द की आशा का अनुगामी व्यक्ति, अणेगरूवे—अनेकरूप के, चराचरे जीवे य—चर और अचर (त्रस और स्थावर) जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है। अत्तट्ठगुरु—अपने स्वार्थ (अर्थ) को ही गुरुत्व (महत्व) प्रदान करने वाला, किलिट्ठे बाले—क्लिष्ट अज्ञानी, चित्तेहिं—विविध प्रकार से, ते—उन्हें, परितावेइ—परिताप देता है, (तथा) पीलेइ—पीडा पहुंचाता है ॥४०॥

सद्दाणुवाएण—शब्द के प्रति अनुराग से (एव) परिग्गहेण—ममत्व (परिग्रह) के कारण, (शब्द के) उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—रक्षण और सन्नियोग (सम्यक् प्रबन्ध करने) मे, य—तथा, वए—व्यय, (और) विओगे—वियोग मे, से—उसे, सुह—सुख, कहं—कहा ? (उसे तो) सभोगकाले—उपभोग काल मे भी, अतित्ति-लाभे—अतृप्ति (असन्तोष की) ही प्राप्ति होती है ॥४१॥

सद्दे अतित्ते—शब्द मे अतृप्त, य—तथा, परिग्गहे—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो—प्रगाढासक्त व्यक्ति को, तुट्ठि—सन्तोष, न उवेइ—प्राप्त नही होता। (वह) अतुट्ठिदोसेण—असतोष के दोष से, दुही—दु खी (एवं) लोभाविले—लोभग्रस्त व्यक्ति, परस्स—दूसरो की, अदत्त आययई—वस्तुएं चुराता है ॥४२॥

सद्दे—शब्द मे, य—और, परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्तस्स—अतृप्त, तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से पराभूत, अदत्तहारिणो—(दूसरो की वस्तुओ का) हरण करने वाले व्यक्ति का, लोभदोसा—लोभ के दोषवश, मायामुसं—माया और असत्य, वड्ढइ—बढ जाता है। तत्थावि—इतना होने पर भी, से—वह, दुक्खा—दु ख से, न विमुच्चइ—विमुक्त नही होता ॥४३॥

मोसस्स—असत्य बोलने के, पुरत्थओ—पहले, य—और, पच्छा—पीछे, य—और, पओगकाले—झूठ बोलने के समय भी वह, दुही—दु खी होता है, दुरते—उसका अन्त भी दु खमय होता है। एव—इस प्रकार, सद्दे अतित्तो—शब्द मे अतृप्त प्राणी, अदत्ताणि समाययतो—चोरिया करता हुआ, दुहिओ—दु खित (और), अणिस्सो—आश्रय-विहीन (हो जाता है।) ॥४४॥

एव—इस प्रकार, सद्दाणुरत्तस्स—शब्द मे अनुरक्त व्यक्ति को, कत्तो—कहा से, कयाइ—कब (और) किंचि—कितना, सुह—सुख, होज्ज—हो सकता है ? जस्स—एण—जिस (मनोज्ञ शब्द को पाने) के लिए, (व्यक्ति) दुक्ख—दु ख, निव्वत्तई—

उठाता है, तत्थोवभोगे वि—उसके उपभोग मे भी, किलेस दुक्ख—क्लेश और दुख ही होता है ॥४५॥

एमेव—इसी प्रकार, (जो अमनोज्ञ) सद्दं—शब्द के प्रति, पओस गओ—प्रद्वेष को प्राप्त करता है, (वह भी), दुक्खोह-परंपराओ—अनेक दुखो की परम्परा को, उवेइ—प्राप्त होता है, य—तथा, पदुट्ठचित्तो—द्वेषयुक्त चित्त वाला होकर, से—वह, ज कम्म—(जिस) कर्म का, चिणाइ—सचय करता है, (वही), पुणो—पुन, विवागे—(विपाक) फलभोग, के समय मे, दुह—दुखरूप, होइ—होता है ॥४६॥

सद्दे—शब्द से, विरत्तो—विरक्त, मणुओ—मनुष्य, विसोगो—शोक (चिन्ता) रहित होता है। (वह) भवमज्झे वि सतो—ससार मे रहता हुआ भी, एएण—इस (पूर्वोक्त), दुक्खोह परपरेण—दुख-समूह की परम्परा (शृखला) से, न लिप्पइ—लिप्त नही होता, वा—जैसे कि (जलाशय मे), पोक्खरिणी-पलास—कमलिनी का पत्ता, जलेण—जल से ॥४७॥

विशेषार्थ—शब्द के प्रति राग-द्वेष-मुक्त होने की प्रयोवश सूत्री—गाथा ३५ से ४७ तक तेरह गाथाओ मे रूप के विषय मे निरूपण के समान शब्द के विषय मे राग-द्वेष-मुक्त होने की प्रेरणा दी गई है। गाथाएँ प्राय समान हैं। 'रूप' के स्थान मे 'शब्द' और 'चक्षु' के स्थान मे 'श्रोत्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।

हरिण-मिगे स्पष्टीकरण—यद्यपि 'हरिण' और 'मृग' दोनो शब्द समानार्थक हैं, तथापि मृग शब्द अनेकार्थक (पशु, मृगशिरा नक्षत्र, हाथी की एक जाति और हरिण आदि अनेक अर्थों का वाचक) होने से यहाँ केवल 'हरिण' शब्द के अर्थ मे द्योतित करने हेतु 'हरिण-मृग' (हरिण-वाचक मृग) शब्द प्रयुक्त किया गया है।[1]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध के प्रति समभाव की प्रक्रिया—

मूल—घाणस्स गध गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥४८॥
गधस्स घाणं गहण वयति, घाणस्स गध गहण वयति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥४९॥

---

1 बहुक्त-मृगशीर्षे हस्तिजाती मृग पशु-कुरगयो। —बृहद्वृत्ति पत्र ६३५

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंध-गिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥५०॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दंत-दोसेण सएण जंतू, न किंचि गंधं अवरज्झई से ॥५१॥

एगंत-रत्ते रुइरंसि गंधे, अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥५२॥

गंधाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥५३॥

गंधाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥५४॥

गंधे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥५५॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभ-दोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥५६॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥५७॥

गंधाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥५८॥

एमेव गंधम्मि गओपओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।
पदुट्ठ-चित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥५९॥

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परंपरेण।
न लिप्पइ भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥६०॥

पद्यानु०—है गन्ध घ्राण का विषय, राग का हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
अमनोज्ञ द्वेष का हेतु, उभय में, वीतराग सम हो रहता ॥४८॥
गन्धों का घ्राण ग्रहण करता, घ्राणों का गन्ध विषय भारी।
है रुचिर राग का हेतु कहा, अरुचिर मन को है दुखकारी ॥४९॥
आसक्त सुखद गन्धों में जो, वह क्षय असमय में है पाता।
रागातुर औषधि-गन्ध-गृद्ध, अहिवत् बिल बाहर हो मरता ॥५०॥

यो द्वेष गन्ध मे जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय मिलता है ॥५१॥
एकान्त-रक्त शुभ-गन्धो मे, दुर्गन्धो मे जो द्वेष धरे।
वह बाल दुःख-पीडा पाता, ना मुनि विरक्त मन लेप करे ॥५२॥
गन्धो की इच्छा धर के नर, बहु त्रस-स्थावर हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥५३॥
गन्धानुराग और सग्रह से, उत्पादन, रक्षण, भोग करे।
व्यय और वियोग से दुःख पावे, ना भोग समय भी तृप्ति धरे ॥५४॥
हो अतृप्त नर गन्ध-ग्रहण मे, रजित मन पाता तोष नही।
यो असन्तोष से दुःखी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥५५॥
तृष्णावश परवस्तु-हरण करे, ना तृप्त गन्ध के पाने मे।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नही दुःख पाने मे ॥५६॥
झूठ बोलते आगे पीछे, अतिदुःखी प्रयोग मे होता है।
यों गन्ध अतृप्त दुःखी, आश्रय--बिन परधन सदा चुराता है ॥५७॥
गन्धानुरक्त नर को जग मे, कैसे कुछ होता सौख्य कहाँ ?
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ ? ॥५८॥
यो द्वेष गन्ध मे जो करता, नानाविध दुःख वह पाता है।
द्वेषी कर्मों का बन्ध करे, फल उसका दुःखमय होता है ॥५९॥
हो शोकरहित जो गन्ध-विरत, विविध दुखो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल सम, अघजल से होता लिप्त नही ॥६०॥

अन्वयार्थ—घाणस्स—घ्राण (नासिका) के, गहण—ग्राह्य विषय को, गध—गन्ध, वयति—कहते हैं। (जो गन्ध) रागहेउ—राग का कारण है, त तु—उसे, मणुन्न—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (तथा) (जो गन्ध) दोसहेउ—द्वेष का कारण है, त—उसे, अमणुन्न—अमनोज्ञ, आहु—कहा है। य—और, जो—जो, तेसु—इन (मनोज्ञ-अमनोज्ञ) दोनो पर, समो—सम (न रागी है, न द्वेषी) है, स—वह, वीयरागो—वीतराग है ॥४८॥

घाण—घ्राण को, गधस्स—गन्ध का, गहण—ग्राहक, वयति—कहते हैं,

(और) गंध—गन्ध को, घाणस्स—घ्राण का, गहणं—ग्राह्य विषय, वयंति—कहते हैं। (जो गन्ध), रागस्स—राग का, हेउं—कारण है, (उसे) समणुन्न—समनोज्ञ, आहु—कहा है, (तथा) (जो गन्ध) दोसस्स—द्वेष का, हेउं—कारण है, (उसे) अमणुन्न—अमनोज्ञ, आहु—कहा है ॥४९॥

जो—जो, गंधेसु—(मनोज्ञ) गन्धो मे, तिव्व—तीव्र, गिद्धिं—आसक्ति, उवेइ—रखता है, से—वह, अकालियं—अकाल मे ही, विणासं—विनाश को, पावइ—प्राप्त होता है। जिव—जैसे, ओसहि-गंध-गिद्धे—औषधि के गन्ध मे आसक्त, रागउरे—रागातुर, सप्पे—सर्प, बिलाओ—बिल से, निक्खमंते—निकल कर, (विनाश को प्राप्त होता है।) ॥५०॥

य—और, जे—जो, (अमनोज्ञ गन्धो के प्रति), तिव्व—तीव्र, दोस-अवि—द्वेष भी, समुवेइ—रखता है, से—वह, जन्तू—जीव, तंसि क्खणे—उसी क्षण, सएण दुद्दंत-दोसेण—अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण, दुक्ख उ—दुःख, उवेइ—पाता है। से—इसमे, गंध—गन्ध का, किंचि—कुछ भी, न अवरज्झई—अपराध नही है ॥५१॥

(जो) रुइरंसि गंधे—रुचिर (प्रिय) गन्ध मे, एगंतरत्ते—एकान्त रक्त (आसक्त) है, (और) अतालिसे—अतादृश (अप्रिय गन्ध) मे, पओसं—प्रद्वेष, कुणई—करता है, से बाले—वह अज्ञानी जीव, दुक्खस्स संपील—दुःख के समूह (पिण्ड) को, उवेइ—प्राप्त होता है, विरागो मुणी—विरक्त मुनि, तेण—उससे (राग द्वेष से), न लिप्पइ—लिप्त नही होता ॥५२॥

गंधाणुगासाणु-गए—सुगन्ध (प्राप्ति) की आशा के पीछे भागता हुआ, (व्यक्ति), अणेगरूवे—अनेक प्रकार के, चराचरे य जीवे—चर (त्रस) और अचर (स्थावर) जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है। अत्तट्ठगुरु—अपने स्वार्थ को ही सर्वोपरि मानने वाला, किलिट्ठे बाले—क्लिष्ट (रागादि-पीड़ित) अज्ञानी, चित्तेहिं—विविध प्रकार से, ते—उन्हे, परितावेइ—परिताप देता है, (और) पीलेइ—पीड़ा पहुँचाता है ॥५३॥

गंधाणुवाएण—गन्ध के प्रति अनुराग (और), परिग्गहेण—ममत्व के कारण, (गन्ध के), उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—सरक्षण (और) सन्नियोग (व्यवस्था करने) मे, (तथा) वए—व्यय, य—और, विओगे—वियोग मे, य—तथा, संभोगकाले—उपभोगकाल मे, अतित्तिलाभे—अतृप्ति मिलने से, से—उसे, सुहं कहिं—सुख कहाँ ? ॥५४॥

गंधे—गन्ध मे, अतित्ते—अतृप्त, य—और, (उसके) परिग्गहे—परिग्रहण

मे, सत्तोवसत्तो—प्रगाढरूपेण आसक्त व्यक्ति, तुट्ठि—सतुष्टि, न उवेइ—नही पाता। अतुट्ठि-दोसेण—असन्तोष के दोष से, दुही—दु खी, लोभाविले—लोभाविष्ट व्यक्ति, परस्स—दूसरे की, अदत्त—बिना दी हुई वस्तु, आययई—चुराने लगता है ॥५५॥

गधे—गन्ध, य—और (उसके), परिग्गहे—परिग्रहण मे, अतित्तस्स—अतृप्त, तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत, (तथा) अदत्तहारिणो—पराई वस्तु चुराने वाले व्यक्ति मे, लोभदोसा—लोभ के दोष से, मायामुस—मायासहित असत्य, वड्ढइ—बढ जाता है। तत्थावि—इतना करने पर भी, से—वह, दुक्खा—दु ख से, न विप्पमुच्चइ—मुक्त नही हो पाता ॥५६॥

मोसस्स—असत्य-प्रयोग से, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा—पश्चात्, य—तथा, पओगकाले—प्रयोग-काल मे (वह), दुही—दु खी होता है, (और) दुरते—उसका अन्त भी बुरा अर्थात् दु खपूर्ण होता है। एव—इस प्रकार, गधे अतित्तो—गन्ध मे अतृप्त (होकर), (सुगन्धित पदार्थों की), अदत्ताणि—चोरियाँ, समाययतो—करने वाला व्यक्ति, दुहिओ—दु खित (और) अणिस्सो—आश्रयहीन हो जाता है ॥५७॥

एव—इस प्रकार, गधाणुरत्तस्स नरस्स—सुगध मे अनुरक्त मनुष्य को, कयाइ—कदापि, किंचि—कुछ भी, सुह—सुख, कत्तो—कैसे (प्राप्त), होज्ज—हो सकता है? (वह), जस्स कएण—जिस (गध को पाने) के लिए, दुक्ख—दु ख, निव्वत्तई—उठाता है, तत्थोवभोगे वि—उसके उपभोग मे भी, (उसे) किलेस-दुक्ख—क्लेश (और) दु ख (ही) होता है ॥५८॥

एमेव—इसी प्रकार, (जो अमनोज्ञ) गधम्मि—गन्ध के प्रति, पओस गओ—प्रद्वेष करता है, (वह उत्तरोत्तर), दुक्खोह-परपराओ—दु ख-समूह की परम्पराए, उवेइ—प्राप्त करता है। से—वह, पदुट्ठचित्तो—द्वेषयुक्त चित्त वाला होकर, ज कम्म—जिस कर्म का, चिणाइ—सचय करता है, (वही कर्म) विवागे—विपाक (फलभोग) के समय, पुणो—पुन (उसके लिए) दुह—दु खरूप, होइ—हो जाता है ॥५९॥

(अत) गधे विरत्तो—गंध से विरक्त, मणुओ—मनुष्य, विसोगो—शोक-रहित (हो जाता है।) (वह) भवमज्झे वि सन्तो—ससार मे रहता हुआ भी, एएण-दुक्खोह परपरेण—इन दुखो की परम्परा से, (उसी प्रकार) न लिप्पइ—लिप्त नही होता, (जिस प्रकार) (जलाशय मे) पोक्खरिणी पलास—कमलिनी का पत्ता, जलेण वा—जल से (लिप्त नही होता) ॥६०॥

विशेषार्थ—गन्ध के प्रति राग-द्वेष-मुक्ति की क्रमोदत सूत्री—गा० ४८ से

६० तक तेरह गाथाओ मे शास्त्रकार ने बताया है कि मनोज्ञगन्ध के प्रति राग और अमनोज्ञगन्ध के प्रति द्वेष से मुक्त होने के लिए किन-किन बाधक कारणो से दूर रहना चाहिए और किन-किन साधक कारणो को अपनाना चाहिए ? ये सब गाथाएँ सर्वदुःखमुक्ति एव परमसुख-प्राप्ति के सन्दर्भ मे कही गई हैं। सभी गाथाएँ प्राय पूर्व गाथाओ के समान है। केवल 'रूप' और 'चक्षु' के स्थान मे 'गन्ध' एव 'घ्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

ओसहि-गध-गिद्धे : उपमा-तात्पर्य—यहाँ उपमा द्वारा बताया है कि सुगन्ध मे आसक्ति पुरुष के लिए वैसी ही विनाशकारिणी है, जैसी कि औषधियो (नागदमनी) की गन्ध मे सर्प की आसक्ति।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस के प्रति समभाव की प्रक्रिया

मूल—जिब्भाए रस गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥६१॥
रसस्स जिब्भ गहण वयति, जिब्भाए रस गहण वयति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥६२॥
रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणास।
रागाउरे बडिश-विभिन्न-काए, मच्छे जहा आमिस-भोग-गिद्धे ॥६३॥
जे यावि दोस समुवेइ तिव्व, तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख।
दुद्दतदोसेण सएण जतू, न किंचि रसे अवरज्झई से ॥६४॥
एगत-रत्ते रुइरे रसम्मि, अतालिसे से कुणइ पओस।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥६५॥
रसाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥६६॥
रसाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कह सुह से, सभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥६७॥
रसे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्त ॥६८॥
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥६९॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥७०॥

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७१॥

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परम्पराओ।
पदुट्ठ-चित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥७२॥

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह परंपरेण।
न लिप्पई भव-मज्झे वि सन्तो, जलेण वा पोक्खरिणी पलासं ॥७३॥

पद्यानु०—जिह्वा का रस विषय, राग का, हेतु मनोज्ञ कहा जाता।
है द्वेष-हेतु अमनोज्ञ, उभय मे, वीतराग सम हो रहता ॥६१॥

रसना रसभाव ग्रहण करती, रस रसना का है ग्राह्य यहाँ।
समनोज्ञ राग का हेतु और, है दोष-हेतु अमनोज्ञ कहा ॥६२॥

शुभ रस मे जो आसक्त मनुज, बिन समय नाश है वह पाता।
रागी लोहांकुश-विद्ध देह, ज्यो मत्स्य मास-रुचि दु ख पाता ॥६३॥

जो नीरस पर अतिरोष धरे, उस क्षण मे वह दु ख पाता है।
दुर्दान्त निजी दूषण से ही, अपराध नही रस करता है ॥६४॥

एकान्त रक्त शुभ स्वादो मे, नीरस मे जो अतिद्वेष धरे।
वह मूढ दु ख-पीडा पाता, ना विरक्त मुनि मन लेप करे ॥६५॥

शुभ रस की इच्छा लेकर जो, चर-अचर जीव-हिंसा करता।
बहु रूपो से सतप्त करे, निज स्वार्थ मुख्य पीडा करता ॥६६॥

रस की सुप्रीति और सग्रह से, उत्पादन, रक्षण भोग करे।
व्यय और वियोग मे दु ख पाता, न भोगकाल भी तृप्ति धरे ॥६७॥

हो अतृप्त रस-भाव-ग्रहण मे, रजित मन पाता तोष नही।
यो असन्तोष से दु खी बना, लोभाकुल हरता द्रव्य वही ॥६८॥

तृष्णावश वह पर-द्रव्य हरे, होकर अतृप्त रस पाने मे।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नही दु ख पाने मे ॥६९॥

झूठ बोलते आगे-पीछे, अति दु खी प्रयोग मे होता है।
असन्तुष्ट रस हरण करे, आश्रय बिन दु ख उठाता है ॥७०॥

कब कैसे किञ्चित् सुख होगा, जो बना स्वाद-आसक्त यहाँ ?
जिस भोग-हेतु दुःख पाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ ? ।।७१।।

रखता है द्वेष रसो मे जो, नाना विध दुःख उठाता है।
द्वेषी कर्मो का बन्ध करे, फल दुःखमय उसका होता है ।।७२।।

गतशोक विरत-रस होता है, दुःखो से होता लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल-सम, अघजल से होता लिप्त नही ।।७३।।

अन्वयार्थ—जिब्भाए—जिह्वा के, गहणं—ग्राह्य विषय को, रसं—रस, वयंति—कहते है, (जो रस), रागहेउं—राग का कारण है, तं तु—उसे, मणुन्नं—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (जो रस), दोसहेउं—द्वेष का कारण है, (उसे), अमणुन्नं—अमनोज्ञ, आहु—कहा है। य—तथा, जो—जो, तेसु—इन दोनो (मनोज्ञ-अमनोज्ञ) रसो मे, समो—सम (राग-द्वेष-रहित) (रहता है), स वीयरागो—वह वीतराग है ।।६१।।

जिब्भं—जीभ को, रसस्स—रस की, गहणं—ग्राहक, वयंति—कहते है, (और) रसं—रस को, जिब्भाए—जीभ का, गहणं—ग्राह्य (विषय) वयंति—कहते है। (जो) रागस्स हेउं—राग का हेतु है, उसे, समणुन्नं—समनोज्ञ, आहु—कहा है, (और जो) दोसस्स हेउं—द्वेष का हेतु है, उसे, अमणुन्नं—अमनोज्ञ, आहु—कहा है ।।६२।।

जो—जो (व्यक्ति), रसेसु—(मनोज्ञ) रसो मे, तिव्वं गिद्धिं—तीव्र आसक्ति (गृद्धि), उवेइ—रखता है, से—वह, अकालियं विणासं—अकाल मे ही विनाश को, पावइ—पाता है, जहा—जिस प्रकार, आमिस-भोगगिद्धे—मांस भोजन मे आसक्त, रागाउरे—रागातुर, मच्छे—मत्स्य का, बडिस-विभिन्नकाए—लोह के कांटे (वडिश) से शरीर विध जाता है ।।६३।।

य—और, जे—जो, (अमनोज्ञ रस के प्रति), अवि—भी, तिव्वं दोसं—तीव्र द्वेष को, समुवेइ—प्राप्त होता है, से जतू—वह प्राणी, तंसि क्खणे—उसी क्षण, सएण दुद्दंत-दोसेण—अपने दुर्दमनीय दोष के कारण, दुक्खं—दुःख, उवेइ—पाता है। (इसमे), रसं—रस का, किंचि—कुछ भी, न अवरज्झइ—अपराध नही है ।।६४।।

(जो व्यक्ति) रुइरे रसम्मि—रुचिकर रस (स्वाद) मे, एगंतरत्ते—एकान्त रक्त (आसक्त), (हो जाता है, तथा), अतालिसे—उसके प्रतिकूल (अरुचिकर) रस मे, पओस कुणइ—प्रद्वेष करता है, से बाले—वह अज्ञानी, दुक्खस्स संपीलं—दुःख-संघात को, (अथवा दुःखजन्य पीडा को), उवेइ—प्राप्त करता है। (इसी]

कारण), विरागो मुणी—विरक्त एव वीतद्वेष मुनि, तेण—उससे (रस सम्बन्धी राग-द्वेष से), न लिप्पई—लिप्त नही होता ॥६५॥

रसाणुगासाणुगए—(मनोज्ञ) रसो (की प्राप्ति) की आशा के पीछे चक्कर लगाने वाला व्यक्ति, अणेगरूवे—नाना प्रकार के, चराचरे जीवे—चराचर जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है, अत्तट्ठगुरु—अपने स्वार्थ को ही गुरुतर मानने वाला (वह), किलिट्ठे—(राग-द्वेषादि-पीडित), बाले—अज्ञानी, ते—उन प्राणियो को, चित्तेहि—विभिन्न प्रकार से, परितावेइ—सताप देता है, (और), पीलेइ—पीडा पहुंचाता है ॥६६॥

रसाणुवाएण—(मनोज्ञ) रस मे अनुराग (और), परिग्गहेण—ममत्व के कारण (उसके), उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—सुरक्षा और व्यवस्था मे, वए—व्यय मे, य—और, विओगे—वियोग, मे, से—उसे, सुह कहिं—सुख कहाँ से हो सकता है? सभोगकाले—उसके उपभोग के समय भी (उसे) अतित्तिलाभे—तृप्ति नही मिलती ॥६७॥

रसे अतित्ते—रस मे अतृप्त, य—और (उसके), परिग्गहे—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो य—आसक्त और उपसक्त (रचापचा रहने वाला व्यक्ति) तुट्ठि न उवेइ—सतोष नही पाता (वह), अतुट्ठिदोसेण—असन्तोष के दोष से, दुही—दु खी, (तथा) लोभाविले—लोभग्रस्त होकर, परस्स—दूसरे के (रसवान् पदार्थों को), अदत्त आययई—चुराता है ॥६८॥

रसे—रस मे, य—और (उसके) परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्तस्स—अतृप्त (तथा रसवान् पदार्थो की), तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति, अदत्तहारिणो—दूसरे के पदार्थो का अपहरण करता है, लोभ-दोसा—लोभ के दोष से, (उसमे) मायामुस—कपटयुक्त असत्य (दम्भ), वड्ढई—बढ जाता है, तत्थावि—इतने (कूट-कपट करने) पर भी, से—वह, दुक्खा—दु ख से, न विमुच्चई—मुक्त नही होता ॥६९॥

मोसस्स—असत्य के प्रयोग से, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा—पश्चात्, य—तथा, (उसके), पओगकाले—प्रयोगकाल मे भी, (वह) दुही—दु खी होता है, दुरते—उसका अन्त भी बुरा होता है। एव—इस प्रकार, रसे अतित्तो—रस मे अतृप्त होकर, अदत्ताणि समाययन्तो—चोरी करता हुआ, (वह) दुहिओ—दु खित (और) अणिस्सो—अनाश्रित हो जाता है ॥७०॥

एव—इस प्रकार, रसाणुरत्तस्स नरस्स—रस मे अनुरक्त मनुष्य को, कयाइ—कदाचित् भी, किंचि—कुछ भी, सुह—सुख, कत्तो—कहाँ से, होज्ज—हो

कारण), विरागो मुणी—विरक्त एव वीतद्वेष मुनि, तेण—उससे (रस सम्बन्धी राग-द्वेष से), न लिप्पई—लिप्त नही होता ॥६५॥

रसाणुगासाणुगए—(मनोज्ञ) रसो (की प्राप्ति) की आशा के पीछे चक्कर लगाने वाला व्यक्ति, अणेगरूवे—नाना प्रकार के, चराचरे जीवे—चराचर जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है, अत्तट्ठगुरु—अपने स्वार्थ को ही गुरुतर मानने वाला (वह), किलिट्ठे—(राग-द्वेषादि-पीडित), बाले—अज्ञानी, ते—उन प्राणियो को, चित्तेहि—विभिन्न प्रकार से, परितावेइ—सताप देता है, (और), पीलेइ—पीडा पहुँचाता है ॥६६॥

रसाणुवाएण—(मनोज्ञ) रस मे अनुराग (और), परिग्गहेण—ममत्व के कारण (उसके), उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—सुरक्षा और व्यवस्था मे, वए—व्यय मे, य—और, विओगे—वियोग, मे, ते—उसे, सुह कहिं—सुख कहाँ से हो सकता है ? समोगकाले—उसके उपभोग के समय भी (उसे) अतित्तिलाभे—तृप्ति नही मिलती ॥६७॥

रसे अतित्ते—रस मे अतृप्त, य—और (उसके), परिग्गहे—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो य—आसक्त और उपसक्त (रचापचा रहने वाला व्यक्ति) तुट्ठि न उवेइ—सतोष नही पाता (वह), अतुट्ठिदोसेण—असन्तोष के दोष से, दुही—दु खी, (तथा) लोभाविले—लोभग्रस्त होकर, परस्स—दूसरे के (रसवान् पदार्थों को), अदत्त आययई—चुराता है ॥६८॥

रसे—रस मे, य—और (उसके) परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्तस्स—अतृप्त (तथा रसवान् पदार्थों की), तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति, अदत्तहारिणो—दूसरे के पदार्थों का अपहरण करता है, लोभ-दोसा—लोभ के दोष से, (उसमे) मायामुस—कपटयुक्त असत्य (दम्भ), वड्ढई—बढ जाता है, तत्थावि—इतने (कूट-कपट करने) पर भी, से—वह, दुक्खा—दु ख से, न विमुच्चई—मुक्त नही होता ॥६९॥

मोसस्स—असत्य के प्रयोग से, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा—पश्चात्, य—तथा, (उसके), पओगकाले—प्रयोगकाल मे भी, (वह) दुही—दु खी होता है, दुरते—उसका अन्त भी बुरा होता है। एव—इस प्रकार, रसे अतित्तो—रस मे अतृप्त होकर, अदत्ताणि समाययन्तो—चोरी करता हुआ, (वह) दुहिओ—दु खित (और) अणिस्सो—अनाश्रित हो जाता है ॥७०॥

एव—इस प्रकार, रसाणुरत्तस्स नरस्स—रस मे अनुरक्त मनुष्य को, कयाइ—कदाचित् भी, किंचि—कुछ भी, सुह—सुख, कत्तो—कहाँ से, होज्ज—हो

सकता है ? जस्स कएण—जिसको पाने के लिए, (व्यक्ति) दुक्ख निव्वत्तइ—दु ख उठाता है, तस्सोवभोगे वि—उसके उपभोग मे भी, (उसे) किलेस-दुक्ख—क्लेशजन्य दु ख ही होता है ॥७१॥

एमेव—इसी प्रकार, (अमनोज्ञ) रसम्मि—रस के प्रति, पओस गतो—प्रद्वेष को प्राप्त (व्यक्ति उत्तरोत्तर), दुक्खोहपरपराओ—दु खो की परम्पराएँ, उवेइ—प्राप्त करता है, (वह) पदुट्ठचित्तो—द्वेषग्रस्त चित्त से, ज—जिस, कम्म य—(पाप) कर्मदल का, चिणाइ—सचय करता है, से—वही, पुणो—पुन, विवागे—विपाक के समय, (उसके लिए) दुह होइ—दु खरूप हो जाता है ॥७२॥

(अतएव) रसे विरत्तो—रस से विरक्त, मणुओ—मनुष्य, (ही), विसोगो—शोकरहित होता है। जलेण वा—जिस प्रकार जल मे (रहता हुआ भी) पोक्खरिणीपलास—कमलिनी का पत्ता, (जल से) न लिप्पइ—लिप्त नही होता, (उसी प्रकार) भवमज्झे वि सन्तो—ससार मे रहता हुआ भी, एएण दुक्खोहपरपरेण—(राग-द्वेष के कारण) इस दुक्ख-सघात की परम्परा से (लिप्त नही होता) ॥७३॥

विशेषार्थ—रसो के प्रति रागद्वेषमुक्ति की उपदेश त्रयोदशी—गा० ६१ से ७३ तक तेरह गाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने सर्वसुखप्राप्ति और सर्वथा दु खमुक्ति के सन्दर्भ मे विविध पहलुओ से रसो के प्रति रागद्वेष से मुक्त रहने तथा समभावी रहकर वीतराग बनने की प्रेरणा दी है। भाव एव शब्दावली प्राय पूर्ववत् ही है, केवल शब्द रूपादि के स्थान मे रस और जिह्वा का प्रयोग किया गया है।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शो के प्रति समभाव की प्रक्रिया—

मूल—कायस्स फास गहण वयति, त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥७४॥
फासस्स कायं गहण वयति, कायस्स फास गहण वयति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥७५॥
फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने, गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥७६॥
जे यावि दोस समुवेइ तिव्व, तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख।
दुद्दन्तदोसेण सएण जतू, न किंचि फास अवरज्झई से ॥७७॥
एगतरत्ते रुइरसि फासे, अतालिसे से कुणइ पओस।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥७८॥

फासाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥७९॥

फासाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्त-लाभे ॥८०॥

फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥८१॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चइ से ॥८२॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ, य पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥८३॥

फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥८४॥

एमेव फासम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८५॥

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥८६॥

पद्यानु०—है स्पर्श काय का विषय कहा, समनोज्ञ राग के हेतु कहे।
है द्वेष-हेतु अमनोज्ञ उभय, मे वीतराग समभाव रहे ॥७४॥

स्पर्शों को काय ग्रहण करता, है स्पर्श विषय तन का भारी।
है रुचिर राग का हेतु कहा, अरुचिर हृदय को भयकारी ॥७५॥

जो स्पर्शों मे तीव्र चाह करता, बिन समय नाश को पाता है।
रागी शीतल जलमग्न महिष-सम, नक्रग्राह ग्रसित हो मरता है ॥७६॥

जो अशुभ स्पर्श मे तीव्र द्वेष करता, तत्क्षण वह दुःख पाता।
है अपना दुर्दम-दोष हेतु, अपराध न स्पर्श वहाँ करता ॥७७॥

अनुरक्त रुचिर स्पर्शों मे, प्रतिरूप स्पर्श मे द्वेष धरे।
वह बाल दुःख पीड़ा पाता, मुनि हो विरक्त ना राग करे ॥७८॥

स्पर्शाभिलाष-अनुगामी नर, चर-अचर जीव-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को मूढ़ उन्हे, अनुतप्त और पीड़ित करता ॥७९॥

स्पर्शानुराग और ममता से, उत्पादन, भोग तथा रक्षण।
व्यय और वियोग मे सौख्य कहाँ ? उपभोगकाल मे न मन-तर्पण ॥८०॥

स्पर्शार्थी हो संग्रह करता, आसक्त तोष पाता न कहीं ।
बिन तृप्ति दु खी परधनहारी, लोभी मन मे सकोच नहीं ॥८१॥

वह तृष्णावश पर द्रव्य हरे, ना तृप्त स्पर्श को पाने मे ।
पा क्षोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नहीं दु ख पाने मे ॥८२॥

झूठ बोलते आगे पीछे, अतिदु खी प्रयोग मे होता है ।
यों स्पर्श-अतृप्त दु खी आश्रय-बिन, परधन सदा चुराता है ॥८३॥

कब कैसे सुख होगा, जो नर है स्पर्शासक्त यहां ?
जिसके हित दु ख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहां ?॥८४॥

यों द्वेष स्पर्श मे जो करता, नाना-विध दु ख उठाता है ।
प्रद्वेषी कर्मबन्ध करता, फल उसका दु खमय पाता है ॥८५॥

है स्पर्श-विरत गत-शोक हुआ, वह विविध दु खो से लिप्त नहीं ।
भव-पुष्करिणी मे शतदल-सम, अघजल से होता लिप्त नहीं ॥८६॥

अन्वयार्थ—फास—स्पर्श को, कायस्स—काय का, गहणं—ग्राह्य (विषय) वयंति—कहते है । (जो स्पर्श), रागहेउं—राग का कारण है, त तु—उसे, मणुन्नं—मनोज्ञ, आहु—कहा है । (जो स्पर्श), दोसहेउं—द्वेष का कारण है, त—उसे, अमणुन्नं—अमनोज्ञ, आहु—कहा है । य—और, जो—जो, तेसु—उन दोनों (मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श) मे, समो—सम (राग-द्वेषरहित) रहता है, स—वह वीयरागो—वीतराग है ॥७४॥

कायं—काय को, फासस्स—स्पर्श का, गहणं—ग्राहक, वयंति—कहते हैं । फास—स्पर्श को, कायस्स—काय का, गहणं—ग्राह्य, वयंति—कहते हैं । (जो स्पर्श), रागस्स—राग का, हेउं—कारण है, (उसे), समणुन्नं—समनोज्ञ, आहु—कहा है, (और जो) दोसस्स हेउं—द्वेष का कारण है, (उसे) अमणुन्नं—अमनोज्ञ, आहु—कहा है ॥७५॥

जो—जो, फासेसु—(मनोज्ञ) स्पर्श मे, तिव्वं—तीव्र रूप से, गिद्धिं उवेइ—आसक्ति को प्राप्त है, से—वह, अकालियं—अकाल मे ही, विणासं—विनाश को पावइ—प्राप्त होता है । व—जैसे, अरन्ने—जगल मे, (जलाशय के), सीय-जलावसन्ने—शीतल जल के स्पर्श मे आसक्त, रागाउरे—रागातुर, महिसे—भैंसा, गाहग्गहीए—मगरमच्छ के द्वारा पकडा जाता है ॥७६॥

य—और, जे—जो (अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति), अवि—भी, तिव्वं दोसं—तीव्र द्वेष, समुवेइ—रखता है, से जतू—वह प्राणी, तसि क्खणे उ—उसी क्षण, सएण

दुद्दन्तदोसेण—अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण, दुक्ख उवेइ—दुःख पाता है। से—इसमे, फास—स्पर्श का, न किंचि अवरज्झइ—कुछ भी अपराध नही है ॥७७॥

(जो) रुइरंसि फासे—रुचिकर स्पर्श मे, एगंतरत्ते—एकान्त रूप से आसक्त होता है, (और) अतालिसे—(इसके विपरीत) अरुचिकर स्पर्श मे, पओस—प्रद्वेष, कुणइ—करता है, से बाले—वह अज्ञानी, दुक्खस्स—दुःखजनित, संपीलमुवेइ—पीडा को प्राप्त होता है, (किन्तु) विरागो मुणी—विरक्त मुनि, तेण—उसमे, न लिप्पइ—लिप्त नही होता ॥७८॥

फासाणुगासाणुगए—(मनोज्ञ) स्पर्श (को पाने) की आशा का अनुगामी, (व्यक्ति) अणेगरूवे चराचरे य जीवे—अनेक प्रकार के चर और अचर जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है। अत्तट्ठगुरु—अपने ही स्वार्थ को सर्वोपरि (गुरुतर) मानने वाला, (वह), किलिट्ठे—क्लिष्ट (रागादि पीडित) अज्ञानी, चित्तेहिं—विविध प्रकार से, ते—उन (जीवो) को, परितावेइ—परिताप देता है, (और), पीलेइ—पीडा पहुँचाता है ॥७९॥

फासाणुवाएण—(मनोज्ञ) स्पर्श के अनुराग, (और) परिग्गहेण—ममत्व के कारण, (उसके) उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—सुरक्षा और व्यवस्था मे, वए—व्यय मे, य—और, वियोगे—वियोग मे, से—उसे, सुहं—सुख, कहिं—कहाँ ? य—और, संभोगकाले—उपभोगकाल मे, (भी) अतित्ति लाभे—तृप्ति नही मिलती है ॥८०॥

फासे—स्पर्श मे, अतित्ते—अतृप्त, य—तथा, परिग्गहे य—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो—प्रगाढासक्त, (व्यक्ति), तुट्ठिं न उवेइ—सन्तुष्टि नही पाता। (वह) अतुट्ठिदोसेण—असन्तोष के दोष के कारण, दुही—दुःखित (और) लोभाविले—लोभाविष्ट होकर, परस्स अदत्तं आययइ—दूसरे की बिना दी हुई वस्तु को चुराता है ॥८१॥

फासे—स्पर्श मे, य—और, परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्तस्स—अतृप्त, तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत (और), अदत्तहारिणो—दूसरो की वस्तुओं का अपहरण करने वाले (व्यक्ति के) लोभदोसा—लोभ के दोष से, मायामुसं—कपट सहित झूठ, वड्ढई—बढ जाता है। तत्थावि—इतना करने पर भी, से—वह, दुक्खा—दुःख से, न विमुच्चइ—विमुक्त नही होता ॥८२॥

मोसस्स—झूठ बोलने से, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा य—पश्चात्, य—तथा, पयोगकाले—असत्य के प्रयोग के समय मे भी, (वह) दुही—दुःखी होता है, दुरंते—उसका अन्त भी बुरा होता है। एवं—इस प्रकार, फासे अतित्तो—स्पर्श

दुद्दन्तदोसेण—अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण, दुक्खं उवेइ—दुःख पाता है। से—इसमे, फास—स्पर्श का, न किंचि अवरज्झइ—कुछ भी अपराध नही है ।।७७।।

(जो) रुइरसि फासे—रुचिकर स्पर्श मे, एगंतरत्ते—एकान्त रूप से आसक्त होता है, (और) अतालिसे—(इसके विपरीत) अरुचिकर स्पर्श मे, पओस—प्रद्वेष, कुणइ—करता है, से बाले—वह अज्ञानी, दुक्खस्स—दुःखजनित, संपीलमुवेइ—पीडा को प्राप्त होता है, (किन्तु) विरागो मुणी—विरक्त मुनि, तेण—उसमे, न लिप्पइ—लिप्त नही होता ।।७८।।

फासाणुगासाणुगए—(मनोज्ञ) स्पर्श (को पाने) की आशा का अनुगामी, (व्यक्ति) अणेगरूवे चराचरे य जीवे—अनेक प्रकार के चर और अचर जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है। अत्तट्ठगुरु—अपने ही स्वार्थ को सर्वोपरि (गुरुतर) मानने वाला, (वह), किलिट्ठे—क्लिष्ट (रागादि पीडित) अज्ञानी, चित्तेहिं—विविध प्रकार से, ते—उन (जीवो) को, परितावेइ—परिताप देता है, (और), पीलेइ—पीडा पहुँचाता है ।।७९।।

फासाणुवाएण—(मनोज्ञ) स्पर्श के अनुराग, (और) परिग्गहेण—ममत्व के कारण, (उसके) उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—सुरक्षा और व्यवस्था मे, वए—व्यय मे, य—और, वियोगे—वियोग मे, से—उसे, सुहं—सुख, कहिं—कहाँ? य—और, संभोगकाले—उपभोगकाल मे, (भी) अतित्ति लाभे—तृप्ति नही मिलती है ।।८०।।

फासे—स्पर्श मे, अतित्ते—अतृप्त, य—तथा, परिग्गहे य—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो—प्रगाढासक्त, (व्यक्ति), तुट्ठिं न उवेइ—सन्तुष्टि नही पाता। (वह) अतुट्ठिदोसेण—असन्तोष के दोष के कारण, दुही—दुःखित (और) लोभाविले—लोभाविष्ट होकर, परस्स अदत्त आययइ—दूसरे की बिना दी हुई वस्तु को चुराता है ।।८१।।

फासे—स्पर्श मे, य—और, परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्तस्स—अतृप्त, तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत (और), अदत्तहारिणो—दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करने वाले (व्यक्ति के) लोभदोसा—लोभ के दोष से, मायामुसं—कपट सहित झूठ, वड्ढई—बढ जाता है। तत्थावि—इतना करने पर भी, से—वह, दुक्खा—दुःख से, न विमुच्चइ—विमुक्त नही होता ।।८२।।

मोसस्स—झूठ बोलने से, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा य—पश्चात्, य—तथा, पओगकाले—असत्य के प्रयोग के समय मे भी, (वह) दुही—दुःखी होता है, दुरंते—उसका अन्त भी बुरा होता है। एवं—इस प्रकार, फासे अतित्तो—स्पर्श

मे अतृप्त होकर, अदत्ताणि समाययतो—चोरी, लूट-खसोट करने वाला (वह) दुहिओ—दु खित (और), अणिस्सो—आश्रयहीन (हो जाता है ।) ॥८३॥

एव—इस प्रकार, फासाणुरत्तस्स नरस्स—स्पर्श मे अनुरक्त मनुष्य को, कयाइ—कभी, किंचि—किंचित् मात्र भी (क्या), कत्तो—कैसे (या कहाँ से), सुह होज्जा—सुख होगा ? जस्स कएण—जिसके (पाने के) लिए, दुक्ख निव्वत्तइ—(इतना सब) दु ख उठाया जाता है, तत्थोवभोगे वि—उसके उपभोगकाल मे भी, किलेस दुक्ख—क्लेशजन्य दु ख ही है ॥८४॥

एमेव—इसी प्रकार, फासम्मि—स्पर्श के प्रति, (जो), पओस गतो—प्रद्वेष को प्राप्त होता है, (वह भी उत्तरोत्तर) दुक्खोह परपराओ—अनेक दु खो की परम्परा को, उवेइ—प्राप्त होता है । य—और, पदुट्ठचित्तो—द्वेषयुक्त चित्त वाला होकर, से—वह, ज कम्म—जिस कर्म (दल) का, चिणाइ—सचय करता है, (वही कर्मदल) विवागे—विपाक के समय मे, पुणो—पुन , दुह—दु खरूप,होइ—हो जाता है ॥८५॥

(अतएव)—फासे विरत्तो—स्पर्श से विरक्त, मणुओ—मनुष्य (ही), विसोगो—शोक (सन्ताप) रहित (होता है ।) जलेण वा—जैसे जल से, पोक्खरिणी-पलास—कमलिनी का पत्ता, न लिप्पइ—लिप्त नही होता, (वैसे ही वह वीतराग पुरुष), भवमज्झे वि सतो—ससार मे रहता हुआ भी, एएण दुक्खोह-परपरेण—इन (पूर्वोक्त) दु खो की परम्परा से (लिप्त नही होता ।) ॥८६॥

विशेषार्थ—स्पर्शों के प्रति राग-द्वेष-मुक्ति की प्रेरणा—गा ७४ से ८६ तक तेरह गाथाओ द्वारा शास्त्रकार ने सर्वसुखप्राप्ति और सर्वथा दु खमुक्ति के सन्दर्भ मे यह स्पष्ट बता दिया है कि मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति राग और द्वेष से लिप्त होने पर स्वय को इहलोक-परलोक मे कितना दु ख उठाना पडता है ? हिंसादि पापो मे इनके कारण मनुष्य कैसे प्रवृत्त हो जाता है, और उसे परम्परा से नरकादि मे कितनी यातनाएँ भोगनी पडती हैं ? अत साधक को राग-द्वेष से मुक्त, निर्लिप्त, अनासक्त एव समभावयुक्त होने का अभ्यास क्यो और कैसे करना चाहिए ? इस तथ्य को अनावृत किया गया है ।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावो के प्रति समभाव की प्रक्रिया—

मूल—मणस्स भाव गहण वयति, त रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥८७॥

दुद्दन्तदोसेण—अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण, दुक्ख उवेइ—दु:ख पाता है। से—इसमे, फास—स्पर्श का, न किंचि अवरज्झइ—कुछ भी अपराध नही है ॥७७॥

(जो) रुइरंसि फासे—रुचिकर स्पर्श मे, एगंतरत्ते—एकान्त रूप से आसक्त होता है, (और) अतालिसे—(इसके विपरीत) अरुचिकर स्पर्श मे, पओस—प्रद्वेष, कुणइ—करता है, से बाले—वह अज्ञानी, दुक्खस्स—दु:खजनित, संपीलमुवेइ—पीडा को प्राप्त होता है, (किन्तु) विरागो मुणी—विरक्त मुनि, तेण—उसमे, न लिप्पइ—लिप्त नही होता ॥७८॥

फासाणुगासाणुगए—(मनोज्ञ) स्पर्श (को पाने) की आशा का अनुगामी, (व्यक्ति) अणेगरूवे चराचरे य जीवे—अनेक प्रकार के चर और अचर जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है। अत्तट्ठगुरु—अपने ही स्वार्थ को सर्वोपरि (गुरुतर) मानने वाला, (वह), किलिट्ठे—क्लिष्ट (रागादि पीडित) अज्ञानी, चित्तेहिं—विविध प्रकार से, ते—उन (जीवो) को, परितावेइ—परिताप देता है, (और), पीलेइ—पीडा पहुँचाता है ॥७९॥

फासाणुवाएण—(मनोज्ञ) स्पर्श के अनुराग, (और) परिग्गहेण—ममत्व के कारण, (उसके) उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण-सन्निओगे—सुरक्षा और व्यवस्था मे, वए—व्यय मे, य—और, वियोगे—वियोग मे, से—उसे, सुहं—सुख, कहिं—कहाँ ? य—और, संभोगकाले—उपभोगकाल मे, (भी) अतित्ति लाभे—तृप्ति नही मिलती है ॥८०॥

फासे—स्पर्श मे, अतित्ते—अतृप्त, य—तथा, परिग्गहे य—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो—प्रगाढासक्त, (व्यक्ति), तुट्ठि न उवेइ—सन्तुष्टि नही पाता। (वह) अतुट्ठिदोसेण—असन्तोष के दोष के कारण, दुही—दु:खित (और) लोभाविले—लोभाविष्ट होकर, परस्स अदत्त आययइ—दूसरे की बिना दी हुई वस्तु को चुराता है ॥८१॥

फासे—स्पर्श मे, य—और, परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्तस्स—अतृप्त, तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत (और), अदत्तहारिणो—दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करने वाले (व्यक्ति के) लोभदोसा—लोभ के दोष से, मायामुसं—कपट सहित झूठ, वड्ढई—बढ जाता है। तत्थावि—इतना करने पर भी, से—वह, दुक्खा—दु:ख से, न विमुच्चइ—विमुक्त नही होता ॥८२॥

मोसस्स—झूठ बोलने से, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा य—पश्चात्, य—तथा, पओगकाले—असत्य के प्रयोग के समय मे भी, (वह) दुही—दु:खी होता है, दुरंते—उसका अन्त भी बुरा होता है। एवं—इस प्रकार, फासे अतित्तो—स्पर्श

भावो मे अति आसक्त मनुज, नाश अकाल मे पाता है।
रागातुर करिणी-काम-गृद्ध, दंती जैसे तन खोता है ॥८९॥

जो अशुभ भावो मे तीव्र द्वेष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
उसका ही दुर्दम द्वेष हेतु, अपराध न भाव वहाँ करता ॥९०॥

आसक्त रुचिर भावो मे जो, और द्वेष अशोभन मे करता।
वह मूढ दुःख पीडा पाता, ना लिप्त विरक्त श्रमण होता ॥९१॥

भावाभिलाष-अनुरागी नर, चर-अचर जीव-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को, मूढ उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥९२॥

भावानुरागवश और ममत्व से, उत्पादन तथा भोग-रक्षण।
व्यय और वियोग मे सौख्य कहाँ ? उपभोग-काल ना मन-तर्पण ॥९३॥

हो अतृप्त नर भाव-ग्रहण मे, पाता आरक्त मन तोष नही।
बिन तृप्ति दुःखी परधन-हारी, लोभी मन मे सन्तोष नही ॥९४॥

तृष्णावश परवस्तु हरता, ना तृप्त भाव के पाने से।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नही दुःख पाने से ॥९५॥

झूठ बोलते आगे-पीछे, वह दुःखी प्रयोग-पल मे होता है।
यो भाव-अतृप्त परधनहारी, आश्रय-बिन दुःख ही पाता है ॥९६॥

कब कैसे किंचित् सुख होता, जो नर है भावासक्त यहाँ ?
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ ? ॥९७॥

यो द्वेषभाव को जो धरता, वह दुःख परम्परा पाता है।
यो द्वेषी करता कर्मबन्ध, फल उसका दुःखनय न सुहाता है ॥९८॥

है भावविरत नर शोक-मुक्त, वह विविध दुःखो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल-सम, अरजन से होता लिप्त नही ॥९९॥

अन्वयार्थ—भाव—भाव को, मणस्स—मन का, गहण—ग्राह्य (विषय), वयंति—कहते हैं। (जो भाव), रागहेउ—राग का कारण है, त—उसे, मणुन्न—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (जो भाव), दोसहेउ—द्वेष का कारण है, त—उसे, अमणुन्न आहु—अमनोज्ञ कहा है। जो—जो, तेसु—उन (मनोज्ञ-अमनोज्ञ, दोनो) भावो मे, समो—सम (राग-द्वेषरहित) भाव रखता है, स वीयरागो—वह वीतराग है ॥८७॥

भावस्स मण गहणं वयंति, मणस्स भाव गहण वयंति ।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥८८॥

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणास ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ॥८९॥

जे यावि दोस समुवेइ तिव्व, तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख ।
दुद्दत-दोसेण सएण जतू, न किंचि भाव अवरज्झइ से ॥९०॥

एगत-रत्ते रुइरसि भावे, अतालिसे से कुणइ पओस ।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥९१॥

भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥९२॥

भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुह से ?, सभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥९३॥

भावे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्त ॥९४॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥९५॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते ।
एव अदत्ताणि समाययतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥९६॥

भावाणुरत्तस्स नरस्स एव, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्ख, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख ॥९७॥

एमेव भावम्मि गओ पओस, उवेइ दुक्खोह-परंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म, ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥९८॥

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परपरेण ।
न लिप्पइ भवमज्झे वि सतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलास ॥९९॥

पद्यानु०—है भाव चित्त का विषय, राग, का; हेतु मनोज्ञ कहा जाता ।
है द्वेष-हेतु अमनोज्ञ, उभय मे, वीतराग सम हो रहता ॥८७॥

भावो को चित्त ग्रहण करता, है मन का भाव विषय भारी ।
है रुचिर राग का हेतु तथा, यो अशुभ हेतु द्वेषण-कारी ॥८८॥

भावो मे अति आसक्त मनुज, नाश अकाल मे पाता है।
रागातुर करिणी-काम-गृद्ध, दंती जैसे तन खोता है ॥८९॥

जो अशुभ भावो मे तीव्र द्वेष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
उसका ही दुर्दम द्वेष हेतु, अपराध न भाव वहाँ करता ॥९०॥

आसक्त रुचिर भावो मे जो, और द्वेष अशोभन मे करता।
वह मूढ दुःख पीडा पाता, ना लिप्त विरक्त श्रमण होता ॥९१॥

भावाभिलाष-अनुरागी नर, चर-अचर जीव-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को, मूढ उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥९२॥

भावानुरागवश और ममत्व से, उत्पादन तथा भोग-रक्षण।
व्यय और वियोग मे सौख्य कहाँ? उपभोग-काल ना मन-तर्पण ॥९३॥

हो अतृप्त नर भाव-ग्रहण मे, पाता आरक्त मन तोष नही।
बिन तृप्ति दुःखी परधन-हारी, लोभी मन मे सन्तोष नही ॥९४॥

तृष्णावश परवस्तु हरता, ना तृप्त भाव के पाने से।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नही दुःख पाने से ॥९५॥

झूठ बोलते आगे-पीछे, वह दुःखी प्रयोग-पल मे होता है।
यो भाव-अतृप्त परधनहारी, आश्रय-बिन दुःख ही पाता है ॥९६॥

कब कैसे किंचित् सुख होता, जो नर है भावासक्त यहाँ?
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ? ॥९७॥

यो द्वेषभाव को जो धरता, वह दुःख परम्परा पाता है।
यो द्वेषी करता कर्मबन्ध, फल उसका दुःखमय न सुहाता है ॥९८॥

है भावविरत नर शोक-मुक्त, वह विविध दुःखो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल-सम, अरजन से होता लिप्त नही ॥९९॥

अन्वयार्थ—भाव—भाव को, मणस्स—मन का, गहण—ग्राह्य (विषय), वयंति—कहते हैं। (जो भाव), रागहेउं—राग का कारण है, तं—उसे, मणुन्न—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (जो भाव), दोसहेउं—द्वेष का कारण है, तं—उसे, अमणुन्न आहु—अमनोज्ञ कहा है। जो—जो, तेसु—उन (मनोज्ञ-अमनोज्ञ, दोनो) भावो मे, समो—सम (राग-द्वेषरहित) भाव रखता है, स वीयरागो—वह वीतराग है ॥८७॥

भावस्स मण गहण वयंति, मणस्स भाव गहण वयंति ।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥८८॥

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ॥८९॥

जे यावि दोस समुवेइ तिव्व, तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख ।
दुद्दन्त-दोसेण सएण जतू, न किंचि भाव अवरज्झइ से ॥९०॥

एगत-रत्ते रुइरसि भावे, अतालिसे से कुणइ पओसं ।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥९१॥

भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइऽणेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥९२॥

भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खण-सनिओगे ।
वए विओगे य कहिं सुह से ?, सभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥९३॥

भावे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्त ॥९४॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥९५॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते ।
एवं अदत्ताणि समाययतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥९६॥

भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुह होज्ज कयाई किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्ख, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख ॥९७॥

एमेव भावम्मि गओ पओस, उवेइ दुक्खोह-परपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म, ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥९८॥

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोह-परपरेण ।
न लिप्पइ भवमज्झे वि सतो, जलेण वा पोक्खरिणी-पलास ॥९९॥

पद्यानु०—है भाव चित्त का विषय, राग, का, हेतु मनोज्ञ कहा जाता ।
है द्वेष-हेतु अमनोज्ञ, उभय मे, वीतराग सम हो रहता ॥८७॥

भावो को चित्त ग्रहण करता, है मन का भाव विषय भारी ।
है रुचिर राग का हेतु तथा, यो अशुभ हेतु द्वेषण-कारी ॥८८॥

भावो मे अति आसक्त मनुज, नाश अकाल मे पाता है।
रागातुर करिणी-काम-गृद्ध, दंती जैसे तन खोता है ॥८९॥

जो अशुभ भावो मे तीव्र द्वेष, करता तत्क्षण वह दुःख पाता।
उसका ही दुर्दम द्वेष हेतु, अपराध न भाव वहाँ करता ॥९०॥

आसक्त रुचिर भावो मे जो, और द्वेष अशोभन मे करता।
वह मूढ दुःख पीडा पाता, ना लिप्त विरक्त श्रमण होता ॥९१॥

भावाभिलाष-अनुरागी नर, चर-अचर जीव-हिंसा करता।
गुरु मान स्वार्थ को, मूढ उन्हे, अनुतप्त और पीडित करता ॥९२॥

भावानुरागवश और ममत्व से, उत्पादन तथा भोग-रक्षण।
व्यय और वियोग मे सौख्य कहाँ ? उपभोग-काल ना मन-तर्पण ॥९३॥

हो अतृप्त नर भाव-ग्रहण मे, पाता आरक्त मन तोष नही।
बिन तृप्ति दुःखी परधन-हारी, लोभी मन मे सन्तोष नही ॥९४॥

तृष्णावश परवस्तु हरता, ना तृप्त भाव के पाने से।
पा लोभ बढे माया मिथ्या, हो मुक्त नही दुःख पाने से ॥९५॥

झूठ बोलते आगे-पीछे, वह दुःखी प्रयोग-पल मे होता है।
यो भाव-अतृप्त परधनहारी, आश्रय-बिन दुःख ही पाता है ॥९६॥

कब कैसे किंचित् सुख होता, जो नर है भावासक्त यहाँ ?
जिसके हित दुःख उठाता है, उसमे भी पाता सौख्य कहाँ ? ॥९७॥

यो द्वेषभाव को जो धरता, वह दुःख परम्परा पाता है।
यो द्वेषी करता कर्मबन्ध, फल उसका दुःखमय न सुहाता है ॥९८॥

है भावविरत नर शोक-मुक्त, वह विविध दुःखो से लिप्त नही।
भव-पुष्करिणी मे शतदल-सम, अनघ,से होता लिप्त नही ॥९९॥

अन्वयार्थ—भाव—भाव को, मणस्स—मन का, गहण—ग्राह्य (विषय), वयंति—कहते है। (जो भाव), रागहेउ—राग का कारण है, त—उसे, मणुन्न—मनोज्ञ, आहु—कहा है, (जो भाव), दोसहेउ—द्वेष का कारण है, त—उसे, अमणुन्न आहु—अमनोज्ञ कहा है। जो—जो, तेसु—उन (मनोज्ञ-अमनोज्ञ, दोनो) भावो मे, समो—सम (राग-द्वेषरहित) भाव रखता है, स वीयरागो—वह वीतराग है ॥८७॥

मण—मन को, भावस्स—भाव का, गहण—ग्राहक, वयंति—कहते हैं, भाव—भाव को, मणस्स—मन का, गहण—ग्राह्य, वयंति—कहते है। रागस्स—राग का, हेउ—कारण, समणुन्न—समनोज्ञ (भाव), आहु—कहा है। दोसस्स—द्वेष का, हेउ—कारण, अमणुन्न—अमनोज्ञ (भाव), आहु—कहा है ।।८८।।

जो—जो (मनुष्य) (मनोज्ञ), भावेसु—भावो मे, तिव्वं गिद्धिं उवेइ—तीव्र आसक्ति करता है, से—वह, अकालियं—अकाल मे (ही), विणासं पावइ—विनाश पाता है। व—जैसे, करेणु-मग्गावहिए—हथिनी के प्रति मार्ग मे आकृष्ट, कामगुणेसु गिद्धे—कामगुणो मे आसक्त, रागाउरे—रागातुर, नागे—हाथी, (विनाश को प्राप्त होता है) ।।८९।।

य—और, जे—जो (किसी अप्रिय भाव मे), तिव्वं दोसं—तीव्र द्वेष को, समुवेइ—प्राप्त होता है, तंसि क्खणे—उसी क्षण, से उ—वह, जंतू—प्राणी, सएण दुद्दन्तदोसेण—अपने दुर्दान्त दोष के कारण। दुक्खं उवेइ—दुःख पाता है। से—इसमे, भाव—भाव का, किंचि—कुछ भी, न अवरज्झई—अपराध नही है। (इसके लिए राग-द्वेषकर्ता व्यक्ति स्वय उत्तरदायी है) ।।९०।।

(जो व्यक्ति) रुइरंसि भावे—प्रिय या रुचिकर भाव मे, एगंतरत्ते—एकान्तरूप से आसक्त होता है, (तथा) अतालिसे—उसके प्रतिकूल (अमनोज्ञ) भाव के प्रति, पओस—प्रद्वेष, कुणइ—करता है। से बाले—वह अज्ञानी, दुक्खस्स संपील—दुःख का पिण्ड (समूह) या दुःखजन्य पीडा, उवेइ—प्राप्त करता है। विरागो मुणी—विरक्त (राग-द्वेष से विरत) मुनि, तेण—उससे, न लिप्पई—लिप्त नही होता ।।९१।।

भावाणुगासाणुगए—(प्रिय) भावो (को पाने) की आशा के पीछे चलने वाला व्यक्ति, अणेगरूवे—अनेक प्रकार के, चराचरे जीवे य—चर (त्रस) और अचर (स्थावर) जीवो की, हिंसइ—हिंसा करता है। अत्तट्ठगुरु—अपने ही स्वार्थ को महत्व देने वाला, (वह) किलिट्ठे—क्लिष्ट (रागादि पीडित), बाले—अज्ञानी जीव, ते—उन (जीवो) को, चित्तेहिं—विविध प्रकार से, परितावेइ—परिताप देता है (और), पीलेइ—पीडा पहुँचाता है ।।९२।।

भावाणुवाएण—(प्रिय) भावो के प्रति अनुराग (और) परिग्गहेण—ममत्व के कारण, (उसके), उप्पायणे—उत्पादन मे, रक्खण सन्निओगे—रक्षण और व्यवस्था मे (तथा), वए—व्यय मे, य—और, विओगे—वियोग मे, से उ—उसे, सुहं—सुख, कहिं—कैसे (हो सकता है ?) (उसे तो), संभोगकाले—उपभोग के समय मे भी, अतित्तिलाभे—तृप्ति नही मिलती ।।९३।।

भावे—भाव मे, अतित्ते—अतृप्त, य—और, परिग्गहे—परिग्रह मे, सत्तोवसत्तो—आसक्तोपसक्त (व्यक्ति), तुट्ठिं—सन्तुष्टि, न उवेइ- नही पाता। अतुट्ठिदोसेण—असन्तोष के दोष के कारण, दुही—दुखी, लोभाविले—लोभाविष्ट होकर, परस्स—दूसरे का, अदत्त आययई—बिना दिया पदार्थ हरण कर लेता है ॥९४॥

भावे—भाव, य—और, परिग्गहे—परिग्रह मे, अतित्ते—अतृप्त (तथा), तण्हाभिभूयस्स—तृष्णा से अभिभूत (पराजित) हुए (उस), अदत्तहारिणो—दूसरे के मनोज्ञ-सद्भावो का अपहरण करने वाले व्यक्ति का, लोभदोसा—लोभ के दोष से, (उसमे), मायामुसं—कपट-सहित झूठ (दम्भ), वड्ढइ—बढता है। तत्थावि—तथापि (इतना सब कुछ करने पर भी), से—वह, दुक्खा—दुख से, न विमुच्चई—विमुक्त नही होता ॥९५॥

मोसस्स—असत्य प्रयोग के, पुरत्थओ—पूर्व, य—और, पच्छा य—पश्चात् य—तथा, पओगकाले—(असत्य) प्रयोग के समय, (वह), दुही—दुखी होता है। दुरंते—उसका अन्त भी बुरा होता है। एवं—इस प्रकार, भावे—(मनोज्ञ) भावो मे, अतित्तो—अतृप्त होकर, अदत्ताणि समाययंतो—दूसरे के भावो के भावो का अपहरण करता हुआ, (वह) दुहिओ अणिस्सो—दुखित और आश्रयहीन हो जाता है ॥९६॥

भावाणुरत्तस्स—(मनोज्ञ)भावो (को पाने) मे अनुरक्त, नरस्स—मनुष्य को, एवं—इस (पूर्वोक्त) प्रकार से, कयाइ—कभी, (और) किंचि—कुछ भी, सुहं—सुख, कत्तो होज्ज—कहाँ से (कैसे) हो सकता है? जस्स कएण—जिस (मनोज्ञ भाव को पाने) के लिए, (वह) दुक्खमिव्वत्तइ—दुख उठाता है, तस्सोवभोगे वि—उसके उपभोग मे भी, किलेसदुक्खं—क्लेश-जनित दुख (ही होता है) ॥९७॥

एमेव—इसी प्रकार, भावम्मि—(अशुभ-अमनोज्ञ) भाव के प्रति, पओसं गओ—द्वेषभाव को प्राप्त होता है, (वह भी उत्तरोत्तर), दुक्खोह-परंपराओ—दुखो की परम्परा को, उवेइ—पाता है। पदुट्ठचित्तो—द्वेषयुक्त चित्त वाला होकर, से—वह, ज कम्म चिणाई—जिस (पाप कर्मदल) को सचित करता है, (वही पापकर्म) पुणो—पुन, विवागे—विपाक के समय, दुहं—दुखरूप, होइ—हो जाता है ॥९८॥

(अतएव) भावेविरत्तो—(मनोज्ञ-अमनोज्ञ) भावो से विरक्त, मणुओ—मनुष्य, विसोगो—शोकरहित होता है। (वह) एएण दुक्खोह-परंपरेण—दुखो की

भोग्य पदार्थों या विषय-सामग्री के सग्रह की प्रबल लालसा से, या विष-यादि पदार्थों को पाने की उत्कट मनोकामना से, आरोग्य, शरीर आदि के विषय मे भय या आशका बार-बार करने से व्यक्ति रागादि से पीडित रहता है। वह कभी सुखी नही हो पाता। यही गाथा ९३ का तात्पर्य है।

भावाशा के पीछे भागने वाला हिंसक क्यो और कैसे ?—अपने मन मे उठने वाले निकृष्ट भावो के अनुसार मन मे बुरे सकल्पो-विकल्पो की घुड-दौड लगाने से भावहिंसा निष्पन्न होती है। जैसे—कोई व्यक्ति मन मे दुर्भावो का अनुसरण करता है कि इस औषधि से उसे वशीभूत कर लूँ, उसका उच्चाटन, मोहन या मारण इस मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र से कर लू, इस उपाय से स्वर्णसिद्धि प्राप्त कर लूं, मै इस उपाय से उन जीवो को मार सकता हूँ, इस प्रकार से उन्हे हैरान करू तो वे मेरे चरणो मे पडेंगे, अमुक व्यक्ति मेरा विरोध करता है, उसे जान से मार डालूं, अमुक को विष देकर उसका काम तमाम कर दूं, इत्यादि दुर्भाव भावहिंसा है जो अनेक की जननी है।

रागादि भाव तृष्णा-चोरी-परिग्रह-असत्य आदि के उत्पादक—जो पुरुष अपने आप मे सन्तुष्ट न रहकर अधिकाधिक प्रसिद्धि प्रशसा, यश-कीर्ति की लिप्सा रखता है, दूसरे साधको की निन्दा नुक्ताचीनी, बदनामी करता है, उनसे ईर्ष्या, घृणा करता है। प्रसिद्धि आदि के लोभ के वश छल-कपट, मिथ्या-भाषण, दम्भ, आडम्बर, ढोग आदि करता है, मन मे दूसरो को नीचा दिखाने के पैतरे रचता है, स्वय के पण्डित, विद्वान् और सर्व-शास्त्रज्ञ होने का अहकार करता है। जाति आदि मद मे डूबा रहता है। यह सब रागभावो का परिणाम है। यह गाथा ९५ का तात्पर्य है।

मिथ्याभाषण, चौर्य कर्म आदि करने वाला क्लिष्ट भावो से दु खी—निरन्तर असत्य बोलने, धोखेबाजी, झूठ फरेब करने तथा चोरी-ठगी करने वाला या रात-दिन इस प्रकार के संकल्प-विकल्पो मे डूबा रहने वाला व्यक्ति रौद्रध्यानवश नाना पापकर्मो का सचय करता है। ऐसे व्यक्ति का कोई विश्वास नही करता, सहायक नही बनता, वह आश्रयहीन और दु खी हो जाता है। यह गाथा ९६ का तात्पर्य है।

सकल्प-विकल्पो की उधेडबुन मे लगा हुआ व्यक्ति कभी निश्चित, सुखी एव निराकुल नही होता। सकल्प-विकल्पो के पुन पुन मन मे दोहराने से आर्तध्यान, क्लेश और दु ख ही होता है। जिन सकल्प-विकल्पो को मन

परम्परा से, भवमज्झे वि सतो—ससार मे रहता हुआ भी, व—उसी प्रकार, न लिप्पइ—लिप्त नही होता, (जिस प्रकार), पोक्खरिणी-पलास—कमलिनी का पत्ता, जलेण—जल से (लिप्त नही होता) ॥९९॥

विशेषार्थ—मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावो मे राग-द्वेष-मुक्ति की प्रेरणा—पूर्ववत् १३ गाथाओ मे दी गई है। किसी घटना या सजीव-निर्जीव पदार्थ के निमित्त से मन मे उठने वाले राग-द्वेष के भावो के प्रति विरक्ति, समभाव एव वीतरागभाव की प्रेरणा इस प्रकरण मे दी गई है। तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ, घटना या विचार के साथ मन मे उठने वाले मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावो के प्रवाह मे मत बहो, उन भावो से मन को निर्लिप्त रखो। मनोज्ञ भावो मे मन को आसक्त मत होने दो, न ही अमनोज्ञ भावो मे मन को द्वेषयुक्त होने दो। मन को बिलकुल अलग और तटस्थ रहने दो, अन्यथा मन मे राग-द्वेष पैदा होगे, मन दुखी, सक्लिष्ट, चिन्तातुर, भयभीत या तनाव से पूर्ण हो जायेगा। मन मे क्रोधादि भाव, राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, तृष्णा, द्वेष, घृणा, वैर-विरोध आदि के भाव आ जाने से भयकर अशुभकर्मो का बन्ध हो जायेगा, फिर उनका फल भोगने के समय घोर सन्ताप और पीडा होगी। अत सर्वसुखप्राप्ति एव दुखमुक्ति के लिए वीतरागता का पथ अपनाना ही अभीष्ट है।

करेणुमग्गावहिए व नागे तात्पर्य—कोई मतवाला हाथी किसी हस्तिनी को देखता है तो वह कामासक्तिभाव के वशीभूत होकर अपने मार्ग को छोडकर उसके पीछे लग जाता है। उस मार्गभ्रष्ट हाथी को शिकारी लोग गड्ढे मे रखी कागज की हथिनी से आकृष्ट करके उस गड्ढे मे डाल देते हैं, फिर उसे पकड लेते हैं, अथवा मार देते हैं। इसी प्रकार मनोज्ञ भावो मे आसक्त या मोहित मनुष्य को भी अकाल मे ही मृत्यु आकर दबोच लेती है। हाथी हथिनी को केवल देखकर उसकी ओर आकृष्ट नही होता, किन्तु मन मे उठे हुए कामभाव को उसके साथ जोडता है, तभी वह उसकी ओर दौडता है।[1]

भाव विषयक उत्कट राग से कहीं सुख नहीं—भावविषयक उत्कट राग रखने वाला कभी कही सुख नही पा सकता, वह अपने ही मन मे उठने वाले भावो से स्वयं ही दुख पाता है। विषयो के अत्यधिक चिन्तन से,

---

१ उत्तराध्ययन (आचार्य श्री आत्माराम जी म०) भा० ३, पृ० २९१।

भोग्य पदार्थों या विषय-सामग्री के संग्रह की प्रबल लालसा से, या विष-आदि पदार्थों को पाने की उत्कट मनोकामना से, आरोग्य, शरीर आदि के विषय में भय या आशंका बार-बार करने से व्यक्ति रागादि से पीड़ित रहता है। वह कभी सुखी नहीं हो पाता। यही गाथा ९३ का तात्पर्य है।

भावहिंसा के पीछे भागने वाला हिंसक क्यों और कैसे ?—अपने मन में उठने वाले निकृष्ट भावों के अनुसार मन में बुरे संकल्पों-विकल्पों की घुड़-दौड़ लगाने से भावहिंसा निष्पन्न होती है। जैसे—कोई व्यक्ति मन में दुर्भावों का अनुसरण करता है कि इस औषधि से उसे वशीभूत कर लूं, उसका उच्चाटन, मोहन या मारण इस मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र से कर लूं, इस उपाय से स्वर्णसिद्धि प्राप्त कर लूं, मैं इस उपाय से उन जीवों को मार सकता हूँ, इस प्रकार से उन्हें हैरान करूँ तो वे मेरे चरणों में पड़ेंगे, अमुक व्यक्ति मेरा विरोध करता है, उसे जान से मार डालूं, अमुक को विष देकर उसका काम तमाम कर दूं, इत्यादि दुर्भाव भावहिंसा है जो अनेक की जननी है।

रागादि भाव तृष्णा-चोरी-परिग्रह-असत्य आदि के उत्पादक—जो पुरुष अपने आप में सन्तुष्ट न रहकर अधिकाधिक प्रसिद्धि, प्रशंसा, यश-कीर्ति की लिप्सा रखता है, दूसरे साधकों की निन्दा नुक्ताचीनी, बदनामी करता है, उनसे ईर्ष्या, घृणा करता है। प्रसिद्धि आदि के लोभ के वश छल-कपट, मिथ्या-भाषण, दम्भ, आडम्बर, ढोंग आदि करता है, मन में दूसरों को नीचा दिखाने के पैंतरे रचता है, स्वयं के पण्डित, विद्वान् और सर्व-शास्त्रज्ञ होने का अहंकार करता है। जाति आदि मद में डूबा रहता है। यह सब रागभावों का परिणाम है। यह गाथा ९५ का तात्पर्य है।

मिथ्याभाषण, चौर्य कर्म आदि करने वाला क्लिष्ट भावों से दुःखी—निरन्तर असत्य बोलने, धोखेबाजी, झूठ फरेब करने तथा चोरी-ठगी करने वाला या रात-दिन इस प्रकार के संकल्प विकल्पों में डूबा रहने वाला व्यक्ति रौद्रध्यानवश नाना पापकर्मों का संचय करता है। ऐसे व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता, सहायक नहीं बनता, वह आश्रयहीन और दुःखी हो जाता है। यह गाथा ९६ का तात्पर्य है।

संकल्प-विकल्पों की उधेड़बुन में लगा हुआ व्यक्ति कभी निश्चिन्त, सुखी एवं निराकुल नहीं होता। संकल्प-विकल्पों के पुनः पुनः मन में दोहराने से आर्तध्यान, क्लेश और दुःख ही होता है। जिन संकल्प-विकल्पों को मन

मे वह उठाता है, तदनुसार चलने मे, या तदनुरूप अभीष्ट सिद्धि न होने से सुख की उपलब्धि सभव नही होती। यही गाथा ६७ का तात्पर्य है।

भाव-विषयक द्वेष से दुःख-परम्परा प्राप्त होना स्वाभाविक है। क्योकि जिसके प्रति द्वेष-भाव होता है, या मन मे उठता है, उसके प्रति वैर-विरोध, क्रोध, ईर्ष्या, छल, घृणा, शत्रुता आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, जो भावहिंसा के जनक हैं। अत द्वेषभाव से नाना अशुभकर्मो का सचय होता है, वे ही कर्म विपाक के समय उसके लिए दुःखरूप होते है। यह ६८वी गाथा का तात्पर्य है।

राणी के लिए दुःख के हेतु वीतरागी के लिए नहीं—

मूल—एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥१००॥

न कामभोगा समय उवेंति, न यावि भोगा विगइ उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइ उवेई ॥१०१॥

कोह च माण च तहेव माय, लोह दुगुच्छ अरइ रइ च।
हास भयं सोग पुमित्थिवेय, नपुसवेय विविहे य भावे ॥१०२॥

आवज्जइ एवमणेगरूवे, एवविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ॥१०३॥

पद्यानु०—इन्द्रिय और मन के विषय यहाँ रागी को दुःख-कारण होते।
वे वीतराग के लिए नही, किंचित् भी दुःखदायक होते ॥१००॥

समता के हेतु न काम-भोग हैं, नही विकार हेतु होते।
उनके प्रति जिनके राग-द्वेष, वे मोह-विवश विकृत होते ॥१०१॥

क्रोध मान माया भय रति, और जुगुप्सा लोभ अरति।
हास्य शोक एव नानाविध, नर-नारी-नपुसक-वेदमति ॥१०२॥

जो कामगुणो मे सक्त पुरुष, वह विविध विकारो को पाता।
नरकादि कष्ट से दीन-हीन, लज्जित अप्रिय हो दुःख पाता ॥१०३॥

अन्वयार्थ—एव—इस प्रकार, इंदियत्था—इन्द्रियो के (जो) विषय (अर्थ) हैं, य—और, मणस्स अत्था—मन के (जो) विषय है, (वे) रागिणोमणुयस्स—रागी मनुष्य के लिए, दुक्खस्स हेउ—दुःख के कारण है। ते चेव—वे ही (विषय) वीयरागस्स—वीतराग के लिए, कयाइ—कदापि, थोवपि किंचि—थोड़े से कुछ भी, दुक्ख न करेंति—दुःख (उत्पन्न) नही करते ॥१००॥

कामभोगा—काम-भोग (अपने आप मे) न—न तो, समय—समता (समभाव) उवेंति—उत्पन्न करते हैं, न यावि—और न ही, भोगा—(वे) भोग, विगइ—विकृति, उवेंति—पैदा करते है। जे—जो, तप्पओसी परिग्गही य—उनके प्रति प्रद्वेष और परिग्रह (ममत्व) रखता है, सो—वह, तेसु—उनमे, मोहा—मोह के कारण, विगइ—विकृति को, उवेइ—प्राप्त होता है ॥१०१॥

कोहं च—और क्रोध, माण च—मान, तहेव—तथा, मायं—माया, लोहं—लोभ, दुगुंछं—जुगुप्सा, अरइ—अरति, रइं च—तथा रति, हास—हास्य, भय—भय, सोग—शोक, पुमित्थिवेयं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, य—और, नपुंसवेयं—नपुंसक वेद, य—तथा (हर्ष-विषादि), विविहे भावे—विविध भावो का,—एव—इसी प्रकार, एवविहे अणेगरूवे—ऐसे (पूर्वोक्त क्रोधादि भावरूप) अनेक प्रकार के विकारो को कामगुणेसु सत्तो—कामगुणो मे आसक्त (मानव), आवज्जई—प्राप्त होता है। य—और, अन्ने एयप्पभवे—अन्य इन (क्रोधादि) से उत्पन्न होने वाले, विसेसे—विशेष (नरकादि दुःखो) को पाता है। (इसी कारण वह) कारुण्ण-दीणे—करुणास्पद, दीन, हिरिमे—लज्जालु (और) वइस्से—द्वेष का पात्र (द्वेष्य) बन जाता है ॥१०२-१०३॥

विशेषार्थ—रागी के लिए ही ये विषय-विकार दुःख के हेतु हैं—प्रस्तुत ४ गाथाओ (गा १०० से १०३ तक) मे यह बताया गया है कि इन्द्रियो और मन के विषयो के विद्यमान रहते तथा कामभोगो तथा क्रोधादि कषायो एव हास्यादि नोकषायो के रहते हुए भी वीतरागी पुरुष को न तो वे किंचित् भी दुःख दे सकते हैं और न ही उसके मन-वचन-काया मे विकार उत्पन्न कर सकते हैं, वे उसी को दुःख दे सकते हैं, जो रागी-द्वेषी हो, और उसी के मन मे विकार उत्पन्न कर सकते हैं। जो द्वेष, ममत्व और मोह से युक्त हो, कामगुणो मे आसक्त हो। वही दयनीय, दीन-हीन, लज्जित और द्वेष-भाजन बनता है, वीतरागी नही।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियो और मन के विषय तो दुःख और विकार मे बाह्य निमित्त बनते हैं। वस्तुत दुःख का मूल कारण तो आत्मा की राग-द्वेष-मोहमयी मनोवृत्तियाँ ही हैं। रागद्वेष-मोहरहित वीतरागी मुनि का इन्द्रिय-विषय या मनोविषय कुछ भी नही बिगाड सकते।[1]

---

१ (क) उत्तरा० (आचार्य श्री आत्माराम जी म०) भा० ३ पृष्ठ २९८-२९९।
(ख) उत्तरा० (गुजराती भाषान्तर) भा० २, पृष्ठ ३०६-३०७।

मे वह उठाता है, तदनुसार चलने मे, या तदनुरूप अभीष्ट सिद्धि न होने से सुख की उपलब्धि सभव नही होती। यही गाथा ९७ का तात्पर्य है।

भाव-विषयक द्वेष से दुःख-परम्परा प्राप्त होना स्वाभाविक है। क्योकि जिसके प्रति द्वेष-भाव होता है, या मन मे उठता है, उसके प्रति वैर-विरोध, क्रोध, ईर्ष्या, छल, घृणा, शत्रुता आदि के भाव उत्पन्न होते है, जो भावहिंसा के जनक है। अत द्वेषभाव से नाना अशुभकर्मों का सचय होता है, वे ही कर्म विपाक के समय उसके लिए दुःखरूप होते हैं। यह ९८वी गाथा का तात्पर्य है।

राणी के लिए दुःख के हेतु वीतरागी के लिए नहीं—

मूल—एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥१००॥
न कामभोगा समय उवेंति, न यावि भोगा विगइ उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेई ॥१०१॥
कोह च माण च तहेव माय, लोहं दुगु छ अरइ रइ च।
हास भय सोग पुमित्थिवेयं, नपु सवेय विविहे य भावे ॥१०२॥
आवज्जइ एवमणेगरूवे, एवविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से ॥१०३॥

पद्यानु०—इन्द्रिय और मन के विषय यहाँ रागी को दुःख-कारण होते।
वे वीतराग के लिए नही, किंचित् भी दुःखदायक होते ॥१००॥
समता के हेतु न काम-भोग हैं, नही विकार हेतु होते।
उनके प्रति जिनके राग-द्वेष, वे मोह-विवश विकृत होते ॥१०१॥
क्रोध मान माया भय रति, और जुगुप्सा लोभ अरति।
हास्य शोक एव नानाविध, नर-नारी-नपु सक-वेदमति ॥१०२॥
जो कामगुणो मे सक्त पुरुष, वह विविध विकारो को पाता।
नरकादि कष्ट से दीन-हीन, लज्जित अप्रिय हो दुःख पाता ॥१०३॥

अन्वयार्थ—एव—इस प्रकार, इंदियत्था—इन्द्रियो के (जो) विषय (अर्थ) हैं, य—और, मणस्स अत्था—मन के (जो) विषय है, (वे) रागिणोमणुयस्स—रागी मनुष्य के लिए, दुक्खस्स हेउ—दुःख के कारण हैं। ते चेव—वे ही (विषय) वीयरागस्स—वीतराग के लिए, कयाइ—कदापि, थोवपि किंचि—थोड़े से कुछ भी, दुक्ख न करेंति—दुःख (उत्पन्न) नही करते ॥१००॥

स्वाध्यायादि करने योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। (२) सयम-ग्रहण के पश्चात् इस प्रकार का पश्चात्ताप न करे कि हाय! मैंने ऐसे कठोर सयम को क्यो अगीकार किया ? क्यो ऐसे कष्टपूर्ण कठोर जीवन को अपनाया ? (३) ऐसा वैराग्यभ्रष्ट साधक तप-त्याग के प्रभाव से इस लोक मे प्रसिद्धि, सुख-सुविधा, प्रतिष्ठा, परलोक मे सभूति मुनि की तरह चक्रवर्ती, सम्राट, इन्द्रादि पद, या देवलोक के सुखो की निदानरूपी आकाक्षा न करे। अर्थात्-साधकवर्ग तप, त्याग, धर्माचरण आदि के साथ किसी भी प्रकार की कामना, नामना, निदान को न जोडे। अन्यथा—रागभाव या मोह के क्षय के बदले वे ही साधक पर हावी हो जायेगे। (४) इन्द्रिय चोर चुपके-चुपके विषयराग के साथ प्रवेश करके साधक को कषाय-नोकषायादि विकार मोहमहासागर मे डुबो देंगे। (५) फिर वह अपने साधक-जीवन मे आने वाले तप, कष्टसहन, परीषहादि मे दुःख की कल्पना करके उन दुःखो के निवारणार्थ रागी बनकर विषय-सुखो मे तथा सुख-सुविधा-सामग्री की प्राप्ति के लिए आरम्भ, हिंसा, परिग्रह आदि मे प्रवृत्त होकर दुःखमुक्ति के बदले नाना दुःखो को न्यौता दे देता है। अतः इन सयमबाधक प्रयत्नो से साधक को सावधान होकर दूर रहना चाहिए।

विरक्तात्मा का पुरुषार्थ और सकल्प

मूल—विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा, निव्वत्तयती अमणुन्नय वा ॥१०६॥

एव ससंकप्प विकप्पणासुं सजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य सकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥१०७॥

पद्यानु०—विरक्त मन वाले जन को, शब्दादि-विषय जितने सारे।
अच्छे न उसे होते प्यारे, अमनोज्ञ नही लगते खारे ॥१०६॥
हैं राग-द्वेष ही दोषमूल, ना इन्द्रिय विषय करे चिन्तन।
माध्यस्थ्य-भाव-चिन्तन करने से, कामेच्छा घटती है प्रतिक्षण ॥१०७॥

अन्वयार्थ—सद्दाइया—शब्दादि, तावइयप्पगारा—जितने भी प्रकार के, इन्दियत्था—इन्द्रिय विषय है, सव्वे वि—(वे) सभी, तस्स विरज्जमाणस्स—उस विरक्त हुए व्यक्ति (के मन) मे, मणुन्नय वा—मनोज्ञता अथवा, अमणुन्नय वा—अमनोज्ञता (का भाव), न निव्वत्तयती—उत्पन्न नही करते ॥१०६॥

(व्यक्ति के) ससकप्प-विकप्पणासु—अपने ही सकल्प (राग-द्वेष मोहरूप

वीतरागता-पथ पर आने के पश्चात् राग-द्वेष मोहादि विकारो के प्रवेश से सावधान

मूल—कप्प न इच्छिज्ज सहाय लिच्छू, पच्छाणुतावेण तवप्पभाव ।
एव वियारे अमियप्पयारे, आवज्जई इदिय चोर वस्से ॥१०४॥

तओ से जायति पओयणाइ, निमज्जिउ मोह महण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्ख विमोयणट्ठा, तप्पच्चय उज्जमए य रागी ॥१०५॥

पद्यानु०—सेवा-हित चाहे शिष्य नही, अनुताप न तप-फल चाह करे ।
इच्छा से इन्द्रिय-वश होकर, अगणित विकार को प्राप्त करे ॥१०४॥

फिर विषयेच्छा जगती उसमे, और मोहोदधि मे डुबाती है ।
सुखलिप्सा दु ख मिटाने हित, उद्यत-मति उसे बनाती है ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(वीतरागता के पथ का पथिक मुनि) सहाय-लिच्छू—(शरीर की सेवा शुश्रूषा रूप) सहायता की लिप्सा से, कप्प—कल्प योग्य शिष्य की, न इच्छिज्ज—इच्छा न करे, पच्छाणुतावेण—(दीक्षा लेने के) पश्चात पश्चात्ताप (आदि) करके, तवप्पभाव—तप के प्रभाव की भी (इच्छा न करे), एव—इस प्रकार (की इच्छाओ) से, इन्दियचोर-वस्से—इन्द्रियरूपी चोरो के वशीभूत (होकर) (साधक) अमिय-प्पयारे वियारे—अपरिमित प्रकार के विकारो (दोषो) को, आवज्जइ—प्राप्त कर लेता है ।

तओ—(पूर्वोक्त कषाय नोकषायो आदि विकारो के प्राप्त होने के) पश्चात् सुहेसिणो—सुखाभिलाषी (इन्द्रिय चोर-वशीभूत सुख-सुविधालिप्सु), से—उस व्यक्ति को, मोह-महण्णवे—मोहरूपी महासागर मे, निमज्जिउ—डुबाने के लिए (अपने माने हुए तथाकथित कल्पित), दुक्खविणोयणट्ठा—दु खो के विनोदन—निवारण के लिए (विषय सेवन, आरम्भजनित हिंसा, सग्रहबुद्धि ममत्व आदि), पओयणाइ—अनेक प्रयोजन, जायति—उत्पन्न (उपस्थित) होते हैं, य—और (वह), रागी—(उपलक्षण से द्वेषी या मोही), तप्पच्चय—(कल्पित दु खो को दूर करने के लिए) उन (विषयसेवनादि) के निमित्त से, उज्जमए—उद्यम करता है ।

विशेषार्थ—रागी साधक का वीतरागताबाधक प्रयत्न—प्रमादी (असावधान) साधक राग द्वेषमुक्ति के लिए सयमी जीवन अगीकार करने के पश्चात् इन्द्रियरूपी ठगो के चक्कर मे पडकर रागद्वेषादि से मुक्त होने के बदले पुन कामभोग-सुख सुविधादि पाने के लिए उद्यम करता है ? प्रस्तुत दो गाथाओ द्वारा साधक को उक्त वीतरागताबाधक प्रयत्न से सावधान करते हुए कहा है—(१) शरीर शुश्रूषा और इन्द्रियजनित सुखाभिलाषा से प्रेरित होकर साधक अयोग्य शिष्य तो क्या, विनयादि सर्वगुण सम्पन्न,

स्वाध्यायादि करने योग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। (२) सयम-ग्रहण के पश्चात् इस प्रकार का पश्चात्ताप न करे कि हाय ! मैंने ऐसे कठोर सयम को क्यो अंगीकार किया ? क्यो ऐसे कष्टपूर्ण कठोर जीवन को अपनाया ? (३) ऐसा वैराग्यभ्रष्ट साधक तप-त्याग के प्रभाव से इस लोक मे प्रसिद्धि, सुख-सुविधा, प्रतिष्ठा, परलोक मे सभूति मुनि की तरह चक्रवर्ती, सम्राट, इन्द्रादि पद, या देवलोक के सुखो की निदानरूपी आकाक्षा न करे। अर्थात्-साधकवर्ग तप, त्याग, धर्माचरण आदि के साथ किसी भी प्रकार की कामना, नामना, निदान को न जोडे। अन्यथा—रागभाव या मोह के क्षय के बदले वे ही साधक पर हावी हो जायेंगे। (४) इन्द्रिय चोर चुपके-चुपके विषयराग के साथ प्रवेश करके साधक को कषाय-नोकषायादि विकार मोहमहासागर मे डुबो देंगे। (५) फिर वह अपने साधक-जीवन मे आने वाले तप, कष्टसहन, परीषहादि मे दु ख की कल्पना करके उन दु खो के निवारणार्थ रागी बनकर विषय-सुखो मे तथा सुख-सुविधा-सामग्री की प्राप्ति के लिए आरम्भ, हिंसा, परिग्रह आदि मे प्रवृत्त होकर दु खमुक्ति के बदले नाना दु खो को न्योता दे देता है। अत इन सयमबाधक प्रयत्नो से साधक को सावधान होकर दूर रहना चाहिए।

विरक्तात्मा का पुरुषार्थ और सकल्प

मूल—विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा, निव्वत्तयती अमणुन्नय वा ॥१०६॥
एव ससकप्प विकप्पणासु संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य सकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥१०७॥

पद्यानु०—विरक्त मन वाले जन को, शब्दादि-विषय जितने सारे।
अच्छे न उसे होते प्यारे, अमनोज्ञ नही लगते खारे ॥१०६॥
हैं राग-द्वेष ही दोषमूल, ना इन्द्रिय विषय करे चिन्तन।
माध्यस्थ्य-भाव-चिन्तन करने से, कामेच्छा घटती है प्रतिक्षण ॥१०७॥

अन्वयार्थ—सद्दाइया—शब्दादि, तावइयप्पगारा—जितने भी प्रकार के, इन्दियत्था—इन्द्रिय विषय हैं, सव्वे वि—(वे) सभी, तस्स विरज्जमाणस्स—उस विरक्त हुए व्यक्ति (के मन) मे, मणुन्नय वा—मनोज्ञता अथवा, अमणुन्नय वा—अमनोज्ञता (का भाव), न निव्वत्तयती—उत्पन्न नही करते ॥१०६॥

(व्यक्ति के) ससकप्प-विकप्पणासु—अपने ही सकल्प (राग-द्वेष मोहरूप

अध्यवसाय एव विकल्प (मनोज्ञ-अमनोज्ञादि की कल्पनाएँ ही सब दोषो के मूल कारण हैं, इन्द्रिय और मन के विषय नही), एव—इस प्रकार, अत्ये सकप्पयओ—(इन्द्रिय एव मन के) अर्थो (विषयो) के सम्बन्ध मे सकल्प करने मे, उवट्ठियस्स—उपस्थित—उद्यत होता है, (उसके मन मे) समय—समता, सजायई—उत्पन्न होती है। तओ—तत्पश्चात्, से—उसकी, कामगुणेसु—कामगुणो मे, तण्हा—तृष्णा (लालसा), पहीयए—प्रक्षीण हो जाती है ॥१०७॥

विशेषार्थ— विरक्त पर, मनोज्ञता अमनोज्ञता या रागद्वेषादि का कोई प्रभाव नहीं —(१) जितने भी इन्द्रिय-विषय या मनोविषय है, वे सब रागद्वेषादि युक्त जीव पर ही प्रभाव डालते है। वही रागद्वेषादिग्रस्त जीव ही मनोज्ञ-अमनोज्ञ, प्रिय-अप्रिय आदि कल्पना करता है। इसके विपरीत रागद्वेषादि से विरक्त, समभावी, वीतरागता के पथिक आत्मा पर उक्त विषयो का कुछ भी प्रभाव नही पडता। वे सब उसके समक्ष अकिंचित्कर हैं। (२) व्यक्ति के राग-द्वेष-मोहजन्य जो सकल्प-विकल्प (विषयजाल) हैं, वे ही अनर्थ के मूल हैं। इस प्रकार विचार किया जाए तो व्यक्ति मे समता (मध्यस्थता) आ सकती है। इस प्रकार के सतत् सकल्पाभ्यास से पचेन्द्रिय एव मन के विषयो के प्रति राग-द्वेष, तृष्णा, मोह आदि अनायास ही क्षीण हो जाते हैं।

सकल्पाभ्यास ही वीतरागता—समता का कारण—गाथा १०६-१०७ का तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष-मोहादिजन्य कामभोगो के विषयो मे दोषो के अनुप्रेक्षण (सकल्प) से विचारशील आत्मा मे इनसे विरक्ति, समता एव अनासक्ति उत्पन्न होती है। मध्यस्थभाव को प्राप्त साधक शब्दादि विषयो के सम्बन्ध मे यह विचार करता है कि—"जितने भी शब्दादि विषय हैं, वे सब निरपराध है, व्यक्तिगतरूप से इनका कोई दोष नही। वे कामभोगादि तो निमित्तमात्र हैं, दोष तो आत्मा मे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह का है, उन्ही से कर्मबन्ध होता है, इस प्रकार के सकल्प अर्थात्—सद्विचार से कामभोगादिजन्य अनर्थो का विचार करता हुआ वह साधक इनसे विरक्त हो जाता है। उसकी कामभोगादि तृष्णा भी क्षीण हो जाती है। फिर शब्दादि विषयो पर रागादि या कामभोगादि विकार उसका कुछ भी बिगाड नही सकते। क्योकि वे क्षीण हो जाते है।

वीतरागता की सर्वोत्कृष्ट फलश्रुति सम्पूर्णमुक्ति—

मूल—स वीयरागो कय-सव्वकिच्चो खवेइ नाणावरण खणेण।
तहेव जं दसणमावरेइ ज चन्तराय पकरेइ कम्म ॥१०८॥

सव्व तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरतराए ।
अणासवे झाण-समाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥१०९॥

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, ज बाहइ सयय जतुमेय ।
दीहामय विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चतसुही कयत्थो ॥११०॥

पद्यानु०—वह वीतराग कृतकृत्य बना, ज्ञानावरोध को नष्ट करे ।
दर्शन-रोधक और अन्तराय कर्मो को क्षण मे क्षीण करे ॥१०८॥

सब जग वह जाने और देखे, निर्मोह विघ्नजय करवावे ।
अनास्रवी और ध्यानयुक्त, कर पूर्ण आयु शिवपद पावे ॥१०९॥

जीवो को सतत कष्ट देते, जगती के उन सब दु खो से ।
हो जाता मुक्त प्रशसनीय, बहुसुखी कृतार्थ सब कृत्यो से ॥११०॥

अन्वयार्थ—कय-सव्वकिच्चो—कृतकृत्य बना हुआ, स वीयरागो—वह वीतराग आत्मा, खणेण—क्षणभर (अल्पकाल) मे, नाणावरण—ज्ञानावरणीय कर्म को, तहेव—तथा, ज—जो कर्म, दसणमावरेइ—दर्शन को आवृत करता है, (उसे), (तथा), ज कम्म—जो कर्म, अतराय पकरेइ—अन्तराय करता है, (उसे), खवेइ—क्षय (मूलत नष्ट) कर डालता है ॥१०८॥

तओ—तत्पश्चात् (ज्ञानावरणीयादि कर्मक्षय के पश्चात्), (वह), सव्व जाणइ पासए य—सब ससार के (त्रिकालवर्ती) भावो को जानता है और देखता है (तथा वह), अमोहणे—मोहनीय कर्म से रहित (अमोह), (एव), निरतराए—अन्तराय कर्म से रहित (निरतराय), होइ—हो जाता है, (फिर वह आत्मा), सुद्धो—शुद्ध, अणासवे—आस्रवरहित हो जाता है, (तदनन्तर वह) झाण-समाहिजुत्ते—ध्यान (शुक्लध्यान और) समाधि (समभाव) से युक्त होता है (और), आउक्खए—आयुकर्म के क्षय होते ही, मोक्ख—मोक्ष को, उवेइ—प्राप्त कर लेता है ॥१०९॥

सो—वह (महापुरुष), तस्स सव्वस्स दुहस्स—उन सभी दु खो से, मुक्को—मुक्त हो जाता है, ज—जो, एय जतु—इस जीव को, सयय—सतत, बाहइ—पीडित (बाधित) करते हैं, तो—अत (वह), दीहामय-विप्पमुक्को—दीर्घकालिक (जन्म-मरणादि या कर्मादि) रोगो से विमुक्त, पसत्थो—प्रशस्त, कयत्थो—कृतार्थ, एव, अच्चतसुही—अत्यन्त (एकान्त) सुखी, होइ—हो जाता है ॥११०॥

विशेषार्थ—फलश्रुति वीतरागता से पूर्णमुक्ति तक—इन्द्रियाँ और मन के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयो के प्रति राग-द्वेष-मोहरहितता तथा कषायो और

नोकषायो आदि विकारो के प्रति विरक्ति एव समता का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर जब वीतरागता की प्राप्ति हो जाती है, तब मोहनीय-कर्म का क्षय होते ही वह क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती आत्मा क्रमश ज्ञानावरण दर्शनावरण, और अन्तराय इन तीनो कर्मो को एक समय मे क्षय कर देता है, अर्थात्—मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेकर उस अन्तर्मुहूर्त्त के अन्तिम दो समय मे निद्रा, प्रचला और देव-गत्यादि नाम कर्म की प्रकृतियो का, फिर चरमसमय मे ज्ञानावरणादि तीनो कर्मों का क्षय कर देता है। अर्थात्—चारो घाति कर्मो का सर्वथा क्षय कर डालता है। फिर वह आत्मा शुद्ध, कृतकृत्य, अनाश्रव, निर्मोह, अन्तरायरहित, केवलज्ञानी एव केवलदर्शनी हो जाता है। फिर उसमे राग द्वेष-मोहादि कोई भी विकार प्रविष्ट नही हो सकता। तदनन्तर वह शुक्ल-ध्यान से युक्त होकर आयुष्य का क्षय करने के साथ ही चारो अघाति कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मो) का भी क्षय कर सिद्ध बुद्ध-मुक्त बन जाता है। फिर वह जन्म-जरा-मृत्यु और व्याधि, इन चारो दुखो से, दुख के मूलभूत—मोह से, कर्मो से, तथा शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सबसे मुक्त हो जाता है। अर्थात्—सभी दुखो का सर्वथा अन्त कर, अत्यन्त अनन्त आत्मिक सुख से युक्त हो जाता है। वह सर्वथा कृतार्थ एव प्रशस्त शुद्ध परमात्मा बन जाता है।[1]

उपसहार—

मूल—अणाइ-काल-प्पभवस्स एसो, सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्ख-मग्गो।
विद्याहिओ, जं समुविच्च सत्ता, कमेण अच्चतसुही भवति ॥१११॥

पद्यानु०—चिरकालजात सब दुखो का, है मोक्ष मार्ग यह बतलाया।
हो जाते क्रमश जीव सुखी, जिनने इसको है अपनाया ॥१११॥

अन्वयार्थ—एसो—यह, अनाइ-कालप्पभवस्स—अनादिकाल से उत्पन्न होते आये, सव्वस्स दुक्खस्स—समस्त दुखो से, पमोक्ख-मग्गो—प्रमोक्ष (मुक्ति) का मार्ग (उपाय) वियाहियो—कहा गया है, जं—जिसे, सत्ता—जीव, समुविच्च—सम्यक् प्रकार से अपनाकर, कमेण—क्रमश, अच्चतसुही—अत्यन्त सुखी (अनन्त सुख-सम्पन्न), भवति—हो जाते हैं ॥१११॥

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ (क) उत्तरा० (आत्माराम जी महाराज) भा० ३ पृष्ठ ३०५।
(ख) उत्तरा० अ० ३२, गा० १०८-१०९-१११ मूलपाठ का निष्कर्ष।

विशेषार्थ—सर्वदुःखमुक्ति का मार्ग : अनन्तसुखसम्पन्नता का मार्ग—अध्ययन के प्रारम्भ मे शास्त्रकार ने अनादिकालीन समूल सर्वदुःखो से सर्वथा मुक्ति का उपाय बताने की प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार अध्ययन के उपसंहार मे स्मरण कराया है कि यही अनादिकालीन सर्वदुःखमुक्ति का अथवा अनन्तसुखप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, जिसे स्वीकार करके चलने से ही व्यक्ति सम्पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

॥ प्रमाद-स्थान : बत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□

कर्म-प्रकृति : तेतीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

इस अध्ययन का नाम कर्म-प्रकृति (कम्मपयडी) है। इसमे कर्मो की मूल एव उत्तर-प्रकृतियो का वर्णन किया गया है। कर्मों के विविध स्वभाव, प्रतिसमय कर्मो के परमाणुओ के बन्ध की सख्या, उनके अवगाहन क्षेत्र का परिमाण, कर्मों की जघन्य—उत्कृष्ट स्थिति और कर्मो मे फल देने की शक्ति के कारणभूत अनुभाग का प्रभाव इत्यादि बातो का बहुत ही गहराई से विश्लेषण किया गया है।

इस अध्ययन मे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागरूप से कर्मबध के चार प्रकारो का वर्णन किया गया है।

जैनदर्शन ईश्वरकर्तृत्ववाद को नही मानता। वह ईश्वर को मानता है, परमात्मा बनने का मार्ग बताता है, किन्तु उस परमात्मा को जगत् का कर्ता, धर्ता या सहर्ता नही मानता। यही कारण है कि जैनदर्शन आत्मशुद्धि, आत्मशक्ति या आत्मगुणो की उपलब्धि के लिए स्वय पुरुषार्थ को ही महत्व देता है। वह किसी शक्ति, देवी, देव या ईश्वर से गिडगिडाकर मनौती करके या उसके द्वारा ही सब कुछ करा लेने की थोथी भक्ति को महत्व नही देता है। उसका कहना है, तुम अपने कर्मों का क्षय करने मे समर्थ हो, कर्म को काट देने से तुम्हारा पुण्य प्रबल होगा, आत्मशक्ति प्रबल होगी, तब स्वत ही सब दुःख, शोक-सन्ताप आदि मिट जायेंगे। वीतराग परमात्मा या भगवान् राग-द्वेषरहित हैं। वे किसी को कुछ देते-लेते नही। और देवी-देव भी व्यक्ति के पुण्य प्रबल न हो या अशुभकर्म का उदय हो तो कुछ भी परिवर्तन नही कर सकते। इसीलिए अगर निकाचित रूप से कर्म न बधा हो तो साधक स्वयमेव अपने अशुभकर्म को जप, तप, व्रत, नियम, ध्यान, मौन, स्वाध्याय आदि द्वारा शुभ मे परिवर्तित कर सकता है।

कर्म की शक्ति गहन है। सारे विश्व मे संसारी प्राणी कर्माधीन हैं। राजा हो, चक्रवर्ती हो, वैज्ञानिक हो या राष्ट्रपति हो, उच्च साधक हो या तीर्थंकर हो, कर्मों के अटल नियम से कोई भी बच नही सका, न बच सकता है। सभी को अपने-अपने पूर्वकृत कर्मानुसार फल भोगना पडता है।

प्रत्येक आत्मा के साथ राग-द्वेष या कषायादि के कारण क्षीर-नीर की तरह कर्मपुद्गल एकीभूत होकर रहते हैं। कर्म जब तक विद्यमान रहते हैं, तब तक जीव नाना गतियो और योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। कर्म के कारण व्यक्ति भयकर कष्ट पाते हैं, नाना दु ख उठाते हैं। विविध शरीर धारण करते हैं। ससार मे सभी प्रकार की विषमताएँ, अशान्ति कर्मों के कारण हैं।

इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन के अन्त मे कर्म का तत्त्वज्ञान बताकर शास्त्रकार आते हुए कर्मों का निरोध (संवर) करने तथा पूर्वकृत कर्मों का क्षय करने की प्रेरणा देते हैं।

कम्मपयडी : तेत्तीसइमं अज्झयणं

(कर्मप्रकृति तेतीसवां अध्ययन)

कर्मो का बन्ध और प्रकार—

मूल—अट्ठ-कम्माइ वोच्छामि, आणुपुव्वि जहक्कम।
जेहिं बद्धो अय जीवो, ससारे परिवत्तए ॥१॥
नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरण तहा।
वेयणिज्ज तहा मोह, आउकम्म तहेव य ॥२॥
नाम-कम्म च गोयं च अतराय तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

पद्यानु०—मैं अष्टकर्म का क्रमिक करूंगा, अनुपूर्वी से विश्लेषण।
जिनसे बधकर यह जीव यहां, अनुपल करता है परिवर्तन ॥१॥
ज्ञानावरण और दर्शन-, आवारक कर्म भयकर है।
है वेदनीय और मोह भुलाता, आयुष्य बन्धनकारक है ॥२॥
नाम और है गोत्रकर्म, फिर अन्तराय वैसे जानो।
इन आठो कर्मो का ऐसे ही, समास मे वर्णन मानो ॥३॥

अन्वयार्थ—(मैं), आणुपुव्वि—आनुपूर्वी से, जहक्कम—क्रमश, अट्ठकम्माइ—आठ कर्मो का, वोच्छामि—प्रतिपादन करूंगा, जेहिं बद्धो—जिन (कर्मो) से बँधा हुआ, अय—यह, जीवो—जीव, ससारे—(चतुर्गतिक) ससार मे, परिवत्तए—पर्यटन करता है ॥१॥

नाणस्सावरणिज्ज—ज्ञान का आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म, तहा—तथा दसणावरण—दर्शनावरणीय, य—और, वेयणिज्ज—वेदनीय कर्म, तहा—तथा, मोह—मोहनीय कर्म, तहेव—तथा, आउकम्म—आयुकर्म, य—एव, नामकम्म—नामकर्म, गोय च—और गोत्रकर्म, तहेव य—उसी प्रकार, अतराय—

अन्तराय कर्म, एव—इस प्रकार, एयाइ—ये, कम्माइ—कर्म, समासओ उ—संक्षेप मे तो, अट्ठेव—आठ ही है (विस्तार की अपेक्षा से जितने जीव है, उतने ही कर्म है) ॥२-३॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगो के निमित्त से जिन्हे जीव करता (बाँधता) है, उन्हे कर्म कहते हैं। पूर्वानुपूर्वी के क्रमानुसार कर्मों की आठ मूलप्रकृतियो का नामनिर्देश यहाँ किया गया है।

बन्ध दो प्रकार का है—द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। रस्सी आदि से बाँधना या बन्धन मे डालना द्रव्यबन्ध है और राग-द्वेषादि के कारण कर्मों के साथ बँधना भावबन्ध है। कर्मों का बन्ध होने से जीव नाना गतियो और योनियो मे परिभ्रमण करता है।

आठ कर्मों का स्वरूप—इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरणीय—जिस प्रकार बादल सूर्य को आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत कर देता है, वह ज्ञानावरणीय है।

(२) दर्शनावरणीय—जैसे, वस्त्र नेत्रो की देखने की शक्ति को आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा के दर्शनगुण को आवृत कर देता है, वह दर्शनावरणीय है।

(३) वेदनीय—जिस कर्म से आत्मा सुख-दुख का वेदन (अनुभव) करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

(४) मोहनीय—जिस प्रकार मदिरा के नशे मे चूर मनुष्य अपने कर्त्तव्याकर्तव्य का भान भूल जाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव अपने वास्तविक स्वरूप को जानता हुआ भी मूढ बनकर भान भूल जाता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

(५) आयुष्यकर्म—जैसे कारागार मे पडा हुआ कैदी नियत समय से पहले नही छूट सकता, वैसे ही जिस कर्म के प्रभाव से जीव अपनी नियत भवस्थिति (आयु) को पूर्ण किये बिना ससार से छूट नही सकता, उसे आयुकर्म कहते हैं।

(६) नामकर्म—जैसे चित्रकार नाना प्रकार के छोटे-बडे, सुन्दर-असुन्दर चित्र बनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के ;प्रभाव से शरीर एव अगोपागो की नाना प्रकार की रचना होती हो, उसे नामकर्म कहते हैं।

(७) गोत्रकर्म—जैसे कुम्हार मिट्टी से अच्छे-बुरे सभी प्रकार के बर्तन आदि बनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव को अच्छे-बुरे, उच्च-नीच कुल या पद की प्राप्ति हो, उसे गोत्रकर्म कहते है।

(८) अन्तरायकर्म—जिस प्रकार राजा द्वारा भडारी को किसी को दान देने का आदेश दे दिये जाने पर भी भण्डारी उस व्यक्ति को दान देने मे अन्तराय (विघ्न) रूप बन जाता है, उसी प्रकार जो कर्म जीव के लिए दानादि मे विघ्नकर्ता बनता है, वह अन्तराय कर्म है।

आठ कर्मों की क्रम-सापेक्षता—समस्त जीवो को, जो जन्म-मरणव्यथा हो रही है, वह ज्ञान दर्शनावरणीय कर्मोदयजनित है। इस वेदना को अनुभव करता हुआ भी जीव मोहग्रस्त होने के कारण विरति या विरक्ति प्राप्त नही कर पाता। जब तक अविरत अवस्था मे रहता है, तब तक देव, मनुष्य, तिर्यञ्च या नरक-आयु मे वर्तमान रहता है। बिना नाम के जन्म और शरीर व अगोपागो की रचना नही होती। जितने भी जन्मधारी प्राणी हैं, वे सब गोत्र से बद्ध हैं। ससारी जीवो को सुख के लेश का जो अनुभव होता है, वह सब अन्तराय-सहित है। इसलिए ये आठो ही कर्म क्रमश परस्पर सापेक्ष हैं।

आठ कर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ

ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—

मूल—नाणावरण पचविह, सुय आभिणिबोहिय।
ओहिनाणं च तइय, मणनाण च केवल ॥४॥

निद्दा तहेव पयला, निद्दा-निद्दा य पयल-पयला य।
तत्तो य थीण-गिद्धी उ, पचमा होइ नायव्वा ॥५॥

चक्खुमचक्खु-ओहिस्स, दसणे केवले य आवरणे।
एव तु नव-विगप्प, नायव्व दसणावरणं ॥६॥

पद्यानु०—हैं ज्ञानावरण के पाच भेद, आभिनिबोधिक श्रुतज्ञान यहाँ।
अवधि और मन पर्यव जानो, केवल का रोके ज्ञान यहाँ ॥४॥

निद्रा यो ही निद्रा-निद्रा, प्रचला दर्शन को रोक रहे।
प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, ये आवारक विघ्न पच कहे ॥५॥

चक्षु अचक्षु अवधि एव, केवल-दर्शन के आच्छादन।
इस तरह जान लो नौ विकल्प, यह कर्म दूसरे का वर्णन ॥६॥

अन्वयार्थ—नाणावरण—ज्ञानावरणीय कर्म, पंचविहं—पाँच प्रकार का है, सुयं—श्रुत (ज्ञानावरण), आभिणिबोहियं—आभिनिबोधिक (ज्ञानावरण), तइयं ओहिनाणं—तीसरा अवधिज्ञान (आवरण), मणनाणं—मन (पर्याय) ज्ञान (-आवरण), च—और, केवलं—केवल (-ज्ञानावरण) ॥४॥

निद्दा—निद्रा, तहेव—तथा, निद्दानिद्दा—निद्रा-निद्रा, य—और, पयला—प्रचला, य—तथा, पयल-पयला—प्रचला-प्रचला, तत्तो य—और तत्पश्चात्, थीणगिद्धी उ पंचमा—पाँचवी स्त्यानगृद्धि (निद्रा), होइ—होती है (इस प्रकार), नायव्वा—जानना चाहिए ॥५॥

चक्खु—चक्षु (दर्शनावरण), अचक्खु—अचक्षु (दर्शनावरण), ओहिस्स दसणे—अवधि के दर्शन मे, य—और, केवले आवरणे—केवल (दर्शन) मे आवरण रूप, एव—इस प्रकार (ये चार और पूर्वोक्त पाँच प्रकार की निद्रा), नव-विगप्पं तु—नौ विकल्प-भेद, दसणावरणं—दर्शनावरण के, नायव्वं—समझने चाहिए ॥६॥

विशेषार्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के बन्ध के पांच-पांच कारण—(१) ज्ञान और ज्ञानी के तथा दर्शन और दर्शनवान् के दोष निकालना, (२) तथा उनका निह्नव, (३) मात्सर्य, (४) आशातना और (५) उपघात करना।[1]

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ और उनका स्वरूप—ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ पाँच है।

(१) आभिनिबोधिक-ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा सम्मुख आये हुए पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे आभिनिबोधिक ज्ञान या मति-ज्ञान कहते हैं। उसको आवृत करने वाला कर्म आभिनिबोधिक ज्ञानावरण है। इसके २८ भेद हैं।

(२) श्रुतज्ञानावरण—शास्त्रो या ग्रन्थो के वाचने, पढने या सुनने से जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं, अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द और अर्थ की जिसमे पर्यालोचना होती हो, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। उसका आच्छादक कर्म श्रुत-ज्ञानावरण है। इसके उत्तर भेद १४ हैं।

---

१ तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयो।

—तत्त्वार्थ सूत्र ६/११

(३) अवधि-ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना अवधि, अर्थात्—मर्यादा को लिये हुए रूपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते है। उसको आच्छादन करने वाले कर्म का नाम अवधि-ज्ञानावरण है। इसके ६ उत्तरभेद हैं।

(४) मन पर्यव-ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना कुछ मर्यादा को लिये हुए सज्ञी जीवो के मनोभावो को जान लेना मन-पर्यवज्ञान है। उस ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को मन पर्यवज्ञाना-वरण कहते हैं।

(५) केवलज्ञानावरण—विश्व के भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन समस्त पदार्थों को एक काल मे युगपत जान लेना केवलज्ञान है। ऐसे ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को केवल ज्ञानावरण कहते हैं।[1]

दर्शनावरण कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ और उनका स्वरूप—दर्शनावरण कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ नौ हैं। पाच प्रकार की निद्राएँ, यथा—(१) निद्रा—सोया हुआ जीव जरा-सी आवाज से जाग जाए, उस नीद को अथवा जिस कर्म के प्रभाव से ऐसी निद्रा आती है, उसे निद्रा कहते हैं। (२) निद्रा-निद्रा—जिस नीद मे सोया हुआ जीव बहुत जोर से चिल्लाने या हाथ से हिलाने पर बडी कठिनाई से जागता है, ऐसी नीद को, अथवा जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आए, उसे निद्रा-निद्रा कहते हैं। (३) प्रचला—जिसको खडे-खडे या बैठे बैठे नीद आती है, अथवा जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आये, उस नीद को प्रचला कहते हैं। (४) प्रचला प्रचला—चलते-फिरते जो नीद आती है, या जिस कर्म के उदय से ऐसी नीद आए, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। (५) स्त्यानगृद्धि—जो जीव दिन या रात मे विचारे हुए कार्य को नीद ही नीद मे कर डालता है। उसकी ऐसी नीद को अथवा जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आए उसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं। यह निद्रा राग-द्वेष के उदय की अतीव तीव्रता होती है, तभी होती है। इस निद्रा वाला जीव मरकर अवश्य ही नरक मे जाता है।[2]

चक्षुदर्शनावरणादि चार—(६) चक्षुदर्शनावरण—आँख के द्वारा पदार्थों के

---

१ (क) कर्मग्रन्थ भाग १, (ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा २ पृ ३१३

२ वही, भा २ पृ ३१४

सामान्य धर्म का जो ज्ञान होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं, उस सामान्य-ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है।

(७) **अचक्षु-दर्शनावरण**—आँख के सिवाय शेष चार इन्द्रियो और मन से पदार्थों के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं, उसके आच्छादक कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

(८) **अवधि-दर्शनावरण**—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही इस आत्मा को रूपी पदार्थों के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। उसे आवृत करने वाले कर्म का नाम अवधि-दर्शनावरण है।

(९) **केवलदर्शनावरण**—ससार के सम्पूर्ण पदार्थों का सामान्य रूप से जो प्रतिभास होता है, उसे केवलदर्शन कहते है। उसके आवरक कर्म को केवलदर्शनावरण कहा हैं।[1]

वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ—

मूल—वेयणियं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहूभेया, एमेव असायस्स वि ॥७॥

पद्यानु०—हैं वेदनीय के युगल भेद, सुख और असाता कहलाता।
साता के विविध भेद, ऐसे, दुःख भी नानाविध का होता ॥७॥

अन्वयार्थ—वेयणियं पि—वेदनीय कर्म भी, दुविहं—दो प्रकार का, आहियं—कहा है, सायं च—सातारूप और, असायं च—असातारूप, सायस्स उ—साता (वेदनीय) के, बहू भेया—बहुत-से भेद है, एमेव—इसी प्रकार, असायस्स वि—असातावेदनीय के भी (अनेक भेद है) ॥७॥

विशेषार्थ—जिस कर्म के द्वारा सुख-दुख का वेदन—अनुभव किया जाए, उसे वेदनीय कहते हैं। इसके मुख्य दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय मधुलिप्त असिधारा को चाटने के तुल्य है, जबकि असातावेदनीय खड्गधारा से जीभ कटने के समान है। जिस कर्म के प्रभाव से जीव को विषय-सुखो की अनुभूति होती है, उसे सातावेदनीय

---

१ (क) कर्मग्रन्थ भाग १
(ख) उत्तरा० (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ० ३१५

और जिस कर्म के उदय से जीव को इष्ट-वियोग-अनिष्ट-सयोगजनित दुखो की अनुभूति होती है, उसे असातावेदनीय कहते है।[1]

सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के हेतु—भूत अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा-सराग-सयम आदि योग, क्षान्ति एव शौच ये सातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं। स्व-पर को दु ख, शोक, सन्ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन, ये असातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं।[2]

मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियां—

मूल—मोहणिज्जं पि दुविह, दसणे चरणे तहा।
दसणे तिविह, वुत्त चरणे दुविह भवे ॥८॥

सम्मत्तं चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे ॥९॥

चरित्त-मोहण कम्मं दुविह तु वियाहिय।
कसाय-मोहणिज्ज च, नोकसाय तहेव य ॥१०॥

सोलह-विह-भेएण, कम्म तु कसायज।
सत्तविहं नवविह वा, कम्म नोकसायज ॥११॥

पद्यानु०—हैं मोहनीय के मुख्य भेद, दर्शन चारित्र दूषित करते।
दर्शन को त्रिविध कहा प्रभु ने, चारित्र युगलविध है कहते ॥८॥

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भेद, तीजा सम्यग्-मिथ्या जानो।
ये तीन प्रकृतियाँ बतलाई, दर्शन की मोहन पहचानो ॥९॥

चारित्र मलिन करने वाला, है कर्म युगल-विध बतलाया।
है कषाय और नोकषाय, युग चरण-मोह प्रभु ने गाया ॥१०॥

हैं सोलह भेद कषायो के, जिनवर आगम मे बतलाते।
नो-कषाय के भेद सात, या नौ हास्यादिक कहलाते ॥११॥

---

१ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज) भा ३, पृ ३१९

२ (क) दु ख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभयस्थानि असद्वेद्यस्य।
(ख) भूत-व्रत्यनुकम्पादान सराग-सयमादियोग क्षान्ति शौचमिति सद्वेद्यस्य।
(ग) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका भा ४, पृ. ५८३

अन्वयार्थ—मोहणिज्ज पि— मोहनीय कर्म भी, दुविह—दो प्रकार (का कहा गया है—) दसणे—दर्शन मे, तहा—तथा, चरणे—चारित्र मे, अर्थात्—दर्शन-मोहनीय और चारित्रमोहनीय। दसणे—दर्शन मे (दर्शन-मोहनीय) तिविह—तीन प्रकार का, वुत्त —कहा गया है, (और) चरणे—चारित्र मे (चारित्र मोहनीय), दुविह—दो प्रकार का, भवे—होता है ॥८॥

सम्मत्त—सम्यक्त्व (मोहनीय), मिच्छत्त—मिथ्यात्व (मोहनीय) एव—और, सम्मा-मिच्छत्त —सम्यक्-मिथ्यात्व (मिश्र-मोहनीय), एयाओ—ये, तिन्नि—तीन, पयडीओ—प्रकृतियाँ, चेव—ही, दसणे मोहणिज्जस्स—दर्शन (मे)—मोहनीय की (है) ॥९॥

चारित्त-मोहण—चारित्र-मोहनीय, कम्म तु—कर्म तो, दुविह—दो प्रकार का, वियाहिय—कहा गया है। (यथा—), कसाय मोहणिज्ज तु—कषाय-मोहनीय, तहेव य—और इसी प्रकार, नोकसाय—नोकषाय-मोहनीय ॥१०॥

कसायज—कषाय (मोहनीय) जनित, कम्म तु—कर्म, सोलस-विह-भेएण—भेद से सोलह प्रकार का है (तथा) नोकसायज—नोकषाय-(मोहनीय) जनित, कम्म—कर्म, सत्तविह—सात प्रकार का है, वा—अथवा, नवविह—नौ प्रकार का है ॥११॥

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म स्वरूप और प्रकार—जो कर्म आत्मा के स्व-पर-विवेक मे बाधा पहुँचाता है, या जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करता है, वह मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय।

दर्शनमोहनीय—तत्त्वार्थश्रद्धान या तत्त्वाभिरुचि को दर्शन कहते है। यह आत्मा का निजी गुण है, इसके (दर्शन के) घात करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व-मोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय, और मिश्र-मोहनीय। मोहनीयकर्म के पुद्गलो का जितना अश शुद्ध है, वह शुद्धदलिक है, वही सम्यक्त्व-मोहनीय है, जिसके उदय से तत्त्वार्थ-श्रद्धान का विघात नही होता। मिथ्यात्व मोहनीय अशुद्ध दलिकरूप है, जिसके उदय से अतत्त्वो मे तत्त्वबुद्धि होती है। सम्यग्-मिथ्यात्व (मिश्रमोहनीय) शुद्धाशुद्ध दलिकरूप है, जिसके उदय से जीव का दोनो प्रकार का मिश्रित श्रद्धान होता है।

चारित्रमोहनीय—जिसके उदय से जीव चारित्र के विषय मे मूढ (मोहित या विवेकविकल) हो जाए, उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं। इस कर्म का उदय होने पर चारित्र का फल जान करके भी व्यक्ति चारित्र को

अगीकार नही कर सकता। चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—कषाय-मोहनीय और नोकषाय-मोहनीय। इन्हे कषायज मोह और नोकषायज मोह भी कहते हैं। कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोधादि कषायो के रूप मे जो वेदन (अनुभव) किया जाता है, उसे कषायमोहनीय कहते हैं। और कषायो को उत्तेजित करने वाले या कषायो के सहचारी हास्यादि के रूप मे जो वेदन किया जाता है, उसे नोकषाय मोहनीय कहते हैं।[1] क्रोधादि प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन रूप से चार-चार भेद हैं। यो ४×४ =१६ भेद कषायमोहनीय के हुए। नोकषायमोहनीय के ९ भेद ये हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सक वेद। तीनो वेदो को सामान्य रूप से एक मानने पर नोकषायमोहनीय के ७ भेद होते हैं। यो दर्शनमोहनीय के ३, और चारित्र मोहनीय के १६+९ =२५, यो कुल मिलाकर २८ भेद मोहनीयकर्म के हुए। ये ही मोहनीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ हैं।[2]

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय-कर्म-बन्धन के हेतु—केवलज्ञानी, श्रुत, सघ, धर्म, एव देव का अवर्णवाद (निन्दा करना) दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध का कारण है। कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्म-परिणाम चारित्र-मोहनीयकर्म-बन्ध का कारण है।[3]

सम्यक्त्व-मोहनीय के विषय मे शका-समाधान—सम्यक्त्व-मोहनीय का शब्दश अर्थ होता है—जो सम्यक्त्व मे मोह अर्थात् मूढता उत्पन्न करे, अर्थात्—दर्शन-श्रद्धान मे रुकावट पैदा करे, किन्तु यहाँ उसका अर्थ किया गया है, जो कर्म शुद्ध दलिक होने के कारण आत्मा के दर्शनगुण=तत्त्वार्थाभिरुचि=तत्त्वार्थश्रद्धा का विघात नही करता, इस प्रकार का विरोधाभास

---

१ 'कषाय सहवर्तित्वात्, कषाय-प्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषाय-कषायता ॥'

२ (क) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ३१७
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ५८४ से ५८७ तक।
(ग) कर्मग्रन्थ, भाग-१।

३ (क) केवलि-श्रुत-सघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।
(ख) कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्र-मोहस्य।
—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६/सू० १४-१५

क्यो ? इस शका का समाधान यह है कि सम्यक्त्व शब्द से यहाँ आत्मा के स्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का ग्रहण अभिप्रेत है। आशय यह है कि सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के प्रभाव (उदय) से इस आत्मा को सम्यक्त्व अर्थात्—क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो सकती, किन्तु जिस प्रकार चश्मा आँखो का आच्छादक होने पर भी देखने मे प्रतिबन्धक नही होता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय आत्मा के दर्शनगुण का आच्छादक होने पर भी तत्त्वाभिरुचि (जीवादि तत्त्वो पर श्रद्धा) रूप सम्यक्त्व मे बाधक नही होता, अपितु शुद्ध होने से उसमे सहायक ही होता है। परन्तु इस कर्म के प्रभाव से सम्यक्त्व मे कुछ मलिनता अवश्य आ जाती है, चल-मल-अगाढ एव सशय आदि दोष भी उत्पन्न होते हैं। जिनके कारण सूक्ष्म तत्त्वो के चिन्तन मे अनेक शकाए उत्पन्न होती हैं। यही सम्यक्त्व-मोहनीय का मोह-उत्पादन कार्य है।

आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ—

मूल—नेरइय-तिरिक्खाउ, मणुस्साउ तहेव य।
देवाउय चउत्थं तु, आउकम्म चउव्विहं ॥१२॥

पद्यानु०—हैं आयुकर्म के चार भेद, जिनवर सूत्रो मे बतलाते।
नारक-तिर्यङ्-मनुजायु तथा, चौथा देवायु हैं गाते ॥१२॥

अन्वयार्थ—आउकम्म—आयुकर्म, चउव्विह—चार प्रकार का है। (यथा), नेरइय-तिरिक्खाउ य—नैरयिक-आयु (नारकायु), और तिर्यञ्चायु, तहेव—तथैव मणुस्साउ—मनुष्यायु, तु—एव, चउत्थ—चौथा, देवाउय—देवायु।

विशेषार्थ—जिस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है, और नियत स्थिति पूर्ण होने पर आयुष्य क्षय से मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। इसकी चार उत्तरप्रकृतियाँ है—नारकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु। तात्पर्य यह है कि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चारो गतियो मे जीव आयुकर्म के सहारे ही जीवित रहता है। अर्थात्—पूर्वजन्म मे वह जितनी आयु बाध कर आता है, उसकी उतनी स्थिति वह इस जन्म मे पूरा कर लेता है। परन्तु आयुकर्म के प्रभाव से ही यह सब होता है।

चतुर्विध आयुकर्म के बन्ध हेतु—महारम्भ, महापरिग्रह; पचेन्द्रियवध और मासाहार, ये चार नरकायु-बन्ध के कारण हैं। माया एव गूढमाया तिर्यञ्च

आयुबन्ध के कारण हैं। अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव मे मृदुता एवं सरलता (ऋजुता), ये मनुष्यायु के बन्ध हेतु हैं। सराग-सयम, सयमासयम, अकाम-निर्जरा और बालतप, ये देवायु-बन्ध के कारण हैं।[1]

नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियां—

मूल—नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहूभेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

पद्यानु०—है नामकर्म के युगल-भेद, शुभ-अशुभ प्रभु ने बतलाया।
हैं भेद बहुत शुभ के ऐसे, ही अशुभनाम भी है गाया ॥१३॥

अन्वयार्थ—नामकम्मं तु—नामकर्म (मुख्यतया), दुविहं—दो प्रकार का, आहियं—कहा गया है। (यथा), सुहं—शुभ (नामकर्म), च—और, असुहं—अशुभ नामकर्म। सुहस्स उ—शुभ नामकर्म के तो, बहूभेया—बहुत भेद है, एमेव—इसी प्रकार, असुहस्स वि—अशुभ (नामकर्म) के भी (बहुत से भेद हैं।)

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से यह जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि नामो से सम्बोधित किया जाता है, उसे नामकर्म कहते हैं। इसके दो मुख्य भेद हैं—शुभनाम कर्म और अशुभनाम कर्म। यो तो जितने सासारिक छद्मस्थ जीव हैं, उतने ही दोनो नाम कर्मों के उत्तरोत्तर अनन्तभेद हो सकते हैं। तथापि मध्यम भाग की विवक्षा से शुभनामकर्म ३७ और अशुभ नामकर्म के ३४ भेद होते हैं।

नामकर्म बन्धहेतु और उत्तरभेद—अशुभ नामकर्म ,के बन्ध के कारण मुख्यतया दो हैं—योगो की वक्रता, और विसवाद, इसके विपरीत शुभ नामकर्मबन्ध के योगो की ऋजुता (सरलता) और अविसवाद, ये दो कारण हैं।

शुभनामकर्म के ३७ भेद इस प्रकार हैं—(१) मनुष्यगति, (२) देवगति, (३) पचेन्द्रिय जाति, (४) औदारिक, (५) वैक्रिय, (६) आहारक, (७) तैजस, (८) कार्मण, पचशरीर, (९) समचतुरस्र सस्थान, (१०) वज्रऋषभनाराच सहनन, (११-१२-१३) औदारिक, वैक्रिय, आहारक (१४) इन तीनो का प्रशस्त अगोपाग, (१५-१६-१७) शुभ गन्ध-रस-स्पर्श, (१८) मनुष्यानुपूर्वी, (१९) देवानुपूर्वी, (२०) अगुरुलघु, (२१) पराघात, (२२) उच्छ्‌वास, (२३) आतप, (२४) उद्योत, (२५) प्रशस्त विहायोगति (२६) त्रस, (२७) बादर, (२८) पर्याप्त, (२९) प्रत्येक, (३०) स्थिर, (३१) शुभ, (३२) सुभग,

---

१ स्थानाग सूत्र, स्थान ४

(३३) सुस्वर, (३४) आदेय, (३५) यश कीर्ति, (३६) निर्माण और (३७) तीर्थंकर नाम ये ३७ भेद शुभनामकर्म के हैं।

अशुभनामकर्म के उत्तर भेद—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३-४-५-६) एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जाति, (७-८-९-१०-११) ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सेवार्त्त, ये पाच सहनन, (१२ से १६) न्यग्रोध-परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्जक हुंड और हुंडक संस्थान। (१७ से २०) अप्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श। (२१-२२) नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, (२३) उपघात, (२४) अप्रशस्त विहायोगति, (२५) स्थावर, (२६) सूक्ष्म, (२७) साधारण, (२८) अपर्याप्त, (२९) अस्थिर, (३०) अशुभ, (३१) दुर्भग, (३२) दु स्वर, (३३) अनादेय और (३४) अयश कीर्ति, ये ३४ भेद अशुभनामकर्म के हैं।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ ३७+३४=७१ हुई। किन्ही आचार्यों के मत से नामकर्म की ९३ या १०३ उत्तर-प्रकृतियाँ है।

गोत्रकर्म की उत्तर-प्रकृतिया—

मूल—गोय कम्म दुविह, उच्च नीय च आहियं।
उच्चं अट्ठविह-होइ, एव नीय पि आहिय ॥१४॥

पद्यानु०—है गोत्रकर्म भी युगलरूप, उच्च-नीच, यो कहलाते।
फिर अष्टभेद है उच्चगोत्र के, नीच-गोत्र भी यो गाते ॥१४॥

अन्वयार्थ—गोय कम्म—गोत्र-कर्म, दुविह—दो प्रकार का, आहिय—कहा गया है। (यथा) उच्च—उच्चगोत्र, च—और, नीय—नीचगोत्र। उच्च—उच्चगोत्र, अट्ठविह—आठ प्रकार का, होइ—होता है, एव—इसी प्रकार, नीय पि नीचगोत्र भी (आठ प्रकार का) आहिय—कहा है।

विशेषार्थ—प्रज्ञापनासूत्रानुसार गोत्र शब्द का अर्थ है—जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च-नीच शब्दो से पुकारा जाता है, अथवा उच्च-नीच कुलो मे उत्पन्न होता है या जिस कर्म के उदय से आत्मा तद्रूप विपाक का वेदन करता है। इसके दो भेद हैं—उच्चगोत्र, नीचगोत्र। इन दोनो के प्रत्येक के ८-८ भेद हैं। जाति, कुल, बल, तप, लाभ, श्रुत, रूप और ऐश्वर्य, ये आठ भेद ही उच्चगोत्र के हैं, तथा ये आठ ही भेद नीचगोत्र के हैं। उच्चगोत्र वाले को ये ८ उत्तम कोटि के प्राप्त होते हैं, और नीचगोत्र वाले को ये ही ८ निकृष्ट कोटि के प्राप्त होते है। इसलिए अर्थ किया गया—जिस कर्म के उदय से जीव को उच्च जाति-कुलादि प्राप्त हो वह

आयुबन्ध के कारण है। अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव मे मृदुता एव सरलता (ऋजुता), ये मनुष्यायु के बन्ध हेतु है। सराग-सयम, सयमासयम, अकाम-निर्जरा और बालतप, ये देवायु-बन्ध के कारण हैं।[1]

नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—

मूल—नामकम्म तु दुविह, सुहमसुह च आहियं।
सुहस्स उ बहूभेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

पद्यानु०—हैं नामकर्म के युगल-भेद, शुभ-अशुभ प्रभु ने बतलाया।
हैं भेद बहुत शुभ के ऐसे, ही अशुभनाम भी है गाया ॥१३॥

अन्वयार्थ—नामकम्म तु—नामकर्म (मुख्यतया), दुविह—दो प्रकार का, आहिय—कहा गया है। (यथा), सुह—शुभ (नामकर्म), च—और, असुह—अशुभ नामकर्म। सुहस्स उ—शुभ नामकर्म के तो, बहूभेया—बहुत भेद है, एमेव—इसी प्रकार, असुहस्स वि—अशुभ (नामकर्म) के भी (बहुत से भेद है।)

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से यह जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि नामो से सम्बोधित किया जाता है, उसे नामकर्म कहते है। इसके दो मुख्य भेद हैं—शुभनाम कर्म और अशुभनाम कर्म। यो तो जितने सासारिक छद्मस्थ जीव हैं, उतने ही दोनो नाम कर्मों के उत्तरोत्तर अनन्तभेद हो सकते हैं। तथापि मध्यम भाग की विवक्षा से शुभनामकर्म ३७ और अशुभ नामकर्म के ३४ भेद होते हैं।

नामकर्म बन्धहेतु और उत्तरभेद—अशुभ नामकर्म ,के बन्ध के कारण मुख्यतया दो हैं—योगो की वक्रता, और विसवाद, इसके विपरीत शुभ नामकर्मबन्ध के योगो की ऋजुता (सरलता) और अविसवाद, ये दो कारण हैं।

शुभनामकर्म के ३७ भेद इस प्रकार हैं—(१) मनुष्यगति, (२) देवगति, (३) पचेन्द्रिय जाति, (४) औदारिक, (५) वैक्रिय, (६) आहारक, (७) तैजस, (८) कार्मण, पचशरीर, (९) समचतुरस्र सस्थान, (१०) वज्रऋषभनाराच सहनन, (११-१२-१३) औदारिक, वैक्रिय, आहारक (१४) इन तीनो का प्रशस्त अगोपाग, (१५-१६-१७) शुभ गन्ध-रस-स्पर्श, (१८) मनुष्यानुपूर्वी, (१९) देवानुपूर्वी, (२०) अगुरुलघु, (२१) पराघात, (२२) उच्छ्वास, (२३) आतप, (२४) उद्योत, (२५) प्रशस्त विहायोगति (२६) त्रस, (२७) बादर, (२८) पर्याप्त, (२९) प्रत्येक, (३०) स्थिर, (३१) शुभ, (३२) सुभग,

---

१ स्थानाग सूत्र, स्थान ४

(३३) सुस्वर, (३४) आदेय, (३५) यश कीर्ति, (३६) निर्माण और (३७) तीर्थंकर नाम ये ३७ भेद शुभनामकर्म के है।

अशुभनामकर्म के उत्तर भेद—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३-४-५-६) एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जाति, (७-८-९-१०-११) ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सेवार्त्त, ये पाच सहनन, (१२ से १६) न्यग्रोध-परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्जक हु और ण्डक सस्थान। (१७ से २०) अप्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श। (२१-२२) नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, (२३) उपघात, (२४) अप्रशस्त विहायोगति, (२५) स्थावर, (२६) सूक्ष्म, (२७) साधारण, (२८) अपर्याप्त, (२९) अस्थिर, (३०) अशुभ, (३१) दुर्भग, (३२) दु स्वर, (३३) अनादेय और (३४) अयश कीर्ति, ये ३४ भेद अशुभनामकर्म के हैं।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ ३७+३४=७१ हुई। किन्ही आचार्यों के मत से नामकर्म की ९३ या १०३ उत्तर-प्रकृतियाँ है।

गोत्रकर्म की उत्तर-प्रकृतिया—

मूल—गोय कम्म दुविह, उच्च नीय च आहियं।
उच्चं अट्ठविह-होइ, एव नीय पि आहिय ॥१४॥

पद्यानु०—है गोत्रकर्म भी युगलरूप, उच्च-नीच, यों कहलाते।
फिर अष्टभेद हैं उच्चगोत्र के, नीच-गोत्र भी यों गाते ॥१४॥

अन्वयार्थ—गोय कम्म—गोत्र-कर्म, दुविह—दो प्रकार का, आहिय—कहा गया है। (यथा) उच्च—उच्चगोत्र, च—और, नीय—नीचगोत्र। उच्च—उच्चगोत्र, अट्ठविह—आठ प्रकार का, होइ—होता है, एव—इसी प्रकार, नीय पि नीचगोत्र भी (आठ प्रकार का) आहिय—कहा है।

विशेषार्थ—प्रज्ञापनासूत्रानुसार गोत्र शब्द का अर्थ है—जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च-नीच शब्दो से पुकारा जाता है, अथवा उच्च-नीच कुलो मे उत्पन्न होता है या जिस कर्म के उदय से आत्मा तद्रूप विपाक का वेदन करता है। इसके दो भेद हैं—उच्चगोत्र, नीचगोत्र। इन दोनो के प्रत्येक के ८-८ भेद है। जाति, कुल, बल, तप, लाभ, श्रुत, रूप और ऐश्वर्य, ये आठ भेद ही उच्चगोत्र के हैं, तथा ये आठ ही भेद नीचगोत्र के हैं। उच्चगोत्र वाले को ये ८ उत्तम कोटि के प्राप्त होते हैं, और नीचगोत्र वाले को ये ही ८ निकृष्ट कोटि के प्राप्त होते हैं। इसलिए अर्थ किया गया—जिस कर्म के उदय से जीव को उच्च जाति-कुलादि प्राप्त हो वह

आयुबन्ध के कारण है। अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव मे मृदुता एवं सरलता (ऋजुता), ये मनुष्यायु के बन्ध हेतु है। सराग-सयम, सयमासयम, अकाम-निर्जरा और बालतप, ये देवायु-बन्ध के कारण हैं।[1]

नामकर्म की उत्तर-प्रकृतिया—

मूल—नामकम्म तु दुविह, सुहमसुह च आहियं।
सुहस्स उ बहूभेया, एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

पद्यानु०—हैं नामकर्म के युगल-भेद, शुभ-अशुभ प्रभु ने बतलाया।
हैं भेद बहुत शुभ के ऐसे, ही अशुभनाम भी है गाया ॥१३॥

अन्वयार्थ—नामकम्म तु—नामकर्म (मुख्यतया), दुविह—दो प्रकार का, आहिय—कहा गया है। (यथा), सुह—शुभ (नामकर्म), च—और, असुह—अशुभ नामकर्म। सुहस्स उ—शुभ नामकर्म के तो, बहूभेया—बहुत भेद है, एमेव—इसी प्रकार, असुहस्स वि—अशुभ (नामकर्म) के भी (बहुत से भेद है।)

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से यह जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि नामो से सम्बोधित किया जाता है, उसे नामकर्म कहते हैं। इसके दो मुख्य भेद हैं—शुभनाम कर्म और अशुभनाम कर्म। यो तो जितने सासारिक छद्मस्थ जीव है, उतने ही दोनो नाम कर्मों के उत्तरोत्तर अनन्तभेद हो सकते हैं। तथापि मध्यम भाग की विवक्षा से शुभनामकर्म ३७ और अशुभ नामकर्म के ३४ भेद होते हैं।

नामकर्म बन्धहेतु और उत्तरभेद—अशुभ नामकर्म ,के बन्ध के कारण मुख्यतया दो हैं—योगो की वक्रता, और विसवाद, इसके विपरीत शुभ नामकर्मबन्ध के योगो की ऋजुता (सरलता) और अविसवाद, ये दो कारण हैं।

शुभनामकर्म के ३७ भेद इस प्रकार हैं—(१) मनुष्यगति, (२) देवगति, (३) पचेन्द्रिय जाति, (४) औदारिक, (५) वैक्रिय, (६) आहारक, (७) तैजस, (८) कार्मण, पचशरीर, (९) समचतुरस्र सस्थान, (१०) वज्रऋषभनाराच सहनन, (११-१२-१३) औदारिक, वैक्रिय, आहारक (१४) इन तीनो का प्रशस्त अगोपाग, (१५-१६-१७) शुभ गन्ध-रस-स्पर्श, (१८) मनुष्यानुपूर्वी, (१९) देवानुपूर्वी, (२०) अगुरुलघु, (२१) पराघात, (२२) उच्छ्वास, (२३) आतप, (२४) उद्योत, (२५) प्रशस्त विहायोगति (२६) त्रस, (२७) बादर, (२८) पर्याप्त, (२९) प्रत्येक, (३०) स्थिर, (३१) शुभ, (३२) सुभग,

---

१ स्थानाग सूत्र, स्थान ४

(३३) सुस्वर, (३४) आदेय, (३५) यश कीर्ति, (३६) निर्माण और (३७) तीर्थंकर नाम ये ३७ भेद शुभनामकर्म के हैं।

अशुभनामकर्म के उत्तर भेद—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३-४-५-६) एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जाति, (७-८-९-१०-११) ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलिका और सेवार्त्त, ये पाच सहनन, (१२ से १६) न्यग्रोध-परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्जक हु और हुडक संस्थान। (१७ से २०) अप्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श। (२१-२२) नरकानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी, (२३) उपघात, (२४) अप्रशस्त विहायोगति, (२५) स्थावर, (२६) सूक्ष्म, (२७) साधारण, (२८) अपर्याप्त, (२९) अस्थिर, (३०) अशुभ, (३१) दुर्भग, (३२) दु स्वर, (३३) अनादेय और (३४) अयश कीर्ति, ये ३४ भेद अशुभनामकर्म के हैं।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ ३७+३४=७१ हुई। किन्ही आचार्यों के मत से नामकर्म की ९३ या १०३ उत्तर-प्रकृतियाँ है।

गोत्रकर्म की उत्तर-प्रकृतिया—

मूल—गोय कम्म दुविह , उच्च नीय च आहियं।
उच्च अट्ठविह -होइ, एव नीय पि आहिय ॥१४॥

पद्यानु०—है गोत्रकर्म भी युगलरूप, उच्च-नीच, यो कहलाते।
फिर अष्टभेद हैं उच्चगोत्र के, नीच-गोत्र भी यो गाते ॥१४॥

अन्वयार्थ—गोय कम्म—गोत्र-कर्म, दुविह—दो प्रकार का, आहिय—कहा गया है। (यथा) उच्च—उच्चगोत्र, च—और, नीय—नीचगोत्र। उच्च—उच्चगोत्र, अट्ठविह—आठ प्रकार का, होइ—होता है, एव—इसी प्रकार, नीय पि नीचगोत्र भी (आठ प्रकार का) आहिय—कहा है।

विशेषार्थ—प्रज्ञापनासूत्रानुसार गोत्र शब्द का अर्थ है—जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च-नीच शब्दो से पुकारा जाता है, अथवा उच्च-नीच कुलो मे उत्पन्न होता है या जिस कर्म के उदय से आत्मा तद्रूप विपाक का वेदन करता है। इसके दो भेद हैं—उच्चगोत्र, नीचगोत्र। इन दोनो के प्रत्येक के ८-८ भेद है। जाति, कुल, बल, तप, लाभ, श्रुत, रूप और ऐश्वर्य, ये आठ भेद ही उच्चगोत्र के हैं, तथा ये आठ ही भेद नीचगोत्र के हैं। उच्चगोत्र वाले को ये ८ उत्तम कोटि के प्राप्त होते हैं, और नीचगोत्र वाले को ये ही ८ निकृष्ट कोटि के प्राप्त होते है। इसलिए अर्थ किया गया—जिस कर्म के उदय से जीव को उच्च जाति-कुलादि प्राप्त हो वह

उच्च गोत्र है, और जिस कर्म के उदय से जीव को नीच जाति-कुलादि प्राप्त हो, वह नीचगोत्र है।[1]

उच्चनीचगोत्रकर्मबन्ध के हेतु—जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करने से उच्चगोत्र का बन्ध होता है, जबकि जातिमद आदि आठ प्रकार का मद करने से नीचगोत्र का बन्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार परनिन्दा, आत्म-प्रशसा, दूसरे के सद्गुणो को ढकना और असद्गुणो को प्रकट करना, नीचगोत्रबन्ध के हेतु हैं, इसके विपरीत, परप्रशसा, आत्म-निन्दा, नम्रवृत्ति और निरभिमानता, ये उच्चगोत्रकर्म-बन्ध के हेतु हैं।[2]

अन्तरायकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—

मूल—दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमतराय, समासेण वियाहियं ॥१५॥

पद्यानु०—दान लाभ उपभोग भोग, और वीर्य प्रकट ना हो पाता।
अन्तराय के पाच भेद, सत्कर्म नही करने देता ॥१५॥

अन्वयार्थ—अतराय—अन्तरायकर्म, समासेण—सक्षेप मे, पचविह—पाच प्रकार का, वियाहिय—कहा गया है। (यथा-) दाणे—दान मे (अन्तराय), लाभे—लाभ मे (अन्तराय), भोगे य—और भोग मे (अन्तराय) य एव, उवभोगे—उपभोग मे (अन्तराय), तहा—तथा, वीरिए—वीर्य मे (अन्तराय)।

विशेषार्थ—अन्तरायकर्म स्वरूप और प्रकार—जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य प्रकट करने की शक्तियो का घातक हो, इनमे विघ्न डालता हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसके सक्षेप मे पाच भेद हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

(१) दानान्तराय—दान की वस्तुएँ विद्यमान हो, योग्य पात्र भी उपस्थित हो, दान का फल भी सुविज्ञात हो, फिर भी [illegible] कर्म के उदय से दान देने का उत्साह न हो, उसे दानान्तराय कर्म [illegible] २) लाभान्तराय—दाता उदार हो, दानयोग्य वस्तुएँ भी पास [illegible] न। मे

1 (क) प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरिवृत्ति, पद २३, सूत्र २८८।
(ख) स्थानाग वृत्ति स्था २

2 परात्मनिन्दा-प्रशसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।
तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेको चोत्तरस्य।

भी कुशलता हो, फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से लाभ न होना, अर्थात् सभी योग्य सामग्री होते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होना, लाभान्तराय कर्म है। (३) भोगान्तराय—भोग के साधन विद्यमान हो, तथा उन भोग्य वस्तुओ का त्याग भी न हो, उनसे विरक्ति भी न हो, फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से भोग्य (एक बार भोगने योग्य—आहारादि) पदार्थों को भोग न सकना भोगान्तराय कर्म है। (४) उपभोगान्तराय—उपभोग्य (बार-बार भोगने योग्य वस्त्रादि) पदार्थ पास मे हो, उनका त्याग भी न हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य वस्तु का उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय है। (५) वीर्यान्तराय—वीर्य कहते हैं—आत्मसामर्थ्य, मनोबल एव शक्ति को। जिस कर्म के प्रभाव से जीव बलवान, शक्तिशाली और युवा होता हुआ भी साधारण-सा कार्य न कर सके, वहाँ वीर्यान्तराय कर्म है। इसके तीन भेद हैं—बालवीर्यान्तराय, पण्डितवीर्यान्तराय और बाल पण्डितवीर्यान्तराय।

कर्मों के प्रदेशाग्र क्षेत्र, काल और भाव की चर्चा—

मूल—

(प्रदेशाग्र) एयाओ मूल-पयडीओ, उत्तराओ य आहिया।
पएसग्ग खेत्त-काले य, भाव चादुत्तर सुण ॥१६॥
सव्वेसि चेव कम्माण, पएसग्गमणतग।
गठिय-सत्ताईयं, अतो सिद्धाण आहियं ॥१७॥
(क्षेत्र) सव्वजीवा ण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्व सव्वेण बद्धग ॥१८॥
(काल) उदही-सरिस-नामाण, तीसई कोडि-कोडिओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥१९॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥२०॥
उदही-सरिस-नामाण, सत्तरिं कोडि-कोडिओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥२१॥
तेत्तीस-सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२२॥
उदही-सरिस-नामाण, वीसई कोडि-कोडिओ।
नाम-गोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ-मुहुत्ता जहन्निया ॥२३॥
(भाव) सिद्धाणऽणतभागो य, अणुभागा हवति उ।
सव्वेसु वि पएसग्ग, सव्वजीवेसुऽइच्छिय ॥२४॥

उच्च गोत्र है, और जिस कर्म के उदय से जीव को नीच जाति-कुलादि प्राप्त हो, वह नीचगोत्र है।[1]

उच्चनीचगोत्रकर्मबन्ध के हेतु—जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करने से उच्चगोत्र का बन्ध होता है, जबकि जातिमद आदि आठ प्रकार का मद करने से नीचगोत्र का बन्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार परनिन्दा, आत्म-प्रशसा, दूसरे के सद्गुणो को ढकना और असद्गुणो को प्रकट करना, नीचगोत्रबन्ध के हेतु हैं, इसके विपरीत, परप्रशसा, आत्म-निन्दा, नम्रवृत्ति और निरभिमानता, ये उच्चगोत्रकर्म-बन्ध के हेतु है।[2]

अन्तरायकर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ—

मूल—दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा।
पचविहमतराय, समासेण वियाहियं ॥१५॥

पद्यानु०—दान लाभ उपभोग भोग, और वीर्य प्रकट ना हो पाता।
अन्तराय के पाच भेद, सत्कर्म नही करने देता ॥१५॥

अन्वयार्थ—अतराय—अन्तरायकर्म, समासेण—सक्षेप मे, पचविह—पाच प्रकार का, वियाहिय—कहा गया है। (यथा-) दाणे—दान मे (अन्तराय), लाभे—लाभ मे (अन्तराय), भोगे य—और भोग मे (अन्तराय) य एव, उवभोगे—उपभोग मे (अन्तराय), तहा—तथा, वीरिए—वीर्य मे (अन्तराय)।

विशेषार्थ—अन्तरायकर्म स्वरूप और प्रकार—जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य प्रकट करने की शक्तियो का घातक हो, इनमे विघ्न डालता हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। इसके संक्षेप मे पाच भेद हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

(१) **दानान्तराय**—दान की वस्तुएँ विद्यमान हो, योग्य पात्र भी उपस्थित हो, दान का फल भी सुविज्ञात हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से दान देने का उत्साह न हो, उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं। (२) **लाभान्तराय**—दाता उदार हो, दानयोग्य वस्तुएँ भी पास मे हो, तथा याचना मे

---

१ (क) प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरिवृत्ति, पद २३, सूत्र २८८।
(ख) स्थानाग वृत्ति स्था २

२ परात्मनिन्दा-प्रशसे सदसद्गुणाच्छादने चोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेको चोत्तरस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२४-२५

भी कुशलता हो, फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से लाभ न होना, अर्थात् सभी योग्य सामग्री होते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होना, लाभान्तराय कर्म है। (३) भोगान्तराय—भोग के साधन विद्यमान हो, तथा उन भोग्य वस्तुओ का त्याग भी न हो, उनसे विरक्ति भी न हो, फिर भी जिस कर्म के प्रभाव से भोग्य (एक बार भोगने योग्य—आहारादि) पदार्थों को भोग न सकना भोगान्तराय कर्म है। (४) उपभोगान्तराय—उपभोग्य (बार-बार भोगने योग्य वस्त्रादि) पदार्थ पास मे हो, उनका त्याग भी न हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य वस्तु का उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय है। (५) वीर्यान्तराय—वीर्य कहते हैं—आत्मसामर्थ्य, मनोबल एव शक्ति को। जिस कर्म के प्रभाव से जीव बलवान, शक्तिशाली और युवा होता हुआ भी साधारण-सा कार्य न कर सके, वहाँ वीर्यान्तराय कर्म है। इसके तीन भेद हैं—बालवीर्यान्तराय, पण्डितवीर्यान्तराय और बाल पण्डितवीर्यान्तराय।

कर्मों के प्रदेशाग्र क्षेत्र, काल और भाव की चर्चा—

मूल—

(प्रदेशाग्र) एयाओ मूल-पयडीओ, उत्तराओ य आहिया।
पएसग्ग खेत्त-काले य, भाव चाउत्तर सुण ॥१६॥
सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणतग।
गठिय-सत्ताईयं, अतो सिद्धाण आहियं ॥१७॥
(क्षेत्र) सव्वजीवा ण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्व सव्वेण बद्धग ॥१८॥
(काल) उदही-सरिस-नामाण, तीसई कोडि-कोडिओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥१९॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥२०॥
उदही-सरिस-नामाण, सत्तरिं कोडि-कोडिओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥२१॥
तेत्तीस-सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥२२॥
उदही-सरिस-नामाण, वीसई कोडि-कोडिओ।
नाम-गोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ-मुहुत्ता जहन्निया ॥२३॥
(भाव) सिद्धाणऽणतभागो य, अणुभागा हवति उ।
सव्वेसु वि पएसग्ग, सव्वजीवेसुऽइच्छियं ॥२४॥

पद्यानुवाद—(प्रदेशाग्र) ये मूल और उत्तरविध से, कर्मों की बात कही सारी।
अब प्रदेशाग्र और क्षेत्र-काल, भावो की कथा सुनो सारी ॥१६॥
सब ही कर्मों के प्रदेशाग्र हैं, अनन्त ग्रहण के योग्य यहाँ।
ग्रन्थिक सत्वो से बढ अनन्त, सिद्धो से न्यून अनन्त यहाँ ॥१७॥
(क्षेत्र) सग्रहयोग्य कर्म जीवो के, सभी दिशा मे सस्थित है।
सभी प्रदेशो मे होते, ये कर्म पूर्ण सम्बन्धित हैं ॥१८॥
(काल) तीस कोटि-कोटि सागर, परिमित स्थिति परम कही इनकी।
अन्तर्मुहूर्त की स्थिति होती, न्यूनातिन्यून इन कर्मों की ॥१९॥
दोनो ही आवरणो की, और वेदनीय की स्थिति जानो।
फिर विघ्नकर्मकर भी इतना ही, कायस्थिति को पहचानो ॥२०॥
मोहनीय की परम स्थिति, है सत्तर कोटि-कोटि सागर।
न्यूनातिन्यून अन्तर्मुहूर्त, का काल कहा है, मतिसागर ॥२१॥
सागर तेतीस की उपमा से, उत्कृष्ट स्थिति है आयु की।
अन्तर्मुहूर्त है अल्पकाल, बतलाई ज्ञानी ने जग की ॥२२॥
अब नाम-गोत्र की परम स्थिति, है बीस-बीस कोटिक सागर।
होती है उसकी अल्पस्थिति, आठ मुहूर्त इस जगती पर ॥२३॥
(भाव) भाग अनन्तवें सिद्धो के, अनुभाग कर्म है बतलाये।
अनुभागो के वे सब प्रदेश, सब जीवो से बढकर गाए ॥२४॥

अन्वयार्थ—एयाओ—ये (पूर्वोक्त कर्मों की), मूल-पयडीओ—मूल प्रकृतियाँ, य—और, उत्तराओ—उत्तर-प्रकृतियाँ, आहिया—कही गई हैं। अवुत्तर—अब आगे (इनके) पएसग्ग—प्रदेशो के अग्र-प्रमाण, खेत्तकाले य—क्षेत्र और काल, च—तथा, भाव—भाव (से इनके स्वरूप) को, सुण—सुनो ॥१६॥

(एक समय मे बद्ध=ग्राह्य होने वाले), सव्वेसिं चेव कम्माण—सभी कर्मों के प्रदेशाग्र (कर्म-परमाणु-पुद्गल-दलिक), अणतग—अनन्त हैं। (वह अनन्त परिमाण), गठिय-सत्ताईय—ग्रान्थिक सत्वातीत अर्थात् जिन्होने ग्रन्थिभेद नही किया है, उन अभव्य जीवो से, (अनन्तगुण अधिक, तथा) सिद्धाण—सिद्धो के, अत—अन्तवर्ती=अनन्तवें भाग जितने, आहिय—कहे गए हैं ॥१७॥

सव्वजीवा ण—सभी जीव, छद्दिसागय—छह दिशाओ मे रहे हुए, कम्म तु—(ज्ञानावरणीयादि) कर्मों—कार्मणवर्गणा के पुद्गलो को, सगहे—सम्यक् प्रकार से ग्रहण

करते हैं। सव्वं—(वे सभी) कर्म (पुद्गल), सव्वेसु वि पएसेसु—(बन्ध के समय) आत्मा के समस्त प्रदेशो के साथ, सव्वेण—सर्व (प्रकृति, स्थिति आदि) प्रकार से, बद्धग—(क्षीर-नीर के समान) बद्ध (आश्लिष्ट) हो जाते है ॥१८॥

(ज्ञानावरणादि कर्मों की) उक्कोसिया ठिई—उत्कृष्ट स्थिति, तीसई कोडि-कोडीओ—तीस कोटाकोटि, उदहि-सरिस नामाण—उदधिसदृश नाम वाले की, अर्थात्—सागरोपम की, होइ—होती है, (और), जहन्निया—जघन्य स्थिति, अतो-मुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ॥१९॥

एसा ठिई—यह (पूर्वगाथा मे कथित) स्थिति, दुण्ह पि आवरणिज्जाण—दोनो आवरणीय (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) कर्मों की, तहेव—तथा, वेयणिज्जे—वेदनीय, य—और, अतराए कम्मम्मि—अन्तराय कर्म की, वियाहिया—कही गई है॥२०॥

मोहणिज्जस्स—मोहनीय कर्म की, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, सत्तरि कोडिकोडीओ—सत्तर कोटाकोटि, उदहि-सरिसनामाण—सागरोपम की है, (और) जहन्निया—जघन्य-स्थिति, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥२१॥

आउकम्मस्स ठिई उ—आयुकर्म की स्थिति, जहन्निया—जघन्यत, अतो-मुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है, (और) उक्कोसेण—उत्कृष्टत, तेत्तीस-सागरोवमा—तेतीस सागरोपम की है ॥२२॥

नाम-गोत्ताण—नामकर्म और गोत्रकर्म की, जहन्निया—जघन्य-स्थिति, अट्ठमुहुत्ता—आठ मुहूर्त्त की है, (और), उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, वीसई कोडि-कोडीओ—बीस कोटाकोटि, उदहि-सरिस-नामाण—सागरोपम की है ॥२३॥

य—और, अणुभागा—अनुभाग (कर्मों के रस-विशेष), सिद्धाण—सिद्धो के अणतभागो—अनन्तवें भाग जितने, हवति—होते हैं, उ—तथा, सव्वेसु—सभी अनुभागो मे, पएसग्ग—प्रदेशो के, अग्र=परमाणु का परिमाण, सव्वजीवेसु वि—समस्त (भव्य-अभव्य) जीवो से भी, अइच्छिय—अधिक है ॥२४॥

विशेषार्थ—चारो प्रकार से कर्मबन्ध का निरूपण—कर्मग्रन्थ आदि ग्रन्थो मे कर्मबन्ध के चार प्रकार बताए गये हैं—(१) प्रकृति-बन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभाग (रस) बन्ध। इस अध्ययन की चौथी से लेकर पन्द्रहवी गाथा तक प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ मे कर्मों की आठ मूल प्रकृतियो तथा प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के विषय मे कहा जा चुका है। इसके पश्चात् गाथा १७-१८ मे प्रदेशबन्ध के सम्बन्ध मे द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया गया है। जिसका आशय यह है कि संसारी जीव

पद्यानुवाद—(प्रदेशाग्र) ये मूल और उत्तरविध से, कर्मों की बात कही सारी।
अब प्रदेशाग्र और क्षेत्र-काल, भावो की कथा सुनो सारी ॥१६॥
सब ही कर्मों के प्रदेशाग्र हैं, अनन्त ग्रहण के योग्य यहाँ।
ग्रन्थिक सत्वो से बढ अनन्त, सिद्धो से न्यून अनन्त यहाँ ॥१७॥
(क्षेत्र) सग्रहयोग्य कर्म जीवो के, सभी दिशा मे सस्थित है।
सभी प्रदेशो मे होते, ये कर्म पूर्ण सम्बन्धित हैं ॥१८॥
(काल) तीस कोटि-कोटि सागर, परिमित स्थिति परम कही इनकी।
अन्तर्मुहूर्त की स्थिति होती, न्यूनातिन्यून इन कर्मों की ॥१९॥
दोनो ही आवरणो की, और वेदनीय की स्थिति जानो।
फिर विघ्नकर्मकर भी इतना ही, कायस्थिति को पहचानो ॥२०॥
मोहनीय की परम स्थिति, है सत्तर कोटि-कोटि सागर।
न्यूनातिन्यून अन्तर्मुहूर्त, का काल कहा है, मतिसागर ॥२१॥
सागर तेतीस की उपमा से, उत्कृष्ट स्थिति है आयु की।
अन्तर्मुहूर्त है अल्पकाल, बतलाई ज्ञानी ने जग की ॥२२॥
अब नाम-गोत्र की परम स्थिति, है बीस-बीस कोटिक सागर।
होती है उसकी अल्पस्थिति, आठ मुहूर्त इस जगती पर ॥२३॥
(भाव) भाग अनन्तवें सिद्धो के, अनुभाग कर्म हैं बतलाये।
अनुभागो के वे सब प्रदेश, सब जीवो से बढकर गाए ॥२४॥

अन्वयार्थ—एयाओ—ये (पूर्वोक्त कर्मो की), मूल-पयडीओ—मूल प्रकृतियाँ, य—और, उत्तराओ— उत्तर-प्रकृतियाँ, आहिया—कही गई हैं। अओत्तर—अब आगे (इनके) पएसग्ग—प्रदेशो के अग्र-प्रमाण, खेत्तकाले य—क्षेत्र और काल, च—तथा, भाव—भाव (से इनके स्वरूप) को, सुण—सुनो ॥१६॥

(एक समय मे बद्ध=ग्राह्य होने वाले), सव्वेसिं चेव कम्माण—सभी कर्मों के प्रदेशाग्र (कर्म-परमाणु-पुद्गल-दलिक), अणतग—अनन्त हैं। (वह अनन्त परिमाण), गण्ठिय-सत्ताईय—ग्रन्थिक सत्वातीत अर्थात् जिन्होंने ग्रन्थिभेद नही किया है, उन अभव्य जीवो से, (अनन्तगुण अधिक, तथा) सिद्धाण—सिद्धो के, अत —अन्तवर्ती=अनन्तवे भाग जितने, आहिय—कहे गए हैं ॥१७॥

सव्वजीवा ण—सभी जीव, छद्दिसागय—छह दिशाओ मे रहे हुए, कम्म तु—(ज्ञानावरणीयादि) कर्मों—कार्मणवर्गण के पुद्गलो को, सगहे—सम्यक् प्रकार से ग्रहण

करते हैं। सव्व—(वे सभी) कर्म (पुद्गल), सव्वेसु वि पएसेसु—(बन्ध के समय) आत्मा के समस्त प्रदेशो के साथ, सव्वेण—सर्व (प्रकृति, स्थिति आदि) प्रकार से, बद्धग—(क्षीर-नीर के समान) बद्ध (आश्लिष्ट) हो जाते है ।।१८।।

(ज्ञानावरणादि कर्मों की) उक्कोसिया ठिई—उत्कृष्ट स्थिति, तीसई कोडि-कोडीओ—तीस कोटाकोटि, उदहि-सरिस नामाण—उदधिसदृश नाम वाले की, अर्थात्—सागरोपम की, होइ—होती है, (और), जहन्निया—जघन्य स्थिति, अंतो-मुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ।।१९।।

एसा ठिई—यह (पूर्वगाथा मे कथित) स्थिति, दुण्ह पि आवरणिज्जाण—दोनो आवरणीय (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) कर्मों की, तहेव—तथा, वेयणिज्जे—वेदनीय, य—और, अतराए कम्मम्मि—अन्तराय कर्म की, वियाहिया—कही गई है।।२०।।

मोहणिज्जस्स—मोहनीय कर्म की, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, सत्तरिं कोडिकोडीओ—सत्तर कोटाकोटि, उदहि-सरिसनामाण—सागरोपम की है, (और) जहन्निया—जघन्य-स्थिति, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की है ।।२१।।

आउकम्मस्स ठिई उ—आयुकर्म की स्थिति, जहन्निया—जघन्यत, अतो-मुहुत्त—अन्तमुहूर्त की है, (और) उक्कोसेण—उत्कृष्टत., तेत्तीस-सागरोवमा—तेतीस सागरोपम की है ।।२२।।

नाम-गोत्ताण—नामकर्म और गोत्रकर्म की, जहन्निया—जघन्य-स्थिति, अट्ठमुहुत्ता—आठ मुहूर्त्त की है, (और), उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, वीसई कोडि-कोडीओ—वीस कोटाकोटि, उदहि-सरिस-नामाण—सागरोपम की है ।।२३।।

य—और, अणुभागा—अनुभाग (कर्मों के रस-विशेष), सिद्धाण—सिद्धो के अणतभागो—अनन्तवें भाग जितने, हवंति—होते हैं, उ—तथा, सव्वेसु—सभी अनुभागो मे, पएसग्ग—प्रदेशो के, अग्र—परमाणु का परिमाण, सव्वजीवेसु वि—समस्त (भव्य-अभव्य) जीवो से भी, अइच्छियं—अधिक है ।।२४।।

विशेषार्थ—चारो प्रकार से कर्मबन्ध का निरूपण—कर्मग्रन्थ आदि ग्रन्थो मे कर्मबन्ध के चार प्रकार बताए गये हैं—(१) प्रकृति-बन्ध, (२) प्रदेशबन्ध, (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभाग (रस) बन्ध। इस अध्ययन की चौथी से लेकर पन्द्रहवी गाथा तक प्रकृतिबन्ध के सन्दर्भ मे कर्मों की आठ मूल प्रकृतियो तथा प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियो के विषय मे कहा जा चुका है। इसके पश्चात् गाथा १७-१८ मे प्रदेशबन्ध के सम्बन्ध मे द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया गया है। जिसका आशय यह है कि ससारी जीव

प्रतिसमय सात या आठ कर्मवर्गणाओ का सचय करता है। एक समय मे बँधने वाले कर्मस्कन्धो का प्रदेशाग्र अर्थात्—कर्म-परमाणुओ का परिमाण अनन्त होता है, क्योंकि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त अनन्त कर्म वर्गणाएँ (कर्मपुद्गल-दलिक) चिपकी रहती हैं। अनन्त के माप का सकेत करते हुए शास्त्रकार कहते है—एक समय मे एकत्र किये हुए वे सब कर्म-परमाणु अभव्य जीवो से अनन्तगुणा अधिक, किन्तु सिद्धो से अनन्तगुणा न्यून सिद्धो के अनन्तवे भाग जितने होते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से— समस्त ससारी जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे-ऊपर (अधोदिशा, ऊर्ध्वदिशा) इन छहो दिशाओ मे व्याप्त कर्म-परमाणुओ को प्रतिसमय ग्रहण करते (बाँधते) हैं। तात्पर्य यह है कि जितने आकाश क्षेत्र मे आत्मप्रदेश अवगाहित करके स्थित रहते हैं, उतने क्षेत्र की अपेक्षा से सभी दिशाओ से कर्माणुओ का सचय किया जाता है। कषाय सयोग से आकृष्ट वे सभी कर्म ज्ञानावरणीयादि कर्मो के रूप मे परिणत हो जाते हैं, साथ ही वे कर्म समस्त आत्मप्रदेशो के साथ क्षीर-नीरवत् एक क्षेत्रावगाढ (परस्पर आबद्ध) होकर प्रकृति, स्थिति आदि प्रकार से बध जाते हैं। यह ध्यान रहे कि एकेन्द्रिय जीव तीन दशाओ से ही कर्मो का सग्रहण कर सकता है।

काल की दृष्टि से—शास्त्रकार ने गा० १९ से २३ तक प्रत्येक कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण कर दिया है।

भाव की अपेक्षा से— जीव के राग-द्वेषादि या काषायिक अध्यवसायो या भावो के कारण कर्मो का तीव्र-मन्द-मध्यम अनुभागबन्ध या रसबन्ध होता है। अनुभाग का माप बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं, कि अनुभाग-विषयक वे कर्म-परमाणु सिद्धो से अनन्तगुणा न्यून हैं, अर्थात् सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं।

बन्धन काल मे उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र-मन्द-मध्यम भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म मे तीव्र-मन्द-मध्यम फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। विपाक (विविध प्रकार से कर्म फल देने का यह सामर्थ्य) ही अनुभाग, अनुभाव या रस है, उस प्रकार का बन्ध अनुभाग बन्ध है।

ग्रन्थिसत्व, प्रदेशाग्र सव्वजीवे-सरिस-माणमाण आदि शब्दो का विशेषार्थ—ग्रन्थि सत्त्व का अर्थ अभव्य जीव है, क्योंकि अभव्य जीवो की राग द्वेष की गाठ

ऐसी कठिन पड़ी हुई होती है कि वे कदापि उसका भेदन नहीं कर सकते। अतएव अभव्य जीवों की कर्मग्रंथि अनादि-अनन्त होने से उन्हें ग्रन्थिसत्व कहा गया है। प्रदेशाग्र का अर्थ द्रव्यपरमाणु का संख्या परिणाम है। उदधि-सदृशनाम का अर्थ है—सागरोपम। जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति का तात्पर्य यह है कि अमुक कर्म कम से कम (जघन्य) इतने समय तक, और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) इतने समय तक अपना फल दे सकता है। अर्थात् कर्मों का फल दे सकता है। फल देकर वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

सागरोपम का परिमाण—एक योजन लम्बे-चौड़े कुए को बारीक व कोमल केशों से अर्थात् एक-एक केश के अग्रभाग के असंख्यात सूक्ष्म टुकड़े करके ठूस ठूंसकर भर दिया जाए और सौ-सौ वर्ष के पश्चात् उसमें से एक-एक टुकड़ा निकाला जाए, इस प्रकार जब वह सारा कूप खाली हो जाए तो वह (उतना) एक पल्योपम काल होता है। ऐसे १० कोटाकोटि पल्योपम काल बीत जाएँ तब एक सागरोपम-परिमित काल होता है।

कर्मबद्ध साधक का कर्तव्य—

मूल—तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥२५॥

—त्ति बेमि

पद्यानु०—सर्व कर्मों के अनुभागों का, परिचय पा जग में जो बुधजन।
इनके संवरण और क्षय में, प्रतिपल करते हैं पूर्ण यतन ॥२५॥

अन्वयार्थ—तम्हा—इसलिए, एएसिं कम्माणं—इन कर्मों के, अणुभागे—अनुभागों को, वियाणिया—जानकर, बुहे—बुद्धिमान—तत्त्वज्ञ साधक, एएसिं—इन कर्मों के, संवरे—निरोध में, य—और, खवणे चेव—क्षय करने में, जए—प्रयत्न करे।

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा में कर्मों के विपाक शुभाशुभ अथवा कटु परिणामों को जानकर प्रबुद्ध साधुवर्ग को उसके निरोध और क्षय के लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया गया है।

कर्मों के अनुभागों को सर्वप्रथम जानना इसलिए आवश्यक है कि साधक कर्मों के स्वभाव (प्रकृति) और उनके तीव्र मन्द रस को नहीं जानेगा, तब तक वह उनका निरोध या क्षय नहीं कर सकेगा। वह उसके बदले दूसरे कर्म का, अथवा तीव्र अनुभागरूप कर्म का निरोध या क्षय

प्रतिसमय सात या आठ कर्मवर्गणाओ का सचय करता है। एक समय मे बँधने वाले कर्मस्कन्धो का प्रदेशाग्र अर्थात्—कर्म-परमाणुओ का परिमाण अनन्त होता है, क्योंकि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म वर्गणाएँ (कर्मपुद्गल-दलिक) चिपकी रहती हैं। अनन्त के माप का सकेत करते हुए शास्त्रकार कहते है—एक समय मे एकत्र किये हुए वे सब कर्म-परमाणु अभव्य जीवो से अनन्तगुणा अधिक, किन्तु सिद्धो से अनन्तगुणा न्यून सिद्धो के अनन्तवे भाग जितने होते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से— समस्त ससारी जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, नीचे-ऊपर (अधोदिशा, ऊर्ध्वदिशा) इन छहो दिशाओ मे व्याप्त कर्म-परमाणुओ को प्रतिसमय ग्रहण करते (बाँधते) हैं। तात्पर्य यह है कि जितने आकाश क्षेत्र मे आत्मप्रदेश अवगाहित करके स्थित रहते हैं, उतने क्षेत्र की अपेक्षा से सभी दिशाओ से कर्माणुओ का सचय किया जाता है। कषाय सयोग से आकृष्ट वे सभी कर्म ज्ञानावरणीयादि कर्मों के रूप मे परिणत हो जाते है, साथ ही वे कर्म समस्त आत्मप्रदेशो के साथ क्षीर-नीरवत् एक क्षेत्रावगाढ (परस्पर आबद्ध) होकर प्रकृति, स्थिति आदि प्रकार से बध जाते हैं। यह ध्यान रहे कि एकेन्द्रिय जीव तीन दशाओ से ही कर्मों का सग्रहण कर सकता है।

काल की दृष्टि से—शास्त्रकार ने गा० १९ से २३ तक प्रत्येक कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण कर दिया है।

भाव की अपेक्षा से— जीव के राग-द्वेषादि या काषायिक अध्यवसायो या भावो के कारण कर्मों का तीव्र-मन्द-मध्यम अनुभागबन्ध या रसबन्ध होता है। अनुभाग का माप बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं, कि अनुभाग-विषयक वे कर्म-परमाणु सिद्धो से अनन्तगुणा न्यून हैं, अर्थात् सिद्धो के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं।

बन्धन काल मे उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र-मन्द-मध्यम भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म मे तीव्र-मन्द-मध्यम फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। विपाक (विविध प्रकार से कर्म फल देने का यह सामर्थ्य ही अनुभाग, अनुभाव या रस है, उस प्रकार का बन्ध अनुभाग बन्ध है।

ग्रन्थिसत्व, प्रवेशाग्र सव्वजीव-सरिस-मामाण आदि शब्दो का विशेषार्थ—ग्रन्थि सत्त्व का अर्थ अभव्य जीव है, क्योंकि अभव्य जीवो की राग-द्वेष की गाठ

ऐसी कठिन पड़ी हुई होती है कि वे कदापि उसका भेदन नही कर सकते। अतएव अभव्य जीवो की कर्मग्रंथि अनादि-अनन्त होने से उन्हें ग्रन्थिसत्व कहा गया है। प्रदेशाग्र का अर्थ द्रव्यपरमाणु का सख्या परिणाम है। उदधि-सदृशनाम का अर्थ है—सागरोपम। जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति का तात्पर्य यह है कि अमुक कर्म कम से कम (जघन्य) इतने समय तक, और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) इतने समय तक अपना फल दे सकता है। अर्थात् कर्मों का फल दे सकता है। फल देकर वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

सागरोपम का परिमाण—एक योजन लम्बे-चौड़े कुए को बारीक व कोमल केशो से अर्थात् एक-एक केश के अग्रभाग के असख्यात सूक्ष्म टुकड़े करके ठूस ठूँसकर भर दिया जाए और सौ-सौ वर्ष के पश्चात् उसमे से एक-एक टुकड़ा निकाला जाए, इस प्रकार जब वह सारा कूप खाली हो जाए तो वह (उतना) एक पल्योपम काल होता है। ऐसे १० कोटाकोटि पल्योपम काल बीत जाएँ तब एक सागरोपम-परिमित काल होता है।

कर्मबद्ध साधक का कर्तव्य—

मूल—तम्हा एएसि कम्माण, अणुभागा वियाणिया।
एएसि सवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥२५॥

—त्ति बेमि

पद्यानु०—सर्व कर्मों के अनुभागो का, परिचय पा जग मे यो बुधजन।
इनके सवरण और क्षय मे, प्रतिपल करते हैं पूर्ण यतन ॥२५॥

अन्वयार्थ—तम्हा—इसलिए, एएसि कम्माण—इन कर्मों के, अणुभागे—अनुभागो को, वियाणिआ—जानकर, बुहे—बुद्धिमान—तत्त्वज्ञ साधक, एएसि—इन कर्मों के, सवरे—निरोध मे, य—और, खवणे चेव—क्षय करने मे, जए—प्रयत्न करे।

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे कर्मों के विपाक शुभाशुभ अथवा कटु परिणामो को जानकर प्रबुद्ध साधुवर्ग को उसके निरोध और क्षय के लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया गया है।

कर्मों के अनुभागो को सर्वप्रथम जानना इसलिए आवश्यक है कि साधक कर्मों के स्वभाव (प्रकृति) और उनके तीव्र मन्द रस को नही जानेगा, तब तक वह उनका निरोध या क्षय नही कर सकेगा। वह उसके बदले दूसरे कर्म का, अथवा तीव्र अनुभागरूप कर्म का निरोध या क्षय

करने के बदले मन्द अनुभाग रूप कर्म का निरोध या क्षय करने का पुरुषार्थ करेगा, जो व्यर्थ होगा। इसलिए साधु के लिए कर्म का निरोध या क्षय करने से पूर्व यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कर्म किस मूल प्रकृति का है ? किस मार्ग के द्वारा यह कर्माणु आ रहा है ? कितने तीव्र-मन्द या मध्यम परिणाम से बाँधा गया है ? इत्यादि। तदनन्तर वह उसका संवर (आते हुए कर्म का निरोध) तथा क्षय करे।

॥ कर्म-प्रकृति : तेतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□

लेश्या अध्ययन : चौंतीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

यह 'लेश्या अध्ययन' (लेसज्झयण) नामक चोंतीसवाँ अध्ययन है।

इसमे लेश्याओ का विविध पहलुओ से विश्लेषण किया गया है। वैसे भगवती सूत्र और प्रज्ञापना आदि शास्त्रो मे यत्र-तत्र लेश्याओ के विषय मे निरूपण उपलब्ध होता है। परन्तु इस अध्ययन मे ११ द्वारो के माध्यम से लेश्याओ का व्यवस्थित रूप से निरूपण निबद्ध है।

वे ग्यारह द्वार इस प्रकार हैं—(१) नामद्वार, (२) वर्णद्वार, (३) रसद्वार, (४) गन्धद्वार, (५) स्पर्शद्वार, (६) परिणामद्वार (७) लक्षण-द्वार, (८) स्थान-द्वार, (९) स्थितिद्वार, (१०) गतिद्वार और (११) आयु-द्वार।

प्राणी के जीवन का अन्तरग और बाह्य निर्माण उसके अध्यवसायो, मनोभावो या परिणामो पर निर्भर है। जिस व्यक्ति के जैसे परिणाम या मनोभाव होते हैं, उसी के अनुसार उसके शरीर की कान्ति, छाया, प्रभा या आभा बनती है। उसी के अनुरूप उसके शरीर के रग-रूप, गन्ध, रस और स्पर्श भी हो जाते हैं। राग-द्वेष, कषाय, या मन-वचन-काया के योग (व्यापार) जिस प्रकार के तीव्र, मन्द, मध्यम होते हैं, उससे अनुरजित आत्म-परिणाम या मनोभाव भी वैसे ही हो जाते हैं, इसी को भावलेश्या कहते हैं और मनोभावो के अनुसार ही वर्ण आदि बनते हैं, जिसे द्रव्यलेश्या कहा जाता है।

मानव-मस्तिष्क मे प्रादुर्भूत होने वाले वैसे ही कषायो या मन-वचन-काया के शुभाशुभ परिणामो या प्रवृत्तियो से अनुरजित होने वाले विचारो का प्रत्यक्षीकरण करके तदनुरूप रगो के चित्र लेने मे आधुनिक विज्ञान एव वर्तमान मनोविज्ञान ने कतिपय अशो मे सफलता प्राप्त कर ली है। अमेरिका की वैज्ञानिक सहायता से जे सी ट्रस्ट बचपन से ही मनुष्यो के शरीर पर [illegible] वाली आभा और उसके रग का प्रत्यक्षीकरण कर लेती थी।

करने के बदले मन्द अनुभाग रूप कर्म का निरोध या क्षय करने का पुरुषार्थ करेगा, जो व्यर्थ होगा। इसलिए साधु के लिए कर्म का निरोध या क्षय करने से पूर्व यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कर्म किस मूल प्रकृति का है ? किस मार्ग के द्वारा यह कर्माणु आ रहा है ? कितने तीव्र-मन्द या मध्यम परिणाम से बाँधा गया है ? इत्यादि। तदनन्तर वह उसका संवर (आते हुए कर्म का निरोध) तथा क्षय करे।

॥ कर्म-प्रकृति : तेतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

□□

लेश्या अध्ययन : चौंतीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

यह 'लेश्या अध्ययन' (लेसज्झयण) नामक चौंतीसवाँ अध्ययन है।

इसमे लेश्याओ का विविध पहलुओ से विश्लेषण किया गया है। वैसे भगवती सूत्र और प्रज्ञापना आदि शास्त्रो मे यत्र-तत्र लेश्याओ के विषय मे निरूपण उपलब्ध होता है। परन्तु इस अध्ययन मे ११ द्वारो के माध्यम से लेश्याओ का व्यवस्थित रूप से निरूपण निबद्ध है।

वे ग्यारह द्वार इस प्रकार हैं—(१) नामद्वार, (२) वर्णद्वार, (३) रसद्वार, (४) गन्धद्वार, (५) स्पर्शद्वार, (६) परिणामद्वार, (७) लक्षण-द्वार, (८) स्थान-द्वार, (९) स्थितिद्वार, (१०) गतिद्वार और (११) आयु-द्वार।

प्राणी के जीवन का अन्तरग और बाह्य निर्माण उसके अध्यवसायो, मनोभावो या परिणामो पर निर्भर है। जिस व्यक्ति के जैसे परिणाम या मनोभाव होते हैं, उसी के अनुसार उसके शरीर की कान्ति, छाया, प्रभा या आभा बनती है। उसी के अनुरूप उसके शरीर के रग-रूप, गन्ध, रस और स्पर्श भी हो जाते हैं। राग-द्वेष, कषाय, या मन-वचन-काया के योग (व्यापार) जिस प्रकार के तीव्र, मन्द, मध्यम होते हैं, उससे अनुरंजित आत्म-परिणाम या मनोभाव भी वैसे ही हो जाते हैं, इसी को भावलेश्या कहते हैं और मनोभावो के अनुसार ही वर्ण आदि बनते हैं, जिसे द्रव्यलेश्या कहा जाता है।

मानव-मस्तिष्क मे प्रादुर्भूत होने वाले वैसे ही कषायो या मन-वचन-काया के शुभाशुभ परिणामो या प्रवृत्तियो से अनुरंजित होने वाले विचारो का प्रत्यक्षीकरण करके तदनुरूप रगो के चित्र लेने मे आधुनिक विज्ञान एव वर्तमान मनोविज्ञान ने कतिपय अशो मे सफलता प्राप्त कर ली है। अमेरिका की वैज्ञानिक सहायता से जे सी ट्रस्ट बचपन से ही मनुष्यो के शरीर पर उभरने वाली आभा और उसके रग का प्रत्यक्षीकरण कर लेती थी।

जैनाचार्यों ने सुदीर्घ अतीत पूर्व ही लेश्या की निम्नोक्त परिभाषाएँ निर्धारित की थी—

१. कषाय से अनुरजित आत्मा के परिणाम

२ मन-वचन-काया के योगो का परिणाम अथवा योग प्रवृत्ति

३ एक प्रकार की नेत्रो को आकर्षित करने वाली स्निग्ध एव दीप्ति युक्त छाया, जो जनमन को श्लिष्ट करती है।

४ काले आदि रगो के सान्निध्य से स्फटिक की तरह राग-द्वेष-कषायादि के सयोग से आत्मा का तदनुरूप परिणमन हो जाना।

५ कर्म के साथ आत्मा को सश्लिष्ट करके कर्मबन्ध की स्थिति बनाने वाली।

इन परिभाषाओ पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के अनुसार आत्म-परिणति या मनोवृत्ति बनती है। तथा जैसी सी शुभाशुभ आत्म-परिणति होती है, वैसी ही मन-वचन-काया की प्रवृत्ति बनती जाती है। इन दोनो मे कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। स्पष्ट शब्दो मे कहे तो जैसे जैसे कृष्णादि लेश्याओ के द्रव्य होगे, वैसे-वैसे आत्म-परिणाम होते जाएँगे, और जैसे-जैसे आत्म-परिणाम होगे, शरीर के छाया रूप पुद्गल भी वैसे-वैसे वर्ण (रग), गन्ध, रस और स्पर्श वाले बन जायेंगे। सिद्धान्त की भाषा मे इस प्रकार कह सकते हैं—बाह्य (द्रव्य) लेश्या के पुद्गल अन्तरग (भाव) लेश्या को प्रभावित करते है और अन्तरग लेश्या के अनुरूप बाह्य लेश्या बनती जाती है। लेश्या के अनुसार कर्मबध होने से इसे कर्मलेश्या (कर्मविधायिका लेश्या) भी कहा है।

इसी दृष्टि से इस अध्ययन मे सर्वप्रथम नामद्वार से वर्णों के अनुसार लेश्याओ के ६ नाम इस प्रकार निर्धारित किये गए हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज (रक्त), पद्म (पीत) और शुक्ल (श्वेत)। तत्पश्चात् विविध उपमाओ द्वारा वर्णद्वार, गन्धद्वार, रसद्वार और स्पर्शद्वार के माध्यम से इन के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का उल्लेख किया गया है।

छठा परिणामद्वार (गा २०) है। उसके द्वारा यह बताया गया है, एक लेश्या नीलादि लेश्याओ का सान्निध्य पाकर उस-उस वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूप मे बार-बार परिणत हो सकती है। प्रत्येक लेश्या के तीन परिणाम (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) तो स्पष्ट हैं, फिर इनके साथ अन्य लेश्याओ के सयोग से ९, २७, ८१ या २४३ तक परिणाम हो सकते हैं। परिणामद्वार से स्पष्ट है कि मनुष्य चाहे तो अशुभतम, अशुभतर और

अशुभ लेश्या को शुभ, शुभतर और शुभतम रूप मे परिणत कर सकता है। वर्णादि पर्याय भी परिवर्तित हो सकते हैं।

सातवें लक्षणद्वार मे उक्त छह लेश्याओ के अधिकारी को पहचानने के विभिन्न लक्षण दिये गये हैं। इस पर से व्यक्ति पहचाना जा सकता है कि उसमे कौन-सी लेश्या मुख्य रूप से काम कर रही है। वर्तमान मनोविज्ञान भी इस तथ्य से सहमत है।

आठवें स्थानद्वार मे लेश्याओ के असख्य स्थानो का निरूपण किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति मे विभिन्न लेश्याओ के असख्य स्थान (अर्थात् शुभाशुभ परिणामो की चढती-उतरती अवस्थाएँ) हो सकते हैं। ये स्थान काल और क्षेत्र की दृष्टि से असख्य काल चक्रो के समान अथवा लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशो के समान बताये गए हैं। वस्तुत लेश्याओ के इन स्थानो की आत्म-परिणामो की विशुद्धि और अशुद्धि की तरतमता की जल-तरगो के समान अगणित अवस्थाएँ है।

नौवे स्थितिद्वार मे प्रत्येक लेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का एकभव की दृष्टि से तथा चारो गतियो की अपेक्षा से विशद निरूपण किया गया है।

तत्पश्चात् दसवें गतिद्वार मे तीन प्रशस्त धर्मलेश्याओ तथा तीन अप्रशस्त अधर्मलेश्याओ से क्रमश सुगति और दुर्गति प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है। अन्तिम समय मे जिस लेश्या को लेकर जीव परलोक मे जाता है, वही लेश्या आगामी भव मे उसे प्राप्त होती है।

तदनन्तर आयुष्यद्वार में बताया गया है कि मृत्यु काल मे आगामी भव की और उत्पत्ति काल मे अतीतभव की लेश्या का सद्भाव अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है।

लेश्याओ का विभिन्न पहलुओ से निरूपण करने के पश्चात अन्त मे साधक को अशुभ लेश्याएँ छोडने और शुभलेश्याओ के अगीकार करने की प्रेरणा दी गई है।

□□

जैनाचार्यों ने सुदीर्घ अतीत पूर्व ही लेश्या की निम्नोक्त परिभाषाएँ निर्धारित की थी—

१. कषाय से अनुरजित आत्मा के परिणाम

२ मन-वचन-काया के योगो का परिणाम अथवा योग प्रवृत्ति

३ एक प्रकार की नेत्रो को आकर्षित करने वाली स्निग्ध एव दीप्ति युक्त छाया, जो जनमन को श्लिष्ट करती है।

४ काले आदि रगो के सान्निध्य से स्फटिक की तरह राग-द्वेष-कषायादि के सयोग से आत्मा का तदनुरूप परिणमन हो जाना।

५ कर्म के साथ आत्मा को सश्लिष्ट करके कर्मबन्ध की स्थिति बनाने वाली।

इन परिभाषाओ पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन-वचन-काया की प्रवृत्ति के अनुसार आत्म-परिणति या मनोवृत्ति बनती है। तथा जैसी भी शुभाशुभ आत्म-परिणति होती है, वैसी ही मन-वचन-काया की प्रवृत्ति बनती जाती है। इन दोनो मे कार्य कारणभाव सम्बन्ध है। स्पष्ट शब्दो मे कहे तो जैसे जैसे कृष्णादि लेश्याओ के द्रव्य होगे, वैसे-वैसे आत्म-परिणाम होते जाएँगे, और जैसे-जैसे आत्म-परिणाम होगे, शरीर के छाया रूप पुद्गल भी वैसे-वैसे वर्ण (रग), गन्ध, रस और स्पर्श वाले वन जायेंगे। सिद्धान्त की भाषा मे इस प्रकार कह सकते हैं—बाह्य (द्रव्य) लेश्या के पुद्गल अन्तरग (भाव) लेश्या को प्रभावित करते हैं और अन्तरग लेश्या के अनुरूप बाह्य लेश्या बनती जाती है। लेश्या के अनुसार कर्मबध होने से इसे कर्मलेश्या (कर्मविधायिका लेश्या) भी कहा है।

इसी दृष्टि से इस अध्ययन मे सर्वप्रथम नामद्वार मे वर्णों के अनुसार लेश्याओ के ६ नाम इस प्रकार निर्धारित किये गए हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज (रक्त), पद्म (पीत) और शुक्ल (श्वेत)। तत्पश्चात् विविध उपमाओ द्वारा वर्णद्वार, गन्धद्वार, रसद्वार और स्पर्शद्वार के माध्यम से इन के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का उल्लेख किया गया है।

छठा परिणामद्वार (गा २०) है। उसके द्वारा यह बताया गया है, एक लेश्या नीलादि लेश्याओ का सान्निध्य पाकर उस-उस वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूप मे बार-बार परिणत हो सकती है। प्रत्येक लेश्या के तीन परिणाम (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) तो स्पष्ट हैं, फिर इनके साथ अन्य लेश्याओ के सयोग से ९, २७, ८१ या २४३ तक परिणाम हो सकते हैं। परिणामद्वार से स्पष्ट है कि मनुष्य चाहे तो अशुभतम, अशुभतर और

परिणत हो जाना लेश्या है। योगो के परिणामविशेष को भी लेश्या कहते हैं, क्योकि १३वें गुणस्थान तक लेश्या का सद्भाव रहता है।

कर्मग्रन्थ मे लेश्या का व्युत्पत्त्यर्थ किया गया है—जिसके द्वारा कर्म के साथ आत्मा श्लिष्ट हो जाए (चिपक जाए) वह लेश्या है।[1] स्थानाग सूत्र मे लेश्याओ को वर्ण (रग) सम्बन्धी श्लेष की तरह कर्मबन्ध की स्थिति की विधायिका बताया गया है।[2] इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—छण्हंपि कम्म लेसाण—छहो कर्मस्थिति-विधायिका लेश्याओ के । तात्पर्य यह है कि लेश्याओ का कर्म के साथ बडा घनिष्ट सम्बन्ध है। कर्मो की स्थिति का कारण लेश्याएँ है। जैसे दो पदार्थो को जोडने मे एक तीसरे लेसदार द्रव्य की आवश्यकया रहती है, वैसे ही आत्मा के साथ जो कर्मो का बन्ध होता है, उसमे श्लेष अर्थात् सरेस की तरह लेश्याएँ काम करती हैं। आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मपुद्गलो के रस-विशेष को अनुभाव कहते हैं। कर्मबन्धन मे जो रसविशेष है, उसका अनुभव भी लेश्याओ के द्वारा किया जाता है।[3]

लेश्याओ के विविध पहलुओ से विश्लेषण-हेतु ग्यारह द्वार—बताये गये है, जो इस प्रकार हैं—(१) नामद्वार, (२) वर्णद्वार, (३) रसद्वार, (४) गन्ध-द्वार, (५) स्पर्शद्वार, (६) परिणामद्वार, (७) लक्षणद्वार, (८) स्थानद्वार, (९) स्थितिद्वार, (१०) गतिद्वार और (११) आयुष्य द्वार। इनका क्रमशः वर्णन यथास्थान किया जाएगा।[4]

---

१ (क) अध्यवसाये, आत्मन परिणामविशेषे, अन्त करणवृत्ती ।

—आचाराग १ श्रु. अ ६/३-५

(ख) कृष्णादि द्रव्य-साचिव्यात् परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्यैव तत्राऽय लेश्या-शब्द प्रवर्तते ॥

—प्रज्ञापना १७वाँ पद वृत्ति

(ग) योगपरिणामोलेश्या ।

(घ) लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या। —कर्मग्रन्थ भा ४

(च) लेश्याभिरात्मनि कर्माणि श्लिष्यन्ते —जिनदास महत्तर

२ श्लेष इव वर्ण बन्धस्यकर्म बन्धस्थितिविधात्र्य —स्थानाग स्थान १

३ (क) कर्म-स्थिति-हेतवो लेश्या ।

(ख) उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३ पृ. ३=४

४ (क) कर्मग्रन्थ भा ४ (ख) स्थानाग स्थान ६

चउतीसइमं : लेसज्झयणं

चौतीसवाँ लेश्या अध्ययन

अध्ययन का प्रवेश और विषयानुक्रम

मूल—लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे ॥१॥
नामाइं वण्ण-रस-गन्ध-फास-परिणाम-लक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे ॥२॥

पद्यानु०—लेश्याओ का कथन करूँ, पूर्वानुपूर्वी से क्रमिक यथा ।
षट्-सख्यक उन लेश्याओ के, अनुभाव सुनो तुम यथातथा ॥१॥
लेश्याओ के नाम-वर्ण-रस-गन्ध स्पर्श-परिणाम-कथन ।
लक्षण-आयु-स्थिति-स्थान-गमन, मुझसे तुम विधिवत् करो श्रवण ॥२॥

अन्वयार्थ—(मैं) लेसज्झयणं—लेश्याओ के प्रतिपादक अध्ययन का, आणुपुव्विं जहक्कमं—पूर्वानुपूर्वी के क्रमानुसार, पवक्खामि—कथन करूँगा। (सर्वप्रथम) छण्हं पि कम्मलेसाणं—कर्म (की स्थिति-विधायक) छहो लेश्याओ के, अनुभावे—अनुभावो (रसविशेषो) के विषय मे, मे सुणेह—मुझ से सुनो ॥१॥

लेसाणं—लेश्याओ के, नामाइं—नाम, वण्ण—वर्ण, रस—रस, गंध—गन्ध, फास—स्पर्श, परिणाम—परिणाम, लक्खण—लक्षण, ठाणं—स्थान, ठिइं—स्थिति, गइं—गति, च—और, आउं तु—आयुष्य के विषय मे, (इन द्वारो के माध्यम से), मे सुणेह—मुझ से सुनो ॥२॥

विशेषार्थ—लेश्या का स्वरूप और अनुभाव—लेश्या अन्त करण की वृत्ति अथवा आत्मा का अध्यवसाय या परिणाम-विशेष है। काले, लाल आदि द्रव्यो के सयोग से स्फटिक वैसे ही रग मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेष-कषायादि विविध परिणामो से आत्मा का वैसे ही परिणामो मे

परिणत हो जाना लेश्या है। योगो के परिणामविशेष को भी लेश्या कहते हैं, क्योंकि १३वें गुणस्थान तक लेश्या का सद्भाव रहता है।

कर्मग्रन्थ मे लेश्या का व्युत्पत्त्यर्थ किया गया है—जिसके द्वारा कर्म के साथ आत्मा श्लिष्ट हो जाए (चिपक जाए) वह लेश्या है।[1] स्थानाग सूत्र मे लेश्याओ को वर्ण (रग) सम्बन्धी श्लेष की तरह कर्मबन्ध की स्थिति की विधायिका बताया गया है।[2] इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—छण्हंपि कम्म लेसाण—छही कर्मस्थिति-विधायिका लेश्याओ के । तात्पर्य यह है कि लेश्याओ का कर्म के साथ बडा घनिष्ट सम्बन्ध है। कर्मों की स्थिति का कारण लेश्याएँ हैं। जैसे दो पदार्थों को जोडने मे एक तीसरे लेसदार द्रव्य की आवश्यकता रहती है, वैसे ही आत्मा के साथ जो कर्मों का बन्ध होता है, उसमे श्लेष अर्थात् सरेस की तरह लेश्याएँ काम करती हैं। आत्म-प्रदेशो के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मपुद्गलो के रस-विशेष को अनुभाव कहते हैं। कर्मबन्धन मे जो रसविशेष है, उसका अनुभव भी लेश्याओ के द्वारा किया जाता है।[3]

लेश्याओ के विविध पहलुओ से विश्लेषण-हेतु ग्यारह द्वार—बताये गये है, जो इस प्रकार है—(१) नामद्वार, (२) वर्णद्वार, (३) रसद्वार, (४) गन्ध-द्वार, (५) स्पर्शद्वार, (६) परिणामद्वार, (७) लक्षणद्वार, (८) स्थानद्वार, (९) स्थितिद्वार, (१०) गतिद्वार और (११) आयुष्य द्वार। इनका क्रमशः वर्णन यथास्थान किया जाएगा।[4]

---

१ (क) अध्यवसाये, आत्मन परिणामविशेषे, अन्त करणवृत्ती।

—आचाराग १ श्रु. अ ६/३-५

(ख) कृष्णादि द्रव्य-साचिव्यात् परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्राऽय लेश्या-शब्द प्रवर्तते ॥

—प्रज्ञापना १७वाँ पद वृत्ति

(ग) योगपरिणामोलेश्या ।

(घ) लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या। —कर्मग्रन्थ भा ४

(च) लेश्याभिरात्मनि कर्माणि श्लिष्यन्ते जिनदास महत्तर

२ श्लेष इव वर्ण बन्धस्यकर्म बन्धस्थितिविधात्र्य —स्थानाग स्थान १

३ (क) कर्म-स्थिति-हेतवो लेश्या ।

(ख) उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३ पृ ३-४

४ (क) कर्मग्रन्थ भा ४ (ख) स्थानाग स्थान ६

(१) नामद्वार—

मूल—किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥३॥

पद्यानु०—कृष्ण नील कापोत तेज, है जग मे पद्मा शुक्ल तथा ।
ये नाम क्रमिक लेश्याओ के, श्रीवीरप्रभु ने कहे यथा ॥३॥

अन्वयार्थ—नामाइ तु—(इन) लेश्यो के नाम, जहक्कम—अनुक्रम से (इस प्रकार हैं), किण्हा—कृष्ण, नीला—नील, य—तथा, काऊ य—कापोत, तेऊ—तेजस पम्हा—पद्म, तहेव य—तथैव, छट्ठा य—छठी, सुक्कलेसा य—शुक्ललेश्या ।

विशेषार्थ—जिस विषय का वर्णन करना हो, उसका नाम निर्देश करना आवश्यक हो जाता है, इसलिए शास्त्रकार ने नामद्वार के माध्यम से सर्वप्रथम लेश्याओ का नामनिर्देश कर दिया है ।

(२) वर्णद्वार—

मूल—जीमूय-निद्ध-संकासा, गवल-रिट्ठग-सन्निभा ।
खंजणंजण-नयण-निभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥४॥

नीलाऽसोग-संकासा, चास-पिच्छ-समप्पभा ।
वेरुलिय-निद्ध-संकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥५॥

अयसी-पुप्फ-संकासा, कोइल-च्छद-सन्निभा ।
पारेवय-गीव-निभा, काउलेसा उ वण्णओ ॥६॥

हिंगुलुय-धाउ-संकासा, तरुणाइच्च-सन्निभा ।
सुयतुण्ड-पईव-निभा, तेउलेसा उ वण्णओ ॥७॥

हरियाल-भेय संकासा, हलिद्दा-भेय-सन्निभा ।
सणासण-कुसुम-निभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥८॥

संखंक-कुंद-संकासा, खीर-पूर-समप्पभा ।
रयय-हार-संकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥९॥

पद्यानु०—स्निग्ध-मेघ और महिषश्रृंग-गुली, समवर्ण अरीठा के जानो ।
खजन अंजन और नयनबिन्दु, यो कृष्ण वर्ण से पहचानो ॥४॥

वर्ण अशोक-सम नीली का, हो चाष विहग के जैसे पर ।
वैडूर्य स्निग्ध-सम वर्ण कहा, नीली लेश्या का है श्रुतधर ॥५॥

अलसी के पुष्प, पक्ष कोयल, एव कपोत की ग्रीवा ज्यो ।
होती है कापोती लेश्या, कापोत वर्ण जगती पर यो ॥६॥

हिंगुल गैरिक नव-उदित सूर्य, के सम इसकी है लाल प्रभा।
तेजोलेश्या का वर्ण कहा, शुक तुण्ड समक्ष लो दीप निभा ॥७॥

हरिताल और हल्दी खण्डित, सण और असन के कुसुम निभा।
जगती मे अतिशय शुभ जानो, पद्मा लेश्या की पीत प्रभा ॥८॥

शख अकमणि कुन्द कुसुम, पयपूर की जैसी शुभ्र प्रभा।
रजतहार-सी धवल कान्ति, शुक्ला लेश्या है स्फटिक-निभा ॥९॥

अन्वयार्थ—किण्हलेसा—कृष्णलेश्या, वण्णओ उ—वर्ण की अपेक्षा से, जीमूय-निद्ध-सकासा—स्निग्ध (सजल काले) मेघ के समान, गवलऽरिट्ठग-संनिभा—भैंस के सीग एव अरिष्टक (कौए या अरीठे के फल) के सदृश, (अथवा), खजणजण-नयण-निभा—खजन (गाडी के बागण ओगन कीट) अजन (काजल या सुरमे) एव आँखो की कीकी के समान (काली) है ॥४॥

नीललेसा—नीललेश्या, वण्णओ उ—वर्ण से, नीलाऽसोग-सकासा—नीले अशोक वृक्ष के समान, चास पिच्छ-समप्पभा—चासपक्षी के पख जैसी प्रभावाली, वेरुलिय-निद्ध-सकासा—अथवा स्निग्ध वैडूर्यरत्न के सदृश (अतिनील) है ॥५॥

काउलेसा—कापोतलेश्या, वण्णओ उ—वर्ण से, अयसी-पुप्फ-स ासा—अलसी के फूल जैसी, कोइलच्छव-सन्निभा—कोयल की पख-सी, (तथा), पारेवय-गीव-निभा—कबूतर की गर्दन (ग्रीवा) के समान (कुछ काली और कुछ लाल) है ॥६॥

तेउ लेसा—तेजोलेश्या, वण्णओ उ—वर्ण की अपेक्षा से, हिंगुलुय-धाउ-सकासा—हीगलू तथा धातु—गेरु के सदृश, तरुणाइच्च-सन्निभा—तरुण (उदय होते हुए) सूर्य के समान, सुयतुण्ड-पईव-निभा—तोते की चोच या (जलते हुए) दीपक के समान (लाल) होती है ॥७॥

पम्हलेसा—पद्मलेश्या, वण्णओ उ—वर्ण से, हरियाल भेय सकासा—हरिताल (हडताल) के टुकडे जैसी, हलिद्दा-भेय-सन्निभा—हरिद्रा (हल्दी) के टुकडे सरीखी, (तथा) सणासण-कुसुम-निभा—सण और असन (बीजक) के फूल के समान (पीले रग की) है ॥८॥

सुक्कलेसा—शुक्ललेश्या, वण्णओ उ—वर्ण की अपेक्षा से, सखक कुदसकासा—शख, अकरत्न (स्फटिक तुल्य श्वेत रत्न विशेष एव कुन्द के फूल के सरीखी, खीर-पूर-समप्पभा—दूध की धारा के समान प्रभावाली, रयय-हार-सकासा—(और) रजत (चाँदी) (एव) हार (मोती की माला) के समान (श्वेत) है ॥९॥

विशेषार्थ—लेश्याओ के रग—लेश्याओ के ये रग प्रधानता के आधार पर बताये गये हैं। अर्थात् मुख्यतया कृष्ण लेश्या का रग काला, नीललेश्या

का नीला, कापोतलेश्या का कुछ काला कुछ लाल, तेजोलेश्या का लाल, पद्मलेश्या का पीला और शुक्ल लेश्या का श्वेत होता है। भगवती सूत्र के अनुसार प्रत्येक लेश्या मे एक वर्ण मुख्य रूप से और शेप चार वर्ण गौण रूप से पाए जाते हैं, अर्थात् प्रत्येक लेश्या मे पाँचो वर्ण मुख्य-गौण रूप से होते हैं।[1]

कुछ शब्दो के तात्पर्य नीलाशोक—अशोक के साथ नील विशेषण देने का तात्पर्य रक्त अशोक का निवारण करना है। चाष एक प्रकार का पक्षी है, जिसकी पाख नीले रग की होती है। वैडूर्य मणि को आम भाषा मे 'नीलम' कहते हैं। स्निग्ध से यहाँ आशय है—प्रदीप्त और प्रिय। धा का अर्थ—गैरिक=सिंगरफ है। तरुणादित्य का तात्पर्य है—उदय होते हुए सूर्य का, तथा प्रदीप से तात्पर्य है—प्रज्वलित दीपक शिखा से। चूकि तेजो-लेश्या वर्ण मे दीप्ति और रक्तता की प्रधानता होती है, इसलिए उसके वर्ण निर्णय मे तरुण सूर्य या प्रज्वलित दीपशिखा आदि के जितने भी उदाहरण दिये गये हैं, वे सब दीप्तिमान एव रक्तिमापूर्ण हैं। सन का अर्थ पटसन है, इसके फूल पीले रग के और सुन्दर होते हैं। कुन्द से तात्पर्य है—मुचकुन्द के पुष्प जो बिलकुल सफेद और बहुत सुगन्धित होते है।

(३) रसद्वार—

मूल—जह कडुय-तु बग-रसो, निंबरसो, कडुय-रोहिणि-रसो वा।
एत्तो वि अणतगुणो, रसो उ किण्हाए नायव्वो ॥१०॥

जह तिगडुयस्स य रसो, तिक्खो जह हत्थि-पिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणतगुणो, रसो उ नीलाए नायव्वो ॥११॥

जह तरुण-अबगरसो, तुवर-कविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणतगुणो, रसो उ काऊए नायव्वो ॥१२॥

जह परिणय बगरसो पक्क-कविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणतगुणो, रसो उ तेऊए नायव्वो ॥१३॥

---

१ (क) प्रज्ञापना पद १७
(ख) (प्र) एयाओ ण भते ! छल्लेसाओ कइसु वन्नेसु साहिज्जति ?
(ग) गोयमा ! पचसु वण्णेसु साहिज्जति।
—भगवती० श ७ उ ३ सू.२२६

वरवारुणीए व रसो, विविहाण व आसवाण जारिसओ।
महु-मेरगस्स व रसो, एत्तो पम्हाए परएण ॥१४॥

खज्जूर-मुद्दियरसो, खीररसो खंड-सक्कर-रसो वा।
एत्तो वि अणतगुणो, रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥१५॥

पद्यानु०—जैसे कटु तुम्बे का रस है, कटु निम्ब, रोहिणी रस जानो।
इनसे अनन्त गुणा होता है, कृष्णा लेश्या का रस मानो ॥१०॥

त्रिकटु और गज पीपल का, तीखा रस जैसा होता है।
उससे अनन्तगुणा जानो, नीली लेश्या का होता है ॥११॥
अपक्व आम्र तूवर कपित्थ जैसा खट्टा रस होता है।
इसमें भी अनन्त गुणा खट्टा, कापोती का रस लगता है ॥१२॥

परिपक्व आम्र या रस कपित्थ, जैसा खटमीठा होता है।
इससे भी अनन्तगुणा जानो, तेजोलेश्या-रस होता है ॥१३॥
विविधासव श्रेष्ठ सुरा जैसा, मधु मैरेयक रस सम जानो।
होता है अनन्तगुणा इससे, पद्मा का मादक रस मानो ॥१४॥

जैसे खजूर द्राक्षा शक्कर, रस खाड-क्षीर-मधु होता है।
उससे भी अनन्तगुणा मीठा, रस शुक्ल लेश्या का होता है ॥१५॥

अन्वयार्थ—जह—जैसे, कडुय तुम्बगरसो—कड़वे तुम्बे का रस, निम्बरसो—नीम का रस, कडुय-रोहिणिरसो—अथवा कड़वी रोहिणी (नीम गिलोय) का रस (जितना कड़वा होता है), एत्तो वि—इससे भी, अणतगुणो—अनन्तगुणा (अधिक कड़वा) किण्हाए—कृष्णलेश्या का, रसो उ—रस, नायव्वो—जानना चाहिए ॥१०॥

जह—जिस प्रकार, तिगडुयस्स य रसो[1]—त्रिकटुक (सोंठ, पिप्पल और काली मिर्च इस त्रिकटुक) का रस, वा—अथवा, हत्थि पिप्पलीए—गजपीपल का रस, जह—जितना (जैसा), तिक्खो—तिक्त=तीखा होता है, एत्तो वि—उससे भी, अणतगुणो—अनन्तगुणा अधिक तीखा, नीलाए रसो उ—नीललेश्या का रस, नायव्वो—समझना चाहिए।

जह—जिस प्रकार, तरुण-अंबक-रसो—कच्चे (अपक्व) आम का रस, वा वि—अथवा, तुवर-कविट्ठस्स—कच्चे कसैले कपित्थ फल (कवीठे) का, जारिसओ

---

१ 'यादृशस्त्रिकटुकस्य शुण्ठि-मिरिच-पिप्पल्यारसस्तीक्ष्ण ।'

—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति

—जैसा कसैला रस होता है, एत्तोवि—उससे भी, अणतगुणो रसो उ—अनन्तगुण अधिक कसैला, काऊए—कपोत लेश्या का, रसो उ—रस, नायव्वो—जानना चाहिए ॥१२॥

जह—जैसे, परिणयअंबगरसो—पके हुए आम का रस, पक्क-कविट्ठस्स वावि—अथवा पके हुए कपित्थ फल का रस, जारिसओ—जैसा (खटमीठा) होता है, एत्तोवि—उससे भी, अनंतगुणो—अनन्तगुणा अधिक, रसो उ—(खटमीठा) रस, तेऊए—तेजोलेश्या का, नायव्वो—जानना चाहिए ॥१३॥

वर-वारुणीए व रसो—उत्तम मदिरा के जैसा रस, विविहाण व आसवाण—अथवा विविध आसवो का रस, व—अथवा, महु मेरगस्स—मधु (मद्य विशेष या शहद) मैरेयक (सरके) का, जारिसओ—जैसा, रसो—रस (कुछ खट्टा कुछ कसैला) होता है, एत्तो—उससे भी, परएण—अनन्त-गुणा अधिक, पम्हाए—पद्म-लेश्या का, रसो—रस (होता है) ॥१४॥

खज्जूर-मुद्दिय-रसो—खजूर और द्राक्षा (किशमिश) का रस, खीररसो—क्षीर का रस, वा—अथवा, खंड-सक्कर रसो—खांड और शक्कर का रस होता है, एत्तो वि अणतगुणो—उससे भी अनन्तगुणा अधिक, रसो उ—(मधुर) रस, सुक्काए नायव्वो—शुक्ललेश्या का जानना चाहिए ॥१५॥

विशेषार्थ—प्रत्येक लेश्या का रस एक शब्द मे—कृष्णलेश्या का कटु, नील लेश्या का तीखा (चरपरा), कापोत लेश्या का कसैला, तेजोलेश्या का खटमीठा, पद्मलेश्या का अम्ल कसैला और शुक्ललेश्या का मधुर रस होता है।

कुछ शब्दो का तात्पर्य—रस का अर्थ यहाँ स्वाद विशेष है। कटुरोहिणी कहते हैं, नीम गिलोय को जो ज्वरनाशक औषधविशेष है। हस्ति पिप्पली गजपीपल को कहते हैं। जो बडे आकार की मघा ही होती है। तरुण आम्र कहते हैं—कच्चे (अपक्व) आम को। तुबर और कपित्थफल के साथ भी तरुण-शब्द का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। पके हुए आम और कपित्थ के रस मे मधुरता अधिक आ जाती है, नाम-मात्र की खटास रहती है, इसी तरह तेजोलेश्या के रस मे तो इससे अनन्तगुणा अधिक मधुरता और स्वादिष्टता आ जाती है। वारुणी उच्चकोटि की मदिरा होती है, आसव, मधु और मैरेयक भी एक प्रकार के मद्य हैं। पद्मलेश्या का रस किंचित् अम्ल-कषाय और माधुर्ययुक्त जानना चाहिए। शुक्ललेश्या का रस माधुर्यरस से पूर्ण है। यहाँ जितने भी पदार्थों से उपमा दी गई है, वे सब के सब एक-एक से बढ

कर मधुर है। यहाँ शर्करा का अर्थ—मिश्री है, जिसे गुजराती मे साकर कहते हैं।

(४) गन्धद्वार—

मूल—जह गोमडस्स गधो, सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाण ॥१६॥

जह सुरहि-कुसुम-गंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्ह पि ॥१७॥

पद्यानु०—जैसे मृत-श्वान सर्प गौ की, तनगन्ध अशुभतर होती है।
उससे दुर्गन्धि अनन्तगुणी, तीनो पहली मे होती है ॥१६॥

जैसी सुगन्ध शुभ-कुसुमो की, पीसे सुवास की जो होती।
उससे अनन्तगुण शुभ लेश्या, तीनो की गंध सुरभि होती ॥१७॥

अन्वयार्थ—जह—जिस प्रकार, गोमडस्स—मृत गाय की, सुणगमडस्स—मरे हुए कुत्ते की, व—अथवा, अहिमडस्स—मरे हुए सर्प की, जहा—जैसी, गधो—गन्ध होती है, एत्तो वि— उससे भी, अणतगुणो—अनन्तगुणी (अधिक दुर्गन्ध) कृष्णलेश्यादि तीनो), अप्पसत्थाण लेसाण—अप्रशस्त लेश्याओ की होती है ॥१६॥

सुरहि कुसुमगधे—सुगन्धित पुष्पो की गन्ध, पिस्समाणाण गधवासाण—पीसे जा रहे सुवासित गन्ध द्रव्यो की, जह—जैसी (गन्ध होती है), एत्तो वि अणतगुणो—उससे भी अनन्तगुणी अधिक (सुगन्ध), तिण्ह पि पसत्थलेसाण—तीनो प्रशस्त लेश्याओ (तेजो पद्म शुक्ल) की है ॥१७॥

विशेषार्थ—अप्रशस्त और प्रशस्त लेश्याओ मे गन्ध का तारतम्य—यद्यपि तीनो अप्रशस्त लेश्याओ मे गौ, कुक्कुट, सर्प आदि के मृत कलेवर की दुर्गन्ध से अनन्तगुणी अधिक दुर्गन्ध होती है, तथापि कापोत, नील और कृष्ण, इस व्युत्क्रम से अप्रशस्त लेश्याओ मे दुर्गन्ध का तारतम्य समझ लेना चाहिए इसी तरह तीनो प्रशस्त लेश्याओ की गन्ध भी उन-उन सुगन्धित द्रव्यो से भी अनन्तगुणी अच्छी बताई गई है, तथापि तीनो प्रशस्त लेश्याओ मे सुगन्ध का तारतम्य क्रमश: उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर समझना चाहिए।

(५) स्पर्शद्वार—

मूल—जह करगयस्स फासो, गो-जिब्भाए व सागपत्ताण।
एत्तो वि अणतगुणो, लेसाण अप्पसत्थाण ॥१८॥

जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेसाण तिण्ह पि ॥१९॥

पद्यानु०—करवत या जैसा शाकपत्र, गोजिह्वा-कर्कश स्पर्श यथा ।
उससे अनन्तगुण अप्रशस्त, लेश्या का होता स्पर्श तथा ॥१८॥
स्पर्श बूर मक्खन सम कोमल, वा शिरीष कुसुमवत् जानो ।
उससे भी अमितगुण मृदुल स्पर्श, शुभलेश्याओ का है मानो ॥१९॥

अन्वयार्थ—करगयस्स—करवत (करौत) का, गोजिब्भाए—गाय की जीभ का, व—अथवा, सागपत्ताण—शाक नामक वनस्पति के पत्तो का, जह—जैसा, (कर्कश) फासो—स्पर्श होता है, एत्तो वि—इससे भी, अणतगुणो—अनन्तगुणा (अधिक कर्कश स्पर्श) तीनो (कृष्ण-नील-कापोत) अप्पसत्थाण लेसाण—अप्रशस्त लेश्याओ का होता है ॥१८॥

बूरस्स—बूर नामक वनस्पतिविशेष का, व—या, नवणीयस्स—नवनीत (मक्खन) का, व—तथा, सिरीसकुसुमाण—शिरीष के फूलो का, जह—जैसा (कोमल), फासो—स्पर्श होता है, एत्तो वि—इससे भी, अणतगुणो—अनन्तगुणा (अधिक कोमल स्पर्श), तिण्हपि—तीनो (तेजो-पद्म शुक्ल) पसत्थलेसाण—प्रशस्त लेश्याओ का होता है ॥१९॥

विशेषार्थ—तीन अप्रशस्त तथा तीन प्रशस्त लेश्याओ के स्पर्श मे तारतम्य-अप्रशस्त होने के कारण जिस प्रकार व्युत्क्रम से इन तीनो की गन्ध मे न्यूनाधिकता होती है, वैसे ही इन तीनो के स्पर्श मे न्यूनाधिकता समझनी चाहिए । इसी प्रकार बूर, नवनीत और शिरीष पुष्पो की कोमलता मे कुछ न्यूनाधिकता मालूम होती है, वैसे ही तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या के स्पर्श की कोमलता मे भी उत्तरोत्तर क्रमश न्यूनाधिकता अवश्य होती है ।

शाकपत्र से अभिप्राय है—बिच्छूबूटी आदि का, क्योकि उनके स्पर्शमात्र से शरीर मे खुजली एव जलन होने लगती है ।

(६) परिणाम-द्वार—

मूल—तिविहो व नवविहो वा, सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा ।
दुसओ तेयालो वा, लेसाण होइ परिणामो ॥२०॥

पद्यानु०—नव तीन सत्ताईस इक्यासी, दो सौ तैतालीस भेद यहाँ ।
परिणाम कहे लेश्याओ के, होते ऐसे कई भेद वहाँ ॥२०॥

अन्वयार्थ—लेसाण—लेश्याओ का, परिणामो—परिणाम, तिविहो—तीन प्रकार का, वा—अथवा, नवविहो—नौ प्रकार का, वा—या, सत्तावीसइविह—सत्ताईस प्रकार का, वा—अथवा, इक्कसीओ—इक्यासी प्रकार का, वा—या, दुसओ तेयालो—दो सौ तेतालीस प्रकार का, परिणामो—परिणाम, होइ—होता है ।

विशेषार्थ—लेश्याओ के परिणाम—एक ही लेश्या, दूसरी लेश्या अथवा लेश्याओ के योग्य सम्पर्क से अनेक रूपो (नीलादि लेश्याओ के रूपो) मे परिणत हो जाती है । जैसे वैडूर्यमणि एक ही होता है, किन्तु सम्पर्क मे आने वाले विविध रग के द्रव्यो के कारण वह उन्ही के रूप मे परिणत हो जाता है । इसी प्रकार कृष्णलेश्या आदि नीललेश्या आदि द्रव्यो के योग्य सम्पर्क से नीललेश्यादि के रूप मे परिणत हो जाती है । इसी को परिणाम कहा गया है । लेश्याओ के तीन परिणाम मुख्य हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । फिर इन तीनो मे से एक-एक के जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट भेद करने से ३×३=९ हो जाते हैं । इसी प्रकार २७ को तीन गुणा करने से ८१,और ८१ को तीन गुणा करने से २४३ सख्या परिणाम भेदो की हो जाती है । परिणामो की अपेक्षा से तो सख्या का नियमन नही हो सकता, क्योकि न्यूनाधिकता मे सख्या का बोध नही रहता । प्रज्ञापनासूत्र मे लेश्याओ के परिणामो का इसी प्रकार का वर्णन है ।[1]

(७) लक्षण द्वार

मूल—पंचासव-प्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य ।
तिव्वारंभ-परिणओ खुद्दो साहसिओ नरो ॥२१॥

निद्धंधस-परिणामो, निस्ससो अजिइंदिओ ।
एय-जोग-समाउत्तो, किण्हलेस तु परिणमे ॥२२॥

इस्सा-अमरिस-अतवो, अविज्ज-माया अहीरिया य ।
गेद्धी पओसे य सढे, पमत्ते रस-लोलुए साय-गवेसए ॥२३॥

आरभाओ अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो ।
एय-जोग-समाउत्तो, नीललेस तु परिणमे ॥२४॥

---

१ (क) से नूण भते ! कण्हलेसा नीललेस पप्प ताऋवत्ताए तावण्णत्ताए तागधत्ताए तारसत्ताए भुज्जोभुज्जो परिणमति ? हता गोयमा ! ।

—प्रज्ञापना पद १७ सू० २२५ वृत्तियुक्त ।

(ख) प्रज्ञापना, पद १७, उ ४ सू २२९

वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥२५॥

उप्फालग-दुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी।
एय-जोग-समाउत्तो, काउलेसं तु परिणमे ॥२६॥

नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीय-विणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥२७॥

पियधम्मे दढधम्मे, ऽवज्जभीरू हिएसए।
एय-जोग-समाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे ॥२८॥

पयणु-कोह-माणे य, माया, लोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥२९॥

तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एय-जोग-समाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥३०॥

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म-सुक्काणि साहए।
पसंत-चित्ते, दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥३१॥

सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए ।
एय-जोग-समाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥३२॥

पद्यानु०—पंचास्रव में लगा हुआ, और गुप्ति-अगुप्त षट्तजअविरत।
सलीन तीव्र आरम्भों में, जो क्षुद्र साहसिक नर कलिरत ॥२१॥

परलोक-दोष-शंका-विहीन, अजितेन्द्रिय निर्दय जो नर है।
इन सब योगों से युक्त कृष्ण-लेश्या में होता रतिकर है ॥२२॥

अतपी अमर्षयुत ईर्ष्यालु, निर्लज्ज मूढ मायावी जो।
आसक्त द्वेषकारी प्रमत्त, शठ रस-लोलुप सुखस्वादी जो ॥२३॥

सलग्न सदा आरम्भों में, है क्षुद्र साहसिक चित्त सदा।
इन सबसे युक्त नीललेश्या, में होता परिणत यदा-कदा ॥२४॥

वक्राचारी तन वाणी का, जो कपटी ऋजुता-रहित मना।
परिकुंचक मायी मिथ्यात्वी, अनार्यभाव में रहे सना ॥२५॥

उत्त्रासक दुष्टवादी दुर्वादी, तस्कर और मत्सरभाव धरे।
इन सब योगों से युक्त जीव, कापोती के परिणाम करे ॥२६॥

नम्रवृत्ति चापल्य-रहित, निर्मायी कुतूहल-त्यागी है।
विनयभाव में दक्ष दान्त, उपधानवान् शुभयोगी है ॥२७॥

जो प्रियधर्मी या दृढधर्मी, है पापभीरु शिवपथगामी।
ऐसी प्रवृत्ति से युक्त जान, तेजोलेश्या का परिणामी ॥२८॥
है क्रोध मान जिसमे थोडा, और लोभ कपट भी अल्प जहाँ।
जो शात जितेन्द्रिय मनवाला, तप-साधन मे शुभयोग वहाँ ॥२९॥
मितभाषी और शात हृदय, दमितेन्द्रिय जग मे जो नर है।
ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुज, पद्म-लेश्या-परिणत मन है ॥३०॥
जो आर्त्तरौद्र दो ध्यान छोड, है धर्म शुक्ल धारण करता।
वह शातचित्त और दात समित, गुप्ति से मन गोपन करता ॥३१॥
रागयुक्त गत राग, जितेन्द्रिय, उपशान्त जिन्दगी जीते हैं।
ऐसी प्रवृत्ति से युक्त मनुज, शुक्ला लेश्या को पाते हैं ॥३२॥

अन्वयार्थ—(जो) नरो—मनुष्य, पचासव-प्पवत्तो—पाँच आस्रवो मे प्रवृत्त है, तीहिं अगुत्तो—तीन गुप्तियो से अगुप्त है, छसु अविरओ—षट्कायिक जीवो के प्रति अविरत (असयमी) है, तिव्वारम्भ-परिणओ—तीव्र आरम्भ (हिंसा आदि) मे परिणत=रचा-पचा है, खुद्दो—क्षुद्र य—और, साहसिओ—साहसिक है, निद्धंधस-परिणामो—नि शक परिणाम वाला है, निस्ससो—नृशस=क्रूर है, अजिइंदिओ—अजितेन्द्रिय है, (जो) एय-जोग-समाउत्तो—इन योगो से समायुक्त है, (वह) किण्ह-लेस तु परिणमे—कृष्णलेश्या मे परिणत होता है ॥२१-२२॥

इस्सा-अमरिस-अतवो—(जो) ईर्ष्यालु है, अमर्ष (असहिष्णु या कदाग्रही) है, और अतपस्वी है, अविज्ज-माया-अहीरिया य—तथा अविद्यायुक्त (अज्ञानी), मायी और अह्रीक (निर्लज्ज) है, गेद्धी—(विषयो मे) गृद्ध (आसक्त) है, पओसे—प्रद्वेषी है, सढे—शठ (धूर्त) है, पमत्ते—प्रमादी है, रसलोलुए—रसलोलुप है, य—और, साय-गवेसए—सुख का गवेषक (सुख-सुविधा ढूढता) है, आरम्भाओ अविरओ—(जो) आरम्भ से अविरत है, खुद्दो—क्षुद्र है, साहसिओ—साहसिक है, एय-जोग-समाउत्तो—इन योगो से युक्त, नरो—मनुष्य, नीललेस तु—नील लेश्या मे, परिणमे—परिणत होता है ॥२३-२४॥

वके—(जो मनुष्य) वक्र (वाणी से वक्र) है, वक समायारे—आचार से वक्र है, नियडिल्ले—कुटिल (कपटी) है, अणुज्जुए—सरल नही है, पलिउचग—प्रति-कुचक (अपने दोषो को छिपाने वाला) है, ओवहिए—औपधिक (सर्वत्र छल-प्रपच करने वाला) है, मिच्छदिट्ठी—मिथ्यादृष्टि है, अणारिए—अनार्य है, य—तथा, उप्फालग-दुट्ठवाई—उत्प्रासक दुर्वादी (जैसा मुँह मे आया वैसा दुर्वचन बोलने वाला)

है, तेणे—स्तेन=चोर है, य—और, मच्छरीया वि—मत्सरी (डाह करने वाला) भी है, एय-जोग-समाउत्ता—इन योगो से युक्त जीव, काउलेस तु—कापोतलेश्या मे, परिणमे—परिणत होता है ॥२५-२६॥

नीयावित्ती—(जो) नम्रवृत्ति का है, अचवले—चपलता से रहित है, अमाई—माया से रहित है, अकुऊहले—कौतूहल से दूर है, विणीय-विणए—(गुरु आदि का) विनय करने मे विनीत (निपुण या अभ्यस्त) है, दंते—दान्त है, जोगव—योगवान (स्वाध्यायादि से) समाधि सम्पन्न है, उवहाणव—उपधानवान् (शास्त्राध्ययन के समय निहित तपस्या का कर्त्ता) है, (तथा) पियधम्मे—(जो) प्रियधर्मी है, दढधम्मे—दृढधर्मी है, वज्जभीरू—पापभीरु है, हिएसए—हितैषी (आत्मार्थी) है, एय जोग समाउत्ते—इन योगो से युक्त मानव, तेउलेस तु—तेजोलेश्या मे, परिणमे—परिणत होता है ॥२७-२८॥

पयणु-कोह-माणे य—जिसके क्रोध और मान अत्यन्त पतले (अतिमन्द) हो गए हैं, माया-लोभे य पयणुए—माया और लोभ भी अतीव पतले (अल्प) हो गए है, पसतचित्ते—जो प्रशान्त-चित्त है, दन्तप्पा—जिसने आत्मदमन कर लिया है, जोगव उवहाणव—जो योगवान् और उपधानवान् है, तहा—तथा, पयणुवाई—जो अत्यन्त कम बोलता है, उवसते—उपशान्त है, य—और, जिइदिए—जितेन्द्रिय है, एय जोग समाउत्ते—इन योगो से युक्त (मनुष्य), पम्हलेस तु—पद्म लेश्या मे, परिणमे—परिणत होता है ॥२९-३०॥

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता—(जो) आर्त्त और रौद्रध्यान का त्याग करके, धम्म-सुक्काणि—धर्म और शुक्लध्यान मे, झायए—एकाग्रचित्त होता है, (जो) पसतचित्ते—प्रशान्तचित्त है, दंतप्पा—आत्म-दमन-कर्त्ता है, समिए—पाँच समितियो से समित, य—और, गुत्तिहिं गुत्ते—तीन गुप्तियो से गुप्त है, (ऐसा व्यक्ति) सरागे वीयरागे वा—सराग हो या वीतराग, (किन्तु जो) उवसते—उपशान्त है, जिइदिए—जितेन्द्रिय है, एय-जोग-समाउत्तो—इन योगो से समायुक्त मानव, सुक्कलेस तु—शुक्ललेश्या मे, परिणमे—परिणत होता है ॥३१-३२॥

विशेषार्थ—कृष्णादि षट्लेश्या वालो के लक्षण—प्रस्तुत २१ से ३२ तक १२ गाथाओ मे छहो लेश्या वाले जीवो को पहचानने के पृथक-पृथक लक्षण बताये गए हैं। किस जीव मे कौन-सी लेश्या काम कर रही है ? कृष्णादि लेश्या से युक्त जीव के क्या-क्या आचार-विचार होते हैं ? वह क्या-क्या विशेष प्रवृत्ति मन-वचन-काया से करता है ? इत्यादि विचारणा विशद

रूप से की गई है। इनमे प्रथम तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं, शेष तीन प्रशस्त हैं।

कुछ शब्दो के आशय—पचासवप्पवत्तो—हिंसा, असत्य आदि पाँच आस्रवों (पापो) मे प्रवृत्त (सलग्न) छसु अविरओ—पृथ्वीकायादि षट्काय की विराधना करने वाला, खुद्दो—क्षुद्र (नीच) बुद्धि, साहसिओ—अविवेक पूर्वक बिना सोचे-विचारे कार्य करने वाला, तिव्वारम-परिणओ—शरीर से या अध्यवसाय से अत्यन्त तीव्र आरम्भ सावद्य व्यापार मे जो परिणत=रचा-पचा है। निद्धधस-परिणामो—परिणाम के विचार से शून्य जिसके परिणाम इहलोक या परलोक मे मिलने वाले दुःख या दण्डादि अपाय के प्रति अतीव निःशक हैं। यानी जो पारलौकिक भयो से रहित है, अथवा जो प्राणियो को होने वाली पीडा की परवाह नही करता। नील लेस तु परिणमे—उसमे नील लेश्या के परिणाम होते हैं, दूसरे शब्दो मे—नील लेश्या वाला व्यक्ति उक्त लक्षणो से लक्षित होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए। पलिउ चग-ओवहिए—अपने दोषो को छिपाने के लिए अनेक प्रकार के उपाय सोचने वाला अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति मे छल-कपट का व्यवहार करने वाला। उप्फालग-दुट्ठवाई—ऐसी मर्मस्पर्शी भाषा बोलने वाला जिसके सुनने से दूसरो का हृदय विदीर्ण हो जाए, अथवा रागद्वेष-वर्द्धक वचनो का प्रयोग करने वाला दुर्वादी। मच्छरी—दूसरे की सम्पदा (विभूति) को सहन न करने तथा धन का त्याग न करने वाला डाह से युक्त। नीयावित्ती—जो मन-वचन-काया से सदा नम्रता का व्यवहार करता है, अर्थात्—किसी प्रकार का अहकार नही करता, अकुऊहले—कुतूहल से रहित अर्थात्—हँसी-मजाक आदि से या इन्द्रजाल आदि से कौतुक, खेल तमाशे एव चमत्कार प्रदर्शन से रहित है, जोगव—वाचना-पृच्छना आदि पाच प्रकार के स्वाध्याय और सुध्यान मे रत रहने वाला, उवहाणव—श्रुत की आराधना के लिए योगोद्वहन करने वाला। सायगवेसए—जो अहर्निश सुख सुविधा की तलाश मे रहता है, जिसे रात-दिन सुख की चिन्ता रहती है। पसतचित्ते—कषायरूप अग्नि शान्त होने से जिसका चित्त प्रशान्त है। पयणुवाई—अत्यन्त अल्पभाषी। उवसते—शान्तरस मे निमग्न रहता है, गुत्ते य गुत्तिसु—तीन प्रकार की गुप्ति—मन-वचन-काया की चेष्टाओ से निवृत्ति-से गुप्त=आत्मरक्षक। सरागे—अल्पराग युक्त, मानी, अल्पकषायी वीयरागेया—अथवा वीतराग—कषायो से सर्वथा रहित। एयजोगसमाउत्तो—

इन पूर्वोक्त लक्षणो के योगो—मन-वचन-काया के व्यापारो—से युक्त, अर्थात्—इन्ही प्रवृत्तियो मे मन-वचन-काया को लगाए रखने वाला।[1]

(८) स्थान-द्वार—

मूल—असंखिज्जाणोसप्पिणीण उस्सप्पिणीण जे समया।
सखाईया लोगा, लेसाण हुंति ठाणाइं ॥३३॥

पद्यानु०—सख्या-अतीत अवसर्पिणी काल, और समय उत्सर्पिणी के जितने।
अगणित लोको के क्षेत्राणु, लेश्या के स्थान कहे उतने ॥३३॥

अन्वयार्थ—असखिज्जाण—असख्यात, ओसप्पिणीण उस्सप्पिणीण—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालो के, जे समय—जितने समय होते है, (तथा) सखाईया लोगा—सख्यातीत (अगणित) लोको (के जितने आकाशप्रदेश क्षेत्राणु) होते हैं, (उतने ही), लेसाण—(शुभ-अशुभ दोनो प्रकार की) लेश्याओ से, ठाणाइ—स्थान, हुंति—होते है ॥३३॥

विशेषार्थ—काल विभाग से लेश्याओ के स्थान—इस ससार मे दो प्रकार के कालचक्रो का क्रमश भ्रमण होता आया है। एक है—अवसर्पिणीकाल-चक्र और दूसरा है—उत्सर्पिणीकालचक्र। जिसमें पदार्थों के आयु-मान, स्थिति, शरीर और सुखादि का क्रमश ह्रास होता जाए, उसे अवसर्पिणी कालचक्र कहते हैं, तथा जिसमे पदार्थो की आयु, स्थिति, शरीर, आकृति आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाए, उसे उत्सर्पिणीकालचक्र कहते हैं। प्रत्येक कालचक्र मे ६-६ आरे अर्थात् विभाग माने गये हैं। इन दोनो काल चक्रो का कालमान समान है, अर्थात् प्रत्येक का दस कोटाकोटी सागरोपम होता है। इस प्रकार दोनो कालचक्रो का कालमान मिलाकर बीस कोटा-कोटी सागरोपम होता है।

लेश्याओ के स्थान का काल विभाग की दृष्टि से वर्णन करते हुए कहा गया है कि असख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के जितने समय हो सकते हैं, उतने ही स्थान (स्रोत) लेश्याओ के हो सकते हैं। काल की दृष्टि से लेश्याओ के ये स्थान विशुद्धि और अशुद्धि के तारतम्य की अवस्थाएँ हैं।

क्षेत्र विभाग से लेश्याओं के स्थान—असख्यात लोको मे जितने भी आकाश प्रदेश हैं, उतने ही स्थान लेश्याओ के हैं।

---

१ (क) उत्तरा बृहद्वृत्ति अ ३४, अ रा कोष भा ६ पृ ६८८ से ६९०

स्थानो की यह चर्चा शुभाशुभ दोनो प्रकार की लेश्याओ को लेकर की गई है। लेश्याओ के इन समस्त स्थानो का यथार्थ ज्ञान तो केवलज्ञानी के सिवाय और किसी को नही हो सकता। इन स्थानो के अनुसार ही कर्म-प्रकृतियो का बन्ध अर्थात् आत्म-प्रदेशो के साथ कर्म-पुद्गल परमाणुओ का श्लेष (सयोग) होता है।

(९) स्थिति-द्वार (क) (औधिकदृष्टि से छह लेश्याओ की स्थिति)

मूल—मुहुत्तद्ध तु जहन्ना, तेत्तीसा सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा किण्हलेसाए ॥३४॥

मुहुत्तद्ध तु जहन्ना, दस उदही पलियमसखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा नीललेसाए ॥३५॥

मुहुत्तद्ध तु जहन्ना, तिण्णुदही-पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा काउलेसाए ॥३६॥

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दोण्णुदही-पलियमसखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा तेउलेसाए ॥३७॥

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, दस उदही होति मुहुत्तमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा पम्हलेसाए ॥३८॥

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, तेत्तीस सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥३९॥

पद्यानु०—अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, सागर तेतीस मुहूर्ताधिक।
उत्कृष्ट वही स्थिति होती है, कृष्णा लेश्या के जो नायक ॥३४॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, दश-सागर पल्यासख्य भाग।
ज्ञातव्य नीललेश्या की है, उत्कृष्ट स्थिति का यह विभाग ॥३५॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यून-स्थिति, सागर त्रय पल्यासख्य भाग।
जानो कापोती लेश्या का, उत्कृष्ट काल का यह विभाग ॥३६॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, दो सागर पल्यासख्य भाग।
तेजोलेश्या की इतनी है, उत्कृष्ट स्थिति, सुन लो काल भाग ॥३७॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, दशसागर मुहूर्त साधिक की।
उत्कृष्ट स्थिति यो होती है, पद्मालेश्या के जीवन की ॥३८॥

अन्तर्मुहूर्त की न्यून स्थिति, सागर तेतीस मुहूर्त्ताधिक।
उत्कृष्ट स्थिति यो पाता है, शुक्ललेश्या का अधिनायक ॥३९॥

अन्वयार्थ—किण्हलेसा य—कृष्णलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य (कम से कम) स्थिति, मुहुत्तद्ध तु—मुहूर्तार्द्ध अर्थात् अन्तमुंहूर्त्त, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तऽहिया तेत्तीस सागरा—एक मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरा, नायव्वा—जाननी चाहिए ।।३४।।

नीललेसाए—नील लेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तमुंहूर्त्त, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसख-भागमब्भहिया दस उवही—पल्योपम के असख्यातवे भाग अधिक दस सागर, नायव्वा—जाननी चाहिए ।।३५।।

काउलेसाए—कापोतलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तमुंहूर्त्त । होइ—होती है । (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसख-भागमब्भहियातिण्णुवही—पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक तीन सागर है ।।३६।।

तेउलेसाए—तेजोलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तमुंहूर्त्त, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसख-भागमब्भहिया दो उवही—पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दो सागर, नायव्वा—जाननी चाहिए ।।३७।।

पम्हलेसाए—पद्मलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तमुंहूर्त्त, होइ—होती है,, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तऽहिया दस-सागरा—एक मुहूर्त्त अधिक दस सागर, होति—होती है, (ऐसा) नायव्वा—जानना चाहिए ।।३८।।

सुक्कलेसाए—शुक्ललेश्या की, जहन्ना ठिई तु—जघन्य स्थिति, मुहुत्तद्ध—अन्तमुंहूर्त्त, होइ—होती है, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तऽहिया तेत्तीस सागरा—एक मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर, नायव्वा—जाननी चाहिए ।।३९।।

विशेषार्थ—एकभव की अपेक्षा से कृष्णादि लेश्याओ की स्थिति—इसका आशय यह है कि कृष्णादि लेश्याएँ एक भव मे जघन्य और उत्कृष्ट (कम से कम और अधिक से अधिक) कितने समय तक रह सकती हैं ? इसका निरूपण गाथा ३४ से ३९ तक किया गया है । सभी लेश्याओ का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिमान मूल पाठ एव अन्वयार्थ से स्पष्ट है ।

'मुहुत्तद्ध' और 'मुहुत्तऽहिया' से तात्पर्य—'मुहूर्त्तार्द्ध' मे मुहूर्त्त का बराबर समविभागरूप 'अर्द्ध' अर्थ यहाँ विवक्षित नही है । अत एक समय से ऊपर और पूर्ण मुहूर्त्त से नीचे के सभी छोटे-बडे अश, जो कि अन्तमुंहूर्त्त

मे समाविष्ट है, यहाँ विवक्षित है, इसीलिए 'मुहूर्त्तार्द्ध' का अर्थ यहाँ सर्वत्र 'अन्तर्मुहूर्त्त' किया गया है।

'मुहूर्त्त' शब्द का भी यहाँ अन्तर्मुहूर्त्त अर्थ विवक्षित है। कही-कही समुदाय मे प्रवृत्त हुआ शब्द उसके एकदेश का ग्राहक भी होता है। जैसे—'वस्त्र जल गया' इत्यादि प्रयोगो मे वस्त्रादि का एकदेश जलने पर उसका विवक्षित अर्थ वस्त्र आदि का एकदेश ही होता है। इसी प्रकार मुहूर्त्त शब्द का प्रयोग भी यहाँ मुहूर्त्त का एकदेश=अन्तर्मुहूर्त्त अर्थ मे विवक्षित है। इसलिए जहाँ मुहूर्त्त अधिक दस आदि सागर की स्थिति बताई गई है, वहाँ एक अन्तर्मुहूर्त्त पूर्वभव का और एक अन्तर्मुहूर्त्त उत्तर भव का, यो दो अन्तर्मुहूर्त्त अर्थ समझना चाहिए। नीललेश्या आदि के स्थिति-निरूपण मे जहाँ पल्योपम का असख्यातवाँ भाग बताया है, वहाँ भी पूर्वोत्तर दो भवो से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त्त विवक्षित है। फिर भी सामान्यतया असख्यातवाँ भाग कहने मे कोई आपत्ति नही है, क्योकि असख्येय के भी असख्येय भेद होते है। ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति मे जो मुहूर्त्त अधिक बताया गया है उसका तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म मे प्राप्त होने वाली लेश्या मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त (अन्तर्मुहूर्त्त) पहले ही आ जाती है। इस दृष्टि से कृष्णादि लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति मे एक अन्तर्मुहूर्त्त (मुहूर्त्त) का अधिक समय जोडा गया है।

चारो गतियो मे लेश्याओ की स्थिति

मूल—एसा खलु लेसाण, ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो, लेसाण ठिइ तु वोच्छामि ॥४०॥

दसवास-सहस्साइ काऊए ठिई जहन्निया होइ।
तिण्णुदही-पलिओवम, असखभाग च उक्कोसा ॥४१॥

तिण्णुदही-पलिओवम असखभागो जहन्नेण नीलठिई।
दस-उदही-पलिओवम, असखभाग च उक्कोसा ॥४२॥

दस-उदही पलिओवम, असखभाग जहन्निया होइ।
तेत्तीस सागराइ, उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४३॥

एसा नेरइयाण लेसाण, ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण पर वोच्छामि, तिरिय-मणुस्साण देवाण ॥४४॥

अतोमुहुत्तमद्ध, लेसाण ठिई जहि जहि जा उ।
तिरियाण नराण वा, वज्जित्ता केवल लेस ॥४५॥

अन्वयार्थ—किण्हलेसा य—कृष्णलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य (कम से कम) स्थिति, मुहुत्तद्ध तु—मुहूर्त्तार्ध अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तऽहिया तेत्तीस सागरा—एक मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरा, नायव्वा—जाननी चाहिए ॥३४॥

नीललेसाए—नील लेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तर्मुहूर्त्त, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसंखभागमब्भहिया दस उवही—पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दस सागर, नायव्वा—जाननी चाहिए ॥३५॥

काउलेसाए—कापोतलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्धं—अन्तर्मुहूर्त्त । होइ—होती है। (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसंखभागमब्भहियातिण्णुवही—पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक तीन सागर है ॥३६॥

तेउलेसाए—तेजोलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तर्मुहूर्त्त, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसंखभागमब्भहिया दो उवही—पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दो सागर, नायव्वा—जाननी चाहिए ॥३७॥

पम्हलेसाए—पद्मलेश्या की, जहन्ना ठिई—जघन्य स्थिति, तु मुहुत्तद्ध—अन्तर्मुहूर्त्त, होइ—होती है,, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तऽहिया दस-सागरा—एक मुहूर्त्त अधिक दस सागर, होंति—होती है, (ऐसा) नायव्वा—जानना चाहिए ॥३८॥

सुक्कलेसाए—शुक्ललेश्या की, जहन्ना ठिई तु—जघन्य स्थिति, मुहुत्तद्ध—अन्तर्मुहूर्त्त, होइ—होती है, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तऽहिया तेत्तीस सागरा—एक मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर, नायव्वा—जाननी चाहिए ॥३९॥

विशेषार्थ—एकभव की अपेक्षा से कृष्णादि लेश्याओ की स्थिति—इसका आशय यह है कि कृष्णादि लेश्याएँ एक भव मे जघन्य और उत्कृष्ट (कम से कम और अधिक से अधिक) कितने समय तक रह सकती हैं ? इसका निरूपण गाथा ३४ से ३९ तक किया गया है। सभी लेश्याओ का जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिमान मूल पाठ एव अन्वयार्थ से स्पष्ट है।

'मुहुत्तद्ध' और 'मुहुत्तऽहिया' से तात्पर्य—'मुहूर्त्तार्द्ध' मे मुहूर्त्त का बराबर समविभागरूप 'अर्द्ध' अर्थ यहाँ विवक्षित नही है। अत एक समय से ऊपर और पूर्ण मुहूर्त्त से नीचे के सभी छोटे-बडे अश, जो कि अन्तर्मुहूर्त्त

मे समाविष्ट है, यहाँ विवक्षित है, इसीलिए 'मुहूर्त्तार्द्ध' का अर्थ यहाँ सर्वत्र 'अन्तर्मुहूर्त्त' किया गया है।

'मुहूर्त्त' शब्द का भी यहाँ अन्तर्मुहूर्त्त अर्थ विवक्षित है। कहीं-कहीं समुदाय मे प्रवृत्त हुआ शब्द उसके एकदेश का ग्राहक भी होता है। जैसे—'वस्त्र जल गया' इत्यादि प्रयोगो में वस्त्रादि का एकदेश जलने पर उसका विवक्षित अर्थ वस्त्र आदि का एकदेश ही होता है। इसी प्रकार मुहूर्त्त शब्द का प्रयोग भी यहाँ मुहूर्त्त का एकदेश—अन्तर्मुहूर्त्त अर्थ मे विवक्षित है। इसलिए जहाँ मुहूर्त्त अधिक दस आदि सागर की स्थिति बताई गई है, वहाँ एक अन्तर्मुहूर्त्त पूर्वभव का और एक अन्तर्मुहूर्त्त उत्तर भव का, यो दो अन्तर्मुहूर्त्त अर्थ समझना चाहिए। नीललेश्या आदि के स्थिति-निरूपण मे जहाँ पल्योपम का असख्यातवाँ भाग बताया है, वहाँ भी पूर्वोत्तर दो भवो से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त्त विवक्षित है। फिर भी सामान्यतया असख्यातवाँ भाग कहने मे कोई आपत्ति नही है, क्योकि असख्येय के भी असंख्येय भेद होते है। ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति मे जो मुहूर्त्त अधिक बताया गया है उसका तात्पर्य यह है कि आगामी जन्म मे प्राप्त होने वाली लेश्या मृत्यु के समय से एक मुहूर्त्त (अन्तर्मुहूर्त्त) पहले ही आ जाती है। इस दृष्टि से कृष्णादि लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति मे एक अन्तर्मुहूर्त्त (मुहूर्त्त) का अधिक समय जोड़ा गया है।

चारों गतियो मे लेश्याओ की स्थिति

मूल—एसा खलु लेसाण, ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो, लेसाण ठिइ तु वोच्छामि ॥४०॥

दसवास-सहस्साइ काऊए ठिई जहन्निया होइ।
तिण्णुदही-पलिओवम, असखभाग च उक्कोसा ॥४१॥

तिण्णुदही-पलिओवम असंखभागो जहन्नेण नीलठिई।
दस-उदही-पलिओवम, असखभाग च उक्कोसा ॥४२॥

दस-उदही पलिओवम, असखभाग जहन्निया होइ।
तेत्तीस सागराइ, उक्कोसा होइ किण्हाए ॥४३॥

एसा नेरइयाण लेसाण, ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण पर वोच्छामि, तिरिय-मणुस्साण देवाण ॥४४॥

अतोमुहुत्तमद्ध, लेसाण ठिई जहि जहि जा उ।
तिरियाण नराण वा, वज्जित्ता केवल लेस ॥४५॥

मुहुत्तद्ध तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।
नवहि वरिसेहि ऊणा, नायव्वा सुक्कलेसाए ॥४६॥

एसा तिरिय-नराण, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण पर वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाण ॥४७॥

दसवास-सहस्साइ, किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।
पलियमसखिज्जइमो, उक्कोसो होइ किण्हाए ॥४८॥

जा किण्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं नीलाए पलियमसख च उक्कोसा ॥४९॥

जा नीलाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेण काऊए, पलियमसख च उक्कोसा ॥५०॥

तेण पर वोच्छामि, तेऊलेसा जहा सुरगणाण।
भवणवइ-वाणमतर-जोइस-वेमाणियाण ॥५१॥

पलिओवम जहन्ना, उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया।
पलियमसखेज्जेण होई, भागेण तेऊए ॥५२॥

दसवास-सहस्साइ, तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुन्नुदही पलिओवम, असखभाग च उक्कोसा ॥५३॥

जा तेऊए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेण पम्हाए दस उ, मुहुत्तऽहियाइ च उक्कोसा ॥५४॥

जा पम्हाए ठिई खलु, उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेण सुक्काए, तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया ॥५५॥

पद्यानु०—सामान्य स्थिति यह लेश्या की, बतलाई जग मे जिनवर ने।
अब चारो गतियो मे कैसी, बतलाई सस्थिति प्रभुवर ने ? ॥४०॥
दश-सहस्र वर्ष कापोती की, न्यूनातिन्यून स्थिति होती है।
उत्कृष्ट जलधित्रिक् पल्यासख्यभाग, लेश्या प्राणी को रहती है ॥४१॥
जलनिधित्रिक पल्यासख्य-भाग, होती जघन्य स्थिति नीला की।
दश सागर पल्यासख्य-भाग, उत्कृष्ट स्थिति इस लेश्या की ॥४२॥
दश सागर पल्यासख्य-भाग, न्यूनातिन्यून स्थिति होती है।
सागर तेतीस परम जानो, कृष्णा लेश्यावधि होती है ॥४३॥

नारक जीवो की लेश्या का, यह कालमान श्रुति बतलाती ।
इससे आगे स्थिति बतलाऊँ, नर-तिर्यक्-सुर को क्या होती ॥४४॥

अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति होती, जिनमे जो अवधि लेश्या की ।
केवल लेश्या का वर्जन कर, तिर्यञ्च और नर जीवन की ॥४५॥

अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति होती, उत्कृष्ट क्रोड पूरब जानो ।
नववर्ष ऊन है पूर्वो मे, शुक्ला लेश्या की स्थिति मानो ॥४६॥

तिर्यञ्च-मनुज की लेश्या की, उपर्युक्त स्थिति है बतलाई ।
देवो मे लेश्या की अवधि, बतलाऊँ श्रुत मे ज्यो गाई ॥४७॥

दश सहस्र वर्ष न्यून स्थिति, कृष्णा लेश्या की होती है ।
पल्यासख्य-भाग बतलाई, जब अधिक काल तक रहती है ॥४८॥

कृष्णा की उत्कृष्ट स्थिति, जो समयाधिक कर ली जावे ।
होती जघन्य वह नीला की स्थिति पल्यासंख्य परम होवे ॥४९॥

नीला की उत्कृष्ट स्थिति जो, समयाधिक कर ली जावे ।
होती जघन्य कापोती की, वह पल्यासख्य परम आवे ॥५०॥

आगे इसके मैं बतलाऊँ, तेजो सुरगण को जैसे हो ।
भवनाधिप-व्यन्तर-वैमानिक, ज्योतिर्धर के तन कैसे हो ? ॥५१॥

पल्योपम की न्यून स्थिति, दो सागर ऊँची स्थिति जानो ।
साधिक पल्यासख्य-भाग, तेजोलेश्या की स्थिति मानो ॥५२॥

दश-सहस्र वर्ष तेजो की, न्यूनातिन्यून स्थिति जिन जानी ।
दो सागर पल्यासख्य-भाग, उत्कृष्ट स्थिति कहते ज्ञानी ॥५३॥

तेजोलेश्या की परम स्थिति, समयाधिक जघन्य है पद्मा की ।
दश सागर ऊँची स्थिति होती, अन्तर्मुहूर्त्त बढकर उनकी ॥५४॥
पद्मा की स्थिति जो बतलाई, समयाधिक ऊँची वह मानो ।
शुक्ला की न्यून स्थिति वैसे, सागर तेतीस परम जानो ॥५५॥

अन्वयार्थ— एसा—यह, (पूर्वोक्त) लेसाण—लेश्याओ की, ठिई उ—स्थिति, ओहेण—औधिकरूप—सामान्य रूप से, बहु—ही, वण्णिया होइ—वर्णित की है । एत्तो—अब यहाँ से, चउसु वि गईसु—चारो गतियो मे, लेसाण ठिई तु—लेश्याओ की स्थिति का, वोच्छामि—कथन करूँगा ॥४०॥

काऊए—कापोतलेश्या की, ठिई—स्थिति, जहन्निया—जघन्य, दस-वास-सहस्साइ—दस हजार वर्ष की, च—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट, तिण्णुदही-

पलिओवम-असखभाग—पल्योपम के असख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम की, होइ—होती है ॥४१॥

नीले-ठिई—नील लेश्या की स्थिति, जहन्नेण—जघन्यत पलिओवम—असखभाग दस उदही—पल्योपम के असख्यातवें भाग-सहित दश सागर की, होइ—होती है ॥४२॥

किण्हाए—कृष्णलेश्या की, जहन्निया—जघन्य स्थिति, पलियमसखभाग दस उदही—पल्योपम के असख्यातवे भाग-सहित दश सागर की, होइ—होती है, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, तेत्तीस-सागराइ—तेतीस सागरोपम, होइ—होती है ॥४३॥

एसा—यह (पूर्वोक्त), नेरइयाण—नैरयिक जीवो की, लेसाण—लेश्याओ की, ठिई उ—स्थिति का, वण्णिया होइ—वर्णन किया गया है, तेण पर—इससे आगे तिरिय मणुस्साण—तिर्यञ्चो, मनुष्यो (और), देवाण—देवो की (लेश्या स्थिति का) वोच्छामि—कथन करूँगा ॥४४॥

केवल लेस वज्जित्ता—केवल शुक्ल लेश्या को छोडकर, तिरियाण नराण वा—तिर्यञ्चो अथवा मनुष्यो की, जहिं जहिं—जहा-जहा, जा उ—जो है, (उनकी) लेसाण ठिइ—लेश्याओ की (जघन्य और उत्कृष्ट) स्थिति, अतोमुहुत्तमद्ध—अन्त-मुंहूर्त (काल की होती है) ॥४५॥

सुक्कलेसाए—शुक्ललेश्या की, जहन्ना उ—जघन्य स्थिति, मुहुत्तद्ध—अन्त-मुंहूर्त (और), उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, नवहि वरिसेहि ऊणा पुव्वकोडी उ—नौ वर्ष कम एक करोड पूर्व की, नायव्वा—जाननी चाहिए ॥४६॥

एसा—यह, तिरिय नराण—तिर्यञ्चो और मनुष्यो की, लेसाण—लेश्याओ की, ठिई उ—स्थिति का, वण्णिया होइ—वर्णन किया गया है, तेण पर—इससे आगे, देवाण—देवो की, लेसाण—लेश्याओ की, ठिई उ—स्थिति का, वोच्छामि—कथन करूँगा ॥४७॥

(भवनपति और वाणव्यन्तरदेवो की) कण्हाए—कृष्णलेश्या की, जहन्निया ठिई—जघन्य स्थिति, दसवास सहस्साइ—दस हजार वर्ष की, होइ—होती है (तथा) किण्हाए—कृष्ण लेश्या की, उक्कोसा—उत्कृष्ट, पलियमसखिज्जइमो—पल्योपम का असख्यातवा भाग (प्रमाण), होइ—होती है ॥४८॥

जा कण्हाए—कृष्णलेश्या की, उक्कोसा ठिई—उत्कृष्ट स्थिति है, सा उ वहु वही, समयमब्भहिया—एक समय अधिक, नीलाए—नील लेश्या की, जहन्नेण—

जघन्य स्थिति है, तु—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसंख—पल्योपम का असंख्यातवां भाग है ॥४९॥

जा नीलाए—जो नील लेश्या की, उक्कोसा ठिई—उत्कृष्ट स्थिति है, सा उ खलु—वही, समयमब्भहिया—एक समय अधिक, काउए—कापोतलेश्या की, जहन्नेण—जघन्य स्थिति है, च—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसंख—पल्योपम का असंख्यातवां भाग है ॥५०॥

तेण परं—इससे आगे, भवणवइ-वाणमंतर-जोइस-वेमाणियाण च—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, सुरगणाणं—देवगणों की, जहा—जिस प्रकार की, तेउलेसा—तेजोलेश्या होती है, (उसे), वोच्छामि—कहूँगा ॥५१॥

तेउए—तेजोलेश्या की, जहन्ना—जघन्य स्थिति, पलिओवमं—एक पल्योपम है, (और), उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलियमसंखेज्जेण भागेण अहिया सागरा उ दुण्हा—पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की, होइ—होती है ॥५२॥

(भवनपति और व्यन्तर देवों की अपेक्षा से), तेउए जहन्निया ठिई—तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति, दसवाससहस्साइं—दस हजार वर्ष की, होइ—होती है, च—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, पलिओवम असंखेभाग दुण्हुवही—पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर है ॥५३॥

तेउए जा—तेजोलेश्या की जो, उक्कोसा ठिई—उत्कृष्ट स्थिति है, सा उ खलु—वही, समयमब्भहिया—उससे एक समय अधिक, पम्हाए—पद्मलेश्या की, जहन्नेण—जघन्य स्थिति है, च—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट स्थिति, मुहुत्तहियाइ दस उ—एक मुहूर्त अधिक दस सागरोपम की है ॥५४॥

पम्हाए—पद्मलेश्या की, जा—जो, उक्कोसा ठिई—उत्कृष्ट स्थिति है, सा उ खलु—वही, (उससे), समयमब्भहिया—एक समय अधिक, सुक्काए—शुक्ललेश्या की, जहन्नेण—जघन्य स्थिति है, (और उत्कृष्ट स्थिति), मुहुत्तमब्भहिया तेत्तीस—एक मुहूर्त अधिक तेतीस सागरोपम की है ॥५५॥

विशेषार्थ—चारों गतियों की दृष्टि से लेश्याओं की स्थिति—सर्वप्रथम नारकों की कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याओं की स्थिति का गा ४१-४२-४३ में व्युत्क्रम से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् ४५वीं गाथा में तिर्यञ्चों और मनुष्यों की शुक्ललेश्या को छोड़कर शेष पाँच लेश्याओं की स्थिति जघन्यतः और उत्कृष्टतः दोनों ही प्रकार से अन्तर्मुहूर्त बताई गई है, वह भावलेश्या की दृष्टि से है, क्योंकि छद्मस्थ व्यक्ति के भाव एक

स्थिति मे अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नही रहते ।[1] गाथा ४६ मे शुक्ललेश्या की स्थिति का जो निरूपण किया गया है, वह सयोगी केवली की अपेक्षा से है, क्योकि सयोगी केवली की उत्कृष्ट केवल-पर्याय ९ वर्ष कम पूर्वकोटि है और सयोगी केवली के एक सरीखे व्यवस्थित भाव होने से उनकी शुक्ल-लेश्या की स्थिति भी ९ वर्ष कम पूर्वकोटि बताई गई है । अयोगी केवली मे लेश्या होती ही नही ।[2]

देवगति मे प्राप्त होने वाली कृष्णादि लेश्याओ की स्थिति का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम गा ४८ मे भवनपति और व्यन्तर देवो मे कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति १०००० वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग मात्र है । यह ध्यान रहे कि कृष्णलेश्या का सद्भाव इन्ही दो जाति के देवो मे होने से यह स्थिति भी इन देवो की मध्यम आयु की अपेक्षा से कही गई है । गाथा ४९ मे कहा गया है कि इन्ही दो प्रकार के देवो मे कृष्णलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, उससे एक समय अधिक जघन्य स्थिति नीललेश्या की है, और नीललेश्या की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग जितनी है । पूर्व मे जो पल्योपम का असख्यातवाँ भाग कहा गया है, उससे यह भाग बृहत्तर समझना चाहिए, क्योकि असख्येय के भी असख्येय भाग होते हैं । इसके पश्चात् गाथा ५२-५३ मे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक चारो प्रकार के देवो की अपेक्षा से तेजोलेश्या की स्थिति का वर्णन किया गया है । ५२वी गाथा मे कथित तेजोलेश्या की स्थिति सामान्यतया वैमानिक देवो की अपेक्षा से प्ररूपित है । क्योकि यह लेश्या दूसरे (ईशान) देवलोक तक ही होती है । पहले और दूसरे देवलोक मे इतनी ही आयु होती है । उपलक्षण से भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवो की लेश्या की स्थिति भी इसी मे समाविष्ट हो जाती है । जैसे कि भवनपति और व्यन्तर देवो में तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष की है, तथा भवनपतियो की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की और व्यन्तरो की एक पल्योपम की होती है, जबकि ज्योतिष्क देवो मे तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के ८वे भाग जितनी है और उत्कृष्ट स्थिति लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है । ५३ वी गाथा मे भवनपति और व्यन्तर देवो की अपेक्षा से

---

१ वर्जयित्वा शुद्धा केवला शुक्ललेश्यामिति यावत् । —बृहद्वृत्ति
(—अ० रा० कोष भा० ६ पृ० ६९२)

२ वही, अ० रा० कोष भा० ६ पृ० ६९२ ।

तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष की तथा ईशान (दूसरे) देव-लोक की अपेक्षा से पल्योपम के असख्यातवें भाग सहित दो सागर की कही गई है, क्योकि इस (तेजो) लेश्या का सद्भाव ईशान देवलोक पर्यन्त ही है।

आगे ५४वी गाथा मे पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति सनत्कुमार देव-लोक की अपेक्षा से और उत्कृष्ट स्थिति ब्रह्मलोक की अपेक्षा से कही गई है। ५५वी गाथा मे शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति लान्तक देवलोक की अपेक्षा से और उत्कृष्ट स्थिति सर्वार्थसिद्ध विमान की अपेक्षा से कही गई है।

(१०) गतिद्वार—

मूल—किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ बहुसो ॥५६॥
तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ बहुसो ॥५७॥

पद्यानु०—कृष्ण नील और कापोत तीन, लेश्या अधर्म ये कहलाती।
तीनो ही लेश्या से जग मे, दुर्गति जीवो को हो जाती ॥५६॥
तेज पद्म शुक्ला तीनो, ये शुभ लेश्या कहलाती है।
इन तीनो से जीवो को, प्रिय सुगति प्राप्त हो जाती है ॥५७॥

अन्वयार्थ—किण्हा नीला काऊ—कृष्ण, नील और कापोत, एयाओ—ये, तिन्नि वि—तीनो ही, अहम्माओ—अधर्मलेश्याएँ हैं, एयाहि तिहि—इन तीनो से, जीवो—जीव, बहुसो—अनेक बार, दुग्गइं वि—दुर्गति मे भी, उववज्जइ—उत्पन्न होता है ॥५६॥

तेऊ पम्हा सुक्का—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या, एयाओ—ये, तिन्नि वि—तीनो ही, धम्मलेसाओ—धर्मलेश्याएँ हैं, एयाहि तिहि—इन तीनो से, जीवो—जीव, बहुसो—अनेक बार, सुग्गइं वि—सुगति मे भी, उववज्जइ—उत्पन्न होता है ॥५७॥

विशेषार्थ—लेश्याओ के साथ गति का सम्बन्ध—प्रारम्भ की कृष्णादि तीन लेश्याएँ सक्लिष्ट अध्यवसायरूप तथा पाप-बन्ध की हेतु भी हैं, इस-लिए प्रज्ञापना सूत्र मे ये अविशुद्ध, अप्रशस्त, सक्लिष्ट और दुर्गतिदायिनी कही गई हैं। ये लेश्याएँ यहाँ अधर्मलेश्याएँ इसलिए कही गई हैं कि इनके

प्रभाव से जीव अशुभगति (दुर्गति) का ही बन्ध करता है और प्राय नरक तिर्यंचादि दुर्गतियो मे उत्पन्न होता है, क्योकि अधर्म का फल दुर्गति है। इसके विपरीत पिछली तीन (तेजो, पद्म और शुक्ल) लेश्याएँ पुण्य या धर्म का हेतु होने से धर्मलेश्याएँ है। प्रज्ञापना सूत्र मे ये विशुद्ध, प्रशस्त, असक्लिष्ट और सुगतिदायिनी कही गई हैं। इन प्रशस्त लेश्याओ के परिणामो से युक्त जीव परलोक मे देव, मनुष्य आदि सुगतियो मे उत्पन्न होता है। इनमे जो शुक्ललेश्या है, वह केवलज्ञानोत्पत्ति मे प्रत्यक्ष निमित्त होकर परम्परा से सिद्धिगति की प्राप्ति कराती है।[1]

(११) आयुष्यद्वार—

मूल—लेसाहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न हु कस्सइ उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५८॥
लेसाहिं सव्वाहि चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥५९॥

अतमुहुत्तम्मि गए, अतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छति परलोय ॥६०॥

पद्यानु०—लेश्याओ की परिणति का, प्रथम समय जब होता है।
न किसी जीव का उस पल मे, उत्पाद भवान्तर होता है ॥५८॥
लेश्याओ की परिणति का, जब चरम समय रह जाता है।
न किसी जीव का उस पल मे, उत्पाद भवान्तर होता है ॥५९॥
अन्तर्मुहूर्त जब हो जाते, और शेष अर्द्ध रह जाता है।
लेश्या की उस परिणति मे ही, जीव भवान्तर जाता है ॥६०॥

अन्वयार्थ—पढमे समयम्मि—प्रथम समय मे, परिणयाहिं तु—परिणत हुई, सव्वाहिं लेसाहिं—सभी लेश्याओ से, कस्स वि जीवस्स—किसी भी जीव की, परेभवे परभव मे, उववाओ—उत्पत्ति, न वि अत्थि—नही होती ॥५८॥

---

१ (क) तओ लेसाओ अविसुद्धा, तओ विसुद्धाओ, तओ पसत्थाओ, तओ अपसत्थाओ, तओ सकिलिट्ठाओ, तओ असकिलिट्ठाओ, तओ दुग्गतिगामियाओ तओ सुगतिगामियाओ "।
—प्रज्ञापना पद १७ उ ४ सू २२८
(ख) बृहद्वृत्ति (अ० रा० कोष भा० ६ पृ० ६८८)
(ग) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा० ३, पृ ३६७-३६८

चरमे समयम्मि—अन्तिम समय मे, परिणयाहिं—परिणत हुई, सव्वाहिं लेसाहिं वि—सभी लेश्याओ से भी, कस्स वि जीवस्स—किसी भी जीव की, परे भवे—परभव मे, उववाओ—उत्पत्ति, न अत्थि—नही होती ॥५६॥

लेसाहिं परिणयाहिं—लेश्याओ के परिणत होने से, तु अतमुहुत्तम्मि गए—अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर, चेव—और, अन्तमुहुत्तम्मि सेसए—अन्तर्मुहूर्त के शेष रहने पर, जीवा—जीव, परलोय—परलोक मे, गच्छन्ति—जाते है ॥६०॥

विशेषार्थ—आयुष्य के प्रारम्भ मे और अन्त मे लेश्याप्राप्ति की विचारणा—इन तीनो गाथाओ का तात्पर्य यह है कि आयुष्य (जन्मग्रहण) के प्रथम समय मे छहो मे से जो भी लेश्या प्राप्त हो, जीव का परभव मे गमन नही होता और न ही आयुष्य के अन्तिम समय (मृत्यु के अन्तिम क्षण) मे परभव मे गमन होता है। किन्तु किसी भी लेश्या की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर, अथवा उसके जाने मे अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव परलोक मे जन्म लेता है। आशय यह है कि मृत्युकाल मे आगामी भव की और उत्पत्तिकाल मे अतीतभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त काल तक होना आवश्यक है। सिद्धान्त यह है कि जिन लेश्याओ के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव मरता (परलोक-गमन करता) है, उन्ही लेश्याओ मे जाकर उत्पन्न होता है। इसी दृष्टि से यहाँ इस शका का समाधान किया गया है कि जीव जिस लेश्या को साथ लेकर परलोक गमन करता है, उस लेश्या को आये हुए कितना समय होना चाहिए ?

मनुष्य और तिर्यञ्चगति मे उत्पन्न होने वाले देव और नारको को भी मरणान्तर अपने पूर्वभव की लेश्या अन्तर्मुहूर्त तक रहती है। इसी तरह देवलोक और नरक मे उत्पन्न होने वाले मनुष्यो और तिर्यंचो को मृत्युकाल मे अन्तर्मुहूर्त्त काल तक अग्रिमभव की लेश्या का सद्भाव रहता है। इसीलिए आगम मे देव और नारक की लेश्या का, अगले और पिछले भव के लेश्यासम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्तों के सहित स्थितिकाल बतलाया है।

निष्कर्ष यह है कि लेश्या को आये हुए एक अन्तर्मुहूर्त्त हो गया हो और एक अन्तर्मुहूर्त उसके जाने मे शेष रह गया हो, उस समय जीव पर-लोक मे जाता है। परलोकगमन की बेला मे मृत्यु होते समय अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब आगामी जन्म मे प्राप्त होने वाली

लेश्या का परिणाम उस जीव मे अवश्य हो जाता है। फिर उसी लेश्या के साथ वह जीव परभव मे जाता है।[1]

उपसंहार—

मूल—तम्हा एयाण लेसाण, अणुभागे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओ अहिट्ठिज्जासि ॥६१॥

त्ति बेमि।

पद्यानु०—लेश्याओ के अनुभागो को, यो जान विज्ञजन ध्यान धरे।
छोड अशुभ लेश्याओ को, शुभ लेश्या का सधान करे ॥६१॥

अन्वयार्थ—तम्हा—इसलिए, एयाण लेसाण—इन लेश्याओ के, अणुभागे—अनुभाग (विपाक) को, वियाणिया—जानकर, अप्पसत्थाओ—(इनमे से) अप्रशस्त लेश्याओ का, वज्जित्ता—वर्जन (परित्याग) करके, (मुनि) पसत्थाओ—प्रशस्त लेश्याओ मे, अहिट्ठिज्जासि—अधिष्ठित=स्थिर हो जाए ॥६१॥

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ लेश्याऽध्ययन चौंतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

○

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, (अ० रा० कोष, भा० ६, पृ ६६५)
(ख) प्रज्ञापना पद १७, उ० ४. जल्लेसाइ दव्वाइ आयइत्ता काल करेति, तल्लेसेसु उववज्जइ।"

अनगार–मार्ग–गति : पैंतीसवाँ अध्ययन

[अध्ययन-सार]

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—अनगार-मार्ग-गति (अणगार मग्ग-गई)। जिसका भावार्थ है—घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति, व्यापार-धधा, गृहस्थ-प्रपच आदि सबका त्याग करके अनगार बने हुए सयमशील भिक्षाजीवी साधु की विशिष्ट मार्ग अध्यात्म मार्ग मे गति-प्रगति। इसी दृष्टि से इस अध्ययन मे अनगार-मार्ग का मुख्य नौ सूत्रो मे प्रतिपादन किया गया है।

यो तो 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' इस सूत्र से गृहस्थ और साधु दोनो के लिए रत्नत्रय को मोक्षमार्ग बताया है, किन्तु दोनो की गति मे अन्तर है। गृहस्थ की गति बहुत मन्द है, जबकि अनगार की गति तीव्र। अनगार यदि अनगारधर्म को पकड कर अपनी गति मन्द कर लेता है तो वह अन्तिम लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त नही कर सकता। इस दृष्टि से यहाँ अनगारधर्म के मार्ग मे तीव्रता से गति-प्रगति करने हेतु इस अध्ययन की रचना की गई है।

आगार धर्मपालक गृहस्थ और अनगार धर्मपालक निर्ग्रन्थ साधु के चारित्राचार मे निम्नलिखित बातो मे अन्तर है—

आगार-मार्ग	अनगार-मार्ग
१ आगार मार्गी पुत्र-कलत्रादि के सग का सर्वथा त्याग नही कर सकता।	अनगार को पुत्र-कलत्रादि समस्त सग (आसक्ति) का परित्याग करना अनिवार्य है।

२ गृहस्थ पाँच आस्रवो का पूर्णतया त्याग नही कर सकता।	अनगार को पाँच आस्रवो—पाप स्थानो का पूर्णतया त्याग करना आवश्यक है।
३ गृहस्थ अपने परिवार के स्त्री-पुत्रादि तथा पशु आदि से युक्त घर मे रहता है।	अनगार को स्त्री, पशु, नपुसक आदि से असंसक्त, एकान्त, निरवद्य, परकृत, जीव-जन्तु रहित, निराबाध, श्मशानादि स्थानो मे निवास करना उचित है।
४ गृहस्थ मकान बनाता-बनवाता है, उसकी घुलाई, पुताई, मरम्मत कराकर सुवासित तथा सुसज्जित करता है। वह गृह निर्माणादि आरभ से सर्वथा मुक्त नही है।	साधु आरम्भ का सर्वथा त्यागी होने से उसे मकान स्वयं बनाना या बनवाना उचित नही है। न ही ऐसे कामरागादिवर्द्धक मकान में रहना ही उचित है।
५ गृहस्थ आहार-पानी तैयार करता-करवाता है। वह भिक्षा करने का अधिकारी नही।	साधु का मार्ग यह है कि वह आरम्भजनित हिंसा का सर्वथा त्यागी है, इसलिए आहार-पानी तैयार करना-करवाना उसके लिए सर्वथा त्याज्य है।
६ गृहस्थ अपने परिवार तथा व्यवसाय के सचालन के लिए धन सचय करता है, व्यवसाय वृद्धि करता है।	साधु का मार्ग यह है कि वह जीवननिर्वाह के लिए न तो धन ग्रहण करे, न ही क्रय-विक्रय रूप व्यवसाय द्वारा धनसचय करे, बल्कि निर्दोष भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करे।
७ गृहस्थ अपने और परिवार के लिए सरस, स्वादिष्ट आहार बनाता है, वह स्वादविजय नही कर सकता। विवाहादि प्रसगो मे स्वादिष्ट भोजन बनवाकर खाता-खिलाता है।	साधु का मार्ग यह है कि वह जीभ पर नियन्त्रण रखे। स्वाद-लोलुप न बने। स्वाद के लिए नही किन्तु सयम यात्रा के निर्वाह के लिए आहार करे।
८ गृहस्थ अपनी पूजा-प्रतिष्ठा,	साधु का मार्ग यह है कि वह

सम्मान सत्कार के लिए भरसक प्रयत्न करता है, प्रचुर धन खर्च करता है।	अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, सम्मान-सत्कार, प्रसिद्धि-ऋद्धि आदि की मन से भी आकांक्षा न करें।
६ गृहस्थ अकिंचन नहीं हो सकता। वह शरीर के प्रति ममता छोड नहीं पाता, न ही अहंकाररहित हो सकता है।	अनगार का मार्ग यह है कि वह अकिंचन, अनिदान, अहंकार-ममकार से मुक्त, निःस्पृह एवं शरीर के प्रति निरपेक्ष होकर आत्मध्याननिष्ठ बने। अन्त मे समाधि मरणपूर्वक देह-त्याग करे।

इस अध्ययन के अन्त मे, अनगार मार्ग मे भलीभाँति पुरुषार्थ का फल बताते हुए कहा गया है कि पूर्वोक्त मार्ग का सम्यक् प्रतिपालक समतायोगी वीतराग मुनि केवलज्ञानी बनकर शाश्वत मुक्ति पाता है, और सर्वकर्मों का क्षय करके सर्वदु खो से मुक्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि अनगार मार्ग की साधना दीर्घकालिक है। इसमे कई उतार-चढाव आते हैं, कई परीषह आते हैं, अत साधक को जीवन-पर्यन्त जागृत और अप्रमत्त रहना पडता है।

बाहर से घरबार आदि छोडकर अनगार बनना आसान है, परन्तु अणगार धर्म को अंगीकार करने के अनन्तर यदि अणगार अन्तर्मन से आगार धर्मसम्बन्धी सभी बातो का जब तक परित्याग नहीं कर देता तब तक वह अनगार मार्ग मे यथार्थ रूप से अपेक्षित गति नहीं कर सकता। अध्ययन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साधक को अनगार मार्ग का ही यथार्थ मार्गदर्शन दिया गया है।

□□

अणगार—मग्ग—गई : पणतीसइमं अज्झयणं

[अनगार-मार्ग-गति पैंतीसवाँ अध्ययन]

अनगार मार्ग और उसके आचरण का फल—

मूल—सुणेह मे एगग्गमणा, मग्ग बुद्धेहिं देसिय ।
जमायरतो भिक्खू, दुक्खाणतकरे भवे ॥१॥

पद्यानु०—एकाग्रचित्त हो श्रवण करो, अर्हद्-दर्शित शुभ शिव-पथ को ।
जिसका कर आचरण भिक्षु, दुःखान्त करे पावे सुख को ॥१॥

अन्वयार्थ—एगग्गमणा—एकाग्रचित्त होकर, बुद्धेहिं—बुद्धो-तीर्थकरो द्वारा, देसिय—उपदिष्ट, मग्ग—मार्ग को (तुम) मे—मुझसे, सुणेह—सुनो, ज—जिसका, आयरतो—आचरण करता हुआ, भिक्खू—भिक्षु, दुक्खाण—दुःखो का, अतकरे—अन्त करने वाला, भवे—होता है ॥१॥

विशेषार्थ—बुद्धेहिं देसिय मग्ग—जो मार्ग बुद्धो अर्थात् केवलज्ञानियो—सर्वज्ञो, श्रुतकेवलियो या गणधरो, अथवा यथार्थ रूप से वस्तु तत्त्व के ज्ञाता अर्हन्तो द्वारा उपदिष्ट है। उस मार्ग का नाम है—अनगार मार्ग। 'दुक्खाणतकरे' का तात्पर्य है, जिस मार्ग का अनुसरण करके साधु समस्त कर्मो का उन्मूलन करके शारीरिक-मानसिक सभी प्रकार के दुःखो का अन्त कर देता है।

अनगार-मार्ग-निर्देश मे प्रथम सर्वसग-परित्याग—

मूल—गिहवास परिच्चज्ज, पवज्जामस्सिए मुणी ।
इमे सगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जति माणवा ॥२॥

पद्यानु०—गृहवास छोड कर साधक ने, दीक्षा ले मुनिपद प्राप्त किया ।
जाने इन सगो को निश्चय, जिनमे उलझा नर हार गया ॥२॥

अन्वयार्थ—गिहवास— गृहवास का, परिच्चज्ज—परित्याग करके, पवज्जामस्सिए—प्रव्रज्या के आश्रित हुआ (मुनिधर्म स्वीकार किया हुआ), मुणी—मुनि, इमे सगे—इन सगो को, वियाणिज्जा—भलीभाँति जान ले, जेहिं—जिनमे, माणवा —मनुष्य, सज्जति—आसक्त (प्रतिबद्ध) हो जाते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—गृहवास, अर्थात् गृहस्थाश्रम का त्याग कर जिसने सर्वसगत्यागरूपा प्रव्रज्या—भागवती दीक्षा—(अनगार धर्म) का आश्रय लिया है, अथवा सयमवृत्ति को धारण कर लिया है, उस भिक्षु को इन (सर्वप्राणियो के लिए प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले) सग—पुत्र, मित्र, कलत्र आदि मे उत्पन्न होने वाले प्रतिबन्ध (मोहजन्य आसक्तियो) वस्तुत ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का कारण बनते हैं। तथा कर्मबन्ध से जन्म-मरण-परम्परा की वृद्धि होती है, जो दु खरूप व्याधि का मूल है, यह ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन्हे त्यागे। क्योकि सामान्य व्यक्ति इन (पूर्वोक्त पुत्र-कलत्रादि सम्बन्धो) मे आसक्त हो जाते हैं।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र द्वितीय पापास्रवो का परित्याग—

मूल—तहेव हिंस अलियं, चोज्ज अबभसेवण।
इच्छाकाम च लोभ च, सजओ परिवज्जए ॥३॥

पद्यानु०—हिंसा, असत्य तथा चोरी, अब्रह्मचर्य भी दु खदायी।
अप्राप्त-कामना प्राप्ति-लोभ, सयमी त्याग दे सुखदायी ॥३॥

अन्वयार्थ—तहेव —इसी प्रकार, सजओ—सयमशील साधक, हिंस—हिंसा, अलियं—अलीक=असत्य, चोज्ज—चौर्य कर्म=चोरी, अबभ-सेवण —अब्रह्मचर्य-कुशील का सेवन, इच्छाकाम च—इच्छाकाम, च—और, लोभ—लोभ का, परिवज्जए—परित्याग करे ॥३॥

विशेषार्थ—सयमशील मुनि के लिए त्यागने योग्य पापास्रवो का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराते हुए निर्देश किया गया है कि सयमी मुनि हिंसादि तीन, तथा मैथुन-सेवन एव इच्छाकाम यानी अप्राप्त वस्तु की इच्छा=आकाक्षा और लोभ अर्थात् प्राप्त वस्तु के प्रति ममता (गृद्धि) का परित्याग करे।

आशय यह है कि इच्छाकाम और लोभ का परिग्रह मे समावेश होने से हिंसादि पाँचो पापास्रवो का परित्याग करना सयमी के लिए अनिवार्य है। क्योकि इनके द्वारा जीव पापकर्मों का सचय करता है जिनसे मोक्ष-प्राप्ति होना अशक्य हो जाता है। अत मोक्षसाधक सयमी पुरुष के

लिए अहिंसादि मूलगुणो की रक्षा हेतु उक्त सभी पापस्थानो का परित्याग करना अनिवार्य है।

अनगार-मार्ग निर्देश सूत्र तृतीय उपयुक्त अनुपयुक्त-निवास स्थान विवेक—

मूल—मणोहरं चित्तघरं मल्ल-धूवेण वासियं ।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसा वि न पत्थए ॥४॥

इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए ।
दुक्कराइं निवारेउं[1], कामराग-विवड्ढणे ॥५॥
सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥६॥

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए ।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परम-संजए ॥७॥

पद्यानु—चित्रयुक्त मनहर निवास, और माल्य-धूप से वासित जो।
फिर सकपाट धवल वाला, सदन-वास ना इच्छित हो ॥४॥
वैसे मोहक आश्रय-स्थल मे, इन्द्रिय निज-विषयो मे जाती।
है काम-राग-वर्द्धक घर मे, इन्द्रिय मुश्किल से वश आती ॥५॥
शून्य भवन, शवदाह-भूमि, या तरुतल मे एकान्त रहे।
परकृत रिक्त स्थान मे मुनि, शास्त्र-वचन से लाभ लहे ॥६॥
बाधा-रहित निर्जीव स्थान जो, महिलाजन से युक्त न हो।
चाहे उस घर मे बसने को, भिक्षुक सम्यक् मन संयत हो ॥७॥

अन्वयार्थ—मणोहरं—मनोहर (चित्ताकर्षक), चित्तघरं—चित्रो से युक्त घर, मल्ल-धूवेण वासियं—पुष्पमालाओ से और धूप (सुगन्धित पदार्थो) से सुवासित सकवाडं—कपाट-सहित, पंडुरुल्लोयं—श्वेत चन्दोवा से सुसज्जित (गृह की), मणसा वि—मन से भी, न पत्थए—प्रार्थना—अभिलाषा न करे ॥४॥

(क्योकि) काम-राग-विवड्ढणे—कामराग को बढाने वाले, तारिसम्मि उवस्सए—वैसे उपाश्रय (निवास स्थान) मे, भिक्खुस्स—भिक्षु के लिए, इन्दियाणि उ—इन्द्रियो का, निवारेउं—निरोध करना=रोकना, दुक्कराइं—दुष्कर है ॥५॥

(अत साधु) सुसाणे—श्मशान मे वा—या, सुन्नगारे—सूने (निर्जन) घर (मकान) मे, व—अथवा, इक्कओ—एकाकी (द्रव्य से अकेला, भाव से राग-द्वेष

---

१ पाठान्तर—धारेउं। इसका अर्थ होगा—कुमार्ग मे जाती हुई इन्द्रियो को सन्मार्ग मे धारण करना—लाना। —सम्पादक

रहित) होकर, रुक्खमूले—वृक्ष के मूल मे, वा—अथवा, परकडे—परकृत (दूसरो के लिए या पर=गृहस्थ के द्वारा बनाये हुए), पइरिक्के—प्रतिरिक्त (एकान्त या खाली), तत्थ—इत्यादि स्थानो मे, वास—निवास करने की, अभिरोयए—अभि रुचि=इच्छा करे ॥६॥

परम-सजए—परम सयमी, भिक्खू—भिक्षु, फासुयम्मि—प्रासुक, अणा-बाहो—बाधारहित, (एव) इत्थीहिं अणभिद्दुए—स्त्रियो के उपद्रवो से रहित, तत्थ—ऐसे स्थान मे, वास—रहने का, सकप्पए—सकल्प करे ॥७॥

विशेषार्थ—निवास के लिए अयोग्य स्थान—चौथी और पाँचवी गाथा मे साधु के निवास करने के लिए अयोग्य स्थानो का निषेध किया गया है। जो स्थान (गृह) मन को लुभायमान करने वाला, नाना प्रकार के चित्रो से सुसज्जित तथा अनेक प्रकार के पुष्पो तथा अगर-चन्दनादि अथवा इत्र आदि सुगन्धित द्रव्यो से सुवासित (सौरभयुक्त) हो तथा सुन्दर किवाडो से युक्त हो, एव पर्दे, चदोवा आदि सुन्दर वस्त्रो से सुसज्जित हो, इनमे और इस प्रकार के और चित्ताकर्षक स्थानो मे साधु कदापि ठहरने का विचार न करे, क्योकि इस प्रकार के उपाश्रय (निवास-स्थान) कामराग के विवर्द्धक होते हैं, अर्थात्—उनमे निवास करने से अन्तर्मन मे सूक्ष्म रूप से स्थित कामरागादि के उत्तेजित होने की आशका बनी रहती है, इसके अतिरिक्त ऐसे स्थानो मे भिक्षु के लिए अपनी इन्द्रियो को विषयो की ओर प्रवृत्त होने से रोकना, अर्थात्—इन्द्रियो पर नियन्त्रण (आत्म-सयम) रखना कठिन हो जाता है। अत ऐसे कामरागवर्द्धक स्थानो मे रहने से साधु को लाभ के बदले हानि ही अधिक है।

साधु के निवास योग्य-स्थान—प्रस्तुत छठी और सातवी गाथा मे साधु के लिए निवासयोग्य स्थानो का विधान किया गया है। साधु या तो श्मशान भूमि मे रहे, या फिर किसी सूने मकान मे रहे, अथवा द्रव्य से एकाकी और भाव से राग-द्वेष रहित (या परभावो से रहित अकेला—आत्मस्थ स्थितप्रज्ञ) होकर वृक्ष के मूल मे रहे, अथवा किसी दूसरे के लिए या पर=गृहस्थ द्वारा बनाये हुए (परकृत) एकात या खाली स्थान मे रहने की रुचि रखे। परन्तु शर्त यह है कि ऐसे श्मशानादि स्थान भी प्रासुक (जीवो की उत्पत्ति या जीवसकुल, अथवा सचित्त जल-वनस्पति आदि से रहित) हो, वहाँ रहने से किसी प्राणी को बाधा-पीडा न हो, या वह स्थान स्वपर के लिए बाधाकारी न हो, एव वह स्थान स्त्री तथा उपलक्षण से

पशु एव नपुंसक से आकीर्ण—आवागमनयुत न हो। ऐसे स्थानो मे परम सयमी साधु रहने का सकल्प करे।[1]

अनगार-मार्ग-निर्देशसूत्र चतुर्थ गृहकर्म-समारम्भ-निषेध—

मूल—न सयं गिहाइ कुव्विज्जा,[2] णेव अन्नेहिं कारए।
गिह-कम्म-समारभे, भूयाण विस्सए वहो ॥८॥

तसाण थावराण च, सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिह-समारम्भ, सजओ परिवज्जए ॥९॥

पद्यानु०—गृह-निर्माण करे नहिं भिक्षु, ना अन्य किसी से करवाए।
निर्माण कार्य मे जीवो का, निश्चित वध होता दिखलाए ॥८॥
त्रस-स्थावर और सूक्ष्म-स्थूल, जीवो की हिंसा होती है।
इसलिए भिक्षुजन के मन मे, आरम्भ क्रिया ना भाती है ॥९॥

अन्वयार्थ—सय—स्वय, गिहाइ—गृह (निर्माण), न कुव्विज्जा—न करे, णेव—न ही, अन्नेहिं—दूसरो से, (घर) कारए—बनवावे, गिहकम्म-समारभे—गृह कर्म के समारम्भ मे, भूयाण—भूतो=जीवो का, वहो—वध (हिंसा), विस्सए—स्पष्टत देखा जाता है ॥८॥

(गृह-निर्माण मे) तसाण थावराण च—त्रस और स्थावर जीवो का (तथा) सुहुमाण बायराण य—सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवो का (वध होता है), तम्हा—इसलिए, सजओ—सयमी पुरुष, गिह-समारम्भ—गृह-समारम्भ (गृह-निर्माणजन्य आरम्भ) का, परिवज्जए—सर्वथा त्याग कर दे ॥९॥

विशेषार्थ—सयमी साधु के लिए प्रत्येक प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का तथा सावद्य प्रवृत्ति की प्रेरणा और अनुमोदना करने का भी निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति मे यहाँ साधु के लिए उपाश्रय आदि गृहो के निर्माण करने तथा दूसरो से कराने का निषेध किया गया है, क्योंकि निर्माण के आरम्भ करने मे त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और स्थूल

---

१ (क) देखिए भिक्षु योग्य निषिद्ध एव विहित स्थ[illegible] लिए—म[illegible]
२/३/७, विसुद्धिमग्गो भा १ पृ, ७२ से ७[illegible]
(ख) कपाटयुक्त स्थान मे रहना, एकान्त निषिद्ध[illegible]
स्थान मे निवास साधु की उत्कृष्ट साधुता, [illegible]
वृत्ति का द्योतक है।

२ पाठान्तर—कुज्जा।

जीवो की हिंसा होती देखी गई है। अत साधु मकान बनवाने, लिपाने-पुतवाने आदि गृहकर्म समारम्भ के चक्कर मे न पड़े। गृहस्थ द्वारा निर्मित मकान मे उसकी अनुज्ञा लेकर रहे।

त्रस—दो इन्द्रियो से लेकर पाँच इन्द्रियो वाले जीव त्रस कहलाते हैं।

स्थावर—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं।

सूक्ष्म-बादर—सूक्ष्मनामकर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर को धारण करने वाले जीव सूक्ष्म और बादरनामकर्म के उदय से बादर (स्थूल) शरीर को धारण करने वाले जीव बादर कहलाते हैं।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र पंचम : आहार-पचन-पाचन-निषेध—

मूल—तहेव भत्त-पाणेसु, पयणे पयावणेसु य।
पाण-भूय-दयट्ठाए, न पए, न पयावए ॥१०॥

जल धन्न-निस्सिया जीवा, पुढवी-कट्ठनिस्सिया।
हम्मंति भत्त-पाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥११॥

विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि-विणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवए ॥१२॥

पद्यानु०—ऐसे ही भोजन-पानी के पाचन-धोवन मे वध होते।
अतएव जन्तु की दया हेतु, मुनि पाक करे, ना करवाते ॥१०॥

हैं जल धान्याश्रित जीव कई, पृथिवी और काष्ठाश्रित होते।
वे भक्त-पान मे मरते हैं, यो जान भिक्षु न पकवाते ॥११॥

प्रसरणशील सब ओर धार, बहु-जीव विनाशक है पावक।
न कभी जलाए ज्योति भिक्षु, है शस्त्र न पावक सम घातक॥१२॥

अन्वयार्थ—तहेव—उसी प्रकार, भत्तपाणेसु—भक्त और पान के, पयणे—पकाने=बनाने, य—और, पयावणेसु—पकवाने—बनवाने के विषय मे भी जानना, (अर्थात त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा होती है।) (इसलिए) पाण-भूय-दयट्ठाए—प्राणी और भूतो की दया के लिए, न पए—न तो स्वयं पकाए (और) न पयावए—न ही (दूसरो से) पकवाये ॥१०॥

भत्त-पाणेसु—भक्त और पान (के पकाने-पकवाने) मे, जल-धन्न-निस्सिया—पानी और धान्य (अनाज) के आश्रित, (तथा) पुढवी-कट्ठनिस्सिया—पृथ्वी और

पशु एव नपुंसक से आकीर्ण—आवागमनयुत न हो। ऐसे स्थानो मे परम सयमी साधु रहने का सकल्प करे।[1]

अनगार-मार्ग-निर्देशसूत्र चतुर्थ : गृहकर्म-समारम्भ-निषेध—

मूल—न सय गिहाइ कुव्विज्जा,[2] णेव अन्नेहिं कारए।
गिह-कम्म-समारभे, भूयाण दिस्सए वहो ॥८॥

तसाण थावराण च, सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिह-समारम, सजओ परिवज्जए ॥९॥

पद्यानु०—गृह-निर्माण करे नहिं भिक्षु, ना अन्य किसी से करवाए।
निर्माण कार्य मे जीवो का, निश्चित वध होता दिखलाए ॥८॥

त्रस-स्थावर और सूक्ष्म-स्थूल, जीवो की हिंसा होती है।
इसलिए भिक्षुजन के मन मे, आरम्भ क्रिया ना भाती है ॥९॥

अन्वयार्थ—सय—स्वय, गिहाइ—गृह (निर्माण), न कुव्विज्जा—न करे, णेव—न ही, अन्नेहिं—दूसरो से, (घर) कारए—बनवाये, गिहकम्म-समारभे—गृह कर्म के समारम्भ मे, भूयाण—भूतो=जीवो का, वहो—वध (हिंसा), दिस्सए—स्पष्टत देखा जाता है ॥८॥

(गृह-निर्माण मे) तसाण थावराण च—त्रस और स्थावर जीवो का (तथा) सुहुमाण बायराण य—सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवो का (वध होता है), तम्हा—इसलिए, सजओ—सयमी पुरुष, गिह-समारभ—गृह-समारम्भ (गृह-निर्माणजन्य आरम्भ) का, परिवज्जए—सर्वथा त्याग कर दे ॥९॥

विशेषार्थ—सयमी साधु के लिए प्रत्येक प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का तथा सावद्य प्रवृत्ति की प्रेरणा और अनुमोदना करने का भी निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति मे यहाँ साधु के लिए उपाश्रय आदि गृहो के स्वय निर्माण करने तथा दूसरो से कराने का निषेध किया गया है, क्योकि गृह-निर्माण के आरम्भ करने मे त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और स्थूल—अनेक

---

१ (क) देखिए भिक्षु योग्य निषिद्ध एव विहित स्थान के लिए—मज्झिमनिकाय २/३/७, विसुद्धिमग्गो भा १ पृ, ७३ से ७६ तक।
(ख) कपाटयुक्त स्थान मे रहना, एकान्त निषिद्ध नही है, किन्तु कपाटरहित स्थान मे निवास साधु की उत्कृष्ट साधुता, अगोपनीयता और अपरिग्रह वृत्ति का द्योतक है।

२ पाठान्तर—कुज्जा।

पशु एव नपुंसक से आकीर्ण—आवागमनयुत न हो। ऐसे स्थानो मे परम सयमी साधु रहने का सकल्प करे।[1]

अनगार-मार्ग-निर्देशसूत्र चतुर्थ गृहकर्म-समारम्भ-निषेध—

मूल—न सय गिहाइ कुव्विज्जा,[2] णेव अन्नेहिं कारए।
गिह-कम्म-समारंभे, भूयाण दिस्सए वहो ॥८॥
तसाण थावराण च, सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिह-समारंभ, संजओ परिवज्जए ॥९॥

पद्यानु०—गृह-निर्माण करे नहिं भिक्षु, ना अन्य किसी से करवाए।
निर्माण कार्य मे जीवो का, निश्चित वध होता दिखलाए ॥८॥
त्रस-स्थावर और सूक्ष्म-स्थूल, जीवो की हिंसा होती है।
इसलिए भिक्षुजन के मन मे, आरम्भ क्रिया ना भाती है ॥९॥

अन्वयार्थ—सय—स्वय, गिहाइ—गृह (निर्माण), न कुव्विज्जा—न करे, णेव—न ही, अन्नेहिं—दूसरो से, (घर) कारए—बनवावे, गिहकम्म-समारंभे—गृह कर्म के समारम्भ मे, भूयाण—भूतो=जीवो का, वहो—वध (हिंसा), दिस्सए—स्पष्टत देखा जाता है ॥८॥

(गृह-निर्माण मे) तसाण थावराण च—त्रस और स्थावर जीवो का (तथा) सुहुमाण बायराण य—सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवो का (वध होता है), तम्हा—इसलिए, संजओ—सयमी पुरुष, गिह-समारंभ—गृह-समारम्भ (गृह-निर्माणजन्य आरम्भ) का, परिवज्जए—सर्वथा त्याग कर दे ॥९॥

विशेषार्थ—सयमी साधु के लिए प्रत्येक प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का तथा सावद्य प्रवृत्ति की प्रेरणा और अनुमोदना करने का भी निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति मे यहाँ साधु के लिए उपाश्रय आदि गृहो के स्वय निर्माण करने तथा दूसरो से कराने का निषेध किया गया है, क्योकि गृह-निर्माण के आरम्भ करने मे त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और स्थूल—अनेक

---

१ (क) देखिए भिक्षु योग्य निषिद्ध एव विहित स्थान के लिए—मज्झिमनिकाय २/३/७, विसुद्धिमग्गो भा १ पृ, ७३ से ७६ तक।
(ख) कपाटयुक्त स्थान मे रहना, एकान्त निषिद्ध नही है, किन्तु कपाटरहित स्थान मे निवास साधु की उत्कृष्ट साधुता, अगोपनीयता और अपरिग्रह वृत्ति का द्योतक है।

२ पाठान्तर—कुज्जा।

जीवो की हिंसा होती देखी गई है। अत साधु मकान बनवाने, लिपाने-पुतवाने आदि गृहकर्म समारम्भ के चक्कर मे न पड़े। गृहस्थ द्वारा निर्मित मकान मे उसकी अनुज्ञा लेकर रहे।

त्रस—दो इन्द्रियो से लेकर पाँच इन्द्रियो वाले जीव त्रस कहलाते हैं।

स्थावर—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं।

सूक्ष्म-बादर—सूक्ष्मनामकर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर को धारण करने वाले जीव सूक्ष्म और बादरनामकर्म के उदय से बादर (स्थूल) शरीर को धारण करने वाले जीव बादर कहलाते हैं।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र पंचम - आहार-पचन-पाचन-निषेध—

मूल—तहेव भत्त-पाणेसु, पयणे पयावणेसु य।
पाण-भूय-दयट्ठाए, न पए, न पयावए ॥१०॥

जल धन्न-निस्सिया जीवा, पुढवी-कट्ठनिस्सिया।
हम्मंति भत्त-पाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥११॥

विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि-विणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवए ॥१२॥

पद्यानु०—ऐसे ही भोजन-पानी के पाचन-पोचन मे वध होते।
अतएव जन्तु की दया हेतु, मुनि पाक करे, ना करवाते ॥१०॥
हैं जल धान्याश्रित जीव कई, पृथिवी और काष्ठाश्रित होते।
वे भक्त-पान मे मरते हैं, यो जान भिक्षु न पकवाते ॥११॥
प्रसरणशील सब ओर धार, बहु-जीव विनाशक है पावक।
न कभी जलाए ज्योति भिक्षु, है शस्त्र न पावक सम घातक॥१२॥

अन्वयार्थ—तहेव—उसी प्रकार, भत्तपाणेसु—भक्त और पान के, पयणे—पकाने=बनाने, य—और, पयावणेसु—पकवाने—बनवाने के विषय मे भी जानना, (अर्थात त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा होती है।) (इसलिए) पाण-भूय-दयट्ठाए—प्राणी और भूतो की दया के लिए, न पए—न तो स्वयं पकाए (और) न पयावए—न ही (दूसरो से) पकवाये ॥१०॥

भत्त-पाणेसु—भक्त और पान (के पकाने-पकवाने) मे, जल-धन्न-निस्सिया—पानी और धान्य (अनाज) के आश्रित, (तथा) पुढवी-कट्ठनिस्सिया—पृथ्वी और

काष्ठ (ईंधन) के आश्रित, जीवा—(अनेक) जीव, हम्मति—मारे जाते हैं, तम्हा—इसलिए, भिक्खू—भिक्षोपजीवी साधु (अन्नादि), न पायए—(न पकावे और) न पकवाये ॥११॥

जोइसमे—अग्नि के समान, सत्थे—(कोई दूसरा) शस्त्र, नत्थि—नही है (वह), सव्वओ—चारो ओर, विसप्पे—फैल जाता है, धारे—तीक्ष्ण धार वाला है, (और) बहु-पाणि-विणासणे—अनेक प्राणियो का विनाशक है। तम्हा—इसलिए (साधु), जोइ—अग्नि को, न दीवए—न जलावे (प्रदीप्त न करे) ॥१२॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे गृह-निर्माण की तरह साधु के लिए स्वय आहार-पानी तैयार करने तथा दूसरो से करवाने का निषेध इसलिए किया गया है कि इसमे भी त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा होती है, अत प्राण (द्वीन्द्रिय) और भूत जीवो की दया के लिए विचारशील साधु पाकादि की क्रिया से दूर रहे।

त्रसजीव कदाचित दिखाई दें, और साधक उन्हे बचा भी ले, किन्तु जल और अनाज के स्वय के तथा उनके आश्रित एव पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित रहे हुए अनेक सूक्ष्म और स्थूल जीवो की हिंसा सम्भव है। आहार-पानी तैयार करने-कराने वाला साधु उन असख्य निरीह जीवो की रक्षा नही कर सकता। अत भिक्षु को रसोई बनाने-बनवाने के प्रपंच मे नही पड़ना चाहिए।

रसोई बनाने मे अग्नि जलाना अनिवार्य है, किन्तु अग्नि से बढकर तीक्ष्ण धाराओ=ज्वालाओ वाला और अल्प होते हुए भी बहुत दूर तक फैलने वाला, अनेक-प्राणि-विनाशक दूसरा कोई शस्त्र नही है। अग्नि के दूर-दूर तक फैल जाने से अग्निकायिक जीवो की तथा उसके आस-पास या आश्रित रहे हुए षट्‌दिशावर्ती अनेक त्रस-स्थावर जीवो की प्राणहानि होती है। इसलिए अहिंसा महाव्रती साधु के लिए शास्त्रकार ने अग्नि जलाने का निषेध किया है।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र छठा क्रय-विक्रयवृत्ति का निषेध, भिक्षावृत्ति का विधान—

मूल—हिरण्णं जायरूवं च, मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठु-कंचणे भिक्खू, विरए कय-विक्कए ॥१३॥
किणतो कइओ होइ, विक्किणतो य वाणिओ।
कय-विक्कयम्मि वट्टतो, भिक्खू न भवइ तारिसो ॥१४॥

भिक्खियव्व न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।
कय-विक्कओ महादोसो भिक्खावत्ती सुहावहा ॥१५॥

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥१६॥

पद्यानु—स्वर्ण रजत की कभी नहीं, भिक्षुक मन से भी चाह करे ।
पत्थर और सोना सम माने, क्रय-विक्रय में ना चित्त धरे ॥१३॥

क्रय करते क्रेता होता है, विक्रय से वणिक् कहा जाता ।
क्रय-विक्रय में वर्तमान, भिक्षुक ना वैसा है होता ॥१४॥

करना भिक्षा, ना क्रय करना, है भैक्ष्यवृत्ति भिक्षुक होता ।
भिक्षा-वर्त्तन है सुखदायी, क्रय-विक्रय महादोषावह होता ॥१५॥

घर-घर से उछवृत्ति अपना, वे भिक्षा अनिन्द्य सूत्रानुसार ।
वह लाभ-अलाभ समान मान हो, सन्तुष्ट मुनि भिक्षाचार ॥१६॥

अन्वयार्थ—समलेट्ठुकंचणे भिक्खू—सोने और मिट्टी के ढेले को समान समझने वाला भिक्षु, हिरण्णं—सुवर्ण, च—और, जायरूवं—चाँदी, च—तथा (सिक्के या अन्य द्रव्य) की, मणसा वि—मन से भी, न पत्थए—इच्छा न करे, कय-विक्कए—(सभी प्रकार की वस्तुओं के) क्रय-विक्रय से (साधु सदैव) विरए—विरत (निवृत्त) रहे ॥१३॥

किणंतो—वस्तु को खरीदने वाला, कइओ—क्रयिक, होइ—होता है, य—और, विक्किणंतो—विक्रय करने (बेचने) वाला, वाणिओ—वणिक् (व्यापारी होता है) (इसलिए जो) कय-विक्कयम्मि—क्रय-विक्रय (खरीदने-बेचने) में, वट्टंतो—प्रवृत्त होता है, (वह) तारिसो—वैसा (भिक्षु के लक्षणों से युक्त), भिक्खू—भिक्षु ही, न भवइ—नहीं है ॥१४॥

भिक्खुणा—भिक्षु को, भिक्खवत्तिणा—भिक्षावृत्ति से ही, भिक्खियव्वं—भिक्षा करनी चाहिए, न केयव्वं—क्रय (विक्रय) नहीं, क्योंकि, कय-विक्कओ—क्रय-विक्रय, महादोसो—महादोषयुक्त है, भिक्खावत्ती—भिक्षावृत्ति ही, सुहावहा—सुखावह है ॥१५॥

मुणी—मुनि, जहासुत्त—सूत्रविधि के अनुसार, अणिंदियं—अनिन्दित, (और), समुयाणं—सामुदायिक, उंछं—उंछ—अनेक घरों से थोड़े-थोड़े आहार की, एसिज्जा—एषणा करे (वह) लाभालाभम्मि—लाभ और अलाभ में, संतुट्ठे—सन्तुष्ट रहकर, पिंडवायं चरे—पिण्डपात=भिक्षार्थ पर्यटन करे ॥१६॥

काष्ठ (ईंधन) के आश्रित, जीवा—(अनेक) जीव, हम्मति—मारे जाते हैं, तम्हा—इसलिए, भिक्खू—भिक्षोपजीवी साधु (अन्नादि), न पायए—(न पकावे और) न पकवाये ॥११॥

जोइसमे—अग्नि के समान, सत्थे—(कोई दूसरा) शस्त्र, नत्थि—नही है (वह), सव्वओ—चारो ओर, विसप्पे—फैल जाता है, धारे—तीक्ष्ण धार वाला है, (और) बहु-पाणि-विणासणे—अनेक प्राणियो का विनाशक है। तम्हा—इसलिए (साधु), जोइ—अग्नि को, न दीवए—न जलावे (प्रदीप्त न करे) ॥१२॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओ मे गृह-निर्माण की तरह साधु के लिए स्वय आहार-पानी तैयार करने तथा दूसरो से करवाने का निषेध इसलिए किया गया है कि इसमे भी त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा होती है, अत प्राण (द्वीन्द्रिय) और भूत जीवो की दया के लिए विचार-शील साधु पाकादि की क्रिया से दूर रहे।

त्रसजीव कदाचित दिखाई दें, और साधक उन्हे बचा भी ले, किन्तु जल और अनाज के स्वय के तथा उनके आश्रित एव पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित रहे हुए अनेक सूक्ष्म और स्थूल जीवो की हिंसा सम्भव है। आहार-पानी तैयार करने-कराने वाला साधु उन असख्य निरीह जीवो की रक्षा नही कर सकता। अत भिक्षु को रसोई बनाने-बनवाने के प्रपंच मे नही पड़ना चाहिए।

रसोई बनाने मे अग्नि जलाना अनिवार्य है, किन्तु अग्नि से बढ़कर तीक्ष्ण धाराओ=ज्वालाओ वाला और अल्प होते हुए भी बहुत दूर तक फैलने वाला, अनेक-प्राणि-विनाशक दूसरा कोई शस्त्र नही है। अग्नि के दूर-दूर तक फैल जाने से अग्निकायिक जीवो की तथा उसके आस-पास या आश्रित रहे हुए षट्दिशावर्ती अनेक त्रस-स्थावर जीवो की प्राणहानि होती है। इसलिए अहिंसा महाव्रती साधु के लिए शास्त्रकार ने अग्नि जलाने का निषेध किया है।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र छठा क्रय-विक्रयवृत्ति का निषेध, भिक्षावृत्ति का विधान—

मूल—हिरण्ण जायरूव च, मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठु-कचणे भिक्खू, विरए कय-विक्कए ॥१३॥
किणतो कइओ होइ, विक्किणतो य वाणिओ।
कय-विक्कयम्मि वट्टतो, भिक्खु न भवइ तारिसो ॥१४॥

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।
कय-विक्कओ महादोसो भिक्खावत्ती सुहावहा ॥१५॥

समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥१६॥

पद्यानु—स्वर्ण रजत की कभी नहीं, भिक्षुक मन से भी चाह करे।
पत्थर और सोना सम माने, क्रय-विक्रय में ना चित्त धरे ॥१३॥

क्रय करते क्रेता होता है, विक्रय से वणिक् कहा जाता।
क्रय-विक्रय में वर्तमान, भिक्षुक ना वैसा है होता ॥१४॥

करना भिक्षा, ना क्रय करना, है भैक्ष्यवृत्ति भिक्षुक होता।
भिक्षा-वर्त्तन है सुखदायी, क्रय-विक्रय महादोषावह होता ॥१५॥

घर-घर से उछवृत्ति अपना, वे भिक्षा अनिन्द्य सूत्रानुसार।
वह लाभ-अलाभ समान मान हो, सन्तुष्ट मुनि भिक्षाचार ॥१६॥

अन्वयार्थ—समलेट्ठुकंचणे भिक्खू—सोने और मिट्टी के ढेले को समान समझने वाला भिक्षु, हिरण्णं—सुवर्ण, च—और, जायरूवं—चाँदी, च—तथा (सिक्के या अन्य द्रव्य) की, मणसा वि—मन से भी, न पत्थए—इच्छा न करे, कय-विक्कए—(सभी प्रकार की वस्तुओं के) क्रय-विक्रय से (साधु सदैव) विरए—विरत (निवृत्त) रहे ॥१३॥

किणंतो—वस्तु को खरीदने वाला, कइओ—क्रयिक, होइ—होता है, य—और, विक्किणंतो—विक्रय करने (बेचने) वाला, वाणिओ—वणिक् (व्यापारी होता है) (इसलिए जो) कय-विक्कयम्मि—क्रय-विक्रय (खरीदने-बेचने) में, वट्टंतो—प्रवृत्त होता है, (वह) तारिसो—वैसा (भिक्षु के लक्षणों से युक्त), भिक्खू—भिक्षु ही, न भवइ—नहीं है ॥१४॥

भिक्खुणा—भिक्षु को, भिक्खवत्तिणा—भिक्षावृत्ति से ही, भिक्खियव्वं—भिक्षा करनी चाहिए, न केयव्वं—क्रय (विक्रय) नहीं, क्योंकि, कय-विक्कओ—क्रय-विक्रय, महादोसो—महादोषयुक्त है, भिक्खावत्ती—भिक्षावृत्ति ही, सुहावहा—सुखावह है ॥१५॥

मुणी—मुनि, जहासुत्तं—सूत्रविधि के अनुसार, अणिंदियं—अनिन्दित, (और), समुयाणं—सामुदायिक, उंछं—उंछ—अनेक घरों से थोड़े-थोड़े आहार की, एसिज्जा—एषणा करे (वह) लाभालाभम्मि—लाभ और अलाभ में, संतुट्ठे—सन्तुष्ट रहकर, पिंडवायं चरे—पिण्डपात=भिक्षार्थ पर्यटन करे ॥१६॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत चार गाथाओ मे साधु के लिए किसी भी वस्तु के क्रय-विक्रय से निर्वाह करने का निषेध तथा भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने का विधान किया गया है। साधु के लिए वणिक्वृत्ति (क्रय विक्रयवृत्ति) को महादोषयुक्त बताकर भिक्षावृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

क्रय-विक्रयवृत्ति के निषेध का कारण बताते हुए तेरहवी गाथा मे कहा गया है कि साधु जब से मुनिधर्म स्वीकार करता है तभी से उसके लिए सोना और मिट्टी का ढेला दोनो समान हैं। जब वह वस्तुओ का क्रय विक्रय करेगा तो उसे सोना, चाँदी या सिक्के, नोट आदि ग्रहण करने और रखने पडेंगे। क्रय-विक्रय से आर्त्तरौद्रध्यान, असत्य, लोभ, कपट आदि बढेंगे, दूसरे व्यापारियो के साथ ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा, क्षोभ, माया आदि बढेगी। ऐसी स्थिति मे साधुवृत्ति एक ओर धरी रह जाएगी, साधुत्व की साधना बिलकुल नही होगी, केवल व्यवसायीवृत्ति ही पनपेगी। इसीलिए १४वी गाथा मे कहा गया है—क्रय-विक्रय मे प्रवृत्त होने वाला साधु, साधु नही रह जाता, वह तो बनिया व्यापारी बन जाता है। अर्थात्— वह साधुधर्म से च्युत होकर एक प्रकार का व्यापारी हो जाएगा। जिस प्रकार व्यापारी अन्य सब बातें छोडकर दिन-रात खरीदने-बेचने मे ही मशगूल रहता है, वैसी ही हालत व्यापार-प्रवृत्त साधु की हो जाएगी। फिर वह साधुत्व की साधना से कोसो दूर हो जाएगा।

अत साधु के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करना श्रेयस्कर सुखावह और निश्चिन्तता लाने वाला है। क्रय-विक्रय से निर्वाह करना उसके लिए कथमपि हितावह नही है। ऐसा आचरण साधु के लिए निन्दनीय, जनश्रद्धा को जड से उखाड फेंकने वाला और पूर्वोक्त अनेक बडे-बडे दोषो का उत्पादक है।

साधु को किस प्रकार की भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना चाहिए? इसका निरूपण १६ वी गाथा मे सक्षेप के साथ किया गया है। शास्त्र मे भिक्षाचरी (गोचरी) की जो विधि बताई गई है तदनुसार कल्पनीय, प्रासुक और एषणीय आहार-पानी अनिन्दित कुलो (घरो) से थोडा-थोडा लेकर सामुदायिक भिक्षाचरी करे। अर्थात् एक ही घर से सारा आहार न ले। भिक्षाटन करते हुए आहार-पानी मिले या न मिले, दोनो ही दशाओ मे मुनि को सन्तुष्ट रहना चाहिए।

समुदान आदि के विशेषार्थ—समुदान—अनेक घरो से लाई हुई भिक्षा, उँछ—अनेक घरो से थोडा-थोडा आहार ग्रहण करना, पिंडपात—भिक्षा के लिए भ्रमण करना। अनिंदित कुल—जो कुल सदाचार एव सद्गुणो के कारण जन-जन का प्रीति पात्र एव प्रतिष्ठित हो तथा सात्विक भोजन—अशन-पान करता हो।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र सातवाँ · स्वादवृत्ति-निषेध—

मूल—अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥१७॥

पद्यानु०—रस मे लोलुपता गृद्धि नही, और स्वादविजयी मूर्च्छा-विरहित।
भोजन न करे वह स्वादहेतु, निर्वाह हेतु खाए सयत ॥१७॥

अन्वयार्थ—जिब्भादन्ते—जिह्वेन्द्रिय (रसना) को वश मे रखने वाला, अलोले—अलोलुप (और), अमुच्छिए—अमूर्च्छित (अनासक्त), महामुणी—महामुनि, रसे—रस=स्वाद मे, न गिद्धे—गृद्ध=आसक्त न हो। (वह) जवणट्ठाए—याप-नार्थ=सयम यात्रा के निर्वाहार्थ, भुजिज्जा—भोजन करे, रसट्ठाए न—रस=स्वाद के लिए नही ॥१७॥

विशेषार्थ—जिह्वेन्द्रिय को वश मे रखने वाला—रसनेन्द्रिय-विजेता साधु वह होता है, जो कही से सरस आहार मिलने पर हर्षित और नीरस आहार मिलने पर खिन्न नही होता। बल्कि दोनो ही स्थितियो मे सम-भाव रखता है। वह सरस स्वादिष्ट आहार की आकाक्षा नही करता। अतएव जो भी, जैसा भी, जितना भी निर्दोष अशन-पान भिक्षाचर्या मे मिले, उसी मे सन्तुष्ट रहे, क्योकि जागृत-अप्रमत्त महामुनि का दृष्टिकोण यही रहता है कि जीवन-निर्वाह के लिए आहार करता है, न कि स्वाद के लिए। इसीलिए महामुनि को चार बातो का ध्यान रखना है—(१) वह जिह्वालोलुप न हो, (२) अपनी जीभ को वश मे रखे, (३) किसी भी खाद्य वस्तु मे आसक्त (मूर्च्छित) न हो, और (४) रस (स्वाद) मे गृद्ध आसक्त न हो।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र अष्टम पूजा-प्रतिष्ठादि का निषेध—

मूल—अच्चण रयण चेव, वंदण पूयणं तहा।
इड्ढी-सक्कार-सम्माण, मणसा वि न पत्थए ॥१८॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत चार गाथाओ मे साधु के लिए किसी भी वस्तु के क्रय-विक्रय से निर्वाह करने का निषेध तथा भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने का विधान किया गया है। साधु के लिए वणिक्वृत्ति (क्रय विक्रयवृत्ति) को महादोषयुक्त बताकर भिक्षावृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

क्रय-विक्रयवृत्ति के निषेध का कारण बताते हुए तेरहवी गाथा मे कहा गया है कि साधु जब से मुनिधर्म स्वीकार करता है तभी से उसके लिए सोना और मिट्टी का ढेला दोनो समान हैं। जब वह वस्तुओ का क्रय विक्रय करेगा तो उसे सोना, चाँदी या सिक्के, नोट आदि ग्रहण करने और रखने पड़ेंगे। क्रय-विक्रय से आर्त्तरौद्रध्यान, असत्य, लोभ, कपट आदि बढेंगे, दूसरे व्यापारियो के साथ ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा, क्षोभ, माया आदि बढेगी। ऐसी स्थिति मे साधुवृत्ति एक ओर धरी रह जाएगी, साधुत्व की साधना बिलकुल नही होगी, केवल व्यवसायीवृत्ति ही पनपेगी। इसीलिए १४वी गाथा मे कहा गया है—क्रय-विक्रय मे प्रवृत्त होने वाला साधु, साधु नही रह जाता, वह तो बनिया व्यापारी बन जाता है। अर्थात्— वह साधुधर्म से च्युत होकर एक प्रकार का व्यापारी हो जाएगा। जिस प्रकार व्यापारी अन्य सब बातें छोडकर दिन-रात खरीदने-बेचने मे ही मशगूल रहता है, वैसी ही हालत व्यापार-प्रवृत्त साधु की हो जाएगी। फिर वह साधुत्व की साधना से कोसो दूर हो जाएगा।

अत साधु के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति से ही निर्वाह करना श्रेयस्कर सुखावह और निश्चिन्तता लाने वाला है। क्रय-विक्रय से निर्वाह करना उसके लिए कथमपि हितावह नही है। ऐसा आचरण साधु के लिए निन्दनीय, जनश्रद्धा को जड से उखाड फेंकने वाला और पूर्वोक्त अनेक बडे-बडे दोषो का उत्पादक है।

साधु को किस प्रकार की भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना चाहिए? इसका निरूपण १६ वी गाथा मे सक्षेप के साथ किया गया है। शास्त्र मे भिक्षाचरी (गोचरी) की जो विधि बताई गई है तदनुसार कल्पनीय, प्रासुक और एषणीय आहार-पानी अनिन्दित कुलो (घरो) से थोडा-थोडा लेकर सामुदायिक भिक्षाचरी करे। अर्थात् एक ही घर से सारा आहार न ले। भिक्षाटन करते हुए आहार-पानी मिले या न मिले, दोनो ही दशाओ मे मुनि को सन्तुष्ट रहना चाहिए।

अनगार-मार्गानुसार आचरण की फलश्रुति

मूल—निज्जूहिऊण आहारं कालधम्मे उवट्ठिए ।
जहिऊण माणुसं बोंदि, पहू दुक्खे विमुच्चई ॥२०॥

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥२१॥

—त्ति बेमि ।

पद्यानु०—मुनि कालधर्म के आने पर, आहार त्याग दे निर्भय हो ।
मानुष तन का परित्याग करे, सब दुःखमुक्त शुभ जीवन हो ॥२०॥
'मम' और 'अहं' विष तज करके, गतराग निरास्रव हो जाते ।
निर्मल केवलपद प्राप्त करे, शाश्वत निर्वाण परम पाते ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अनगारमार्ग पर चलने वाला मुनि अन्त में) कालधम्मे—काल धर्म, उवट्ठिए—उपस्थित होने पर, आहारं—आहार का, निज्जूहिऊण—परित्याग कर (सल्लेखना-संथारापूर्वक), माणुसं बोंदि—मनुष्यशरीर को, जहिऊण—छोड़कर, पहू—प्रभु (विशिष्ट सामर्थ्यशाली) बनकर, दुक्खे विमुच्चई—दुःखों से विमुक्त हो जाता है ॥२०॥

(फिर वह) निम्ममो—ममकाररहित, निरहंकारो—अहंकाररहित, वीयरागो—वीतराग, (एवं) अणासवो—आस्रवरहित होकर, केवलं नाणं संपत्तो—केवलज्ञान को सम्प्राप्त कर, सासयं परिणिव्वुए—शाश्वत परिनिर्वाण (परमशान्ति) पाता है ॥२१॥

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विशेषार्थ—अनगारमार्ग के यथावत् पालन करने का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—प्रभु अर्थात्—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्यवान—अनन्तशक्तिमान मुनि, कालधर्म=मृत्यु के उपस्थित होने पर संलेखनापूर्वक यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करके समाधि-मरणपूर्वक अपने शरीर को छोड़ देता है । औदारिक शरीर के त्याग के साथ ही तैजस कार्मण शरीर का त्याग करके वह शारीरिक-मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है, अर्थात्—वह इस आवागमन के चक्र से छूटकर परमानन्द स्वरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है ।

पद्यानु०—अर्चना और रचना वन्दन, सत्कार मान ऋद्धि पूजन।
अभिलाषा मन मे करे नही, मुनिता का करने को रक्षण ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अनगार) अच्चण—अर्चना, रयण—रचना, चेव—और, वदण—वन्दना, पूयण—पूजा, तहा—तथा, इड्ढी—ऋद्धि, सक्कार—सत्कार (और), सम्माण—सम्मान (आदि) की, मणसा वि—मन से भी, न पत्थए—अभिलाषा न करे ॥१८॥

विशेषार्थ—मुनिवृत्ति मे रहने वाला साधु, इन बातो की मन से भी आकाक्षा न करे, अर्थात्—ये बातें मुझे किसी भी प्रकार से प्राप्त हो जायँ, ऐसा मनोरथ कदापि न करे। यथा—"लोग मेरा चन्दन और पुष्पादि से अर्चन करें, मेरे सम्मुख मोतियो के स्वास्तिक आदि की रचना करें, मुझे विधिपूर्वक वन्दना करे, वस्त्रादि विशिष्ट सामग्री देकर मेरी पूजा करें, मुझे श्रावको से उपकरणादि की उपलब्धि हो, अथवा मुझे आमर्षौषधि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो, लोग मुझे या मेरे द्वारा स्थापित सस्था को अर्थ प्रदानादि करके मेरा सत्कार करें एव अभ्युत्थानादि से मेरा सम्मान करे, किसी भी तरह से मेरी प्रसिद्धि और पूजा प्रतिष्ठा हो, मेरी कीर्ति बढे।" इत्यादि बातो की तनिक भी वाछा न करे।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र चौथा मृत्युपर्यन्त मुनिधर्म प्रभु सूत्री मानले—

मूल—सुक्कझाण झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥१९॥

पद्यानु०—शुक्लध्यान को चित्त धरे, अनिदान अकिंचन व्रतधारी।
देहाध्यास से मुक्त रहे, जीवन भर विहरे पदचारी ॥१९॥

अन्वयार्थ—जाव—जब तक, कालस्स—काल का, पज्जओ—पर्याय है, (अर्थात मृत्यु-पर्यन्त) (मुनि), सुक्कझाण झियाएज्जा—शुक्लध्यान (विशुद्ध आत्मध्यान) मे लीन रहे, अणियाणे—निदानरहित (और) अकिंचणे—अकिंचन रहे। वोसट्ठकाए—शरीर का व्युत्सर्ग करके, विहरेज्जा—विचरण करे ॥१९॥

विशेषार्थ—अनगार के लिए मुख्य चार मार्ग—विचारक आत्मार्थी साधु को आयुपर्यन्त (१) शुक्लध्यान मे लीन रहना चाहिए, (२) इहलौकिक-पारलौकिक सुखभोगादि वाछारूप निदान नही करना चाहिए, (३) द्रव्य-भाव से परिग्रह छोडकर अकिंचनवृत्ति से रहना चाहिए और (४) काया के ममत्व का त्याग करके अप्रतिबद्ध होकर विचरण करना चाहिए।

अनगार-मार्गानुसार आचरण की फलश्रुति

मूल—निज्जूहिऊण आहारं कालधम्मे उवट्ठिए ।
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खे विमुच्चई ॥२०॥

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥२१॥

—त्ति बेमि ।

पद्यानु०—मुनि कालधर्म के आने पर, आहार त्याग दे निर्भय हो ।
मानुष तन का परित्याग करे, सब दुखमुक्त शुभ जीवन हो ॥२०॥
'मम' और 'अहं' विष तज करके, गतराग निरास्रव हो जाते ।
निर्मल केवलपद प्राप्त करे, शाश्वत निर्वाण परम पाते ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अनगारमार्ग पर चलने वाला मुनि अन्त में) कालधम्मे—काल धर्म, उवट्ठिए—उपस्थित होने पर, आहारं—आहार का, निज्जूहिऊण—परित्याग कर (सल्लेखना-संथारापूर्वक), माणुसं बोंदिं—मनुष्यशरीर को, चइऊण—छोड़कर, पहू—प्रभु (विशिष्ट सामर्थ्यशाली) बनकर, दुक्खे विमुच्चई—दु:खों से विमुक्त हो जाता है ॥२०॥

(फिर वह) निम्ममो—ममकाररहित, निरहंकारो—अहंकाररहित, वीयरागो—वीतराग, (एवं) अणासवो—आस्रवरहित होकर, केवलं नाणं संपत्तो—केवल-ज्ञान को सम्प्राप्त कर, सासयं परिणिव्वुए—शाश्वत परिनिर्वाण (परमशान्ति) पाता है ॥२१॥

त्ति बेमि—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विशेषार्थ—अनगारमार्ग के यथावत् पालन करने का फल बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—प्रभु अर्थात्—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्यवान—अनन्तशक्तिमान मुनि, कालधर्म=मृत्यु के उपस्थित होने पर संलेखनापूर्वक यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग करके समाधि-मरणपूर्वक अपने शरीर को छोड़ देता है। औदारिक शरीर के त्याग के साथ ही तैजस कार्मण शरीर का त्याग करके वह शारीरिक-मानसिक सभी प्रकार के दु:खों से मुक्त हो जाता है, अर्थात्—वह इस आवागमन के चक्र से छूटकर परमानन्द स्वरूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

पद्यानु०—अर्चना और रचना वन्दन, सत्कार मान ऋद्धि पूजन।
अभिलाषा मन मे करे नही, मुनिता का करने को रक्षण ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अनगार) अच्चण—अर्चना, रयण—रचना, चेव—और, वंदण—वन्दना, पूयण—पूजा, तहा—तथा, इड्ढी—ऋद्धि, सक्कार—सत्कार (और), सम्माण—सम्मान (आदि) की, मणसा वि—मन से भी, न पत्थए—अभिलाषा न करे ॥१८॥

विशेषार्थ—मुनिवृत्ति मे रहने वाला साधु, इन बातो की मन से भी आकाक्षा न करे, अर्थात्—ये बातें मुझे किसी भी प्रकार से प्राप्त हो जायें, ऐसा मनोरथ कदापि न करे। यथा—"लोग मेरा चन्दन और पुष्पादि से अर्चन करे, मेरे सम्मुख मोतियो के स्वास्तिक आदि की रचना करे, मुझे विधिपूर्वक वन्दना करे, वस्त्रादि विशिष्ट सामग्री देकर मेरी पूजा करें, मुझे श्रावको से उपकरणादि की उपलब्धि हो, अथवा मुझे आमर्षोषधि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो, लोग मुझे या मेरे द्वारा स्थापित सस्था को अर्थ प्रदानादि करके मेरा सत्कार करें एव अभ्युत्थानादि से मेरा सम्मान करे, किसी भी तरह से मेरी प्रसिद्धि और पूजा प्रतिष्ठा हो, मेरी कीर्ति बढे।" इत्यादि बातो की तनिक भी वाछा न करे।

अनगार-मार्ग-निर्देश सूत्र चौथा मृत्युपर्यन्त मुनिधर्म पर सुदृढ़ रहना पालने—

मूल—सुक्कझाण झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥१९॥

पद्यानु०—शुक्लध्यान को चित्त धरे, अनिदान अकिंचन व्रतधारी।
देहाध्यास से मुक्त रहे, जीवन भर विहरे पदचारी ॥१९॥

अन्वयार्थ—जाव—जब तक, कालस्स—काल का, पज्जओ—पर्याय है, (अर्थात मृत्यु-पर्यन्त) (मुनि), सुक्कझाण झियाएज्जा—शुक्लध्यान (विशुद्ध आत्मध्यान) मे लीन रहे, अणियाणे—निदानरहित (और) अकिंचणे—अकिंचन रहे। वोसट्ठकाए—शरीर का व्युत्सर्ग करके, विहरेज्जा—विचरण करे ॥१९॥

विशेषार्थ—अनगार के लिए मुख्य चार मार्ग—विचारक आत्मार्थी साधु को आयुपर्यन्त (१) शुक्लध्यान मे लीन रहना चाहिए, (२) इहलौकिक-पारलौकिक सुखभोगादि वाछारूप निदान नही करना चाहिए, (३) द्रव्य-भाव से परिग्रह छोडकर अकिंचनवृत्ति से रहना चाहिए और (४) काया के ममत्व का त्याग करके अप्रतिबद्ध होकर विचरण करना चाहिए।

छत्तीसवाँ अध्ययन : जीवाजीव-विभक्ति

[अध्ययन-सार]

यह जीवाजीव विभक्ति नामक छत्तीसवाँ अध्ययन है। इसमे जीव और अजीव का पृथक्करण, अर्थात् विभक्ति करके सम्यक् रूप से निरूपण किया गया है।

इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य शास्त्रकार ने प्रारम्भ मे ही व्यक्त कर दिया है कि साधक जीव और अजीव का सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके ही सयम मे प्रयत्नशील हो सकता है। दशवैकालिक सूत्र (अ० ४) मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि जब तक साधु जीव और अजीव तत्त्व के भेद को भली-भाँति नही समझ लेता तब तक वह सयम को नही समझ सकता। जीव और अजीव का सम्यक् परिज्ञान होने पर ही वह अनेक विध गति, पुण्य, पाप, सवेग, निर्वेद, आस्रव, संवर, निर्जरा, बध और मोक्ष को जान सकता है।

ससार मे जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही मूल हैं। शेष सब तत्त्व इन्ही दो के सयोग या वियोग से फलित होते हैं। जीव और अजीव का यह संयोग प्रवाहरूप से तो अनादि-अनन्त है, किन्तु व्यक्ति को स्थिति आदि की अपेक्षा से सादि-सान्त है। यह सयोग ही ससारी जीवन का मूल है, इस सयोग के कारण ही जन्म-मरण को परम्परा बढती है, इस सयोग को दूर करना—वियुक्त करना ही सयम है, मोक्ष है, बन्धनमुक्ति है। अत. जीव और अजीव की इस सयुक्ति को मिटाना और विभक्ति (पृथक्करण) करना अथवा जीव-अजीव का भेद-विज्ञान प्रतिपादित करना ही इस अध्ययन का मूल उद्देश्य है।

जब तक जीव के साथ कर्मपुद्गलो, वैभाविक पदार्थों—परभावो

मोक्ष प्राप्त करने वाला साधक सर्वप्रथम अहत्व-ममत्व का परित्याग कर देता है, उसके कारण पुण्य-पापरूप कर्मास्रवो को रोक देता है। फिर उसके फलस्वरूप वीतरागता और केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के कर्मबन्धनो से मुक्त होकर शाश्वत परिनिर्वाण (परमशान्ति) को प्राप्त कर लेती है।

॥ अनगार-मार्ग-गति : पैंतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

●

छत्तीसवाँ अध्ययन : जीवाजीव-विभक्ति

[अध्ययन-सार]

यह जीवाजीव विभक्ति नामक छत्तीसवाँ अध्ययन है। इसमे जीव और अजीव का पृथक्करण, अर्थात् विभक्ति करके सम्यक् रूप से निरूपण किया गया है।

इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य शास्त्रकार ने प्रारम्भ मे ही व्यक्त कर दिया है कि साधक जीव और अजीव का सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके ही सयम मे प्रयत्नशील हो सकता है। दशवैकालिक सूत्र (अ० ४) मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि जब तक साधु जीव और अजीव तत्त्व के भेद को भली-भाँति नही समझ लेता तब तक वह सयम को नही समझ सकता। जीव और अजीव का सम्यक् परिज्ञान होने पर ही वह अनेक विध गति, पुण्य, पाप, सवेग, निर्वेद, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष को जान सकता है।

ससार मे जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही मूल हैं। शेष सब तत्त्व इन्ही दो के सयोग या वियोग से फलित होते हैं। जीव और अजीव का यह संयोग प्रवाहरूप से तो अनादि-अनन्त है, किन्तु व्यक्ति की स्थिति आदि की अपेक्षा से सादि-सान्त है। यह सयोग ही ससारी जीवन का मूल है, इस सयोग के कारण ही जन्म-मरण की परम्परा चलती है, इस सयोग को दूर करना—वियुक्त करना ही सयम है, मोक्ष है, बन्धनमुक्ति है। अत जीव और अजीव की इस सयुक्ति को मिटाना और विभक्ति (पृथक्करण) करना अथवा जीव-अजीव का भेद-विज्ञान प्रतिपादित करना ही इस अध्ययन का मूल उद्देश्य है।

जब तक जीव के साथ कर्मपुद्गलो, वैभाविक पदार्थों—परभावो

या सासारिक पदार्थों के प्रति राग-द्वेष मोहादि का सयोग रहता है, तब तक उसे अनेक बार जन्म-मरण करना ही पड़ता है। जीव के देह, मन, अगोपाग, इन्द्रिय, भाषा, सुख-दुख आदि सब सयोग पर ही आधारित है। प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त इस सयोग को आदि अन्तयुक्त किया जा सकता है। क्योकि सयोग के मूल कारण राग-द्वेष-मोह, कषायादि हैं। कारण को मिटा देने पर राग-द्वेषादि जनित कर्मबन्धन और जन्म-मरण रूप ससार स्वत समाप्त हो जाता है।

वस्तुत जीव और अजीव का भेद विज्ञान करना ही तत्त्वज्ञान है—सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन है और स्वरूपरमणरूप सम्यक्चारित्र है। यही जिनवचन मे अनुराग है, यही जिनवचन का क्रियान्वयन है।

इसी दृष्टि से सर्वप्रथम जीवो का निरूपण करने से पूर्व अजीव का निरूपण किया गया। अजीव तत्त्व एक होते हुए भी उसके रूपी-अरूपी दो भेद करके, उनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से प्ररूपणा की गई है। उनकी स्थिति और अन्तर का भी निरूपण किया गया है।

जीव शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से एक है, विभिन्न श्रेणी का नही है, किन्तु कर्मों से आवृत होने के कारण उसके शरीर, इन्द्रिय, अगोपाग, मन, गति, योनि, क्षेत्र आदि की विविध भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती है।

यही कारण है कि सर्वप्रथम जीव के शुद्धस्वरूप—शरीर, कर्म, जन्म-मरणादि से रहित सिद्ध-परमात्मा का वर्णन किया गया है, ताकि साधक अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप का बोध प्राप्त कर सके, सिद्धो का विभिन्न रूपो से विश्लेषण भी इसी हेतु से किया गया है।

तत्पश्चात् ससारी जीवो के मुख्य दो भेद स्थावर और त्रस का निरूपण करके पचेन्द्रिय त्रस जीवो—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव का भेद-प्रभेद सहित विवरण प्रस्तुत किया है।

ससारी जीव के प्रत्येक भेद के साथ-साथ उसके क्षेत्र और काल का भी प्रतिपादन किया गया है। काल मे प्रवाह, स्थिति, आयुस्थिति, कायस्थिति एव अन्तर का विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही भाव की अपेक्षा से प्रत्येक प्रकार के ससारी जीव के हजारो भेदो का भी सकेत किया है।

उपसहार मे जीव और अजीव के स्वरूप का श्रवण, ज्ञान, श्रद्धान करके तदनुरूप सयम मे रमण करने का कर्तव्य-निर्देश किया गया है।

तत्पश्चात् अन्तिम समय मे आराधक बनने हेतु सल्लेखना-सथारा द्वारा समाधिमरण प्राप्त करने हेतु, समाधिमरण मे बाधक एव साधक तत्त्वो का प्रतिपादन किया गया है।

कन्दर्पी आदि पाँच भावनाओ से आत्मरक्षा करके, मिथ्यात्व, निदान, हिंसा, कृष्णलेश्या आदि से बचकर सम्यग्दर्शन, अनिदान, शुक्ल-लेश्या, जिनवचन मे अनुराग, तथा उसका भावपूर्वक आचरण तथा योग्य सुदृढ सयमी गुरुजन के समक्ष आलोचनादि के द्वारा आत्मशुद्धि करके परित्तससारी बनने और मोक्ष प्राप्त करने का निर्देश किया गया है।

कुल मिलाकर जीवाजीवविभक्ति का सागोपाग प्रतिपादन इस विशाल अध्ययन द्वारा हुआ है।

●

छत्तीसइमं अज्झयणं : जीवाजीव-विभत्ती

जीवाजीव-विभक्ति : छत्तीसवाँ अध्ययन

प्रतिपाद्य विषय का निर्देश और उसका प्रयोजन—

मूल—जीवाजीव-विभत्तिं, सुणेह मे एगमणा इओ।
जं जाणिऊण समणे, सम्मं जयइ संजमे ॥१॥

पद्यानु०—जीवाजीव के प्रविभागों को, एकाग्रचित्त हो श्रवण करें।
जिस विभक्ति को जान श्रमण, सम्यक् संयम में चित्त धरें ॥१॥

अन्वयार्थ—इओ—अब आगे, (तुम), मे—मुझसे, जीवाजीव-विभत्तिं—जीव और अजीव के विभाग को, एगमणा—एकाग्रमना (होकर), सुणेह—सुनो, जं—जिसे, जाणिऊण—जानकर, समणे—श्रमण, संजमे—संयम में, सम्मं—सम्यक् प्रकार से, जयइ—यत्नवान् होता है ॥१॥

विशेषार्थ—संयम की समाराधना के लिए जीवाजीव-विभाग—अर्थात् संयम की सम्यक् आराधना और दृढ़ता के लिए जीव और अजीव के स्वरूप एवं उसके प्रकारों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। दशवैकालिक सूत्र (अ० ४) में कहा है—

'जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणाइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं? ॥२॥

अर्थात्—जो जीवों को भी नहीं जानता और न अजीवों को ही जानता है। अतः जीवों और अजीवों को नहीं जानने वाला वह साधक संयम को कैसे समझ सकता है?

मतलब यह है कि जीव और अजीव का ज्ञाता ही सब जीवों की बहुविध गति-आगति, उनके पुण्य-पाप, बन्ध और मोक्ष को जानकर दिव्य

और मानुष भोगो से विरक्त हो सकता है। फिर बाह्याभ्यन्तर संयोगो का त्याग कर वह अनगार धर्म मे प्रव्रजित होता है। और फिर वह संवर-निर्जरारूप धर्म का आचरण करके कर्मक्षय कर डालता है। तदनन्तर केवलज्ञानी केवलदर्शी होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

लोकालोक का स्वरूप : जीवाजीवमय और द्रव्यादि की अपेक्षा से दोनो की प्ररूपणा—

मूल—जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥२॥

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसिं भवे, जीवाणमजीवाण य ॥३॥

पद्यानु०—जीव अजीव ये दोऊ द्रव्य, लोक यही जिन बतलाया।
है द्रव्य अजीव का देश गगन, उसको अलोक प्रभु ने गाया ॥२॥

द्रव्य, क्षेत्र और काल-भाव से, वर्णन इसका होता है।
जड-चेतन दो प्रमुख द्रव्य, जग-कारण यह कहलाता है ॥३॥

अन्वयार्थ—एस लोए—यह लोक, जीवा चेव अजीवा—जीव और अजीव रूप, वियाहिए—कहा गया है, य—और (जहाँ), अजीवदेस—अजीव का एक देश, आगासे—आकाशरूप है, से—उसे, अलोए—अलोक, वियाहिए—कहा गया है ॥२॥

तेसिं जीवाणमजीवाण य—उन जीवो और अजीवो की, परूवणा—प्ररूपणा, दव्वओ—द्रव्य से, खेत्तओ—क्षेत्र से, चेव कालओ—और काल से, तहा—तथा, भावओ—भाव से, भवे—होती है ॥३॥

विशेष—लोक और अलोक—जीव और अजीव ये दोनो तत्त्व जहाँ निवास कर रहे हो, उसे तीर्थंकरो ने लोक कहा है, इसी प्रकार अपेक्षा भेद से लोक को कही धर्मास्तिकायमय, कही षड्द्रव्यात्मक, कही पचास्तिकाय-मय और कही जीव-अजीवमय कहा है।[1] और अजीव का एकदेश आकाश मात्र ही जहाँ विद्यमान है, अर्थात्—धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्य के पाँच भेदो मे से केवल आकाश का ही जहाँ अस्तित्व हो, उसे अलोक कहा गया है।

---

१ उत्तरा० गुजराती भाषान्तर भा० २, पत्र ३३३

जीव और अजीव—जिसमे चैतन्य लक्षण हो, वह जीव और जो चेतन से रहित हो, वह अजीव (जड) कहलाता है।[1]

दोनो की प्ररूपणा चार प्रकार से—जीव और अजीव द्रव्य के निरूपण के चार प्रकार हैं, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के नाम से विख्यात हैं। द्रव्य से जीव और अजीव द्रव्य इतने हैं, क्षेत्र से—जीव द्रव्य मात्र इतने क्षेत्र मे स्थित है, काल से—जीव द्रव्य की एतावन्मात्र इतनी काल-स्थिति है और भाव से—जीव द्रव्य मे एतावन्मात्र इतनी पर्यायें परिवर्तित होती हैं।

इसी प्रकार अजीव द्रव्य के विषय मे समझ लेना चाहिए।[2]

अजीव का निरूपण—

मूल—रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो वि चउव्विहा ॥४॥

पद्यानु०—रूपी और अरूपी यो दो, भेद अजीव के होते हैं।
रूपी के हैं चार, अरूपी के दस भेद कहाते हैं ॥४॥

अन्वयार्थ—अजीवो—अजीव, दुविहा भवे—दो प्रकार का होता है, रूविणो चेवऽरूवी य—रूपी और अरूपी, अरूवी—अरूपी, दसहा—दस प्रकार का, वुत्ता—कहा गया है (और), रूविणो वि—रूपी अजीव भी, चउव्विहा—चार प्रकार का है ॥४॥

विशेषार्थ—रूपी और अरूपी का लक्षण—जिसमे वर्ण (रूप), गन्ध, रस और स्पर्श हो, उसे रूपी या मूर्त्त अजीव द्रव्य, और जिसमे वर्णादि चारो न हो, उसे अरूपी (अमूर्तिक) अजीव द्रव्य कहते हैं।[3]

अजीव द्रव्य के मुख्य दो भेद हैं—रूपी और अरूपी। उनमे भी रूपी के चार और अरूपी के दस भेद कहे गये हैं। इनका आगे की गाथाओ में स्पष्ट वर्णन है।

अरूपी अजीव-निरूपण—

मूल—धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए।
अधम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥५॥

---

१ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ३९०-३९१
(ख) बृहद्वृत्ति, अ रा कोष भा. ४, पृ. १५६२

२ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज) भा ३ पृ ३९१

३ तत्र रूप स्पर्शाद्याश्रयभूत मूर्त्त तदस्ति येषु ते रूपिण। तद्व्यतिरिक्ता अरूपिण।—बृहद्वृत्ति, अ रा कोष भा. १, पृ २०३

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धा-समए चेव अरूवी दसहा भवे ॥६॥

धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समय खेत्तिए ॥७॥

धम्माधम्मागासा तिन्नि वि, एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥८॥

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।
आएसं पप्प साइए, सपज्जवसिए वि य ॥९॥

अन्वयार्थ—(सर्वप्रथम), धम्मत्थिकाए—धर्मास्तिकाय, तद्देसे—उस (धर्मास्तिकाय) का देश, य—और, तप्पएसे—उस (धर्मास्तिकाय) का प्रदेश, आहिए—कहा गया है, य—तथा, अहम्मे—अधर्मास्तिकाय, तस्स—उस (अधर्मास्तिकाय) का, देसे—देश, य—और, तप्पएसे—उस (अधर्मास्तिकाय) का प्रदेश, आहिए—कहा गया है ॥५॥

आगासे—आकाशास्तिकाय, तस्स देसे—उस (आकाशास्तिकाय) का देश, य—और, तप्पएसे—उसका प्रदेश, आहिए—कहा गया है, चेव—और, (एक), अद्धा-समए—अद्धा समय (काल) (इस प्रकार), अरूवी—अरूपी, (अजीव), दसहा—दस प्रकार के, भवे—होते हैं ॥६॥

धम्माधम्मे य दो चेव—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, ये दोनों ही, लोगमित्ता—लोक-प्रमाण, वियाहिया—कहे गए हैं, आगासे—आकाशास्तिकाय, लोगालोगे—लोक और अलोक प्रमाण है, (परन्तु), समए—समय=काल, समयखेत्तिए—समयक्षेत्रिक—ढाईद्वीप प्रमाण है ॥७॥

धम्माधम्मागासा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, एए तिन्नि वि—ये तीनों ही (द्रव्य), अणाइया—अनादि, चेव—और, अपज्जवसिया—अपर्यवसित=अनन्त (तथा) सव्वद्धं—सर्वकाल में, (स्थायी=नित्य), वियाहिया—कहे गये हैं ॥८॥

समए वि—समय=काल भी, संतइं पप्प—प्रवाह (संतति) की अपेक्षा से, एवमेव—इसी प्रकार (अनादि—अनन्त), वियाहिए—कहा गया है, आएसं पप्प—आदेश (प्रतिनियत व्यक्तिरूप एक-एक समय) की अपेक्षा से, साइए—सादि, य—और, सपज्जवसिए वि—सपर्यवसित=सान्त भी होता है ॥९॥

विशेषार्थ—अरूपी अजीव का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से निरूपण— **द्रव्यत**—अरूपी अजीव के दस भेद हैं—यद्यपि धर्मास्तिकायादि तीनो अरूपी अजीव वास्तव मे एक-एक अखण्ड द्रव्य है, तथापि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनो के प्रत्येक के स्कन्ध, देश, प्रदेश यो तीन-तीन भेद होने से ९ भेद और दसवा काल, ये दस भेद अरूपी अजीव के द्रव्य की अपेक्षा से हुए। निर्विभाग होने से काल द्रव्य के स्कन्ध, देश और प्रदेश नही होते।[1]

यद्यपि वर्तना लक्षण काल के भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन प्रकार माने गये हैं, तथापि धर्मास्तिकायादि की भाँति, इन समयो का एकीभाव नही हो सकता, क्योकि काल मे प्रदेश-प्रचयरूपता नही है। इसलिए काल द्रव्य एक ही है।

स्कन्ध, देश और प्रदेश का लक्षण—किसी भी सम्पूर्ण द्रव्य के पूर्णरूप का नाम स्कन्ध है, स्कन्ध के किसी एक कल्पित विभाग को देश कहते हैं। तथा स्कन्ध का एक अतिसूक्ष्म अविभाज्य अश (जिसका और कोई विभाग न हो सके) प्रदेश या परमाणु कहलाता है।

क्षेत्रत—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का क्षेत्र लोकप्रमाण है, आकाशास्तिकाय की सत्ता लोक और अलोक दोनो मे है। और गणना रूपकाल का क्षेत्र समय क्षेत्र (अर्थात् मनुष्य क्षेत्र—ढाई द्वीप—प्रमाण क्षेत्र) है।

शास्त्रकारो ने मनुष्य क्षेत्र को समय-क्षेत्र कहकर उसे अढाई द्वीप मे परिगणित किया है। इसी क्षेत्र मे सूर्य और चन्द्र आदि के भ्रमण से एक समय से लेकर पल्योपम एव सागरोपम आदि का प्रमाण निश्चित किया जाता है। इसी कारण समय विभाग को समय क्षेत्रिक माना गया है। और जो ढाई द्वीप से बाह्य क्षेत्र है, वहाँ भी समय का निर्णय समय क्षेत्र से ही किया जाता है, क्योकि द्रव्यकाल (व्यावहारिक काल) समय विभागादि से ही उत्पन्न होता है।

कालत—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये

---

१ (क) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ३१२

(ख) उत्तरा (मुनि नथमलजी) टिप्पण पृ. ३१५

(ग) आऽऽकाशादेकद्रव्याणि निष्क्रियाणि च। —तत्त्वार्थ सूत्र अ ५

तीनो ही द्रव्य सर्वकाल मे अनादि और अनन्त है, अर्थात्—न तो इनकी आदि है और न ही अन्त है। यह कथन काल की अपेक्षा से है पर्याय या क्षेत्र की अपेक्षा से नही। अब रहा काल। प्रवाह (सतति) की अपेक्षा से काल अनादि-अनन्त है, क्योकि काल की उत्पत्ति नही होती और उत्पत्तिरहित होने से काल आदिरहित एव अन्तरहित स्वत सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब हम प्रवाह को देखते हुए काल की आदि को खोजते हैं, तो उसका कोई प्रारम्भिक छोर उपलब्ध नही होता, न ही पर्यवसान दिखाई देता है। इसलिए प्रवाह की अपेक्षा से काल को अनादि-अनन्त माना गया है। परन्तु कार्यविशेष (आदेश) की अपेक्षा से वह सादि-सान्त (आदि-अन्त वाला) है। जैसे—किसी कुम्हार ने अमुक समय मे घडा बनाया। अत घटनिर्माणरूप कार्य के प्रारम्भ की अपेक्षा से वह आदि-सहित ठहरता है। और घटनिर्माण की समाप्ति पर उसका अन्त हो जाता है। इसलिए आदेश अर्थात् कार्यविशेष की दृष्टि से काल को सादि-सान्त भी माना गया है। लोक व्यवहार मे भी काल के सादिसान्त होने का व्यवहार किया जाता है।

नानाविध कार्यों के प्रारम्भ और समाप्ति को देखते हुए समय की उत्पत्ति और विनाश प्रतीत होने से उसको सादि-सान्त कहा गया है।

भावत —ये सभी द्रव्य वर्ण-गन्धादि से रहित, अरूपी, अमूर्त हैं। भावत इनका निरूपण करने पर भी इनके पर्यायो के प्रत्यक्ष न होने से, इनका अनुभव होना अतीव कठिन है। अत भाव-सम्बन्धी निरूपण केवल अनुमानगोचर है।[1]

रूपी अजीव का निरूपण—

मूल—खधा य खधदेसा य, तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोधव्वा, रूविणो य चउव्विहा ॥१०॥

एगत्तेण पुहत्तेण, खधा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥
इत्तो काल-विभाग तु, तेसि वुच्छं चउव्विहं ॥११॥

सतइ पप्प तेऽणाइ, अपज्जवसिया तहा।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१२॥

---

१ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ३९२ से ३९५ तक

असखकालमुक्कोस, एग समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीण ठिई एसा वियाहिया ॥१३॥

अणतकालमुक्कोसं, एग समय जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीण, अतरेय वियाहिय ॥१४॥

वण्णओ गधओ चेव, रसओ फासओ तहा ।
सठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसिं पंचहा ॥१५॥

वण्णओ 'परिणया जे उ, पचहा ते पकित्तिया ।
किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा ॥१६॥

गधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सुब्भिगध-परिणामा, दुब्भिगधा तहेव य ॥१७॥

रसओ परिणया जे उ, पचहा ते पकित्तिया ।
तित्त-कडुय-कसाया, अबिला महुरा तहा ॥१८॥

फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया ।
कक्खडा मउआ चेव, गरुआ लहुआ तहा ॥१९॥

सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया ।
इइ फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥२०॥

सठाणओ परिणया जे उ, पचहा ते पकित्तिया ।
परिमडला य वट्टा य, तसा चउरसमायया ॥२१॥

वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए सठाणओ वि य ॥२२॥

वण्णओ जे भवे नीले, भइए से उ गधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए सठाणओ वि य ॥२३॥

वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए सठाणओ वि य ॥२४॥

वण्णओ पीयए जे उ, भइए से गधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए सठाणओ वि य ॥२५॥

वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए सठाणओ वि य ॥२६॥

गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥२७॥

गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥२८॥

रसओ तित्तए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥२९॥

रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३०॥

रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३१॥

रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३२॥

रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३३॥

फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३४॥

फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३५॥

फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३६॥

फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३७॥

फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३८॥

फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३९॥

फासओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥४०॥

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥४१॥

परिमंडल-संठाणे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥४२॥

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥४३॥

संठाणओ जे भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥४४॥

संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥४५॥

जे आयय-संठाणे, भइए से उ वण्णओ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥४६॥

ऐसा अजीव-विभत्ती, समासेण वियाहिया।
इत्तो जीव विभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥४७॥

पद्यानु०—स्कन्ध, देश और तत्प्रदेश, परमाणु पृथक् कहलाता है।
रूपी पुद्गल के चार भेद, यो जिनशासन बतलाता है ॥१०॥

मिलने तथा पृथक् होने से, स्कन्ध और परमाणु बने।
सम्पूर्ण लोक या लोक-देश मे, वैकल्पिक क्षेत्र कहा जिन' ने
अब काल-विभाग कहूं उनका, मैं चार प्रकार सुनो आगे ॥११॥

प्रचलित धारा की दृष्टि से, ना आदि-अन्त उनका जानो।
स्थिति विशेष को लेकर के, है सादि-सान्त भी पहचानो ॥१२॥

असख्यकाल उत्कृष्ट कही, और एक समय की न्यून स्थिति।
रूपी अजीव जो हैं उनकी, बतलाई अवधिकाल स्थिति ॥१३॥

उत्कृष्ट अनन्तकाल समझो, और एक समय का न्यून कहा।
रूपी अजीव का अन्तर यह, बतलाया जिनदेव महा ॥१४॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, सस्थान पाचवाँ बतलाया।
यो पाँच भेद परिणाम कहा, रूपी पुद्गल प्रभु ने गाया ॥१५॥

वर्णभाव से परिणत पुद्गल, पाच भेद से बतलाये।
है कृष्ण नील लोहित व पीत, और धवल पचविध हैं गाये ॥१६॥

गन्धभाव से परिणत पुद्गल, युगल रूप जग मे गाये ।
सुरभिगन्ध और दुर्रभिगन्ध, परिणाम शास्त्र मे बतलाये ॥१७॥

स्वादभाव से परिणत पुद्गल, पाँच भेद 'जिन' बतलाते ।
तिक्त कटुक कषाय अम्ल, रस मधुर पाच यो कहलाते ॥१८॥

स्पर्शभाव से परिणत पुद्गल, आठ भेद कहलाते है ।
कर्कश मृदुक और ऐसे ही, हल्के भारी होते है ॥१९॥

शीत उष्ण है स्पर्श और, चिकने रूखे भी जग माने ।
यो स्पर्शभाव-परिणत पुद्गल जिन कहे शास्त्र मे मन जाने ॥२०॥

सस्थान भाव से परिणत पुद्गल, पाच भेद के बतलाये ।
परिमण्डल वृत त्रिकोण तथा, आयत चतुरस्र यो कहलाये ॥२१॥

कृष्णवर्ण का जो पुद्गल है, वह द्विविध गन्ध से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव से बदल रहा ॥२२॥

नीलवर्ण का जो पुद्गल है, वह द्विविध गन्ध से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव से बदल रहा ॥२३॥

रक्तवर्ण का जो पुद्गल है, वह द्विविध गन्ध से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव से बदल रहा ॥२४॥

पीतवर्ण का जो पुद्गल है, वह द्विविध गन्ध से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव से बदल रहा ॥२५॥

श्वेतवर्ण का जो पुद्गल, वह द्विविध गन्ध से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥२६॥

सुरभिगन्ध का जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥२७॥

अशुभ गन्धयुत् जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा ।
स्पर्श और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥२८॥

तिक्त स्वाद का जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा ।
स्पर्श गन्ध और सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥२९॥

कटुक स्वाद का जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा ।
स्पर्श गन्ध और सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३०॥

संस्थान रूप जो चतुष्कोण, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श-गन्ध-रस भावो से, विविध रूप जग जान रहा ॥४५॥

आयत सस्थान का जो पुद्गल, वर्णादि भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श-गन्ध-रस-भावो से, विविध रूप जग जान रहा ॥४६॥

यह अजीव का भेद यहाँ, सक्षिप्त रूप से कथन किया।
आगे कहूँगा जीव-भेद, अनुपूर्वी से जो कहा गया ॥४७॥

अन्वयार्थ—रूविणो—रूपी (अजीव द्रव्य), चउव्विहा—चार प्रकार के, बोधव्वा—जानने चाहिए, (यथा—), खधा य—स्कन्ध, खधदेसा य—स्कन्ध के देश, तहेव य—उसी प्रकार, तप्पएसा—उसके (स्कन्ध के) प्रदेश, य—और, परमाणुणो—परमाणु ॥९॥

(अनेक परमाणु), एगत्तेण—एकत्वरूप होने से (अर्थात् अनेक परमाणु एक रूप मे परिणत होने से), खधा—स्कन्ध (बन जाते है), य—और, पुहुत्तेण—(स्कन्ध के) पृथक् रूप होने से (वे), परमाणुणो—परमाणु बन जाते है (यह द्रव्य की अपेक्षा से है।) ॥१०॥

खेत्तओ—क्षेत्र की अपेक्षा से, ते उ—वे (स्कन्ध और परमाणु), लोएगदेसे—लोक के एकदेश मे, य—तथा, लोए—(एकदेश से लेकर) सम्पूर्ण लोक मे, भइयव्वा—भाज्य (असख्य-वि ल्पात्मक) हैं।

इत्तो—यहाँ से आगे, तेसिं तु—उनके (स्कन्ध और परमाणुओ के), काल-विभाग चउव्विह—काल की अपेक्षा से चार प्रकार का विभाग, वुच्छ—कहूँगा ॥११॥

सतइ पप्प—प्रवाह, (सतति) की अपेक्षा से, ते—वे (स्कन्धादि), अणाइ—अनादि, य—और, अपज्जवसिया—अपर्यवसित=अनन्त हैं (तथा), ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, (वे), साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सपर्यवसित=सान्त भी हैं ॥१२॥

रूवीण अजीवाण—रूपी अजीव द्रव्यो की, एसा—यह, ठिई—स्थिति, जहन्नय—जघन्य, एग समय—एक समय की, य—और, उक्कोस—उत्कृष्ट, असख-काल—असख्यातकाल की, वियाहिया—कही गई है ॥१३॥

रूवीण अजीवाण—रूपी अजीव द्रव्यो का, अतरेय—यह अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थान से उसी स्थान पर पुन आने तक का काल), जहन्नय—जघन्य, एग समय—एक समय, य—और, उक्कोस—उत्कृष्ट, अणत काल—अनन्तकाल, वियाहिय—कहा गया है ॥१४॥

रसमय कषाय जो पुद्गल है, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध और सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३१॥

खट्टे रस का जो पुद्गल है, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध और सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३२॥

मधुर स्वाद का जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गन्ध और सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३३॥

कर्कश स्पर्श का जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३४॥

मृदुक स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३५॥

गुरुक स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३६॥

स्पर्श लघुकमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३७॥

शीत-स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३८॥

उष्ण स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस मस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥३९॥

स्निग्ध स्पर्शमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस सस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥४०॥

स्पर्श रूक्षमय जो पुद्गल, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
गन्ध और रस संस्थानो के, विविध भाव मे बदल रहा ॥४१॥

परिमण्डल आकार वस्तु जो, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गध और रस भावो से, विविध भेद जग जान रहा ॥४२॥

वृत्ताकार जो पुद्गल है, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श गध और रस भावा से, विविध भेद जग जान रहा ॥४३॥

त्रिकोणाकृति का जो पुद्गल, वर्णादि भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श-गध-रस भावो से, विविध रूप जग जान रहा ॥४४॥

सस्थान रूप जो चतुष्कोण, वह वर्णभाव से भाज्य कहा।
स्पर्श-गध-रस भावो से, विविध रूप जग जान रहा ॥४५॥

आयत सस्थान का जो पुद्गल, वर्णादि भाव से भाज्य कहा।
स्पर्श-गन्ध-रस-भावो से, विविध रूप जग जान रहा ॥४६॥

यह अजीव का भेद यहाँ, सक्षिप्त रूप से कथन किया।
आगे कहूँगा जीव-भेद, अनुपूर्वी से जो कहा गया ॥४७॥

अन्वयार्थ—रूविणो—रूपी (अजीव द्रव्य), चउव्विहा—चार प्रकार के, बोधव्वा—जानने चाहिए, (यथा—), खधा य—स्कन्ध, खधदेसा य—स्कन्ध के देश, तहेव य—उसी प्रकार, तप्पएसा—उसके (स्कन्ध के) प्रदेश, य—और, परमाणुणो—परमाणु ॥९॥

(अनेक परमाणु), एगत्तेण—एकत्वरूप होने से (अर्थात् अनेक परमाणु एक रूप मे परिणत होने से), खधा—स्कन्ध (बन जाते हैं), य—और, पुहत्तेण—(स्कन्ध के) पृथक् रूप होने से (वे), परमाणुणो—परमाणु बन जाते है (यह द्रव्य की अपेक्षा से है।) ॥१०॥

खेत्तओ—क्षेत्र की अपेक्षा से, ते उ—वे (स्कन्ध और परमाणु), लोएगदेसे—लोक के एकदेश मे, य—तथा, लोए—(एकदेश से लेकर) सम्पूर्ण लोक मे, भइयव्वा—भाज्य (असख्य-वि ल्पात्मक) हैं।

इत्तो—यहाँ से आगे, तेसिं तु—उनके (स्कन्ध और परमाणुओ के), कालविभाग चउव्विह—काल की अपेक्षा से चार प्रकार का विभाग, वुच्छ—कहूँगा ॥११॥

सतइ पप्प—प्रवाह, (सतति) की अपेक्षा से, ते—वे (स्कन्धादि), अणाई—अनादि, य—और, अपज्जवसिया—अपर्यवसित=अनन्त हैं (तथा), ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, (वे), साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—पर्यवसित=सान्त भी हैं ॥१२॥

रूवीण अजीवाण—रूपी अजीव द्रव्यो की, एसा—यह, ठिई—स्थिति, जहन्नय—जघन्य, एग समय—एक समय की, य—और, उक्कोसा—उत्कृष्ट, असखकाल—असख्यातकाल की, वियाहिया—कही गई है ॥१३॥

रूवीण अजीवाण—रूपी अजीव द्रव्यो का, अतरेयं—यह अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थान से उसी स्थान पर पुन आने तक का काल), जहन्नयं—जघन्य, एग समय—एक समय, य—और, उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकालं—अनन्तकाल, वियाहिय—कहा गया है ॥१४॥

तेसिं—उनका (स्कन्ध आदि का), परिणमो—परिणमन, वण्णओ—वर्ण की अपेक्षा से, गंधओ—गंध की अपेक्षा से, चेव रसओ—और रस की अपेक्षा से, तहा—तथा, फासओ—स्पर्श की अपेक्षा से, य—और, संठाणओ—संस्थान की अपेक्षा से, पंचहा—पाँच प्रकार का, विन्नेओ—जानना चाहिए ॥१५॥

वण्णओ—वर्ण से, जे उ—जो (स्कन्धादि रूपी अजीव पुद्गल), परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, पंचहा—पाँच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये हैं, (यथा—) किण्हा—कृष्ण, नीला—नील, लोहिया—लोहित=लाल, य—और, हालिद्दा—हारिद्र=पीला, तहा—तथा, सुक्किला—शुक्ल=श्वेत ॥१६॥

जे उ—जो (स्कन्धादि रूपी अजीव पुद्गल), गंधओ—गन्ध से, परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गये हैं, (यथा—), सुब्भिगंध-परिणामा—सुरभि गन्ध रूप में परिणमन, तहेव य—तथैव, दुब्भिगंध—दुरभिगन्ध (रूप में परिणमन) ॥१७॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, पंचहा—पाँच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये है (यथा—), तित्त-कडुय-कसाया—तिक्त, (तीखा या चरपरा), कडुक—कड़वा, कसैला, (कषाय), अंबिला—अम्ल=खट्टा, तहा—तथा, महुरा—मधुर ॥१८॥

जे उ—जो (पुद्गल), फासओ—स्पर्श से, परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, अट्ठहा—आठ प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये है। (यथा—), कक्खडा—कर्कश, (खुरदरा), मउआ—मृदु (मुलायम=कोमल), चेव—और, गुरुआ—गुरु=भारी, तहा—तथा, लहुआ—लघु—हल्का, सीया—शीत, (ठंडा), उण्हा—उष्ण (गर्म), य—और, निद्धा—स्निग्ध (चिकना हुआ), तहा—तथा, लुक्खा य—रूक्ष, (कठोर=कड़ा), आहिया—कहे गये हैं, इइ—इस प्रकार, एए—ये, फास-परिणया—स्पर्श (रूप में) परिणत (हुए), पुग्गला—पुद्गल, समुदाहिया—सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं ॥१९-२०॥

संठाण-परिणया—संस्थान रूप में परिणत, जे उ—जो (पुद्गल है,) ते—वे, पंचहा—पाँच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये हैं (यथा—), परिमंडला य—परिमण्डल, वट्टा—वृत्त (गोल), तंसा—त्र्यस=त्रिकोण, तहा—तथा, चउरंसमायया य—चतुरस्र, (चोरस=चोकोन) और आयत (लम्बे) ॥२१॥

जे—जो (पुद्गल), वण्णओ—वर्ण से, किण्हे—कृष्ण (काला) भवे—होता है, से उ—वह, गंधओ रसओ फासओ चेव—गन्ध, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है=अनेक विकल्पों वाला है ॥२२॥

जे—(जो पुद्गल), वण्णओ—वर्ण से, नीले—नील है, से उ—वह, गंधओ रसओ फासओ चेव—गन्ध, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥२३॥

जे उ—जो (पुद्गल), वण्णओ—वर्ण से, लोहिए—लोहित (लाल) है, से उ—वह, गंधओ रसओ फासओ चेव—गन्ध, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥२४॥

जे उ—जो (पुद्गल), वण्णओ—वर्ण से, पीयए—(पीला) है, से उ—वह, गंधओ रसओ फासओ चेव—गन्ध, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥२५॥

जे उ—जो (पुद्गल), वण्णओ—वर्ण से, सुक्किले—शुक्ल (श्वेत) है, से उ—वह, गंधओ रसओ फासओ चेव—गन्ध, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥२६॥

गन्धओ—गन्ध से, जे—जो (पुद्गल), सुब्भी—सुरभि=सुगन्धित, भवे—होता है, से उ—वह, वण्णओ रसओ फासओ चेव—वर्ण, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥२७॥

गंधओ—गन्ध से, जे—(जो पुद्गल), दुब्भी—दुर्गन्धित है, से उ—वह, वण्णओ रसओ फासओ चेव—वर्ण, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य (अनेक विकल्पों वाला) है ॥२८॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, तित्तए—तिक्त (चरपरा) है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ फासओ चेव—वर्ण, गन्ध और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य (अनेक विकल्पों वाला) है ॥२९॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, कडुए—कटु है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ फासओ चेव—वर्ण, गन्ध और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥३०॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, कसाए—कषाय, (कषैला) है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ फासओ चेव—वर्ण, गन्ध और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ॥३१॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, अंबिले—अम्ल (खट्टा) है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ फासओ चेव—वर्ण, गन्ध और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है॥३२॥

तेसिं—उनका (स्कन्ध आदि का), परिणमो—परिणमन, वण्णओ—वर्ण की अपेक्षा से, गन्धओ—गन्ध की अपेक्षा से, चेव रसओ—और रस की अपेक्षा से, तहा—तथा, फासओ—स्पर्श की अपेक्षा से, य—और, संठाणओ—संस्थान की अपेक्षा से, पंचहा—पांच प्रकार का, विन्नेओ—जानना चाहिए ॥१५॥

वण्णओ—वर्ण से, जे उ—जो (स्कन्धादि रूपी अजीव पुद्गल), परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, पंचहा—पांच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये हैं, (यथा—) किण्हा—कृष्ण, नीला—नील, लोहिया—लोहित=लाल, य—और, हालिद्दा—हारिद्र=पीला, तहा—तथा, सुक्किला—शुक्ल=श्वेत ॥१६॥

जे उ—जो (स्कन्धादि रूपी अजीव पुद्गल), गन्धओ—गन्ध से, परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गये है, (यथा—), सुब्भिगन्ध-परिणामा—सुरभि गन्ध रूप मे परिणमन, तहेव य—तथैव, दुब्भिगन्ध—दुरभिगन्ध (रूप मे परिणमन) ॥१७॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, परिणया—परिणत होते है, ते—वे, पंचहा—पांच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये है (यथा—), तित्त-कडुय-कसाया—तिक्त, (तीखा या चरपरा), कडुय—कडवा, कसैला, (कषाय), अंबिला—अम्ल=खट्टा, तहा—तथा, महुरा—मधुर ॥१८॥

जे उ—जो (पुद्गल), फासओ—स्पर्श से, परिणया—परिणत होते हैं, ते—वे, अट्ठहा—आठ प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये हैं। (यथा—), कक्खडा—कर्कश, (खुरदरा), मउआ—मृदु (मुलायम=कोमल), चेव—और, गुरुआ—गुरु=भारी, तहा—तथा, लहुआ—लघु—हल्का, सीया—शीत (ठंडा), उण्हा—उष्ण (गर्म), य—और, निद्धा—स्निग्ध (चिकना हुआ), तहा—तथा, लुक्खा य—रूक्ष, (कठोर=कडा), आहिया—कहे गये हैं, इइ—इस प्रकार, एए—ये, फास-परिणया—स्पर्श (रूप मे) परिणत (हुए), पुग्गल—पुद्गल, समुदाहिया—सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं ॥१९-२०॥

संठाण परिणया—संस्थान रूप मे परिणत, जे उ—जो (पुद्गल हैं,) ते—वे, पंचहा—पांच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये हैं (यथा—), परिमंडला य—परिमण्डल, वट्टा—वृत्त (गोल), तंसा—त्र्यस=त्रिकोण, तहा—तथा, चउरंसमायया य—चतुरस्र, (चोरस=चौकोन) और आयत (लम्बे) ॥२१॥

जे—जो (पुद्गल), वण्णओ—वर्ण से, किण्हे—कृष्ण (काला), भवे—होता है, से उ—वह, गंधओ रसओ फासओ चेव—गन्ध, रस और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है=अनेक विकल्पो वाला है ॥२२॥

जे उ—जो (पुद्गल), रसओ—रस से, महुरए—मधुर (मीठा) है, से उ—वही, वण्णओ गंधओ, फासओ चेव—वर्ण, गन्ध और स्पर्श से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।३३।।

जे उ—जो (पुद्गल), फासओ—स्पर्श से, कक्खडे—कर्कश है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है (अनेक विकल्पों वाला है) ।।३४।।

जे उ—जो (पुद्गल), फासओ—स्पर्श से, मउए—मृदु—कोमल है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गंध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।३५।।

जे उ—जो (पुद्गल), फासओ—स्पर्श से, गुरुए—गुरु=भारी है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।३६।।

जे उ—जो, फासओ—स्पर्श से, लहुए—लघु—हल्का है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।३७।।

जे उ—जो, फासओ—स्पर्श से, सीयए—शीत (ठंडा) है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।३८।।

जे उ—जो (पुद्गल), फासओ—स्पर्श से, उण्हए—उष्ण है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।३९।।

जे उ—जो, फासओ—स्पर्श से, निद्धए—स्निग्ध है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।४०।।

जे उ—जो, फासओ—स्पर्श से, लुक्खए—रूक्ष (रूखा) है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, संठाणओ वि—संस्थान से भी, भइए—भाज्य है ।।४१।।

(जो पुद्गल), परिमण्डल-संठाणे—परिमण्डल संस्थान वाला है, से उ—वह, वण्णओ गंधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, फासओ वि—स्पर्श से भी, भइए—भाज्य है ।।४२।।

(जो पुद्गल), सठाणओ—सस्थान से, वट्टे—वृत्त, भवे—होता है, से उ—वह, वण्णओ गधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, फासओ वि—स्पर्श से भी, भइए—भाज्य है ॥४३॥

(जो पुद्गल), सठाणओ—सस्थान से, तसे—त्रिकोण है, से उ—वह, वण्णओ गधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, फासओ वि—स्पर्श से भी, भइए—भाज्य है ॥४४॥

जो (पुद्गल), सठाणओ—सस्थान से, चउरसे—चौरस (चोकोन) है, से उ—वह, वण्णओ गधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, फासओ वि—स्पर्श से भी, भइए—भाज्य है ॥४५॥

जे—जो (पुद्गल), आयय-सठाणे—आयत (लम्बा) सस्थान वाला है, से उ—वह, वण्णओ गधओ रसओ चेव—वर्ण, गन्ध और रस से, य—तथा, फासओ—स्पर्श से भी, भइए—भाज्य है ॥४६॥

एसा—यह, समासेण सक्षेप मे, अजीव-विभत्ती—अजीव-विभाग का, वियाहिया—निरूपण किया गया है, इत्तो—अब यहाँ से, अणुपुव्वसो—क्रमश, जीव-विभत्ति—जीव-विभक्ति का—जीव के विभाग का, वुच्छामि—वर्णन करूँगा ॥४७॥

विशेषार्थ—पुद्गल और उसके मुख्य प्रकार—पुद्गल के चार लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थो मे बताये गये हैं—(१) जो पूरण-गलन-स्वभावयुक्त है, वह पुद्गल है, (२) भेद और सघात के अनुसार जिसमे पूरण-गलन-क्रिया अन्तर्भूत होती है, वह पुद्गल है, (३) पुरुष यानी जीव, जिन्हे शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरणादि के रूप मे निगले=ग्रहण करता है, वे पुद्गल हैं। (४) गुण की दृष्टि से—जो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले हो, वे पुद्गल हैं।[1]

पुद्गल के मुख्यतया दो भेद होते हैं—अणु (परमाणु) और स्कन्ध। देश और प्रदेश, ये दो अतिरिक्त भेद स्कन्ध की अपेक्षा से होते हैं। मूल मे पुद्गल द्रव्य परमाणु ही है। उसका और कोई भाग नही होता। दो पर-

---

१ (क) गलन-पूरण-स्वभाव-सनाय पुद्गल —द्रव्यसग्रह टीका १५-५०-१२

(ख) भेद-सघाताभ्या पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिका क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गल—शब्दोऽन्वर्थ ।

(ग) पुमासो जीवा, तै शरीराऽऽहार विषयकरणोपकरणादि भावेन गिल्यन्ते इति पुद्गल । —राजवार्तिक ५-१-२४-२६

(घ) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्त पुद्गल । —तत्त्वार्थ ५-२३

माणुओ के एकत्व रूप मे परिणत होने पर द्विप्रदेशी और तीन परमाणुओ आदि से लेकर अनन्त-अनन्त परमाणुओ के एकत्वरूप मे परिणत होने पर त्रिप्रदेशी आदि से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक हो जाते हैं। परमाणु जब तक स्कन्ध से जुडा रहता है, तब उसे 'प्रदेश' कहते हैं, जब वह स्कन्ध से पृथक् रहता है, तब 'परमाणु' कहलाता है।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा से रूपी अजीव पुद्गल—द्रव्य की अपेक्षा से—रूपी पुद्गल के चार प्रकार हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु-पुद्गल। क्षेत्र की अपेक्षा से—वह लोक के एकदेश से लेकर सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त होने की भजना है। अर्थात्—परमाणु तो लोक के एक आकाश प्रदेश मे रहता ही है, किन्तु स्कन्ध के लिए कोई नियम नही है। वह स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर रहता भी है और नही भी रहता, क्योंकि स्कन्ध एक प्रदेश पर भी रहता है, दो पर भी रह सकता है, तथा सख्यात-असख्यात प्रदेशो पर भी रह सकता है, समुच्चय पुद्गल द्रव्य समग्र लोक मे भी रह सकता है।

काल की अपेक्षा से—प्रवाह की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है और प्रतिनियत क्षेत्रावस्थान की दृष्टि से सादि-सान्त है। अर्थात्—स्थिति और रूपान्तर होने की अपेक्षा से इनका आरम्भ भी है और समाप्ति भी। जैसे—किसी समय परमाणुओ के सघात से स्कन्ध की उत्पत्ति हुई और स्कन्ध के बिखर जाने पर उस स्कन्ध का अन्त हो जाने से उसकी समाप्ति भी हुई।

स्थिति (पुद्गल द्रव्य की सस्थिति)—परमाणु या स्कन्ध किसी एक विवक्षित स्थान पर स्थिति करे तो उनका वह स्थिति काल जघन्य (कम से कम) एक समय का, और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) असख्यात काल का होता है। इसके पश्चात् स्कन्ध आदि रूप मे रहे हुए पुद्गल की सस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। स्कन्ध बिखर जाता है तथा परमाणु भी स्कन्ध मे सलग्न होकर प्रदेश का रूप ले लेता है। अर्थात्—उन्हे किसी न किसी निमित्त को पाकर वहाँ से अवश्यमेव पृथक् होना पडता है, फिर उनकी दूसरी स्थिति चाहे उसी क्षेत्र मे हो या क्षेत्रान्तर मे हो।

अन्तर—पहले के अवगाहित क्षेत्र को छोडकर पुन उसी विवक्षित

---

१ (क) अणवः स्कन्धाश्च। —तत्त्वार्थ ५-२५
(ख) उत्तरा —(साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ ४७६-४७७

क्षेत्र (आकाश-प्रदेश) मे स्थिति को प्राप्त करने मे होने वाला व्यवधान (अन्तर) काल की अपेक्षा से जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्त-काल का पडता है।

भाव की अपेक्षा से—रूपी अजीव द्रव्यो की अनुभूति वर्ण, रस, गन्ध आदि के द्वारा ही होती है। ये रूपी द्रव्य के असाधारण धर्म है। इन्ही से वह अपने स्वरूप मे स्थिर और निजस्वभाव से परिणत हो रहा है। ये गुण परमाणु में सदैव विद्यमान रहते हैं। वह रूपी द्रव्य भी कदापि इनमे पृथक् नही हो सकता। वह पदार्थ कभी अपने स्वाभाविक गुण का परित्याग नही करता। यदि कर दे तो उसका पदार्थत्व ही नष्ट हो जाए।

परिणाम की अपेक्षा से—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से स्कन्ध आदि का परिणमन ५ प्रकार का है।[1]

सस्थान स्वरूप और प्रकार—आकृति को सस्थान कहते हैं। इत्थस्थ सस्थान के ५ प्रकार हैं—परिमण्डल-चूडी की तरह लम्ब-गोल, वृत्त—गेद कीतरह गोल, त्र्यस-त्रिकोण, चतुरस्र—चतुष्कोण, और आयत—बास या रस्सी की तरह लम्बा। अनित्थस्थ सस्थान वह है, जिसका कोई नियत आकार नही होता।[2]

पचविध-परिणाम कैसे और कितने—वर्णादि पाचो इन्द्रियग्राह्य भाव अर्थात्—पर्याय हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी होने से उसके इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय होते हैं। जबकि अरूपी द्रव्य के इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय नहो होते। ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ सस्थान जैन दर्शन मे प्रसिद्ध हैं। इन्ही के विभिन्न पर्यायो के कुल ४८२ भग होते हैं—कृष्णादि पाच वर्ण, गन्ध आदि २० भेदो से गुणित होने पर वर्ण पर्याय के १०० भग हुए। इसी प्रकार प्रत्येक रस पर्याय के साथ गधादि २०-२० भेदो से गुणित होने पर रसपचक के सयोगी १०० भग हुए। इसी प्रकार गन्धद्रव्य के प्रत्येक के वर्णादि के २३ भेदो से गुणित होने पर दो सयोगी ४६ भग हुए। मृदु आदि आठ स्पर्शों मे से प्रत्येक के साथ वर्णादि १७ भेदो से गुणित होने पर सयोगी १३६ भग हुए। सस्थान पञ्चक मे से प्रत्येक के साथ गधादि २० भेदो से

---

१ (क) उत्तरा (साध्वी चदना) टिप्पण पृ ४७७
(ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २ पृ० ३३५-३३६
(ग) उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३ पृ. ४००

२ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र ३३७

माणुओ के एकत्व रूप मे परिणत होने पर द्विप्रदेशी और तीन परमाणुओ आदि से लेकर अनन्त-अनन्त परमाणुओ के एकत्वरूप मे परिणत होने पर त्रिप्रदेशी आदि से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक हो जाते हैं। परमाणु जब तक स्कन्ध से जुडा रहता है, तब उसे 'प्रदेश' कहते हैं, जब वह स्कन्ध से पृथक् रहता है, तब 'परमाणु' कहलाता है।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा से रूपी अजीव पुद्गल—द्रव्य की अपेक्षा से—रूपी पुद्गल के चार प्रकार है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु-पुद्गल। क्षेत्र की अपेक्षा से—वह लोक के एकदेश से लेकर सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त होने की भजना है। अर्थात्—परमाणु तो लोक के एक आकाश प्रदेश मे रहता ही है, किन्तु स्कन्ध के लिए कोई नियम नही है। वह स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश पर रहता भी है और नही भी रहता, क्योकि स्कन्ध एक प्रदेश पर भी रहता है, दो पर भी रह सकता है, तथा सख्यात-असख्यात प्रदेशो पर भी रह सकता है, समुच्चय पुद्गल द्रव्य समग्र लोक मे भी रह सकता है।

काल की अपेक्षा से—प्रवाह की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है और प्रतिनियत क्षेत्रावस्थान की दृष्टि से सादि-सान्त है। अर्थात्—स्थिति और रूपान्तर होने की अपेक्षा से इनका आरम्भ भी है और समाप्ति भी। जैसे—किसी समय परमाणुओ के सघात से स्कन्ध की उत्पत्ति हुई और स्कन्ध के बिखर जाने पर उस स्कन्ध का अन्त हो जाने से उसकी समाप्ति भी हुई।

स्थिति (पुद्गल द्रव्य की सस्थिति)—परमाणु या स्कन्ध किसी एक विवक्षित स्थान पर स्थिति करें तो उनका वह स्थिति काल जघन्य (कम से कम) एक समय का, और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) असख्यात काल का होता है। इसके पश्चात् स्कन्ध आदि रूप मे रहे हुए पुद्गल की सस्थिति-मे परिवर्तन हो जाता है। स्कन्ध बिखर जाता है तथा परमाणु भी स्कन्ध मे सलग्न होकर प्रदेश का रूप ले लेता है। अर्थात्—उन्हे किसी न किसी निमित्त को पाकर वहाँ से अवश्यमेव पृथक् होना पडता है, फिर उनकी दूसरी स्थिति चाहे उसी क्षेत्र मे हो या क्षेत्रान्तर मे हो।

अन्तर—पहले के अवगाहित क्षेत्र को छोडकर पुन उसी विवक्षित

---

१ (क) अणुवास्कन्धाश्च। —तत्त्वार्थ ५-२५
(ख) उत्तरा —(साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ ४७६-४७७

क्षेत्र (आकाश-प्रदेश) मे स्थिति को प्राप्त करने मे होने वाला व्यवधान (अन्तर) काल की अपेक्षा से जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्त-काल का पड़ता है।

भाव की अपेक्षा से—रूपी अजीव द्रव्यो की अनुभूति वर्ण, रस, गन्ध आदि के द्वारा ही होती है। ये रूपी द्रव्य के असाधारण धर्म है। इन्ही से वह अपने स्वरूप मे स्थिर और निजस्वभाव से परिणत हो रहा है। ये गुण परमाणु में सदैव विद्यमान रहते हैं। वह रूपी द्रव्य भी कदापि इनसे पृथक् नही हो सकता। वह पदार्थ कभी अपने स्वाभाविक गुण का परित्याग नही करता। यदि कर दे तो उसका पदार्थत्व ही नष्ट हो जाए।

परिणाम की अपेक्षा से—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की अपेक्षा से स्कन्ध आदि का परिणमन ५ प्रकार का है।[1]

सस्थान स्वरूप और प्रकार—आकृति को सस्थान कहते हैं। इत्थंस्थ सस्थान के ५ प्रकार हैं—परिमण्डल-चूडी की तरह लम्ब-गोल, वृत्त—गेंद की तरह गोल, त्र्यस्र-त्रिकोण, चतुरस्र—चतुष्कोण, और आयत—बास या रस्सी की तरह लम्बा। अनित्थंस्थ सस्थान वह है, जिसका कोई नियत आकार नही होता।[2]

पर्यायिक-परिणाम कैसे और कितने—वर्णादि पाचो इन्द्रियग्राह्य भाव अर्थात्—पर्याय हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी होने से उसके इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय होते हैं। जबकि अरूपी द्रव्य के इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय नही होते। ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ सस्थान जैन दर्शन मे प्रसिद्ध है। इन्ही के विभिन्न पर्यायो के कुल ४८२ भग होते हैं—कृष्णादि पाच वर्ण, गन्ध आदि २० भेदो से गुणित होने पर वर्ण पर्याय के १०० भग हुए। इसी प्रकार प्रत्येक रस पर्याय के साथ गंधादि २०-२० भेदो से गुणित होने पर रसपचक के सयोगी १०० भग हुए। इसी प्रकार गन्धद्रव्य के प्रत्येक के वर्णादि के २३ भेदो से गुणित होने पर दो सयोगी ४६ भग हुए। मृदु आदि आठ स्पर्शो मे से प्रत्येक के साथ वर्णादि १७ भेदो से गुणित होने पर सयोगी १३६ भग हुए। सस्थान पञ्चक मे से प्रत्येक के साथ गधादि २० भेदो से

---

१ (क) उत्तरा (साध्वी चदना) टिप्पण पृ ४७७
(ख) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २ पृ० ३३५-३३६
(ग) उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३ पृ. ४००
२ उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २ पत्र ३३७

गुणित होने पर सयोगी १०० भग हुए। इस प्रकार कुल १००+१००+४६+१३६+१००=४८३ भग हुए। ये सब भग स्थूल दृष्टि से होते हैं। सिद्धान्तत देखा जाय तो तारतम्य की दृष्टि से प्रत्येक के अनन्त भग होते हैं।[1]

जीव-निरूपण—

मूल—ससारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेगविहा वुत्ता, त मे कित्तयओ सुण ॥४८॥

पद्यानु०—द्विविध जीव हैं बतलाए, ससारी तथा सिद्ध जानो।
हैं विविध भेद से सिद्ध कहे, मुझ से कहते तुम उन्हे सुनो ॥४८॥

अन्वयार्थ—जीवा—जीव, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गय है, (यथा—) ससारत्था य—ससारस्थ, य—और, सिद्धा—सिद्ध, सिद्धा—सिद्ध, अणेगविहा—अनेक प्रकार के, वुत्ता—कहे गये है (पहले), मे—मै, कित्तयओ—(उनका) वर्णन करता हूँ, त—उसे, सुण—तुम सुनो ॥४८॥

विशेषार्थ—जीव के लक्षण और निर्वचनार्थ—(१) जीव का लक्षण चेतना या उपयोग है। (२) जो जीता है—प्राण-धारण करता है, वह जीव है, (३) ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन चार भाव प्राणो से जो जीता है, जीएगा, या पूर्व मे जीया था, वह जीव है। (४) जो चैतन्यवान आत्मा जीव है, वह उपयोग-विशिष्ट, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देह-प्रमाण, अमूर्त और कमसयुक्त है।[2]

ससारस्थ और सिद्ध का स्वरूप—ससारी या ससारस्थ वे जीव कहलाते हैं, जो चतुर्गतिरूप या कर्मों के कारण जन्म-मरणरूप ससार मे स्थित हैं, वे ससारस्थ कहलाते हैं। जिनमे जन्म-मरण, कर्म, कर्मबीज (राग-द्वेष), कर्मफलस्वरूप चार गति, शरीर आदि नही होते, जो सिद्ध-

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषातर), भाग २, पत्र ३३८

२ (क) तत्र चेतनालक्षणो जीव । —तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि १/४/१४।
(ख) उपयोगो लक्षणम् । —तत्त्वार्थ २/८
(ग) 'जीवति प्राणान् धारयतीति जीव'।
(घ) पाणेहि चदुहि जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्व। सो जीवो ।
—प्रवचनसार १४६
(च) जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओग विसेसिदो पहुकत्ता।
भोत्ता य देहमत्ताण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ।
—पचास्तिकाय गा २७

बुद्ध-मुक्त, सर्वदु:खों से रहित होकर सिद्धगति में विराजमान होते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।[1]

सिद्ध जीवों का निरूपण—

मूल—इत्थी पुरिस-सिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥४९॥
उक्कोसोगाहणाए य, जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ॥५०॥
दस य नपुंसएसुं, वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झइ ॥५१॥
चत्तारि य गिहिलिंगे, अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झइ ॥५२॥
उक्कोसोगाहणाए य, सिज्झन्ते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए, जवमज्झऽट्ठुत्तरं सयं ॥५३॥
चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे, तओ जले वीसमहे तहेव।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए, समएणेगेण सिज्झइ धुवं ॥५४॥

[प्र०] कहिं पडिहया सिद्धा? कहिं सिद्धा पइट्ठिया?
कहिं बोंदिं चइत्ताणं कत्थ गन्तूण सिज्झइ? ॥५५॥

[उ०] अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥५६॥
बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसिपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥५७॥
पणयाल सय-सहस्सा जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा, तिगुणो तस्सेव परिरओ ॥५८॥
अट्ठ-जोयण-बाहल्ला, सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायन्ती चरिमन्ते, मच्छियपत्ता उ तणुयरी ॥५९॥
अज्जुण-सुवण्णग-मई, सा पुढवी निम्मला सहावेण।
उत्ताणग-छत्तग-संठिया य, भणिया जिणवरेहिं ॥६०॥
संखंक-कुन्द-संकासा, पण्डुरा निम्मला सुहा।
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयन्तो उ वियाहिओ ॥६१॥

---

१ उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २ पत्र ३३९

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६२॥
तत्थ सिद्धा महाभागा, लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवच-उम्मुक्का, सिद्धिं वरगइ गया ॥६३॥

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभाग-हीणो तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६४॥

एगत्तेण साइया अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाइया, अपज्जवसिया वि य ॥६५॥

अरूविणो जीवघणा, नाण-दसण-सन्निया।
अउल सुह सपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥६६॥
लोएगदेसे ते सव्वे, नाण-दसण-सन्निया।
ससार-पार-नित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइ गया ॥६७॥

पद्यानु०—स्त्री और पुरुषलिंग से होते हैं, सिद्ध नपुसक भी होते।
जिनलिंग तथा परलिंग और, गृहलिंग सिद्ध भी हैं होते ॥४९॥
देहमान उत्कृष्ट और, मध्यम वा न्यूनमान होते।
ऊर्ध्व अधो वा तिर्यक् जग, सागर वा जल से शिव पाते ॥५०॥

नोपुरुष लिंग से दश होते, नारी-तन विंशति शिव पाते।
पुरुषलिंग से अष्टोत्तरशत, एक समय मे शिव पाते ॥५१॥

गृही चार, परतीर्थ-लिंग से, पाते सिद्धि दश नरवर।
हैं जन–लिंग से अष्टोत्तरशत, समय एक पाते शिवपुर ॥५२॥

उत्कृष्ट देहमान वाले, दो एकसाथ शिवपद पाते।
हैं न्यून मान से चार और, मध्यम अष्टोत्तर शत होते ॥५३॥

ऊर्ध्वलोक मे चार, सिन्धु मे दो, जल मे तीन मुक्ति जाते।
बीस निम्न मे, अष्टोत्तर शत, तिर्यग्भू से शिव पाते ॥५४॥

प्रतिहत होते कहाँ सिद्ध, और कहाँ प्रतिष्ठित हैं होते ?
कहाँ छोडकर नरतन को, वे कहाँ सिद्ध जो है होते ? ॥५५॥

प्रतिहत होते वे अलोक मे, लोकाग्र-प्रतिष्ठित हो जाते।
जगतो पर तन को छोड वहाँ, जाकरके शिवमय बन जाते ॥५६॥

बारह योजन सर्वार्थ लोक के, ऊपर जाने पर आती है।
ईषत्प्राग्भारा नामा, पृथ्वी छत्राकृति होती है ॥५७॥

आयाम और है चौडाई, पैंतालीस योजन लक्ष सही।
होती है उससे तीन गुनी, परिधि आगम मे स्पष्ट कही ।।५८।।

योजन आठ मुटाई वाली, शिला मध्य मे बतलाई।
घटते-घटते चरमान्त मक्षिका-पर से पतली कहलाई ।।५९।।

उज्ज्वल-स्वर्णमयी वह पृथ्वी, निर्मल स्वभाव वाली होती।
जिनवर ने बतलाई है वह, उत्तानक छत्राकृति होती ।।६०।।

शख अक और कुन्द पुष्प-सम, धवल विमल है शुभ्र प्रभा।
उस सीता-नामा पृथ्वी से, योजन लोकान्त की है आभा ।।६१।।

योजन का उपरिम कोस एक, आकाश-खण्ड जो होता है।
उस क्रोश के षष्ठभाग क्षेत्र मे, अवगाह सिद्ध का होता है ।।६२।।

अचिन्त्य-शक्तिधर सिद्ध वहाँ, लोकाग्र-प्रतिष्ठित होते हैं।
भव-दु ख-प्रपच से मुक्त सदा, अतिश्रेष्ठ सिद्धिगति पाते हैं ।।६३।।

जिसकी जितनी हो ऊँचाई अन्तिम भव मे मानुष तन की।
उतनी त्रिभाग-न्यून सिद्धो की, सीमा नभ मे अवगाहन की ।।६४।।
एक सिद्ध सादिक होते, और अन्त कभी ना पाते हैं।
बहुतो की दृष्टि से वे, आद्यन्त-रहित सब होते हैं ।।६५।।
हैं सिद्ध अरूपी जीव-सघन, उपयुक्त ज्ञान और दर्शन मे।
अनुपम आत्मिक सुख पाए,उपमा न कोई जिसकी जग मे ।।६६।।
लोकैक-देश मे वे सब हैं, दर्शन-सद्ज्ञान-सहित जानो।
भवसागर-पार पहुँच करके, वरसिद्धि-प्राप्त उनको मानो ।।६७।।

अन्वयार्थ—(कोई), इत्थी—स्त्रीलिंग (सिद्ध होता है) (कोई), पुरिस सिद्धा—पुरुष-लिंग सिद्ध (होते हैं), य—और (कोई), तहेव—इसी प्रकार, नपुं-सगा—(कई) नपुसक (लिंग सिद्ध), (कोई), सलिंगे—स्वलिंग (सिद्ध), अन्नलिंगे य—और अन्य लिंग, तहेव—तथैव, गिहिलिंग—गृहस्थलिंग मे सिद्ध होते हैं ।।४।।

जहन्न-मज्झिमाइ य उक्कोसोगाहणाए य—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अवगाहना मे, उड्ढ—ऊर्ध्वलोक मे, अहे—अधोलोक मे, य—और, तिरियं च—तिर्यक् लोक मे, य—एव, समुद्दमि—समुद्र मे, य—अथवा, जलम्मि—जलाशय मे (जीव सिद्ध होते हैं।) ।।५०।।

एगेण समएण—एक समय मे, नपुसेसु—नपुसको मे से (अधिक से अधिक), चेव दस—दस, इत्थियासु य वीस—और स्त्रियो मे से बीस, य—तथा, पुरिसेसु अट्ठसय—पुरुष शरीरधारी एक सौ आठ (जीव), सिज्झइ—सिद्ध होते हैं ।।५१।।

एगेण समएण—एक समय मे, चत्तारि—चार, गिहिलिंगे—गृहस्थ लिंग मे, य—तथा, अन्नलिंगे—अन्य लिंग मे, दसेव—दश ही, य—और, सलिंगे—स्व-लिंग मे, अट्ठसय—एक सौ आठ (जीव), सिज्झइ—सिद्ध होते है ॥५२॥

(एक समय मे), उक्कोसोगाहणाए—उत्कृष्ट अवगाहना मे, जुगव—एक साथ, दुवे—दो (जीव) (सिद्ध हो सकते हैं), जहन्नाए—जघन्य अवगाहना मे, चत्तारि—चार (जीव) (सिद्ध होते है) य—और, जवमज्झे—मध्यम अवगाहना मे, अट्ठुत्तर सय—एक सौ आठ (जीव), सिज्झते—सिद्ध हो सकते है ॥५३॥

य—और, उड्ढलोए—ऊर्ध्वलोक मे, चउ—चार, दुवे समुद्दे—समुद्र मे से, तओ—तीन, जले—(शेष) जलाशयो मे से, तहेव—उसी प्रकार, अहे—अधोलोक मे, वीस—बीस, च—तथा, तिरियलोए—तिर्यक् लोक मे, अट्ठुत्तरसय—एक सौ आठ (जीव), धुव—निश्चय ही, समएणेगेण—एक समय मे, सिज्झइ—सिद्ध होते हैं ॥५४॥

सिद्धा—सिद्ध जीव, कहि—कहाँ, (जाकर), पडिहया—रुकते है ?, सिद्धा—मुक्तात्मा, कहि—कहाँ (पर), पइट्ठिया—प्रतिष्ठित होते है, (ठहरते है)?, बोंदि—शरीर को, कहि—कहाँ, चइत्ताण—छोडकर, कत्थ—कहाँ, गतूण—जाकर सिज्झई—सिद्ध होते हैं ॥५५॥

सिद्धा—सिद्ध जीव, अलोए—अलोक मे (जाकर), पडिहया—रुकते है, य—तथा, लोयग्गे—लोक के अग्र भाग मे (वे), पइट्ठिया—प्रतिष्ठित (ठहरे हुए हैं, इह—यहाँ, बोंदि—शरीर को, चइत्ताण—छोडकर, तत्थ—वहाँ (लोक के अग्र भाग मे) गतूण—जाकर, सिज्झई—सिद्ध होते है ॥५६॥

सव्वट्ठस्स—सर्वार्थसिद्ध विमान से, बारसहि जोयणेहि उवरिं—बारह योजन ऊपर, ईसिपब्भार नामाउ पुढवी—ईषत् प्राग्भार नामक पृथ्वी, छत्त सठिया—छत्र (छाते) के आकार मे, भवे—है, (वही सिद्धालय है)॥५७॥

(वह), पणयाल-सय-सहस्सा जोयणाण—पैतालीस लाख योजन, आयया—लम्बी है, तावइय चेव—और उतनी ही, विच्छिण्णा—विस्तीर्ण (चौडी) है तस्सेव—उसी की, परिरओ—परिधि (घेराव), तिगुणो—(कुछ अधिक) तीन गुणी है ॥५८॥,

स—वह, (सिद्धशिला), मज्झम्मि—मध्य मे, अट्ठजोयण-बाहल्ला—आठ योजन स्थूल (मोटी), वियाहिया—कही गई है, (फिर वह), परिहायती—क्रमश चारो ओर से कम (पतली) होती-होती, चरिमते—चरमान्त (अतिम सिरे) मे, मच्छि, पत्ता उ—मक्खी की पाख से भी, तणुयरी—अधिक पतली (हो जाती है) ॥५९॥

जिणवरेहि—जिनेन्द्र देवो ने, सा पुढवी—वह पृथ्वी (सिद्ध शिला), सहावेण—स्वभाव से, निम्मला—निर्मल, अज्जुण-सुवण्णगमई—श्वेत-सुवर्णमयी, य—तथा, उत्ताण-गच्छत्तग-सठिया—उत्तान (उलटे) छत्र के आकार की, भणिया—बताई है ॥६०॥

(फिर वह सिद्धशिला), सखक-कुंद-सकासा—शख, अंकरत्न, और कुन्द-पुष्प के समान, पण्डुरा—श्वेत, निम्मला—निर्मल (तथा) सुहा—शुभ है, तत्तो सीयाए—उस सीता (नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी) से, जोयणे—एक योजन ऊपर, लोयतो उ—लोक का अन्त, वियाहिओ—बतलाया है ॥६१॥

तस्स जोयणस्स उ—उस योजन का, जो—जो, उवरिमो कोसो—ऊपर का कोस, भवे—है, तस्स कोसस्स—उस कोस के, छब्भाए—छठे भाग मे, सिद्धाण—सिद्धो की, ओगाहणा—अवगाहना, भवे—होती है ॥६२॥

भवप्पवच-उम्मुक्का—भव—(जन्ममरणादिरूप ससार) के प्रपचो से मुक्त, वरगइ सिद्धि गया—परमश्रेष्ठ सिद्धगति को प्राप्त, महाभागा—महाभाग्यशाली, सिद्धा—सिद्ध परमात्मा, तत्थ—वहाँ, लोयग्गम्मि—लोक के अग्र भाग मे, पइट्ठिया—प्रतिष्ठित (स्थित) हैं ॥६३॥

चरिमम्मि भवम्मि—अतिम भव मे, जस्स—जिस (मुक्तात्मा) की, जो उ—जो, उस्सेहो—ऊँचाई, होइ—होती है, तत्तो य—उससे, तिभागहीणा—तृतीय-भाग हीन (कम), सिद्धाण—सिद्धो की, ओगाहणा—अवगाहना, भवे—होती है ॥६४॥

एगत्तेण—एक (सिद्ध) की अपेक्षा से (सिद्ध), साईया अपज्जवसिया वि य—सादि-अनत हैं, य—और, पुहुत्तेण—बहुत से (सिद्धो) की अपेक्षा से (वे), अणाईया-अपज्जवसिया वि—अनादि-अनन्त भी है ॥६५॥

(वे), अरूविणो—अरूपी (अमूर्त) हैं, जीवघणा—घनरूप (सघन) जीव है, नाण-दसण-सन्निया—ज्ञान-दर्शन की सज्ञा (उपयोग) वाले है, जस्स उ—जिसकी, उवमा—उपमा, नत्थि—नहीं है, (ऐसे), अतुल-सुह सपत्ता—अतुल सुख को प्राप्त हैं ॥६६॥

नाण-दसण-सन्निया—ज्ञान और दर्शन के उपयोग से युक्त, ससार-पार-नित्थिण्णा—ससार के पार पहुँचे हुए, सिद्धि-वरगइ—सिद्धिरूप परमगति को, गया—प्राप्त ते सव्वे—वे सभी (सिद्ध=मुक्तात्मा), लोएगदेसे—लोक के एकदेश मे (स्थित है) ॥६७॥

विशेषार्थ—सिद्धो के उपाधिकृत भेद—यद्यपि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के पश्चात् सभी जीवो की स्थिति एक सरीखी हो जाती है। उनकी आत्मा मे कोई स्त्री, पुरुष, नपुसक, स्वलिंग-अन्यलिंग आदि को लेकर उपाधि-कृत कोई भी अन्तर नही रहता तथापि शर्त यह है कि जिस जीवात्मा के ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्म नष्ट हो गए हो, राग-द्वेष-मोहरहित होने से केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और

अनन्त बल वीर्य धारक हो गया हो, वही सिद्ध पद को प्राप्त होता है। अत बाह्य लिंग, वेश, देश, धर्म, तीर्थ, सम्प्रदाय आदि मोक्ष का प्रतिबन्धक नही है। प्रतिबन्धक हैं—आन्तरिक रागद्वेष, कषाय आदि। जो रागद्वेष से रहित समभाव भावित हो गया है, उसको मुक्ति—सिद्ध गति प्राप्त होने मे कोई भी सन्देह नही रहता। अत किसी भी लिंग वेष का धारक आत्मा यदि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से और वीतरागता से विभूषित है, तो वह मुक्तिगामी है, मोक्ष का अधिकारी है। यहाँ भूतपूर्व पर्याय (अवस्था) की दृष्टि से सिद्ध के अनेक भेद किये गए हैं। प्रस्तुत गाथा ४९ मे लिंगदृष्टि से सिद्धो के ६ प्रकार बताए गए हैं—(१) स्त्रीलिंग (स्त्री पर्याय से) सिद्ध, (२) पुरुष-लिंग (पुरुष-पर्याय से) सिद्ध, (३) नपुसक लिंग (जन्म सिद्ध नपुंसक नही, कृत-नपु सक पर्याय से) सिद्ध, (४) स्वलिंग (रजोहरण-मुखवस्त्रिकादि स्वसघीय स्वतीर्थिक साधु वेष से) सिद्ध, (५) अन्य लिंग (शाक्यादि अन्यतीर्थिक धर्मसघो के साधु के वेष मे) सिद्ध, और (६) गृहस्थ लिंग (गृहस्थ वेष से) सिद्ध। इनमे से पहले के तीन प्रकार भूतपूर्व लिंग (पर्याय) की दृष्टि से और पिछले तीन प्रकार भूतपूर्व वेष की अपेक्षा से बताये गये हैं।

सिद्धो के अन्य ९ प्रकार—इसी गाथा मे प्रयुक्त 'च' कार से तीर्थादि सिद्धो का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। यथा—

तीर्थ की अपेक्षा से ४ भेद—(७) तीर्थ सिद्ध, (८) अतीर्थ-सिद्ध (तीर्थ स्थापना से पूर्व या तीर्थ-विच्छेद के पश्चात् सिद्ध हो, वह) (९) तीर्थंकर-सिद्ध (तीर्थंकर रूप मे सिद्ध), (१०) अतीर्थंकर (रूप मे) सिद्ध।

बोधि की अपेक्षा से ३ भेद—(११) स्वयबुद्ध सिद्ध, (१२) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, (१३) बुद्धबोधित सिद्ध।

सख्या की अपेक्षा से २ भेद—(१४) एक सिद्ध (एक समय मे एक जीव सिद्ध हो, वह) (१५) अनेक सिद्ध (एक समय मे अनेक जीव, उत्कृष्टत १०८ सिद्ध हो, वे)। सिद्धो के १५ प्रकारो का उल्लेख नन्दी सूत्र आदि मे है।[1]

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र ३४०।
(ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४१९
(ग) उत्तरा (प्रियदर्शिनी टीका) भा ४, पृ ७४१-७४३।
(घ) नन्दी सूत्र सू० २१।

अवगाहना (पूर्व शरीर की ऊँचाई) की अपेक्षा से सिद्ध तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्कृष्ट (५०० धनुषप्रमाण) अवगाहना वाले, (२) जघन्य-(दो हाथ प्रमाण) अवगाहना वाले, और (३) मध्यम (दो हाथ से अधिक और ५०० धनुष से कम) अवगाहना वाले सिद्ध ।

क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्ध पांच प्रकार के होते हैं—(१) ऊर्ध्व दिशा (२) अधो दिशा (३) तिर्यक् दिशा (४) समुद्र आदि मे होने वाले सिद्ध (५) नदी मे होने वाले सिद्ध ।

(१) ऊर्ध्व दिशा मे मेरु की चूलिका पर होने वाले सिद्ध चारण मुनि आदि । (२) अधोदिशा हजार योजन उँडी सलिलावती विजय मे होने वाले सिद्ध, (३) तिर्यग् दिशा (ढाई द्वीप और दो समुद्र रूप तिरछे एवं १८०० योजन प्रमाण ऊँचे तिर्यग्लोक—मनुष्यक्षेत्र) से होने वाले सिद्ध, (४) समुद्र मे से होने वाले सिद्ध और (५) नदी आदि जलाशयो मे से होने वाले सिद्ध ।[1]

लिग अवगाहना एव क्षेत्र की दृष्टि से सिद्धो की सख्या—गा ५२ मे बताया गया है—एक समय मे नपुसक १०, स्त्री लिंगी २०, पुरुष लिंगी १०८, गृहस्थलिग से ४, अन्य लिग के १० और स्वलिग के १०८ सिद्ध हो सकते हैं । इसी प्रकार एक समय मे, जघन्य अवगाहना से ४, उत्कृष्ट अवगाहना से २ और मध्यम अवगाहना से १०८ सिद्ध होते हैं, तथा ऊर्ध्व लोक से ४, अधोलोक से २०, तिर्यक् लोक से १०८, समुद्र मे से २, एव नदी आदि अन्य जलाशयो से ३ सिद्ध होते हैं ।

तत्त्वार्थ सूत्र मे क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, सख्या और अल्पबहुत्व इन विविध माध्यमो से सिद्धो का विचार किया गया है ।[2]

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३४०
(ख) उत्तरा बृहद्वृत्ति, पत्र ६८३

२ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४२२-४२३
(ख) क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-सख्याऽल्पबहुत्वत साध्या ।—तत्त्वार्थ १०/७

सिद्धो के विषय मे चार प्रश्नोत्तर—(१) सिद्ध परमात्मा कहाँ जाकर रुकते हैं ? (२) कहाँ ठहरते हैं ? (३) अन्तिम शरीर त्याग कहाँ करते हैं ?, (४) सिद्धि-गति कहाँ हैं ? अर्थात् ये चारो प्रश्न सिद्धो के गति-निरोध, उनकी अवस्थिति, उनके शरीरत्याग तथा उनके सिद्धिस्थान से सम्बन्धित है। उत्तरो का आशय यह है—(१) कर्ममुक्त जीव धर्मास्तिकाय द्वारा मनुष्यलोक से ऊर्ध्वगमन करते हुए लोक के अन्त तक, यानी अलोक के छोर पर जाकर रुक जाते है, अर्थात् उनकी गति वहाँ तक ही होगी क्योकि आगे अलोक मे धर्मास्तिकायादि नही है। (२) वे लोक के अन्त भाग मे जाकर प्रतिष्ठित (स्थिर) हो जाते है। (३) सिद्ध होने वाला आत्मा शरीर-त्याग इसी मनुष्यलोक मे ही करता है। (४) वहाँ (लोक के अग्रभाग मे) सिद्धालय है, वही वे सिद्धि गति को प्राप्त होते हैं।[1]

सिद्धि स्थान का स्वरूप—यद्यपि यह पृथ्वी सिद्धालय के नाम से प्रसिद्ध है, तथापि इसके १२ नामो मे से 'ईषत्प्राग्भारा' नामक दूसरा नाम यहाँ दिया गया है। इस लोक मे कुल आठ पृथ्वियाँ हैं, जिनमे सात तो अधो-लोक मे हैं, और आठवी पृथ्वी ऊर्ध्व लोक मे है, जो ईषत्प्राग्भारा नाम से शास्त्रो मे विख्यात है। यह सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर की ओर उलटे ताने हुए छत्र के समान आकार वाली है।

इसकी लम्बाई-चौडाई ४५ लाख योजन की है तथा उसकी परिधि (घेरा) कुछ अधिक तिगुनी है, अर्थात्—१ करोड ४२ लाख ३० हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है। वह पृथ्वी मध्य मे ८ योजन मोटी है और चारो ओर से पतली होती-होती अन्त मे मक्खी की पाख से भी अधिक पतली है। वह स्वाभाविक रूप से श्वेत सुवर्ण के समान उज्ज्वल और निर्मल है, साथ ही शख, अकरत्न और कुन्दपुष्प के समान, अत्यन्त श्वेत, निर्मल और शुभ (कल्याणकारिणी) है। उस पृथ्वी से लोकान्त एक योजन के अन्तर पर है। अन्य नामो की भाँति उसका नाम 'सीता'[2] भी है।

सिद्धो की अवस्थिति—इसी ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के ऊपर एक योजन के अन्तर मे 'लोकान्त' बताया गया है। उस योजन का ऊपर का जो कोस

---

१ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४२३

२ (क) देखिये, औपपातिक सूत्र ४६ मे ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के १३ नाम।

(ख) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४२५ से ४२७ तक।

है, उस कोस के छठे भाग मे सिद्धो की अवस्थिति (अवगाहित करके रहने की स्थिति) प्रतिपादित की गई है।

तात्पर्य यह है कि २००० धनुष का एक कोस होता है तथा ३३३ धनुष और ३२ अगुल प्रमाण क्षेत्र मे सिद्धो की अवगाहना (उत्कृष्ट रूप से इतने आकाश प्रदेश मे सिद्धो की स्थिति) कही गई है।

वही लोक के अग्रभाग मे सिद्धि रूप सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त, भव-प्रपंच से मुक्त महाभाग सिद्ध परमात्मा प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि सिद्ध परमात्मा कर्म क्षय हो जाने से गतिक्रियारहित हो जाते है, फिर भी उत्पत्ति-समय मे स्वाभाविक रूप से लोक के अग्रभाग तक सिद्ध जीव गमन करता है, अर्थात् वहाँ तक सिद्ध जीव गति क्रियासहित भी है। सिद्ध लोकाग्र मे स्थित हैं, इसका आशय यही है कि उनकी ऊर्ध्वगमन रूप गति वही तक होती है।[1]

सिद्धो की अवगाहना—यो तो सिद्ध अमूर्त्त है, वर्णादि से रहित हैं, शरीर रहित हैं, फिर भी सिद्धो की अवगाहना होती है, क्योकि अरूपी आत्मा भी द्रव्य होने से अपनी अमूर्त्त आकृति तो रखता ही है। द्रव्य कदापि आकृतिशून्य नही होता। इसलिए सिद्धो की आत्मा आकाश के जितने प्रदेश (क्षेत्र) का अवगाहन करती है, उसी अपेक्षा से सिद्धो की अवगाहना बताई गई है।

यहाँ (गा ६४ मे) सिद्धो की अवगाहना आकाश मे अवस्थित आत्मा के असख्यात प्रदेशो की अपेक्षा से कही गई है। जीव की अपने-अपने चरम शरीर मे जितनी ऊँचाई होती है, उससे तृतीय भाग न्यून अवगाहना उस सिद्धात्मा की होती है। तृतीय भाग न्यून इसलिए कहा गया है कि शरीर के जो विवर (छिद्र) हैं, वे सिद्ध दशा मे घनरूप हो जाते हैं। जैसे—पूर्वावस्था मे ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीवो की आत्मा ३३३ धनुष, ३२ अगुल परिमित क्षेत्र मे, मध्यम अवगाहना (दो हाथ से अधिक और ५०० धनुष से कम अवगाहना) वाले जीवो की आत्मा अपने अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभाग हीन क्षेत्र मे अवस्थित होती है। पूर्वावस्था मे जघन्य (दो हाथ की) अवगाहना वाले जीवो की आत्मा १ हाथ

---

१ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म० भा ३ पृ ४२८।
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र ३४०

८ अगुल परिमित क्षेत्र मे अवस्थिति होती है।[1]

सिद्धो का लक्षण—सिद्ध परमात्मा अरूपी—रूपादि रहित होते हैं, शरीर के छिद्रो के दूर हो जाने से वे घनरूप होते हैं। आत्म-प्रदेशो के घन रूप हो जाने से वे जीव घन कहलाते है। वे ज्ञानदर्शन की ही सज्ञा वाले हैं, अर्थात्—ज्ञान और दर्शन के उपयोग के विना उनका अन्य कोई स्वरूप नही है। मुक्ति मे ज्ञान के विनाश हो जाने के नैयायिक मत का यहाँ खण्डन किया गया है। सिद्धो का जो आत्म-सुख है, वह अक्षय-शाश्वत है और अनुपम है। इससे केवल दुखध्वसरूप मोक्ष की मान्यता का निराकरण किया गया है। वैषयिक सुख (साता-वेदनीय कर्म जन्य सुख) आत्मिक सुख की अपेक्षा नितान्त नगण्य एव क्षुद्र है। वे ससार के पार पहुँचे हुए हैं इस कथन से मुक्ति से वापस ससार मे लौट आने की मान्यता का खण्डन किया गया है। सिद्धात्माओ का लोक के एक देश मे ठहरने का जो निरूपण किया गया है, उससे मुक्तात्माओ की निश्चलता ध्वनित की गई है जो लोग मुक्तात्माओ का आकाश मे भ्रमण एव मुक्त-आत्मा को सर्व-लोक व्यापी मानते हैं, इन दोनो मतो का इससे खण्डन हो जाता है।[2]

ससारस्थ जीव-निरूपण—

मूल—ससारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥६८॥

पद्यानु०—ससारस्थ जीव सब जगती मे, युगलभेद से बतलाए।
जगम स्थावर दो मूलभेद, स्थावर के त्रिविध भेद गाए ॥६८॥

अन्वयार्थ—जे—जो, ससारत्था—ससारी, जीवा उ—जीव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं, तसा य—त्रस, चेव—और, थावरा—स्थावर, तहिं—उनमे से, थावरा—स्थावर जीव, तिविहा—तीन प्रकार के (होते हैं।) ॥

---

१ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३ पृ ४२९
(ख) उत्तरा टिप्पण (मुनि नथमलजी) पृ. ३१९

२ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३ पृ ४३० से ४३२
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २ प० ३४३-३४४।

विशेषार्थ—त्रस के लक्षण—(१) कष्टादि के उत्पन्न होने पर प्रत्यक्ष रूप मे त्रास पाते हुए दृष्टिगोचर होने वाले, (२) त्रस्त—भयभीत होकर गति करने वाले, (३) अपनी रक्षा के लिए स्वय चलने-फिरने की शक्ति वाले जीव, (४) त्रसनामकर्म के उदय वाले जीव ।[1]

स्थावर के लक्षण—(१) जो स्थिर रहने के स्वभाव वाले हैं, (२) स्थावर नामकर्म के उदय वाले—एकेन्द्रिय जीव, (३) एकेन्द्रिय को स्थावर इसलिए कहा गया है कि वह एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ही जानता देखता, खाता, सेवन करता तथा उसका स्वामित्व करता है ।[2]

ससारी जीवो के मुख्य दो भेद हैं—त्रस और स्थावर । ससारी का लक्षण पहले बताया जा चुका है ।

स्थावर जीव और पृथ्वीकाय का निरूपण

मूल—पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥६९॥

दुविहा पुढवी-जीवाउ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥७०॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥७१॥

किण्हा, नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पडु-पणग-मट्टिया, खरा छत्तीसई-विहा ॥७२॥

---

१ (क) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा० ३, पृ० ४३२
(ख) त्रस्यन्ति उद्विजन्ति इति त्रसा ।—राजवार्तिक २/१२/२
(ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा २, पृ ३९७
(घ) तस्स कम्मस्सुदएण जीवाण सचरणासचरणभावो होदि, त कम्म तसणाम
—धवला १३/५, ५/१०१

२ (क) तिष्ठन्तीत्येवशीला स्थावरा. ।—राजवार्तिक २/१२/१२७
(ख) स्थावर नामकर्मोदय-वशवर्तिन स्थावरा । —वही, २/१२/१२७
(ग) जाणदि पस्सदि भुजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण । कुणदि य तस्सामित्त, थावर एगिदिओ तेण ।
—धवला १/१, १/३३/१२५

पुढवी य सक्करा वालुया य, उवले सिला य लोणूसे ।
अय-तंब-तउय-सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य ॥७३॥

हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भ-पडलब्भवालुय, बायरकाए मणिविहाणा ॥७४॥

गोमेज्जए य रुयगे, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदनीले य ॥७५॥

चंदण-गेरुय-हंसगब्भे, पुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पह-वेरुलिए जलकंते सूरकन्ते य ॥७६॥
एए खर-पुढवीए भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥७७॥

सुहुमा सव्व-लोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥७८॥

संतइं पप्पऽणाईया, अप्पज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥७९॥

बावीस-सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउ-ठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥८०॥

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
काय-ठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥८१॥

अणंतकालमुक्कोसं अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए, पुढवीजीवाण अंतरं ॥८२॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥८३॥

पद्यानु०—पृथ्वी, जल और वनस्पति, ये तीन भेद हैं स्थावर के ।
इन तीनों के अन्य भेद, सुन लो मुझ से मन धर के ॥६९॥

पृथ्वीकायिक जीव द्विविध, एक सूक्ष्म दूसरा बादर है ।
पर्याप्त अपर्याप्त भेदों से, दो-दो फिर होता परिकर है ॥७०॥

बादर पृथ्वी-पर्याप्त जीव के, युगल भेद श्रुत में गाये ।
एक मृदुल तथा खर भेद अपर, श्लक्ष्ण सप्तविध बतलाये ॥७१॥

कृष्ण नील और रक्त पीत, उज्ज्वल भूरी अति स्निग्ध धूल ।
खर पृथ्वी के ऐसे ही, छत्तीस भेद हैं कहे स्थूल ॥७२॥

पृथ्वी और शर्करा बालू, उपल शिला मिट्टी खारी ।
लोहा तांबा रांगा शीशा, और स्वर्ण रजत हीरा भारी ॥७३॥

हरिताल हिंगुलुक मन शिला, सस्यक अंजन मूंगा जानो ।
अभ्र पटल और अभ्रबालु, ये बादरकायिक मणि मानो ॥७४॥

गोमेदक एवं रुचक अंक, लोहिताक्ष मणि स्फटिक यथा ।
मरकत और मसारगल्ल, भुजमोचक इन्द्रनील तथा ॥७५॥

चन्दन गैरिक हंसगर्भ, सौगन्धिक और पुलक जानो ।
वैडूर्य चन्द्रप्रभ वारिकान्त, है सूर्यकान्त ऐसे मानो ॥७६॥

ये खर पृथ्वी के मूलभेद, छत्तीस शास्त्र बतलाते हैं ।
हैं सूक्ष्म एगविध भेद नहीं, उसके श्रुतधर यों गाते हैं ॥७७॥

सूक्ष्म लोक मे व्याप्त कहे, और लोक-देश मे बादर है ।
अब काल-विभाग चतुर्विध कहता, बतलाया जो श्रुतधर है ॥७८॥

लेकर प्रवाह को सब प्राणी, आद्यन्त-रहित भी होते हैं ।
ऐसे स्थिति को लेकर वे, साद्यन्त-काल हो जाते हैं ॥७९॥

बाईस सहस्र संवत्सर की, उत्कृष्ट आयु-स्थिति होती है ।
पृथ्वीकायिक उन जीवों की, अन्तर्मुहूर्त्त न्यूनतम होती है ॥८०॥

असंख्यकाल उत्कृष्ट रहे, और जघन्य घटिका के भीतर ।
कायस्थिति पृथिवी-जीवों की, होती उस काया मे रहकर ॥८१॥

अनन्तकाल उत्कृष्ट रहे, और जघन्य घटिका के भीतर ।
पृथ्वीमय तन को तज प्राणी, रहता परभव मे यह अन्तर ॥८२॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान-भेद से होते हैं ।
पृथ्वीजीवों के सहस्रभेद, जैनागम बतलाते हैं ॥८३॥

अन्वयार्थ—पुढवी—पृथ्वीरूप, आउ-जीवा य—और जलरूप जीव, तहेव य—उसी प्रकार, वणस्सई—वनस्पतिरूप जीव, इच्चेव—इस प्रकार से ये, तिविहा—तीन प्रकार के, थावरा—स्थावर जीव हैं, तेसिं—इनके, भेए—भेद (तुम), मे—मुझसे, सुणेह—सुनो ॥६९॥

पुढवी जीवा—पृथ्वीकायिक जीव, दुविहा—दो प्रकार के हैं। (यथा),

सुहुमा—सूक्ष्म, तहा—तथा, बायरा—बादर । य—और, एवमेव—इसी प्रकार, इन दोनो मे से प्रत्येक, पुणो—पुन , दुहा—दो प्रकार के हैं । (यथा) पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त ।।७०।।

जे उ—जो, बायरा पज्जत्ता—बादरपृथ्वीकाय के पर्याप्त जीव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए है । सण्हा—श्लक्ष्ण=सुकोमल, य—और, खर—खर=कठिन । तहिं—उन (दो) मे भी, सण्हा—श्लक्ष्ण पृथ्वी, सत्तविहा—सात प्रकार की, बोधव्वा—जाननी चाहिए ।।७१।।

किण्हा—कृष्ण (काली), नीला—नीली, रुहिरा—लाल, हालिद्दा य—पीली तहा—तथा, सुक्किला—शुक्ल=श्वेत मिट्टी, पडु-पणग-मट्टिया—पाण्डु=भूरी मिट्टी, और पनक=अत्यन्त सूक्ष्म रज, (ये श्लक्ष्ण—पृथ्वीकाय के ७ भेद है ।) खरा—(तथा) खर=कठिन पृथ्वी, छत्तीसईविहा—छत्तीस प्रकार की है ।।७२।।

पुढवी—शुद्ध पृथ्वी, सक्करा—ककडरूप पृथ्वी, य—और, बालुया—बालू उपले—पाषाण, (पत्थर) य—तथा, सिला—शिला (चट्टान) लोणु—लवण, ऊसे—खाररूप पृथ्वी, अय—लोहरूप पृथ्वी, तब—तांबा, तउय—रागा, सीसग—शीशा, रुप्प—चाँदी, सुवण्णे—सोना, य—और, वइरे—वज्र (हीरो के रूप मे), हरियाले—हरिताल, हिंगुलुए—हीगुल, मणोसिला—मेनसिल, सासग—सासक, (या सस्यक धातु विशेष) अजण—अजन, पवाले—प्रवाल—मूगा, अब्भपटल—अभ्रपटल=अभ्रक, अब्भवालुय—अभ्रबालुका, (अभ्रक की परतो मे मिश्रित बालू), मणिविहाणा—मणियो के विविध भेद, बायर-काए—बादर पृथ्वीकाय मे हैं, (यथा) गोमेज्जए—गोमेदक रत्न, य—और, रुयगे—रुचकरत्न, अके—अकरत्न, फालहे—स्फटिक, य—तथा, लोहियक्खे—लोहिताक्ष, मरगय—मरकतमणि, मसारगल्ले—मसारगल्ल, भुयमोयग—भुजमोचक, इन्दनीले य—इन्द्रनील रत्न, चदण—चन्दन, गेरुय—गैरिक, हसगब्भे—हसगर्भ, पुलए—पुलक, सोगन्धिए—सौगन्धिक, चन्दप्पह—चन्द्रप्रभ, वेरुलिए—वैडूर्यरत्न, जलकते—जलकान्त, सूरकते य—और सूर्यकान्त मणि । एए—ये, खर-पुढवीए—कठोर (खर) पृथ्वी रूप जीवो के, छत्तीस भेया—छत्तीस भेद, आहिया—कहे हैं । तत्थ—उन दोनो (पृथ्वीकाय के भेदो) मे, सुहुमा—सूक्ष्म (पृथ्वी), अणाणत्ता—अनानात्व-रूप (अनेक प्रकार के भेदो से रहित), एगविहा—एक ही प्रकार की, वियाहिया—कही गई है ।।७३ से ७७ तक ।।

सुहुमा—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव, सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे व्याप्त है, य—किन्तु, बायरा—बादरपृथ्वीकाय के जीव, लोगदेसे—लोक के एकदेश मे,

(स्थित हैं ।), इत्तो—अब यहाँ से, तेसिं—उन (पृथ्वीकायिक जीवों) के, चउव्विहं—चार प्रकार के, कालविभाग तु——कालविभाग को, वुच्छं—कहूँगा ॥७८॥

संतइं पप्प—संतति—प्रवाह की अपेक्षा से, (पृथ्वीकायिक जीव), अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया —अनन्त हैं, य—और, ठिइं पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सपर्यवसित—सान्त भी हैं ॥७९॥

पुढवीण—पृथ्वीकायिक जीवों की, उक्कोसिया—उत्कृष्ट, आउठिई—आयु-स्थिति, बावीस-सहस्साइं वासाण—बाईस हजार वर्षों की, (और) जहन्निया—जघन्य, अन्तोमुहुत्त – अन्तर्मुहूर्त की, भवे—होती है ॥८०॥

पुढवीण—पृथ्वीकायिक जीवों की, कायठिई—कायस्थिति, उक्कोसा—उत्कृष्ट, असंखकाल—असंख्यातकाल (असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल) की (और) जहन्निया—जघन्य, अन्तोमुहुत्त —अन्तर्मुहूर्त की है । तं कायं तु – उस काय (पृथ्वीकाय) को, अमुंचओ —न छोडकर, (लगातार पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होते रहना, पृथ्वीकायिकों की कायस्थिति होती है) ॥८१॥

सएकाए विजढंमि—अपने काय (पृथ्वीकाय) को (एक बार) छोडने पर (दूसरे-दूसरे कायों में उत्पन्न होते रहने के पश्चात् पुन) पुढवीजीवाण—पृथ्वीकाय के जीवों (में उत्पन्न होने के बीच) का, अंतरं—अन्तर (काल) जहन्नयं—जघन्य, अन्तोमुहुत्त —अन्तर्मुहूर्त (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, अणंतकाल—अनन्तकाल है । ॥८२॥

एएसिं—इन (पृथ्वीकायिकों) के, वण्णओ—वर्ण, गंधओ—गन्ध, चेव रस-फासओ—और रस तथा स्पर्श, वा वि—अथवा, संठाणा-देसओ—संस्थान की अपेक्षा (आदेश) से, सहस्ससो विहाणाइं—हजारों भेद होते हैं ॥८३॥

विशेषार्थ—स्थावर के तीन भेद ही क्यों ?—प्रस्तुत ६९ वीं गाथा में, पृथ्वीकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय, इन तीनों को ही स्थावर कहा गया है, जबकि अन्य आगमों में वायुकाय और अग्निकाय के सहित स्थावर के पांच भेद कहे गये हैं ऐसा क्यों ? यद्यपि एकेन्द्रिय होने से वायुकाय और तेजस्काय को स्थावर जीवों में ही परिगणित करना चाहिए था, किन्तु स्थावरनामकर्म का उदय होने पर भी त्रस-जैसी गति होने के कारण इन दोनों को त्रस कहा है । ये गतित्रस कहलाते हैं, लब्धित्रस नहीं ।[1]

---

१ (क) पंचास्तिकाय मूल, तात्पर्यवृत्ति, गा १११ ।

(ख) तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसा ।—तत्त्वार्थसूत्र २/१४

इन तीनो स्थावरो मे जीवत्व—पृथ्वी, जल और वनस्पतिकाय मे एकेन्द्रियरूप जीव हैं। पृथ्वी मे पृथ्वीरूप, जल मे जलरूप और वनस्पति मे वनस्पतिरूप जीव है। उक्त तीनो मे पिण्डो के समूह का नाम ही जीव है, न कि पृथ्वी आदि के काठिन्यादि को जीव कहते हैं। क्योकि जीव का लक्षण उपयोग है, अत पृथ्वी आदि मे स्थित आत्माएँ भी सूक्ष्म उपयोग से युक्त हैं, किन्तु इनकी चेतना सुषुप्त है, स्थिरताप्रधान है। इसीलिए इन्हे स्थावर कहा है।[1]

पृथ्वीकाय स्वरूप और भेद-प्रभेद—काठिन्यादि लक्षणा पृथ्वी ही जिनकी काया है, उन्हे पृथ्वीकाय कहते हैं। 'पुढवी जीवा' कहकर शास्त्रकार ने पृथ्वी जीवरूप रूप बतायी है। पृथ्वी की सजीवता आगम, अनुमान आदि प्रमाणो से सिद्ध है। यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि पत्थर की खान से चट्टानें आदि खोदकर निकाल देने के बाद खाली जगह मे कचरा आदि भर देने से कालान्तर मे वहाँ पुन चट्टानें बन जाती है, नमक को खोदकर निकालने के बाद कालान्तर मे खाली जगह मे नमक की परतें जम जाती हैं, इस दृष्टि से पृथ्वी को सजीव मानना पड़ेगा। पृथ्वीकाय के मुख्य दो भेद है—सूक्ष्म और बादर=स्थूल। फिर इनके प्रत्येक के दो दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, ये ६ पर्याप्तियाँ है। जिन्होने यथासम्भव पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं, वे पर्याप्त या पर्याप्तक कहलाते है, जो योग्य पर्याप्तियो से रहित है वे अपर्याप्त हैं। पृथ्वीकायादि तीनो मे चार पर्याप्तियाँ (आहार, शरीर इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास) होनी चाहिए। सूक्ष्म तो केवली-प्रत्यक्ष हैं, बादर का प्रत्यक्ष भान होता है। फिर बादर पृथ्वीकाय पर्याप्त के दो भेद—मृदु और खर हैं तथा मृदु के सात और खर—कठिन के ३६ भेद बताए है।[2]

श्लक्ष्ण एव खर पृथ्वी स्वरूप और भेद—चूरा किये हुए आटे के समान जो मृदु (सुकोमल) पृथ्वी है, वह श्लक्षण और पाषण के समान कठोर

---

१ उत्तरा (आचार्य श्रीआत्मारामजी म) भा ३, पृ० ४३३

२ (क) पृथिवी काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता, सैवकाय शरीर येषा ते पृथिवीकाया ।
—प्रज्ञापना पद १ वृत्ति

(ख) उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका, भा० ४, पृ० ८२५

पृथ्वी खर कहलाती है। ऐसे शरीर वाले जीव भी उपचार से क्रमश. श्लक्ष्ण और खर पृथ्वीकायिक जीव कहलाते है। श्लक्ष्ण पृथ्वी सात प्रकार की और खर पृथ्वी ३६ प्रकार की है।[1]

पाण्डु और पनकमृत्तिका—पाण्डु वह मिट्टी है, जो जरा-सी सफेद होती है, शेष दूसरे वर्ण होते हैं। पनकमृत्तिका वह सूक्ष्म रज है, जो पदाघात से शीघ्र ही आकाश मे चढ जाती है, या फैल जाती है।

एगविहमणाणत्ता तात्पर्य—अनानात्व का अर्थ है, जो नानात्व=(अनेक प्रकार के भेदो) से रहित हो। सूक्ष्म पृथ्वीकाय नाना भेदो से रहित केवल एक ही प्रकार की है।[2]

भवस्थिति, कायस्थिति और अन्तर काल की अपेक्षा से—आयु के अनुसार एक भव मे रहने के जघन्य और उत्कृष्ट काल को भवस्थिति या आयुस्थिति कहते है। उस काय को न छोड लगातार उसी काय मे ही उत्पन्न होने रहने के काल को कायस्थिति कहते है। बीच मे दूसरे-दूसरे कायो मे उत्पन्न होते रहने के पश्चात् पुन उसी काय मे उत्पन्न होने के बीच का काल 'अन्तर' कहलाता है।[3]

अप्काय का निरूपण—

मूल—दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥८४॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे ॥८५॥
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोग-देसे य बायरा ॥८६॥
संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥८७॥

---

१ श्लक्ष्णा चूर्णितलोष्टकल्पा मृदुपृथिवी, तदात्मका जीवा अप्युपचारात् श्लक्ष्णा उच्यन्ते। पाषाणकल्पा कठिना पृथ्वी खरा, तदात्मका जीवा अप्युपचारात् खरा उच्यन्ते। —उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका, भा० ३, पृ० ८३८

२ उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म० भा० ३, पृ० ४१५, ४३७

३ उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका, भा० ४, पृ० ८२५

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउ-ठिई आऊण, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥८८॥
असखकालमुक्कोस, अतोमुहुत्तं जहन्नय ।
कायठिई आऊण, त काय तु अमुंचओ ॥८९॥
अणतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्त जहन्नय ।
विजढम्मि सए काए, आऊजीवाण अतर ॥९०॥
एएसि वण्णओ चेव, गधओ रस-फासओ ।
सठाणादेसओ वावि, विहाणाइ सहस्ससो ॥९१॥

पद्यानु०—जलकायिक भी जीव जगत् मे, सूक्ष्म और बादर होते ।
अपर्याप्त पर्याप्त भेद यो, ज्ञानीजन हैं बतलाते ॥८४॥
बादर पर्याप्त जलकाय जीव, है पाच भेद प्रभु ने गाये ।
शुद्ध उदक और अवश्याय, हरतनु महिमा हिम कहलाये ॥८५॥
सूक्ष्म एकविध, भेद नही, उसमे आगम बतलाता है ।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त सूक्ष्म, बादर एकांश को पाता है ॥८६॥
प्रवाह से वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित भी होते हैं ।
स्थिति को लेकर ये आदि-सहित, और अन्तयुक्त भी होते हैं ॥८७॥
सात सहस्र वर्षों की होती, उत्कृष्ट आयु जल-जीवो की ।
अन्तर्मुहूर्त्त की कम से कम, होती स्थिति बादर-जीवो की ॥८८॥

असख्यकाल उत्कृष्ट स्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त की न्यून कही ।
जलकायभाव को बिनु त्यागे, कायस्थिति इतनी मान्य रही ॥८९॥

अनन्तकाल का है अन्तर, उत्कृष्ट न्यून भीतर घटिका ।
जलकायभाव मे आने का, अन्तर इतना जल-जीवो का ॥९०॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, सस्थानभाव से है जानो ।
यो भेद विविध जल-जीवो के, होते सहस्र अधिक मानो ॥९१॥

अन्वयार्थ—आउजीवा उ—अप्कायिक [जीव, दुविहा—दो प्रकार के हैं । (यथा—) सुहुमा—सूक्ष्म, तहा—तथा, बायरा—बादर । एव—इसी प्रकार, पुणो—पुन (दोनो मे से) एए—इनके (प्रत्येक के), दुहा—दो-दो प्रकार है, पज्जत्तम-पज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त ॥८४॥

जे उ—जो, बायरापज्जत्ता—बादर पर्याप्त (अप्कायिक जीव) हैं, ते—वे, पचहा—पाच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये है । (यथा) सुद्धोदए—शुद्धोदक (शुद्ध जल), उस्से=अवश्याय=ओस, हरतणू—हरतनु-(गीली भूमि से उत्पन्न जल,

जो प्रात काल तृणाग्र पर बिन्दुरूप मे दिखाई देता है), महिया—महिका-कुहासा, य—और, हिमे—हिम=बर्फ ॥८५॥

तत्थ—उनमे से, सुहुमा—सूक्ष्म (अप्कायिक जीव), एगविह—एक प्रकार के है, अणाणत्ता—उनके भेद नही है, सुहुमा—सूक्ष्म (अप्कायिक जीव), सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, य—और, बायरा—बादर (अप्कायिक जीव) लोगदेसे—लोक के एक भाग (देश) मे (व्याप्त है।) ॥८६॥

सतइ पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, (अप्कायिक जीव), अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अपर्यवसित—अनन्त है, य—तथा, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया—सादि, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं।

(उनकी) उक्कोसिया—उत्कृष्ट, आउठिई—आयु-स्थिति, वासाणसत्तेव सहस्साइ—सात हजार वर्ष की है, (और) जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है ॥८८॥

आऊण—अप्कायिक जीवों की, कायठिइ—कायस्थिति, उक्कोस—उत्कृष्ट असखकाल—असख्यातकाल की (और), जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है, त काय तु—उस काय (अप्काय) को, अमुचओ—न छोडकर (लगातार अप्काय मे ही उत्पन्न होना कायस्थिति है।) ॥८९॥

सए काए—स्वकाय (अप्काय) को, विजढम्मि—छोडने पर (बीच मे दूसरे कायो मे उत्पन्न होकर पुन अप्काय मे उत्पन्न होने का), आउजीवाण अतर—अप्कायिक जीवो का अन्तर, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त, (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का है ॥९०॥

वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गन्ध से, चेव—और, रस-फासओ—रस और स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान की अपेक्षा (आदेश) से भी, एएसि—इनके (अप्कायिक जीवो के), सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद (होते हैं) ॥९१॥

विशेषार्थ—अप्काय का स्वरूप, प्रकार, क्षेत्र और कालसापेक्ष वर्णन—अप् का अर्थ है—जल। जल ही जिनका शरीर है, वे अप्काय या अप्कायिक जीव कहलाते हैं। अप्काय के आश्रित छोटे-छोटे जीव सूक्ष्म-दर्शक यत्र से देखे जा सकते हैं।[1]

अप्काय के मुख्य दो भेद है—सूक्ष्म और बादर। फिर इन दोनो के

---

१ उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर) भा २ पत्र ३४७

प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर पर्याप्त अप्काय के ५ भेद है—(१) शुद्ध (मेघादि का) जल, (२) ओस का पानी, (३) तृण के अग्रभाग मे प्रात दिखाई देने वाले जलबिन्दु, (४) धुन्ध या धूमर और (५) हिम–बर्फ।

सूक्ष्म का सिर्फ एक भेद है। सूक्ष्म अप्काय सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हैं और बादर अप्काय लोक के एकदेश मे रहते है। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त और भवस्थिति व कायस्थिति की अपेक्षा से सादिसान्त है। शेष सब पूर्ववत् स्पष्ट है। पृथ्वीकाय की तरह अप्काय के भी वर्ण-गन्धादि के तारतम्य को लेकर असख्य और अनन्त भेद किये जा सकते हैं।[1]

भेदो मे अन्तर—इस शास्त्र मे बादर पर्याप्त अप्काय के ५ ही भेद बताए गए हैं, जबकि प्रज्ञापना सूत्र मे अवश्याय से लेकर रसोदक तक इसी के १७ भेद बताए गए हैं। यह अन्तर केवल विवक्षाभेद से है।[2]

वनस्पतिकाय का निरूपण—

मूल—दुविहा वणस्सई-जीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥९२॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
साहारण-सरीरा य पत्तेया य तहेव य ॥९३॥

पत्तेय-सरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥९४॥

वलया पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसही तिणा।
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ॥९५॥

साहारण-सरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥९६॥

हिरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावईके य कन्दली।
पलण्डु-लसण-कन्दे य, कदली य कुहुव्वए ॥९७॥

लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकन्दे य, कन्दे सूरणए तहा ॥९८॥

---

१ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ० ४४२

२ (क) प्रज्ञापना पद १ वृत्ति,
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३४७

अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥९९॥

एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥१००॥

संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१०१॥

दस चेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे ।
वणप्फईण आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नगं ॥१०२॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥१०३॥

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, पणग-जीवाणं अंतरं ॥१०४॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१०५॥

इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया ।
इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥१०६॥

पद्यानु०—हैं जीव वनस्पति युगल भेद, बादर और सूक्ष्म कहाते है ।
ऐसे पर्याप्त अपर्याप्तक, भेदों से द्विविध बताते हैं ॥९२॥

बादर पर्याप्त वनस्पति के, दो भेद शास्त्र बतलाते हैं ।
है एक साधारण तन वाले, प्रत्येक दूसरे होते हैं ॥९३॥

प्रत्येक शरीर वनकायिक ये, नाना प्रकार के बतलाये ।
तरु गुच्छ गुल्म एवं लतिका, वल्ली तृण जग में लहराये ॥९४॥

लता वलय पर्वज एवं, भूफोड कमल और ओषधि-तृण ।
हरितकाय ये सब जानो, प्रत्येकशरीरी काय-कथन ॥९५॥

साधारण के भी ऐसे ही, नाना प्रकार प्रभु बतलाते ।
आलू मूलक और शृंगवेर, कई भेद अन्य ऐसे होते ॥९६॥

हिरिली सिरिली सिस्सिरिली, यावतिक कन्दलीकन्द यथा ।
कुस्तुम्बक प्याज लसुन ऐसे, कन्दली और भी कन्द तथा ॥९७॥

प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर पर्याप्त अप्काय के ५ भेद है—(१) शुद्ध (मेघादि का) जल, (२) ओस का पानी, (३) तृण के अग्रभाग मे प्रात दिखाई देने वाले जलबिन्दु, (४) धुन्ध या धूमर और (५) हिम—बर्फ।

सूक्ष्म का सिर्फ एक भेद है। सूक्ष्म अप्काय सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हैं और बादर अप्काय लोक के एकदेश मे रहते है। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त और भवस्थिति व कायस्थिति की अपेक्षा से सादिसान्त है। शेष सब पूर्ववत् स्पष्ट है। पृथ्वीकाय की तरह अप्काय के भी वर्ण-गन्धादि के तारतम्य को लेकर असख्य और अनन्त भेद किये जा सकते हैं।[1]

भेदो मे अन्तर—इस शास्त्र मे बादर पर्याप्त अप्काय के ५ ही भेद बताए गए हैं, जबकि प्रज्ञापना सूत्र मे अवश्याय से लेकर रसोदक तक इसी के १७ भेद बताए गए है। यह अन्तर केवल विवक्षाभेद से है।[2]

वनस्पतिकाय का निरूपण—

मूल—दुविहा वणस्सई-जीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥९२॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
साहारण-सरीरा य पत्तेया य तहेव य ॥९३॥

पत्तेय-सरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥९४॥

वलया पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसही तिणा।
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ॥९५॥

साहारण-सरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव, सिगबेरे तहेव य ॥९६॥

हिरिली सिरिली सिस्सिरिली, जावईकेय कन्दली।
पलडु-लसण-कन्दे य, कदली य कुहुव्वए ॥९७॥

लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकन्दे य, कन्दे सूरणए तहा ॥९८॥

---

१ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ० ४४२

२ (क) प्रज्ञापना पद १ वृत्ति,
(ख) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३४७

कुहुणा—कुहन (भूमिफोड), जलरुहा—जल मे पैदा होने वाले, ओसही—औषधि (गेहूं आदि धान्य) तिणा—तृण (शालि आदि धान्य), हरियकाया—हरितकाय, आई—आदि, पत्तेगा उ—प्रत्येकशरीरी वनस्पति, बोधव्वा—जाननी चाहिए। ॥९४-९५॥

(जो) साहारणसरीरा—साधारण शरीरी (वनस्पतियाँ) है, ते—वे, उ—भी णेगहा—अनेक प्रकार की, पकित्तिया—कही गई है। (यथा) आलुए—आलू, चेव—और, मूलए—मूली (मूलक), तहेव—तथा, सिंगबेरे—शृगवेर=अदरक, हिरिली—हिरिलीकन्द, सिरिली—सिरिलीकन्द, सिस्सिरिली—सिस्सिरिली-कन्द, जावइके—यावतिककन्द, य—और, कदली—कन्दलीकन्द, पलडु—पलाण्डु=प्याज, लसण—लहसुन य—तथा, कदली कहुव्वए—कदली कुहुव्रत (या कुस्तुम्बक), लोहिणी—लोहिनी, हूयथी—हुताक्षी, हूय—हूतकन्द, य—और, कुहगा—कुहयाकन्द, तहेव—तथा, कण्हे—कृष्णकन्द, य—एव, वज्जकदे—वज्रकन्द, सुरणए कदे तहा—तथा सूरणककद, अस्सकण्णी—अश्वकर्णी, सीहकण्णी—सिंहकर्णी, मुसुढी—मुसुढी, तहेव—तथा, हलिद्दा—हरिद्रा=हल्दी, एवमायओ—इत्यादि, अणेगहा—अनेक प्रकार के, (साधारणशरीरी जमीकन्द) बोधव्वा—समझने चाहिए ॥९६, ९७, ९८, ९९॥

सुहुमा—सूक्ष्म (वनस्पतिकायिक जीव), अणाणत्ता—नाना प्रकार के भेदो से रहित, (केवल), एगविहु—एक ही प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं, तत्थ—इन दोनो मे, सुहुमा—सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव, सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे (व्याप्त) हैं, य—और, बायरा—बादर (स्थूल वनस्पतिकायिक जीव), लोगदेसे—लोक के एकदेश मे हैं ॥१००॥

(काल की अपेक्षा से वे दोनो) सतइ पप्प=सतति अर्थात्—प्रवाह की दृष्टि से, अणाईया-अपज्जवसिया वि य—अनादि और अनन्त हैं, य—और, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया सपज्जवसिया वि—सादि-सात भी हैं ॥१०१॥

वणप्फईण आउ तु—वनस्पति (कायिक जीवो) की आयुस्थिति, उक्कोसिया—उत्कृष्ट, वासाण दस सहस्साइ—दस हजार वर्षों की, चेव—एव, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, भवे—होती है ॥१०२॥

त काय तु अमुचओ—उस काय को न छोडते हुए (लगातार उस काय मे ही जन्म-मरण करता रहे) तो, पणगाण—पनको (वनस्पतिकायिक जीवो) की, कायठिई—कायस्थिति, उक्कोसा—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल की (और), जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है ॥१०३॥

लोहिनी हुताक्षि हुतकन्द तथा, कुहक भी कन्द कहाते है ।
कृष्णकन्द और वज्रकन्द, ऐसे सूरण भी होते है ॥९८॥

हयकर्णी तथा सिंहकर्णी, है कन्द मुशुण्डी कहलाती ।
है भेद हरिद्रा आदि कई, साधारण काया मे आती ॥९९॥

सूक्ष्म एकविध, भेद नही, जिन-आगम मे बतलाये है ।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त सूक्ष्म, बादर सर्वत्र न पाये है ॥१००॥

सन्ततिदृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित भी होते है ।
स्थिति को लेकर ये जग मे, आद्यन्त सहित भी होते है ॥१०१॥

दश हजार परिमित वर्षो की, स्थिति उत्कृष्ट होती है ।
वनकायिक की न्यून स्थिति, अन्तर्मुहूर्त्त हो जाती है ॥१०२॥

उत्कृष्ट अनन्ता काल और, अन्तर्मुहूर्त्त अतिन्यून कही ।
हरितकाय को बिन त्यागे, काय-स्थिति भोगे पनक सही ॥१०३॥

असख्य काल का परम और, अतिन्यून मुहूर्त्त के भीतर का ।
निजकाय प्राप्त फिर करने मे, अन्तर होता इतना वन का ॥१०४॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, सस्थान-भाव से बतलाये ।
वनकायिक उन जीवो के, ज्यो भेद सहस्रो है गाये ॥१०५॥

यो तीन भेद स्थावर जग मे, सक्षिप्त रूप से बतलाये ।
अब त्रिविध त्रसो को कहता हूँ, अनुक्रम से श्रुत मे जो गाये ॥१०६॥

अन्वयार्थ— वणस्सई-जीवा—वनस्पतिकायिक जीव, दुविहा—दो प्रकार के हैं । (यथा) सुहुमा—सूक्ष्म, तहा—तथा, बायरा—बादर, एव —इसी प्रकार, पुणो—फिर, एए—ये, दुहा—दो प्रकार के है । (यथा) पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त ॥९२॥

जे उ—जो, बायरा पज्जत्ता—बादर पर्याप्त (वनस्पतिकायिक जीव) हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—बताये गए है (यथा) साहारण-सरीरा—साधारण शरीर, य—और, तहेव पत्तेगा—इसी प्रकार प्रत्येक शरीर ॥९३॥

(जो) पत्तेगसरीरा उ—प्रत्येक शरीर (वनस्पतिकाय) हैं, ते—वे, णेगहा—अनेक प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये है (यथा–), रुक्खा—वृक्ष, गुच्छा—गुच्छ, य—तथा, गुम्मा—गुल्म, लया—लता, वल्ली—भूमि पर फैलने वाली ककडी आदि की बेल, तहा—तथा, तणा—तृण आदि । लयावलय—लतावलय, पव्वगा—पर्वज,

कुहणा—कुहन (भूमिफोड), जलरुहा—जल मे पैदा होने वाले, ओसही—औषधि (गेहूं आदि धान्य) तिणा—तृण (शालि आदि धान्य), हरियकाया—हरितकाय, आई—आदि, पत्तेगा उ—प्रत्येकशरीरी वनस्पति, बोधव्वा—जाननी चाहिए। ॥९४-९५॥

(जो) साहारणसरीरा—साधारण शरीरी (वनस्पतियाँ) हैं, ते—वे, उ—भी णेगहा—अनेक प्रकार की, पकित्तिया—कही गई हैं। (यथा) आलुए—आलू, चेव—और, मूलए—मूली (मूलक), तहेव—तथा, सिंगबेरे—शृगबेर=अदरक, हिरिली—हिरिलीकन्द, सिरिली—सिरिलीकन्द, सिस्सिरिली—सिस्सिरिली-कन्द, जावइके—यावतिककन्द, य—और, कदली—कन्दलीकन्द, पलडु—पलाण्डु=प्याज, लसण—लहसुन य—तथा, कदली कडुव्वए—कदली कुडुम्बत (या कुस्तुम्बक), लोहिणी—लोहिनी, हुयथी—हुताक्षी, हूय—हूतकन्द, य—और, कुहणा—कुहणाकन्द, तहेव—तथा, कण्हे—कृष्णकन्द, य—एव, वज्जकंदे—वज्रकन्द, सुरणए कंदे तहा—तथा सूरणककद, अस्सकण्णी—अश्वकर्णी, सीहकण्णी—सिंहकर्णी, मुसुंढी—मुसुंढी, तहेव—तथा, हलिद्दा—हरिद्रा=हल्दी, एवमायओ—इत्यादि, अणेगहा—अनेक प्रकार के, (साधारणशरीरी जमीकन्द) बोधव्वा—समझने चाहिए ॥९६, ९७, ९८, ९९॥

सुहुमा—सूक्ष्म (वनस्पतिकायिक जीव), अणाणत्ता—नाना प्रकार के भेदो से रहित, (केवल), एगविहू—एक ही प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं, तत्थ—इन दोनो मे, सुहुमा—सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव, सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे (व्याप्त) हैं, य—और, बायरा—बादर (स्थूल वनस्पतिकायिक जीव), लोगदेसे—लोक के एकदेश मे हैं ॥१००॥

(काल की अपेक्षा से वे दोनो) सतइ पप्प=सतति अर्थात्—प्रवाह की दृष्टि से, अणाईया-अपज्जवसिया वि य—अनादि और अनन्त हैं, य—और, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया सपज्जवसिया वि—सादि-सान्त भी हैं ॥१०१॥

वणप्फईण आउ तु—वनस्पति (कायिक जीवो) की आयुस्थिति, उक्कोसिया—उत्कृष्ट, वासाण दस सहस्साइ—दस हजार वर्षों की, चेव—एव, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, भवे—होती है ॥१०२॥

त काय तु अमुचओ—उस काय को न छोडते हुए (लगातार उस काय मे ही जन्म-मरण करता रहे) तो, पणगाण—पनको (वनस्पतिकायिक जीवो) की, कायठिई—कायस्थिति, उक्कोसा—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल की (और), जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है ॥१०३॥

सए काए विजढम्मि—स्वकाय (वनस्पतिकाय) को छोडने पर (अयन्न जाकर पुन वनस्पतिकाय मे आने तक का), पणगजीवाण—वनस्पतिकायिक जीवो का, अतर—अन्तर काल, जहन्नय—जघन्य, अन्तोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, असखकाल—असख्यातकाल का होता है ॥१०४॥

एएसि—इन (वनस्पतिकायिक जीवो) के, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गध से, चेव—और, रस-फासओ—रस तथा स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ—सस्थान के आदेश (अपेक्षा) से, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो (अवान्तर) भेद (विधान) होते है ॥१०५॥

इच्चेए—इस प्रकार ये, तिविहा—तीन प्रकार के, थावरा—स्थावर जीवो का, समासेण—सक्षेप मे, वियाहिया—वर्णन किया गया है। इत्तो उ—इससे आगे, पुन, तिविहे—तीन प्रकार के तसे—त्रसजीवो का, अणुपुव्वसो—अनुक्रम से, वुच्छामि—कथन करूंगा ॥१०६॥

विशेषार्थ—वनस्पतिकाय स्वरूप और प्रकार—वनस्पति ही जिनका शरीर है ऐसे जीव वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। वर्तमान मे जीव विज्ञान के विशेषज्ञ प्रो जगदीश चन्द्र बसु आदि ने वनस्पति पर विविध प्रयोग करके सिद्ध कर दिया कि वनस्पति मे जीव हैं। कुछ वनस्पतियो को छूने से सिकुड जाना, नारी-पदाघात आदि से फलना तथा पुरुष के अगो की तरह छेदने से मुरझा जाना आदि अवस्थाएँ देखी गई हैं। इनसे भी वनस्पति मे जीव सिद्ध होता है। वनस्पतिकायिक जीव मुख्यत दो प्रकार के हैं—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। जिन वनस्पतिकायिक जीवो का अपना अलग-अलग शरीर होता है, अर्थात्—जिनमे प्रत्येक शरीर के आश्रित एक ही जीव रहता है, वे प्रत्येकशरीरी है और जिन अनन्त जीवो का एक ही शरीर होता है, अर्थात्—जो एक ही शरीर के आश्रित अनन्त जीव रहते हैं, वे साधारणशरीरी कहलाते हैं। इनका श्वासोच्छ्वास और आहार भी एक साथ ही होता है।[1]

प्रत्येकवनस्पति के मुख्य भेद—गा ९४-९५ मे प्रत्येकवनस्पति के मुख्य १२ प्रकार बताये गए हैं। वृक्ष आम आदि प्रसिद्ध हैं। फिर गुच्छ और गुल्म, लता और वल्ली ये पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके अर्थ मे

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ८४३
(ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३, पृ ४४७
(ग) स्याद्वादमजरी श्लो २९/३३०/१०

अन्तर है। गुच्छ वह होता है, जिसमे पत्तियाँ या केवल पतली टहनियाँ होती हैं। जैसे—बेंगन, तुलसी आदि तथा जो एक जड से कई तनो के रूप मे निकले उस पौधे को गुल्म कहते है, यथा—कटसरैया, केर आदि। लता किसी बड़े पेड़ से लिपट कर ऊपर को फैलती है, जबकि वल्ली भूमि पर ही फैलकर रह जाती है। जैसे—माधवी, चपक आदि लताएँ है, तथा ककडी, तरबूज आदि की बेल (वल्ली) हैं। तृण—दूब आदि हरा घास। वलय कहते हैं—नारियल, केला आदि को, जिनमे शाखान्तर न होकर त्वचा ही वलयाकार होती है। पर्वज—पोरो (संधियो) से उत्पन्न होने वाली ईख, बास आदि वनस्पतियाँ। कुहण का अर्थ है—कु—भूमि को, हन—फोड (भेद) कर उत्पन्न होने वाली कुकुरमुत्ता आदि वनस्पतियाँ। जलरुह का अर्थ है—जल मे उत्पन्न होने वाले कमल आदि। औषधि-तृण—पके हुए एक फसल वाले गेहूँ तथा शालि आदि धान्य को कहते हैं। हरितकाय मे चुलाई आदि सागो का समावेश होता है। ये और इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसी वनस्पतियाँ है जो प्रत्येकशरीरी के अन्तर्गत आती है।[2]

साधारणशरीर वनस्पति—इसमे प्राय कन्दमूल या सेवाल काई आदि का समावेश है। आलू, मूली, अदरक आदि तो प्रसिद्ध वनस्पतियाँ है। तथा अन्य कन्दमूल आदि के नाम भी देशभेद से विभिन्न देशज भाषाओ से तथा निघट्टु आदि (वैद्यक) ग्रन्थो से जान लेना चाहिए। इसे अनन्तकाय भी कहते हैं। अनन्तकाय का एक अर्थ है—जो तोडने पर चक्राकार मे टूटे। इसे जमीकन्द भी कहते हैं, क्योकि, क्योकि यह पृथ्वी के अन्दर ही पृथ्वी का अग बनकर प्राय विकसित होता है। पनक का सामान्यतया अर्थ होता है—सेवाल, या जल पर की काई। परन्तु यहाँ 'पणगजीवाण' शब्द 'वनस्पतिकायिक जीव' अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि यहाँ जो कायस्थिति उत्कृष्ट अनन्तकाल की कही गई है, वह निगोद के जीवो (पनक जीवो) की अपेक्षा से सिद्ध होती है, क्योकि बादर प्रत्येक वनस्पति, या बादर निगोद की उत्कृष्ट कायस्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम तथा बादरनिगोद एव सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट कायस्थिति असख्यातकाल की होती है।[3]

---

१ (क) उत्तरज्झयणाणि टिप्पण, (मुनि नथमलजी) पृ ३३६
(ख) उत्तरा० (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ४४८

२ (क) उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३ पृ ४४९, ४५०
(ख उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ८८४

सए काए विजढम्मि—स्वकाय (वनस्पतिकाय) को छोडने पर (अन्यत्र जाकर पुन वनस्पतिकाय मे आने तक का), पणगजीवाण—वनस्पतिकायिक जीवो का, अतर—अन्तर काल, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, असखकाल—असख्यातकाल का होता है ॥१०४॥

एएसि—इन (वनस्पतिकायिक जीवो) के, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गध से, चेव—और, रस-फासओ—रस तथा स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ—सस्थान के आदेश (अपेक्षा) से, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो (अवान्तर) भेद (विधान) होते है ॥१०५॥

इच्चेए—इस प्रकार ये, तिविहा—तीन प्रकार के, थावरा—स्थावर जीवो का, समासेण—सक्षेप मे, वियाहिया—वर्णन किया गया है। इत्तो उ—इससे आगे, पुन, तिविहे—तीन प्रकार के तसे—त्रसजीवो का, अणुपुव्वसो—अनुक्रम से, वुच्छामि—कथन करूँगा ॥१०६॥

विशेषार्थ—वनस्पतिकाय स्वरूप और प्रकार—वनस्पति ही जिनका शरीर है, ऐसे जीव वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। वर्तमान मे जीव विज्ञान के विशेषज्ञ प्रो जगदीश चन्द्र बसु आदि ने वनस्पति पर विविध प्रयोग करके सिद्ध कर दिया कि वनस्पति मे जीव हैं। कुछ वनस्पतियो को छूने से सिकुड जाना, नारी-पदाघात आदि से फलना तथा पुरुष के अगो की तरह छेदने से मुरझा जाना आदि अवस्थाएँ देखी गई हैं। इनसे भी वनस्पति मे जीव सिद्ध होता है। वनस्पतिकायिक जीव मुख्यत दो प्रकार के है—प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। जिन वनस्पतिकायिक जीवो का अपना अलग-अलग शरीर होता है, अर्थात्—जिनमे प्रत्येक शरीर के आश्रित एक ही जीव रहता है, वे प्रत्येकशरीरी हैं और जिन अनन्त जीवो का एक ही शरीर होता है, अर्थात्—जो एक ही शरीर के आश्रित अनन्त जीव रहते हैं, वे साधारणशरीरी कहलाते हैं। इनका श्वासोच्छ्वास और आहार भी एक साथ ही होता है।[1]

प्रत्येकवनस्पति के मुख्य भेद—गा ९४-९५ मे प्रत्येकवनस्पति के मुख्य १२ प्रकार बताये गए हैं। वृक्ष आम आदि प्रसिद्ध हैं। फिर गुच्छ और गुल्म, लता और वल्ली ये पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके अर्थ मे

---

१ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ८४३
(ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३, पृ ४४७
(ग) स्याद्वादमजरी श्लो २९/३३०/१०

अन्तर है। गुच्छ वह होता है, जिसमे पत्तियाँ या केवल पतली टहनियाँ होती हैं। जैसे—बेगन, तुलसी आदि तथा जो एक जड से कई तनो के रूप मे निकले उस पौधे को गुल्म कहते है, यथा—कटसरैया, कैर आदि। लता किसी बडे पेड से लिपट कर ऊपर को फैलती है, जबकि वल्ली भूमि पर ही फैलकर रह जाती है। जैसे—माधवी, चपक आदि लताएँ है, तथा ककडी, तरबूज आदि की बेल (वल्ली) है। तृण—दूब आदि हरा घास। वलय कहते हैं—नारियल, केला आदि को, जिनमे शाखान्तर न होकर त्वचा ही वलयाकार होती है। पर्वज—पोरो (सधियो) से उत्पन्न होने वाली ईख, बास आदि वनस्पतियाँ। कुहण का अर्थ है—कु=भूमि को, हन—फोड (भेद) कर उत्पन्न होने वाली कुकुरमुत्ता आदि वनस्पतियाँ। जलरुह का अर्थ है—जल मे उत्पन्न होने वाले कमल आदि। औषधि-तृण—पके हुए एक फसल वाले गेहूँ तथा शालि आदि धान्य को कहते हैं। हरितकाय मे चुलाई आदि सागो का समावेश होता है। ये और इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसी वनस्पतियाँ हैं जो प्रत्येकशरीरी के अन्तर्गत आती है।[1]

साधारणशरीर वनस्पति—इसमे प्राय कन्दमूल या सेवाल काई आदि का समावेश है। आलू, मूली, अदरक आदि तो प्रसिद्ध वनस्पतियाँ है। तथा अन्य कन्दमूल आदि के नाम भी देशभेद से विभिन्न देशज भाषाओ से तथा निघटु आदि (वैद्यक) ग्रन्थो से जान लेना चाहिए। इसे अनन्तकाय भी कहते हैं। अनन्तकाय का एक अर्थ है—जो तोडने पर चक्राकार मे टूटे। इसे जमीकन्द भी कहते हैं, क्योकि, क्योकि यह पृथ्वी के अन्दर ही पृथ्वी का अग बनकर प्राय विकसित होता है। पनक का सामान्यतया अर्थ होता है—सेवाल, या जल पर की काई। परन्तु यहाँ 'पणगजीवाण' शब्द 'वनस्पतिकायिक जीव' अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि यहाँ जो कायस्थिति उत्कृष्ट अनन्तकाल की कही गई है, वह निगोद के जीवो (पनक जीवो) की अपेक्षा से सिद्ध होती है, क्योकि बादर प्रत्येक वनस्पति, या बादर निगोद की उत्कृष्ट कायस्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम तथा बादरनिगोद एव सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट कायस्थिति असख्यातकाल की होती है।[2]

---

१ (क) उत्तरज्झयणाणि टिप्पण, (मुनि नथमलजी) पृ ३३६
(ख) उत्तरा० (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ४४८

२ (क) उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३ पृ ४४९, ४५०
(ख उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ८४४

तीन प्रकार के त्रसो का उल्लेख—

मूल—तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा, उराला य तसा तहा ।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१०७॥

पद्यानु०—तेज वायु और उदार त्रस, ये त्रिविध भेद त्रस जीवो के ।
मैं भेद बताऊँ आगम से, तुम श्रवण करो उन जीवो के ॥१०७॥

अन्वयार्थ—तेऊ—तेजस्काय, य वाऊ—और वायुकाय, तहा य—तथा, उराला तसा—उदार (एकेन्द्रिय त्रसो की अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि स्थूल) त्रस, इच्चेए इस प्रकार, ये, तिविहा तसा—तीन प्रकार के त्रस है, तेसिं भेए—उनके भेदो को, मे सुणेह—मुझसे सुनो ॥१०७॥

विशेषार्थ—अग्निकाय (तेजस्काय) और वायुकाय ये पाच स्थावरो मे ऐसे है, जिनकी चलनक्रिया देखकर व्यवहार से उन्हे त्रस कहा जाता है। जबकि पृथ्वी, अप् और वनस्पति, ये तीन स्थिरयोग सम्बन्ध के कारण स्थावर ही कहलाते हैं। इन्हे पचास्तिकाय मे लब्धि त्रस कहा हैं, जबकि तेजस्काय और वायुकाय को गतित्रस कहा है।[1]

तेजस्काय मे जीव है—पुरुष के अगो की तरह आहार आदि के ग्रहण करने से उसमे वृद्धि आदि होती है, इसलिए तेजस्काय मे जीव है।[2]

वायुकाय मे भी चैतन्य है—क्योकि वह दूसरे के द्वारा प्रेरित हुए बिना गाय की तरह स्वतन्त्र गमन करती है।[3]

तेजस्काय का निरूपण—

मूल—दुविहा तेऊजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥१०८॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया।
इगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चि-जाला तहेव य ॥१०९॥

---

१ (क) पचास्तिकाय मूल, तात्पर्यवृत्ति, गा १११
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र (प० सुखलालजी), पृ ५५

२ तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादि-विकारोपलम्भात् पुरुषागवत्।

३ वायुरपि सात्मकम् अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्वात् गोवत्।
—स्याद्वादमजरी २९।३३०।१०

उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ ।
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया ॥११०॥

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१११॥

संतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, [सपज्जवसिया वि य ॥११२॥
तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई तेऊण, अंतोमुहुत्तं] जहन्निया ॥११३॥

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।
कायठिई तेऊण, तं कायं तु अमुंचओ ॥११४॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढम्मि सए काए, तेऊजीवाण अंतरं ॥११५॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥११६॥

पद्यानु०—द्विविध जीव हैं तेजकाय के, सूक्ष्म और बादर जानो ।
अपर्याप्त-पर्याप्त-भेद से, फिर दो दो इनके मानो ॥१०८॥

बादर जो पर्याप्त तेज हैं, भेद अनेकों बतलाये ।
अंगार अग्नि एवं मुर्मुर, ज्वाला अर्चि भी कहलाये ॥१०९॥
उल्का विद्युत आदि अनेकों, भेद अग्नि के बतलाये ।
सूक्ष्म एकविध, भेद नहीं, उनके सूत्रों में बतलाए ॥११०॥
सम्पूर्ण लोक में व्याप्त सूक्ष्म, बादर सर्वत्र नहीं होते ।
अब काल-विभाग चतुर्विध उनका, कहूँ सूत्र जो बतलाते ॥१११॥
सन्तति की दृष्ट्या सब प्राणी, आद्यन्तरहित भी होते हैं ।
ऐसे ही स्थिति को लेकर, आद्यन्त-सहित हो जाते हैं ॥११२॥
अन्तर्मुहूर्त्त की न्यून स्थिति, तेजस्कायिक की होती है ।
उत्कृष्ट तीन दिन-रात्रि-मान की, आयुस्थिति हो जाती है ॥११३॥
असंख्यकाल-परिमित तेजस् की, परम कायस्थिति होती है ।
अग्निकाय-भव बिन त्यागे, स्थिति न्यून मुहूर्त कम होती है ॥११४॥

अनन्तकाल अन्तर होता, उत्कृष्ट न्यून घटिकार्द्ध जान।
निज काय त्याग कर तेजो का, इतना अन्तर का काल मान॥११५॥
वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और, सस्थान भाव से जो होते।
तेजस्कायिक उन जीवो के, है भेद सहस्रो हो जाते॥११६॥

अन्वयार्थ—तेउजीवा उ—तेजस्कायिक जीव, दुविहा—दो प्रकार के है। (यथा-), सुहुमा—सूक्ष्म, तहा—तथा, बायरा—बादर, एव—इसी प्रकार, पुणो—फिर, एए—ये दोनो, दुहा—दो-दो प्रकार के है, पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त ॥१०८॥

जे उ—जो, बायरपज्जत्ता—बादरपर्याप्त (तेजस्काय) है, ते—वे, णेगहा—अनेक प्रकार के, वियाहिया—कहे गए है (यथा—), इगाले—अगार (निर्धूम अग्निकण), मुम्मुरे—मुर्मुर (भस्म मिश्रित अग्निकण), अग्गी—अग्नि, अच्चि—अर्चि (मूलसहित अग्निशिखा), इ हेव य—तथैव, जाला—ज्वाला (प्रदीप्त अग्नि से विच्छिन्न), अग्निशिखा—आग की लपट, य—और, उक्का—उल्का (तारो की तरह गिरने वाली आकाशीय अग्नि), विज्जू—विद्युत् (आकाशीय बिजली), एवमायओ—इत्यादि, णेगहा—अनेकविध तेजस्कायिक जीव, बोधव्वा—जानने चाहिए (जो), सुहुमा—सूक्ष्म तेजस्काय है, ते—वे, अणाणत्ता—नाना भेदो से रहित, एगविह—एक ही प्रकार के, वियाहिया—कहे गए है ॥१०९-११०॥

सुहुमा—सूक्ष्म (तेजस्कायिक जीव), सव्वलोगम्मि—समग्र लोक मे, य—और बायरा—बादर (तेजस्कायिक जीव), लोगदेसे—लोक के एकदेश मे (व्याप्त) हैं। इत्तो—इससे आगे, तेसिं—उन (तेजस्कायिक जीवो) के, चउव्विह—चार प्रकार से, कालविभाग—कालविभाग को, वुच्छ—कहूँगा ॥१११॥

सतइं पप्प—सन्तति अर्थात्—प्रवाह की अपेक्षा से, (तेजस्कायिक जीव), अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त भी हैं, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, (वे) साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं ॥११२॥

तेऊण—तेजस्कायिक जीवो की, आउठिई—आयु स्थिति, उक्कोसेण—उत्कृष्ट रूप से, तिण्णेव अहोरत्ता—तीन ही अहोरात्रि की (और), जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, वियाहिया—कही गई है ॥११३॥

त काय तु—उस (तेजस्काय) काय को, अमुचओ—न छोडते हुए, तेऊण तेजस्कायिक जीवो की, कायठिई—कायस्थिति, उक्कोसा—उत्कृष्ट, असखकाल—

असख्यात काल की है (और), जहन्निया—जघन्य (कायस्थिति), अतोमुहुत्त—अ त-मुंहूर्त की (होती है) ॥११४॥

सए काए—स्वकाय (तेजस्काय) को, विजढम्मि—छोडने पर (से लेकर बीच मे अन्य कायो मे उत्पन्न होकर पुन स्वकाय मे आने तक का) तेऊजीवाण अतर—तेजस्कायिक जीवो का अन्तर, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त का (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्त काल का (होता है।) ॥११५॥

एएसि—इन (तेजस्कायिको) के, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—ग ध से, चेव—और, रस-फासओ—रस तथा स्पर्श से, वा—अथवा, सठाणादेसओ—सस्थान के आदेश (अपेक्षा) से, वि—भी, सहस्ससो विहाणाइं—हजारो भेद (हो जाते) हैं ॥११६॥

विशेषार्थ—तेजस्काय के प्रकार—तेजस्कायिक जीव मुख्यत दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और बादर। फिर इन दोनो के पर्याप्त, अपर्याप्त के भेद से दो-दो और भेद हैं। इस भाँति अग्निकाय के प्रमुख भेद कुल ६ हुए।

बादर पर्याप्त अग्निकाय के यहाँ ८ भेदो का उल्लेख किया गया है, परन्तु प्रज्ञापनासूत्र मे इनके अतिरिक्त अलात (मशाल), अशनि (वज्रपात) निर्घात, सघर्ष-समुत्थित एव सूर्यकान्त-मणि-नि सृत अग्नि को भी तेजस्काय मे गिनाया गया है।[1]

शेष सब वर्णन प्राय पूर्ववत् सुगम है।

वायुकाय का निरूपण—

मूल—दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥११७॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, पचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मडलिया, घणगुंजा सुद्धवाया य ॥११८॥

सवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥११९॥

सुहुमा सव्वलोगम्मि, एगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभाग तु, तेसिं वुच्छ चउव्विह ॥१२०॥

---

१ (क) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज) भा ३, पृ ४५७
(ख) प्रज्ञापना पद १ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. ४५

सतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१२१॥

तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई वाऊण, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥१२२॥

असंखकालमुक्कोसं, अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई वाऊणं तं कायं तु अमुंचओ ॥१२३॥

अणंतकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए वाउ-जीवाण अन्तरं ॥१२४॥

एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥१२५॥

पद्यानु०—हैं वायुकाय के द्विविध जीव, बादर और सूक्ष्मकायधारी।
अपर्याप्त-पर्याप्त भेद, इनके फिर होते प्रियकारी ॥११७॥

बादर पर्याप्त वायुकायिक के, पाँच भेद बतलाये है।
उत्कालिक मण्डलिक शुद्धवायु, घन-गु ज-वात कहलाये हैं॥११८॥

संवर्तकवायु पाचवाँ है, ऐसे ही भेद अनेक कहे।
हैं सूक्ष्म एकविध, भेद नही, सब जग मे ये हैं फैल रहे ॥११९॥

सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त सूक्ष्म, सर्वत्र नही बादर होते।
अब कालविभाग चतुर्विध उनका, कहूँ सूत्र जो बतलाते ॥१२०॥

सन्तति की दृष्ट्या वे प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर सब, साद्यन्तकाल कहलाते हैं ॥१२१॥

वायुकाय के जीवो की, त्रिसहस्र वर्ष की स्थिति होती।
उत्कृष्ट और है न्यून स्थिति, भीतर मुहूर्त्त के रह जाती ॥१२२॥

असख्यकाल-परिमित वायु की, परम कायस्थिति होती है।
वायुकाय के बिन त्यागे, स्थिति न्यून मुहूर्त्त कम होती है ॥१२३॥

अनन्तकाल अन्तर होता, उत्कृष्ट न्यून घटिकार्ध जान।
तब स्वीयकाय फिर पाने मे, अन्तर वाय्विक का इसे मान ॥१२४॥

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, सस्थान भाव से जो होते।
वायुकायिक उन जीवो के, हैं भेद सहस्रो हो जाते ॥१२५॥

अन्वयार्थ—वाउजीवा उ—वायुकायिक जीव, दुविहा—दो प्रकार के हैं। (यथा), सुहुमा—सूक्ष्म, तहा—तथा, बायरा—बादर, एवमेव—इस प्रकार (इन दोनो के), पुणो—फिर, दुहा—दो-दो प्रकार हैं (यथा—) पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त ॥११७॥

जे—जो, बायरा पज्जत्ता उ—बादर पर्याप्त वायुकायिक है, ते—वे, पचहा—पाँच प्रकार के, पकित्तिया—कहे गए है (यथा—), उक्कलिया—उत्कलिकावात, मडलिया—मण्डलिकावात, घन-गु जा—घनवात, गु जावात, य—और, सुद्धवाया—शुद्धवात ॥११८॥

य—तथा, सवट्टगवाया—सवर्त्तकवात, एवमायओ—इत्यादि, णेगहा—अनेक प्रकार के (बादर पर्याप्त वायुकाय है।)

तत्थ—इन (दोनो प्रकार की वायु) मे, सुहुमा—सूक्ष्मकायिक जीव, अणाणत्ता—अनानात्व अर्थात् नाना प्रकार के भेदो से रहित, (केवल), एगविहू—एक ही प्रकार के, वियाहिया—कहे गए है ॥११९॥

सुहुमा—सूक्ष्म (वायुकायिक जीव), सव्वलोगम्मि—सर्वलोक मे, य—तथा, बायरा—बादर (वायुकायिक), एगदेसे—लोक के एक देश मे (व्याप्त है।) इत्तो तु—अब इसके पश्चात्, तेसिं—उन (वायुकायिक जीवो) के, कालविभाग—कालविभाग का, वुच्छ—कथन करू गा ॥१२०॥

सतइ पप्प—प्रवाह की अपेक्षा (वायुकायिक जीव), अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त भी है, य—तथा, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, (वे) साईया सपज्जवसिया वि—सादि-सान्त भी है॥१२१॥

वाऊण—वायुकायिक जीवो की, आउठिई—आयुस्थिति, उक्कोसिया—उत्कृष्टत, वासाण तिण्णेव सहस्साइ—तीन हजार वर्ष की, तथा (उनकी) जहन्निया—जघन्य (आयुस्थिति), अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, भवे—होती है ॥१२२॥

त काय तु—उस काय (वायुकाय) को, अमु चओ—न छोडते हुए, वाऊण वायुकाय के जीवो की, कायट्ठिई—कायस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट, असखकाल—असख्यातकाल की (होती है।) ॥१२३॥

सए काए—स्वकाय (वायुकाय) के, विजढम्मि—छोडने पर (पुन वायुकाय मे आने का), वाउजीवाण अतर—वायुकाय के जीवो का अन्तर काल, जहन्नय अतोमुहुत्त—जघन्य अन्तर्मुहूर्त (और), उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का (होता है) ॥१२४॥

एएसिं—इन (वायुकायिक जीवों) के, वण्णओ—वर्ण से, गन्धओ—गन्ध से, चेव—और, रस-फासओ—रस एवं स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, संठाणा-देसओ वि—संस्थान के आदेश (अपेक्षा) से भी, सहस्ससो विहाणाइं—हजारों भेद (होते हैं।) ॥१२५॥

विशेषार्थ—बादर-पर्याप्त वायुकाय के प्रकार और विशेषार्थ—इसके ५ भेद तथा उपलक्षण से संवर्तक वायु आदि अनेक भेद द्योतित होते हैं। उनके विशेषार्थ इस प्रकार हैं—(१) उत्कलिका वायु—जो ठहर-ठहर कर चले या जो घूमता हुआ ऊँचा जाए, (२) मण्डलिका वायु—धूल आदि के गोटे सहित गोलाकार घूमने वाला अथवा पृथ्वी में लगकर चक्कर खाता हुआ चलने वाला पवन, (३) घनवात—घनोदधिवात, जो रत्नप्रभा आदि नरक-पृथ्वियों के नीचे (अधोवर्ती) बहता है, अथवा विमानों के नीचे की घन-रूप वायु, (४) गुंजावायु—गूंजती हुई चलने वाली हवा। (५) शुद्ध वायु—उक्त दोषों से रहित मन्द-मन्द चलने वाली हवा। (६) संवर्तक वायु—जो तृण आदि को उडाकर अन्यत्र ले जाए। इनके अतिरिक्त प्रज्ञापना आदि में १९ प्रकार के वात बताए हैं। छह तो ये ही हैं, शेष वायु में चार दिशाओं के, चार विदिशाओं के, वातोद्भ्राम वातोत्कलिका, वातमण्डली, झंझावात, तनुवात इस प्रकार ६+१३=१९ भेद होते हैं।[1]

उदार त्रस-काय-निरूपण—

मूल—उराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया।
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥१२६॥

पद्यानु०—ऐसे उदार जो त्रस प्राणी, वे चार प्रकार कहे जाते।
द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय अन्तिम कहलाते ॥१२६॥

अन्वयार्थ—जे उ—और जो, उराला तसा—उदार त्रस हैं, ते—वे, चउहा चार प्रकार के, पकित्तिया—कहे गए हैं (यथा—) बेइंदिया—द्वीन्द्रिय, तेइंदिया—त्रीन्द्रिय, चउरिंदिया—चतुरिन्द्रिय, चेव—और, पंचिंदिया—पञ्चेन्द्रिय जीव ॥१२६॥

---

१ (क) उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भाग ३, पृ ४६२
(ख) उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका भा ४, पृ ८६०—८६१
(ग) प्रज्ञापना पद १
(घ) वाउब्भामो उक्कलि-मंडलि-गुंजा महाघणु-तणु य।
ते जाण वाउजीवा, जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥—मूलाराधना गा० २१२

विशेषार्थ—उदार त्रस स्वरूप और प्रकार—उदार प्रधान अथवा स्थूल को कहते है। उदार त्रस क्रमश दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियो वाले जीवो का नाम है। यद्यपि त्रसकाय मे अग्निकाय और वायुकाय का भी ग्रहण किया गया है, परन्तु वे एकेन्द्रिय जीव होने के कारण अप्रधान कहलाते हैं, जबकि द्वीन्द्रियादि जीव प्रधान त्रस हैं। वे स्थूल भी है, क्योकि वे सामान्य जन के द्वारा मान्य एव प्रत्यक्ष है।

यद्यपि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक मे भाव-इन्द्रियाँ पाँचो विद्यमान हैं, तथापि जिन जीवो की निवृत्तिरूप और उपकरणरूप जितनी द्रव्येन्द्रियाँ प्रकट हैं, उतनी इन्द्रियो की अपेक्षा से उनकी 'सज्ञा' निर्धारित की गई है। यथा—द्वीन्द्रिय मे स्पर्श और रसना ये दो ही द्रव्येन्द्रियाँ है, त्रीन्द्रिय मे स्पर्श, रसना, और नासिका, ये तीन इन्द्रियाँ हैं, चतुरिन्द्रिय मे स्पर्श, रसना, नासिका और चक्षु, ये चार इन्द्रियाँ हैं एव पचेन्द्रिय मे स्पर्श, रसना, नासिका, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँचो इन्द्रियाँ है। अतएव उनकी क्रमश द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय सज्ञा है।[1]

द्वीन्द्रिय त्रस-निरूपण—

मूल—बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१२७॥
किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया, सखा सखणगा तहा ॥१२८॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा।
जलूगा जालगा चेव, चदणा य तहेव य ॥१२९॥
इइ बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१३०॥
सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१३१॥
वासाइ बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया।
बेइदिय-आउठिई, अतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१३२॥
सखिज्जकालमुक्कोसा, अतोमुहुत्त जहन्निया।
बेइदिय-कायठिई, त काय तु अमु चओ ॥१३३॥
अणतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्त जहन्नय।
बेइदिय-जीवाण, अतर च वियाहिय ॥१३४॥

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर), भा १, पत्र ३५२
(ख) उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४६७

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१३५॥

पद्यानु०—दो-इन्द्रिय जो जीव जगत् मे, भेद-युगल कहलाते हैं।
अपर्याप्त पर्याप्त और, उनके हम भेद सुनाते है ॥१२७॥
कृमि सौमगल और अलस, ऐसे ही मातृवाहक होते।
वासीमुख शुक्ति शम्ब जगत् मे, शखानक, भेद विविध होते ॥१२८॥
पल्लक अणुपल्लक तथा यहाँ, जो प्राप्त वराटक होते है।
जालक जलौक और चन्दनियाँ, के रूप जीव कई होते हैं ॥१२९॥
इस तरह अनेको भेद यहाँ, द्वीन्द्रिय प्राणी के होते हैं।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही, ये एक भाग मे होते है ॥१३०॥
सन्तति-दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं।
स्थिति को लेकर वे ऐसे ही, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥१३१॥
बारह वर्षों की उत्कृष्ट स्थिति, बतलाई द्वीन्द्रिय प्राणी की।
अन्तर्मुहूर्त का न्यून काल, बिन त्यागे होती उस भव की ॥१३२॥
सख्येयकाल है परम स्थिति, अतिन्यून मुहूर्त्त के भीतर की।
बिन त्यागे बेइन्द्रिय भव को, कायस्थिति द्वीन्द्रिय-जीवो की ॥१३३॥
अनन्तकाल अन्तर होता, अन्तर्मुहूर्त्त अतिन्यून कहा।
बेइन्द्रिय जीवो का इतना, परकाय भ्रमण का काल रहा ॥१३४॥
वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और, सस्थानभाव से कहलाते।
बेइन्द्रिय जीवो के जग मे, यो भेद सहस्रो हो जाते ॥१३५॥

अन्वयार्थ—जे उ—जो, बेइंदिया जीवा—द्वीन्द्रिय जीव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, पकित्तिया—कहे गए हैं। (यथा—), पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त। तेसिं—उन (द्वीन्द्रिय जीवो) के, भेए—भेदो का वर्णन, मे सुणेह—मुझसे सुनो ॥१२७॥

किमिणो—कृमि, सोमंगला—सौमगल, अलसा—अलसिया, चेव—
माइवाहया—मातृ-वाहक, वासीमुहा—वासीमुख, सिप्पीया—सीप, सखा—
और, सखणगा—शखनक, तहा—तथा, पल्लोया—पल्लक, अणुल्लया—
चेव—और, वराडगा—वराटक, (कौडी) तहेव—उसी प्रकार, जलूगा—
जौक, जालगा—जालक, तहेव य—तथैव, चदणा—चन्दन
प्रकार इत्यादि, णेगहा—अनेक प्रकार के, एए—ये,.

ते सव्वे—वे सब, लोगेगदेसे—लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, न सव्वत्थ—सर्वत्र (सम्पूर्ण लोक में) नहीं, (ऐसा भगवान् ने) वियाहिया—निरूपण किया है। ॥१२८-१३०॥

संतइं पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, (द्वीन्द्रिय जीव) अणाईया अपज्जवसिया वि य—अनादि और अनन्त भी हैं। (तथा), ठिइं पडुच्च—स्थिति को लेकर (वे) साईया सपज्जवसिया वि य—सादि-सान्त भी हैं ॥१३१॥

बेइंदिय-आउठिई—द्वीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, चेव—तथा, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, बारसा वासाइं—बारह वर्षों की, वियाहिया—कही गई है ॥१३२॥

तं कायं तु—उस काय (द्वीन्द्रिय काय) को, अमुंचओ—नहीं छोड़कर, बेइंदिय-काय-ठिई—(द्वीन्द्रियकाय में ही स्थिति करे—जन्म-मरण करे तो) उसकी कायस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्तं—अन्तर्मुहूर्त की, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट, संखिज्जकालं—संख्यातकाल की है ॥१३३॥

बेइंदिय-जीवाण—द्वीन्द्रिय जीवों का अंतरं—अंतर, जहन्नयं—जघन्य, अंतोमुहुत्तं—अंतर्मुहूर्त्त का, च—और, उक्कोसं—उत्कृष्ट, अणंतकालं—अनंतकाल का, वियाहियं—कहा गया है ॥१३४॥

एएसिं—इन (द्वीन्द्रिय जीवों) में, वण्णओ—वर्ण से, गंधओ—गंध से, चेव—और, रस-फासओ—रस और स्पर्श से, वा—अथवा, संठाणादेसओ वि—संस्थान के आदेश (अपेक्षा) से, सहस्ससो—हजारों, विहाणाइं—भेद (हो जाते हैं) ॥ १३५ ॥

विशेषार्थ—कृमि–विष्ठा आदि अपवित्र स्थानों में उत्पन्न होने वाले जीव, सोमंगल—इसी नाम का द्वीन्द्रिय जीव, अलस-अलसिया, (गिंडोला), अथवा केंचुआ, मातृवाहक—काष्ठभक्षण करने वाला जीव=घुण, वासीमुख—वसूले की-सी मुख की आकृति वाले द्वीन्द्रिय जीव, शंखनक-छोटे छोटे शंख (शंखोलिया), (या घोंघे), वराटक—कौड़ी, जलोय—जौंक, पल्लोय—काष्ठभक्षण करने वाले जीव, अणुल्लक—छोटे पल्लक, जालक-जालक जाति के जीवविशेष, चन्दनक—अक्ष (चांदलिये)।[1]

त्रीन्द्रियत्रस का निरूपण—

मूल—तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१३६॥

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३५२
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ८६६-८६७

एएसिं वण्णओ चेव, गन्धओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१३५॥

पद्यानु०—दो-इन्द्रिय जो जीव जगत् मे, भेद-युगल कहलाते हैं।
अपर्याप्त पर्याप्त और, उनके हम भेद सुनाते है ॥१२७॥

कृमि सौमगल और अलस, ऐसे ही मातृवाहक होते।
वासीमुख शुक्ति शख जगत् मे, शखानक, भेद विविध होते ॥१२८॥

पल्लक अणुपल्लक तथा यहाँ, जो प्राप्त वराटक होते हैं।
जालक जलौक और चन्दनियाँ, के रूप जीव कई होते हैं ॥१२९॥

इस तरह अनेको भेद यहाँ, द्वीन्द्रिय प्राणी के होते हैं।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही, ये एक भाग मे होते है ॥१३०॥

सन्तति-दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं।
स्थिति को लेकर वे ऐसे ही, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥१३१॥

बारह वर्षों की उत्कृष्ट स्थिति, बतलाई द्वीन्द्रिय प्राणी की।
अन्तर्मुहूर्त्त का न्यून काल, बिन त्यागे होती उस भव की ॥१३२॥

सख्येयकाल है परम स्थिति, अतिन्यून मुहूर्त्त के भीतर की।
बिन त्यागे बेइन्द्रिय भव को, कायस्थिति द्वीन्द्रिय-जीवो की ॥१३३॥

अनन्तकाल अन्तर होता, अन्तर्मुहूर्त्त अतिन्यून कहा।
बेइन्द्रिय जीवो का इतना, परकाय भ्रमण का काल रहा ॥१३४॥

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और, सस्थानभाव से कहलाते।
बेइन्द्रिय जीवो के जग मे, यो भेद सहस्रो हो जाते ॥१३५॥

अन्वयार्थ—जे उ—जो, बेइन्दिया जीवा—द्वीन्द्रिय जीव है, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, पकित्तिया—कहे गए हैं। (यथा—), पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त। तेसिं—उन (द्वीन्द्रिय जीवो) के, भेए—भेदो का वर्णन, मे सुणेह—मुझसे सुनो ॥१२७॥

किमिणो—कृमि, सोमगला—सौमगल, अलसा—अलसिया, चेव—और, माइवाहया—मातृ-वाहक, वासीमुहा—वासीमुख, सिप्पीया—सीप, सखा—शख, य—और, सखणगा—शखनक, तहा—तथा, पल्लोया—पल्लक, अणुल्लया—अणुल्लक, चेव—और, वराडगा—वराटक, (कौडी) तहेव—उसी प्रकार, जलूगा—जलौका—जौंक, जालगा—जालक, तहेव य—तथैव, चदणा—चन्दनक, इइ एवमायओ—इस प्रकार इत्यादि, णेगहा—अनेक प्रकार के, एए—ये, बेइन्दिया—द्वीन्द्रिय जीव हैं,

ते सव्वे—वे सब, लोगेगदेसे—लोक के एक भाग मे व्याप्त है, न सव्वत्थ—सर्वत्र (सम्पूर्ण लोक मे) नही, (ऐसा भगवान् ने) वियाहिया—निरूपण किया है। ॥१२८-१३०॥

सतइ पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, (द्वीन्द्रिय जीव) अणाईया अपज्जवसिया वि य—अनादि और अनन्त भी हैं। (तथा), ठिइ पडुच्च—स्थिति को लेकर (वे) साईया सपज्जवसिया वि य—सादि-सान्त भी हैं ॥१३१॥

बेइन्दिय-आउठिई—द्वीन्द्रिय जीवो की आयुस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की, चेव—तथा, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, बारसा वासाइ—बारह वर्षों की, वियाहिया—कही गई है ॥१३२॥

त काय तु—उस काय (द्वीन्द्रिय काय) को, अमुचओ—नही छोडकर, बेइन्दिय-काय-ठिई—(द्वीन्द्रियकाय मे ही स्थिति करे—जन्म-मरण करे तो) उसकी कायस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तमुहूर्त्त की, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट, सखिज्जकाल—सख्यातकाल की है ॥१३३॥

बेइन्दिय-जीवाण—द्वीन्द्रिय जीवो का, अतर—अतर, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अतर्मुहूर्त्त का, च—और, उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनतकाल का, वियाहिय—कहा गया है ॥१३४॥

एएसि—इन (द्वीन्द्रिय जीवो) मे, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गध से, चेव—और, रस-फासओ—रस और स्पर्श से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान के आदेश (अपेक्षा) से, सहस्ससो—हजारो, विहाणाइ—भेद (हो जाते हैं) ॥ १३५ ॥

विशेषार्थ—कृमि–विष्ठा आदि अपवित्र स्थानो मे उत्पन्न होने वाले जीव, सोमगल—इसी नाम का द्वीन्द्रिय जीव, अलस-अलसिया, (गिंडोला), अथवा केंचुआ, मातृवाहक—काष्ठभक्षण करने वाला जीव=घुण, वासीमुख—वसूले की-सी मुख की आकृति वाले द्वीन्द्रिय जीव, शखनक-छोटे छोटे शख (शखोलिया), (या घोंघे), वराटक—कौडी, जलौय—जौंक, पल्लोय—काष्ठभक्षण करने वाले जीव, अणुल्लक—छोटे पल्लक, जालक-जालक जाति के जीवविशेष, चन्दनक—अक्ष (चादनिये)।[1]

त्रीन्द्रियत्रस का निरूपण—

मूल—तेइन्दिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेंसि भेए सुणेह मे ॥१३६॥

---

१ (क) उत्तरा (गुजराती भाषान्तर) भा २, पत्र ३५२
(ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ८६६-८६७

कुंथु-पिवीलि-उड्डसा, उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारा कट्ठहारा य, मालूगा पत्तहारगा ॥१३७॥

कप्पासट्ठिम्मिजाया, तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इन्दगाइया ॥१३८॥

इन्दगोवगमाईया, णेगविहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥१३९॥

संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१४०॥

एगूणपण्णऽहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया।
तेइन्दिय-आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१४१॥

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
तेइंदिय-कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१४२॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइंदिय-जीवाणं, अंतरं तु वियाहियं ॥१४३॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१४४॥

पद्यानु०—त्रीन्द्रिय जीव भी जो होते, वे द्विविध शास्त्र मे बतलाये।
अपर्याप्त-पर्याप्त-भेद को, सुनो शास्त्र मे यो गाये ॥१३६॥
कुंथु पिपीलिका या खटमल, मकडी दीमक और तृणखादक।
काष्ठाहार तथा मालुक, यो त्रीन्द्रिय जान पत्र-भक्षक ॥१३७॥
कार्पास अस्थि-उत्पन्न जीव, तिन्दुक, त्रपुष मिंजक जानो।
शतावरी और इन्द्रकाय, ऐसे ही कानखजूर मानो ॥१३८॥
इन्द्रगोप आदिक अनेक हैं, भेद त्रि-इन्द्रिय प्राणी के।
सम्पूर्ण लोक मे नही रहे, वे एक भाग मे त्रिभुवन के ॥१३९॥
सन्तति की दृष्ट्या ये प्राणी, आद्यन्तरहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥१४०॥
उनचास-परिमित अहोरात्र, उत्कृष्ट मान है आयु का।
त्रि-इन्द्रिय जीवो का जघन्य, अन्तर्मुहूर्त आयु भव का ॥१४१॥

संख्येयकाल उत्कृष्ट स्थिति, है न्यून मुहूर्त के भीतर की।
बिन त्यागे त्रीन्द्रिय-जीवन को, है काय-स्थिति उन जीवों की ॥१४२॥

अनन्त काल अन्तर होता, उत्कृष्ट, न्यून घटिकार्ध मान।
निज कायत्याग त्रि-इन्द्रिय का, इतना है अन्तरकाल जान ॥१४३॥

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श और, संस्थान भाव से जो होते।
त्रि-इन्द्रिय जीवों के ऐसे, ये भेद सहस्रों हो जाते ॥१४४॥

अन्वयार्थ—जे उ—जो, तेइन्दिया जीवा—त्रीन्द्रिय जीव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, पकित्तिया—कहे गये हैं। (यथा) पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त, तेसिं—उनके, भेए—भेदों का वर्णन, मे सुणेह—मुझसे सुनो ॥१३६॥

कुन्थु—कुन्थुआ, पिवीलि—पिपीलिका=चींटी, उड्डसा—उद्दंश=खटमल उक्कल—मकड़ी, उद्देहिया—उदई=दीमक, तणहारा—तृणहारक, कट्ठहारा—काष्ठहारक (घुन), मालुगा—मालुक, तहा—तथा, पत्तहारगा—पत्राहारक, कप्पासट्ठिम्मिजाया—कपास और उसकी अस्थि (कपासिय-करकडो) मे उत्पन्न होने वाले जीव, तिंदुगा—तिन्दुक, तउस-मिंजगा—त्रपुष-मिंजक, सयावरी—शतावरी, य—और, गुम्मी—गुल्मी (कानखजूरा), य—तथा, इन्दकाइया—इन्द्रकायिक (षट्पदी या जू), (ये सब त्रीन्द्रिय) बोधव्वा—समझने चाहिए ॥१३७-१३८॥

(तथा) इन्दगोवग—इन्द्रगोपक (वीरबहूटी), आइया—इत्यादि, एवमायओ—और ऐसे ही (अन्य) (त्रीन्द्रिय जीव), णेगहा—अनेक प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं। ते सव्वे—वे सब, लोएगदेसे—लोक के एक भाग (देश) मे (व्याप्त) हैं, न सव्वत्थ—सर्वत्र (समग्र लोक मे) नही ॥१३९॥

संतइं पप्प—सन्तति=प्रवाह की अपेक्षा से, (त्रीन्द्रिय जीव) अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया—अनन्त हैं, वि—किन्तु, ठिइं पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, (वे) साईया—सादि, य—तथा, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं ॥१४०॥

तेइन्दिय-आउठिई—त्रीन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति, उक्कोसेण—उत्कृष्टतः, एगूणपण्ण-अहोरत्ता—उनचास अहोरात्र की (और) जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, वियाहिया—कही गई है ॥१४१॥

तं कायं तु—उस काय (त्रीन्द्रिय-काय) को, अमुंचओ—न छोड़ कर, तेइन्दिय-कायठिई—(लगातार त्रीन्द्रिय मे उत्पन्न होने का काल) काय-स्थिति, जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, (और) उक्कोसा—उत्कृष्ट, संखिज्जकाल—संख्यातकाल की है ॥१४२॥

तेइंदिय-जीवाण—त्रीन्द्रिय जीवो का, अंतर—(त्रीन्द्रिय जीव योनि को छोडने के बाद पुन त्रीन्द्रिय काय मे उत्पन्न होने का) अन्तर, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त का (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, अणनकाल—अनन्तकाल (तक) का, वियाहिय—कहा गया है ॥१४३॥

एएसि—इन (त्रीन्द्रिय जीवो) के, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गन्ध से, चेव—और, रस-फासओ—रस और स्पर्श से, वा—अथवा, सठाणदेसओ वि—सस्थाना-देश (सस्थान की अपेक्षा) से भी, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद होते है ।

विशेषार्थ—कुथु—अत्यन्त सूक्ष्म जीव, जो चलता-फिरता ही नजर आता है । मालुका, तिन्दुक, त्रपुर्मिजक आदि शब्द अप्रसिद्ध हैं ।[1]

कप्पासऽट्ठिम्मिजाया—इसका अर्थ तो अन्वयार्थ मे दे दिया है । परन्तु अन्य प्रतियो मे इसका पाठान्तर पाया जाता है—कप्पासट्ठिमिजाय इसका अर्थ है—कपास के कपासियो (बिनौलो) मे अथवा कपास के बीजो में उत्पन्न होने वाला जीव ।[2]

चतुरिन्द्रिय त्रस-वर्णन—

मूल—चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे ॥१४५॥

अन्धिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीड-पयगे य, ढिकुणे कुकुणे तहा ॥१४६॥

कुक्कुडे सिगरीडी य, नन्दावत्ते य विछिए ।
डोले भिगरीडी य, विरली अच्छिवेहए ॥१४७॥

अच्छिले माहए अच्छि, (रोडए) विचित्ते चित्तपत्तए ।
ओहिजलिया जलकारी य, नीयया तंबगाइया[3] ॥१४८॥

इइ चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥१४९॥

सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१५०॥

---

१ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ४७४
२ (क) उत्तरा० (वही) भा० २, पृ० ३६५
(ख) उत्तरा० (गुजराती भाषान्तर) भा० २ पत्र ३५३
३ पाठान्तर—ततवगाविया, अर्थात्—ततवक

छच्चेव य मासा उ, उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिन्दिय आउठिई, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥१५१॥
संखिज्जकालमुक्कोसं, अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
चउरिंदिय-कायठिई, त काय तु अमु चओ ॥१५२॥
अणन्तकालमुक्कोस, अन्तोमुहुत्तं जहन्नय।
विजढम्मि सए काए, अन्तर च वियाहिय ॥१५३॥
एएसि वण्णओ चेव, गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वा वि, विहाणाइ सहस्ससो ॥१५४॥

पद्यानु०—चतुरिन्द्रिय जो जीव जगत् के, युगल भेद बतलाए है।
अपर्याप्त पर्याप्त सुनो, कथा भेद शास्त्र मे गाए हैं ॥१४५॥
अन्धिका पोतिका और मक्षिका, मशक दश भी कहलाते।
भ्रमर पतगा और कीट, ढिकुण कुकण यो बतलाते ॥१४६॥
कुक्कुट सिगरिढी नन्द्यावर्त्त, वृश्चिक भृगारी डोल तथा।
विरली चतुरिन्द्रिय अक्षिवेध, होती विकलेन्द्रिय जीव-कथा॥१४७॥
अक्षिल मागध और अक्षिरोड, हैं चित्र-विचित्र पखो वाले।
ओहिअलिया जलकारी यो, नीचक तम्बकायिक पाले ॥१४८॥
ऐसे चतुरिन्द्रिय जीव अनेको, भेद जगत् मे होते हैं।
लोकैकभाग मे वे प्राणी, होते यो शास्त्र सुनाते हैं ॥१४९॥
सतति की दृष्टया वे प्राणी, आद्यन्तरहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥१५०॥
छह मास काल की बतलाई, उत्कृष्ट आयु इन जीवो की।
अन्तर्मुहूर्त्त की न्यून आयु, चतुरिन्द्रिय जाति वालो की ॥१५१॥
उस काय को बिना छोडे, अतिन्यून मुहूर्त्त के भीतर की।
चतुरिन्द्रिय भव को बिन त्यागे, कायस्थिति है इन जीवो की॥१५२॥
उत्कृष्ट अनन्तकाल होता, अन्तर्मुहूर्त्त कम होता है।
चतुरिन्द्रिय तन फिर पाने मे, अन्तर इतना हो जाता है ॥१५३॥
वर्ण-गन्ध रस-स्पर्श और, सस्थान भाव से जो होते।
चतुरिन्द्रिय जीवो के ऐसे, ये भेद सहस्रो हो जाते ॥१५४॥

अन्वयार्थ—जे—जो, चउरिंदिया जीवा उ—चतुरिन्द्रिय जीव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं। (यथा—) पज्जत्तमपज्जत्ता—पर्याप्त और अपर्याप्त, तेसिं—उनके, भेए—भेद, मे सुणेह—मुझसे सुनो ॥१४५॥

अंधिया—अन्धिका, पोत्तिया—पोतिका, चेव—और, मच्छिया—मक्षिका—मक्खी, मसगा—मशक-मच्छर, तहा—तथा, भमरे—भ्रमर, कीड-पयगे य—

कीट (टीड, टिड्डी और पतंगे), ढिंकुणे—ढिंकुण (पिस्सू), तहा—तथा, कुकुणे—कुकुण, कुक्कुडे—कुक्कुड, सिंगरीडी—भृंगरीटी, नंदावत्ते—नन्दावर्त्त, य—और, विंछिए=वृश्चिक (बिच्छू), डोले—चोल, भिंगरीडी—भृंगरीटक (झिंगुर या भ्रमरी), विरली—विरली, अच्छिवेहए—अक्षिवेधक, अच्छिले—अक्षिल, माहए—मागध, अच्छिरोडए—अक्षिरोडक, विचित्ते—विचित्र, चित्तपत्तए--चित्रपत्रक, ओहिंजलिया—ओहिंजलिया, य—और, जलकारी—जलकारी, नीयया—नीचक तंबगाइया—ताम्रक या तम्बकायिक, एवमायओ—इत्यादि, इइ—इस प्रकार, एए—ये सब, णेगहा—अनेक प्रकार के, चउरिंदिया—चतुरिन्द्रिय जीव, परिकित्तिया—कहे गए हैं। ते सव्वे—वे सब, लोगस्स—लोक के, एगदेसम्मि—एक देश में (स्थित हैं।) ॥१४६ से १४९॥

संतइं पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से (चतुरिन्द्रिय जीव), अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त हैं (तथा) ठिइं पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से (वे), साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं ॥१५०॥

चउरिंदिय-आउठिई—चतुरिन्द्रिय जीवों की आयु-स्थिति, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, छच्चेव मासा—छही महीनों की, उ—किन्तु, जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की, वियाहिया—कही गई है ॥१५१॥

तं कायं तु अमुंचओ—उस (चतुरिन्द्रिय) काय को न छोड़े तब तक, चउरिंदिय-कायठिई—चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति, जहन्नय—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की (और), उक्कोस—उत्कृष्ट, संखिज्जकाल—संख्यातकाल की (होती है।) ॥१५२॥

सए काए विजढम्मि—स्वकाय (चतुरिन्द्रिय काय) के छोड़ने पर, (चतुरिन्द्रिय काय को पुनः प्राप्त करने में काल का), अंतर—अन्तर, जहन्नय—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त का, च—और, उक्कोस—उत्कृष्ट, अणंतकाल—अनन्तकाल का, वियाहियं—कहा गया है ॥१५३॥

एएसिं—इन (चतुरिन्द्रिय जीवों) के, वण्णओ—वर्ण से, गंधओ चेव—गन्ध से और, रस-फासओ—रस और स्पर्श से, वा—अथवा, संठाणादेसओ वि—संस्थान के आदेश (अपेक्षा) से भी, सहस्ससो विहाणाइं—हजारों भेद (होते हैं) ॥१५४॥

विशेषार्थ—चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध नाम—चतुरिन्द्रिय जीवों के यहाँ उल्लिखित नामों में से मक्खी, मच्छर, भ्रमर, झिंगुर, टीड, पतंगा, बिच्छू, ढिंकुण आदि कई नाम तो प्रसिद्ध हैं, शेष नाम अप्रसिद्ध हैं। कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु का देशभेद से भिन्न-भिन्न नाम सुनने में आता है। यहाँ भी चतुरिन्द्रिय के जो अप्रसिद्ध नाम गिनाए हैं, वे भिन्न-भिन्न देशों में

प्रसिद्ध हैं। विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न गीतार्थ गुरुओं के चरणों में जाकर ही उनके विशिष्ट अर्थों का परिज्ञान किया जा सकता है।[1]

पंचेन्द्रिय त्रस जीवों का निरूपण—

मूल—पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥१५५॥

पद्यानु०—पंचेन्द्रिय जो जीव जगत् में, चार भेद बतलाये हैं।
नारक तिर्यक् और मनुज देव, ये चार प्रकार कहाए हैं ॥१५५॥

अन्वयार्थ—जे उ—जो, पंचिंदिया जीवा—पंचेन्द्रिय जीव हैं, ते—वे, चउव्विहा—चार प्रकार के, वियाहिया—कहे गये हैं। (यथा) (वे), नेरइया—नैरयिक, य—और, तिरिक्खा—तिर्यञ्च, मणुया—मनुष्य, य—तथा, देवा—देव, आहिया—कहे गए हैं ॥१५५॥

विशेषार्थ—पंचेन्द्रिय जीवों का जन्म एवं निवास-क्षेत्र—पंचेन्द्रिय जीवों के चार प्रकार का कारण उन जीवों के उच्च-नीच कर्म ही हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में नारकों का जन्म एवं निवास क्षेत्र अधोलोक-स्थित सात नरक पृथ्वियों में, मनुष्यों का मध्य (तिर्यग्) लोक में, तिर्यञ्चों का प्रायः तिर्यग्लोक में और वैमानिक देवों का ऊर्ध्वलोक में, ज्योतिष्क देवों का मध्य लोक के अन्त तक तथा भवनपति एवं व्यन्तर देवों का प्रायः तिर्यग्लोक में एवं अधोलोक के प्रारम्भ में होता है।[2]

नारक जीवों का वर्णन—

मूल—नेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसु भवे[3]।
रयणाभ-सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१५६॥

---

१ उत्तरा. (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा० ३, पृ० ४७८

२ उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका भा. ४, पृ. ८७५

३ अधिक पाठ—दीपिका वृत्तिकार ने इस गाथा के उत्तरार्द्ध में और उससे आगे निम्नलिखित गाथाएँ उद्धृत की हैं—

पज्जत्तमपज्जत्ता य, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१॥
घम्मा वंसा सेला तहा अंजण-रिट्ठगा।
मघा माघवई चेव, नारइयाय पुणो भवे ॥२॥
रयणाइ गुत्तओ चेव, तहा चम्माइणायओ।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥३॥

पकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥१५७॥

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया।
इत्तो कालविभाग तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहा ॥१५८॥

सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१५९॥

सागरोवममेग तु, उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेण, दसवास-सहस्सिया ॥१६०॥

तिण्णेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
दोच्चाए जहन्नेण, एग तु सागरोवम ॥१६१॥

सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
तइयाए जहन्नेण, तिण्णेव सागरोवमा ॥१६२॥

दस-सागरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
चउत्थीए जहन्नेण, सत्तेव सागरोवमा ॥१६३॥

सत्तरस-सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
पचमाए जहन्नेण, दस चेव सागरोवमा ॥१६४॥

बावीस-सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए जहन्नेण, सत्तरस-सागरोवमा ॥१६५॥

तेत्तीस-सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥१६६॥

जा चेव उ आउठिई, नेरइयाण वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥१६७॥

अणतकालमुक्कोस, अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
विजढम्मि सए काए, नेरइयाण तु अतर ॥१६८॥

एएसिं वण्णओ चेव, गधओ रस- फासओ।
सठाणादेसओ वावि, विहाणाइ सहस्ससो ॥१६९॥

पद्यानु०—हैं नैरयिको के सात भेद, सातो पृथ्वी मे होते हैं।
रत्न, शर्करा तथा बालुका, ये प्रभाभूमि कहलाते हैं ॥१५६॥
पकाभा एव धूमाभा, तमा तमस्तमा सप्तम है।
स्थान सात नैरयिको के ये, बतलाते जिन-आगम हैं ॥१५७॥

लोकैक-देश मे वे सारे, रहते, ऐसा है कहा गया।
अब चउविध काल भेद उनका, बतलाऊँगा ज्यो है गाया ॥१५८॥
सन्ततिदृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त सहित भी होते है ॥१५९॥
सागर एक की उपमा का, उत्कर्ष काल है बतलाया।
पहली पृथ्वी मे न्यूनकाल दश-सहस्र वर्षो का है गाया ॥१६०॥
तीन सागरोपम आयु, उत्कृष्ट दूसरी पृथ्वी की।
न्यून एक सागर होती, इस नरक पृथ्वी के प्राणी की ॥१६१॥
है सागर सात परम आयु, उत्कृष्ट तीसरी पृथ्वी की।
है सागर तीन जघन्य कही, ऐसे इन नारक प्राणी की ॥१६२॥
सागर दस की उपमा वाली, उत्कृष्ट आयु है बतलाई।
चौथी पृथ्वी की न्यूनतमा, सप्तार्णव आयु कहलाई ॥१६३॥
सत्रह सागर की उपमा की, उत्कृष्ट आयु है बतलायी।
पचम पृथ्वी की जघन्यतम, दश सागर आयु कहलायी ॥१६४॥
बाईस सागरोपम-परिमित, उत्कृष्ट आयु है बतलाई।
छठी नरक मे न्यूनकाल, सागर सत्रह की समझाई ॥१६५॥
सागर तेतीस की परम आयु, सप्तम पृथ्वी की बतलाई।
न्यूनातिन्यून है आयु-अवधि, सागर बाईस की समझाई ॥१६६॥
जो ही आयुस्थिति बतलाई, निरयस्थल के उन जीवो की।
होती जघन्य उत्कृष्ट तथा, वह ही कायस्थिति भी उनकी ।१६७।
उत्कृष्ट अनन्ता काल कहा, अन्तर्मुहूर्त अतिन्यूनान्तर।
नारकतन तज फिर पाने मे, इतना होता है कालान्तर ॥१६८॥
वर्ण, गंध, रस और स्पर्श, सस्थान-भाव से हो जाते।
नारक जीवो के ऐसे, ये भेद सहस्रो बन जाते ॥१६९॥

अन्वयार्थ—नेरइया—नैरयिक, सत्तविहा—सात प्रकार के हैं, रयणाभा—रत्नाभा (रत्नप्रभा), सक्कराभा—शर्कराभा (शर्कराप्रभा), वालुयाभा—वालुकाभा (वालुकाप्रभा), पंकाभा—पंकाभा, (पंक-प्रभा), धूमाभा—धूमाभा (धूम्र-प्रभा), तमा—तमा, तहा—तथा, तमतमा—तमस्तमा, (ये सात नरकपृथ्वियाँ) आहिया—कही गई हैं, नेरइया—नैरयिक, (इन) सत्तसु पुढवीसु—सात पृथ्वियों मे, भवे—होते हैं, इइ—इस कारण से, एए—ये (नैरयिक), सत्तहा—सात प्रकार के, परिकित्तिया—कहे गए हैं। ॥१५६-१५७॥

अवान्तरगाथार्थ—(फिर इन सात प्रकार के नारको के दो भेद हैं),पज्जत्तमपज्जत्ता य—पर्याप्त और अपर्याप्त, रयणाइ गोत्तओ—रत्नादि के गोत्र के कारण, धम्माइणामाओ—धम्मा आदि सात नरकपृथ्वियो के, अवान्तर नाम है। धम्मा—धम्मा, वसणा—वशा, सेला—शैला, अंजण-रिट्ठगा—अन्जना, रिष्टा, मघा—मघा, माघवई चेव—और माघवती, (ये) नारइयाय पुणो भवे—नारकभूमियो के अपर नाम हैं।)

ते सव्व उ—वे सब [(नारकजीव), लोगस्स एगदेसे—लोक के एक भाग (देश) मे (रहते है ऐसा), वियाहिया—कहा गया है, इत्तो—इससे आगे, तेसिं—उन (नैरयिको) का, चउव्विहं—चार प्रकार से, कालविभाग वोच्छ—काल विभाग कहूंगा ॥१५८॥

संतइ पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, (नारक जीव) अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त भी है, (तथा), ठिइ पडुच्च—स्थिति को लेकर, (वे) साईया— सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं ॥१५९॥

पढमाए—प्रथम (रत्नप्रभा) पृथ्वी मे, (नैरयिक जीवो की आयुस्थिति), जहन्नेण—जघन्यत , दसवास-सहस्सिया—दस हजार वर्ष की है, तु—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत , एग सागरोवम—एक सागरोपम की, वियाहिया—कही गई है ॥१६०॥

दोच्चाए—दूसरी (शर्करा प्रभा) पृथ्वी मे (नारको की आयुस्थिति), जहन्नेण—जघन्यत , एग सागरोवम—एक सागरोपम की, (और) उक्कोसेण—उत्कृष्टत , तिण्णेव सागराऊ—तीन ही सागरोपम की आयु, वियाहिया—कही है ॥१६१॥

तइयाए—तीसरी (बालुकाप्रभा) पृथ्वी मे (नैरयिको की आयुस्थिति), जहन्नेण—जघन्यत , तिण्णेव सागरोवमा—तीन सागरोपम की (और), उक्कोसेण—उत्कृष्टत, सत्तेव सागराऊ—सात सागरोपम की आयु, वियाहिया—कही गई है ॥१६२॥

चउत्थीए—चौथी (नरकपृथ्वी) मे, [नारको की आयु स्थिति, जहन्नेण उ—जघन्यत , सत्तेवसागरोवमा—सात सागरोपम की, (और), उक्कोसेण—उत्कृष्ट, दस सागरोवमाऊ—दस सागरोपम की आयु, वियाहिया—कही गई है ॥१६३॥

पचमाए—पाँचवी (नरक पृथ्वी) मे, (नारको की आयुस्थिति), जहन्नेण—जघन्यत , दस उ सागरोवमा—दस सागरोपम की, चेव—और, उक्कोसेण—उत्कृष्टत , सत्तरस सागराउ—सत्रह सागरोपम की, वियाहिया—कही गई है ॥१६४॥

छट्ठीए—छठी (नरक पृथ्वी मे), (नैरयिक जीवो की आयु-स्थिति), जहन्नेण—जघन्यत , सत्तरस-सागरोवमा—सत्रह सागरोपम की (और), उक्कोसेण—

उत्कृष्टत , बावीस-सागराऊ—बाईस सागरोपम की आयु, वियाहिया—कही गई है ॥१६५॥

सत्तमाए—सप्तम (नरक पृथ्वी मे), (नैरयिको की आयु-स्थिति), जहन्नेण—जघन्यत , बावीस सागरोवमा—बाईस सागरोपम की, (और), उक्कोसेण—उत्कृष्टत , तेत्तीस सागराऊ—तेतीस सागरोपम की आयु, वियाहिया—कही गई है ॥१६६॥

नेरइयाण—नैरयिक जीवो की, जा चेव—जो, आउठिई उ—आयुस्थिति, वियाहिया—कही गई है, सा—वही, तेसि—उनकी, जहन्नुक्कोसिया—जघन्य और उत्कृष्ट, कायठिई—कायस्थिति, भवे—होती है ॥१६७॥

सए काए विजढम्मि—स्वकाय (नैरयिक शरीर) को छोडने पर (पुन नैरयिक शरीर मे उत्पन्न होने मे), नेरइयाण अतर तु—नैरयिको का अन्तरकाल, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त— अन्तर्मुहूर्त्त का (और), उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का है ॥१६८॥

वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गन्ध से, रस-फासओ चेव—तथा रस और स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान के आदेश (अपेक्षा) से भी, एएसि—इन (नैरयिक जीवो) के, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद हो जाते हैं ॥१६९॥

विशेषार्थ—सात नैरयिक आवासस्थान, नाम, आयुस्थिति, कायस्थिति और अन्तर—गा १५६ से १६९ तक मे नैरयिक जीवो के विषय मे उपर्युक्त पहलुओ से निरूपण किया गया है ।

सात नरकभूमियो के अन्वर्थक नाम—(१) रत्नप्रभा—रत्नो की प्रभा के समान प्रभा है, भवनपतियो के रत्नमय भवनो की प्रभा भी है, (२) शर्करा प्रभा—छोटे-छोटे चिकने पाषाणखण्डो या ककरो की प्रभा के समान प्रभा है, (३) वालुकाप्रभा—बालू रेत के समान भूमि की कांति, (४) पक प्रभा—पक (कीचड) के समान प्रभा, (५) धूमप्रभा—धूएँ के समान भूमि की प्रभा, (६) तमप्रभा—अधकार के सदृश प्रभा, (७) तमस्तम प्रभा—प्रगाढ अंधकारतुल्य प्रभा । प्रभाओ के आधार पर इन सातो पृथ्वियो का नामकरण किया गया है ।[1]

भवस्थिति और कायस्थिति समान क्यो ?—क्योकि नैरयिक मरने के बाद पुन सीधा नरयिक नही हो सकता ।

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका भा ४, पृ ८८०

जघन्य अन्तर—अतिक्लिष्ट अध्यवसाय वाला जीव गर्भज तिर्यञ्च या मनुष्य मे जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण जघन्य आयु भोगकर पुन नरक मे उत्पन्न हो सकता है, इसलिए जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का बताया है।[1]

पचेन्द्रिय तिर्यञ्च वर्णन—

मूल—पंचिदिय-तिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया।
समुच्छिम-तिरिक्खाओ, गब्भवक्कतिया तहा ॥१७०॥

दुविहा वि ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा।
नहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१७१॥

पद्यानु०—पचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जगत् मे, युगल भेद से बतलाए।
सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च एक, गर्भज द्वितीय है कहलाए ॥१७०॥

इन दोनो के भेद तीन है, जलचर स्थलचर नभचारी।
उनके भी भेद सुनो मुझसे, होते हैं जैसे विस्तारी ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(जो) पंचिदिय-तिरिक्खाओ—पचेन्द्रिय तिर्यञ्च है ते—वे, दुविहा=दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं (तथा), समुच्छिम-तिरिक्खाओ—सम्मूर्च्छिम तिर्यच, तहा—तथा, गब्भवक्कतिया—गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) ॥१७०॥

ते दुविहा वि—उन (गर्भज और सम्मूर्च्छिम) दोनो के भी (पुन) जलयरा—जलचर, तहा—तथा, थलयरा—स्थलचर, य—और, नहयरा—नभचर (खेचर) (ये), तिविहा—तीन-तीन भेद, भवे—होते हैं, बोधव्वा—यह जानने चाहिए, तेसिं—उनके (तीनो के), भेए—भेद, मे सुणेह—मुझसे सुनो ॥१७१॥

विशेषार्थ—सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च—किसी स्थान विशेष (खासतौर से गन्दगी के स्थानो) मे पुद्गलो के एकत्र हो जाने से, माता-पिता के सयोग के बिना ही उत्पन्न होने वाले जीव, जो मन पर्याप्ति के अभाव मे सदैव मूर्च्छित के समान मूर्च्छित (मूढ) अवस्था मे रहते हैं, वे सम्मूर्च्छिम तिर्यच पचेन्द्रिय कहलाते हैं। गर्भज तिर्यञ्च—गर्भ से व्युत्क्रान्त=उत्पन्न होने वाले जीव।

इन दोनो के प्रत्येक के तीन-तीन भेद है—जलचर, स्थलचर और नभचर। जल मे विचरण करने वाले जलचर, स्थल (भूमि) पर विचरण करने वाले स्थलचर और नभ (आकाश) मे विचरण करने वाले नभचर

---

१ (क) उत्तरा गुजराती भाषातर भा २, पत्र ३५६
(ख) उत्तरा (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ ४७९

या खेचर कहलाते हैं। इनमे से प्रत्येक के गर्भज और सम्मूर्च्छिम, ये दो भेद करने पर कुल ६ भेद हुए।[1]

जलचर-वर्णन—

मूल—मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा।
सुसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥१७२॥

लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभाग तु, तेसिं वोच्छ चउव्विहं ॥१७३॥

सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१७४॥

एगा य पुव्वकोडीओ, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई जलयराण, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥१७५॥

पुव्वकोडि-पुहुत्त तु, उक्कोसेण वियाहिया।
कायठिई जलयराण, अतोमुहुत्तं जहन्नय ॥१७६॥

अणंतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, जलयराणं अतर ॥१७७॥

एएसि वण्णओ चेव, गधओ, रस-फासओ।
सठाणादेसओ वा वि, विहाणाइ सहस्ससो ॥१७८॥

पद्यानु०—ग्राह मत्स्य और कच्छप तीजा, मकर भेद चौथा जानो।
सुसुमार है भेद पाचवाँ, जलचर पाँचो यो मानो ॥१७२॥

लोकैक-भाग मे ये सब हैं, सर्वत्र नही वे होते है।
अब काल-विभाग कहूँ उनका, जो रूप चतुर्विध होते हैं ॥१७३॥

सततिदृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर ये, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥१७४॥

आयु-स्थिति होती कोड पूर्व, उत्कृष्ट पचेन्द्रिय जलचर की।
होती जघन्यत भव की स्थिति, अन्तर्मुहूर्त उन जीवो की ॥१७५॥

पूर्वकोटि-पृथक्त्व जलचर की, परम स्थिति बतलाई है।
कायस्थिति ऐसे न्यून वहाँ, अन्तर्मुहूर्त की गाई है ॥१७६॥

---

१ उत्तरा० (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा० ३ पृ० ४१०-४११

होता जघन्यतः कालान्तर, अन्तर्मुहूर्त उन जीवों का।
अनन्तकाल से फिर पाते, जलचर तन, अन्तर है उनका ॥१७७॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान-भाव से हो जाते।
जलचर पचेन्द्रिय जीवों के, यों भेद सहस्रों बतलाते ॥१७८॥

अन्वयार्थ—जलयरा—जलचर, जल मे विचरण करने वाले, (तिर्यंच-पचेन्द्रिय जीव), पचहा—पाच प्रकार के, आहिया—कहे गए हैं (यथा), मच्छा—मत्स्य, कच्छभा य—और कछुए, य—एव, गाहा—ग्राह (घडियाल), तहा—तथा, मगरा—मगरमच्छ, य—और, सुसुमारा—सुसुमार (ये पाच), बोधव्वा—जानने चाहिए ॥१७२॥

वियाहिया—कहा गया है कि, ते सव्वे—वे सब, लोएगदेसे—लोक के एक भाग मे (ही रहते है), न सव्वत्थ—सर्वत्र (समग्र लोक मे) नही, इत्तो—इससे आगे, तेसिं—इन (जलचरो) के, कालविभाग—कालविभाग का, चउव्विह—चार प्रकार से, वोच्छ—कथन करूँगा ॥१७३॥

संतइं पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से (पचेन्द्रिय जलचर जीव) अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त भी है, य—तथा, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से (वे), साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी है ॥१७४॥

जलयराण—(पचेन्द्रिय) जलचर जीवो की, आउठिई—आयुस्थिति, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, एगा पुव्वकोडीओ—एक करोड पूर्व की, य—और, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की, वियाहिया—कही गई है ॥१७५॥

जलयराण—(पचेन्द्रिय) जलचर जीवो की, कायठिई—कायस्थिति, जहन्नय—जघन्यत, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है, तु—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत पुव्वकोडि-पुहुत्त—पूर्वकोटि-पृथक्त्व की, वियाहिया—कही गई है ॥१७६॥

सए काए विजढम्मि—स्वकाय (जलचर की काया) के छोडने पर, (अन्यत्र जाकर) जलयराण अतर—जलचरो का अन्तर (पुन जलचर मे आने तक का व्यवधानकाल), जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त का (और), उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का (होता है) ॥१७७॥

एएसिं—इन (पचेन्द्रिय जलचर जीवो) के, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गन्ध से, रस-फासओ चेव—रस और स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान के आदेश (अपेक्षा) से भी, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद (हो जाते हैं) ॥१७८॥

विशेषार्थ—समस्त जलचरो का पाच प्रकारो मे समावेश—यद्यपि जलचरी जन्तुओ के अनेक प्रकार हैं, केवल मत्स्य मे ही अनेको जातियां हैं, तथापि शास्त्रकार ने जलचर जीवो की मुख्य पाच जातियां गिनाकर उनमे ही अन्य सबका समावेश कर दिया है।[1]

जलचर जीवो की आयुस्थिति—जलचर जीवो की भवस्थिति (आयु-स्थिति) जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट एक करोड पूर्व की बताई है। ७० लाख, ५६ हजार वर्ष को एक करोड से गुणा करने पर ७०५६०००००००००० (सात नील, पांच खरब, साठ अरब) वर्षों का एक पूर्व होता है, ऐसे करोड पूर्वो के उत्कृष्ट आयु स्थिति जलचरो की बताई है। मध्यम स्थिति का कोई नियम नही है, वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक और एक करोड पूर्व से कम किसी भी समय मे पूरी हो सकती है।[2]

जलचर जीवो की कायस्थिति—जलचरकाय को ही लगातार धारण करने के रूप मे कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक पूर्वकोटि-पृथक्त्वकाल की है। पृथक्-सज्ञा दो से लेकर नौ तक की है। तदनुसार यदि कोई जलचर जीव मरकर लगातार अपनी ही जाति मे उत्पन्न होता रहे तो वह अधिक से अधिक करोड करोड पूर्व (पूर्वोक्त) के आठ भव कर सकता है। इसके अतिरिक्त उसका अपना एक पहला भव होता है, इस प्रकार कुल ९ भव हो जाते हैं।[3]

स्थलचर जीवो का वर्णन—

मूल—चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे।
चउप्पया चउविहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥१७९॥
एगखुरा दुखुरा चेव, गण्डीपय-सणप्पया।
हयमाई गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो ॥१८०॥
भुओरग-परिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे।
गोहाई अहिमाई य, एक्केकाऽणेगहा भवे ॥१८१॥
लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउविहं ॥१८२॥

---

१ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४९१
२ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४९३
३ वही, भा ४, पृ ४९४

सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१८३॥

पलिओवमाइ[1] तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया।
आउठिई थलयराण, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥१८४॥

पलिओवमाइ तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया[1]।
पुव्वकोडि-पुहुत्तेण, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥१८५॥

कायठिई थलयराण, अन्तर तेसिमं भवे।
अणतकालमुक्कोस, अन्तोमुहुत्त जहन्नय ॥१८६॥

[विजढम्मि सए काए, थलयराण अतर ॥१८६॥][2]

एएसि[3] वण्णओ चेव, गधओ रस-फासओ।
सठाणादेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१८७॥

पद्यानु०—चौपाये परिसर्प और स्थलचर (ये) दो जग मे होते।
चौपायो के चार भेद, उनको सुन लो, मेरे कहते ॥१७९॥

अश्वादि एकखुर और द्विखुर, गडीपद नखपद कई होते।
हय आदि, गवादि गजादि तथा, सिंहादि नखधर कहलाते ॥१८०॥

भुज और उरग परिसर्प-युगल, परिसर्प-भेद कहलाते हैं।
गोधादि तथा सर्पादिक वे, प्रत्येक भेद कई होते हैं ॥१८१॥

लोकैक भाग मे वे सब है, सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही।
मैं करूँ चतुर्विध काल-भेद, का वर्णन उनका पूर्ण सही ॥१८२॥

सतति-दृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥१८३॥

पल्योपम तीन की स्थिति होती, उत्कृष्ट शास्त्र मे बतलाई।
जघन्य स्थलचर जीवो की, अन्तर्मुहूर्त स्थिति कहलाई ॥१८४॥

---

१ यह पक्ति दुबारा नही दी गई है किंतु कायस्थिति से सम्बन्धित है।
—सम्पादक

२ उत्तरा (आचार्य श्री आत्माराम जी म) भा ३, पृ ५०० मे यह उत्तरार्द्ध गाथा अधिक है।
—सम्पादक

३ यह गाथा उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) की प्रति मे नही है।
—सम्पादक

तीन पल्य की उपमा से, उत्कृष्ट काय-स्थिति होती है।
पूर्वकोटि-पृथक्त्वयुक्त, अतिन्यून मुहूर्त्त कम होती है ॥१८५॥
स्थलचर जीवो की कायस्थिति, अन्तर उसका यह होता है।
उत्कृष्ट अनन्तकाल और, भीतर मुहूर्त्त कम रहता है ॥१८६॥
वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, संस्थान भाव से हो जाते।
स्थलचर पञ्चेन्द्रिय जीवो के, यो भेद सहस्रो बन जाते ॥१८७॥

अन्वयार्थ—थलयरा—स्थलचर, दुविहा—दो प्रकार के, भवे—होते है, (यथा) चउप्पया—चतुष्पाद—चौपाये, य—और, परिसप्पा—परिसर्प, (फिर) चउप्पया—चतुष्पाद स्थलचर जीव, चउविहा—चार प्रकार के होते है, ते कित्तयओ—उनका निरूपण, मे—मुझसे, सुण—सुनो ॥१७९॥

(चतुष्पाद के चार भेद इस प्रकार हैं), एगखुरा—एक खुरवाले, दुखुरा—दो खुर वाले गडीपय-सणप्पया—गडीपद वाले और सनखपद वाले, (एक खुर जैसे) हयमाई—अश्व आदि, (द्विखुर जैसे) गोयमाई—गाय, बैल, भैंस आदि, (गडीपद जैसे) गयमाई—गज (हाथी) आदि, (और सनख पद जैसे) सीहमाइणो—सिंह आदि ॥१८०॥

परिसप्पा दुविहा भवे—परिसर्प स्थलचर जीव दो प्रकार के होते हैं, (यथा) भुओरग-परिसप्पा-य—भुज परिसर्प और उर-परिसर्प इनके उदाहरण क्रमश) गोहाई अहिमाई य—गोधा (गोह) आदि और अहि (सर्प) आदि, (फिर ये) एक्केका—एक-एक (प्रत्येक), णेगहा—अनेक प्रकार के, भवे—होते हैं ॥१८१॥

ते सव्वे—वे (पूर्वोक्त) सभी (स्थलचर जीव), लोएगदेसे—लोक के एक भाग मे (रहते हैं), न सव्वत्थ—सर्वत्र (समग्र लोक मे) नही, इत्तो—इसके आगे (अब मैं), तेसिं तु—उनके, काल-विभाग—काल विभाग का, चउव्विहं—चार प्रकार से, वोच्छं—निरूपण करूंगा ॥१८२॥

संतइं पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, (वे) अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त भी है (तथा), ठिइं पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं ॥१८३॥

थलयराण—स्थलचर जीवो की, आउठिई—आयु-स्थिति (भव-स्थिति), जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तमुहूर्त की है, उ—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्ट, तिण्णिपलिओवमाइं—तीन पल्योपम की, वियाहिया—कही गई है ॥१८४॥

थलयराण—स्थलचर जीवो की, काठिई—कायस्थिति, उक्कोसेण पुव्वकोडी-पुहुत्तेण तिण्ण पलिओवमाइं—उत्कृष्टत पूर्वकोटिपृथक्त्व के सहित तीन पल्योपम की है, उ—किन्तु, जहन्निया—जघन्य (कायस्थिति), अंतोमुहुत्त—अन्त-

मुहूर्त की, वियाहिया—कही गई है, तेसिं—उन (स्थलचर जीवो) का, अतर—अन्तर, इम—यह (निम्नोक्त) है, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त का (और) उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का, भवे—होता है ॥१८५-१८६॥[1]

एएसिं—इन स्थलचर जीवो के, वण्णओ—वर्ण से, गधओ—गन्ध से, रस-फासओ चेव—रस और स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान के आदेश (दृष्टि) से भी, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद होते है ॥१८७॥

विशेषार्थ—स्थलचर तिर्यञ्च-पचेन्द्रिय जीवो के भेद-प्रभेद—मुख्य दो भेद हैं—चतुष्पाद अर्थात्—चार पैरो वाले स्थलचर, जैसे—गाय, घोडा, आदि और परिसर्प—चारो ओर से रेगकर चलने वाले, गोह, सर्प आदि। फिर चतुष्पदो के चार प्रकार कहे गये हैं—(१) एकखुरा—एक खुर वाले, जैसे—घोडा, गधा आदि (२) द्विखुरा—दो खुर जिनके पैरो मे हो, वे पशु, जैसे—गाय, बैल, भैस आदि। (३) गण्डीपद—अर्थात्—जिनके पैर वर्तुलाकार (गोल) होते हैं, वे जैसे—हाथी आदि पशु। और (४) सनख-पद—अर्थात्—जिनके पाँच नखो से युक्त होते है, वे जैसे—सिंह, व्याघ्र आदि। तत्पश्चात्—परिसर्प जीवो के दो भेद कहे गये हैं—(१) भुज परि-सर्प[2]—अर्थात्—जो जीव दो भुजाओ के बल चलते हैं, जैसे—गोह, नेवला, चूहा आदि। और (२) उर परिसर्प—अर्थात्—जो जीव छाती के बल रेंग कर चलते हैं, वे हैं—सर्प आदि। सर्पों की भी अनेक जातियाँ हैं—दर्वीकर मकुलीकर, उग्रविष, कालविष आदि। कई सर्प जल मे भी रहते हैं, परन्तु छाती के बल चलने के कारण उन्हे स्थलचर ही माना गया है।[3]

स्थलचर जीवो की आयुस्थिति—इनकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्यो-पम तक होती है, क्योकि जो अकर्मभूमिज स्थलचर तिर्यंच हैं, उनकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम तक होती है। अत यह कथन सुषम-सुषम-काल मे तथा देवकुरु-उत्तरकुरु मे उत्पन्न होने वाले स्थलचर तिर्यंचो की दृष्टि से किया गया है। मध्यम स्थिति का कोई नियम नही है।

---

१ इसके आगे अधिक पक्ति है, उसका अर्थ है—स्वकाय के छोडने पर पुन स्वकाय मे आने तक का स्थलचर जीवो का अन्तर (जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।) —सम्पादक

२ उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म०) भा० ३, पृ ४९६-४९७

३ वही, भा ३, पृ ४९७

स्थलचर जीवो की कायस्थिति—यह जीव लगातार स्थलचरो मे ही जन्मता-मरता रहे तो इसकी उसी काय मे स्थिति (कायस्थिति) कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक पृथक् कोटिपूर्व अधिक तीन पल्योपम की है। अर्थात्—यह जीव करोड-करोड पूर्व के सात भव करके, आठवे भव मे तीन कल्प (पल्योपम) की आयु वाला स्थलचर तिर्यच बन जाता है, अथवा युगलियो मे उत्पन्न होता है। इससे अधिक काल तक वह स्थलचरो मे जन्म-मरण नही कर सकता। यानी वह जीव वहाँ से मरकर देवलोक मे चला जाता है, अन्य योनियो मे नही। इसी दृष्टि से यहाँ स्थलचर जीवो की उत्कृष्ट कायस्थिति पृथक कोटिपूर्व (दो से लेकर नौ कोटिपूर्व) अधिक तीन पल्योपम की बताई गई है।

अन्तर—अपने त्यागे हुए पूर्व शरीर (स्थलचरकाय) को फिर से ग्रहण करने तक का अन्तर (काल-व्यवधान) कम से कम अन्तर्मुहूर्त का और अधिक से अधिक अनन्तकाल का माना गया है।[1]

नभचर जीवो का निरूपण—

मूल—चम्मे उ लोमपक्खी य, तइया समुग्ग-पक्खिया।
विययपक्खी य बोद्धव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ॥१८८॥

लोगेगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभाग तु, तेसिं वोच्छ चउव्विह ॥१८९॥

सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१९०॥

पलिओवमस्स भागो, असखेज्जइमो भवे।
आउठिई खहयराण, अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥१९१॥

असखभागो पलियस्स, उक्कोसेण य साहिया।
पुव्वकोडि-पुहुत्तेण, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥१९२॥

कायठिई खहयराण, अतर तेसिम भवे।
अणतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्तं जहन्नय ॥१९३॥

एएसिं वण्णओ चेव, गधओ रस-फासओ।
सठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१९४॥

---

1 उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ४९९-५००

पश्चात्—चर्म-रोम वाले पक्षी, तृतीय समुद्ग पक्षी होते ।
चौथा खग वितत कहाता है, खेचर यों चउविध हो जाते ॥१८८॥

सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही, लोकैकभाग मे वे होते ।
मैं करूँ चतुर्विध काल-भेद, वर्णन जो श्रुतधर बतलाते ॥१८९॥

सततिदृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्त-रहित हो जाते हैं ।
ऐसे ही स्थिति को लेकर के, आद्यन्त-सहित कहलाते हैं ॥१९०॥

असख्यतम है भाग पल्य का, खेचर जीवो का आयु-मान ।
अन्तर्मुहूर्त का कम से कम, होता जीवन का कालमान ॥१९१॥

पल्योपम का असख्यभाग, उत्कृष्ट कायस्थिति बतलाई ।
पूर्वकोटि पृथक्त्व-सहित, अन्तर्मुहूर्त्त लघु कहलाई ॥१९२॥

खग की कायस्थिति का अन्तर, जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त होता ।
उत्कृष्ट अनन्तकाल बाद, फिर खगभव मे आना होता ॥१९३॥

वर्ण गन्ध रस और स्पर्श, सस्थान भाव से होते हैं ।
खेचर पचेन्द्रिय जीवो के, यों भेद सहस्रों बनते हैं ॥१९४॥

अन्वयार्थ—उ—पुन, पक्खिणो—(नभचर) पक्षी, चउव्विहा—चार प्रकार के, बोधव्वा—जानने चाहिए, (यथा) चम्मे—चर्मपक्षी, य—और, लोम-पक्खी—रोमपक्षी, य—तथा, तइया—तीसरे, समुग्ग-पक्खिया—समुद्ग पक्षी, य—और (चौथे), वियय-पक्खी—विततपक्षी ॥१८८॥

ते सव्वे—वे सब (खेचर पक्षी), लोगेग-देसे—लोक के एक भाग मे (होते हैं), न सव्वत्थ—सर्वत्र (समग्र लोक मे) नही, इत्तो—इससे आगे, तेसिं—उन, (खेचर जीवो) के, कालविभाग तु—काल-विभाग का, चउव्विह—चार प्रकार से, वोच्छ—कथन करूँगा ॥१८९॥

सतइ पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, (खेचर जीव), अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त भी हैं, य—तथा, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी हैं ॥१९०॥

खहयराण—खेचर जीवो मे, आउठिई—आयु-स्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है (और उत्कृष्ट), पलिओवमस्स—पल्योपम के, असखेज्जइमो भागो—असख्यातवें भाग की, भवे—होती है ॥१९१॥

खहयराण काय-ठिई—खेचर जीवो की कायस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है, उ—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, पुव्वकोडी-पुहुत्तेण साहिया पलिओवमस्स असखभागो—कोटिपूर्व पृथक्त्व अधिक पल्योपम के असख्यातवें भाग की है और तेसिं—उनका, जहन्नय—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त का,

(और), उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का, इय अतर सवे—यह अन्तर होता है ॥१९२-१९३॥

एएसि—इन (खेचर तिर्यञ्च पचेन्द्रिय पक्षियो) के, वण्णओ गघओ रस-फासओ चेव—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान की अपेक्षा से भी, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद (हो जाते हैं)। ॥१९४॥

विशेषार्थ—खेचर जीव स्वरूप और प्रकार—खेचर उसे कहते हैं, जो आकाश मे उडकर चलता हो, जैसे बाज, चील आदि पक्षी। वे चार प्रकार के हैं। यथा—(१) चर्मपक्षी—चमडी की पाखो वाले, चमगादड आदि, (२) रोमपक्षी—रोए की पाखो वाले, हस, चकवा आदि, (३) समुद्ग-पक्षी—जिनके पख डिब्बे (समुद्गक) के आकार के समान सदैव ढके (बन्द) तथा अविकसित रहते हैं। ये पक्षी सदैव मनुष्य क्षेत्र से बाहर ही पाये जाते हैं। और (४) वितत-पक्षी—जिनके पर (पख) सदैव खुले एव विस्तृत (फैले हुए) रहते हैं। ये पक्षी भी मनुष्य क्षेत्र (ढाईद्वीप) से बाहर के द्वीप-समुद्रो (क्षेत्रो) मे पाये जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि ये लोक के किसी क्षेत्र विशेष मे ही रहते है।[1]

खेचरो की आयुस्थिति—खेचरो की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असख्यातवे भाग जितनी मानी गई है, वह छप्पन अन्तर्द्वीपो मे युगलिया के भव मे उत्पन्न होने वाले जीवो की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

खेचरो की कायस्थिति—जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त्त की है, उत्कृष्टत पल्यो-पम के असख्यातवे भाग अधिक पूर्वकोटि-पृथक्त्व बताई गई है, उसका तात्पर्य यह है कि करोड-करोड पूर्व के सात भव करके वह आठवाँ भव पल्योपम के असख्यातवें भाग का युगलियो का कर लेता है, तदनन्तर वह खेचर भव को छोडकर देवगति को प्राप्त करता है।[2]

मनुष्यो के विषय मे निरूपण—

मूल—मणुया दुविह-भेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।
समुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कन्तिया तहा ॥१९५॥

---

१ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ. ५०१
२ वही, भाग ३, पृ ५०२-५०३

गब्भवक्कतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया ।
कम्म-अकम्म-भूमा य, अतरद्दीवया तहा ॥१९६॥

पन्नरस-तीस-विहा, भेया य अट्ठवीसइ ।
सखा य कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥१९७॥

समुच्छिमाण एमेव, भेओ होइ वियाहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ॥१९८॥

सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१९९॥

पलिओवमाइ तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई मणुयाण, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥२००॥

पलिओवमाई तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडी-पुहुत्तेण, अतोमुहुत्त जहन्निया ॥२०१॥

कायठिई मणुयाण, अतर तेसिम भवे ।
अणतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्त जहन्नय ॥२०२॥

एएसिं वण्णओ चेव, गधओ रस-फासओ ।
सठाणादेसओ वावि, विहाणाइ सहस्ससो ॥२०३॥

पद्यानु०—मनुज-भेद दो होते हैं, उनको मैं कहता सुन लेना ।
सम्मूर्च्छिम और गर्भजन्म, यो मुख्य भेद बतला देना ॥१९५॥

गर्भावक्रान्त मानव-प्राणी के, तीन भेद बतलाये हैं ।
भोगभूमि और कर्मभूमि, अन्तर्द्वीपज कहलाये हैं ॥१९६॥

पन्द्रह कर्मभूमि के नर, और तीस अकर्मभू के होते ।
द्वीपज के हैं भेद अठाईस, उनकी सख्या श्रुतधर गाते ॥१९७॥
सम्मूर्च्छिम मनुजो के ये ही, भेद शास्त्र के बतलाये ।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही, लोकैकभाग मे कहलाये ॥१९८॥

सन्ततिदृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्तरहित हो जाते हैं ।
स्थिति को लेकर वे जग मे, आद्यन्तसहित भी होते हैं ॥१९९॥

पल्य परिमित आयु, उत्कृष्ट मनुज की बतलाई ।
तिन्यून उनकी अवधि, अन्तर्मुहूर्त्त की समझाई ॥२००॥

तीन पल्य पर कोटिपूर्व, प्रत्येक काय-स्थिति होती है।
न्यूनावधि नर-जीवन की, अन्तर्मुहूर्त्त रह जाती है ॥२०१॥

मनुजभाव की कायस्थिति, बतलाई अन्तर यह होता।
अन्तर्मुहूर्त्त होता जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तकाल होता ॥२०२॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, सस्थान भाव से हो जाते।
मानवजीवो के इस जग मे, यो भेद सहस्रो बन जाते ॥२०३॥

अन्वयार्थ—मणुया—मनुष्य, दुविह-भेया उ—दो प्रकार के हैं, (यथा), सम्मुच्छिमा मणुया—सम्मूर्च्छिम मनुष्य, य—और, गब्भवक्कंतिया—गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) (मनुष्य), तहा—तथा, ते—उन (भेदो) को, मे कित्तयओ—मैं कहता हूँ, सुण—सुनो ॥१९५॥

जे उ—जो, गब्भवक्कंतिया—गर्भज मनुष्य हैं, ते—वे, तिविहा—तीन प्रकार के, वियाहिया—कहे गये हैं, (यथा) कम्म-अकम्मभूमा य—कर्मभूमिक और अकर्मभूमिक, तहा—तथा, अंतरद्दीवया—अन्तर्द्वीपक ॥१९६॥

पन्नरस—पन्द्रह भेद, तीसविहा—तीस भेद (और) अट्ठवीसइ भेया—अट्ठाईस भेद, इइ—इस प्रकार, एसा—यह, तेसिं—उनको (कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपको की), कमसो उ—क्रमश, संखा—संख्या, वियाहिया—बताई गई है, अर्थात—कर्मभूमि के १५, अकर्मभूमि के ३० और अन्तर्द्वीप के २८ भेद है ॥१९७॥

सम्मुच्छिमाण—सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के, एसेव—ये ही, भेओ—भेद, होइ—होते है, (ऐसा तीर्थंकरो ने), वियाहिओ—कहा है, ते सव्वे वि—वे सभी (प्रकार के मनुष्य), लोगस्स—लोक के, एगदेसम्मि—एक देश मे, वियाहिया—कहे गए हैं। ॥१९८॥

(उक्त सभी प्रकार के मनुष्य) संतइं पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त है, य—तथा, ठिइं पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी है। ॥१९९॥

मणुयाणं—मनुष्यो की, आउठिई—आयुस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है उ—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, तिण्ण पलिओवमाइ—तीन पल्योपम की, वियाहिया—कही गई है ॥२००॥

मणुयाण—मनुष्यो की, कायठिई—कायस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अंतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त्त की हैं, उ—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, पुव्वकोडी पुहत्तेण—पूर्व-कोटि-पृथक्त्व अधिक, तिण्णि पलिओवमाइ—तीन पल्योपम की, वियाहिया—कही गई है।

गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया ।
कम्म-अकम्म-भूमा य, अंतरद्दीवया तहा ॥१९६॥

पन्नरस-तीस-विहा, भेया य अट्ठवीसइं ।
संखा य कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥१९७॥

संमुच्छिमाण एमेव, भेओ होइ वियाहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ॥१९८॥

संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१९९॥

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२००॥

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडी-पुहुत्तेण, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥२०१॥

कायठिई मणुयाणं, अंतरं तेसिमं भवे ।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥२०२॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२०३॥

पद्यानु०—मनुज-भेद दो होते हैं, उनको मैं कहता सुन लेना ।
सम्मूर्च्छिम और गर्भजन्म, यो मुख्य भेद बतला देना ॥१९५॥

गर्भावक्रान्त मानव-प्राणी के, तीन भेद बतलाये हैं ।
भोगभूमि और कर्मभूमि, अन्तर्द्वीपज कहलाये हैं ॥१९६॥

पन्द्रह कर्मभूमि के नर, और तीस अकर्मभू के होते ।
द्वीपज के हैं भेद अठाईस, उनकी सख्या श्रुतधर गाते ॥१९७॥
सम्मूर्च्छिम मनुजो के ये ही, भेद शास्त्र के बतलाये ।
सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त नही, लोकैकभाग मे कहलाये ॥१९८॥

सन्ततिदृष्ट्या वे सब प्राणी, आद्यन्तरहित हो जाते हैं ।
स्थिति को लेकर वे जग मे, आद्यन्तसहित भी होते हैं ॥१९९॥

तीन पल्य परिमित आयु, उत्कृष्ट मनुज की बतलाई ।
न्यूनातिन्यून उनकी अवधि, अन्तर्मुहूर्त्त की समझाई ॥२००॥

तीन पल्य पर कोटिपूर्व, प्रत्येक काय-स्थिति होती है।
न्यूनावधि नर-जीवन की, अन्तर्मुहूर्त्त रह जाती है ॥२०१॥

मनुजभाव की कायस्थिति, बतलाई अन्तर यह होता।
अन्तर्मुहूर्त्त होता जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तकाल होता ॥२०२॥

वर्ण गन्ध रस स्पर्श और, सस्थान भाव से हो जाते।
मानवजीवो के इस जग मे, यो भेद सहस्रो बन जाते ॥२०३॥

अन्वयार्थ—मणुया—मनुष्य, दुविह-भेया उ—दो प्रकार के हैं, (यथा), सम्मुच्छिमा मणुया—सम्मूर्च्छिम मनुष्य, य—और, गब्भवक्कंतिया—गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) (मनुष्य), तहा—तथा, ते—उन (भेदो) को, मे कित्तयओ—मैं कहता हूँ, सुण—सुनो ॥१९५॥

जे उ—जो, गब्भवक्कंतिया—गर्भज मनुष्य है, ते—वे, तिविहा—तीन प्रकार के, वियाहिया—कहे गये हैं, (यथा) कम्म-अकम्मभूमा य—कर्मभूमिक और अकर्मभूमिक, तहा—तथा, अतरद्दीवया—अन्तर्द्वीपक ॥१९६॥

पन्नरस—पन्द्रह भेद, तीसविहा—तीस भेद (और) अट्ठवीसइ भेया—अट्ठाईस भेद, इइ—इस प्रकार, एसा—यह, तेसिं—उनको (कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपको,की), कमसो उ—क्रमश , सखा—सख्या, वियाहिया—बताई गई है, अर्थात—कर्मभूमि के १५, अकर्मभूमि के ३० और अन्तर्द्वीप के २८ भेद है ॥१९७॥

सम्मुच्छिमाण—सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के, एसेव—ये ही, भेओ—भेद, होइ—होते है, (ऐसा तीर्थंकरो ने), वियाहिओ—कहा है, ते सव्वे वि—वे सभी (प्रकार के मनुष्य), लोगस्स—लोक के, एगदेसम्मि—एक देश मे, वियाहिया—कहे गए हैं।
॥१९८॥

(उक्त सभी प्रकार के मनुष्य) सतइ पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त हैं, य—तथा, ठिइ पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा मे, साईया—सादि, य—और, सपज्जवसिया वि—सान्त भी है।
॥१९९॥

मणुयाणं—मनुष्यो की, आउठिई—आयुस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की है उ—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत , तिण्ण पलिओवमाइ—तीन पल्योपम की, वियाहिया—कही गई है ॥२००॥

मणुयाण—मनुष्यो की, कायठिई—कायस्थिति, जहन्निया—जघन्य, अतोमुहुत्त—अन्तर्मुहूर्त की हैं, उ—किन्तु, उक्कोसेण—उत्कृष्टत , पुव्वकोडी पुहत्तेण—पूर्व-कोटि-पृथक्त्व अधिक, तिण्णि पलिओवमाइ—तीन पल्योपम की, वियाहिया—कही गई है।

सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के १०१ भेद—जिस प्रकार गर्भज मनुष्यो के १०१ भेद बताये गए हैं, उसी प्रकार सम्मूर्छिम मनुष्यो के भी १०१ भेद होते है, क्योकि गर्भज मनुष्यो के अवयवो मे ही अगुल के असख्यातवे भाग जितनी अवगाहना वाले सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं ।[1]

सम्मूर्च्छिम जीवो के चौदह उत्पत्तिस्थान—(१) विष्ठा, (२) मूत्र, (३) श्लेष्म, (४) नाक का मैल, (५) वमन, (६) पित्त, (७) रक्त, (८) पूय (पीप), (९) शुक्र, (१०) शुक्र पुद्गल का परिशाटन, (११) विगत जीव कलेवर, (१२) स्त्री-पुरुष-सयोग, (१३) ग्राम का गटर और (१४) मनुष्य के सभी अपवित्र मलादि के स्थान । इन चौदह स्थानो मे सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं ।[2]

मनुष्यो की काय स्थिति—मनुष्य मरकर लगातार मनुष्य ही बनता रहे तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त तक ही कायस्थिति कर सकता है, अधिक से अधिक करोड-करोड पूर्व के लगातार सात मनुष्य भव करके आठवे भव मे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु वाला युगलिया बनता है । तदनन्तर वह मनुष्य भव को छोडकर देवगति मे उत्पन्न होता है । अन्तर—मनुष्य अपनी काय को छोडकर पुन उसी काय को धारण करे तो इन दोनो के बीच के काल का प्रमाण कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का होता है । मनुष्य मरकर यदि वनस्पतिकाय मे चला जाय तो वहाँ पर उसकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल की है, अत वहाँ अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाएगा । इसीलिए यहाँ मनुष्यो का उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल तक का माना गया है ।[3]

देवो के विषय मे निरूपण —

मूल—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज-वाणमन्तरा, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०४॥

---

१ उत्तरा० (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ५०६-५०७

२ "उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा, सुक्क-पुग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकडेसु वा, थीपुरिस-सजोएसु वा, गामनिद्धमणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइठाणेसु ।'

—प्रज्ञापना पद १ सू ३६

३ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ ५०९-५१०

तेसि—उनका (मनुष्यो का), इम अतर—यह अन्तर (काल), जहन्नय—जघन्य, अन्तोमुहुत्त—अन्तर्मु हूर्त है, उ—किन्तु, उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का, भवे—होता है ॥२०१-२०२॥

एएसि—इनके (मनुष्यो के), वण्णओ गधओ रस फासओ चेव—वर्ण, गन्ध,रस और स्पर्श की अपेक्षा से, सहस्ससो विहाणाइ—हजारो भेद (हो जाते है।)॥२०३॥

विशेषार्थ—मनुष्यो के प्रकार और स्वरूप—मनुष्यो के तीन प्रकार हैं—(१) कर्मभूमिक—असि, मसि, कृषि, शिल्पकला एव वाणिज्य आदि कर्मो (कर्त्तव्यो) के आधार पर जहाँ जीवननिर्वाह किया जाता है, वह कर्मभूमि (भरतादि क्षेत्र) और उसमे उत्पन्न (रहने वाले) मनुष्य कर्मभूमिक कहलाते हैं, (२) अकर्मभूमिक—जहाँ असि, मसि, कृषि आदि कर्मो का अभाव है, कल्पवृक्षो से ही जहाँ जीवन-निर्वाह किया जाता हो, वह अकर्मभूमि (भोगभूमि) है, उसमे उत्पन्न (यौगलिक) मानव अकर्मभूमिक कहलाते हैं, (३) अन्तर्द्वीपक—छप्पन अन्तर्द्वीपो मे उत्पन्न मानव।[1]

कर्मभूमिक मनुष्यो के १५ भेद—एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह, ये तीनो क्षेत्र जम्बूद्वीप मे हैं, इसी प्रकार दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह, ये छह क्षेत्र धातकीखण्ड मे हैं, तथा ये ही छह क्षेत्र पुष्करार्द्ध द्वीप मे हैं। इस प्रकार ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह, ये १५ क्षेत्र कर्मभूमि के हैं। इस कर्मभूमि मे उत्पन्न मानव कर्मभूमिक है।

अकर्मभूमिक मनुष्यो के ३० भेद—हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष (हरिवास), रम्यक्वर्ष, देवकुरु और उत्तरकुरु, ये ६ क्षेत्र जम्बूद्वीप मे एक-एक है, तथा धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप मे ये दो-दो हैं। अत कुल मिलाकर ये ६+१२+१२=३० क्षेत्र अकर्मभूमि के हैं। इनमे उत्पन्न मानव अकर्मभूमिक हैं।

अन्तर्द्वीपक मनुष्यो के ५६ भेद—क्षुल्लक हिमवत पर्वत के पूर्व और पश्चिम के अन्त मे दो-दो दाढें, अर्थात् इस पर्वत के दोनो ओर की ४ दाढें है। प्रत्येक दाढा पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार ४×७=२८ अन्तर्द्वीप होते हैं। इसी प्रकार शिखरिणी पर्वत की चार दाढो मे से प्रत्येक पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं, वे भी ४×७=हुए। कुल २८+२८=५६ भेद अन्तर्द्वीप के हुए। इनमे उत्पन्न मानव अन्तर्द्वीपक कहलाते हैं।

---

१ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा० ३, पृ० ५०५

सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के १०१ भेद—जिस प्रकार गर्भज मनुष्यो के १०१ भेद बताये गए हैं, उसी प्रकार सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के भी १०१ भेद होते हैं, क्योकि गर्भज मनुष्यो के अवयवो मे ही अगुल के असख्यातवे भाग जितनी अवगाहना वाले सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं ।[1]

सम्मूर्च्छिम जीवो के चौदह उत्पत्तिस्थान—(१) विष्ठा, (२) मूत्र, (३) श्लेष्म, (४) नाक का मैल, (५) वमन, (६) पित्त, (७) रक्त, (८) पूय (पीप), (९) शुक्र, (१०) शुक्र पुद्गल का परिशाटन, (११) विगत जीव कलेवर, (१२) स्त्री-पुरुष-सयोग, (१३) ग्राम का गटर और (१४) मनुष्य के सभी अपवित्र मलादि के स्थान । इन चौदह स्थानो मे सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं ।[2]

मनुष्यो की काय स्थिति—मनुष्य मरकर लगातार मनुष्य ही बनता रहे तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त तक ही कायस्थिति कर सकता है, अधिक से अधिक करोड-करोड पूर्व के लगातार सात मनुष्य भव करके आठवें भव मे तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु वाला युगलिया बनता है । तदनन्तर वह मनुष्य भव को छोडकर देवगति मे उत्पन्न होता है । अन्तर—मनुष्य अपनी काय को छोडकर पुन उसी काय को धारण करे तो इन दोनो के बीच के काल का प्रमाण कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक अनन्तकाल का होता है । मनुष्य मरकर यदि वनस्पतिकाय मे चला जाय तो वहाँ पर उसकी उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल की है, अत वहाँ अनन्तकाल का समय व्यतीत हो जाएगा । इसीलिए यहाँ मनुष्यो का उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल तक का माना गया है ।[3]

देवो के विषय मे निरूपण—

मूल—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज-वाणमन्तरा, जोइस वेमाणिया तहा ॥२०४॥

---

१ उत्तरा० (आचार्य श्री आत्मारामजी म०) भा ३, पृ ५०६-५०७

२ "उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा, सुक्क-पुग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकडेसु वा, थीपुरिस-सजोएसु वा, गामनिद्धमणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइठाणेसु ।'

—प्रज्ञापना पद १ सू ३६

३ उत्तरा (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) भा ३, पृ ५०९-५१०

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो।
पचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥२०५॥
असुरा नाग-सुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहि-दिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥२०६॥
पिसाय-भूया रक्खा य, जक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गधव्वा, अट्ठविहा वाणमतरा ॥२०७॥
चदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा।
ठिया वि चारिणो चेव, पचहा जोइसालया ॥२०८॥
वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥२०९॥
कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणकुमार—माहिंदा, बभलोगा य लतगा ॥२१०॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२११॥
कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥२१२॥
हेट्ठिमा—हेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमा—मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा—उवरिमा चेव, मज्झिमा—हेट्ठिमा तहा ॥२१३॥
मज्झिमा—मज्झिमा चेव, मज्झिमा—उवरिमा तहा।
उवरिमा—हेट्ठिमा चेव, उवरिमा—मज्झिमा तहा ॥२१४॥
उवरिमा-उवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयता य, अयता अपराजिया ॥२१५॥
सव्वत्थ-सिद्धिगा चेव, पंचहाऽणुत्तरा सुरा।
इय वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ॥२१६॥
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वेवि वियाहिया।
इत्तो काल-विभाग तु, तेसिं वुच्छ चउव्विह ॥२१७॥
सतइ पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥२१८॥
साहिय सागर एक्क, उक्कोसेण ठिई भवे।
भोमेज्जाण जहन्नेण, दसवास-सहस्सिया ॥२१९॥
पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
वतराण जहन्नेण, दसवास-सहस्सिया ॥२२०॥

पलिओवममेगं तु वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमऽट्ठभागो जोइसेसु जहन्निया ॥२२१॥

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया।
सोहम्मम्मि जहन्नेणं एगं च पलिओवमं ॥२२२॥

सागरा साहिया दुन्नि, उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥२२३॥

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेणं, दुन्नि उ सागरोवमा ॥२२४॥

साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिदम्मि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥२२५॥

दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
बम्भलोए जहन्नेणं सत्त उ सागरोवमा ॥२२६॥

चउद्दस-सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
लंतगम्मि जहन्नेणं, दस उ सागरोवमा ॥२२७॥

सत्तरस—सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा ॥२२८॥

अट्ठारस—सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारम्मि जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥२२९॥

सागरा—अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥२३०॥

वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥२३१॥

सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥२३२॥

बावीसं—सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥२३३॥

तेवीस—सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे।
पढमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥२३४॥

चउवीस सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेण, तेवीस सागरोवमा ॥२३५॥

पणवीस-सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेण, चउवीस सागरोवमा ॥२३६॥

छव्वीस सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेण, सागरा पणुवीसई ॥२३७॥

सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
पचमम्मि जहन्नेण, सागरा उ छव्वीसई ॥२३८॥

सागरा अट्ठवीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेण, सागरा सत्तवीसई ॥२३९॥

सागरा अउणतीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेण, सागरा अट्ठवीसई ॥२४०॥

तीस तु सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेण, सागरा अउणतीसई ॥२४१॥

सागरा इक्कतीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेण, तीसई सागरोवमा ॥२४२॥

तेत्तीसा सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुपि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई ॥२४३॥

अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीस सागरोवमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एस वियाहिया ॥२४४॥

जा चेव उ आउठिई, देवाण तु वियाहिया।
सा तेसि कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥२४५॥

अणतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्त जहन्नय।
विजढम्मि सए काए, देवाण हुज्ज अतरे ॥२४६॥

[अणतकालमुक्कोस, वास-पुहुत्त जहन्नय।
आणयाईण देवाण गेविज्जाण तु अतर ॥
सखेज्ज-सागरुक्कोस, वासपुहुत्तं जहन्नय।
अणुत्तराण देवाण, अतरेय वियाहिय ॥][1]

---

१ अधिक पाठ—ऐसे चिन्ह [ ] से अकित दो गाथाएँ उत्तरा आचार्यश्री आत्मा-रामजी म की प्रति मे हैं, अन्य प्रतियो मे नही। —सम्पादक

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥२४७॥

पद्यानु०—देव चतुर्विध कहलाये, उनको मैं कहता, सुन लेना ।
भौमेय और व्यन्तर ज्योतिष, वैमानिक चौथे कह देना ॥२०४॥

भवनवासी दशविध होते, व्यन्तर के आठ भेद होते ।
ज्योतिष्को के हैं पाँच भेद, वैमानिक युग-विध हैं होते ॥२०५॥

असुर नाग एवं सुपर्ण, विद्युत् और अग्नि कहाये हैं ।
द्वीपोदधि-दिक्-पवन-स्तनित, ये भवनदेव बतलाये हैं ॥२०६॥

पिशाच, भूत और यक्ष रक्ष, किन्नर एवं किम्पुरुष तथा ।
गन्धर्व महोरग होते है, वनचारी आठ प्रकार यथा ॥२०७॥

चन्द्र, सूर्य नक्षत्र और, ग्रह तारक पंचम होते हैं ।
स्थित और चलित ये ज्योतिर्धर, यों पांच भेद बतलाते हैं ॥२०८॥

विमानवासी जो सुर हैं वे, द्विविध लोक मे कहलाते ।
कल्पोपग कल्पातीत मुख्य, यों भोगजीव श्रुतधर गाते ॥२०९॥

बारह कल्पोपग होते हैं, सौधर्म और ईशान तथा ।
सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म, लान्तक षष्ठम की शुक्लकथा ॥२१०॥

महाशुक्र और सहस्रार, आनत प्राणत सुरलोक तथा ।
आरण और अच्युत देवलोक, कल्पोपग सुर बारह भेद यथा ॥२११॥

कल्पातीत देव जो होते, युगल भेद कहलाते हैं ।
ग्रैवेयक तथा अनुत्तर अरु, ग्रैवेयक नवविध होते हैं ॥२१२॥

हेट्ठिम हेट्ठिम, हेट्ठिम-मध्यम, अधस्तनोपरितन होते ।
इसी तरह यहाँ मध्यम का, हेट्ठिम, त्रिक पहले से होते ॥२१३॥

पंचम मे मध्यम-मध्यम हैं, मध्यम-उपरितन भी होते ।
उपरिम का होता निम्नभाग, उपरिम-मध्यम भी हैं होते॥२१४॥

उपरिम-उपरिम ये नौ प्रकार, ग्रैवेयक के सुर होते ।
अपराजित विजय जयन्त और, वैजयन्त अनुत्तर सुर होते ॥२१५॥

सर्वश्रेष्ठ सर्वार्थ-सिद्ध, पंचम अनुत्तर सुर होते ।
ऐसे ये वैमानिक देव विविध, परमोन्नत पद पर हैं रहते ॥२१६॥

चउवीस सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेण, तेवीस सागरोवमा ॥२३५॥

पणवीस-सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेण, चउवीस सागरोवमा ॥२३६॥

छव्वीस सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेण, सागरा पणुवीसई ॥२३७॥

सागरा सत्तवीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
पचमम्मि जहन्नेण, सागरा उ छव्वीसई ॥२३८॥

सागरा अट्ठवीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेण, सागरा सत्तवीसई ॥२३९॥

सागरा अउणतीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेण, सागरा अट्ठवीसई ॥२४०॥

तीस तु सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेण, सागरा अउणतीसई ॥२४१॥

सागरा इक्कतीस तु, उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेण, तीसई सागरोवमा ॥२४२॥

तेत्तीसा सागराइ, उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुपि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई ॥२४३॥
अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीस सागरोवमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एस वियाहिया ॥२४४॥

जा चेव उ आउठिई, देवाण तु वियाहिया।
सा तेसि कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥२४५॥
अणतकालमुक्कोस, अतोमुहुत्त जहन्नय।
विजढम्मि सए काए, देवाण हुज्ज अतरे ॥२४६॥
[अणतकालमुक्कोस, वास-पुहुत्त जहन्नय।
आणयाईण देवाण गेविज्जाण तु अतर ॥
सखेज्ज-सागरुक्कोस, वासपुहुत्तं जहन्नय।
अणुत्तराण देवाण, अतरेय वियाहिय ॥][1]

---

१ अधिक पाठ—ऐसे चिन्ह [ ] से अकित दो गाथाएँ उत्तरा आचार्यश्री आत्मारामजी म की प्रति मे है, अन्य प्रतियो मे नही। —सम्पादक

एएसि वण्णओ चेव, गन्धओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइ सहस्ससो ॥२४७॥

पद्यानु०—देव चतुर्विध कहलाये, उनको मैं कहता, सुन लेना।
भौमेय और व्यन्तर ज्योतिष, वैमानिक चौथे कह देना ॥२०४॥

भवनवासी दशविध होते, व्यन्तर के आठ भेद होते।
ज्योतिष्को के हैं पाँच भेद, वैमानिक युग-विध हैं होते ॥२०५॥

असुर नाग एव सुपर्ण, विद्युत् और अग्नि कहाये हैं।
द्वीपोदधि-दिक्-पवन-स्तनित, ये भवनदेव बतलाये हैं ॥२०६॥

पिशाच, भूत और यक्ष रक्ष, किन्नर एव किम्पुरुष तथा।
गन्धर्व महोरग होते है, वनचारी आठ प्रकार यथा ॥२०७॥

चन्द्र, सूर्य नक्षत्र और, ग्रह तारक पचम होते है।
स्थित और चलित ये ज्योतिर्धर, यो पाच भेद बतलाते है ॥२०८॥

विमानवासी जो सुर हैं वे, द्विविध लोक मे कहलाते।
कल्पोपग कल्पातीत मुख्य, यो भोगजीव श्रुतधर गाते ॥२०९॥

बारह कल्पोपग होते हैं, सौधर्म और ईशान तथा।
सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म, लान्तक षष्ठम की शुक्लकथा ॥२१०॥

महाशुक्र और सहस्रार, आनत प्राणत सुरलोक तथा।
आरण और अच्युत देवलोक, कल्पोपग सुर बारह भेद यथा ॥२११॥

कल्पातीत देव जो होते, युगल भेद कहलाते हैं।
ग्रैवेयक तथा अनुत्तर अरु, ग्रैवेयक नवविध होते हैं ॥२१२॥

हेट्ठिम-हेट्ठिम, हेट्ठिम-मध्यम, अधस्तनोपरितन होते।
इसी तरह यहाँ मध्यम का, हेट्ठिम, त्रिक पहले से होते ॥२१३॥

पचम मे मध्यम-मध्यम हैं, मध्यम-उपरितन भी होते।
उपरिम का होता निम्नभाग, उपरिम-मध्यम भी हैं होते॥२१४॥

उपरिम-उपरिम ये नौ प्रकार, ग्रैवेयक के सुर होते।
अपराजित विजय जयन्त और, वैजयन्त अनुत्तर सुर होते ॥२१५॥

सर्वश्रेष्ठ सर्वार्थ-सिद्ध, पचम अनुत्तर सुर होते।
ऐसे ये वैमानिक देव विविध, परमोन्नत पद पर हैं रहते ॥२१६॥

लोकैकदेश मे वे रहते, स्वर्गीय परम सुख के भागा ।
मैं करूं चतुर्विध काल भाग से, उनका वर्णन मति जागी ॥२१७॥

सततिदृष्ट्या ये सुरगण सब, आद्यन्त-रहित हो जाते है ।
ऐसे ही स्थिति को लेकर वे, आद्यन्त-सहित भी होते हैं ॥२१८॥

होती साधिक एक उदधि, उत्कृष्ट आयु भौमेयो की ।
दश-सहस्र वत्सर जघन्य, कालावधि इनके जीवन की ॥२१९॥

व्यन्तर देवो की न्यून स्थिति, दश सहस्र वत्सर होती है ।
उत्कृष्ट एक पल्योपम की, कालावधि उनकी होती है ॥२२०॥

उत्कृष्ट पल्य और लाख वर्ष, परमा स्थिति ज्योतिषि अमरो को ।
पल्योपम अष्टाश आयु-स्थिति, होती जघन्य उन दोनो की ॥२२१॥

सौधर्म देव की आयु-स्थिति, होती जघन्य पल्योपम की ।
उत्कृष्टरूप से बतलाई, कालावधि है दो सागर की ॥२२२॥

साधिक सागर दो की आयु, उत्कृष्टरूप से बतलाई ।
ईशानकल्प मे न्यूनकाल, साधिक पल्योपम दर्शाई ॥२२३॥

उदधि सात परिमित आयु, उत्कृष्ट रूप से बतलाया ।
सनत्कुमार मे दो सागर, का जघन्य जीवन समझाया ॥२२४॥

साधिक सागर सात आयु, उत्कृष्ट-काल है बतलाई ।
माहेन्द्रकल्प मे दो सागर, साधिक जघन्य भी समझाई ॥२२५॥

दश सागर परिमित होती, उत्कृष्ट ब्रह्मवासी सुर की ।
है सागर सात जघन्य आयु, बतलाई श्रुत मे पचम की ॥२२६॥

सागर चौदह की बतलाई, उत्कृष्ट आयु लान्तक सुर की ।
जघन्यकाल दश सागर की, आयुस्थिति होती है उनकी ॥२२७॥

सत्रह सागर की बतलाई, उत्कृष्ट आयु सुर सप्तम की ।
महाशुक्र की आयु न्यून, होती है चौदह सागर की ॥२२८॥

अष्टादश सागर बतलाई, उत्कृष्ट आयु उत्तम सुर की ।
सहस्रार सुरलोक मे होती, जघन्य सत्रह सागर की ॥२२९॥

उन्नीस सागर बतलाई, उत्कृष्ट आयुस्थिति 'आनत' की ।
अट्ठारह सागर की जानो, अतिन्यून स्थिति सुर जीवन की॥२३०॥

उत्कृष्ट बीस सागर जानो, प्राणत सुरभव का आयुमान ।
सागर उन्नीस का होता है, अतिन्यून आयु लो उन्हें जान ।।२३१।।

सागर इक्कीस की होती है, उत्कृष्ट आयु आरण सुर की ।
बीस सागरोपम जघन्य, आयु-स्थिति आरण-देवों की ।।२३२।।

सागर बाईस की बतलाई, उत्कृष्ट काल अच्युत सुर की ।
इक्कीस सागरोपम की है, अतिन्यून आयु उन सुर-जन की ।।२३३।।

सागर तेईस की बतलाई, उत्कृष्ट प्रथम ग्रैवेयक की ।
सागर बाईस आयु जघन्य, होती वहां के सुरवर की ।।२३४।।

सागर चौबीस उत्कृष्ट होता, द्वितीय ग्रैवेयक मे कालमान ।
न्यूनातिन्यून तेईस सागर, उनका होता है आयु मान ।।२३५।।

उत्कृष्ट पच्चीस सागर का है, तृतीय ग्रैवेयक मे कालमान ।
समझो सागर चौबीस उनका अतिन्यून आयु का काल माना।।२३६।।

सागर छब्बीस का उत्कृष्ट, चौथे ग्रैवेयक का कालमान ।
सागर पच्चीस का होता है, अतिन्यून आयु का यह प्रमाण ।।२३७।।

सागर सत्ताईस उच्चायु-स्थिति, पचम ग्रैवेयक मे होता ।
सागर छब्बीस जघन्य जानो, उनकी वहाँ देह स्थिति होती ।।२३८।।

सागर अट्ठाईस उत्कृष्ट होता, छट्ठे ग्रैवेयक का आयुमान ।
सागर सत्ताईस का जघन्य, होता जीवन का वहा प्रमाण ।।२३९।।

सागर उन्तीस की बतलाई, सप्तम ग्रैवेयक की परम आयु ।
सागर अट्ठाईस की होती है, जघन्य वहा सुर की आयु ।।२४०।।

उत्कृष्ट तीस सागर जानो, अष्टम ग्रैवेयक का आयुमान ।
उन्तीस सागरोपम होता, अतिन्यून आयु का कालमान ।।२४१।।

सागर इकतीस परम होता, उत्कृष्ट नवम का आयुमान ।
समझो सागर तीस न्यून, उस ग्रैवेयक-सुर का कालमान ।।२४२।।

सागर तेतीस उत्कृष्ट कहा, विजयादिक का है आयुमान ।
जघन्य इन अनुत्तर चारो का, इकतीस उदधि का कालमान ।।२४३।।

ना न्यूनाधिक का आयुमान, सागर तेतीस का बतलाया ।
महाविमान सर्वार्थसिद्ध का, कालमान प्रभु ने गाया ।।२४४।।

जितनी होती आयुस्थिति, सुरभव मे सारे देवो की।
वही जघन्य-उत्कृष्ट कही, कायस्थिति उन सब अमरो की ॥२४५॥

होता जघन्यत कालान्तर, अन्तर्मुहूर्त्त उन देवो का।
सुरभव का अन्तर होता है, अनन्तकाल फिर आने का ॥२४६॥

[आनत आदि कल्पवासी, नव-ग्रैवेयक देवो का।
अन्तरकाल जघन्य पृथक्, उत्कृष्ट अनन्तकाल होता ॥

अन्तरकाल जघन्य पृथक्, है वर्ष अनुत्तर देवो का।
उत्कृष्ट सख्येय सागरोपम, होता है काल वहा उनका ॥][1]

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थानभाव से हो जाते।
स्वर्गलोक के देवो मे, यो भेद सहस्रो बन जाते ॥२४७॥

अन्वयार्थ—देवा—देव, चउव्विहा—चार प्रकार के, वुत्ता—कहे गए हैं (यथा)—भोमिज्ज—भौमेय=भवनवासी, वाणमतर—वाणव्यन्तर, जोइस—ज्योतिषी ज्योतिष्क, तहा—तथा, वेमाणिया—वैमानिक, ते कित्तयओ—उनका वर्णन मैं करता हूं (तुम), मे सुण—मुझसे सुनो ॥२०४॥

भवणवासी—भवनवासीदेव, दसहा—दस प्रकार के है, वणचारिणो—वाण-व्यन्तरदेव, अट्ठहा—आठ प्रकार के हैं, जोइसिया—ज्योतिष्कदेव, पचविहा—पाच प्रकार के है, तहा—तथा, वेमाणिया—वैमानिकदेव, दुविहा—दो प्रकार के हैं॥२०५॥

असुरा—असुरकुमार, नाग—नाग कुमार, सुवण्णा—सुपर्णकुमार, विज्जू—विद्युत्कुमार, अग्गी—अग्निकुमार, दीवोदहि—द्वीपकुमार और उदधिकुमार, दिसा—दिक्कुमार, वाया—वायुकुमार, य—और, थणिया—स्तनितकुमार (ये दस) भवणवासिणो आहिया—भवनवासीदेव कहे गए हैं ॥२०६॥

पिसाय—पिशाच, भूय—भूत, जक्खा—यक्ष, य—तथा, रक्खसा—राक्षस, किन्नरा—किन्नर, य किंपुरिसा—और किम्पुरुष, महोरगा—महोरग, य—तथा, गन्धव्वा—गन्धर्व (ये), अट्ठविहा—आठ प्रकार के, वाणमन्तरा—वाणव्यन्तरदेव हैं ॥२०७॥

चदा—चन्द्रमा, सूरा—सूर्य, नक्खत्ता—नक्षत्र, य—और, गहा—ग्रह तहा—तथा, तारागणा—तारागण, चेव—ये ही, दिसा-विचारिणो—दिशाविचारी

---

१ अधिक पाठ—इस चिन्ह [ ] से अकित दो गाथाएं मूल पाठ मे नही है अधिक हैं फिर भी उनका पद्यानुवाद दिया गया है।—स०

अर्थात् मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करने वाले, पचहा—पांच प्रकार के, जोइसालया—ज्योतिष्क देव हैं ॥२०८॥

जे उ—और जो, वेमाणिया देवा—वैमानिक देव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं (वे) कप्पोवगा—कल्पोपक, तहेव य—तथा, कप्पाईया—कल्पातीत, बोद्धव्वा—जानने चाहिए ॥२०९॥

कप्पोवगा—कल्पोपक वैमानिक देव, बारसहा—बारह प्रकार के हैं (यथा), सोहम्मीसाणगा—सौधर्म ईशानक, सणकुमार—सनत्कुमार, माहिंदा—माहेन्द्र, तहा—तथा, बम्भलोगा—ब्रह्मलोक, य—और, लंतगा—लान्तक, महासुक्का—महाशुक्र, सहस्सारा—सहस्रार, आणया—आनत, तहा—तथा, पाणया—प्राणत, आरणा—आरण, चेव—और, अच्चुया—अच्युत, इइ—इस प्रकार (ये बारह प्रकार के), कप्पोवगा—कल्पोपक, सुरा—देव हैं ॥२१०-२११॥

जे उ—और जो, कप्पाईया देवा—कल्पातीत देव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं, (यथा), गेविज्जा—ग्रैवेयक, चेव—और, अणुत्तरा—अनुत्तर विमानवासी, तहिं—उनमें से, गेविज्जा—ग्रैवेयक देव, नवविहा—नौ प्रकार के हैं ॥२१२॥

(यथा) हेट्ठिमा-हेट्ठिमा—अधस्तन-अधस्तन, चेव—और, हेट्ठिमा-मज्झिमा—अधस्तन-मध्यम, तहा—तथा, हेट्ठिमा-उवरिमा—अधस्तन-उपरितन, चेव—और, मज्झिमा-हेट्ठिमा—मध्यम-अधस्तन, तहा—तथा, मज्झिमा-मज्झिमा—मध्यम-मध्यम, चेव—और, मज्झिमा-उवरिमा—मध्यम-उपरितन, तहा—तथा, उवरिमा-हेट्ठिमा—उपरितन-अधस्तन, चेव—और, उवरिमा मज्झिमा—उपरितन-मध्यम, तहा—तथा, उवरिमा-उवरिमा—उपरितन-उपरितन, इय—इस प्रकार (ये नौ) गेविज्जा सुरा—ग्रैवेयक देव हैं।

विजया—विजय, वेजयंता—वैजयन्त, जयन्ता—जयन्त, य—और, अपराजिया—अपराजित, चेव—एव, सव्वट्ठ-सिद्धगा—सर्वार्थ-सिद्ध (ये), पचहा—पाँच प्रकार के, अणुत्तरा सुरा—अनुत्तर देव हैं।

इइ एवमायओ—इत्यादि (इस प्रकार के), वेमाणिया देवा—वैमानिक देव, णेगहा—अनेक प्रकार के हैं ॥२१३-२१४-२१५ २१६॥

ते सव्वे—वे सभी (चारों जाति के देव), लोगस्स—लोक के, एगदेसम्मि—एक देश में, परिकित्तया—कहे गये हैं, इत्तो—इस निरूपण के पश्चात्, चउव्विहं—चार प्रकार से, तेसिं—उनके, कालविभागं तु—कालविभाग का, वुच्छं—कथन करूंगा ॥२१७॥

जितनी होती आयुस्थिति, सुरभव मे सारे देवो की।
वही जघन्य-उत्कृष्ट कही, कायस्थिति उन सब अमरो की ॥२४५॥

होता जघन्यत कालान्तर, अन्तर्मुहूर्त्त उन देवो का।
सुरभव का अन्तर होता है, अनन्तकाल फिर आने का ॥२४६॥

[आनत आदि कल्पवासी, नव-ग्रैवेयक देवो का।
अन्तरकाल जघन्य पृथक्, उत्कृष्ट अनन्तकाल होता ॥

अन्तरकाल जघन्य पृथक्, है वर्ष अनुत्तर देवो का।
उत्कृष्ट सख्येय सागरोपम, होता है काल वहा उनका ॥][1]

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थानभाव से हो जाते।
स्वर्गलोक के देवो मे, यो भेद सहस्रो बन जाते ॥२४७॥

अन्वयार्थ—देवा—देव, चउव्विहा—चार प्रकार के, वुत्ता—कहे गए हैं (यथा)—भोमिज्ज—भौमेय—भवनवासी, वाणमतर—वाणव्यन्तर, जोइस—ज्योतिषी ज्योतिष्क, तहा—तथा, वेमाणिया—वैमानिक, ते कित्तयओ—उनका वर्णन मैं करता हूं (तुम), मे सुण—मुझसे सुनो ॥२०४॥

भवणवासी—भवनवासीदेव, दसहा—दस प्रकार के है, वणचारिणो—वाण-व्यन्तरदेव, अट्ठहा—आठ प्रकार के हैं, जोइसिया—ज्योतिष्कदेव, पचविहा—पाच प्रकार के है, तहा—तथा, वेमाणिया—वैमानिकदेव, दुविहा—दो प्रकार के हैं॥२०५॥

असुरा—असुरकुमार, नाग—नाग कुमार, सुवण्णा—सुपर्णकुमार, विज्जू—विद्युत्कुमार, अग्गी—अग्निकुमार, दीवोदहि—द्वीपकुमार और उदधिकुमार, दिसा—दिक्कुमार, वाया—वायुकुमार, य—और, थणिया—स्तनितकुमार (ये दस) भवणवासिणो आहिया—भवनवासीदेव कहे गए है ॥२०६॥

पिसाय—पिशाच, भूय—भूत, जक्खा—यक्ष, य—तथा, रक्खसा—राक्षस, किन्नरा—किन्नर, य किंपुरिसा—और किम्पुरुष, महोरगा—महोरग, य—तथा, गन्धव्वा—गन्धर्व (ये), अट्ठविहा—आठ प्रकार के, वाणमन्तरा—वाणव्यन्तरदेव हैं ॥२०७॥

चदा—चन्द्रमा, सूरा—सूर्य, नक्खत्ता—नक्षत्र, य—और, गहा—ग्रह, तहा—तथा, तारागणा—तारागणा, चेव—ये ही, दिसा-विचारिणो—दिशाविचारी

---

१ अधिक पाठ—इस चिन्ह [ ] से अकित दो गाथाएं मूल पाठ मे नही हैं अधिक हैं फिर भी उनका पद्यानुवाद दिया गया है।—स०

अर्थात् मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करने वाले, पचहा—पांच प्रकार के, जोइसालया—ज्योतिष्क देव हैं ॥२०८॥

जे उ—और जो, वेमाणिया देवा—वैमानिक देव है, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं (वे) कप्पोवगा—कल्पोपक, तहेव य—तथा, कप्पाईया—कल्पातीत, बोद्धव्वा—जानने चाहिए ॥२०९॥

कप्पोवगा—कल्पोपक वैमानिक देव, बारसहा—बारह प्रकार के हैं (यथा), सोहम्मीसाणगा—सौधर्म ईशानक, सणकुमार—सनत्कुमार, माहिंदा—माहेन्द्र, तहा—तथा, बम्भलोगा—ब्रह्मलोक, य—और, लंतगा—लान्तक, महासुक्का—महाशुक्र, सहस्सारा—सहस्रार, आणया—आनत, तहा—तथा, पाणया—प्राणत, आरणा—आरण, चेव—और, अच्चुया—अच्युत, इइ—इस प्रकार (ये बारह प्रकार के), कप्पोवगा—कल्पोपक, सुरा—देव हैं ॥२१०-२११॥

जे उ—और जो, कप्पाईया देवा—कल्पातीत देव हैं, ते—वे, दुविहा—दो प्रकार के, वियाहिया—कहे गए हैं, (यथा), गेविज्जा—ग्रैवेयक, चेव—और, अणुत्तरा—अनुत्तर विमानवासी, तहिं—उनमें से, गेविज्जा—ग्रैवेयक देव, नवविहा—नौ प्रकार के हैं ॥२१२॥

(यथा) हेट्ठिमा-हेट्ठिमा—अधस्तन-अधस्तन, चेव—और, हेट्ठिमा-मज्झिमा—अधस्तन-मध्यम, तहा—तथा, हेट्ठिमा-उवरिमा—अधस्तन-उपरितन, चेव—और, मज्झिमा-हेट्ठिमा—मध्यम-अधस्तन, तहा—तथा, मज्झिमा-मज्झिमा—मध्यम-मध्यम, चेव—और, मज्झिमा-उवरिमा—मध्यम-उपरितन, तहा—तथा, उवरिमा-हेट्ठिमा—उपरितन-अधस्तन, चेव—और, उवरिमा मज्झिमा—उपरितन-मध्यम, तहा—तथा, उवरिमा-उवरिमा—उपरितन-उपरितन, इय—इस प्रकार (ये नौ) गेविज्जा सुरा—ग्रैवेयक देव हैं।

विजया—विजय, वेजयंता—वैजयन्त, जयन्ता—जयन्त, य—और, अपराजिया—अपराजित, चेव—एव, सव्वट्ठ-सिद्धगा—सर्वार्थ-सिद्ध (ये), पचहा—पाँच प्रकार के, अणुत्तरा सुरा—अनुत्तर देव है।

इइ एवमायओ—इत्यादि (इस प्रकार के), वेमाणिया देवा—वैमानिक देव, णेगहा—अनेक प्रकार के हैं ॥२१३-२१४-२१५ २१६॥

ते सव्वे—वे सभी (चारों जाति के देव), लोगस्स—लोक के, एगदेसम्मि—एक देश में, परिकित्तया—कहे गये हैं, इत्तो—इस निरूपण के पश्चात, चउव्विहं—चार प्रकार से, तेसिं—उनके, कालविभाग तु—कालविभाग का, वुच्छं—कथन करूंगा ॥२१७॥

(वे) संतइं पप्प—प्रवाह की अपेक्षा से, अणाईया—अनादि, य—और, अपज्जवसिया वि—अनन्त है, य—तथा, ठिइं पडुच्च—स्थिति की अपेक्षा से, साईया-सपज्जवसिया वि—सादि-सान्त भी है ॥२१८॥

भोमेज्जाण—भवनवासी देवो की, ठिई—(आयु) स्थिति, उक्कोसेण—उत्कृष्टत, साहियं—किंचित् अधिक, एक्कं सागरं—एक सागरोपम की (और), जहन्नेण—जघन्यत, दसवास-सहस्सिया—दस हजार वर्ष की, भवे—होती है ॥२१९॥

वंतराण—व्यन्तर देवो की, उक्कोसेण—उत्कृष्ट, ठिई—(आयु) स्थिति, एग पलिओवम—एक पल्योपम की है, तु—किन्तु, जहन्निया—जघन्य (स्थिति), दसवास सहस्सिया—दस हजार वर्ष की, भवे—होती है ॥२२०॥

जोइसेसु—ज्योतिष्क देवो की, (उत्कृष्ट आयु स्थिति), वास-लक्खेण साहिय एग पलिओवम—एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है, (और) जहन्निया—जघन्य, पलिओवमऽट्ठभागो—पल्योपम के आठवे भाग की है ॥२२१॥

सोहम्मम्मि—सौधर्म देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण—उत्कृष्ट (आयु-स्थिति), दो सागरोवमाइं—दो सागरोपम की, वियाहिया—कही गई है, चेव—और, जहन्नेण—जघन्य, एग च पलिओवम—एक पल्योपम की है ॥२२२॥

ईसाणम्मि—ईशान देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण—उत्कृष्ट (आयुस्थिति) दोन्निसागरा-साहिया—किञ्चित अधिक दो सागरोपम की, वियाहिया—कही गई है चेव—और, जहन्नेण—जघन्यत, साहियं पलिओवम—किञ्चित अधिक एक पल्योपम की है ॥२२३॥

सणंकुमारे—सनत्कुमार देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, सत्तेव सागराणि—सात सागरोपम की (और), जहन्नेण—जघन्य, दुन्नि उ सागरोवमा—दो सागरोपम की, भवे—होती है ॥२२४॥

माहिंदम्मि—माहेन्द्र देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, सत्त सागरा साहिया—किंचित् अधिक सात सागरोपम की (और), जहन्नेण—जघन्य, दुन्नि सागरा साहिया—कुछ अधिक दो सागरोपम की, भवे—होती है ॥२२५॥

बंभलोए—ब्रह्मलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु)स्थिति, दस सागराइं—दस सागरोपम की, चेव—और, जहन्नेण—जघन्य, सत्त उ सागरोवमा—सात सागरोपम की, भवे—होती है ॥२२६॥

लंतगम्मि—लान्तक देवलोक मे (देवो की, उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, चउद्दस सागराइं—चौदह सागरोपम की (तथा), जहन्नेण—जघन्य, दस उ सागरोवमा—दस सागरोपम की, भवे—होती है ॥२२७॥

महासुक्के—महाशुक्र देव लोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट आयु स्थिति, सत्तरस सागराइ—सत्तह सागरोपम की (और), जहन्नेण—जघन्य स्थिति, चउद्दस सागरोवमा—चौदह सागरोपम की, भवे—होती है ॥२२८॥

सहस्सारे—सहस्रार देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, अट्ठारस सागराइ—अठारह सागर की, (और) जहन्नेण—जघन्य (स्थिति), सत्तरस सागरोवमा—सत्रह सागरोपम की, भवे—होती है ॥२२९॥

आणयम्मि—आनतदेवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, अउणवीस सागरा—उन्नीस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य, अट्ठारस सागरोवमा—अठारह सागरोपम की है ॥२३०॥

पाणयम्मि—प्राणत देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट आयु स्थिति, वीस सागराइ—बीस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य (स्थिति), अउणवीसई सागरा—उन्नीस सागरोपम की है ॥२३१॥

आरणम्मि—आरण देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट स्थिति, इक्कवीस सागरा—इक्कीस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य (स्थिति), वीसई सागरोवमा—बीस सागरोपम की है ॥२३२॥

अच्चुयम्मि—अच्युत देवलोक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, बावीस सागराइ—बाईस सागरोपम की, (और) जहन्नेण—जघन्य, इक्कवीसई सागरा—इक्कीस सागरोपम की, भवे—होती है ॥२३३॥

पढमम्मि—प्रथम ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, तेवीस सागराइ—तेईस सागरोपम की (और), जहन्नेण—जघन्य, बावीस सागरोवमा—बाईस सागरोपम की, भवे—होती है ॥२३४॥

बिइयम्मि—द्वितीय ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, चउवीस सागराइ—चौवीस सागरोपम की, (और), जहन्नेण—जघन्य, तेवीस सागरोवमा—तेईस सागरोपम की, भवे—होती है ॥२३५॥

तइयम्मि—तृतीय ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट स्थिति, पणवीस सागराइ—पच्चीस सागरोपम की, (और), जहन्नेण—जघन्य, चउवीस सागरोवमा—चौवीस सागरोपम की, भवे—होती है ॥२३६॥

चउत्थम्मि—चतुर्थ ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, छव्वीस सागराइ—छव्वीस सागरोपम की, (और) जहन्नेण—जघन्य, पणुवीसई सागरा—पच्चीस सागरोपम की, भवे—होती है ॥२३७॥

पचमम्मि—पचम ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु)

स्थिति, सत्तवीस सागरा—सत्ताईस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य, छव्वीसई सागरा उ—छब्बीस सागरोपम की है ॥२३८॥

छट्ठम्मि—छठे ग्रैवेयक मे (देवो की) उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, अट्ठवीस सागरा—अट्ठाईस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य, सत्तवीसई सागरा—सत्ताईस सागरोपम की है ॥२३९॥

सत्तमम्मि—सप्तम ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, अउणतीस सागरा—उन्तीस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य, अट्ठवीसई सागरा—अट्ठाईस सागरोपम की है ॥२४०॥

अट्ठमम्मि—अष्टम ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु) स्थिति, तीस सागराइ—तीस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्यत, अउणतीसई सागरा—उन्तीस सागरोपम की है ॥२४१॥

नवमम्मि—नवम ग्रैवेयक मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु-) स्थिति, इक्कतीस सागरा—इकत्तीस सागरोपम की, भवे—होती है, तु—किन्तु, जहन्नेण—जघन्य, तीसई सागर वमा—तीस सागरोपम की है ॥२४२॥

विजयाईसु चउसु वि—विजयादि (विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित) चारो मे (देवो की), उक्कोसेण ठिई—उत्कृष्ट (आयु-) स्थिति, तेत्तीस सागरा—तेतीस सागरोपम की, भवे—होती है, उ—किन्तु, जहन्नेणेक्कतीसइ—जघन्य इकत्तीस सागरोपम की, (होती है) ॥२४३॥

महाविमाण-सव्वट्ठे—महाविमान सर्वार्थसिद्ध के (देवो की), अजहन्नमणुक्कोसा—अजघन्य-अनुत्कृष्ट, (अर्थात्—न जघन्य और न उत्कृष्ट, एक जैसी), एसा ठिई—यह (आयु) स्थिति, तेत्तीस सागरोवमा—तेतीस सागरोपम की है। ॥२४४॥

देवाण—देवो की, (पूर्वोक्त), जा चेव उ—जो भी, आउठिई—आयु-स्थिति, वियाहिया—कही गई है, सा उ—वही, तेसिं—उनकी, जहन्नुक्कोसियाकायठिई—जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति, भवे—होती है ॥२४५॥

देवाण—देवो का, सए काय विजढम्मि—अपने (देव) शरीर को छोडने पर (पुन देव के शरीर के उत्पन्न होने मे), अतर—अन्तर (काल-व्यवधान), जहन्नय अन्तोमुहुत्त—जघन्य अन्तर्मुहूर्त का, (और), उक्कोस—उत्कृष्ट, अणतकाल—अनन्तकाल का, हुज्जा—होता है ॥२४६॥

एएसिं—इन (सभी देवो) के, वण्णओ गन्धओ रस फासओ चेव—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से, वा—अथवा, सठाणादेसओ वि—सस्थान की अपेक्षा से भी, सहस्ससो विहाणाइं—हजारो भेद हो जाते है ॥२४७॥

विशेषार्थ—चार प्रकार के देवो का निरूपण—भवनवासी देव—जो प्राय भवनो मे रहते हैं, वे भवनवासी या भवनपति अथवा भौमेय कहलाते हैं। इनमे से केवल असुरकुमार विशेषतया आवासो मे रहते हैं, शेष नागकुमार आदि नौ प्रकार के भवनवासी देव भवनो मे रहते हैं। इनका निवासस्थान अधोलोक मे है। रत्नप्रभा का पृथ्वीपिण्ड १ लाख ८० हजार योजन स्थूल है। उसमे से १ हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोडकर बीच के १ लाख ७८ हजार योजन मे भवनपति देवो के ७ करोड ७२ लाख भवन हैं। असुरकुमारो के आवास प्राय रत्नो की प्रभा वाले चदोवो से युक्त तथा उनके शरीर की अवगाहना के अनुसार लम्बे-चौडे तथा ऊँचे होते हैं। शेष नागकुमारादि के भवन बाहर गोल और अन्दर से चौकोर होते हैं, नीचे का भाग कमलकर्णिका के आकार-सा होता है। ये कुमारो जैसे आकार-प्रकार एव रूप वाले दर्शनीय, प्रिय एव ललित मधुर-भाषी होते है, इसलिए इन्हे कुमार कहा जाता है। इनकी कुमारो की-सी वेष-भूषा एव चेष्टा भी होती है।

वाणव्यन्तरदेव—ये प्राय वनो मे, गुफाओ मे, वृक्षो के विवरो मे या प्राकृतिक सौन्दर्य वाले स्थानो मे रहते हैं, ये तीनो लोको मे अपनी इच्छा-नुसार भ्रमण करते हुए पूर्वोक्त यथेष्ट स्थानो मे निवास करते हैं, इसलिए वाण व्यन्तर कहलाते हैं। तिर्यक्लोक मे इनकी असख्यात राजधानियाँ हैं। आणपन्नी, पाणपन्नी आदि नाम से व्यन्तर देवो के जो आठ प्रकार कहे जाते हैं, उनका इन्ही आठो मे समावेश हो जाता है। इनके उत्कर्ष-अपकर्षमय रूप विशेष हैं।

ज्योतिष्कदेव—ये सभी तिर्यक्लोक को अपनी ज्योति से प्रकाशित करते हैं, इसलिए ज्योतिष्क या ज्योतिषी कहलाते है। इनके विमान निरन्तर सुमेरुपर्वत की प्रदक्षिणा किया करते है। अढाईद्वीप मे गतिशील है, अढाई द्वीप के बाहर ये स्थिर हैं।

वैमानिक देव—जो विशेषरूप से माननीय है और किये हुए शुभ कर्मो का फल विमानो मे उत्पन्न होकर यथेच्छ भोगते हैं, और विमानो मे ही निवास करते हैं, वे वैमानिक या विमानवासी देव कहलाते हैं। जिन वैमानिक देवो मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल आदि दस प्रकार के देवो का कल्प अर्थात् मर्यादा या आचार-व्यवहार हो, वे देव-कल्पोपग या

कल्पोपपन्न कहलाते हैं। इसके विपरीत जिन देवलोको मे इन्द्रादि की भेद-मर्यादा नही होती, वहाँ के देव कल्पातीत (अहमिन्द्र—स्वामी-सेवक-भावरहित) कहलाते है। सौधर्म से लेकर अच्युत देवलोक (कल्प) तक के देव कल्पोपपन्न और इनसे ऊपर के नौ ग्रैवेयक एव पच अनुत्तर विमानवासी देव कल्पातीत कहलाते है। जिस नाम के कल्प मे जो देव उत्पन्न होता है, वह उसी नाम से पुकारा जाता है।

ग्रैवेयकदेव—लोक पुरुष के आकार का है, उसमे ग्रीवा (गर्दन) के स्थानापन्न देव नौ ग्रैवेयक कहलाते हैं। ग्रीवा के आभूषण की तरह लोकरूप पुरुष के ये नौ ग्रैवेय-आभूषण विशेष होते हैं। ग्रैवेयको के तीन-तीन त्रिक २१३ से २१५ गा तक मे बताए गये है।[1]

अनुत्तर विमानवासी देव—ये देव सबसे ऊँचे, उत्कृष्ट तथा अन्तिम विमानो मे रहते हैं, अथवा जिनसे उत्तर=अधिक प्रधान स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्यादि अन्यत्र देवयोनि मे नही है, इस कारण ये अनुत्तर विमानवासी कहलाते हैं। ये देव ५ प्रकार के हैं।[2]

देवो की कायस्थिति—जिन देवो की जो भी जघन्य-उत्कृष्ट आयु (भव) स्थिति कही गई है, वही उनकी जघन्य-उत्कृष्ट काय-स्थिति है, क्योकि देव अपने देवभव से च्यवन करके बिना कोई अन्य भव किये अगले भव मे सीधे देव नही हो सकता इस कारण उनकी आयु-स्थिति और कायस्थिति दोनो समान हैं।[3]

अन्तरकाल—देवपर्याय से च्यवकर पुन देव पर्याय मे देवरूप मे उत्पन्न होने का उत्कृष्ट अन्तर (व्यवधान) अनन्तकाल का बताया गया है, उसका आशय यह है कि देव देवशरीर का त्याग करके अन्यान्य योनियो मे जन्म-मरण करता हुआ पुन देवयोनि मे जन्म ले तो अधिक से अधिक अन्तर अनन्तकाल का पडेगा।[4]

---

१ (क) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३, पृ
  (ख) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ९११-९१२
  (ग) उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २ पत्र ३६२ से ३६५ तक
२ (क) उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ९१२
  (ख) उत्तरा (आचार्यश्री आत्मारामजी म) भा ३ पृ
३ उत्तरा गुजराती भाषान्तर भा २, पत्र ३६६
४ उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ ९३४

उपसंहार और श्रमण वर्ग का कर्त्तव्य

मूल—संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहा वि य ॥२४८॥
इइ जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाणमणुमए, रमेज्ज संजमे मुणी ॥२४९॥

पद्यानु०—संसारी और सिद्ध भेद से, द्विविध जीव कहलाते हैं ।
अजीव के भी द्विविध भेद, मूर्त्तामूर्त्त कहलाते हैं ॥२४८॥
यों जीव अजीवों का सुन वर्णन, मन में शुभ श्रद्धान करे ।
रमण करे सब नय से अनुमत, संयम में स्थिर चित्त धरे ॥२४९॥

अन्वयार्थ—इय—इस प्रकार, संसारत्था—संसारस्थ (संसारी), य—और, सिद्धा य जीवा—सिद्ध जीवों का, वियाहिया—व्याख्यान किया गया । य—साथ ही, रूविणो अरूवी चेव दुविहा अजीवा वि—रूपी और अरूपी के भेद से, दो प्रकार के अजीवों का भी (व्याख्यान हो गया ।)॥२४८॥

इइ—इस प्रकार, जीवमजीवे—जीव और अजीव (के व्याख्या) को, सोच्चा—सुनकर, य—और, सद्दहिऊण—उस पर श्रद्धा करके, सव्वनयाण—(ज्ञान और क्रिया आदि) सभी नयों से, अणुमए—अनुमत, संजमे—संयम में, मुणी—मुनि, रमेज्ज—रमण करे ॥२४९॥

विशेषार्थ—जीवाजीवविभक्ति की फलश्रुति और प्रेरणा—प्रस्तुत गा २४९ में बताया गया है कि साधक जीव और अजीव के विभाग को सम्यक् प्रकार से सुने, तत्पश्चात् उस पर श्रद्धा करे 'भगवान ने जैसा कहा है, वह सब सत्य है, निःशंक है ।' किन्तु इतने से ही साधक अपने आपको कृतार्थ न समझ ले, तत्पश्चात् वह ज्ञाननय और क्रियानय के अन्तर्गत रहे हुए नैगमादि सर्वनय अनुमत संयम=चारित्र में रमण करे । फलितार्थ यह है कि 'सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन को सम्यक्चारित्र' में परिणत करे ।[1]

संलेखना साधक की अन्तिम आराधना—

मूल—तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिया ।
इमेण कम-जोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥२५०॥
बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे ।
संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥२५१॥

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४ पृ ९३६

पढमे वासचउक्कम्मि, विगई-निज्जूहण करे।
बीइए वास-चउक्कम्मि, विचित्त तु तवं चरे ॥२५२॥
एगतरमायाम, कट्टु सवच्छरे दुवे।
तओ सवच्छरद्ध तु, नाइविगिट्ठ तव चरे ॥२५३॥
तओ सवच्छरद्ध तु, विगिट्ठ तव चरे।
परिमिय चेव आयाम तमि सवच्छरे करे ॥२५४॥
कोडि-सहियमायामं, कट्टु सवच्छरे मुणी।
मासद्ध-मासिएण तु, आहारेण तव चरे ॥२५५॥

पद्यानु०—वर्षो लग फिर श्रमण धर्म का, विमल भाव से पालन कर।
शास्त्र-कथित क्रम से आत्मा को, हलका कर सलेखन कर।२५०।
बारह वर्षो की उत्कृष्टा, सलेखना श्रुत मे बतलाई।
मध्यम सवत्सर की होती, छह मास जघन्या कहलाई ॥२५१॥

साधक प्रथम वर्ष चतुष्टय मे, विकृतियो का वर्जन कर दे।
फिर द्वितीय वर्ष-चतुष्टय मे, नानाविध तप-साधन करले॥२५२॥

फिर दो वर्षों तक एकान्तर, पारण के दिन आचाम्ल करे।
वर्ष ग्यारहवें के छह महीने, अतिविकृष्ट तप नही करे ॥२५३॥

पिछले छह महीनो मे साधक, फिर षष्ठाष्टम तप ग्रहण करे।
परिमित आचाम्ल करे धारण, यो सवत्सर लग चरण करे ॥२५४॥

बारहवें वर्ष के आने पर, मुनि कोटि-सहित आचाम्ल करे।
फिर पक्ष मास जो भी चाहे, अनशन व्रत को स्वीकार करे।२५५।

अन्वयार्थ—तओ—तदनन्तर, बहूणि वासाणि—बहुत वर्षों तक, सामण्ण—श्रामण्य=श्रमणधर्म का, अनुपालिया—पालन करके, मुणी—मुनि, इमेण—इस (आगे बतलाये हुए) कमजोगेण—क्रम योग से, अप्पाण—आत्मा की, सलिहे—सलेखना (विकारो से क्षीणता) करे ॥२५०॥

सलेहुक्कोसिया—उत्कृष्ट सलेखना, बारसेव वासाइ—बारह वर्षों की, भवे—होती है, मज्झिमिया—मध्यम (सलेखना), सवच्छर—एक वर्ष की, य—और, जहन्निया—जघन्य (सलेखना), छम्मासा—छह मास की होती है ॥२५१॥

पढमे वास-चउक्कम्मि—प्रथम चार वर्षों मे, विगई-निज्जूहणं—(दूध-दही आदि) विकृतिकारक वस्तुओ (विगइयो) का त्याग, करे—करे। बिइए वास-चउक्कम्मि—दूसरे चार वर्षो मे, विचित्त तु तव चरे—विचित्र (विविध) तपश्चरण करे ॥२५२॥

तओ—तत्पश्चात्, दुवे संवच्छरे—दो वर्षों तक, एगतरमायाम—एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन पारणा), कट्टु—करके पारणा के दिन, आयाम—आचाम्ल करे। (तत्पश्चात्) (ग्यारहवे वर्ष मे) संवच्छरद्ध—अर्धसवत्सर (छह महीनो) तक, नाइविगिट्ठं तव चरे—कोई भी अति विकृष्ट (उग्र) तप न करे ॥२५३॥

तओ—तत्पश्चात्, संवच्छरद्ध तु—अर्ध संवत्सर—छह मास तक, विगिट्ठं—तव चरे—विकृष्ट तप करे। तमि संवच्छरे—उस पूरे वर्ष मे, परिमिय—परिमित पारणे के दिन सीमित, आयाम—आचाम्ल, करे—करे ॥२५४॥

संवच्छरे—(बारहवें वर्ष मे) एक वर्ष तक, कोडिसहिय आयाम—कोटि-सहित अर्थात्—निरन्तर आचाम्ल, कट्टु—करके, तु—फिर, (वह), मुणी—मुनि, मासद्ध-मासिएणं आहारेण—पक्ष या एक मास के आहार से, तव चरे—तप (अनशन) करे ॥२५५॥

विशेषार्थ—सलेखना स्वरूप और ग्रहण विधि—द्रव्य से शरीर को (तपस्या द्वारा) और भाव से कषायो को कृश (पतले) करना सलेखना है। सलेखना तभी अंगीकार की जाती है, जब साधक का शरीर अत्यन्त अशक्त, दुर्बल और रुग्ण हो गया हो, धर्मपालन करना दुष्कर हो गया हो, या ऐसा आभास हो गया हो कि अब यह शरीर दीर्घकाल तक नही टिकेगा, या कोई मारणान्तिक उपसर्ग हो गया हो। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने कहा है—"तओ बहूणि वासाणि सामण्णमणुपालिया" इसका आशय यह है कि शरीर अशक्त, दुर्बल एवं धर्मपालन मे अक्षम होने पर भी सलेखना ग्रहण करने मे उपेक्षा या उदासीनता न दिखाए।

सलेखना तीन प्रकार की है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्ट १२ वर्ष की है, जिसके तीन विभाग करते हैं—प्रत्येक विभाग ४-४ वर्ष का हो। प्रथम चार वर्ष मे विगइयो का त्याग करे, दूसरे चार वर्षो मे उपवास, बेला, तेला, चोला आदि तप करे, पारणे के दिन कल्पनीय वस्तुएँ ले। तृतीय वर्षचतुष्क मे दो वर्ष तक लगातार एकान्तर तप करे, पारणा मे आयम्बिल करे। तत्पश्चात् ११ वें वर्ष मे ६ महीने तक तेला, चोला

आदि कठोर तप न करें, फिर दूसरे ६ महीने मे वह नियम से वेला, तेला, चोला आदि उत्कृष्ट तप करे। इस ग्यारहवें वर्ष मे परिमित (थोडे ही) आयम्बिल करे, फिर बारहवें वर्ष मे लगातार ही आयम्बिल करे, जो कि कोटिसहित हो। तत्पश्चात् एक मास या एक पक्ष पहले से ही त्रिविधसहित भक्त-प्रत्याख्यान करे, यानी चतुर्विध आहार त्याग रूप सथारा करे। और अन्त मे आरम्भादि त्याग कर सबसे क्षमायाचना करके अन्तिम आराधना करे। यह सलेखना-सथारा की विधि है।[1]

समाधिमरण मे बाधक, साधक तत्व

मूल— कदप्पमाभिओग च, किव्विसिय मोहमासुरत्त च।
एयाओ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होति ॥२५६॥

मिच्छादसणरत्ता, सनियाणा हु हिसगा।
इय जे मरति जीवा, तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥२५७॥

सम्मदसण-रत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरति जीवा, सुलहा तेसि भवे बोही ॥२५८॥

मिच्छादसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरति जीवा, तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥२५९॥

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयण जे करेंति भावेण।
अमला असकिलिट्ठा, ते होति परित्त ससारी ॥२६०॥

बालमरणाणि बहुसो, अकाम-मरणाणि चेव य बहुयाणि।
मरिहति ते वराया, जिणवयण जे न जाणति ॥२६१॥

बहु-आगम-विण्णाणा, समाहि-उप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेण, अरिहा आलोयण सोउ ॥२६२॥

पद्यानु०—कन्दर्पी और आभियोगी, किल्विषी मोह या भाव आसुर।
दुर्गति-कारण इन भावो से, होता है विराधक वह मर कर ॥२५६॥

मिथ्यादर्शन मे लीन और, सनिदान हिंस्र जन जो मरते।
उनको होती दुर्लभ बोधि, जो इन भावो मे हैं रहते ॥२५७॥

---

१ उत्तरा० प्रियदर्शिनी टीका, भा० ४, पृ० ९४०-९४२।

सम्यक्त्व-लीन अनिदान और, उज्ज्वल लेश्या के सहचारी।
मरते जो ऐसे भावो मे, वे सुलभ बोधि के अधिकारी ॥२५८॥

मिथ्यादर्शन सक्त जीव, सनिदान कृष्ण लेश्याधारी।
ऐसे भावो मे जो मरते, उनके हित कठिन बोधि सारी ॥२५९॥

जिनवाणी मे रक्त और, जो जिनवचनो पर हैं चलते।
निर्मल क्लेश-रहित होते, वे सीमित भवसागर भ्रमते ॥२६०॥

बालमरण कई बार किये, अज्ञान मरण भी बहु पाये।
जो जिनवचनो के अज्ञानी, मरके भव-वन गोता खाये ॥२६१॥

विविध शास्त्र के जो ज्ञाता, गुणग्राही जो असमाधि हरे।
उपर्युक्त गुण युक्त योग्य, आलोचन सुन मन ग्रहण करे ॥२६२॥

अन्वयार्थ—कदप्प—कान्दर्पी, आभिओग—आभियोगी, च—और, किब्बिसिय—किल्विषिकी, मोह—मोही, च—और, आसुरत्त—आसुरी, एयाओ—ये (पाँचो भावनाएँ) दुग्गईओ—(दुर्गति की हेतु होने से) दुर्गतिरूप हैं। मरणम्मि—मृत्यु के समय मे (ये), विराहिया—(सयम या समाधि की) विराधक, होंति—होती हैं ॥२५६॥

जे जीवा—जो जीव (अन्तिम समय मे), मिच्छादसणरत्ता—मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त, सनियाणा—निदान से युक्त, (और) हिंसगा—हिंसक होते हैं, इय—इस प्रकार जो, मरंति—मरते हैं, तेसिं—उन्हें, पुण—पुन, बोही—बोधि, दुल्लहा—दुर्लभ होती हैं ॥२५७॥

(अन्तिम समय मे), जे जीवा—जो जीव, सम्मद्दसण-रत्ता—सम्यग्दर्शन मे अनुरक्त, अनियाणा—निदान से रहित (और) सुक्कलेसमोगाढा—शुक्ललेश्या मे अवगाढ (रच-पच) जाते हैं, (तथा), इय—इस प्रकार, (जो), मरंति—मरते हैं, तेसिं—उन्हे, बोही—बोधि, सुलहा—सुलभ, भवे—होती है ॥२५८॥

जे जीवा—जो जीव, (अन्तिम समय मे), मिच्छादसणरत्ता—मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त, सनियाणा—निदान-सहित, (और), कण्हलेसमोगाढा—कृष्णलेश्या मे अवगाढ (निमग्न) होते हैं, इय—इस प्रकार (जो), मरंति—मरते है, तेसिं—उन्हे, पुण—भी, बोही—बोधि, दुल्लहा—दुर्लभ होती हैं ॥२५९॥

जे—जो जीव (अन्तिम समय तक), जिणवयणे—जिनवचन मे, अणुरत्ता—अनुरक्त रहते हैं, (और) जिणवयण—जिनवचन का, भावेण करेंति—भावपूर्वक आचरण करते हैं, ते—वे, निम्मला—निर्मल (पवित्र) (और रागादि से)

असकिलिट्ठा—असक्लिष्ट होकर, परित्तससारी—परिमित ससार वाले, होंति—होते है ।।२६०।।

जे—जो, जिणवयण—जिनवचनो को, न जाणंति—नही जानते, ते बराया—वे बेचारे, बहुसो—बहुत बार, बालमरणाणि—बालमरणो से, चेव य—और, बहुयाणि अकाममरणाणि—अनेक वार अकाममरणो से, मरिहृति—मरते हैं (मरेंगे) ।।२६१।।

बहु-आगम-विन्नाणा—बहुत से आगमो के विज्ञाता, समाहि-उप्पायगा—समाधि (चित्त मे स्वस्थता) उत्पन्न करने वाले, य—और, गुणगाही—गुणग्राही होते हैं, (वे) एएण कारणेण—(इन गुणो) के कारण, आलोयण—आलोचना, सोउ—सुनने के, अरिहा—योग्य (होते है ।)।।२६२।।

विशेषार्थ—समाधिमरण मे बाधकतत्त्व—समाधिमरण के लिए सलेखना-पूर्वक विधि-सहित भक्तप्रत्याख्यान किये हुए मुनि के लिए, ये पाँच भावनाएँ अप्रशस्त हैं, रत्नत्रयरूप सयम की विराधक है, और इनके प्रभाव से जीव दुर्गतियो मे जाता है, इसलिए मरणकाल मे साधक को इन अप्रशस्त भावनाओ का त्याग करना आवश्यक है, क्योकि व्यवहार से साधक मे चारित्र का अस्तित्व होने पर भी ये दुर्गति मे ले जाने वाली हैं। वे पाँच भावनाएँ ये हैं—कान्दर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी। इनका स्वरूप आगे यथा-स्थान बतलाया जाएगा।

इनके अतिरिक्त मृत्यु के समय साधक के लिए ४ दोष समाधिमरण मे बाधक है, अतएव त्याज्य हैं। वे ये है—मिथ्यादर्शन, निदान, हिंसापरा-यणता और कृष्णलेश्या मे प्रवेश। इसके सिवाय जो जिनवचनो से अन-भिज्ञ हैं, अश्रद्धालु हैं और तदनुसार आचरण नही करते, वे रत्नत्रय से हीन-दीन समाधिमरण (पण्डितमरण) से वचित रहते हैं, फलत बार-बार बालमरण या अकाममरण से मरते रहते हैं, उन्हे बोधि अतीव दुर्लभ होती है।

समाधिमरण मे साधक तत्व—उक्त गाथाओ से यह तथ्य फलित होता है कि किसी साधक मे मृत्यु से पूर्व यदि ये अशुभ भावनाएँ कदाचित् रही हो, किन्तु मृत्यु के समय, भक्तप्रत्याख्यानकाल मे यदि वे नष्ट हो जाए, और शुभभावनाएँ जाग जाएँ तो वे प्रशस्त भावनाए साधक के लिए सयम की आराधक, समाधिमरण एव सुगति-प्राप्ति मे साधक व सहायक हो सकती हैं। अत उपर्युक्त गाथाओ के साथ-साथ समाधिमरण मे साधक गाथाएँ

भी यहाँ दी गई हैं। जिनमे समाधिमरण मे साधक ६ बातो का निर्देश किया गया है—(१) सम्यग्दर्शन मे दृढता-लीनता, (२) अनिदानता, (३) शुक्ललेश्या मे लीनता, (४) जिनवचन मे अनुरक्ति, (५) जिनवचनो की भावपूर्वक जीवन मे क्रियान्विति, एव (६) आलोचनादि द्वारा आत्मशुद्धि।

इन ६ तथ्यो को अपनाने से समाधिपूर्वक मरण तो होता ही है, आगामी जन्म मे उसे बोधि भी सुलभ हो जाती है, तथा मिथ्यात्वादि भावमल से तथा रागादि सक्लेशो मे रहित होने से वह साधक परित्त-ससारी बन जाता है, वह मोक्ष की ओर तीव्रता से गति-प्रगति करता है।

समाधिमरण के लिए आलोचना (शुद्धभाव से स्वदोष-प्रकटीकरण) श्रवण करने योग्य गुरुजन के समक्ष अपनी आलोचना, (आत्म) निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रतिक्रमण, क्षमापना, एव प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से गा २६२ मे बताया गया है कि तीन मुख्य गुणो का धारक ही आलोचना श्रवण के योग्य गुरु हो सकता है—(१) जो अग-उपाग आदि आगमो का विशिष्ट ज्ञाता हो, (२) जो देश, काल, पात्र, आशय आदि के विशेष ज्ञान से आलोचनाकर्ता के चित्त मे मधुर भाषणादि द्वारा समाधि उत्पन्न करने वाला हो, और (३) जो गुण-ग्राही गभीराशय साधक हो।[1]

कान्दर्पी आदि अप्रशस्त भावनाओ का निरूपण—

मूल—कदप्प-कुक्कुयाइ, तह सील-सहाव-हास-विगहाहिं।
विम्हावेंतो य पर, कदप्प-भावण कुणइ ॥२६३॥
मता जोग काउ, भूईकम्म च जे पउजंति।
साय-रस-इड्ढि-हेउ, अभिओग भावण कुणइ ॥२६४॥
नाणस्स केवलीण, धम्मायरियस्स सघ-साहूण।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावण कुणइ ॥२६५॥
अणुबद्ध-रोस-पसरो, तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवी।
एएहिं कारणेहिं आसुरिय भावण कुणइ ॥२६६॥
सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलण च जलपवेसो य।
अणायारभड-सेवी, जम्मण-मरणाणि बधति। २६७॥

---

१ उत्तरा प्रियदर्शिनी टीका, भा ४, पृ. ९४३ से ९५३ तक।

पद्यानु०—कन्दर्प कुचेष्टा और आचरण, स्वभाव हास्य और विकथा।
से परजन को विस्मित करता, कन्दर्प भावरत रहे वृथा ॥२६३॥
मन्त्र-योग का कर्म करे, और भूतिकर्म उपयोग करे।
साता-रस-ऋद्धि के हेतु वह, अभियोग भाव को प्राप्त करे ॥२६४॥
ज्ञान केवली धर्मगुरु और सघ चतुर्विध-दोष कहे।
मायी अवर्णवादी होकर वह, किल्विषीभाव को शीघ्र गहे ॥२६५॥
क्रोध परम्परा-वृद्धि करे, और निमित्त भाषण व्यर्थ करे।
महिमावर्द्धक इन कामो से, आसुरीभाव को प्राप्त करे ॥२६६॥
शस्त्रग्रहण या विषभक्षण, पावक जल से तन-नाश करे।
भाण्डचेष्टा व अनाचार से, वह जन्म-मरण को वृद्धि करे ॥२६७॥

अन्वयार्थ—(जो) कदप्प-कुक्कुयाइ—कन्दर्प (कामप्रधान चर्चा) करता है, कौत्कुच्य (हास्योत्पादक कुचेष्टाए) करता है, तह—तथा, सील सहाय-हास-विगहाहि य—अपने शील (आचरण), स्वभाव, हास्य और विकथाओ से, पर-विम्हावेंतो—दूसरो को विस्मित करता (आश्चर्य मे डालता या हसाता) है, (वह) कदप्प भावण कुणइ—कान्दर्पी भावना करता है ॥२६३॥

जे—जो (साधक), साय-रस-इड्ढि-हेउ —साता (वैषयिक सुख सुविधा) रस (स्वादिष्ट रस) एव समृद्धि (अपनी सिद्धि-प्रसिद्धि) के लिए, मताजोग—मन्त्र, योग (तन्त्र), काउ —करके, भूईकम्म च पउजति—भूति (विभूति आदि मन्त्रित करके देने के) कर्म का प्रयोग करता है, (वह) अभिओग भावण—आभियोगी भावना (का आचरण), कुणइ—करता है ॥२६४॥

(जो) नाणस्स—ज्ञान का, केवलीण—केवलज्ञानियो (सर्वज्ञो) का, धम्मा-यरियस्स—धर्माचार्य का, सघ-साहूण—सघ का, तथा साधुओ का, अवण्णवाई—अवर्णवाद (निन्दा) करता है, (वह) माई—मायाचारी, किब्बिसिय भावण—किल्विषिकी भावना (का आचरण), कुणइ—करता है ॥२६५॥

(जो) अणुबद्ध-रोस-पसरो—सतत रोष की परम्परा को फैलाता रहता है, तह य—तथा, निमित्तम्मि पडिसेवी होइ—निमित्त विषयक (ज्योतिषादि विद्या से निमित्त बताने का) प्रतिसेवना-कर्ता (दुष्प्रयोग कर्ता) होता है, (वह) एएहि कारणेहि—इन कारणो से, आसुरिय भावण—आसुरी भावना (का आचरण), कुणइ—करता है ॥२६६॥

(जो) सत्थग्गहण—(खड्गादि) शस्त्रो का ग्रहण (प्रयोग), विसभक्खण—

विष-भक्षण, च—और जलण—अग्नि (मे झपापात), य—तथा, जलपवेसो—पानी मे प्रवेश करता (डूबता) है, अणायार-भडसेवी—अनाचार सेवन तथा भाण्ड कुचेष्टा करता है, वह (मोही भावना का आचरण करता हुआ) जम्मण-मरणाणि—अनेक जन्म-मरणो का, बधेति—बन्ध करता है ।।२६७।।

विशेषार्थ—पाच अप्रशस्त भावनाओ का स्वरूप और दुष्परिणाम—प्रस्तुत गा २६२ से २६७ तक पाच गाथाओ द्वारा पांच अशुभ भावनाओ के कारण, प्रतिपादक लक्षण और उनके दुष्परिणाम बताए गये है ।

कान्दर्पी भावना—बृहद्वृत्तिकार ने कन्दर्प के पाच लक्षण बताए हैं—(१) अट्टहासपूर्वक हसना, (२) गुरु आदि के साथ वक्रोक्ति या व्यगपूर्वक खुल्लमखुल्ला बोलना, मुहफट होना, (३) काम कथा करना, (४) काम का उपदेश देना और (५) काम की प्रशसा करना । प्रस्तुत कन्दर्प से जनित भावना कान्दर्पी कहलाती है । कौत्कुच्य दो प्रकार का है—काय-कौत्कुच्य—भौंह, आँख, मुह, आदि अगो को इस तरह बनाना या मटकाना जिससे दूसरे हस पडे, वाक्कौत्कुच्य—विविध जीव जन्तुओ की बोली बोलना या विदूषक की तरह बोलना, जिससे लोगो को हसी आ जाए ।

आभियोगी भावना—मत्र, तत्र, चूर्ण, भस्म आदि का प्रयोग आभियोगी भावना का कारण है । कौतुक बताना, खेल-तमाशे दिखाना, जादूगरी करना, लाभालाभ सम्बन्धी निमित्त बताना, प्रश्नाप्रश्न (स्वप्न विद्या द्वारा शुभाशुभ बताना) आदि को भी कई आचार्य आभियोगी भावना का कारण बताते हैं ।[1]

किल्विषिकी भावना—कल्विष का अर्थ है—दोष । केवली, श्रुतज्ञान, सघ, धर्म, अरिहत, धर्माचार्य साधु आदि की निन्दा, चुगली करना, उन्हे बदनाम करना, उनके अवगुण देखना, उनकी छोटी से छोटी त्रुटि का ढिंढोरा पीटना, वचना या ठगी करना, ये सब किल्विषिकी भावना के रूप हैं । इस भावना के ये ही कारण हैं ।

आसुरी भावना—असुरो (परमाधार्मिक देवो) की तरह क्रूरता, उग्रक्रोध, कलह, हिंसा, दूसरो को क्रूरतापूर्वक यातना देकर प्रसन्न होना, आदि दुर्गुणो से ओतप्रोत होना आसुरी भावना का रूप है । प्रवचन-

---

१ (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ७०१,
(ख) मूलाराधना ३/१८२, वृत्ति, पृ, ३९८
(ग) उत्तरा (गुज० भाषान्तर) भा २ पत्र ३७०
(घ) प्रवचन-सारोद्धार गा ६४१, ६४४

सारोद्धार मे यहाँ गा २६६ मे बताए हुए, अनुबद्ध-रोष-प्रसार एव निमित्त प्रति सेवन, इन दो दोषो के अतिरिक्त निष्कृपता (निर्दयता), निरनुताप (अपराध का पश्चात्ताप न करना) तथा ससक्त (आसक्तियुक्त) तप ये तीन कारण और बताए हैं।

सम्मोहा (मोही) भावना—मोह (मिथ्यात्वमोहनीय) वश उन्मार्ग मे विश्वास, उसका उपदेश, सन्मार्गदोपदर्शन, तथा शरीरादि पर मोह रखना सम्मोहा या मोही भावना के कारण हैं। प्रस्तुत मे जो पाच कारण बताए हैं, वे शरीर और शरीर से सम्बन्धित मोहजनित भाव हैं। वस्तुत शस्त्रग्रहण, विषभक्षण आदि द्वारा आत्महत्या शरीर के प्रति मोहवश होती है, इन कार्यों से उन्मार्ग की प्राप्ति और मार्ग की हानि होती है। अणायार भडसेवी के दो अर्थ मिलते है, एक तो अन्वयार्थ मे दिया जा चुका हैं, दूसरा है—साध्वाचार के विरुद्ध भाण्ड-उपकरणो का रखने वाला। यह अर्थ सगत लगता है, क्योकि साधक मोहवश ही अधिकाधिक उपकरण रखता है।

जो साधक इन पाँच भावनाओ का आचरण करता है वह नीच जाति के देवो मे उत्पन्न होता है और वहाँ से च्यवकर अनन्त ससार मे परिभ्रमण करता है।

अध्ययन का उपसहार—

मूल—इय पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भव-सिद्धीय-सम्मए ॥२६८॥

—त्तिबेमि

पद्यानु०—ज्ञातपुत्र निर्वृत्त, ज्ञानयुत प्रभु ने यो तत्त्व-विचार किया।
छत्तीस श्रेष्ठ-अध्ययनो मे भव सिद्धिक सम्मत ज्ञान दिया ॥२६८॥

अन्वयार्थ—इय—इस प्रकार, भव-सिद्धीय-समए—भवसिद्धिक (भव्य) जीवो के लिए सम्मत (अभिप्रेत), छत्तीस उत्तरज्झाए—छत्तीस उत्तर (श्रेष्ठ) अध्ययनो को, पाउकरे[1]—प्रकट (उपदेश द्वारा व्यक्त) करने वाले, बुद्धे—बुद्ध=समस्त पदार्थों के ज्ञाता, नायए—ज्ञातवशीय (भगवान महावीर) परिनिव्वुए—निर्वाण को प्राप्त हुए।

—त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ जीवाजीव-विभक्ति छत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

1 भगवान महावीर ने निर्वाण समय मे उत्तराध्ययन की अपृष्ट-व्याकरणा की थो, ऐसी अनुश्रुति है।